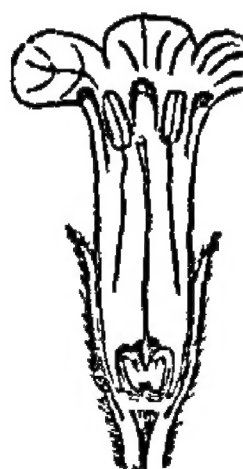


ॐ

छान्दोग्योपनिषद्

(सानुवाद शाङ्करभाष्यसहित)



गीता प्रेस, गोरखपुर

प्रकाशक—
मोतीलाल जालान
गीताप्रेस, गोरखपुर

सं० १९९४ से २०१९ तक १७,०००
सं० २०२३ पञ्चम संस्करण ५,०००
कुल २२,०००

मूल्य पाँच रुपये

पता—गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

मुद्रक—अमलकुमार वसु, इंडियन प्रेस (प्राइवेट) लिमिटेड वाराणसी शाखा ।

प्रस्तावना

छान्दोग्योपनिषद् सामवेदीय तलवार ब्राह्मणके अन्तर्गत है। केनोपनिषद् भी तलवारशाखाकी ही है। इसलिये इन दोनोंका एक ही शान्तिपाठ है। यह उपनिषद् बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। इसकी वर्णनशैली अत्यन्त क्रमबद्ध और सुत्तियुक्त है। इसमें तत्त्वज्ञान और तदुपयोगी कर्म तथा उपासनाओंका बड़ा विशद और विस्तृत वर्णन है। यद्यपि आजकल ओपनिषद् कर्म और उपासनाका प्रायः सर्वथा लाप हो जानेके कारण उनके स्वरूप और रहस्यका यथार्थ ज्ञान इने गिने प्रकाण्ड पण्डित और विचारकोंकी ही है, तथापि इसमें कोई रुढ़ि नहीं कि उनके मूलमें जो भाव और उद्देश्य निहित है उसीके आधारपर उनसे परवर्ती स्मार्त कर्म एवं पौराणिक और तान्त्रिक उपासनाओंका आविर्भाव हुआ है।

अद्वैतवेदान्तकी प्रक्रियाके अनुसार जीव अविद्याकी तीन शक्तियोंसे आवृत है, उन्हें मल, विक्षेप और आवरण कहते हैं। इनमें मल अर्थात् अन्तःकरणके मलिन संस्कारजनित दोषोंकी निवृत्ति निष्काम कर्मसे होती है, विक्षेप अर्थात् चित्तचाञ्चल्यका नाश उपासनासे होता है और आवरण अर्थात् स्वरूपविस्मृति या अज्ञानका नाश ज्ञानसे होता है। इस प्रकार चित्तके इन त्रिविध दोषोंके लिये ये अलग अलग तीन ओपधियाँ हैं। इन तीनोंके द्वारा तीन ही प्रकारकी गतियाँ होती हैं। सत्समकर्मों लोग धूममार्गसे स्वर्गादि लोकोंको प्राप्त होकर पुण्य क्षीण होनेपर पुनः जन्म लेते हैं। निष्कामकर्मों और उपासक अचिरादि मार्गसे अपने उपास्यदेवके लाभ प्राप्त कर अपने अधिकारानुसार सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य या सायुष्य मुक्ति प्राप्त करते हैं। इन दोनों गतियोंका इस उपनिषद्के पाँचवें अध्यायमें विशदरूपसे वर्णन किया गया है। इन दोनोंसे अलग जो तत्त्वज्ञानी होते हैं उनके प्राणोंका उत्क्रमण (लोकान्तरमें गमन) नहीं होता; उनके शरीर यहीं अपने-अपने स्वरूपमें लीन हो जाते हैं और उन्हें यहाँ ही कैवल्यपद प्राप्त होता है।

अद्वैतसिद्धान्तके अनुसार मोक्षका साक्षात् साधन ज्ञान ही है; इस विषयमें 'मृते ज्ञानान्न मुक्तिः' 'ज्ञानादेव कैवल्यम्' 'अथतु

येऽन्यथातो विदुरन्यराज्ञानस्ते क्षण्यलोका भवन्ति' 'सर्वे एते पुण्य-लोका भवन्ति ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति' आदि बहुत-सी श्रुतियाँ प्रमाण हैं। निष्काम कर्म और उपासना मल और विज्ञेयकी निवृत्ति करके ज्ञान-द्वारा मुक्ति देते हैं। ज्ञानसे ही आत्मसाक्षात्कार होता है और फिर उसकी दृष्टिमें संसार और संसारबन्धनका अत्यन्ताभाव होकर सर्वत्र अशेष-विशेष-शून्य एक अखण्ड चिदानन्दधन सत्ता ही रह जाती है। इस प्रकार जब उसकी दृष्टिमें प्रपञ्च ही नहीं रहता, तब अपना पञ्च-कोशात्मक शरीर और उसके स्थिति या विनाश ही कहाँ रह सकते हैं तथा उसके लिये जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्तिका भी प्रश्न नहीं रहता; वह तो नित्य मुक्त ही है। उसके इस वास्तविक स्वरूपको न जाननेके कारण अन्य लोग उसमें जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्तिका आरोप करते हैं; वह मुक्त होता नहीं, मुक्तस्वरूप ही है। श्रुति कहती है— 'विमुक्तश्च विमुच्यते'।

इस प्रकार यह निश्चय हुआ कि यद्यपि मोक्षका साक्षात् साधन ज्ञान ही है तथापि ज्ञानप्राप्तिका अधिकार प्रदान करनेवाले होनेके कारण कर्म और उपासना भी उसके साधन अवश्य हैं। इस शाखामें कर्मनिरूपण पहले किया जा चुका है; अब आत्मज्ञानका निरूपण करना है, इसीलिये यह उपनिषद् आरम्भ की गयी है। इसमें भी तत्त्वज्ञानमें उपयोगी होनेके कारण पहले भिन्न-भिन्न उपासनाओंका ही वर्णन किया गया है। इस उपनिषद्में कुल आठ अध्याय हैं, जिनमेंसे पहले पाँच अध्यायोंमें प्रधानतया उपासनाओंका वर्णन है और अन्तिम तीन अध्यायोंमें ज्ञानका।

इसमें उपासना और ज्ञान दोनों ही विषयोंका बड़ा सुन्दर विवेचन है। उन्हें सुगमतासे समझानेके लिये जगह-जगह कई आख्यायिकाएँ भी दी गयी हैं, जिनसे उन विषयोंके हृदयंगम होनेमें सहायता मिलनेके अतिरिक्त कई प्रकारकी शिक्षाएँ भी मिलती हैं। प्रथम अध्यायमें इभ्य-ग्राममें रहनेवाले उपस्तिकी कथा है। उपस्ति यज्ञ-यागादि कर्मकाण्डमें बहुत कुशल थे। एक बार कुरुदेशमें, जहाँ वे रहते थे, ओले और पत्थरोंकी वर्षा होनेके कारण ऐसा अकाल पड़ा कि उन्हें कई दिनोंतक निराहार रहना पड़ा। जब प्राणसंकट उपस्थित हुआ, तब उन्होंने एक हाथीवानसे जाकर कुछ अन्न माँगा।

उसके पास कुछ उड़द थे; परन्तु वे उच्छिष्ट थे, इसलिये उन्हें देनेमें उसे हिचक हुई। परन्तु उपस्तिने उन्हींको माँगकर अपने प्राणोंकी

रक्षा की। जब वह उच्छिष्ट जल भी देने लगा तो उन्होंने 'यह उच्छिष्ट है' ऐसा कहकर निषेध कर दिया। इसपर जब हाथीवानने शङ्का की कि क्या जूठे उड़द रानेसे उच्छिष्ट-भोजनका दोष नहीं हुआ ? तो वे बोले—

‘न वा अजीविष्यमिमानखादन्...कामो मे उदपानम्’

अर्थात् इन्हे खाये बिना मैं जीवित नहीं रह सकता था, जल तो मुझे इच्छानुसार सर्वत्र मिल सकता है। इस प्रकार उच्छिष्ट जलके लिये निषेध करके उन्होंने यह आदर्श उपस्थित कर दिया कि मनुष्य आचारसम्बन्धी नियमोंकी उपेक्षा भी तभी कर सकता है जब कि उसके बिना प्राणरक्षाका कोई दूसरा उपाय ही न हो।

प्रथम अध्यायमें जो शिल्प, चैकितायन और प्रवाहणका संवाद है तथा पञ्चम अध्यायमें जो उद्दालकके साथ प्राचीनशालादि पाँच महर्षियोंने राजा अश्वपतिके पास जाकर वैश्वानर आत्माके विषयमें जिज्ञासा की है, उन दोनों प्रसंगोंसे यह बात स्पष्ट होती है कि सनातन शिष्टाचारके अनुसार उपदेश देनेका अधिकार ब्राह्मणोंको ही है; परन्तु यदि कोई उत्कृष्ट विद्या किसी अन्य द्विजातिके पास हो तो भी ली जा सकती है। किसी भी कल्याणकारिणी विद्याको ग्रहण करनेके लिये मनुष्यको कितने त्याग, तप, सेवा, सत्य और विनय आदिकी आवश्यकता है—यह बात कई आख्यायिकाओंमें प्रदर्शित की गयी है। राजा जानश्रुतिने सबर्गविद्याकी प्राप्तिके लिये गाड़ीवाले रैक्वका तिरस्कार सहा और उन्हें बहुत-सा धन, राज्य एवं अपनी कन्या देकर भी उस विद्याको ग्रहण किया। इन्द्रने आत्मविद्याकी प्राप्तिके लिये एक सौ एक वर्षतक ब्रह्मचर्यव्रतका पालन किया, सत्यकाम जावालने जब अपने गुरु हारिद्रुमत गौतमसे उपनयनके लिये प्रार्थना की और उन्होंने उसका गौत्र पूछा तो उसने उस विषयमें अपने अज्ञानका कारण स्पष्ट शब्दोंमें कह दिया, उसके इस स्पष्ट कथनसे ही आचार्यको निश्चय हो गया कि यह ब्राह्मण ही है और उन्होंने उसे दीक्षा दे दी। फिर सत्यकामने गुरु-सेवाके प्रभावसे ही ब्रह्मविद्या प्राप्त कर ली। सत्यकाम आचार्य हारिद्रुमतके पास विद्याध्ययनके लिये गया था; आचार्यने उसका उपनयन कर उसे चार सौ गौएँ देकर आज्ञा दी कि इन्हें जंगलमें ले जाओ, जबतक इनकी सख्या बढ़कर एक सहस्र न हो जाय तबतक मत लौटना। बालक सत्यकामने गुरुजीके इस आदेशका प्राणपूर्वसे

पालन किया और केवल गोचारणद्वारा ही उसे गुरुकृपासे ब्रह्मज्ञान प्राप्त हो गया। जिस समय वह गौओंको लेकर गुरुजीके पास आया उस समय उसके तेजको देखकर उन्हें भी कहना पड़ा—

‘ब्रह्मविदिव वै सोम्य भासि को नु त्वानुशशास’

‘हे सोम्य ! तू ब्रह्मवेत्ता-सा जान पड़ता है, तुझे किसने उपदेश दिया है ?’ इसी प्रकार सत्यकामके शिष्य उपकोसलको भी नियमानुसार अग्निहोत्र करते-करते ही गुरुकृपासे ब्रह्मविद्याकी प्राप्ति हो गयी। इन दृष्टान्तोंका आशय यही है कि जिस पुरुषका जिस समय जो कर्तव्य है उसे उस समय सर्वथा उसीको यथावत् रूपसे पालन करना चाहिये। अपने कर्तव्यका यथोचित रीतिसे पालन करना ही कल्याणकारक है।

सप्तम अध्यायमें सनत्कुमार और नारदका संवाद है। देवर्षि नारदजी आत्मज्ञानकी जिज्ञासासे सनत्कुमारजीकी शरणमें जाते हैं। सनत्कुमारजी पूछते हैं—‘तुम मुझे यह बतलाओ कि कौन-कौन विद्याएं जानते हो ? उससे आगे मैं उपदेश करूँगा।’ नारदजी कहते हैं—‘मैं ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, इतिहास-पुराणरूप पञ्चम वेद, व्याकरण, श्राद्धकल्प, गणित, उत्पातज्ञान, निधिशास्त्र, तर्कशास्त्र, नीतिशास्त्र, निरुक्त, शिवा, भूततन्त्र, धनुर्वेद, ज्योतिष, गारुड और संगीतविद्या—ये सब जानता हूँ।’ इतनी विद्याएँ जानने-पर भी नारदजीको शान्ति नहीं है; शान्ति मिले कैसे ? किसी राजाको राज्य, वैभव, स्त्री, पुत्र और सम्मानादि सभी प्राप्त हों, परन्तु उसके शरीरमें भयंकर पीड़ा हो तो वह सारा वैभव भी उसे शान्ति नहीं दे सकता ? इसी प्रकार संसारका बड़े-से-बड़ा ऐश्वर्य प्राप्त होनेपर भी आत्मज्ञानके बिना पूर्ण शान्ति प्राप्त होना सर्वथा असम्भव है। बिना भगवान्‌का साक्षात्कार किये दुःखोंसे छुटकारा पाना आकाशको चमड़ेके समान लपेट लेनेकी तरह असम्भव है—

यदा चर्मवदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवाः ।

तदा देवमविज्ञाय दुःखस्यान्तो भविष्यति ॥

इसीसे नारदजी कहते हैं—

सोऽहं भगवो मन्त्रविदेवास्मि नात्मविच्छुः ॥ १ ॥ ह्येव मे भगवद्भूतेभ्य-
स्तरति शोकमात्मविदिति सोऽहं भगवः शोचामि तं मा भगवाञ्छोकस्य
पारं तारयतु । (७ । १ । ३)

‘भगवान् ! मैं केवल शास्त्रज्ञ हूँ, आत्मज्ञ नहीं हूँ। मैंने आप-जैसों-से सुना है कि आत्मवेत्ता शोकको पार कर लेता है और मुझे शोक है, इसलिये भगवान् मुझे शोकसे पार करें।’ इससे यह निश्चय होता है कि केवल शास्त्रज्ञानसे संसृतिचक्ररूप शोकसमुद्रको पार नहीं किया जा सकता; इसके लिये तो अनुभवकी आवश्यकता है। जब सर्वतन्त्रस्वतन्त्र, अशेषविद्यामहार्णव देवर्षि नारदको भी उनकी विद्या शान्ति प्रदान नहीं कर सकी तो हम-जैसे साधारण जीवोंकी तो बात ही क्या है ?

इस प्रकार हम देखते हैं कि इस उपनिषद्में बहुत से उपयोगी विषय हैं। प्राचीन कालसे ही इसका बहुत मान रहा है। वेदान्त-सूत्रोंमें जिन श्रुतियोंपर विचार किया गया है उनमें सबसे अधिक इसी उपनिषद्की हैं। इसका ज्ञानकाण्ड तो जिज्ञासुओंकी अन्त्य निधि है। जो ‘तत्त्वमसि’ महावाक्य अद्वैतसम्प्रदायमें ब्रह्मात्मैक्य-बोधका प्रधान साधन माना जाता है वह भी इसीके छठे अध्यायमें आया है। वहाँ आरुणिने भिन्न-भिन्न दृष्टान्त देकर नौ बार इसी वाक्यसे अपने पुत्र श्वेतकेतुको आत्मतत्त्वका उपदेश किया है।

श्रौतनिषद्-दर्शन ही सम्यग्दर्शन है। इसीसे भवभयका निरास होकर आत्यन्तिक आनन्दकी प्राप्ति होती है। इस दृष्टिको प्राप्त कर लेना ही मानव-जीवनका प्रधान उद्देश्य है—यही परम पुरुषार्थ है। इसे पाये बिना जीवन व्यर्थ है, इसे न पा सकना ही सबसे बड़ी हानि है; यही बात केन-श्रुति भी कहती है—

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टि । (२।५)

अतः इस दृष्टिको प्राप्त करनेके लिये प्रत्येक पुरुषको प्राणपणसे प्रयत्न करना चाहिये। भगवान् हमें इसे प्राप्त करनेकी योग्यता दें।

—अनुवादक



श्रीहरिः

विषय-सूची

विषय			पृष्ठ
१. शान्तिपाठ	२५
प्रथम अध्याय			
प्रथम खण्ड			
२. सम्बन्ध-भाष्य	२६
३. उद्गीथदृष्टिसे ओंकारकी उपासना	३१
४. उद्गीथका रसतमत्व	३३
५. उद्गीथोपासनान्तर्गत ऋक्, साम और उद्गीथका निर्णय	३५
६. ओंकारमें संसृष्ट मिथुनके समागमका फल	३९
७. उद्गीथदृष्टिसे ओंकारकी उपासना करनेका फल	४०
८. ओंकारकी समृद्धिगुणवत्ता	४०
९. ओंकारकी स्तुति	४२
१०. उद्गीथविद्याके जानने और न जाननेवालेके कर्मका भेद	४४
द्वितीय खण्ड			
११. प्राणोपासनाकी उत्कृष्टता सूचित करनेवाली आख्यायिका	४७
१२. घ्राणादिका सदोषत्व	४९
१३. मुख्य प्राणद्वारा असुरोंका पराभव	५४
१४. प्राणोपासकका महत्त्व	५५
१५. प्राणकी आङ्गिरस संज्ञा होनेमें हेतु	५९
१६. प्राणकी वृहस्पति संज्ञा होनेमें हेतु	६१
१७. प्राणकी आयास्य संज्ञा होनेमें हेतु	६१
१८. प्राणदृष्टिसे ओंकारोपासनाका फल	६३

तृतीय खण्ड

१६. आदित्यदृष्टिसे उद्गीथोपासना	६४
२०. सूर्य और प्राणकी समानता तथा प्राणदृष्टिसे उद्गीथोपासना	६५
२१. व्यानदृष्टिसे उद्गीथोपासना	६७
२२. व्यानप्रयुक्त होनेसे वाक्, ऋक्, साम और उद्गीथकी समानता	६९
२३. उद्गीथाक्षरोमें प्राणादिदृष्टि	७०
२४. उद्गीथाक्षरोमें ध्रुलोकादि तथा सामवेदादि दृष्टि	७२
२५. सकामोपासनाका फल	७३

चतुर्थ खण्ड

२६. उद्गीथसंज्ञक ओंकारोपासनासे सम्बद्ध आख्यायिका	७७
२७. ओंकारका उपयोग और महत्त्व	८०
२८. ओंकारोपासनाका फल	८१

पञ्चम खण्ड

२९. ओंकार, उद्गीथ और आदित्यका अभेद	८३
३०. रश्मिदृष्टिसे आदित्यकी व्यस्तोपासनाका विधान और फल	८४
३१. मुख्य प्राणदृष्टिसे उद्गीथोपासना	८५
३२. प्राणभेददृष्टिसे मुख्य प्राणकी व्यस्तोपासनाका विधान और फल	८६
३३. प्राणव और उद्गीथका अभेद	८७

षष्ठ खण्ड

३४. अनेक प्रकारकी आधिदैविक उद्गीथोपासनाएँ	८८
---	-----	-----	----

सप्तम खण्ड

३५. अघ्यात्म-उद्गीथोपासना	८८
३६. आदित्यान्तर्गत और नेत्रान्तर्गत पुरुषोंकी एकता	१००
३७. इनकी अभेददृष्टिसे उपासनाका फल	१०३

अष्टम खण्ड

३८. उद्गीथोपासनाकी उत्कृष्टता प्रदर्शित करनेके लिये शिलक, दाल्भ्य और प्रवाहणका संवाद	१०६
---	-----	-----	-----

नवम खण्ड

३९. शिलककी उक्ति—आकाश ही सबका आश्रय है	११७
४०. आकाशसंज्ञक उद्गीथकी उत्कृष्टता और उसकी उपासनाका फल	११८

दशम खण्ड

४१. उपस्तिका आख्यान	१२२
४२. राजयज्ञमें उपस्ति और ऋत्विजोंका संवाद	१२८

एकादश खण्ड

४३. राजा और उपस्तिका संवाद	१३१
४४. उपस्तिके प्रति प्रस्तोताका प्रश्न	१३३
४५. उपस्तिका उत्तर — प्रस्तावानुगत देवता प्राण है	१३३
४६. उद्गाताका प्रश्न	१३५
४७. उपस्तिका उत्तर—उद्गीथानुगत देवता आदित्य है	१३५
४८. प्रतिहर्ताका प्रश्न	१३६
४९. उपस्तिका उत्तर—प्रतिहारानुगत देवता अन्न है	१३६

द्वादश खण्ड

५०. शीवनामसम्बन्धी उपाख्यान	१३८
५१. कुत्तोद्वारा किया हुआ हिंकार	१४२

त्रयोदश खण्ड

५२. सामावयवभूत स्तोभाक्षरसम्बन्धिनी उपासनाएं	१४४
५३. स्तोभाक्षरसम्बन्धिनी उपासनाओंका फल	१४७

द्वितीय अध्याय

प्रथम खण्ड

५४. साधुदृष्टिसे समस्त सामोपासना	१४६
----------------------------------	-----	------	-----

द्वितीय खण्ड

५५. लोकविषयक पांच प्रकारकी सामोपासना	१५४
५६. आवृत्तिकालिक अधोमुख लोकोंमें पञ्चविध सामोपासना	१५७

तृतीय खण्ड

५७. वृष्टिविषयक पांच प्रकारकी सामोपासना	१५६
---	-----	------	-----

चतुर्थ खण्ड

५८. जलविषयक पांच प्रकारकी सामोपासना	१६१
-------------------------------------	-----	------	-----

पञ्चम खण्ड

५९. ऋतुविषयक पांच प्रकारकी सामोपासना	१६३
--------------------------------------	-----	------	-----

षष्ठ खण्ड

६०. पशुविषयक पांच प्रकारकी सामोपासना	१६५
--------------------------------------	-----	------	-----

सप्तम खण्ड

६१. प्राणविषयक पांच प्रकारकी सामोपासना	१६७
--	-----	------	-----

अष्टम खण्ड

६२. वाणीविषयक सप्तविध सामोपासना	१७०
---------------------------------	-----	------	-----

नवम खण्ड

६३. आदित्यविषयिणी सात प्रकारकी सामोपासना " १७३

दशम खण्ड

६४. मृत्युसे अतीत अक्षविष्य सामकी उपासना " १८१

एकादश खण्ड

६५. गायत्रिसामकी उपासना " १८७

द्वादश खण्ड

६६. रथन्तरसामकी उपासना " १८८

त्रयोदश खण्ड

६७. वामदेव्यसामकी उपासना " १९१

चतुर्दश खण्ड

६८. बृहत्सामकी उपासना " १९२

पञ्चदश खण्ड

६९. वैह्वसामकी उपासना " १९४

षोडश खण्ड

७०. वैराजसामकी उपासना " १९६

सप्तदश खण्ड

७१. दावन्तरीसामकी उपासना " १९८

अष्टादश खण्ड

७२. रेवतीसामकी उपासना " १९९

एकोनविंश खण्ड

७३. यज्ञायज्ञीयसामकी उपासना " २००

विंश खण्ड

७४. राजन्सामकी उपासना " २०२

एकविंश खण्ड

७५. सर्वविषयक सामकी उपासना " २०४

७६. सर्वविषयक सामकी उपासनाका उत्कर्ष " २०६

द्वाविंश खण्ड

७७. विवर्दिगुणविशिष्ट सामकी उपासना " २०८

७८. स्तवनके समय ध्यानका प्रकार " २१०

७९. स्वरादि वर्णोंकी देवात्मकता " २१०

८०. वर्णोंके उच्चारणकालमें विन्तनीय " २१२

त्रयोविंश खण्ड

८१. तीन धर्मस्कन्ध	२१४
८२. त्रयोविद्या और व्याहृतियोंकी उत्पत्ति	२३०
८३. ओंकारकी उत्पत्ति	२३१

चतुर्विंश खण्ड

८४. सवनोंके अधिकारी देवता	२३३
८५. साम आदिको जाननेवाला ही यज्ञ कर सकता है	२३४
८६. प्रातःसवनमें वसुदेवतासम्बन्धी सामगान	२३५
८७. मध्याह्नसवनमें रुद्रसम्बन्धी सामगान	२३८
८८. तृतीय सवनमें आदित्य और विश्वेदेवसम्बन्धी सामका गान	२३९

तृतीय अध्याय

प्रथम खण्ड

८९. मधुविद्या	२४२
९०. आदित्यादिमें मधु आदि दृष्टि	२४३
९१. आदित्यकी पूर्वदिक्सम्बन्धिनी किरणोंमें मधुनाड्यादि दृष्टि	२४४

द्वितीय खण्ड

९२. आदित्यकी दक्षिणदिक्सम्बन्धिनी किरणोंमें मधुनाड्यादि दृष्टि	२४६
--	-----	-----	-----

तृतीय खण्ड

९३. आदित्यकी पश्चिमदिक्सम्बन्धिनी किरणोंमें मधुनाड्यादि दृष्टि	२५१
--	-----	-----	-----

चतुर्थ खण्ड

९४. आदित्यकी उत्तरदिक्सम्बन्धिनी किरणोंमें मधुनाड्यादि दृष्टि	२५२
---	-----	-----	-----

पञ्चम खण्ड

९५. आदित्यकी ऊर्ध्वदिक्सम्बन्धिनी किरणोंमें मधुनाड्यादि दृष्टि	२५४
--	-----	-----	-----

षष्ठ खण्ड

९६. वसुओंके जीवनाश्रयभूत प्रथम अमृतकी उपासना	२५७
--	-----	-----	-----

सप्तम खण्ड

९७. रुद्रोंके जीवनाश्रयभूत द्वितीय अमृतकी उपासना	२६२
--	-----	-----	-----

अष्टम खण्ड

९८. आदित्योंके जीवनाश्रयभूत तृतीय अमृतकी उपासना	२६४
---	-----	-----	-----

नवम खण्ड

९९. मरुद्गणके जीवनाश्रयभूत चतुर्थ अमृतकी उपासना	२६८
---	-----	-----	-----

दशम खण्ड

१००. साध्योंके जीवनाश्रयभूत पञ्चम अमृतकी उपासना	२७०
---	-----	-----	-----

एकादश खण्ड

१०१. भोग-समयके अनन्तर सबका उपसंहार हो जानेपर आदित्यरूप ब्रह्मकी स्वस्वरूपमें स्थिति २७२
१०२. ब्रह्मलोकके विषयमें विद्वान्का अनुभव २७३
१०३. मधुविद्याका फल २७४
१०४. सम्प्रदायपरम्परा २७५

द्वादश खण्ड

१०५. गायत्रीद्वारा ब्रह्मकी उपासना २७८
१०६. कार्यब्रह्म और शुद्धब्रह्मका भेद २८४
१०७. भूताकाश, देहाकाश और हृदयाकाशका अभेद २८५

त्रयोदश खण्ड

१०८. हृदयान्तर्गत पूर्वसुषुप्तिभूत प्राणकी उपासना २८९
१०९. हृदयान्तर्गत दक्षिणसुषुप्तिभूत व्यानकी उपासना २९१
११०. हृदयान्तर्गत पश्चिमसुषुप्तिभूत अपानकी उपासना २९३
१११. हृदयान्तर्गत उत्तरसुषुप्तिभूत समानकी उपासना २९४
११२. हृदयान्तर्गत ऊर्ध्वसुषुप्तिभूत उदावकी उपासना २९५
११३. उपर्युक्त प्राणादि द्वारपालोंकी उपासनाका फल २९६
११४. हृदयस्थित मुख्य ब्रह्मकी उपासना २९८
११५. हृदयस्थित परम ज्योतिका अनुमापक लिङ्ग २९९

चतुर्दश खण्ड

(शाण्डिल्यविद्या)

११६. सर्वदृष्टिसे ब्रह्मोपासना ३०३
११७. समग्र ब्रह्ममें आरोपित गुण ३०६
११८. ब्रह्म छोटे-से-छोटा और बड़े-से-बड़ा है ३११
११९. हृदयस्थित ब्रह्म और परब्रह्मकी एकता ३१२

पञ्चदश खण्ड

१२०. विराट्कोशोपासना ३१६
----------------------	-----	---------

षोडश खण्ड

१२१. आत्मयज्ञोपासना ३२३
---------------------	-----	---------

सप्तदश खण्ड

१२२. अक्षयादि फल देनेवाली आत्मयज्ञोपासना ३३०
--	-----	---------

अष्टादश खण्ड

१२३. मन आदि दृष्टिसे अघ्यात्म और आधिदैविक ब्रह्मोपासना ३३८
--	-----	---------

एकोनविंश खण्ड

१२४. आदित्य और अण्डदृष्टिसे अर्घ्यः तम एवं आधिदैविक उपासना ३४४

'चतुर्थ अध्याय

प्रथम खण्ड

१२५. राजा जानश्रुति और रैवका उपाख्यान ३५२

द्वितीय खण्ड

१२६. रैवके प्रति जानश्रुतिकी उपसत्ति ३६३

तृतीय खण्ड

१२७. रैवद्वारा संवर्गविद्याका उपदेश ३६९

१२८. संवर्गकी स्तुतिके लिये आख्यायिका ३७२

चतुर्थ खण्ड

१२९. सत्यकामका ब्रह्मचर्य-पालन और वनमें जाकर गो चराना ३८०

पञ्चम खण्ड

१३०. वृषभद्वारा सत्यकामकी ब्रह्मके प्रथम पादका उपदेश ३८६

षष्ठ खण्ड

१३१. अग्निद्वारा ब्रह्मके द्वितीय पादका उपदेश ३८६

सप्तम खण्ड

१३२. हंसद्वारा ब्रह्मके तृतीय पादका उपदेश ३९२

अष्टम खण्ड

१३३. मद्गुद्वारा ब्रह्मके चतुर्थ पादका उपदेश ३९४

नवम खण्ड

१३४. सत्यकामका आचार्यकुलमें पहुँचकर आचार्यद्वारा पुनः
उपदेश ग्रहण करना ३९७

दशम खण्ड

१३५. उपकोसलके प्रति अग्निद्वारा ब्रह्मविद्याका उपदेश ४००

एकादश खण्ड

१३६. गार्हपत्याग्निविद्या ४०६

द्वादश खण्ड

१३७. अग्निहार्यपचनाग्निविद्या ४१२

त्रयोदश खण्ड

१३८. आहवनीयाग्निविद्या	४१४
------------------------	-----	-----	-----

चतुर्दश खण्ड

१३९. आचार्यका आगमन	४१६
१४०. आचार्य और उपकोसलका सवाद	४१७

पञ्चदश खण्ड

१४१. आचार्यका उपवेश—नेत्रस्थित पुरुषकी उपासना	४२०
१४२. ब्रह्मवृत्ताकी गति	४२३

षोडश खण्ड

१४३. यज्ञोपासना	४२८
१४४. ब्रह्माके मोनभङ्गसे यज्ञकी हानि	४३०
१४५. ब्रह्माके मोनपालनसे यज्ञकी प्रतिष्ठा	४३२

सप्तदश खण्ड

१४६. यज्ञ दोषक प्रायश्चित्तरूपसे व्याहृतियोंकी उपासना	४३४
१४७. विद्वान् ब्रह्माकी विशिष्टता	४३८

पञ्चम अध्याय

प्रथम खण्ड

१४८. ज्येष्ठश्रेष्ठादिगुणोपासना	४४३
१४९. इन्द्रियोंका विवाद	४४६
१५०. प्रजापतिका निर्णय	४४७
१५१. वागिन्द्रियकी परीक्षा	४४८
१५२. चक्षुकी परीक्षा	४४९
१५३. श्रोत्रकी परीक्षा	४४९
१५४. मनकी परीक्षा	४५०
१५५. प्राणकी परीक्षा और विजय	४५१
१५६. इन्द्रियोद्वारा प्राणकी स्तुति	४५२

द्वितीय खण्ड

१५७. प्राणका अन्ननिर्देश	४५८
१५८. प्राणका वस्त्रनिर्देश	४६०
१५९. प्राणविद्याकी स्तुति	४६३
१६०. मन्थकर्म	४६४

तृतीय खण्ड

१६१. पान्चालोंकी सभामें श्वेतकेतु	४७२
१६२. प्रवाहणके प्रश्न	४७३
१६३. प्रवाहणसे पराभूत श्वेतकेतुका अपने पिताके पास आना	४७५
१६४. पिता-पुत्रका प्रवाहणके पास आना	४७७
१६५. प्रवाहणका वरप्रदान	४७६

चतुर्थ खण्ड

१६६. पञ्चम प्रश्नका उत्तर	४८१
१६७. लोकरूपा अग्निविद्या	४८३

पञ्चम खण्ड

१६८. पर्जन्यरूपा अग्निविद्या	४८७
------------------------------	-----	-----	-----

षष्ठ खण्ड

१६९. पृथिवीरूपा अग्निविद्या	४८९
-----------------------------	-----	------	-----

सप्तम खण्ड

१७०. पुरुषरूपा अग्निविद्या	४९१
----------------------------	-----	------	-----

अष्टम खण्ड

१७१. स्त्रीरूपा अग्निविद्या	४९३
-----------------------------	------	-----	-----

नवम खण्ड

१७२. पञ्चम आहुतिमें पुरुषत्वको प्राप्त हुए आपकी गति	४९६
---	------	-----	-----

दशम खण्ड

१७३. प्रथम प्रश्नका उत्तर	५००
१७४- तृतीय प्रश्नका उत्तर	५०६

(देवयान और धूमयानका व्यावर्तनस्थान)

१७५. द्वितीय प्रश्नका उत्तर	५१४
-----------------------------	------	-----	-----

(पुनरावर्तनका क्रम)

१७६. अनुशायी जीवोंकी कर्मानुरूप गति	५२९
१७७. चतुर्थ प्रश्नका उत्तर	५३१

(अशास्त्रीय प्रवृत्तिवालोंकी गति)

१७८. पाँच पतित	५३४
१७९. पञ्चाग्निविद्याका महत्त्व	५३५

एकोदश खण्ड

१८०. औपमन्यव आदिका आत्ममीमांसाविषयक प्रस्ताव	...	५३६
१८१. औपमन्यवादिका उद्दालकके पास आना	...	५३८
१८२. उद्दालकका औपमन्यवादिके सहित अश्वपतिके पास आना	...	५३९
१८३. अश्वपतिद्वारा मुनियोंका स्वागत	...	५४०
१८४. अश्वपतिके प्रति मुनियोंकी प्रार्थना	...	५४२
१८५. राजाके प्रति मुनियोंकी उपसत्ति	...	५४३

द्वादश खण्ड

१८६. अश्वपति और औपमन्यवका संवाद	...	५४५
---------------------------------	-----	-----

त्रयोदश खण्ड

१८७. अश्वपति और सत्ययज्ञका संवाद	...	५४६
----------------------------------	-----	-----

चतुर्दश खण्ड

१८८. अश्वपति और इन्द्रधनुषका संवाद	...	५४९
------------------------------------	-----	-----

पञ्चदश खण्ड

१८९. अश्वपति और जनका संवाद	...	५५३
----------------------------	-----	-----

षोडश खण्ड

१९०. अश्वपति और बुद्धिलका संवाद	...	५५५
---------------------------------	-----	-----

सप्तदश खण्ड

१९१. अश्वपति और उद्दालकका संवाद	...	५५७
---------------------------------	-----	-----

अष्टादश खण्ड

१९२. अश्वपतिका उपदेश—वैश्वानरकी समस्तोपासनाका फल	...	५५९
--	-----	-----

१९३. वैश्वानरका साङ्गोपाङ्ग स्वरूप	...	५६१
------------------------------------	-----	-----

एकोनविंश खण्ड

१९४. भोजनकी अग्निहोत्रत्वसिद्धिके लिये 'प्राणाय स्वाहा' इस पहली आहुतिका वर्णन	...	५६३
---	-----	-----

विंश खण्ड

१९५. 'व्यानाय स्वाहा' इस दूसरी आहुतिका वर्णन	...	५६५
--	-----	-----

एकविंश खण्ड

१९६. 'अपानाय स्वाहा' इस तीसरी आहुतिका वर्णन	...	५६६
---	-----	-----

द्वाविंश खण्ड

१६७. 'समानाय स्वाहा' इस चौथी आहुतिका वर्णन ५६७

त्रयोविंश खण्ड

१६८. 'उदानाय स्वाहा' इस पाँचवीं आहुतिका वर्णन ५६८

चतुर्विंश खण्ड

१९९. अविद्वान्के हवनका स्वरूप ५६९

२००. विद्वान्के हवनका फल ५६९

पष्ठ अध्याय

प्रथम खण्ड

२०१. आरुणिका अपने पुत्र श्वेतकेतुके प्रति उपदेश ५७३

द्वितीय खण्ड

२०२. अन्य पक्षके खण्डनपूर्वक जगत्की सद्रूपताका समर्थन ५८२

तृतीय खण्ड

२०३. सृष्टिका क्रम ६०४

चतुर्थ खण्ड

२०४. एकके ज्ञानसे सबका ज्ञान ६१३

पञ्चम खण्ड

२०५. अन्न आदिके त्रिविध परिणाम ६२१

षष्ठ खण्ड

२०६. अन्न आदिका सूक्ष्म भाग ही मन आदि होता है ६२९

सप्तम खण्ड

२०७. षोडशकलाविशिष्ट पुरुषका उपदेश ६३२

अष्टम खण्ड

२०८. सुषुप्तिकालमें जीवकी स्थितिका उपदेश ६४०

नवम खण्ड

२०९. सुषुप्तिमें 'सत्' की प्राप्ति का ज्ञान न होनेमें मधु-
मक्खियोंका दृष्टान्त ६६३

दशम खण्ड

२१०. नदीके दृष्टान्तद्वारा उपदेश ६६८

एकादश खण्ड

२११. वृक्षके दृष्टान्तद्वारा उपदेश ६७१

द्वादश खण्ड

२१२. न्यग्रोधफलके दृष्टान्तद्वारा उपदेश ६७६

त्रयोदश खण्ड

२१३. लवणके दृष्टान्तद्वारा उपदेश ६८०

चतुर्दश खण्ड

२१४. अम्यत्रसे लाये हुए पुरुषके दृष्टान्तद्वारा उपदेश ६८५

पञ्चदश खण्ड

२१५. मुमूर्षु पुरुषके दृष्टान्तद्वारा उपदेश ६९४

षोडश खण्ड

२१६. चोरके सप्त परशुग्रहणके दृष्टान्तद्वारा उपदेश ६९८

सप्तम अध्याय

प्रथम खण्ड

२१७. बारदके प्रति सनत्कुमारका उपदेश ७१०

द्वितीय खण्ड

२१८. नामकी अपेक्षा वाक्की महत्ता ७२१

तृतीय खण्ड

२१९. वाक्की अपेक्षा मनकी श्रेष्ठता ७२४

चतुर्थ खण्ड

२२०. मनसे सकलकी श्रेष्ठता ७२७

पञ्चम खण्ड

२२१. संकल्पकी अपेक्षा चित्तकी प्रधानता ७३४

षष्ठ खण्ड

२२२. चित्तकी अपेक्षा ध्यानका महत्त्व ७३८

सप्तम खण्ड

२२३. ध्यानसे विज्ञानकी महत्ता ७४२

अष्टम खण्ड

२२४. विज्ञानसे बलकी श्रेष्ठता ७४५

नवम खण्ड

२२५. बलकी अपेक्षा ब्रह्मकी प्रधानता ७४९

दशम खण्ड

२२६. ब्रह्मकी अपेक्षा जलका महत्त्व ७५२

एकादश खण्ड

२२७. जलकी अपेक्षा तेजकी प्रधानता ७५५

द्वादश खण्ड

२२८. तेजसे आकाशकी प्रधानता ७५८

त्रयोदश खण्ड

२२९. आकाशकी अपेक्षा स्मरणका महत्त्व ७६१

चतुर्दश खण्ड

२३०. स्मरणसे आकाशकी महत्ता ७६४

पञ्चदश खण्ड

२३१. आकाशसे प्राणका प्राधान्य ७६७

षोडश खण्ड

२३२. सत्य ही जानने योग्य है ७७१

सप्तदश खण्ड

२३३. विज्ञान ही जानने योग्य है ७७६

अष्टादश खण्ड

२३४. मति ही जानने योग्य है ७७९

एकोनविंश खण्ड

२३५. श्रद्धा ही जानने योग्य है ७८०

विंश खण्ड

२३६. निष्ठा ही जानने योग्य है ७८१

एकविंश खण्ड

२३७. कृति ही जानने योग्य है ७८२

द्वाविंश खण्ड

२३८. सुख ही जानने योग्य है ७८३

त्रयोविंश खण्ड

२३९. भूमा ही जानने योग्य है ७८५

चतुर्विंश खण्ड

२४०. भूमाके स्वरूपका प्रतिपादन ७८६

पञ्चविंश खण्ड

२४१. सर्वत्र भूमा ही है ७८३

षड्विंश खण्ड

२४२. इस प्रकार जाननेवालेके लिये फलका उपदेश ७९८

अष्टम अध्याय

प्रथम खण्ड

२४३. दहर-पुण्डरीकमें ब्रह्मकी उपासना ८०३

२४४. पृथ्वीकर्मफलोंका अनित्यत्व ८१९

द्वितीय खण्ड

२४५. दहर-ब्रह्मकी उपासनाका फल ... ८२१

तृतीय खण्ड

२४६. असत्यसे भावृत सत्यकी उपासना और नामाक्षरोपासना ... ८२६

चतुर्थ खण्ड

२४७. सेतुरूप आत्माकी उपासना ... ८३६

पञ्चम खण्ड

२४८. यज्ञादिमें ब्रह्मचर्यादिदृष्टि ... ८४२

षष्ठ खण्ड

२४९. हृदयनाडी और सूर्यरश्मिरूप मार्गकी उपासना ... ८५४

सप्तम खण्ड

२५०. आत्मतत्त्वका अनुसंधान करनेके लिये इन्द्र और विरोचनका प्रजापतिके पास जाना ... ८६५

अष्टम खण्ड

२५१. इन्द्र तथा विरोचनका जलके शकोरेमें अपना प्रतिबिम्ब देखना ... ८७६

नवम खण्ड

२५२. इन्द्रका पुत्रः प्रजापतिके पास आना ... ८८७

दशम खण्ड

२५३. इन्द्रके प्रति स्वप्नपुरुषका उपदेश ... ८९४

एकादश खण्ड

२५४. सुषुप्त पुरुषका उपदेश ... ९०१

द्वादश खण्ड

२५५. मर्त्यशरीर आदिका उपदेश ... ९०६

त्रयोदश खण्ड

२५६. 'श्यामाच्छवलम्' इस मन्त्र का उपदेश ... ९३७

चतुर्दश खण्ड

२५७. कारणरूपसे आकाशसंज्ञक ब्रह्मका उपदेश ... ९३९

पञ्चदश खण्ड

२५८. आत्मज्ञानकी परम्परा, नियम और फलका वर्णन ... ९४३



चित्र-सूची

सं०	चित्र	पृष्ठ
१—	श्रीशंकराचार्यजी (बहुवर्ण)	२५
२—	यज्ञशालामें उपस्ति (")	१३१
३—	रैव ऋर जानश्रुति (")	३६६
४—	गुरुभक्त सत्यकाम (")	३९७
५—	सत्यकाम और उपकोसल (")	४१७
६—	राजा अश्वपतिके भवनमें उद्दालक (")	५४०
७—	भारुणि और इवेतकेतु (")	५७६
८—	सनत्कुमार-नारद-संवाद (")	७१२
९—	इन्द्र और विरोचनका उपदेश (")	८७८



ॐ

केशाः कञ्जालिकासाभाः

शमब्जाम्बुनगौकलः ।

विविगोपतयो दद्युः

करकारिपिनाकिनः ॥





ॐ

तत्सद्ब्रह्मणे नमः

छान्दोग्योपनिषद्

मन्त्रार्थ, शाङ्करभाष्य और भाष्यार्थमहित

सच्चिदानन्दसान्द्राय सर्वातीताय साक्षिणे ।
नमः श्रीदेशिनेन्द्राय शिवायाशिवघातिने ॥

शान्तिपाठ

ॐ आप्यायन्तु ममाङ्गानि वाक्प्राणश्चक्षुः श्रोत्रमथो वल-
मिन्द्रियाणि च सर्वाणि । सर्वं ब्रह्मोपनिषदं माहं ब्रह्म निराकुर्यां मा
मा ब्रह्म निराकरोदनिराकरणमस्त्वनिराकरणं मेऽस्तु । तदात्मनि
निरते य उपनिषत्सु धर्मास्ते मयि सन्तु ते मयि सन्तु ॥

ॐ शान्तिः ! शान्तिः ॥ शान्तिः !!!

मेरे [हाथ-पांव आदि] अङ्ग सब प्रकारसे पुष्ट हो, वाणी, प्राण, नेत्र
और श्रोत्र पुष्ट हो तथा सम्पूर्ण इन्द्रियाँ बल प्राप्त करें। उपनिषद्में प्रति-
पादित ब्रह्म ही सब कुछ है। मैं ब्रह्मका निराकरण (त्याग) न करूँ और
ब्रह्म मेरा निराकरण न करे। इस प्रकार हमारा अनिराकरण (निरन्तर मिलन)
हो, अनिराकरण हो। उपनिषदोंमें जो शम आदि धर्म कहे गये हैं वे ब्रह्मरूप
आत्मामें निरन्तर रमण करनेवाले मुझमें सदा बने रहें, वे मुझमें सदा बने
रहें। आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक तापकी शान्ति हो।



प्रथम अध्याय

प्रथम खण्ड

सम्बन्ध-भाष्य

ओमित्येतदक्षरमित्याद्यष्टा-
ध्यायी छान्दोग्योपनिषत् । तस्याः
संक्षेपतोऽर्थजिज्ञासुभ्य ऋजु-
विवरणमल्पग्रन्थमिदमारभ्यते ।

तत्र सम्बन्धः — समस्तं कर्मा-
धिगतं प्राणादि-
प्रयोजनम्
देवताविज्ञानसहित-
मचिरादिमार्गेण ब्रह्मप्रतिपत्ति-
कारणम् । केवलं च धूमादि-
मार्गेण चन्द्रलोकप्रतिपत्तिकारणम् ।
स्वभावप्रवृत्तानां च मार्गद्वय-
परिश्रष्टानां कष्टाधोगतिरुक्ता ।

‘ओमित्येतदक्षरम्’ इत्यादि मन्त्रसे
आरम्भ होनेवाला यह आठअध्यायों-
का ग्रन्थ छान्दोग्य उपनिषद् है ।
उसका अर्थ जाननेकी इच्छावालोंके
लिये इस छोटे-से ग्रन्थके रूपमें उसकी
सरल व्याख्या संक्षेपसे आरम्भ की
जाती है ।

वहाँ [कर्मकाण्डके साथ] इस-
का सम्बन्ध इस प्रकार है—[विहित
और निषिद्ध रूपसे] जाने हुए समस्त
कर्मका प्राणादि देवताओंके विज्ञान-
पूर्वक अनुष्ठान करनेपर वह अचि आदि
(देवयान) मार्गके द्वारा ब्रह्मलोककी
प्राप्तिका कारण होता है तथा केवल
(उपासनारहित) कर्म धूमादि मार्गसे
चन्द्रलोककी प्राप्ति हेतु होता है ।
जो इन दोनों मार्गोंसे पतित एवं स्वभावा-
नुसार प्रवृत्त होनेवाले होते हैं उनकी
कष्टमयी अधोगति बतलायी गयी है ।

न चोभयोर्मार्गयोरन्यतरस्मि-
न्नपि मार्ग आत्यन्तिकी पुरुषार्थ-
सिद्धिरित्यतः कर्मनिरपेक्षमद्वैता-
त्मविज्ञानं संसारगतित्रयहेतूप-
मर्देन वक्तव्यमित्युपनिषदा-
स्म्यते ।

न चाद्वैतात्मविज्ञानादन्यत्रा-
ज्ञानम्यव त्यन्तिकी निःश्रेय-
मोक्षसाधनत्वम् संप्राप्तिः । वक्ष्यति
हि—“अथ येऽन्यथातो विदुरन्य-
राजानस्ते क्षय्यलोका भवन्ति ।”
(छा० उ० ७।२५।२)
विपर्यये च “स स्वराट् भवति”
(छा० उ० ७।२५।२) इति ।

तथा द्वैतविषयानृताभिसंघस्य
बन्धनं तत्करस्येव तत्परशुग्रहणे
बन्धदाहभावः संसारदुःखप्राप्ति-
श्चेत्युक्त्वाद्वैतात्मसत्याभिसंघ-

इन दोनों मार्गोंमेंसे किसी भी एक
मार्गपर रहनेसे आत्यन्तिक पुरुषार्थकी
सिद्धि नहीं हो सकती । अतः
संसारकी [उपयुक्त] त्रिविध गतियों-
के हेतुभूत कर्मका निराकरण
करते हुए कर्मकी अपेक्षासे
रहित अद्वैत-आत्मज्ञानका प्रति-
पादन करना है; इसी उद्देश्यसे इस
उपनिषद्का आरम्भ किया जाता है ।

अद्वैतात्मविज्ञानके बिना और
किसी प्रकार आत्यन्तिक कल्याणकी
प्राप्ति नहीं हो सकती । जैसा कि
आगे कहेंगे भी—“जो लोग इस
(अद्वैतात्मज्ञान) से विपरीत जानते
हैं, वे अन्यराज (अनात्माके
अधीन) होते और क्षीण होनेवाले
लोकोमें जाते हैं ।” किंतु इससे
विपरीत आत्मज्ञान होनेपर [श्रुति
कहती है कि] “वह स्वराट्
होता है ।”

इस प्रकार तपे हुए परशुको
ग्रहण करनेसे चोरके जलने और
बन्धनमें पड़नेके समान द्वैतविषय-
रूप मिथ्यामें अभिनिवेश रखनेवाले
पुरुषका बन्धन होता है तथा
उसे सासारिक दुःखोंकी प्राप्ति
होती है—यह बतलाकर श्रुति

स्यात्स्करस्येव तप्तपरशुग्रहणे

बन्धदाहाभावः संसारदुःखनिवृ-

त्तिर्मोक्षचेति ।

अत एव न कर्मसहभावि

कर्मसमुच्चय- अद्वैतात्मदर्शनम् ।

निराकरणम् क्रियाकारकफलमे-

दोषमर्देन "सत्" एकमेवाद्विती-

यम्" (छा० उ० ६ । २ । १)

"आत्मैवेदं सर्वम्" (छा० उ०

७।२।२) इत्येवमादिवाक्य-

जनितस्य बाधकप्रत्ययानुपपत्तेः ।

कर्मविधिप्रत्यय इति चेत् ?

न, कर्तृभोक्तृस्वभावविज्ञान-

वतस्तज्जनितकर्मफलरागद्वेषादि-

दोषवतश्च कर्मविधानात् ।

अधिगतसकलवेदार्थस्य कर्म-

विधानादद्वैतज्ञानवतोऽपि कर्मेति

चेत् ?

अद्वैत आत्मारूप परम सत्यमें प्रतीति रखनेवाले पुरुषको, जो पुरुष चोर नहीं है उसके तप्त परशु ग्रहण करने पर दाह और बन्धन न होनेके समान, संसार-दुःखकी निवृत्ति और मोक्षकी प्राप्ति वतलावेगी ।

इसीसे [अर्थात् कर्म और ज्ञान दोनों विरुद्ध फलवाले हैं—ऐसा निश्चय होनेके कारण ही] अद्वैतात्म-दर्शन कर्मके साथ होनेवाला नहीं है । क्योंकि क्रिया, कारक और फलरूप भेदका बाध करके "सत् [ब्रह्म] एक और अद्वितीय है" "यह सब आत्मा ही है" इत्यादि प्रकारके वाक्योंसे उत्पन्न होनेवाले अद्वैत आत्मज्ञानका कोई बाधक प्रत्यय होना सम्भव नहीं है । यदि कहो कि कर्मविधिविषयक ज्ञान ही [उसका बाधक] है तो ऐसा होना भी सम्भव नहीं है, क्योंकि जो अपनेको स्वभावसे ही कर्ता-भोक्तारूप जानता है और उससे होनेवाले कर्मफलमें रागद्वेषरूप दोषोंसे युक्त है, उसीके लिये कर्मका विधान किया गया है ।

शङ्का—जो सम्पूर्ण वेदार्थको जाननेवाला है उसीके लिये कर्मका विधान किया गया है; इसलिये अद्वैतात्मज्ञानीको भी तो कर्म करना ही चाहिये ?

न; कर्माधिकृतविषयस्य कर्तृ-
भोक्त्रादिज्ञानस्य स्वाभाविकस्य
“सत्” “एकमेवाद्वितीयम्” “आत्मै-
वेदं सर्वम्” इत्यनेनोपमर्दित-
त्वात् । तस्मादविद्यादिदोषवत्
एव कर्माणि विधीयन्ते नाद्वैत-
ज्ञानवतः । अत एव हि वक्ष्यति-
“सर्व एते पुण्यलोका भवन्ति
ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति” (छा०
उ० २ । २३ । १) इति ।

तत्रैतस्मिन्नद्वैतविद्याप्रकरणे-
प्रकरणप्रति- ऽभ्युदयसाधनान्यु-
पायनि पणम् पासनान्युच्यन्ते ।
कैवल्यसंनिवृत्तफलानि चाद्वैता-
दीपद्विकृतब्रह्मविषयाणि मनो-
मयः प्राणशरीर इत्यादीनि, कर्म-
समृद्धिफलानि च कर्माङ्गसम्ब-
न्धीनि । रहस्यसामान्यान्मनोवृ-
त्तिसामान्याच्च; यथाद्वैतज्ञानं

समाधान-नही, क्योंकि कर्मके
अधिकारीसे सम्बन्ध रखनेवाला
कर्तृत्व-भोक्तृत्वादि रूप स्वाभाविक
विज्ञान “सत् [ब्रह्म] एक और
अद्वितीय है” “यह सब आत्मा ही
है” इत्यादि वाक्योंसे बाधित हो
जाता है । इसलिये कर्मोंका विधान
अविद्यादि दोषवान् पुरुषके लिये ही
किया गया है, अद्वैतात्मज्ञानीके
लिये नहीं किया गया । इसीलिये श्रुति
आगे कहेगी—“ये सब [कर्मकाण्डी]
पुण्यलोकोको प्राप्त होते हैं तथा
ब्रह्मनिष्ठ [परमहंस] अमृतत्व (मोक्ष)
को प्राप्त होता है ।”

वहाँ इस अद्वैतविद्याविषयक
प्रकरणमें अभ्युदयको साधनभूता
उपासनाएँ बतलायी जाती हैं, जिन-
का फल कैवल्यमोक्षका समीपवर्ती
है और जो अद्वैतब्रह्मकी अपेक्षा
‘मनोमय’ प्राणशरीर’ इत्यादि
वाक्योंके अनुसार कुछ विकारको
प्राप्त हुए ब्रह्मसे सम्बन्ध रखनेवाली
हैं । वे उपासनाएँ कर्माङ्गसे सम्बद्ध हैं
और कर्मफलकी समृद्धि ही उनका फल
है । क्योंकि रहस्यमें [अर्थात् उप-
निषद् शब्दसे ज्ञातव्य होनेमें] तथा
मनोवृत्तिरूप होनेमें उन (आत्मज्ञान
और उपासनाओं) में समानता है
[इसीसे वे उपासनाएँ आत्मविद्याके
प्रकरणमें रखी गयी हैं] । जिस

मनोवृत्तिमात्रं तथान्यान्यप्युपा-
सनानि मनोवृत्तिरूपाणीत्यस्ति
हि सामान्यम् । कस्तद्ध द्वैतज्ञान
स्योपासनानां च विशेषः ?
उच्यते—

स्वाभाविकस्यात्मन्यक्रिये-
ज्ञानोपासनयो- ऽध्यागोपितस्य कर्त्रा-
विशेषः दिकारक क्रियाफल-
भेदविज्ञानस्य निवर्तकमद्वैतवि-
ज्ञानम्, रज्ज्वादाविव सर्पादि-
ध्यारोपलक्षणज्ञानस्य रज्ज्वादि-
स्वरूपनिश्चयः प्रकाशनिमित्तः ।
उपासनं तु यथाशास्त्रसमर्थितं
किञ्चिदालम्बनमुपादाय तस्मिन्
समानचित्तवृत्तिसंतानकरणं त-
द्विलक्षणप्रत्ययानन्तरितमिति वि-
शेषः ।

तान्येतान्युपासनानि सत्त्व-
शुद्धिकरत्वेन वस्तुतत्त्वावभास-
कत्वादद्वैतज्ञानोपकारकाण्याल-
म्बनविषयत्वात्सुसाध्यानि चेति
पूर्वमुपयन्त्यन्ते । तत्र कर्माभ्या-

प्रकार अद्वैतज्ञान मनोवृत्तिमात्र है
उसी प्रकार अन्य उपासनाएँ भी
मनोवृत्तिरूप ही हैं—यही उन दोनों-
की समानता है । तो फिर अद्वैतज्ञान
और उपासनाओंमें अन्तर क्या है ?
सो बतलाया जाता है—

अद्वैतात्मज्ञान अक्रिय आत्मामें
स्वभावसे ही आरोपित कर्ता आदि
कारक, क्रिया और फलके भेदज्ञानकी
निवृत्ति करनेवाला है, जिस प्रकार
कि प्रकाशके कारण होनेवाला रज्जु
आदिके स्वरूपका निश्चय रज्जु आदि-
में आरोपित सर्पादिके ज्ञानको निवृत्त
कर देता है । किंतु उपासना तो
किसी शास्त्रोक्त आलम्बनको ग्रहण
कर उसमें विजातीय प्रतीतिसे
अव्यवहित सदृश चित्तवृत्तिका
प्रवाह करना है—यही इन दोनोंमें
अन्तर है ।

वे ये उपासनाएँ चित्तशुद्धि
करनेवाली होनेसे वस्तुतत्त्वकी
प्रकाशिका होनेके कारण अद्वैत-
ज्ञानमें उपकारिणी हैं तथा आलम्बन-
युक्त होनेके कारण सुगमतासे
सम्पन्न की जा सकती हैं—इसीलिये
इनका पहले निरूपण किया जाता
है । वहाँ [साधारण पुरुषोंमें]

सस्य दृढीकृतत्वात्कर्मपरित्यागे-
नोपासन एव दुःखं चेतःसमर्पणं
कर्तुमिति कर्माङ्गविषयमेव ताव-
दादावुपासनमुपन्यस्यते—

कर्मभ्यासकी दृढ़ता होनेके कारण
कर्मका परित्याग करके उपासनामे
ही चित्तको लगाना अत्यन्त कठिन
है । इसीसे सबसे पहले कर्माङ्ग-
सम्बन्धिनी उपासनाका ही उल्लेख
किया जाता है—

उद्गीथदृष्टिसे ओंकारकी उपासना

ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत । ओमिति

हुद्गायति तस्योपव्याख्यानम् ॥ १ ॥

ॐ यह अक्षर उद्गीथ है, इसकी उपासना करनी चाहिये । 'ॐ'
ऐसा [उच्चारण करके यज्ञमें उद्गाता] उद्गान (उच्चस्वरसे सामगान)
करता है । उस (उद्गीथोपासना) की ही व्याख्या की जाती है ॥१॥

ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासी-
त । ओमित्येतदक्षरं परमात्मनो-
ऽभिधानं नेदिष्ठम् । तस्मिन्नि-
प्रयुज्यमाने स प्रसीदति प्रिय-
नामग्रहण इव लोकः । तदिहेति-
परं प्रयुक्तमभिधायकत्वाद्व्या-
वर्तितं शब्दस्वरूपमात्रं प्रतीयते ।
तथा चार्चादिवत्परस्यात्मनः

उद्गीथशब्दवाच्य 'ॐ' इस
अक्षरकी उपासना करे—'ॐ' यह
अक्षर परमात्माका सबसे समीपवर्ती
(प्रियतम) नाम है । उसका प्रयोग
(उच्चारण) किया जानेपर वह प्रसन्न
होता है, जिस प्रकार कि साधारण लोग
अपना प्रिय नाम उच्चारण करनेपर
प्रसन्न होते हैं । वह ओंकार यहाँ
(इस मन्त्रमें) इतिपरक (जिसके
आगे 'इति' शब्द है; ऐसा) प्रयुक्त
हुआ है । अर्थात् परमात्माका अभि-
धायक होनेके कारण इतिशब्दद्वारा
व्यावर्तित (पृथक् निदिष्ट) होकर
वह केवल शब्दस्वरूपसे प्रतीत
होता है और इस प्रकार वह भूति

प्रतीकं सम्पद्यते । एवं नामत्वेन प्रतीकत्वेन च परमात्मोपासन-साधनं श्रेष्ठमिति सर्ववेदान्तेष्ववगतम् । जपकर्मस्वाध्यायाद्यन्तेषु च बहुशः प्रयोगात्प्रसिद्ध-मस्य श्रेष्ठ्यम् ।

अतस्तदेतदक्षरं वर्णात्मक-मुद्गीथभक्त्यवयवत्वादुद्गीथशब्द-वाच्यमुपासीत । कर्मज्ञावयव-भूत ओंकारे परमात्मप्रतीके दृढमैकाग्रचक्षणां मतिं संतनु-यात् । स्वयमेव श्रुतिरोङ्कारस्यो-द्गीथशब्दवाच्यत्वे हेतुमाह—ओमिति ह्युद्गायति । ओमित्या-रभ्य हि यस्मादुद्गायत्यत उद्गीथ ओङ्कार इत्यर्थः ।

आदिके समान परमात्माका प्रतीक ही सिद्ध होता है । इस तरह नाम और प्रतीकरूपसे वह परमात्माकी उपासनाका उत्तम साधन है—ऐसा सम्पूर्ण वेदान्त-ग्रन्थोंमें विदित है । जप, कर्म और स्वाध्यायके आदि एवं अन्तमें इसका बहुधा प्रयोग होनेके कारण ॐ इसकी श्रेष्ठता प्रसिद्ध है ।

अतः वह यह वर्णरूप अक्षर उद्गीथभक्तिका अवयव होनेके कारण 'उद्गीथ' शब्दवाच्य है, इसकी उपासना करे । अर्थात् [उद्गीथ-] कर्मके अङ्गभूत और परमात्माके प्रतीकस्वरूप ओंकारमें सुदृढ़ एकाग्रतारूप बुद्धिको अवि-च्छिन्न भावसे संयुक्त करे । ओंकारके 'उद्गीथ' शब्दवाच्य होनेमें श्रुति स्वयं ही हेतु बतलाती है—'ॐ' ऐसा कहकर उद्गान करता है—क्योंकि उद्गाता 'ॐ' इस अक्षरसे आरम्भ करके उद्गान करता है, इसलिये ओंकार उद्गीथ है ।

* जैसा कि भगवान्ने भी कहा है—

तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपःक्रियाः ।

प्रवतन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम् ॥ (गीता १७ । २४)

‘इसलिये वेदमन्त्रोंका उच्चारण करनेवाले श्रेष्ठ पुरुषोंकी शास्त्रविधिसे नियत यज्ञ, दान और तपरूप क्रियाएँ सदा 'ॐ' इस परमात्माके नामको उच्चारण करके ही आरम्भ होती हैं ।’

† सामवेदीय स्तोत्रविशेषका नाम 'उद्गीथभक्ति' है । ओंकार उसका मंत्र है । इसलिये इसे उद्गीथ कहा गया है ।

तस्योपव्याख्यानम्—तस्याक्षर-
स्योपव्याख्यानमेवमुपासनमेवंवि-
भूत्येवंफलमित्यादिकथनमुपव्या-
ख्यानम्, प्रवर्तते इति वाक्य-
शेषः ॥ १ ॥

[यहाँ] उसका उपव्याख्यान
आरम्भ किया जाता है—उस अक्षरकी
सम्यग् व्याख्या की जाती है । 'इस
प्रकार उसकी उपासना होती है, यह
उसकी विभूति है और यह फल है'
इत्यादि प्रकारका जो कथन है, उसे
उपव्याख्यान कहते हैं। यहाँ 'प्रवर्तते'
(आरम्भ किया जाता है) यह निया-
पद वाक्यशेष है ॥ १ ॥

उद्गीयका रसतमत्त्व

एषां भूतानां पृथिवी रसः पृथिव्या आपो रसः ।
अपामोषधयो रस ओषधीनां पुरुषो रसः पुरुषस्य वाग्रसो
वाचः ऋग्रस ऋचः साम रसः साम्न उद्गीथोरसः ॥ २ ॥

इन [चराचर] प्राणियोका पृथिवी रस (उत्पत्ति, स्थिति और
लयका स्थान) है । पृथिवीका रस जल है, जलका रस ओषधियाँ हैं,
ओषधियोका रस पुरुष है, पुरुषका रस वाक् है, वाक्का रस ऋक् है,
ऋक्का रस साम है और सामका रस उद्गीथ है ॥ २ ॥

एषां चराचराणां भूतानां
पृथिवी रसो गतिः परायणमव-
ष्टम्भः । पृथिव्या आपो रसोऽप्सु हि
ओता च प्रोता च पृथिवी, अतस्ता
रसः पृथिव्याः । अपामोषधयो
रसः, अपपरिणामत्वादोषधीनाम् ।
तासां पुरुषो रसः, अन्नपरिणाम-
त्वात्पुरुषस्य ।

इन चराचर भूतोका पृथिवी रस—
गति—परायण अर्थात् आश्रय है ।
पृथिवीका रस आप् (जल) है, क्योंकि
पृथिवी जलमें ही ओतप्रोत है,
इसलिये वह पृथिवीका रस है । जलका
रस ओषधियाँ हैं, क्योंकि ओषधियों
(जलकों) ही परिणाम हैं । उन
(ओषधियों) का रस पुरुष है,
क्योंकि पुरुष (नरदेह) अन्नका ही
परिणाम है ।

तस्यापि पुरुषस्य वाग्रसः,
 पुरुषावयवानां हि वाक्सारिष्ठा,
 अतो वाक् पुरुषस्य रस उच्यते ।
 तस्या अपि वाच ऋग्रसः सार-
 तरा । ऋचः साम रसः सार-
 तरम् । तस्यापि साम्न उद्गीथः
 प्रकृतत्वादोङ्कारः सारतरः ॥२॥

उस पुरुषका भी रस वाक् है ।
 पुरुषके अवयवोंमें वाक् ही सबसे
 अधिक सार वस्तु है, इसलिये वाक्
 पुरुषका रस कही जाती है । उस
 वाणीका भी उससे अधिक सारभूत
 ऋक् ही रस है, ऋक्का रस
 साम है जो उससे भी अधिक सारतर
 वस्तु है तथा उस सामका भी रस
 उद्गीथ (ॐकार) है । यहाँ उद्गीथ
 शब्दसे ओङ्कार ही लेना चाहिये;
 क्योंकि उसीका प्रकरण है, यह
 सामसे भी सारतर है ॥ २ ॥

—:***:—

एवम्—

इस प्रकार—

स एष रसानाँ रसतमः परमः पराध्व्योऽष्टमो
 यदुद्गीथः ॥ ३ ॥

यह जो उद्गीथ है वह सम्पूर्ण रसोंमें रसतम, उत्कृष्ट, परमात्माका
 प्रतीक होने योग्य और पृथिवी [आदि रसोंमें] आठवाँ है ॥ ३ ॥

स एष उद्गीथाख्य ॐकारो
 भूतादीनामुत्तरोत्तररसानामति-
 शयेन रसो रसतमः परमः
 परमात्मप्रतीकत्वात् । परार्ध्यः-
 अर्घं स्थानं परं च तदर्थं
 च परार्घं तदर्हतीति परार्ध्यः
 परमात्मस्थानाहः परमात्मबहुपा
 स्यत्वादित्यभिप्रायः । अष्टमः
 पृथिव्यादिरससंख्यायां यदुद्गीथो
 य उद्गीथः ॥ ३ ॥

वह यह उद्गीथसंज्ञक ओङ्कार
 भूत आदिके उत्तरोत्तर रसोंमें अतिशय
 रस अर्थात् रसतम है, परमात्माका
 प्रतीक होनेके कारण परम (उत्कृष्ट)
 है, परार्ध्य है—अर्घ कहते हैं स्थानको
 जो पर होते हुए अर्घ भी हो उसका
 नाम परार्घ है, उसके योग्य होनेसे यह
 परार्ध्य है; तात्पर्य यह है कि परमात्मा-
 के समान उपासनीय होनेके कारण
 यह परमात्माका आलम्बन होने योग्य
 है । तथा यह जो उद्गीथ है पृथिवी आदि
 रसोंकी गणनामें आठवाँ है ॥ ३ ॥

—:~:—

उद्गीथोपामनान्तर्गत ऋक्, साम और उद्गीथका निर्णय

वाच ऋग्रस इत्युक्तम्—

वाणीका रस ऋक् है—ऐसा कहा गया—

कतमा कतमर्कतमत्कतमत्साम कतमः कतम
उद्गीथ इति विमृष्टं भवति ॥ ४ ॥

अब यह विचार किया जाता है कि कौन-कौन-सा ऋक् है, कौन-कौन-सा साम है और कौन-कौन-सा उद्गीथ है ? ॥ ४ ॥

सा कतमा ऋक् ? कतम-
त्साम ? कतमो वा स उद्गीथः ?
कतमा कतमेति वीप्सादरार्था ।

ननु 'वा बहूनां जातिपरिप्रश्ने
इतमच्' । न ह्यत्र ऋग्जाति-
बहुत्वम्, कथं इतमच्प्रयोगः ?

कौन-सी वह ऋक् है, कौन-सा वह साम है और कौन-सा वह उद्गीथ है ? 'कतमा-कतमा' (कौन-कौन) यह द्विरुक्ति आदरके लिये है।

शङ्का—'वा बहूनां जातिपरिप्रश्ने इतमच्' * (५ । ३ । ६३) इस पाणिनीय सूत्रके अनुसार अनेक जातिके लोगोंमेंसे किसी एक जातिका निश्चय करनेके लिये प्रश्न होनेपर 'इतमच्' प्रत्ययका प्रयोग इष्ट माना गया है, किंतु यहाँ ऋग्जातिकी बहुलता सम्भव नहीं है, फिर 'इतमच्' प्रत्ययका प्रयोग कैसे किया गया ?

* इस सूत्रका तात्पर्य यह है कि जहाँ विभिन्न जातियोंके अनेक पदार्थ होते हैं वहाँ किसी एक जातिके पदार्थका निश्चय करनेके लिये प्रश्न उपस्थित होनेपर 'इतमच्' प्रत्ययका प्रयोग किया जाता है । जिस प्रकार कठ आदि बहुत सी वेद-शाखाएँ हैं, उनका स्वाध्याय करनेवाले द्विज लोगोंकी जाति उन्हीं शाखाओंके नामसे प्रसिद्ध हुई है । उनमेंसे कठ जातिका निश्चय करनेके लिये ही 'कतमः कठ' ऐसा प्रश्न किया जा सकता है । परंतु यहाँ तो ऋग्वेद एक ही जाति है, फिर उसमें 'इतमच्' प्रत्ययका प्रयोग कैसे हो सकता है ?

नैष दोषः, जातौ परिप्रश्नो
जातिपरिप्रश्न इत्येतस्मिन्विग्रहे
जातावृग्यक्तीनां बहुत्वोपपत्तेः ।
न तु जातेः परिप्रश्न इति
विगृह्यते ।

ननु जातेः परिप्रश्न इत्य-
स्मिन् विग्रहे कतमः कठ इत्या-
दयुदाहरणमुपपन्नम्, जातौ परि-
प्रश्न इत्यत्र तु न युज्यते ।

तत्रापि कठादिजातावेव
व्यक्तिबहुत्वाभिप्रायेण परिप्रश्न
इत्यदोषः । यदि जातेः परिप्रश्नः
स्यात्कतमा कतमगित्यादावुप-
संख्यानं कर्तव्यं स्यात् । विमृष्टं
भवति विमर्शः कृतो भवति ॥४॥

समाधान—यह कोई दोष नहीं है,
क्योंकि 'जातिपरिप्रश्न' इस पदका
'जातिमें परिप्रश्न' ऐसा विग्रह
करनेपर ऋक् जातिमें ऋक् व्यक्तियों
(विभिन्न ऋचाग्रों) की अनेकता तो
सम्भव है ही; यहाँ 'जातिका परि-
प्रश्न' ऐसा विग्रह नहीं किया जाता ।

शङ्का—किंतु 'जातिका परिप्रश्न'
ऐसा विग्रह करनेपर ही 'कतमः कठः'
(आपमें कठशाखावाला कौन है ?)
इत्यादि उदाहरण सम्भव हो सकता
है, 'जातिमें परिप्रश्न' ऐसा विग्रह
होनेपर यह उदाहरण नहीं दिया
जा सकता ।

समाधान—वहाँ भी कठादिजातिमें
ही व्यक्तियोंकी बहुलताके अभिप्रायसे
ऐसा प्रश्न किया गया है—यह मान
लेनेसे कोई दोष नहीं आता । यदि
यह प्रश्न (ऋगादि-) जातिसे सम्बन्ध
रखता तो पूर्वोक्त सूत्रसे 'कौन-कौन
ऋक् हैं ?' इत्यादि उदाहरण सिद्ध न
होनेके कारण उसके लिये किसी पृथक्
सूत्रका विधान किया जाता । ❀ [अब
यह] विमृष्ट होता है अर्थात् इसका
विचार किया जाता है ॥४॥ ❀

—: ❀ :

* तात्पर्य यह है कि यदि यहाँ जातिमें प्रश्न न मानकर जातिसम्बन्धी प्रश्न माना जाय तो 'कौन-कौन ऋक् हैं ?' यह प्रश्न असंगत हो जाता है; क्योंकि ऋक् एक जाति है, उसमें रहनेवाले भिन्न-भिन्न मन्त्रोंकी पृथक्-पृथक् जाति नहीं है । अतः यहाँ ऋक्त्वजातिविशिष्ट मन्त्ररूप व्यक्तियोंके विषयमें ही प्रश्न किया गया है, ऐसा मानना चाहिये ।

विमर्शे हि कृते सति प्रति-
वचनोक्तिरुपपन्ना—

इस प्रकार विचार करनेपर
ही यह प्रतिवचन (उत्तर) रूप
उक्ति संगत हो सकती है कि—

वागेवर्क् प्राणः सामोमित्येतदक्षरमुद्गीथः ।

तद्वा एतन्मिथुनं यद्वा अथ प्राणश्चर्क् च साम च ॥ ५ ॥

वाक् ही ऋक् है, प्राण साम है और ॐ यह अक्षर उद्गीथ है ।
ये जो ऋक् और सामरूप वाक् और प्राण हैं, परस्पर मिथुन (जोड़े) हैं ॥ ५ ॥

वागेवर्क् प्राणः साम, ओमि-
त्येतदक्षरमुद्गीथ इति । वाग्-
चोरेकत्वेऽपि नाष्टमत्वव्याघातः,
पूर्वस्माद्वाक्यान्तरत्वात्; आप्ति-
गुणसिद्धये हि ओमित्येतदक्षर-
मुद्गीथ इति ।

वाणी ही ऋक् है, प्राण साम
है तथा ॐ यह अक्षर उद्गीथ है ।
इस प्रकार वाक् और ऋक् की एकता
होनेपर भी [तीसरे मन्त्रमें बतलाये
हुए उद्गीथके] अष्टमत्वका व्याघात
नहीं होता, क्योंकि यह पूर्व वाक्यसे
भिन्न वचन है, 'ओमित्येतदक्षर-
मुद्गीथः' यह वचन ओंकारके व्याप्ति-
गुणकी सिद्धिके लिये प्रयुक्त हुआ है
[और द्वितीय मन्त्र उसके रसतम-
त्वका प्रतिपादन करनेके लिये है] ।

वाक्प्राणावृक्सामयोनी इति
वागेवर्क् प्राणः सामेत्युच्यते ।
यथाक्रममृक्सामयोर्वाक्प्राण-
योर्ग्रहणे हि सर्वासामृचां सर्वेषां
च साम्नामवरोधः कृतः स्यात् ।

वाक् और प्राण क्रमशः ऋक्
और सामके कारण हैं । इसलिये
वाक् ही ऋक् है और साम प्राण हैं—
ऐसा कहा जाता है । क्रमशः ऋक्
और सामके कारणरूप वाक्
और प्राणका ग्रहण करनेसे
सम्पूर्ण ऋक् और सम्पूर्ण सामका
अन्तर्भाव हो जाता है, तथा

सर्वर्क सामावरोधे चक्सामसा-
ध्यानां च सर्वकर्मणामवरोधः
कृतः स्यात् । तदवरोधे च सर्वे
कासा अवरुद्धाः स्युः । ओमि-
त्येतदक्षरमुद्गीथ इति भक्त्या-
शङ्का निवर्त्यते ।

तद्वा एतदिति मिथुनं निर्दि-
श्यते किं तन्मिथुनम् ? इत्याह-
यद्वाक्च प्राणश्च सर्वक्साम-
कारणभूतौ मिथुनम् । ऋक्च
साम चेति ऋक्सामकारणावृ-
क्सामशब्दोक्तावित्यर्थः । न तु
स्वातन्त्र्येण ऋक्च साम च मिथु-
नम् । अन्यथा हि वाक्च प्राणश्चे-
त्येकं मिथुनमृक्साम चापरं मिथु-
नमिति द्वे मिथुने स्याताम् । तथा
च तद्वैतन्मिथुनमित्येकवचननिर्दे-
शोऽनुपपन्नः स्यात् । तस्माद्वक्सा-
मयोन्योर्वाक्प्राणयोरेव मिथुन-
त्वम् ॥ ५ ॥

सम्पूर्ण ऋक् और सम्पूर्ण सामका
अन्तर्भाव होनेपर ऋक् और
सामसे सिद्ध होनेवाले सम्पूर्ण कर्मों-
का अन्तर्भाव हो जाता है, और
उनका अन्तर्भाव होनेपर समस्त काम-
नाएँ उनके अन्तर्भूत हो जाती हैं । ॐ
'उद्गीथ' शब्दसे सम्पूर्ण उद्गीथ-
भक्ति न ले ली जाय, इस आशङ्का-
को 'ओम्' यह अक्षर ही उद्गीथ है'
ऐसा कहकर निवृत्त किया जाता है ।

'तद्वा एतत्' इत्यादि वाक्यसे
मिथुनका निर्देश किया जाता है ।
वह मिथुन कौन है ? यह बतलाते
हैं यह जो सम्पूर्ण ऋक् और
सामके कारणभूत वाक् और प्राण हैं
मिथुन हैं । 'ऋक् च साम च' इसमें
ऋक् और सामके कारण ही ऋक्
और साम शब्दोंसे कहे गये हैं । ऋक्
और साम स्वतन्त्रतासे मिथुन नहीं
हैं; नहीं तो वाक् और प्राण यह एक
मिथुन तथा ऋक् और साम—यह
दूसरा मिथुन इस प्रकार दो मिथुन
होते; और ऐसा होनेपर 'तद्वा
एतन्मिथुनम्' इस वाक्यमें जो
एकवचनका निर्देश किया गया है,
वह असंगत हो जाता । अतः ऋक्
और सामके कारणभूत वाक् और
प्राण ही मिथुन हैं ॥ ५ ॥

—:०:—

* इस प्रकार सम्पूर्ण कामनाओंकी प्राप्तिका कारण होनेवाला ओंकार
व्याप्तिगुणविशिष्ट है—यह सिद्ध होता है ।

आकारमें समृष्ट मिथुनके समागमका फल

तदेतन्मिथुनमोमित्येतस्मिन्नक्षरे संसृज्यते
यदा वै मिथुनौ समागच्छत आपयतो वै ताव-
न्योन्यस्य कामम् ॥ ६ ॥

वह यह मिथुन ॐ इस अक्षरमें समृष्ट होता है। जिस समय मिथुन (मिथुनके अवयव) परस्पर मिलते हैं उस समय वे एक दूसरेकी कामनाओको प्राप्त करानेवाले होते हैं ॥ ६ ॥

तदेतदेवंलक्षणं मिथुनमामि-
त्येतस्मिन्नक्षरे संसृज्यते। एवं
सर्वकामावाप्तिगुणविशिष्टं मिथुन-
मौंकारे संसृष्टं विद्यत इत्यौंका-
रस्य सर्वकामावाप्तिगुणवत्त्वं
प्रसिद्धम्। वाङ्मयत्वमौंकारस्य
प्राणनिष्पाद्यत्वं च मिथुनेन
संसृष्टत्वम्।

मिथुनस्य कामापयितृत्वं प्र-
सिद्धमिति दृष्टान्त उच्यते—यथा
लोके मिथुनौ मिथुनावयवौ स्त्री-
पुंसौ यदा समागच्छतो ग्राम्य-
धर्मतया संयुज्येयातां तदापयतः
प्रापयतोऽन्योन्यस्येतरेतरस्य तौ
कामम्। तथा च स्वात्मानु-
प्रविष्टेन मिथुनेन सर्वकामाप्ति-

वह यह ऐसे लक्षणवाला मिथुन
ॐ इस अक्षरमें संयुक्त होता है।
इस प्रकार सम्पूर्ण कामनाओकी
प्राप्तिरूप गुणसे युक्त मिथुन ओंकार-
में संयुक्त रहता है, इसलिये ओंकार-
का सम्पूर्ण कामनाओकी प्राप्तिरूप
गुणसे युक्त होना सिद्ध होता है।
ओंकार वाङ्मय है और प्राणसे
ही निष्पन्न होनेवाला है—यही
उसका मिथुनसे संयुक्त होना है।

कामनाओकी प्राप्ति करा देना यह
मिथुनका प्रसिद्ध धर्म है—इस विषयमें
दृष्टान्त बनाया जाता है—जिस
प्रकार लोकमें मिथुन यानी मिथुनके
अवयवभूत स्त्री और पुरुष परस्पर
मिलते हैं—ग्राम्यव्यवहार (रति)
के लिये आपसमें ससर्ग करते हैं,
उस समय वे एक दूसरेकी कामना पूर्ण
कर देते हैं। इसी प्रकार अपनेसे
अनुप्रविष्ट मिथुनके द्वारा ओंकारका

गुणवत्त्वमोकारस्य सिद्धमित्य- सम्पूर्ण कामनाओंकी प्राप्तिरूप गुणसे
मिप्रायः ॥ ६ ॥ युक्त होना सिद्ध होता है—यह
इसका अभिप्राय है ॥ ६ ॥

—:ॐ:—

उद्गीथदृष्टिसे ओंकारकी उपासना करनेका फल

तदुपासकोऽप्युद्गाता तद्धर्मा उस (ओंकार) का उपासक
भवतीत्याह— उद्गाता भी उसीके समान धर्मसे युक्त
होता है, यह बतलाया जाता है—

आपयिता ह वै कामानां भवति य एतदेवं
विद्वानक्षरमुद्गीथमुपास्ते ॥ ७ ॥

जो विद्वान् (उपासक) इस प्रकार इस उद्गीथरूप अक्षरकी उपा-
सना करता है, वह सम्पूर्ण कामनाओंकी प्राप्ति करानेवाला होता है॥७॥

आपयिता ह वै कामानां यजमानकी कामनाओंको प्राप्त
यजमानस्य भवति । य एतदक्षर- करा देनेवाला होता है । तात्पर्य
मेवमाप्तिगुणवदुद्गीथमुपास्ते त- यह है कि जो इस प्रकार इस
स्यैतद्यथोक्तं फलमित्यर्थः । “तं आप्रप्तिगुणवान् अक्षर उद्गीथकी
यथा यथोपासते तदेव भवति” उपासना करता है उसे यह पूर्वोक्त
(मं० ब्रा० २०) इति श्रुतेः॥७॥ फल प्राप्त होता है, जैसा कि “उस-
की जिस-जिस प्रकार उपासना करता है वैसा ही हो जाता है”
इस श्रुतिसे सिद्ध होता है ॥ ७ ॥

—:ॐ:—

ओंकारकी समृद्धिगुणवत्ता

समृद्धिगुणवांश्चोकारः, कथम् ओंकार समृद्धि गुणवाला भी
है, सो किस प्रकार ?

तद्वा एतदनुज्ञाक्षरं यद्धि किं चानुजानात्योमित्येव तदाह एषाएव समृद्धिर्यदनुज्ञा । समर्थयिताहवै कामानां भवति य एतदेवं वि अनक्षरमुद्गीथमुपास्ते ॥ ८ ॥

वह यह ओंकार ही अनुज्ञा (अनुमतिमूचक) अक्षर है । [मनुष्य] किसीको जो कुछ अनुमति देता है तो 'ॐ' (हाँ) ऐसा ही कहता है । यह अनुज्ञा ही समृद्धि है । जो इस प्रकार जाननेवाला पुरुष इस उद्गीथ अक्षरको उपासना करता है, वह निश्चय ही सम्पूर्ण कामनाओंको समृद्ध करनेवाला होता है ॥ ८ ॥

तद्वा एतत्प्रकृतमनुज्ञाक्षरमनुज्ञा च साक्षरं च तत् । अनुज्ञा चानुमतिरोक्ता इत्यर्थः । कथमनुज्ञा ? इत्याह श्रुतिरेव — यद्धि किं च यत्किं च लोके ज्ञानं धनं चानुजानाति विद्वान्धनी वा तत्रानुमतिं कुर्वन्नोमित्येव तदाह । तथा च वेदे — “अयस्त्रिंशदित्योमिति होवाच” (वृ० उ० ३ । ६ । १) इत्यादि । तथा च लोकेऽपि तवेदं धनं गृह्णामीत्युक्तं ओमित्येवाह ।

वह यह ओंकार ही, जिसका प्रकरण चल रहा है, अनुज्ञाक्षर है । जो अनुज्ञा हो और अक्षर भी हो उसे अनुज्ञाक्षर कहते हैं । अनुज्ञा अनुमति का नाम है, अर्थात् ॐकार अनुज्ञा है । वह अनुज्ञा किस प्रकार है ? सो स्वयं श्रुति ही बतलाती है — लोकमें कोई विद्वान् या धनी पुरुष जिस किसी ज्ञान अथवा धनके लिये अनुमति देता है तो उस सम्बन्धमें अपनी अनुमति देते हुए वह 'ॐ' ऐसा ही कहता है । तथा वेदमें भी “तैत्तिरीयः ऐसा कहनेपर [शाकल्यने] 'ॐ' ऐसा कहा” इत्यादि उदाहरण हैं और लोकमें भी ‘मैं तेरा यह धन लेता हूँ’ ऐसा कहनेपर 'ॐ' (हाँ) ऐसा ही कहते हैं ।

* शाकल्यनामक एक ब्राह्मणने याज्ञवल्क्यसे पूछा कि कितने देवता हैं ? उसके उत्तरमें याज्ञवल्क्यने कहा — ‘तैत्तिरीयः’ । तब शाकल्यने ‘ॐ’ ऐसा कहकर अपनी अनुमति प्रकट की ।
(बृहदारण्यकोपनिषद्)

अत एषा उ एवैषैव समृद्धि-
 र्दनुज्ञा; यानुज्ञा स समृद्धिस्त-
 न्मूलत्वादनुज्ञायाः । समृद्धो
 ह्योमित्यनुज्ञां ददाति । तस्मात्
 समृद्धिगुणवानोद्धार इत्यर्थः ।
 समृद्धिगुणोपासकत्वात्तद्धर्मा सन्
 समर्धयिता ह वै कामानां यज-
 मानस्य भवति य एतदेवं
 विद्वानक्षरमुद्गीथमुपास्त इत्यादि
 पूर्ववत् ॥ ८ ॥

अतः 'एषा उ एवं' अर्थात् यही
 समृद्धि है । जो कि अनुज्ञा कहलाती
 है । जो अनुज्ञा है वही समृद्धि है,
 क्योंकि अनुज्ञा समृद्धिमूलक होती
 है । समृद्ध पुरुष ही 'ॐ' ऐसी
 अनुज्ञा देता है । अतः तात्पर्य यह है कि
 ओंकार समृद्धि गुणवाला है । जो ऐसा
 जाननेवाला पुरुष इस उद्गीथ
 अक्षरकी उपासना करता है, वह
 समृद्धिगुणयुक्त वस्तुका उपासक
 होनेके कारण उसके ही समान
 धर्मवाला होकर अपने यजमानकी
 कामनाओंको समृद्ध (पूर्ण) करने-
 वाला होता है-इत्यादि पूर्ववत्
 जानना चाहिये ॥ ८ ॥

—ॐ—

ओंकारकी स्तुति

अथेदानीमक्षरं स्तौत्युपास्य-
 त्वात्प्ररोचनार्थम्, कथम् ?

इसके बाद अब श्रुति उस अक्षर
 (ॐ) में रुचि उत्पन्न करनेके लिये
 उसकी स्तुति करती है, क्योंकि वह
 उपास्य है । कैसे स्तुति करती है,
 [यह बताते हैं]:-

तेनेदं त्रयी विद्या वर्तत ओमित्याश्रावयत्योमिति
 श् सत्योमित्युद्गायत्येतस्यैवाक्षरस्यापचित्यै महिम्ना
 रसेन ॥ ९ ॥

उस अक्षरसे ही यह [ऋग्वेदादिरूप] त्रयीविद्या प्रवृत्त होती है ।
 'ॐ' ऐसा कहकर ही [अध्वर्यु] आश्रावण कर्म करता है, 'ॐ' ऐसा
 कहकर ही होता शंसन करता है तथा 'ॐ' ऐसा कहकर ही उद्गाता
 उद्गान करता है । इस अक्षर [परमात्मा] की पूजाके लिये ही
 [सम्पूर्ण वैदिक कर्म हैं] तथा इसीकी महिमा और रस (त्रीहि-यवादि
 हवि) के द्वारा [सब कर्म प्रवृत्त होते हैं] ॥ ९ ॥

तेनाक्षरेण प्रकृतेनेयमृग्वेदा-

दिलक्षणा त्रयीविद्या त्रयी-

विद्याविहितं कर्मेत्यर्थः । न हि

त्रयीविद्यैवाश्रावणादिभिर्वर्तते ।

कर्म तु तथा प्रवर्तत इति प्रसि-

द्धम् । कथम् ? ओमित्याश्रावयत्यो-

मिति शंसत्योमित्युद्गायतीति

लिङ्गाच्च सोमयाग इति गम्यते ।

तच्च कर्मेतन्मैवाक्षरस्यापचि-

त्यै पूजार्थम् । परमात्मप्रतीकं

हि तत् । तदपचितिः परमात्मन

एव सा । “स्वकर्मणा तमम्यर्च्य

सिद्धिं विन्दति मानवः” (गीता

१८-१ ४६) इति स्मृतेः ।

किं चैतस्यैवाक्षरस्य महिम्ना

महत्त्वेन ऋत्विग्यजमानादि-

उस प्रकृत अक्षरसे ही यह

ऋग्वेदादिरूप त्रयीविद्या अर्थात्

त्रयीविद्यासे विधान किया हुआ कर्म

प्रवृत्त होता है, क्योंकि आश्रावण

आदि कर्मोंद्वारा स्वयं त्रयीविद्या ही

प्रवृत्त नहीं हुआ करती । हाँ, यह

प्रसिद्ध ही है कि कर्म इस प्रकार

प्रवृत्त हुआ करता है । किस प्रकार ?

[सो बतलाते हैं—] ॐ ऐसा

कहकर [अध्वयु] आश्रावण करता

है, ॐ ऐसा कहकर [होता] शसन

करता है और ॐ ऐसा कहकर

[उद्गाता] उद्गान करता है । इस

प्रकार आश्रावण आदि तीनों कर्मोंके

समाहाररूप लिङ्ग (लक्षण) से जाना

जाता है कि यह सोमयागका वर्णन है ।

तथा वह कर्म भी इस अक्षरकी

ही अपचिति—पूजाके लिये है,

क्योंकि वह परमात्माका प्रतीक है,

अतः उसकी पूजा परमात्माकी ही

पूजा है, जैसा कि “अपने कर्मसे

उसका पूजन करके मनुष्य सिद्धि

लाभ करता है” इस स्मृतिसे सिद्ध

होता है ।

* अध्वयु, होता और उद्गाता—इन तीनोंके कर्मोंका समाहार दर्शपूर्णमास आदिमें सम्मिलित नहीं है । अग्निष्टोम आदि यज्ञोंमें ही जो सोमयागसंस्थाके अन्तर्गत है उसकी सम्भावना है । अतः यहाँ उक्त तीनों कार्योंके समाहाररूप लिङ्ग (लक्षण) से यह सूचित होता है कि यहाँ ॐकारसे आरम्भ होनेवाले त्रयीविद्या-विहित कर्म-सोमयागका ही वर्णन है ।

प्राणैरित्यर्थः । तथैतस्यैवाक्षरस्य
'रसेन व्रीहियवादिरसनिवृत्तेन
हविषेत्यर्थः; यागहोमाद्यक्षरेण
क्रियते । तच्चादित्यमुपतिष्ठते ।
ततो वृष्ट्यादिक्रमेण प्राणोज्ज्वलं
च जायते । प्राणैरन्नेन च यज्ञ-
स्तायते । अत उच्यते 'अक्ष-
रस्य महिम्ना रसेन' इति ॥६॥

आदिके प्राणोंसे ही तथा इस अक्षरके
रस—व्रीहि-यवादिरससे निष्पन्न
हुए हविष्यसे ही [वैदिककर्म सम्पन्न
होते हैं] । [तो क्या वे प्राण और
हवि उस अक्षरके विकार हैं ?
इसपर कहते हैं—] वे याग-
होमादि इस अक्षरके उच्चारणपूर्वक
ही किये जाते हैं । वे कर्म आदित्य-
को प्राप्त होते हैं । फिर उससे वृष्टि
आदि क्रमसे प्राण और अन्नकी
उत्पत्ति होती है तथा प्राण और
अन्नसे यज्ञका अनुष्ठान किया जाता
है । इसीलिये 'इस अक्षरकी महिमासे
और रससे' ऐसा कहा गया है ॥६॥

—: ० :—

उद्गीषविद्याके जानने और न जाननेवालेके कर्मका भेद

तत्राक्षरविज्ञानवतः कर्म कर्त-
व्यमिति स्थितमाक्षिपति—

ऐसी अवस्थामें जिसे अक्षर-
विज्ञान है उसीको कर्म करना
चाहिये—इस अवस्थामें श्रुति
आक्षेप करती है—

तेनोभौ कुरुतो यश्चैतदेवं वेद यश्च न वेद ।
नाना तु विद्या चाविद्या च यदेव विद्यया करोति
श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवतीति खल्वेत-
स्यैवाक्षरस्योपव्याख्यानं भवति ॥ १० ॥

जो इस (अक्षर) को इस प्रकार जानता है और जो नहीं जानता
वे दोनों ही उसके द्वारा [कर्म] करते हैं । किंतु विद्या और अविद्या—
दोनों भिन्न-भिन्न [फल देनेवाली] हैं । जो कर्म विद्या, श्रद्धा और योगसे
युक्त होकर किया जाता है वही प्रबलतर होता है, इस प्रकार निश्चय ही
यह सब इस अक्षरकी ही व्याख्या है ॥ १० ॥

तेनाक्षरेणोभौ यश्चैतदक्षरमेवं
 व्याख्यातं वेद यश्च कर्ममात्र-
 विदक्षरयाथात्म्यं न वेद तावुभौ
 कुरुतः कर्म । तयोश्च कर्मसाम-
 थ्यादेव फलं स्यात्किं तत्राक्षर-
 याथात्म्यविज्ञानेनेति । दृष्टं हि
 लोके हरीतकीं भक्षयतोस्तद्रसा-
 मिज्ञेतरयोर्विरेचनम् । नैवम्,
 यस्मान्नाना तु विद्या चाविद्या च
 मित्रे हि विद्याविद्ये । तु शब्दः
 पक्षव्याघृत्यर्थः ।

न श्रींकारस्य कर्माङ्गत्वमात्र-
 विज्ञानमेव रसतुमाप्तिरसमृद्धिगुण-
 वद्विज्ञानम्, किं तर्हि ? ततोऽ-
 न्यधिकम् । तस्माच्चदङ्गाधिक्या-
 त्फलाधिक्यं युक्तमित्यभिप्रायः ।
 दृष्टं हि लोके वणिक्खरयोः

उस अक्षरके द्वारा दोनो ही
 प्रकारके लोग कर्म करते हैं; [कौन-
 कौन ?] (१) जो इस अक्षरको
 जैसी कि ऊपर व्याख्या की गयी है
 उसी प्रकार जानते हैं; और (२)
 जो केवल कर्मको ही जानते हैं,
 अक्षरके यथार्थ स्वरूपको नहीं
 जानते, वे दोनो ही कर्मानुष्ठान
 करते हैं । [अब यदि कोई कहे
 कि] उन्हे कर्मके सामर्थ्यसे ही
 फलकी प्राप्ति हो जायगी, अक्षरके
 याथात्म्यको जाननेकी क्या आवश्य-
 कता है, क्योंकि लोकमें हरीतकी
 (हरें) के रसको जाननेवाले और न
 जाननेवाले इन दोनोंको ही हरीतकी
 खानेसे दस्त होते देखे गये हैं—
 तो ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि
 विद्या और अविद्या इन दोनोंमें भेद
 है—विद्या और अविद्या दोनो ही
 मित्र-मित्र हैं । 'तु' शब्द पक्षकी
 व्यावृत्ति करनेके लिये है ।

श्रींकार रसतम तथा आप्ति और
 समृद्धि इन गुणोंसे युक्त है—ऐसा
 जानना उसे केवल कर्माङ्गमात्र
 जाननेकी ही मुख्य नहीं है, तो
 फिर कैसा है ? उससे, सब प्रकार
 बड़ा हुआ है । अतः अभिप्राय यह
 है कि कर्माङ्गज्ञानसे उत्कृष्ट होनेके
 कारण उसके फलकी उत्कृष्टता भी
 उचित ही है । लोकमें यह देखा ही
 गया है कि व्यापारी और भोल—

पद्मरागादिमणिविक्रये वणिजो
विज्ञानाधिक्यात्फलाधिक्यम् ।
तस्माद्यदेव विद्यया विज्ञानेन
युक्तः सन् करोति कर्म श्रद्धया
श्रद्धानश्च सन्नुपनिषदा योगेन
युक्तश्चेत्यर्थः; तदेव कर्म वीर्य-
वत्तरमविद्वत्कर्मणाऽधिकफलं
भवतीति । विद्वत्कर्मणो वीर्य-
वत्तरत्ववचनादविदुषोऽपि कर्म
वीर्यवदेव भवतीत्यभिप्रायः ।

न चाविदुषः कर्मण्यनधि-
कारः । औपस्त्ये काण्डेऽविदुषा-
मप्यात्विज्यदर्शनात् । रसतमाप्ति-
समृद्धिगुणवदक्षरमित्येकमुपास-
नम्, मध्ये प्रयत्नान्तरादर्शनात् ।
अनेकैर्हि विशेषणैरनेकयोपास्य-
त्वात्स्वल्वेतस्यैव प्रकृतस्योद्गीथा-
ख्यस्याक्षरस्यौपव्याख्यानं भवति
॥ १० ॥

इन दोनोंमेंसे व्यापारीको पद्मरागादि
मणियोंकी विक्रीका अधिक ज्ञान
होनेके कारण अधिक फल होता
है । अतः विद्या अर्थात् विज्ञानसे
युक्त होकर श्रद्धासे यानी श्रद्धालु
होकर और उपनिषद् अर्थात् योगसे
युक्त होकर जो कर्म करता है वही
प्रबलतर होता है—अविद्वान्के
कर्मसे अधिक फल देनेवाला होता
है । विद्वान्का कर्म प्रबलतर बतलाया
गया है, इससे यह अभिप्राय सूचित
होता है कि अविद्वान्का भी कर्म
प्रबल तो होता ही है ।

अविद्वान्का कर्ममें अधिकार न
हो—ऐसी बात भी नहीं है; क्योंकि
औपस्त्यकाण्डमें (इस अध्यायके दशम
खण्डमें) अविद्वानोंको भी ऋत्विक्कर्म
करते देखा जाता है । वह अक्षर
रसतम तथा आप्ति और समृद्धि
गुणोंसे युक्त है—ऐसी एक उपासना
है, क्योंकि इसका निरूपण करते
समय बीचमें कोई और प्रयत्न नहीं
देखा गया । अनेकों विशेषणोंद्वारा अनेक
प्रकारसे उपास्य होनेके कारण निश्चय
ही यह सब इस उद्गीथसंज्ञक प्रकृत
अक्षर (३ॐ) की ही व्याख्या है ॥ १० ॥

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि प्रथमाध्याये प्रथमखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥ १ ॥

द्वितीय खण्ड

प्राणोपासनाकी उत्कृष्टता सूचित करनेवाली आख्यायिका

देवासुरा ह वै यत्र संयेतिर उभये प्राजापत्या-
स्तद्ध देवा उद्गीथमाजहूरनेनैनानभिभविष्याम
इति ॥ १ ॥

प्रसिद्ध है, [पूर्वकालमे [प्रजापतिक पुत्र देवता और असुर किसी कारणवश परस्पर युद्ध करने लगे । उनमेमे देवताओने यह सोचकर कि, इसके द्वारा इनका पराभव करेगे, उद्गीथका अनुष्ठान किया ॥ १ ॥

देवासुरा देवाश्चासुराश्च । देवा

आख्यायिकार्थ- दीव्यतेर्द्योतनार्थस्य

निर्वचनम् शास्त्रोद्भासिता इन्द्रिय-

वृत्तयः । असुरास्तद्विपरीताः

स्वेष्वेवासुषु विष्वग्विपर्यासु

प्राणनक्रियासु रमणात्स्वामावि-

न्यस्तमआत्मिका इन्द्रियवृत्तय

एव । ह वा इति पूर्ववृत्तोद्भासकौ

निपातौ । यत्र यस्मिन्निमित्त

इतरेतरविपर्यापहारलक्षणो संये-

देवासुरा -- देवता और असुर-

गण । 'देव' शब्द द्योतनार्थक 'दिव्'

धातुसे सिद्ध हुआ है । इसका

अभिप्राय शास्त्रालोकित इन्द्रिय-

वृत्तियाँ हैं । तथा उसके विपरीत,

जो अपने ही असुरो (प्राणो) मे

यानी विविध विपर्ययोमे जानेवाली

प्राणनक्रियाओमे (जीवनोपयोगी

प्राणव्यापारोमे) ही रमण करनेवाली

होनेके कारण स्वभावसे ही तमो-

मयी इन्द्रियवृत्तियाँ हैं, व ही

'असुर' कहलाती हैं । 'ह' ओर 'व'

ये पूर्ववृत्तान्तको सूचित करनेवाले

निपात हैं । 'यत्र' जिस निमित्तसे

अर्थात् एक-दूसरेके विपर्ययोके अप-

तिरे । संपूर्वस्य यततेः सङ्ग्रामार्थत्वमिति सङ्ग्रामं कृतवन्त इत्यर्थः ।

शास्त्रीयप्रकाशवृत्त्यभिभवनाय प्रवृत्ताः स्वाभाविक्यस्तमोरूपा इन्द्रियवृत्तयोऽसुराः । तथा तद्विपरीताः शास्त्रार्थविषयविवेकज्योतिरात्मानो देवाः स्वाभाविकतमोरूपासुराभिभवनाय प्रवृत्ता इत्यन्योन्याभिभवोद्भवरूपः सङ्ग्राम इव सर्वप्राणिषु प्रतिदेहं देवासुरसङ्ग्रामोऽनादिकालप्रवृत्त इत्यभिप्रायः । स इह श्रुत्याख्यायिकारूपेण धर्माधर्मोत्पत्तिविवेकविज्ञानाय कथ्यते प्राणविशुद्धि-विज्ञानविधिपरतया ।

अत उभयेऽपि देवासुराः प्रजापतेरपत्यानीति प्राजापत्याः । प्रजापतिः कर्मज्ञानाधिकृतः पुरुषः

हरणरूप जिस किसी निमित्तसे संयत हुए । 'सम्' उपसर्गपूर्वक 'यत्' धातुका अर्थ संग्राम होनेके कारण इसका अभिप्राय 'उन्होंने संग्राम किया'—ऐसा समझना चाहिये ।

शास्त्रीय प्रकाशवृत्तिका पराभव करनेके लिये प्रवृत्त हुई स्वभावसे ही तमोरूपा इन्द्रियवृत्तियाँ असुर हैं । तथा उनके विपरीत शास्त्रार्थविषयक विवेकज्योतिःस्वरूप देवगण स्वाभाविक तमोरूप असुरोंका पराभव करनेके लिये प्रवृत्त हैं । इस प्रकार परस्परकी वृत्तियोंके अभिभव-उद्भवरूप संग्रामके समान यह देवासुर-संग्राम अनादिकालसे सम्पूर्ण प्राणियोंमें प्रत्येक देहमें होता आ रहा है—ऐसा इसका अभिप्राय है । यहाँ श्रुति धर्माधर्मकी उत्पत्तिके विवेकका बोध करानेके लिये प्राणोंकी विशुद्धिके विज्ञानका विधान करते हुए आख्यायिकारूपसे उसीका वर्णन कर रही है ।

इसीसे ये देवता और असुर, दोनों प्रजापतिके पुत्र हैं इसलिये प्राजापत्य, "पुरुष ही उक्त्य है, यही महान् प्रजापति है" इस अन्य श्रुतिके अनुसार प्रजापति, कर्म और ज्ञान

“पुरुष एवोक्तमयमेव महान्प्रजा-
पतिः” इति श्रुत्यन्तरात् । तस्य हि
शास्त्रीयाः स्वाभाविक्यश्च करण-
वृत्तयो विरुद्धा अपत्यानीव, तदु-
द्भवत्वात् ।

तत्तत्रोत्कर्षार्थकर्मलक्षणनिमित्ते
ह देवा उद्गीथमुद्गीथमक्त्युपल-
क्षितमौद्गात्रं कर्माजिह्वु राहृतवन्तः ।
तस्यापि केवलस्याहरणासंभवा-
ज्ज्योतिष्टोमाद्याहृतवन्त इत्यभि-
प्रायः । तत्किमर्थमाजिह्वुः ? इत्यु-
च्यते—अनेन कर्मयैनानसुरान-
भिभविष्याम इत्येवमभिप्रायाः
सन्तः ॥ १ ॥

(उपासना) के अधिकारी पुरुषका
नाम है [ब्रह्माका नहीं] । उसीकी
शास्त्रीय और स्वाभाविक—ये परस्पर-
विरुद्ध इन्द्रियवृत्तियाँ सत्तानके
समान हैं, क्योंकि इनका आविर्भाव
उसीसे होता है ।

उत्कर्ष-अपकर्षरूप निमित्तके
कारण होनेवाले उस सप्रारम्भमे
देवताओंने उद्गीथका यानी उद्गीथ-
भक्तिसे उपलक्षित उद्गाताके कर्मका
आहरण—अनुष्ठान किया । अकेले
उसीका अनुष्ठान होना असम्भव
होनेके कारण उन्होंने ज्योतिष्टोम
आदिका अनुष्ठान किया—ऐसा
इसका अभिप्राय है । उन्होंने उसका
अनुष्ठान किसलिये किया ? यह
बतलाया जाता है—इस कर्मसे
हम इन असुरोका पराभवकर देंगे—
ऐसे अभिप्रायवाले होकर [उन्होंने
उद्गीथका अनुष्ठान किया] ॥ १ ॥

—: ० :—

ध्राणादिका सदोषत्व

यदा च तदुद्गीथं कर्माजिही-
र्षवस्तदा—

जिस समय उन्होंने उस उद्गीथ-
कर्मका अनुष्ठान करना चाहा उस
समय—

ते ह नासिक्यं प्राणमुद्गीथमुपासांचक्रिरे ।
त० ह्रासुराः पाप्मना विविधुरस्तस्मात्तेनोभयं जिघ्रति
सुरभि च दुर्गन्धि च पाप्मना ह्येष विद्धः ॥ २ ॥

उन्होंने नासिकामें रहनेवाले प्राणके रूपमें उद्गीथकी उपासना की ।
किन्तु असुरोंने उसे पापसे विद्ध कर दिया । इसीसे वह सुगन्ध और दुर्गन्ध
दोनोंको सूँघता है, क्योंकि वह पापसे विघा हुआ है ॥ २ ॥

ते ह देवा नासिक्यं नासिकायां
भवं प्राणं चेतनावन्तं प्राणं
प्राणमुद्गीथकर्तारमुद्गातारमुद्गीथ-
भक्त्योपासांचक्रिरे कृतवन्त
इत्यर्थः । नासिक्यप्राणदृष्ट्यो-
द्गीथारूपमक्षरमोक्षारमुपासांच-
क्रिर इत्यर्थः । एवं हि प्रकृतार्थ-
परित्यागोऽप्रकृतार्थोपादानं च न
कृतं स्यात् । 'खल्वेतस्यैवाक्षरस्य'
इत्योक्कारो ह्युपास्यतया प्रकृतः ।

ननुद्गीथोपलक्षितं कर्माहित-
वन्त इत्यवोचः, इदानीमेव कथं
नासिक्यप्राणदृष्ट्योक्कारमुपासां-
चाक्रिर इत्यात्थ ?

प्रसिद्ध है, उन देवताओंने
नासिक्य—नासिकामें रहनेवाले प्राण
यानी चेतनावान् प्राणेन्द्रियकी, जो
उद्गीथकर्ता—उद्गाता है, उद्गीथ-
भक्तिसे उपासना की, तात्पर्य यह है
कि उद्गीथसंज्ञक ओंकार अक्षरकी
नासिकामें रहनेवाले प्राणके रूपमें
उपासना की । इस प्रकार प्रकृत अर्थ-
का परित्याग और अप्रकृत अर्थका
ग्रहण नहीं करना पड़ता; क्योंकि
'खल्वेतस्यैवाक्षरस्य' इस श्रुतिवचन-
के अनुसार यहाँ उपास्यरूपसे
ओंकारका ही प्रकरण है ।

शंका—किन्तु तुमने तो कहा था
कि उन्होंने 'उद्गीथ' शब्दसे उप-
लक्षित कर्मका अनुष्ठान किया ।
अब ऐसा क्यों कहते हो कि उद्गीथ-
संज्ञक ओंकार अक्षरकी ही नासिकामें
स्थित प्राणके रूपमें उपासना की ?

नैष दोषः; उद्गीथकर्मण्येव
हि तत्कृत् प्राणदेवतादृष्ट्योद्गीथ-
भक्त्यवयवश्चोङ्कार उपास्यत्वेन
विवक्षितो न स्वतन्त्रः। अतस्ताद-
र्थ्येन कर्माहृतवन्त इति युक्त-
मेवोक्तम् ।

तमेवं देवैर्वृतमुद्रातारं हासु-
राः स्वाभाविकतम आत्मानो
ज्योतीरूपं नासिक्यं प्राणं देवं
स्वोत्थेन पाप्मना धर्मासङ्गरूपेण
विविधुर्विद्धवन्तः संसर्गं कृतवन्त
इत्यर्थः । स हि नासिक्यः प्राणः
कल्याणगन्धग्रहणाभिमानासङ्गा-
भिभूतविवेकविज्ञानो बभूव । स
तेन दोषेण पाप्मसंसर्गी बभूव ।
तदिदमुक्तमसुराः पाप्मना वि-
विधुरिति ।

यस्मादासुरेण पाप्मना विद्ध-
स्तस्मात्तेन पाप्मना प्रेरितो घ्राणः
प्राणो दुर्गन्धग्राहकः प्राणिनाम् ।
अतस्तेनोभयं जिघ्रति लोकः

समाधान—यह कोई दोष नहीं
है, क्योंकि यहाँ उद्गीथ कर्ममें ही
उसका कर्ता जो प्राणदेवता है
उसीकी दृष्टिसे उद्गीथभक्तिका अव-
यवभूत ओंकार उपास्यरूपसे
विवक्षित है—स्वतन्त्र ओंकार
नहीं । अतः उसीके लिये उद्गीताके
कर्मका अनुष्ठान किया—ऐसा जो
कहा है वह उचित ही है ।

देवताओंसे इस प्रकार वरण
किये हुए उस उद्गीता ज्योति-
स्वरूप नासिकास्थित प्राणदेवको स्व-
भावसे ही तमोमय असुरोंने अघर्म
और आसक्तिरूप अपने पापसे बेध
दिया; अर्थात् उससे संयुक्त कर दिया ।
वह जो नासिकास्थित प्राण है उसमें
पुण्य गन्धको ग्रहण करनेके अभिमान
और आसक्तिरूप दोष आ जानेसे
उसके विवेक और विज्ञानका अभाव
हो गया । उस दोषके कारण वह
पापसे संसर्ग रखनेवाला हो गया ।
इसीसे यह कहा है कि असुरोंने उसे
पापसे विद्ध कर दिया ।

क्योंकि प्राण आसुर पापसे विद्ध
है इसलिये उस पापसे प्रेरित हुआ
ही वह प्राणियोका घ्राणसंज्ञक प्राण
दुर्गन्धको ग्रहण करनेवाला है ।
इसीसे लोक सुगन्धि और दुर्गन्धि

सुरभि च दुर्गन्धि च पाप्मना

ह्येष यस्माद्विद्धः । उभयग्रहणम-

विवक्षितम्, 'यस्योभयं हविरा-

तिमाच्छ्रति' इति यद्वत् ।

"यदेवेदमप्रतिरूपं जिघ्रति"

(बृ० उ० १ । ३ । ३) इति

समानप्रकरणश्रुतेः ॥ २ ॥

दोनोंहीको सूँघता है, क्योंकि यह पापसे विधा हुआ है । जिस प्रकार "जिसकी द्रवात्मक एवं पुरोडाशात्मक दोनों हवियाँ दूषित हो जायँ (वह इन्द्र देवताके लिये पाँच सकोरोमें भात अर्पण करे)" इसवाक्यमें 'दोनों' पद विवक्षित नहीं है; उसी प्रकार यहाँ भी 'उभय' पदका ग्रहण करना इष्ट नहीं है ।* [बृहदारण्यक-श्रुतिमें भी] इसीके समान प्रकरणमें यही सुना गया है कि "जो इस प्रतिकूल गन्धको सूँघता है ।" [इससे भी यही सिद्ध होता है कि यहाँ 'उभय' शब्दको ग्रहण करना उचित नहीं है] ॥२॥

अथ ह वाचमुद्गीथमुपासांचक्रिरे । ताँ हासुराः
पाप्मना विविधुस्तस्मात्तयोभयं वदति सत्यं चानृतं
च पाप्मना ह्येषा विद्धा ॥३॥

फिर उन्होंने वाणीके रूपमें उद्गीथकी उपासना की । किंतु असुरोंने उसे पापसे विद्ध कर दिया । इसीसे लोक उसके द्वारा सत्य और मिथ्या दोनों बोलता है, क्योंकि वह पापसे विधी हुई है ॥३॥

अथ ह चक्षुरुद्गीथमुपासांचक्रिरे । तद्वासुराः
पाप्मना विविधुस्तस्मात्तेनोभयं पश्यति दर्शनीयं
चादर्शनीयं च पाप्मना ह्येतद्विद्धम् ॥४॥

१. द्रवात्मक या पुरोडाशात्मक किसी एक प्रकारकी हवि भी यदि काक आदि के स्पर्शसे दूषित हो जाय तो उसके लिये प्रायश्चित्तकी आवश्यकता होती है, फिर उपर्युक्त वाक्यमें दोनों हवियोंके दूषित होनेपर प्रायश्चित्तकी व्यवस्था क्यों बतायी गयी । अवश्य ही वहाँ 'दोनों' (उभयम्) पद अनावश्यक या श्रविवक्षित है ।

* क्योंकि 'पापसे विद्ध होनेके कारण लोक दुर्गन्धको ग्रहण करता है ।' केवल इतना ही कहना उचित है ।

फिर उन्होंने चक्षुके रूपमें उद्गीथकी उपासना की । असुरोंने उसे भी पापसे विद्ध कर दिया । इसीसे लोक उससे देखनेयोग्य और न देखनेयोग्य दोनों प्रकारके पदार्थोंको देखता है, क्योंकि वह (चक्षु-इन्द्रिय) पापसे विधा हुआ है ॥ ४ ॥

अथ ह श्रोत्रमुद्गीथमुपासांचक्रिरे । तद्धासुराः
पाप्मना विविधुस्तस्मात्तेनोभयं शृणोति श्रवणीयं
चाश्रवणीयं च पाप्मना होनद्विद्धम् ॥ ५ ॥

फिर उन्होंने श्रोत्रके रूपमें उद्गीथकी उपासना की । असुरोंने उसे भी पापसे वेध दिया । इसीसे लोक उससे सुननेयोग्य और न सुननेयोग्य दोनों प्रकारकी बातोंको मुनता है, क्योंकि वह (श्रोत्रेन्द्रिय) पापसे विधा हुआ है ॥ ५ ॥

अथ ह मन उद्गीथमुपासांचक्रिरे । तद्धासुराः
पाप्मना विविधुस्तस्मात्तेनोभयं संकल्पयते संकल्प-
नीयं चासंकल्पनीयं च पाप्मना होतद्विद्धम् ॥ ६ ॥

फिर उन्होंने मनके रूपमें उद्गीथकी उपासना की । असुरोंने उसे भी पापसे वेध दिया । इसीसे उसके द्वारा लोक संकल्प करनेयोग्य और संकल्प न करनेयोग्य दोनोंहीका संकल्प करता है, क्योंकि वह पापसे विधा हुआ है ॥ ६ ॥

मुख्यप्राणस्योपास्यत्वाय त- मुख्यप्राणको उपास्य सिद्ध करने-
द्विशुद्धत्वानुभवार्थोऽयं विचारः के लिये उसकी विशुद्धताका अनुभव
करानेके प्रयोजनसे श्रुतिने इस विचार-
श्रुत्या प्रवर्तितः । अतश्चक्षुरादि- का आरम्भ किया है । अतः चक्षुआदि

देवताः क्रमेण विचार्यासुरेण
पाप्मना विद्धा इत्यपोहन्ते ।
समानमन्यत् । अथ ह वाचं
चक्षुः श्रोत्रं मन इत्यादि ।
अनुक्ता अप्यन्यास्त्वग्रसनादि-
देवता द्रष्टव्याः “एवमु खल्वेता
देवताः पाप्मभिः” (वृ० उ० १।३।
६) इति श्रुत्यन्तरात् ॥ ३-६ ॥

देवता आसुर-पापसे विद्ध हैं—इस प्रकार क्रमशः विचार करके उनका अपवाद किया जाता है । शेष सब भी इसीके समान हैं । इसी प्रकार उन्होंने वाक्, चक्षु, श्रोत्र और मन आदिको भी [पापसे विद्ध कर दिया] “इस प्रकार निश्चय ही ये देवता पापसे संयुक्त हैं” इस अन्य श्रुतिके अनुसार, यहाँ जिनका नाम नहीं लिया गया है, उन त्वक् एवं रसना आदि अन्य देवताओंको भी ऐसे ही पापविद्ध समझना चाहिये ॥ ३-६ ॥

मुख्य प्राणद्वारा असुरोंका पराभव

आसुरेण विद्धत्वाद्घ्राणादि-
देवता अपोह—

आसुर पापसे विद्ध होनेके कारण
घ्राणादि देवताओंका त्याग कर—

अथ ह य एवायं मुख्यः प्राणस्तमुद्गीथमुपासां-
चक्रिरे । तं हासुरा ऋत्वा विदध्वंसुर्यथाश्मानमा-
खणमृत्वा विध्वंसेत ॥ ७ ॥

फिर यह जो प्रसिद्ध मुख्य प्राण है उसीके रूपमें उद्गीथकी उपासना की । उस (प्राणके) समीप पहुँचकर असुरगण इस प्रकार विध्वस्त हो गये जैसे दुभेद्य पाषाणके पास पहुँचकर मिट्टीका ढेला नष्ट हो जाता है ॥ ७ ॥

अथानन्तरं य एवायं प्रसिद्धो
मुखे भवो मुख्यः प्राणस्तमुद्गीथ-
मुपासांचक्रिरे । तं हासुराः पूर्व-

अथ—इसके पश्चात् जो कि यह प्रसिद्ध मुख्य—मुखमें रहनेवाला प्राण है उसीके रूपमें उद्गीथकी उपासना की । असुरगण पूर्ववत्

वदत्वा प्राप्य विदध्वंसुर्विनष्टाः,
अभिप्रायमात्रेण, अकृत्वा किं-
चिदपि प्राणस्य ।

कथं विनष्टाः ? इत्यत्र दृष्टान्त-
माह—यथा लोकेऽश्मानमाखणं
—न शक्यते खनितुं कुदा-
लादिभिरपि, टङ्कैश्चन्द्रेण न
शक्योऽखणः, अखण एव
आखणस्तस्मत्त्वा सामर्थ्याल्लोष्टः
पांसुपिण्डः श्रुत्यन्तराच्चाश्मनि
क्षिप्तोऽश्ममेदनाभिप्रायेण तस्या-
श्मनः किञ्चिदप्यकृत्वा स्वयं वि-
ध्वंसेत विदीर्येतैवं विदध्वंसुरि-
त्यर्थः । एवं विशुद्धोऽसुरैरघर्षित-
त्वात् प्राण इति ॥ ७ ॥

उसे प्राप्त होते ही—प्राणका कुछ
भी न बिगाड़कर केवल उसे विद्ध
करनेका सकल्प करके ही विध्वस्त
हो गये ।

वे किस प्रकार नष्ट हो गये ?
इसमे दृष्टान्त कहते हैं—जिस
प्रकार लोकमे आखण—पाषाणको
प्राप्त होकर—जिसे कुदालादिसे भी
न खोदा जा सके तथा जो टांकियों-
से भी छिन्न न किया जा सके उसे
'अखण' कहते हैं, 'अखण' ही
'आखण' (अभेद) कहा गया है उसीको
प्राप्त होकर अर्थात् पाषाणकी ओर
उसे फोड़नेके अभिप्रायसे फेंका हुआ
लोष्ट—पासुपिण्ड यानी मिट्टीका डेला
उस पत्थरका कुछ भी न बिगाड़
कर स्वयं नष्ट हो जाता है उसी
प्रकार वे असुर भी विनष्ट हो गये ।
इस प्रकार असुरोंसे पराभूत न होनेके
कारण मुख्य प्राण शुद्ध रहा—यह
इसका तात्पर्य है । यहाँ प्रकरणके
सामर्थ्यसे और दूसरी श्रुतिके अनुसार
'लोष्ट' शब्द अध्याहृत किया गया है । ७ ।

प्राणोपासकका महत्त्व

एवंविदः प्राणात्मभूतस्येदं
फलमाह—

इस प्रकार जाननेवाले प्राणात्म-
भूत व्यक्तिके लिये श्रुति यह फल
बतलाती है—

एवं यथाश्मानमाखणसृत्वाविध्वँसत एवँ हैव
स त्रिध्वँसते य एवंविदि पापं कामयते यश्चैनमभि-
दासति स एषोऽश्माखणः ॥ ८ ॥

जिस प्रकार [मिट्टीका डेला] दुर्भेद्य पापाणको प्राप्त होकर विनष्ट हो जाता है उसी प्रकार वह व्यक्ति नाशको प्राप्त हो जाता है जो इस प्रकार जाननेवाले पुरुषके प्रति पापाचरणकी कामना करता है अथवा जो इसको कोसता या मारता है; क्योंकि यह प्राणोपासक अभेद्य पाषाण ही है ॥ ८ ॥

यथाश्मानमिति, एष एव
दृष्टान्तः; एवं हैव स त्रिध्वंसते
विनश्यति; कोऽसौ? इत्याह—य
एवंविदि यथोक्तप्राणविदि पापं
तदनर्हं कर्तुं कामयत इच्छति
यश्चाप्येनमभिदासति हिनस्ति
प्राणविदं प्रत्याक्रोशताडनादि
प्रयुङ्क्ते सोऽप्येवमेव विध्वंसत
इत्यर्थः। यस्मात्स एष प्राणवित्
प्राणभूतत्वादश्माखण इवाश्मा-
खणोऽघर्षणीय इत्यर्थः।

जिस प्रकार पाषाणको प्राप्त होकर इत्यादि—यही इसमें दृष्टान्त है। उसी प्रकार निश्चय ही वह नष्ट हो जाता है; कौन नष्ट हो जाता है? सो बतलाते हैं—जो इस प्रकार पूर्वोक्त प्राणको जानने-वाले उपासकके प्रति उसके अयोग्य पापाचरण करनेकी कामना—इच्छा करता है; तथा जो इसका हनन करता है—इस प्राणवेत्ताके प्रति गाली-गलौज एवं ताडनादिका प्रयोग करता है वह भी इसी प्रकार नष्ट हो जाता है—यह इसका अभिप्राय है; क्योंकि वह प्राणवेत्ता प्राणस्वरूप होनेके कारण दुर्भेद्य पाषाणके समान दुर्भेद्य पाषाण अर्थात् दुर्घर्ष है।

ननु नासिक्योऽपि प्राणो वा-
य्वात्मा यथा मुख्यस्तत्र नासि-
क्यः प्राणः पाप्मना विद्धः प्राण
एव सन्न मुख्यः कथम् ?

नैष दोषः; नासिक्यस्तु स्थान-
करणवैगुण्याद्विद्धो वाय्वात्मापि
सन्; मुख्यस्तु तदसंभवात्
स्थानदेवताबलीयस्त्वान्न विद्ध
इति युक्तम् । यथा वास्याइ यः
शिन्नावत्पुरुषाश्रयाः कार्यविशेषं
कुर्वन्ति नान्यहस्तगतास्तद्वद्दोष-
वद्प्राणसचिवत्वाद्विद्धा प्राण-
देवता न मुख्यः ॥ ८ ॥

शंका—जैसा कि मुख्य प्राण है
उसी प्रकार नासिकास्थित प्राण भी
तो वायुरूप ही है, किंतु प्राणरूप
होते हुए भी केवल नासिकागत प्राण
ही पापसे विद्ध है, मुख्य प्राण
नहीं है—तो कैसे ?

समाधान—यह कोई दो । नहीं
है । नासिकामे रहनेवाला प्राण तो
वायुरूप होनेपर भी स्थानावच्छिन्न
इन्द्रियके दोषके कारण असुरोंद्वारा
पापसे विद्ध हो गया है, किंतु
मुख्य प्राण आश्रयदोषकी असम्भवता-
के कारण तथा स्थानदेवतासे
प्रबलतर होनेके कारण पापसे विद्ध
नहीं हुआ—यह उचित ही है ।
जिस प्रकार बसूला आदि औजार
सुशिक्षित पुरुषके हाथमें रहनेपर
विशेष कार्य करते हैं, किंतु दूसरेके
हाथमे पड़नेपर वैसा नहीं करते,
उसी प्रकार दोषयुक्त घ्राणका साथी
होनेके कारण घ्राणदेवता पापसे
विद्ध है और मुख्य प्राण पापविद्ध
नहीं है ॥ ८ ॥

यस्मान्न विद्धोऽसुरैर्मुख्यस्त-
स्मात्—

क्योंकि मुख्य प्राण असुरोंद्वारा
पापविद्ध नहीं हुआ, इसलिये—

नैवैतेन सुरभि न दुर्गन्धि विजानात्यपहतपाप्मा
ह्येष तेन यदश्नाति यत्पिबति तेनेतरान्प्राणानवति ।
एतमु एवान्ततोऽवित्त्वोत्क्रामति व्याददात्येवान्तत
इति ॥ ६ ॥

लोक इस (मुख्य प्राण) के द्वारा न सुगन्धको जानता है और न दुर्गन्धको ही जानता है; क्योंकि यह पापसे पराभूत नहीं है । अतः यह जो कुछ खाता या पीता है उससे अन्य प्राणोंका (इन्द्रियोंका) पोषण करता है । अन्तमें इस मुख्य प्राणको प्राप्त न होनेके कारण ही [घ्राणादि प्राणसमूह] उत्क्रमण करता है और इसीसे अन्तमें पुरुष मुख फाड़ देता है ॥ ६ ॥

नैवैतेन सुरभि दुर्गन्धि वा
विजानाति घ्राणेनैव तदुभयं
विजानाति लोकः । अतश्च
पाप्मकार्यादर्शनादपहतपाप्माप-
हतो विनाशितोऽपनीतः पाप्मा
यस्मात्सोऽयमपहतपाप्मा ह्येष
विशुद्ध इत्यर्थः ।

यस्माच्चात्मभरयः कल्याणा-
द्यासङ्गवत्त्वाद्घ्राणादयो न
तथात्मभरिर्मुख्यः, किं तर्हि ?
सर्वार्थः कथम् ? इत्युच्यते—तेन
मुख्येन यदश्नाति यत्पिबति

लोक इस मुख्य प्राणके द्वारा न सुगन्धको जानता है और न दुर्गन्ध-
को ही, इन दोनोंको वह घ्राणके
द्वारा ही जानता है । अतः पापका
कार्य न देखे जानेके कारण यह
अपहतपाप्मा है—जिससे पाप
अपहत-विनाशित अर्थात् दूर कर
दिया गया है वह यह मुख्य प्राण
अपहतपाप्मा अर्थात् विशुद्ध है ।

क्योंकि घ्राणादि इन्द्रियाँ अपने-
अपने कल्याणमें आसक्त होनेके
कारण अपना ही पोषण करनेवाला
हैं और मुख्य प्राण उस प्रकार अपना
ही पोषण करनेवाला नहीं है; तो
फिर वह कैसा है ? वह तो सभीका
हितकारी है । किस प्रकार ? स
वतलाया जाता है—उस मुख्य

लोकस्तेनाशितेन पीतेन चेतुरान्
घ्राणादीनवति पालयति । तेन
हि तेषां स्थितिर्भवतीत्यर्थः । अतः
सर्वभरिः प्राणोऽतो विशुद्धः ।

कथं पुनर्मुख्याशितपीताभ्यां
स्थितिरेषां गम्यते ? इत्युच्यते—
एतं मुख्यं प्राणम्, मुख्यप्राणस्य
वृत्तिमन्नपाने इत्यर्थः, अन्ततोऽ-
न्ते मरणकालेऽवित्त्वालब्धोत्क्रा-
मति घ्राणादिप्राणसमुदाय
इत्यर्थः । अप्राणो हि न शक्नो-
त्यशितुं पातुं वा । तेन तदोत्क्रा-
न्तिः प्रसिद्धा घ्राणादिकलापस्य ।
दृश्यते ह्युत्क्रान्तौ प्राणस्याशि-
शिषा । अतो व्याददात्येवास्य-
विदारणं करोतीत्यर्थः । तद्धृद्य-
भालाम उत्क्रान्तस्य लिङ्गम् ॥ ६ ॥

प्राणके द्वारा लोग जो कुछ खाते-
पीते हैं उस खाये-पीयेसे वह मुख्य
प्राण घ्राणादि दूसरे प्राणोंका पोषण
करता है, क्योंकि उसीसे उन सबकी
स्थिति होती है । इसलिये मुख्य प्राण
सभीका पोषण करनेवाला है, अतः
वह विशुद्ध है ।

किंतु मुख्य प्राणद्वारा खाये-पीये
पदार्थोंसे अन्य प्राणोंकी स्थिति किस
प्रकार जानी जाती है ? सो बतलाते
हैं—इस मुख्य प्राणको अर्थात् इस
मुख्य प्राणकी वृत्तिरूप अन्न-पानको
न पाकर ही अन्त समय-मरण-
कालमें घ्राणादि इन्द्रियसमुदाय
उत्क्रमण करता है, क्योंकि प्राणहीन
पुरुष खाने या पीनेमें समय नहीं
होता । इसीसे उस समय घ्राणादि
इन्द्रिय-समुदायकी उत्क्रान्ति प्रसिद्ध
है । उत्क्रमणके समय प्राणकी
भोजन करनेकी इच्छा स्पष्ट देखी
जाती है । इसीसे उस समय वह
मुख बा देता है । यही उत्क्रमण
करनेवाले घ्राणादिको अन्नादि प्राप्त
न होनेका चिह्न है ॥ ६ ॥

प्राणकी आङ्गिरस संज्ञा होनेमें हेतु

तँ ह्यङ्गिरा उद्ग्राथमुपासांचक्र एतमु एवा-
ङ्गिरसं मन्यन्तेऽङ्गानां यद्रसः ॥ १० ॥

अङ्गिरा ऋषिने इस (मुख्य प्राण) के ही रूपमें उद्गीथकी उपासना की थी । अतः इस प्राणको ही आङ्गिरस मानते हैं, क्योंकि यह सम्पूर्ण अङ्गोंका रस है ॥ १० ॥

तं हाङ्गिरास्तं मुख्यं प्राणं
हाङ्गिरा इत्येवंगुणमुद्गीथमुपासां-
चक्र उपासनं कृतवान्वको दाल्भ्य
इति वक्ष्यमाणेन संबध्यते । तथा
बृहस्पतिरिति, आयास्य इति
चोपासांचक्रे वक इत्येवं संबन्धं
कृतवन्तः केचित्; 'एतमु एवा-
ङ्गिरसं बृहस्पतिमायास्यं प्राणं
मन्यन्ते' इति वचनात् ।

भवत्येवं यथाश्रुतासंभवे संभ-
वति तु यथाश्रुतम्, ऋषिचोदना-
यामपिश्रुत्यन्तरवत्; "तस्माच्छ्रु-
तर्चिन इत्याचक्षत एतमेव सन्त-
मृषिमपि" । तथा माध्यमो गृ-
त्समदो विश्वामित्रो वामदेवोऽ-
त्रिरित्यादीन् ऋषीनेव प्राणमा-
पादयति श्रुतिः । तथैतानप्यृषीन्
प्राणोपासकानङ्गिरोबृहस्पत्याया-
स्यान्याणं करोत्यभेदविज्ञानाय

'तं हाङ्गिराः' अर्थात् अङ्गिरा-
ऐसे गुणवाले इस मुख्य प्राणरूप
उद्गीथकी दाल्भ्य वकने उपासना
की—इस प्रकार इसका आगेसे सम्बन्ध
है । तथा किसी-किसीने 'दल्भपुत्र
वकनेबृहस्पति और आयास्यगुणवाले
प्राणरूप उद्गीथकी उपासना की'—
इस तरह इसका सम्बन्ध लगाया
है; क्योंकि यहाँ 'इस प्राणको ही
आङ्गिरस बृहस्पति और आयास्य
मानते हैं' ऐसा वचन है ।

ठीक है, यदि यथाश्रुत अर्थ
(श्रुतिका सरलार्थ) सम्भव न हो
तो ऐसा [दूरान्वयी] अर्थ भी
लिया जा सकता है । किंतु यहाँ तो
"अतः ऋषि होनेपर भी" इसे
(प्राणको) 'शतर्चिन' ऐसा कहकर
पुकारते हैं" इस अन्य श्रुतिके अनु-
सार ऋषियोंका प्रतिपादन करनेमें
प्रवृत्त यथाश्रुत अर्थ भी सम्भव है
ही । इसी इकार श्रुति माध्यम,
गृत्समद, विश्वामित्र, वामदेव और
अत्रि आदि ऋषियोंको ही प्राणभाव-
की प्राप्ति कराती है; ऐसे ही प्राण
ही पिता है; प्राण ही माता
है' इत्यादिके समान अङ्गिरा,

‘प्राणो ह पिता प्राणो माता’
इत्यादिवच्च । तस्मादपिरङ्गिरा
नाम प्राण एव सत्त्वात्मानमङ्गि-
रसं प्राणमुद्गीथमुपासांचक्र इत्ये-
तत् । यद्यस्मात्सोज्जानां प्राणः
सन् रसस्तेनासावाङ्गिरसः ॥१०॥

बृहस्पति और आयास्य—इन प्राणो-
पासक ऋषियोको भी श्रुति अभेद-
विज्ञानके लिये प्राण बनाती है ।
अतः इसका तात्पर्य यह कि
अङ्गिरा नामक ऋषिने प्राणस्वरूप
होकर ही अङ्गिरस आत्मा प्राणरूप
उद्गीथकी उपासना की; क्योंकि प्राण
होनेके कारण यह अङ्गोंका रस है,
इसलिये आङ्गिरस है ॥१०॥

—: ० :—

प्राणकी बृहस्पति सज्ञा होनेमें हेतु

तेन तं बृहस्पतिरुद्गीथमुपासांचक्र एतमु एव
बृहस्पतिं मन्यन्ते वाग्धि बृहती तस्या एव पतिः ॥११॥

इसीसे बृहस्पतिने उस प्राणके रूपमें उद्गीथकी उपासना की । लोग
इस प्राणको ही बृहस्पति मानते हैं; क्योंकि वाक् ही बृहती है और यह
उसका पति है ॥ ११ ॥

तथा वाचो बृहत्याः पतिस्ते-
नासौ बृहस्पतिः ॥ ११ ॥

तथा यह वाक् यानी बृहतीका
पति है, इसलिये बृहस्पति है ॥११॥

—: * :—

प्राणकी आयास्य सज्ञा होनेमें हेतु

तेन तं आयास्य उद्गीथमुपासांचक्र एतमु एवा-
यास्यं मन्यन्त आस्याद्यदयते ॥ १२ ॥

इसीसे आयास्यने इस प्राणके रूपमें ही उद्गीथकी उपासना की ।
लोग इस प्राणको ही आयास्य मानते हैं; क्योंकि यह आस्य (मुख) से
निकलता है ॥ १२ ॥

तथा यद्यस्मादास्यादयते
निर्गच्छति तेनायास्य ऋषिः प्राण
एव सन्नित्यर्थः । तथान्योऽप्यु-
पासक आत्मानमेवाङ्गिरसादि-
गुणं प्राणमुद्गीथमुपासीतेत्यर्थः
॥ १२ ॥

तथा क्योंकि यह आस्य (मुख)
से निकलता है, इसलिये आयास्य
ऋषिने प्राणरूप होकर ही [इस
प्राणमय उद्गीथकी उपासना की]-
यह इसका तात्पर्य है । अर्थात् अन्य
उपासकको भी आङ्गिरस आदि
गुणोंसे युक्त आत्मस्वरूप प्राणके
रूपमें ही उद्गीथकी उपासना करनी
चाहिये ॥ १२ ॥

— : * : —

तेन त् ह वको दालभ्यो विदांचकार । स ह नैमिशी-
यानामुद्गाता बभूव सह स्मैभ्यः कामानागायति १३

अतः दलभके पुत्र वकने [पूर्वोक्तरूपसे] उसे जाना । [अर्थात्
पूर्वोक्त प्रकारसे प्राणमय उद्गीथकी उपासना की।] वह नैमिषारण्यमें यज्ञ
करनेवालोंका उद्गाता हुआ और उसने उनकी कामनापूर्तिके लिये उद्गान
किया ॥ १३ ॥

न केवलमङ्गिरःप्रभृतय उपा-
सांचक्रिरे; तं ह वको नाम
दलभस्यापत्यं दालभ्यो विदांच-
कार यथा दर्शितं प्राणं विज्ञात-
वान् । विदित्वा च स ह नैमि-
शीयानां सत्रिणामुद्गाता बभूव ।
स च प्राणविज्ञानसामर्थ्यादेभ्यो
नैमिशीयेभ्यः कामानागायति
स्महागीतवान्निवलेत्यर्थः ॥ १३ ॥

केवल अङ्गिरा आदिने ही प्राण
रूप उद्गीथकी उपासना नहीं की;
बल्कि दलभके पुत्र वकने भी उसे
[इसी प्रकार] जाना था अर्थात् पूर्व-
प्रदर्शित प्राणका ज्ञान प्राप्त किया
था । इस प्रकार उसे जानकर वह
नैमिषारण्यमें यज्ञ करनेवालोंका
उद्गाता हुआ तथा इस प्राण-विज्ञान-
के सामर्थ्यसे ही उसने उन नैमिशीय
याज्ञिकोंकी कामनाओंका [उनकी
पूर्तिके लिये] आगान किया ॥ १३ ॥

— : * : —

प्राणदृष्टिसे ओंकारोपासनाका फल

आगाता ह वै कामानां भवति य एतदेवं
विद्वानक्षरमुद्गीथमुपास्त इत्यध्यात्मम् ॥ १४ ॥

इसे इस प्रकार जाननेवाला जो विद्वान् इस उद्गीथसंज्ञक अक्षर (ओंकार) को इस प्रकार उपासना करता है, वह कामनाओंका आगान करनेवाला होता है—ऐसी यह अध्यात्म उपासना है ॥ १४ ॥

तथा अन्योऽप्युद्गाता आगाता
ह वै कामानां भवति य एवं
विद्वान्यथोक्तगुणं प्राणमक्षर-
मुद्गीथमुपास्ते । तस्यैतद् दृष्टं
फलमुक्तम्, प्राणात्मभावस्त्वदृष्टं
“देवो भूत्वा देवानप्येति” इति
श्रुत्यन्तरात्सिद्धमेवेत्यभिप्रायः ।
इत्यध्यात्ममेतदात्मविषयमुद्गी-
थोपासनमित्युक्तोपसंहारोऽधिदै-
वतोद्गीथोपासने वक्ष्यमाणे
बुद्धिसमाधानार्थः ॥ १४ ॥

इसे इस प्रकार जाननेवाला जो विद्वान् इस उद्गीथसंज्ञक अक्षरकी उपयुक्त गुणविशिष्ट प्राण रूपसे उपासना करता है, वह अन्य उद्गाता भी कामनाओंका आगान करनेवाला हो जाता है । यह उसका दृष्ट फल बतलाया गया है । “देवता होकर ही देवताओंको प्राप्त होता है” इस अन्य श्रुतिके अनुसार प्राणस्वरूपताकी प्राप्तिरूप अदृष्ट फल तो सिद्ध ही है—यह इसका अभिप्राय है ।
इत्यध्यात्मम्—यह उद्गीथोपासना आत्मविषयिणी है—इस प्रकार जो पूर्वोक्त कथनका उपसंहार किया गया है वह आगे कही जानेवाली अधिदैवत उद्गीथोपासनाके बुद्धिको समाहित करनेके लिये है ॥ १४ ॥

—:❀:—

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि प्रथमाध्याये
द्वितीयखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥२॥

—:❀:—

तृतीय खण्ड

—❀—

आदित्यदृष्टिसे उद्गीथोपासना

अथाधिदैवतं य एवासौ तपति तमुद्गीथमु-
पासीतोद्यन्वा एष प्रजाभ्य उद्गायति । उद्यँस्त-
मोभयमपहन्त्यपहन्ता ह वै भयस्य तमसो भवति
य एवं वेद ॥ १ ॥

इसके अनन्तर अधिदैवत उपासनाका वर्णन किया जाता है—जो कि वह [आदित्य] तपता है, उसके रूपमें उद्गीथकी उपासना करनी चाहिये । यह उदित होकर प्रजाओंके लिये उद्गान करता है, उदित होकर अन्धकार और भयका नाश करता है । जो इस प्रकार इसको जानता (इसकी उपासना करता) है वह निश्चय ही अन्धकार और भयका नाश करनेवाला होता है ॥ १ ॥

अथानन्तरमधिदैवतं देवतावि-
षयमुद्गीथोपासनं प्रस्तुतमित्यर्थः
अनेकधोपास्यत्वादुद्गीथस्य । य
एवासावादित्यस्तपति तमुद्गीथ-
मुपासीतादित्यदृष्ट्योद्गीथमुपा-
सीतेत्यर्थः । तमुद्गीथमित्युद्गी-
थशब्दोऽक्षरवाची सन्कथमादित्ये
वर्तते ? इत्युच्यते—

इसके अनन्तर अधिदैवत अर्थात् देवताविषयक उद्गीथोपासनाका आरम्भ किया जाता है, क्योंकि उद्गीथ अनेक प्रकारसे उपासनीय है । जो कि यह आदित्य तपता है, उसके रूपमें उद्गीथकी उपासना करे; अर्थात् आदित्य-दृष्टिसे उद्गीथकी उपासना करे । 'तमुद्गीथम्' इसमें 'उद्गीथ' शब्द अक्षरवाचक होता हुआ किस प्रकार आदित्यमें संगत होता है ? यह बतलाया जाता है—

उद्यन्नुद्गच्छन्वा एष प्रजाभ्यः
 प्रजार्थमुद्गायति प्रजानामन्नोत्प-
 त्पर्थम् । न ह्यनुद्यति तस्मिन्
 व्रीह्यादेर्निष्पत्तिः स्यादत उद्गाय-
 तीवोद्गायति, यथैवोद्गातान्नार्थम् ।
 अत उद्गीथः सवितेत्यर्थः ।

यह [आदित्य] उदित होता हुआ
 —ऊपरकी ओर जाता हुआ प्रजाके
 लिये—प्रजाओके अन्नकी उत्पत्तिके
 लिये उद्गान करता है, क्योंकि उसके
 उदित न होनेपर व्रीहि आदिकी
 निष्पत्ति नहीं हो सकती; अतः जिस
 प्रकार उद्गाता अन्नके लिये उद्गान
 करता है, उसी प्रकार वह उद्गान
 करनेके समान उद्गान करता है ।
 अतः सूर्य उद्गीथ है—यह इसका
 तात्पर्य है ।

इसके सिवा, वह उदित होकर
 रात्रिके अन्धकार और उससे होने-
 वाले प्राणियोंके भयका भी नाश
 करता है । जो इस प्रकारके गुणसे
 युक्त सविताकी उपासना करता है,
 वह जन्म-मरणादिरूप आत्माके
 भय और अन्धकारका अर्थात् उसके
 कारणभूत अज्ञानका नाश करने-
 वाला होता है ॥ १ ॥

किं चोद्यन्नैशं तमस्तज्जं च
 भयं प्राणिनामपहन्ति तमेवंगुणं
 सवितारं यो वेद सोऽपहन्ता
 नाशयिता ह वै भयस्य जन्ममर-
 णादिलक्षणस्य आत्मनस्तमसश्च
 तत्कारणस्य अज्ञानलक्षणस्य
 भवति ॥ १ ॥

सूर्य और प्राणकी समानता तथा प्राणदृष्टिसे उद्गीथोपासना

यद्यपि स्थानभेदात्प्राणादित्यौ
 भिन्नाविव लक्ष्येते तथापि न स
 तत्त्वभेदस्तयोः, कथम् ?

यद्यपि स्थानभेदके कारण प्राण
 और आदित्य भिन्न-से दिखायी देते
 हैं, तथापि वह उनका तात्त्विक भेद
 नहीं है । किस प्रकार ? [यह
 बतलाते हैं—]

समान उ एवायं चासौ चोष्णोऽयमुष्णोऽसौ
स्वर इतीममाचक्षते स्वर इति प्रत्यास्वर इत्यमुं
तस्माद्वा एतमिमममुं चोद्गोथमुपासीत ॥ २ ॥

यह [प्राण] और [सूर्य] परस्पर समान ही हैं । यह प्राण उष्ण है और वह सूर्य भी उष्ण है । इस [प्राण] को 'स्वर' ऐसा कहते हैं और उस [सूर्य] को 'स्वर' एवं 'प्रत्यास्वर' ऐसा कहते हैं । अतः इस [प्राण] और उस [सूर्य] रूपसे उद्गोथकी उपासना करे ॥ २ ॥

समान उ एव तुल्य एव
प्राणः सवित्रा गुणतः, सविता
च प्राणेन । यस्मादुष्णोऽयं प्राण
उष्णश्चासौ सविता किं च स्वर
इतीमं प्राणमाचक्षते कथयन्ति,
तथा स्वर इति प्रत्यास्वर इति
चामुं सवितारम् । यस्मात्प्राणः
स्वरत्येव न पुनर्मृतः प्रत्या-
गच्छति, सविता त्वस्तमित्वा
पुनरप्यहन्यहनि प्रत्यागच्छति;
अतः प्रत्यास्वरः । अस्माद्गुणतो
नामतश्च समानावितरेतरं प्राणा-
दित्यौ । अतः तत्त्वाभेदादेतं
प्राणमिमममुं चादित्यमुद्गोथमु-
पासीत ॥ २ ॥

गुणदृष्टिसे प्राण सूर्यके सदृश ही है तथा सूर्य प्राणके सदृश है, क्योंकि यह प्राण उष्ण है और वह सूर्य भी उष्ण है तथा इस प्राणको 'स्वर' ऐसा कहकर पुकारते हैं और उस सूर्यको भी 'स्वर' एवं 'प्रत्यास्वर' ऐसा कहते हैं, क्योंकि प्राण तो केवल स्वरण (गमन) ही करता है—मरनेके पश्चात् वह पुनः लौटता नहीं; किंतु सूर्य प्रतिदिन अस्तमित हो-होकर लौट आता है, इसलिये वह प्रत्यास्वर है । इस प्रकार गुण और नामसे भी ये प्राण और आदित्य एक-दूसरेके तुल्य ही हैं । अतः तत्त्वतः अभेद होनेके कारण इस प्राण और उस सूर्यरूपसे उद्गोथकी (उद्गोथावयवभूत ओंकारकी) उपासना करे ॥ २ ॥

व्यानदृष्टिसे उद्गीथोपासना

अथ खलु व्यानमेवोद्गीथमुपासीत यद्वै प्राणिति स प्राणो यदपानिति सोऽपानः । अथ यः प्राणापानयोः सन्धिः स व्यानो यो व्यानः स वाक् । तस्मादप्राणन्नपानन्वाचमभिव्याहरति ॥ ३ ॥

तदनन्तर दूसरे प्रकारसे [अध्यात्मोपासना कही जाती है—] व्यानदृष्टिसे ही उद्गीथकी उपासना करे । पुरुष जो प्राणन करता है (मुख या नासिकाद्वारा वायुको बाहर निकालता है) वह प्राण है और जो अपश्वास लेता है (वायुको भीतरकी ओर खींचता है) वह अपान है । तथा प्राण और अपानकी जो सन्धि है वही व्यान है । जो व्यान है वही वाक् है । इसीसे पुरुष प्राण और अपान क्रिया न करते हुए ही वाणी बोलता है ॥ ३ ॥

अथ खल्विति प्रकारान्तरेणोपासनमुद्गीथस्योच्यते; व्यानमेव वक्ष्यमाणलक्षणं प्राणस्यैव वृत्तिविशेषमुद्गीथमुपासीत । अधुना तस्य तत्त्वं निरूप्यते—यद्वै पुरुषः प्राणिति मुखनासिकाभ्यां वायुं बहिर्निःसारयति, स प्राणाख्यो वायोवृत्तिविशेषः, यदपानित्यपश्वासिति ताभ्यामेवान्तराकर्षति वायं सोऽपानोऽपानाख्या वृत्तिः ।

‘अथ खलु’—अब प्रकारान्तरसे उद्गीथकी उपासना कही जाती है । प्राणका ही वृत्तिविशेष जो आगे कहे जानेवाले लक्षणोसे युक्त व्यान है, उसके रूपमे उद्गीथकी उपासना करे । अब उसके तत्त्वका निरूपण किया जाता है । पुरुष जो प्राणन करता है अर्थात् मुख और नासिकाद्वारा वायुको बाहर निकालता है, वह वायुका प्राण नामक वृत्तिविशेष है; तथा वह जो अपश्वास करता है, अर्थात् उन (मुख और नासिका) के ही द्वारा वायुको भीतर खींचता है वह उसकी अपानसंज्ञक वृत्ति है ।

ततः किम्? इत्युच्यते—अथ य उक्त-
लक्षणयोः प्राणापानयोः सन्धिस्त-
योरन्तरा वृत्तिविशेषः, स व्यानः;
यः सांख्यादिशास्त्रप्रसिद्धः श्रुत्या
विशेषनिरूपणान्नासौ व्यान
इत्यभिप्रायः ।

कस्मात्पुनः प्राणापानौ हित्वा
महतायासेन व्यानस्यैवोपासन-
मुच्यते ? वीर्यवत्कर्महेतुत्वात् ।
कथं वीर्यवत्कर्महेतुत्वमित्याह—
यो व्यानः सा वाक् व्यानकार्य-
त्वाद्वाचः । यस्माद्व्याननिर्वर्त्या
वाक् तस्मादप्राणन्नपानन्प्राणापा-
नव्यापारावकुर्वन्वाचमभिव्याह-
रत्युच्चारयति लोकः ॥ ३ ॥

इससे क्या सिद्ध हुआ ? यह बतलाया
जाता है—उन उपर्युक्त लक्षणवाले
प्राण और अपानकी जो सन्धि
है—उनके बीचका जो वृत्तिविशेष
है, वह व्यान है। श्रुतिद्वारा विशेष-
रूपसे निरूपण किये जानेके कारण
यहाँ वह व्यान अभिप्रेत नहीं है
जो सांख्यादि शास्त्रमें प्रसिद्ध [सर्व-
देहव्यापी] व्यान है ऐसा इसका
तात्पर्य है ।

किंतु प्राण और अपानको छोड़-
कर अत्यन्त परिश्रमसे व्यानकी ही
उपासनाका निरूपण क्यों किया गया ?
[ऐसा प्रश्न होनेपर कहते हैं—]
क्योंकि यह वीर्यवान् कर्मकी निष्पत्ति-
का कारण है। यह वीर्यवान् कर्मकी
सिद्धिका कारण कैसे है ? इसपर
कहते हैं—जो व्यान है, वही वाणी
है, क्योंकि वाणी व्यानका ही कार्य
है। वाणी व्यानसे निष्पन्न होनेवाली
है, इसलिये लोकप्राणन और अपानन
अर्थात् प्राण और अपानकी क्रियायें
न करता हुआ वाणीका अभिव्या-
हरण—उच्चारण करता है ॥ ३ ॥

व्यानप्रयुक्त होनेसे वाक्, ऋक्, साम और उद्गीथकी समानता

या वाक्सर्क्तस्मादप्राणन्ननपानन्नृचमभिव्या-
हरति यर्क्तस्साम तस्मादप्राणन्ननपानन्साम गायति
यत्साम स उद्गीथस्तस्मादप्राणन्ननपानन्नु-
द्गायति ॥ ४ ॥

जो वाक् है वही ऋक् है । इसीसे पुरुष प्राण और अपानकी क्रिया न करता हुआ ऋक्का उच्चारण करता है । जो ऋक् है वही साम है । इसीसे प्राण और अपानकी क्रिया न करता हुआ सामगान करता है । जो साम है वही उद्गीथ है । इसीसे प्राण और अपानकी क्रिया न करता हुआ उद्गीथगान करता है ॥ ४ ॥

तथा वाग्विशेषामृचम्, ऋक्सं-
स्थं च साम, सामावयवं चोद्गी-
थम्, अप्राणन्ननपानन्व्यानेनैव
निर्वर्तयतीत्यभिप्रायः ॥ ४ ॥

इसी प्रकार वाग्विशेष ऋक्,
ऋक्स्थित साम और सामके अवयव-
भूत उद्गीथको भी पुरुष प्राण और
अपानकी क्रिया न करता हुआ
केवल व्यानसे ही सम्पन्न करता
है—यह इसका अभिप्राय है ॥ ४ ॥

—:ॐ:—

न केवलं वागाद्यभिव्याहरण-
मेव—

केवल वाणी आदिका उच्चारण
ही नहीं—

अतो यान्यन्यानि वीर्यवन्ति कर्माणि यथाग्नेर्म-
न्थनमाजेः सरणं दृढस्य धनुष आश्रयमनमप्राणन्ननपा-
नस्तानि करोत्येतस्य हेतोर्व्यानमेवोद्गीथमुपा-
सीत ॥ ५ ॥

इसके सिवा जो और भी वीर्ययुक्त कर्म हैं, जैसे—अग्निका मन्थन/
किसी सीमातक दौड़ना तथा सुदृढ़ धनुषको खींचना—इन सब कर्मोंको
भी पुरुष प्राण और अपानकी क्रिया न करता हुआ ही करता है । इस
कारण व्यानदृष्टिसे ही उद्गीथकी उपासना करनी चाहिये ॥ ५ ॥

अतोऽस्मादन्यान्यपि यानि
वीर्यवन्ति कर्माणि प्रयत्नाधिक्य-
निर्वर्त्यानि-यथाग्नेर्मन्थनम्, आजे-
र्मर्यादायाः सरणं धावनम्,
दृढस्य धनुष आयमनमाकर्षणम्-
अप्राणन्नपानंस्तानि करोति ।

अतो विशिष्टो व्यानः प्राणा-
दिवृत्तिभ्यः । विशिष्टस्योपासनं
व्यायः फलवत्त्वाद्राजोपासनवत् ।
एतस्य हेतोरेतस्मात्कारणाद्व्या-
नमेवोद्गीथमुपासीत, नान्यद्-
वृत्त्यन्तरम् । कर्मवीर्यवचरत्वं
फलम् ॥ ५ ॥

इसके सिवा जो दूसरे भी अधिक
प्रयत्नसे निष्पन्न होनेवाले वीर्ययुक्त
कर्म हैं—जैसे अग्निका मन्थन, किसी
सीमातक दौड़ना और सुदृढ़
धनुषको खींचना—उन्हें भी पुरुष
प्राण और अपानकी क्रिया न करते
हुए ही करता है ।

अतः प्राणादिवृत्तियोंकी अपेक्षा
व्यान विशिष्ट है; और राजाकी
उपासनाके समान फलवती होनेके
कारण विशिष्टकी उपासना भी
उत्कृष्टतर है । इस हेतुसे अर्थात्
इस कारणसे व्यानरूपसे ही उद्गीथ-
की उपासना करनी चाहिये—वायुकी
अन्य वृत्तियोंके रूपसे नहीं ।
कर्मको अधिक प्रबल बनाना ही
इसका फल है ॥ ५ ॥

—:०:—

उद्गीथाक्षरोंमें प्राणादिवृष्टि

अथ खल्वुद्गीथाक्षराण्युपासीतोद्गीथ इति प्राण
एवोत्प्राणेन ह्युत्तिष्ठति वाग्गीर्वाचो ह गिर इत्या-
चक्षतेऽन्नं यमन्ने हीद्वसर्वं स्थितम् ॥ ६ ॥

इसके पश्चात् उद्गीथाक्षरोंकी—‘उद्गीथ’ इस नामके अक्षरोंकी
उपासना करनी चाहिये—‘उद्गीथ’ इस शब्दमें प्राण ही ‘उत्’ है, क्योंकि
प्राणसे ही उठता है; वाणी ही ‘गी’ है, क्योंकि वाणीको ‘गिरा’ कहते हैं
तथा अन्न ही ‘य’ है; क्योंकि अन्नमें ही यह सब स्थित है ॥ ६ ॥

अथाधुना खल्वद्वीधाक्षराण्यु-
पासीत भक्त्यक्षराणि मा भूव-
न्नित्यतो विशिनष्टि—उद्गीय इति,
उद्गीयनामाक्षराणीत्यर्थः । ना-
माक्षरोपासनेऽपि नामवत् एवो-
पासनं कृतं भवेदमुकमिथा इति
यद्वत् ।

प्राण एव उद्, उदित्यस्मिन्नक्षरे
प्राणदृष्टिः । कथं प्राणस्योच्च-
मित्याह—प्राणेन ह्य चिष्टति सर्वो-
ऽप्राणस्यावसाददर्शनात्; अतो-
ऽस्त्युद् प्राणस्य च सामान्यम् ।
वाग्मीः, वाचो ह गिर इत्याचक्षते
शिष्टाः । तथान्नं यम्, अन्ने हीदं
सर्वस्थितमतोऽस्त्यन्नस्य थाक्षरस्य
च सामान्यम् ॥ ६ ॥

इसके पश्चात् अब उद्गीयके
अक्षरोकी उपासना करनी चाहिये ।
'उद्गीय' शब्दसे उद्गीयभक्तिके
अक्षर न समझ लिये जायें इसलिये
'उद्गीय' यह विशेषण लगाते हैं ।
तात्पर्य यह है कि 'उद्गीय' इस नामके
अक्षरोकी उपासना करे; क्योंकि
'अमुक मित्र' ऐसा कहनेसे जैसे उस
नामवाले व्यक्ति-विशेषका बोध होना
है, उसी प्रकार नामके अक्षरोकी
उपासना करनेसे भी नामीकी ही
उपासना की जाती है ।

प्राण ही 'उद्' है, अर्थात् 'उद्'
इस अक्षरमे प्राणदृष्टि करनी चाहिये ।
प्राण किस प्रकार 'उद्' है सो
बतलाते हैं—सब लोग प्राणसे ही
उठते हैं, क्योंकि प्राणहीनकी शिथि-
लता देखी गयी है, अत उद् और
प्राणकी समानता स्पष्ट ही है ।
वाक् 'गी' है, क्योंकि शिष्ट लोग
वाक्को 'गिरा' ऐसा कहते हैं
तथा अन्न 'य' है, क्योंकि अन्नमे ही
यह सब स्थित है, अत अन्न और
य अक्षरकी समानता है ॥ ६ ॥

उद्गीथाक्षरोंमें द्युलोकादि तथा सामवेदादिदृष्टि

त्रयाणां श्रुत्युक्तानि सामा-
न्यानि तानि तेनानुरूपेण शेषे-
ष्वपि द्रष्टव्यानि—

इन तीनोंकी समानता श्रुतिने
बतलायी है। इन्हींके अनुसार शेष
स्थानोंमें भी समझनी चाहिये—

द्यौरैवोदन्तरिक्षं गीः पृथिवी यमादित्य एवोद्वायु-
गीरग्निस्थं सामवेद एवोद्यजुर्वेदो गीः ऋग्वेदस्थं
दुग्धेऽस्मै वाग्दोहं यो वाचो दोहोऽन्नवानन्नादो भवति
य एतान्येवं विद्वानुद्गीथाक्षराण्युपास्त उद्गीथ
इति ॥ ७ ॥

द्यौ ही 'उत्' है, अन्तरिक्ष 'गी' है और पृथिवी 'य' है। आदित्य
ही 'उत्' है, वायु 'गी' है और अग्नि 'य' है। सामवेद ही 'उत्' है,
यजुर्वेद 'गी' है और ऋग्वेद 'य' है। इन अक्षरोंको इस प्रकार जानने-
वाला जो विद्वान् 'उद्गीथ' इस प्रकार इन उद्गीथाक्षरोंकी उपासना करता
है उसके लिये वाणी, जो [ऋग्वेदादि] वाक्का दोह है, उसका दोहन
करती है तथा वह अन्नवान् और अन्नका भोक्ता होता है ॥ ७ ॥

द्यौरैव उत्, उच्चैःस्थानात् ।

ऊँचे स्थानवाला होनेके कारण
द्युलोक ही 'उत्' है, लोकोंका
गिरण करने (निगलने) से अन्तरिक्ष
'गी' है और प्राणियोंका स्थान
होनेके कारण पृथिवी 'य' है। ऊँचा
होनेके कारण आदित्य ही 'उत्' है,
अग्नि आदिको निगलनेके कारण
वायु 'गी' है और यज्ञसम्बन्धी
कर्मका अवस्थान (आश्रय) होनेसे
अग्नि ही 'य' है तथा स्वर्गमें स्तुत
होनेके कारण सामवेद ही 'उत्'
है, यजुर्वेद 'गी' है, क्योंकि

अन्तरिक्षं गीर्गिर्याल्लोकानाम् ।

पृथिवीथं प्राणिस्थानात् । आदित्य

एव उत्, ऊर्ध्वत्वात् । वायुगीर-

ग्न्यादीनां गिरणात् । अग्निस्थं

यज्ञकर्मविस्थानात् । सामवेद एव

उत्, स्वर्गसंस्तुतत्वात् । यजुर्वेदो

गीर्यजुषां प्रत्तस्य हविषो देवता-
नां गिरणात् । ऋग्वेदस्थम्,
ऋच्यध्युदत्वात्साम्नः ।

उद्गीथाक्षरोपासनफलमधुनो-
च्यते—दुग्धे दोग्धस्मै साध-
काय । का सा ? वाक्, कम् ?
दोहम्, कोऽसौ दोहः ? इत्याह—
योवाचोदोहः । ऋग्वेदादिशब्द-
साध्यं फलमित्यभिप्रायः, तद्वाचो
दोहस्तं स्वयमेव वाग्दोग्ध्या-
त्मानमेव दोग्धि । किं चान्नवान्प्र-
भूतान्नोऽन्नादश्च दीप्ताग्निर्मवति
य एतानि यथोक्तान्येवं यथोक्त-
गुणान्युद्गीथाक्षराणि विद्वान्स-
न्नुपास्त उद्गीथ इति ॥ ७ ॥

यजुर्वेदियोके दिये हुए हविको देवता-
लोग निगलते हैं तथा ऋग्वेद
'य' है; क्योंकि ऋक्मे ही साम
अधिष्ठित है ।

अब उद्गीथाक्षरोकी उपासनाका
फल बतलाया जाता है—इस साधकके
लिये दोहन करती है, कौन ? वाक्,
किसका दोहन करती है ? दोहका,
वह दोह क्या है ? इसपर कहते हैं—
जो वाणीका दोह है; अभिप्राय यह
है कि जो ऋग्वेदादि शब्दसे साध्य
फल है, वह वाणीका दोह है, उसे
वाणी स्वयं ही दुहती है । अपनेहीको
दुहती है । यही नहीं वह अन्नवान्—
बहुत-से अन्नवाला और अन्नका भोक्ता
भी हो जाता है, उसकी जठराग्नि
उद्दीप्त रहती है, जो इन उपर्युक्त
उद्गीथाक्षरोकी इन्हे उपर्युक्त गुणो-
से विशिष्ट जानकर, 'उद्गीथ' इस
रूपसे उपासना करता है ॥ ७ ॥

—:ॐ:—

सकामोपासनाका क्रम

अथ खल्वाशीःसमृद्धिरुपसरणानीत्युपासीत
येन साम्ना स्तोष्यन्म्यात्तत्सामोपधावेत् ॥ ८ ॥

अब निश्चय ही कामनाओकी समृद्धि [के साधनका वर्णन किया
जाता है—] अपने उपगन्तव्यो (ध्येयो) की इस प्रकार उपासना

आत्मानमन्तत उपसृत्य स्तुवीत कामं ध्यायन्नप्र-
मत्तोऽभ्याशो ह यदस्मै स कामः समृध्येत यत्कामः
स्तुवीतेति यत्कामः स्तुवीतेति ॥ १२ ॥

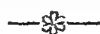
अन्तमें अपने स्वरूपका चिन्तन कर अपनी कामनाका चिन्तन करते हुए अप्रमत्त होकर स्तुति करे । जिस फलकी इच्छासे युक्त होकर वह स्तुति करता है वही फल तत्काल समृद्धिको प्राप्त होता है ॥ १२ ॥

आत्मानमुद्गाता स्वं रूपं गोत्र-
नामादिभिः सामादीन्क्रमेण स्वं
आत्मानमन्ततोऽन्त उपसृत्य
स्तुवीत । कामं ध्यायन्नप्रमत्तः
स्वरोष्मव्यञ्जनादिभ्यः प्रमादम-
कुर्वन् । ततोऽभ्याशः क्षिप्रमेव ह
यद्यत्रास्मा एवंविदे स कामः
समृध्येत समृद्धिं गच्छेत् । कोऽ-
सौ ? यत्कामो यः कामोऽस्य
सोऽयं यत्कामः सन् स्तुवीतेति
द्विरुक्तिरादरार्था ॥ १२ ॥

उद्गाताको चाहिये कि गोत्र और नामादिके सहित अपना—अपने स्वरूपका चिन्तन करता हुआ अर्थात् सामादि क्रमसे अन्तमें अपना स्मरण करता हुआ स्तुति करे । [किस प्रकार स्तुति करे ?] फलका चिन्तन करता हुआ अप्रमत्त होकर अर्थात् स्वर, ऊष्म एवं व्यञ्जनादि वर्णोच्चारणमें प्रमाद न करता हुआ [स्तुति करे] । इस प्रकार जाननेवाले उस उपासककी जो कामना होती है वह शीघ्र ही समृद्ध (फलवती) हो जाती है । वह कामना कौन-सी है ? वह उपासक यत्काम अर्थात् जिस कामनावाला होकर स्तुति करता है । [श्रुतिमें] 'यत्कामः स्तुवीत' इन पदोंका दो बार प्रयोग आदरके लिये है ॥ १२ ॥



इतिच्छान्दोग्योपनिषदि प्रथमाध्याये
तृतीयखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥३॥



चतुर्थ खण्ड

उद्गीथसंज्ञक ओंकारोपासनासे सम्बद्ध व्याख्यायिका

ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीतोमिति ह्युद्गायति
तस्योपव्याख्यानम् ॥ १ ॥

‘ॐ’ यह अक्षर उद्गीथ है—इस प्रकार इसकी उपासना करे ।
‘ॐ’ ऐसा [उच्चारण करके यज्ञमें उद्गाता] उद्गान करता है । उस
(उद्गीथोपासना) की ही व्याख्या की जाती है ॥ १ ॥

ओमित्येतदित्यादिप्रकृतस्या-
क्षरस्य पुनरुपादानमुद्गीथाक्षरा-
द्युपासनान्तरितत्वादप्यत्र प्रसङ्गो
मा भूदित्येवमर्थम् । प्रकृतस्यैवा-
क्षरस्यामृतामयगुणविशिष्टस्यो-
पासनं विधातव्यमित्यारम्भः ।
ओमित्यादि व्याख्यातम् ॥ १ ॥

पूर्व-प्रस्तावित ओंकार अक्षरका
ही ‘ओमित्येतत्’ इत्यादि वाक्यद्वारा
इसलिये ग्रहण किया गया है जिससे
बीचमें ‘उद्गीथ’ शब्दके अक्षरोंकी
उपासनासे व्यवहित हो जानेके
कारण अन्यत्र प्रसङ्ग न हो जाय ।
उस पूर्वप्रस्तावित अक्षरके ही अमृत
और अभय गुणविशिष्ट स्वरूपकी
उपासनाका विधान करना है—इसीके
लिये [आगेका ग्रन्थ] आरम्भ किया
जाता है । ओमित्यादि मन्त्रकी
व्याख्या पहले की जा चुकी है ॥ १ ॥

देवा वै मृत्योर्विभ्यतस्त्रयीं विद्यां प्राविशस्ते
छन्दोभिरच्छादयन्त्यदेभिरच्छादयस्तेच्छन्दसां छन्द-
स्त्वम् ॥ २ ॥

[एक बार] मृत्युसे भय मानते हुए देवताओंने त्रयीविद्यामें प्रवेश किया । उन्होंने अपनेको छन्दोंसे आच्छादित कर लिया । देवताओंने जो उनके द्वारा अपनेको आच्छादित किया वही छन्दोंका छन्दपन है । [अर्थात् देवताओंको आच्छादित करनेके कारण ही मन्त्रोंका नाम छन्द हुआ है] ॥ २ ॥

देवा वै मृत्योर्मरिकाद्विभ्यतः
किं कृतवन्तः ? इत्युच्यते—त्रयीं
विद्यां त्रयीविहितं कर्म प्राविशन्
प्रविष्टवन्तो वैदिकं कर्म प्रारब्ध-
वन्त इत्यर्थः, तन्मृत्योस्त्राणं
मन्यमानाः । किं च ते कर्मण्य-
विनियुक्तैश्छन्दोभिर्मन्त्रैर्जपहो-
मादि कुर्वन्त आत्मानं कर्मान्त-
रेष्वच्छादयंश्छादितवन्तः । य-
द्यस्मादेभिर्मन्त्रैरच्छादयंस्तत्तस्मा-
च्छन्दसां मन्त्राणां छादनाच्छ-
न्दस्त्वं प्रसिद्धमेव ॥ २ ॥

प्रसिद्ध देवताओंने मारक मृत्युसे
भय मानते हुए क्या किया ? यह
वतलाया जाता है—उन्होंने त्रयी
विद्यामें—वेदत्रयीद्वारा प्रतिपादित
कर्ममें प्रवेश किया । अर्थात् वैदिक
कर्मको ही मृत्युसे बचनेका साधन
समझकर उन्होंने उसीका आरम्भ
कर दिया । तथा कर्ममें जिनका
विनियोग नहीं है उन छन्दों—मन्त्रों-
से जप एवं होमादि करते हुए
उन्होंने अपनेको कर्मान्तरोंमें
आच्छादित कर दिया । क्योंकि
उन्होंने अपनेको इन मन्त्रोंसे
आच्छादित कर दिया था, इसलिये
छादन करनेके कारण ही छन्दों यानी
मन्त्रोंका छन्दपन प्रसिद्ध ही है ॥ २ ॥

तानु तत्र मृत्युर्यथा मत्स्यमुदके परिपश्येदेवं
पर्यपश्यद्वचि साम्नि यजुषि । ते नु विदित्वोर्ध्वा ऋचः
साम्नो यजुषः स्वरमेव प्राविशन् ॥ ३ ॥

जिस प्रकार [मछेरा] जलमे मछलियोको देख लेता है, उसी प्रकार ऋक्, साम और यजु सम्बन्धी कर्मोंमे लगे हुए उन देवताओंको मृत्युने देख लिया । इस बातको जान लेनेपर उन देवताओंने ऋक्, साम और यजु सम्बन्धी कर्मोंसे निवृत्त होकर स्वर (ॐ इस अक्षर) मे ही प्रवेश किया ॥ ३॥

तांस्तत्र देवान्कर्मपरान्मृत्युर्य-
था लोके मत्स्यघातको मत्स्य-
मुदके नातिगम्भीरे परिपश्येद्व-
डिशोदकस्त्रावोपायसाध्यं मन्य-
मानः, एवं पर्यपश्यद्वद्वान्मृत्युः;
कर्मक्षयोपायेन साध्यान्देवान्मेन
इत्यर्थः । कासौ देवान्ददर्शः इत्यु-
च्यते—ऋचि साम्नि यजुषि ।
ऋग्यजुःसामसम्बन्धिकर्मणीत्यर्थः ।
ते नु देवा वैदिकेन
कर्मणा संस्कृताः शुद्धात्मानः
सन्तो मृत्योश्चिकीर्षितं विदित-
वन्तः । विदित्वा च त ऊर्ध्वा
व्यावृत्ताः कर्मभ्य ऋचः साम्नो

जिस प्रकार लोकमे बसी लगाने
और जल उलीचने आदि उपायोंसे
मछलियोको पकड़ा जा सकता है,
यह जाननेवाला मछेरा उन्हें कम गहरे
जलमे देख लेता है उसी प्रकार मृत्युने
कर्मपरायण देवताओंको वहाँ [छिपे
हुए] देख लिया, अर्थात् मृत्युने यह
समझ लिया कि देवताओंको कर्म-
क्षयरूप उपायके द्वारा अपने अधीन
किया जा सकता है । उसने देव-
ताओंको कहाँ देखा ? यह बतलाया
जाता है—ऋक्, साम और यजुमे
अर्थात् ऋक्, यजु और साम-
सम्बन्धी कर्ममे । वैदिक कर्मानुष्ठानके
कारण शुद्धचित्त हुए उन देवताओंने
'मृत्यु क्या करना चाहता है ?' यह
जान लिया । यह जानकर वे ऋक्,
साम और यजु से अर्थात् ऋक्, यजु
और सामसम्बन्धी कर्मसे निवृत्त

यजुष ऋग्यजुःसामसंवद्धात्कर्म-
णोऽभ्युत्थायेत्यर्थः । तेन कर्मणा
मृत्युभयापगमं प्रति निराशास्त-
दपास्यामृताभयगुणमन्त्रं स्वरं
स्वरशब्दितं प्राविशन्नेव प्रविष्ट-
वन्तः; ॐकारोपासनपराः
संवृत्ताः । एवशब्दोऽवधारणार्थः
सन्तमुच्चयप्रतिषेधार्थः । तदुपा-
सनपराः संवृत्ता इत्यर्थः ॥ ३ ॥

होकर ऊपरकी ओर उठे । उस
कर्मसे मृत्युके भयकी निवृत्तिके प्रति
निराश होनेके कारण वे उसे छोड़-
कर अमृत और अभय गुणविशिष्ट
अक्षर यानी स्वरमें—स्वरसंज्ञक
अक्षरमें ही प्रविष्ट हो गये अर्थात्
ओंकारोपासनमें तत्पर हो गये ।
यहाँ 'एव' शब्द अवधारणके लिये
होकर [पूर्व स्थानोंके साथ स्वरके]
समुच्चयका प्रतिषेध करनेके लिये है ।
तात्पर्य यह है कि वे उसीकी
उपासनमें तत्पर हो गये ॥ ३ ॥

—:***:—

ओंकारका उपयोग और महत्त्व

कथं पुनः स्वरशब्दवाच्यत्व-
मन्त्रस्य ? इत्युच्यते—

किंतु वह अक्षर 'स्वर' शब्दका
वाच्यार्थ किस प्रकार है ? यह
वतलाया जाता है—

य दा वा ऋचमाप्नोत्योमित्येवातिस्वरत्येव^ॐ
सामैवं यजुरेष उ स्वरो यदेतदक्षरमेतदमृतमभयं तत्प्र-
विश्य देवा अमृता अभया अभवन् ॥ ४ ॥

जिस समय [उपासक अध्ययनद्वारा] ऋक्को प्राप्त करता है उस
समय वह ॐ ऐसा कहकर ही बड़े आदरसे उच्चारण करता है । इसी
प्रकार, वह साम और यजुःको भी प्राप्त करता है । यह जो अक्षर है,
वह अन्य स्वरोंके समान स्वर है । यह अमृत और अभयरूप है, इसमें
प्रविष्ट होकर देवगण अमृत और अभय हो गये थे ॥ ४ ॥

यदा वा ऋचमाप्नोत्योमित्ये-
वातिस्वरत्येवं सामैवं यजुः । एष
उस्वरः । कोऽसाँ ? यदेतदक्षरमे-
तदमृतमभयम्, तत्प्रविश्य यथा-
गुणमेवामृता अभयाश्चाभवन्
देवाः ॥ ४ ॥

जिस समय [उपासक] ऋक्को
प्राप्त करता है उस समय वह 'ॐ'
ऐसा कहकर ही बड़े आदरसे
उच्चारण करता है । इसी प्रकार
वह साम और यजुको भी प्राप्त
करता है । यही स्वर है; वह स्वर
कौन है ? यह जो अक्षर है, यह
अमृत और अभयरूप है, उसमें
प्रविष्ट होकर उसीके गुणके समान
देवगण भी अमृत और अभय हो
गये थे ॥ ४ ॥

—: * :—

ओकारोपसनाका फल

स य एतदेवं विद्वानक्षरं प्रणोत्येतदेवाक्षरं स्वर-
ममृतमभयं प्रविशति तत्प्रविश्य यदमृता देवास्तदमृतो
भवति ॥ ५ ॥

वह, जो इसे इस प्रकार जाननेवाला होकर इस अक्षरकी स्तुति
(उपासना) करता है, इस अमृत और अभयरूप अक्षरमें ही प्रवेश कर जाता है
तथा इसमें प्रविष्ट होकर जिस प्रकार देवगण अमर हो गये थे, उसी
प्रकार अमर हो जाता है ॥ ५ ॥

स योज्योऽपि देववदेवैतदक्ष-
रमेवममृतमभयगुणं विद्वान्प्रणो-
ति स्तौति-उपासनमेवात्र स्तुति-

उन देवताओंके समान ही जो
दूसरा उपासक भी इस अक्षरको इसी
प्रकार अमृत और अभयगुणसे विशिष्ट
जानता हुआ उसकी स्तुति करता है-
यहाँ स्तुतिका अभिप्राय उपासना

रभिप्रेता—स तथैवैतदेवाक्षरं

स्वरममृतमभयं प्रविशति ।

तत्प्रविश्य च राजकुलं प्रवि-
ष्टानामिव राज्ञोऽन्तरङ्गबहिरङ्ग-
तावन्न परस्य ब्रह्मणोऽन्तरङ्ग-
बहिरङ्गताविशेषः किं तर्हि ?
यदमृता देवा येनामृतत्वेन यद-
मृता अभूवंस्तेनैवामृतत्वेन वि-
शिष्टस्तदमृतो भवति न न्यूनता
नाप्यधिकतामृतत्व इत्यर्थः ॥ ५ ॥

ही है—वह उसी प्रकार (उन
देवताओंके ही समान) इस अमृत
और अभयरूप अक्षरमें ही प्रविष्ट हो
जाता है ।

तथा उसमें प्रविष्ट होनेपर, जिस
प्रकार राजकुलमें प्रवेश करनेवालोंमें
कोई राजाके अन्तरङ्ग रहते हैं और
कोई बहिरङ्ग रहते हैं, इस प्रकार
परब्रह्मके अन्तरङ्ग-बहिरङ्गताका भेद
नहीं रहता । तो फिर क्या रहता
है ? जिस अमृतत्वसे देवगण अमर
हो गये थे उसी अमृतत्वसे विशिष्ट
होकर यह भी उन्हींके समान अमर
हो जाता है । इसके अमृतत्वमें न
तो न्यूनता रहती है और न
अधिकता ही ॥ ५ ॥

—: ० :—

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि प्रथमाध्याये
चतुर्थखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥ ४ ॥



पञ्चम खण्ड

ओकार, उद्गीथ और आदित्यका अभेद

प्राणादित्यदृष्टिविशिष्टस्योद्गीथ-
स्योपासनमुक्तमेवानूद्य प्रणवोद्गी-
थयोरेकत्वं कृत्वा तस्मिन्प्राण-
रश्मिभेदगुणविशिष्टदृष्ट्याक्ष-
रस्योपासनमनेकपुत्रफलमिदानीं
वक्तव्यमित्यारभ्यते—

पूर्वोक्त प्राण और आदित्यदृष्टिसे
विशिष्ट उद्गीथोपासनाका ही
अनुवाद (पुनरुल्लेख) कर प्रणव
और उद्गीथकी एकता करते हुए
अब उसी प्रसङ्गमें प्राण और
रश्मियोंके भेदरूप गुणसे युक्त
दृष्टिसे उस अक्षरकी (उद्गीथावय-
वभूत ओंकारकी) अनेक पुत्ररूप
फलवाली उपासनाका निरूपण
करना है—इसीलिये [आगेका ग्रन्थ]
आरम्भ किया जाता है—

अथ खलु य उद्गीथः स प्रणवो यः प्रणवः स
उद्गीथ इत्यसौ वा आदित्य उद्गीथ एष प्रणव
ओमिति ह्येष स्वरन्नेति ॥ १ ॥

निश्चय ही जो उद्गीथ है वही प्रणव है और जो प्रणव है वही
उद्गीथ है। इस प्रकार यह आदित्य ही उद्गीथ है, यही प्रणव
है; क्योंकि यह (आदित्य) 'ॐ' ऐसा उच्चारण करता हुआ ही गमन
करता है ॥ १ ॥

अथ खलु य उद्गीथः स प्रणवो | निश्चय ही जो उद्गीथ है वही
वहवृचानाम्, यश्च प्रणव- | ऋग्वेदियोंका प्रणव है तथा उनका

स्तेषां स एव छान्दोग्य उद्गीथ-
शब्दवाच्यः । असौ वा आदित्य
उद्गीथ एष प्रणवः । प्रणवशब्द-
वाच्योऽपि स एव ब्रह्मचानां
नान्यः ।

उद्गीथ आदित्यः, कथम् ?

उद्गीथाख्यमक्षरमोमित्येतदेव हि

यस्मात्स्वरन्तुच्चारयन्नेकार्थत्वा-

द्धातूनाम्, अथवा स्वरन्गच्छ-

न्नेति; अतोऽसावुद्गीथः सविता

॥ १ ॥

जो प्रणव है वही छान्दोग्य-उप-
निषद्में 'उद्गीथ' शब्दसे कहा गया
है । यह आदित्य ही उद्गीथ है,
यही प्रणव है; अर्थात् ऋग्वेदियोंके
यहाँ प्रणवशब्दवाच्य भी वही है,
कोई और नहीं है ।

आदित्य उद्गीथ है—सो कैसे ?
क्योंकि यह उद्गीथसंज्ञक अक्षरको
'ॐ' इस प्रकार स्वरन्—उच्चारण
करते हुए जाता है [यद्यपि 'स्वर
आक्षेपे' इस धातुसूत्रके अनुसार
'स्वरन्' का अर्थ आक्षेप या गमन
करते हुए होना चाहिये तथापि]
धातुओंके अनेक अर्थ होते हैं [इस-
लिये 'स्वरन्' का अर्थ 'उच्चारण
करते हुए' भी होता है] अथवा स्वरन्
यानी चलनेवाला सूर्य [प्राणोंकी
प्रवृत्तिके प्रति 'ॐ' इस प्रकार अनुज्ञा
करता हुआ] जाता है । अतः यह
सविता उद्गीथ ही है ॥ १ ॥

— ❀ —

रश्मिदृष्टिसे आदित्यकी व्यस्तोपासनाका विधान और फल

एतमु एवाहमभ्यगासिषं तस्मान्मम त्वमेकोऽ-
सीति ह कौषीतकिः पुत्रमुवाच रश्मीं स्त्वं पर्यावर्तया-
द्वहवो वै ते भविष्यन्तीत्यधिदैवतम् ॥ २ ॥

'मैंने प्रमुखतासे इसीका गान किया था; इसीसे मेरे तू एक ही पुत्र
है'—ऐसा कौषीतकिने अपने पुत्रसे कहा । अतः तू रश्मियोंका [आदित्यसे]
भेदरूपसे चिन्तन कर । इससे निश्चय ही तेरे बहुत-से पुत्र होंगे । यह
अधिदैवत उपासना है ॥ २ ॥

तमेतमु एवाहमभ्यगासिप-
 माभिमुख्येन गीतवानस्यादि-
 त्यरश्म्यभेदं कृत्वा ध्यानं कृत-
 वानस्मोत्यर्थः । तेन तस्मात्कार-
 णान्मम त्वमेकोऽसि पुत्र इति ह
 कौपीतकिः कुपीतकस्यापत्यं कौ-
 पीतकिः पुत्रमुवाचोक्तवान् ।
 अतो रश्मीनादित्यं च भेदेन
 त्वं पर्यावर्तयात्पर्यावर्तयेत्यर्थः,
 त्वं योगात् । एवं बहवो वै ते तव
 पुत्रा भविष्यन्तीत्यधिदैवतम् ॥ २ ॥

‘निश्चय इसीका मैंने आभिमुख्य
 (प्रमुखता) से गान किया था;
 अर्थात् मैंने आदित्य और उसकी
 रश्मियोंका अभेद करके ध्यान किया
 था । इसी कारणसे मेरे तू एक ही
 पुत्र है’—ऐसा कौपीतकि—कुपी-
 तकके पुत्र कौपीतकिने अपने पुत्रसे
 कहा । अत तू सूर्य और रश्मियोंका
 भेदपूर्वक चिन्तन कर । श्रुतिमें
 कर्तृपद ‘त्व’ होनेके कारण पर्या-
 वर्तयात् [इस प्रथमपुरुषकी]
 क्रियाके स्थानमें ‘पर्यावर्तय’ यह
 मध्यमपुरुषकी क्रिया समझनी
 चाहिये । इस प्रकार [उपासना
 करनेसे] तेरे बहुत-से पुत्र उत्पन्न होंगे ।
 यह अधिदैवत उपासना है ॥ २ ॥

—:—

मुख्यप्राणदृष्टिसे उद्गोथोपासना

अथाध्यात्मं य एवायं मुख्यः प्राणस्तमुद्गीथमुपा-
 सीतोमिति ह्येव स्वरन्नेति ॥ ३ ॥

इसके आगे अध्यात्म उपासना है—यह जो मुख्य प्राण है उसीके
 रूपमें उद्गोथकी उपासना करे, क्योंकि यह ‘ॐ’ इस प्रकार अनुज्ञा करता
 हुआ गमन करता है ॥ ३ ॥

अथानन्तरमध्यात्ममुच्यते । इसके आगे अध्यात्म उपासना
 य एवायं मुख्यः प्राणस्तमुद्गीथ- वही जाती है—यह जो मुख्य प्राण

मुपासीतेत्यादि पूर्ववत् । तथो-
मिति ह्येष प्राणोऽपि स्वरन्नेत्यो-
मिति ह्यनुज्ञां कुर्वन्निव वागादि-
प्रवृत्त्यर्थमेतीत्यर्थः । न हि मरण-
काले मुमूर्षोः समीपस्थाः प्राण-
स्योत्करणं शृण्वन्तीति । एतत्सा-
मान्यादादित्येज्योत्करणमनुज्ञा-
मात्रं द्रष्टव्यम् ॥ ३ ॥

है, उसीकी दृष्टिसे उद्गरीयकी उपासना
करे—इस प्रकार पूर्ववत् समझना
चाहिये । तथा यह प्राण भी 'ॐ'
इस प्रकार कहता हुआ अर्थात्
वागादिकी प्रवृत्तिके लिये 'ॐ'
इस प्रकार अनुज्ञा करता हुआ-सा
गमन करता है । मरणकालमें मरने-
वाले पुरुषके समीप रहनेवाले लोग
प्राणका 'ॐ' उच्चारण करना नहीं
सुनते [इसीलिये 'अनुज्ञा करता
हुआ-सा' कहा है] । इसी सादृश्य-
के कारण आदित्यमें भी ओंकारो-
च्चारण केवल अनुज्ञामात्र समझना
चाहिये ॥ ३ ॥

—:०:—

प्राणभेददृष्टिसे मुख्य प्राणकी व्यस्तोपासनाका विधान और फल

एतमु एवाहमभ्यगासिषं तस्मान्मम त्वमेको-
ऽसीति ह कौषीतकिः पुत्रमुवाच प्राणाँस्त्वं भूमान-
मभिगायताद्बहवो वै मे भविष्यन्तीति ॥ ४ ॥

'मैंने प्रमुखतासे केवल इसीका (मुख्य प्राणहीका) गान किया
था, इसलिये मेरे तू अकेला ही पुत्र हुआ'—ऐसा कौषीतकिने अपने
पुत्रसे कहा 'अतः तू 'मेरे बहुत-से पुत्र होंगे' इस अभिप्रायसे भेदगुण-
विशिष्ट प्राणोंका प्रमुखतासे गान कर' ॥ ४ ॥

एतमु एवाहमभ्यगासिषमि-
त्यादि पूर्ववदेव । अतो वागादीन्

'एतमु एवाहमभ्यगासिषम्'
इत्यादि वाक्यका अर्थ पूर्ववत् ही

मुख्यं च प्राणं भेदगुणविशिष्ट-
 मुद्गीयं पश्यन्भूमानं मनसामि-
 गायतात् पूर्ववदावर्तयेत्यर्थः ।
 बहवो वै मे मम पुत्रा भविष्य-
 न्तीत्येवमभिप्रायः सन्नित्यर्थः ।

सममन्ता चाहिये । अतः तू वागादि
 और मुख्य प्राण इनकी दृष्टिसे उद्गीय-
 को भेदगुणविशिष्ट देखता हुआ उसका
 मनसे बहुत्वरूपसे अभिमान अर्थात्
 पूर्ववत् आवर्तन कर । तात्पर्य यह
 है कि 'मेरे बहुत-से पुत्र होंगे' ऐसे
 अभिप्रायसे युक्त होकर [उसकी
 उपासना कर] ।

प्राणादित्यैकत्वोद्गीथदृष्टेरेक-
 पुत्रत्वफलदोषेणापोदितत्वाद्वरि-
 प्राणभेददृष्टेः कर्तव्यता चोद्यते-
 ऽस्मिन्काण्डे बहुपुत्रफलत्वार्थम् । ४ ।

एकपुत्रप्राप्तिरूप फलके दोषसे
 प्राण और आदित्यके एकत्वरूप
 उद्गीथदृष्टिकी निन्दा की जानेके
 कारण इस खण्डमें अनेक पुत्ररूप
 फलकी प्राप्तिके लिये रश्मि और
 प्राण इनकी भेददृष्टिका प्रतिपादन
 किया गया है ॥ ४ ॥

—: ० :—

प्राणव और उद्गीयका अभेद

अथ खलु य उद्गीथः स प्राणवो यः प्राणवः स
 उद्गीथ इति होतृपदनाद्धैवापि दुरुद्गीतमनुसमाहरती-
 त्यनुसमाहरतीति ॥ ५ ॥

निश्चय ही जो उद्गीय है, वही प्राणव है तथा जो प्राणव है, वही
 उद्गीय है—इस प्रकार [उपासना करके] उद्गीता होताके कर्ममें किये
 हुए उद्गीतानुसन्धानी दोषका अनुसन्धान (संशोधन) करता है, अनुसन्धान
 करता है ॥ ५ ॥

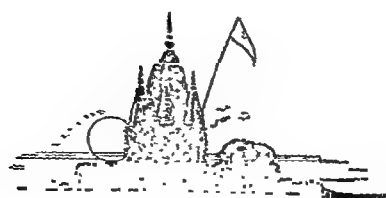
अथ खलु य उद्गीथ इत्यादि
 प्रणवोद्गीथैकत्वदर्शनमुक्तं तस्यै-
 तत्फलमुच्यते—होवृषदनाद्धोता
 यत्रस्थः शंसति तत्स्थानं होवृ-
 षदनं होत्रात्कर्मणः सम्यक्प्रयु-
 क्तादित्यर्थः । न हि देशमात्रात्
 फलमाहर्तुं शक्यम् । किं तत् ?
 हैवापि दुरुद्गीतं दुष्टमुद्गीतमुद्गानं
 कृतमुद्गात्रा स्वकर्मणि क्षतं कृत-
 मित्यर्थः, तदनुसमाहरत्यनुसंधत्त
 इत्यर्थः । चिकित्सयेव धातुवै-
 चम्यसमीकरणमिति ॥ ५ ॥

‘अथ खलु य उद्गीथः’ इत्यादि
 वाक्यसे प्रणव और उद्गीथकी एकता-
 का प्रतिपादन किया गया है ।
 उसीका यह फल बतलाया जाता
 है—होवृषदनात्—जहाँ स्थित
 होकर होता शंसन कर्म करता है
 उस स्थानका नाम होवृषदन है,
 [उससे] अर्थात् सम्यक् प्रकारसे
 अनुष्ठान किये हुए होताके कर्मसे—
 क्योंकि केवल देशमात्रसे किसी
 फलकी प्राप्ति नहीं हो सकती । क्या
 होता है ? उद्गाताद्वारा जो दुरु-
 द्गीत—दोषयुक्त उद्गान किया होता
 है अर्थात् अपने कर्ममें कोई दोष किया
 होता है उसका वह (उद्गाता) समा-
 हार अर्थात् अनुसन्धान (सुधार) कर
 देता है, जिस प्रकार कि चिकित्सा-
 द्वारा घातुओंकी विषमताको ठीक
 कर दिया जाता है ॥ ५ ॥

—: ० :—

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि प्रथमाध्याये
 पञ्चमखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥ ५ ॥

—: ० :—



षष्ठ खण्ड

— ०:—

अनेक प्रकारकी आधिदैविक उद्गीथोपासनाएँ

अथेदानीं सर्वफलसंपत्त्यर्थं
मुद्गीथस्य उपासनान्तरं विधि-
त्स्यते—

*अब समस्त फलकी प्राप्तिके
लिये श्रुति उद्गीथसम्बन्धिनी अन्य
प्रकारकी उपासनाओंका विधान
करना चाहती है ।

इयमेवर्गग्निः साम तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढं साम तस्मा-
दृच्यध्यूढं साम गीयत इयमेव साग्निरमस्तत्साम ॥१॥

यह (पृथिवी) ही ऋक् है और अग्नि साम है । वह यह [अग्नि-
संज्ञक] साम इस ऋक्में अधिष्ठित है । अतः ऋक्में अधिष्ठित सामका
ही गान किया जाता है । यह पृथिवी ही 'सा' है और अग्नि 'अम' है;
इस प्रकार ये [दोनों मिलकर] साम हैं ॥१॥

इयमेव पृथिवी ऋक् ऋचि
पृथिवीदृष्टिः कार्या । तथाग्निः
साम, सामन्यग्निदृष्टिः । कथं
पृथिव्यग्न्योर्ऋक्सामत्वम् ?
इत्युच्यते—तदेतत्तदेतदन्याख्यं
सामैतस्यां पृथिव्यामृच्यध्यूढम-
धिगतमुपरिभावेन स्थितमित्यर्थः,

यह पृथिवी ही ऋक् है, अर्थात्
ऋक्में पृथिवीदृष्टि करनी चाहिये ।
तथा अग्निसाम है, साममें अग्निदृष्टि
करनी चाहिये । पृथिवी और अग्नि
ऋक् एव साम किस प्रकार हैं ? सो
बतलाया जाता है—यह जो अग्नि-
संज्ञक साम है, इस पृथिवीसंज्ञक ऋक्
में अध्यूढ—अधिगत अर्थात् उपरि-
भावेसे स्थित है, जिस प्रकार कि साम

• यहाँ तक पुत्रादिप्राप्तिरूप एकदेशीय फलवाली उपासनाओंका वर्णन
किया गया है ।

ऋचीव साम । तस्मादत एव
कारणाद्व्यध्युढमेव साम गीयत
इदानीमपि सामगैः ।

यथा च ऋक्सामनी नात्यन्तं
भिन्ने अन्योन्यं तथैतौ पृथि-
व्यग्नी । कथम् ? इयमेव पृथिवी
सा सामनामार्धशब्दवाच्या । इत-
रार्धशब्दवाच्योऽग्निरमस्तदेतत्पृ-
थिव्यग्निद्वयं सामैकशब्दाभिधेय-
त्वमापन्नं साम । तस्मान्नान्योन्यं
भिन्नं पृथिव्यग्निद्वयं नित्यसंश्लि-
ष्टमृक्सामनी इव । तस्माच्च पृथि-
व्यग्न्योऽऋक्सामत्वमित्यर्थः ।
सामाक्षरयोः पृथिव्यग्निदृष्टि-
विधानार्थमियमेव साग्निरम इति
केचित् ॥ १ ॥

ऋक्में अधिष्ठित रहता है । अतः
इस समय भी सामगान करनेवाले
द्विजोंद्वारा ऋक्में अधिष्ठित सामका
ही गान किया जाता है ।

जिस प्रकार ऋक् और साम
परस्पर अत्यन्त भिन्न नहीं हैं, उसी
प्रकार ये पृथिवी और अग्नि भी
अत्यन्त भिन्न नहीं हैं । यह किस
प्रकार ? [सो बतलाते हैं—] यह
पृथिवी ही 'सा'—'साम' नामके आधे
शब्दद्वारा प्रतिपाद्य है तथा उसके
अन्य नामार्ध 'अम' शब्दका वाच्य
अग्नि 'अम' है । इस प्रकार 'साम'
इस एक शब्दके वाच्यत्वको प्राप्त हुए
वे ही ये पृथिवी और अग्नि दोनों साम
कहे जाते हैं । अतः ऋक् और साम-
के समान सर्वदा मिले-जुले रहनेके
कारण ये पृथिवी और अग्नि एक-
दूसरेसे भिन्न नहीं हैं । भाव यह कि
इसीसे पृथिवी और अग्निको ऋक् एवं
साम कहा गया है । किन्हीं-किन्हींका
मत है कि 'साम' शब्दके अक्षरोंमें
पृथिवी और अग्निदृष्टिका विधान
करनेके लिये ही 'इयमेव सा
अग्निरम!' ऐसा उपदेश किया
गया है ॥ १ ॥

अन्तरिक्षमेवर्वायुः साम तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढं
साम । तस्मादृच्यध्यूढं साम गीयतेऽन्तरिक्षमेव सा
वायुरमस्तत्साम ॥ २ ॥

अन्तरिक्ष ही ऋक् है और वायु साम है । वह यह साम इस ऋक्में
अधिष्ठित है; अतः ऋक्मे अधिष्ठित सामका ही गान किया जाता है ।
अन्तरिक्ष ही 'सा' है और वायु 'अम' है । इस प्रकार ये [दोनों
मिलकर] साम हैं ॥ २ ॥

द्यौरैवर्गादित्यः साम तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढं
साम । तस्मादृच्यध्यूढं साम गीयते । द्यौरैव सादित्योऽ-
मस्तत्साम ॥ ३ ॥

द्यौ ही ऋक् है और आदित्य साम है । वह यह [आदित्यरूप]
साम इस [द्यौरूप] ऋक्में अधिष्ठित है अतः ऋक्मे अधिष्ठित सामका
ही गान किया जाता है । द्यौ ही 'सा' है और आदित्य 'अम' है । इस
प्रकार ये [दोनों मिलकर] साम हैं ॥ ३ ॥

अन्तरिक्षमेवर्वायुः सामेत्या- | अन्तरिक्ष ही ऋक् है और वायु
दि पूर्ववत् ॥ २-३ ॥ | साम है इत्यादि पूर्ववत् समझना
चाहिये ॥ २-३ ॥

—:ॐ:—

नक्षत्राण्येव चर्चन्द्रमाः साम तदेतदेतस्यामृच्य-
ध्यूढं साम । तस्मादृच्यध्यूढं साम गीयते । नक्षत्रा-
ण्येव सा चन्द्रमा अमस्तत्साम ॥ ४ ॥

नक्षत्र ही ऋक् हैं और चन्द्रमा साम है । वह यह [चन्द्रमारूप]
साम इस [नक्षत्ररूप] ऋक्में अधिष्ठित है । अतः ऋक्मे अधिष्ठित
सामका ही गान किया जाता है । नक्षत्र ही 'सा' है और चन्द्रमा 'अम'
है, इस प्रकार ये [दोनों मिलकर] साम हैं ॥ ४ ॥

नक्षत्राणामधिपतिश्चन्द्रमा

अतः स साम ॥ ४ ॥

चन्द्रमा नक्षत्रोंका अधिपति है
इसलिये [नक्षत्रोंके ऋक्स्थानीय
होनेपर] वह साम है ॥ ४ ॥

—:❀:—

अथ यदेतदादित्यस्य शुक्लं भाः सैवर्गथ यन्नीलं
परः कृष्णं तत्साम तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढं साम ।
तस्मादृच्यध्यूढं साम गीयते ॥ ५ ॥

तथा यह जो आदित्यकी शुक्ल ज्योति है वही ऋक् है और उसमें
जो नीलवर्ण अत्यन्त श्यामता दिखायी देती है वह साम है । वह यह
[नीलवर्णरूप] साम इस [शुक्लज्योतीरूप] ऋक्में अधिष्ठित है ।
अतः ऋक्में अधिष्ठित सामका ही गान किया जाता है ॥ ५ ॥

अथ यदेतदादित्यस्य शुक्लं
भाः शुक्ला दीप्तिः सैवर्क् । अथ
यदादित्ये नीलं परः कृष्णं
परोक्षितशयेन काण्यं तत्साम,
तद्धयेकान्तसमाहितदृष्टेर्दृश्यते
॥ ५ ॥

तथा यह जो आदित्यकी शुक्ल
प्रभा—शुक्ल दीप्ति है वही ऋक्
है । तथा आदित्यमें जो नीलवर्ण
अत्यन्त श्यामता है वह साम है;
किन्तु वह तो एकमात्र समाहित
दृष्टिवाले पुरुषको ही दिखायी देती
है ॥ ५ ॥

—:❀:—

अथ यदेतदादित्यस्य शुक्लं भाः सैव साथ
यन्नीलं परः कृष्णं तदमस्तत्सामाथ य एषोऽन्तरादित्ये
हिरण्यमयः पुरुषो दृश्यते हिरण्यश्मश्रुर्हिरण्यकेश आप्र-
णात्सर्व एव सुवर्णः ॥ ६ ॥

तथा यह जो आदित्यका शुक्ल प्रकाश है वही 'सा' है और जो नीलवर्ण
अत्यन्त श्यामता है वही 'अम' है, ये ही दोनों मिलकर साम हैं । तथा यह

जो आदित्यमण्डलके अन्तर्गत सुवर्णमय-सा पुरुष दितायी देता है, जो सुवर्णके समान श्मश्रुओंवाला (दाढी-मूँछोंवाला) और स्वर्णसदृश केशोंवाला है तथा जो नखपर्यन्त सारा-का-सारा सुवर्ण-सा ही है ॥ ६ ॥

ते एवैते भाः शुक्लकृष्णत्वे

वे ही ये शुक्लत्व एवं कृष्णत्वरूप

सा चामश्च साम । अथ य

प्रकाश क्रमशः 'सा' और 'अम'

एषोऽन्तरादित्य आदित्यस्यान्त-

होनेके कारण साम हैं । तथा यह

र्मध्ये हिरण्मयो हिरण्मय इव

जो आदित्यके अन्तर्गत—आदित्य-

हिरण्मयः । न हि सुवर्णविकार-

के मध्यमे हिरण्मय—सुवर्णमयके

त्वं देवस्य संभवति ऋक्सामगे-

सदृश होनेके कारण सुवर्णमय

ष्णत्वापहतपाप्मत्वासंभवात् । न

[साक्षात् सुवर्णको नहीं], क्योंकि

हि सौवर्ण्येऽचेतने पाप्मादिप्राप्ति-

सूर्यदेवका सुवर्णके विकाररूप होना

रस्ति येन प्रतिपिच्येत । चाक्षुषे

सम्भव नहीं है; [विकाररूप होनेपर]

चाग्रहणात् । अतो लुप्तोपम एव

उनका ऋक् एवं सामरूप पंखोंवाला

हिरण्मयशब्दो ज्योतिर्मय इत्य-

तथा निष्पाप होना सम्भव न होगा;

र्थः । उत्तरेष्वपि समाना योजना ।

क्योंकि सुवर्णमय अचेतन पदार्थोंमें

तो पाप आदिकी सम्भावना ही नहीं

है, जिसके कारण उनका प्रतिषेध

किया जाय । इसके सिवा, नेत्रस्थ

उपास्य पुरुषमे सुवर्णविकारत्वका

ग्रहण भी नहीं किया जाता । इस-

लिये यह हिरण्मय शब्द लुप्तोपम

ही है* अतः इसका अर्थ ज्योतिर्मय

है । आगेके हिरण्मयादि शब्दोंका

अर्थ भी इसीके समान लगाना

चाहिये ।

● अर्थात् इसके भागे उपमावाचक 'इव' शब्दका लोप हुआ है ।

पुरुषः पुरि शयनात्पूरयति
 वा स्वेनात्मना जगदिति,
 दृश्यते निवृत्तचक्षुर्भिः समाहित-
 चेतोभिर्ब्रह्मचर्यादिसाधनापेक्षैः ।
 तेजस्विनोऽपि श्मश्रुकेशादयः
 कृष्णाः स्युरित्यतो विशिनष्टि—
 हिरण्यश्मश्रुर्हिरण्यकेश इति ।
 ज्योतिर्मयान्येवास्य श्मश्रूणि के-
 शाश्चेत्यर्थः । आग्रणखात्प्रणखो
 नखाग्रं नखाग्रेण सह सर्वः सुवर्णं
 इव भारूप इत्यर्थः ॥ ६ ॥

[ऐसा जो हिरण्मय] पुरुष,
 [शरीररूप] पुरमें शयन करनेके
 कारण अथवा अपनेद्वारा सारे जगत्-
 को पूर्ण करता है इसलिये यह
 पुरुष कहलाता है, जिनकी इन्द्रियाँ
 बाह्य विषयोंसे निवृत्त हो गयी हैं
 उन समाहित चित्त और ब्रह्मचर्यादि-
 साधनवान् पुरुषोंको दिखायी देता
 है—तेजस्वी होनेपर भी उसके
 दाढ़ी-मूँछ आदि तो काले ही होंगे,
 अतः श्रुति उसकी विशेषता बतलाती
 है—जो सुनहली श्मश्रु और सुनहले
 केशोंवाला है; अर्थात् इसके दाढ़ी-
 मूँछ और केश भी ज्योतिर्मय ही
 हैं । तात्पर्य यह है कि यह नख-
 पर्यन्त अर्थात् नखाग्रसे लेकर
 सारा-का-सारा सुवर्णके समान
 प्रकाशस्वरूप ही है ॥ ६ ॥

—: * :—

तस्य यथा कप्यासं पुण्डरीकमेवमक्षिणी तस्यो-
 दिति नाम स एष सर्वेभ्यः पाप्मभ्य उदित उदेति ह
 वै सर्वेभ्यः पाप्मभ्यो य एवं वेद ॥ ७ ॥

उसके दोनों नेत्र बन्दरके बैठनेके स्थान (गुदा) के सदृश अरुण वर्ण-
 वाले पुण्डरीक (कमल) के समान हैं । उसका 'उत' ऐसा नाम है, क्योंकि
 वह सम्पूर्ण पापोंसे ऊपर गया हुआ है । जो इस प्रकार जानता है वह
 निश्चय ही सम्पूर्ण पापोंसे ऊपर उठ जाता है ॥ ७ ॥

तस्यैवं सर्वतः सुवर्णवर्णस्याप्य-

क्षोविशेषः । कथम् ? तस्य यथा

कपेर्मर्कटस्यासः कप्यासः, आ-

सेरुपवेशनार्थस्य करणे घञ्,

कपिपृष्ठान्तो येनोपविशति ।

कप्यास इव पुण्डरीकमत्यन्त-

तेजस्वि, एवमस्य देवस्याक्षिणी ।

उपमितोपमानत्वाच्च हीनोपमा ।

तस्यैवगुणविशिष्टस्य गौण-

मिदं नामोदिति । कथं गौणत्वम् ?

स एष देवः सर्वेभ्यः पाप्मभ्यः

पाप्मना सह तत्कार्येभ्य इत्यर्थः ।

‘य आत्मापहतपाप्मा’ इत्यादि

वक्ष्यति । उदित उद् इत उद्गत

इत्यर्थः, अतोऽसावुन्नामा ।

तमेवगुणसंपन्नमुन्नामानं यथोक्तेन

प्रकारेण यो वेद सोऽप्येवमेवो-

इस प्रकार सब ओरसे सुवर्ण-
वर्ण होनेपर भी उसके नेत्रोंमें एक
विशेषता है । किस प्रकार ? उस
देवके, जैसा कि कप्यास होता है
उसके सदृश लाल पुण्डरीक (कमल) के
समान अत्यन्त तेजस्वी नेत्र हैं । कपि-
मर्कट (बदर) के आसका नाम
कप्यास है; उपवेशन (बैठने) अर्थके
वाचक ‘आस्’ धातुसे करणमें ‘घञ्’
प्रत्यय होनेपर ‘आस’ शब्द सिद्ध
होता है । अतः ‘कप्यास’ का अर्थ
बानरकी पीठका अन्तिम भाग (गुदा)
है, जिससे कि वह बैठता है । [यहाँ
‘पुण्डरीक’ को ‘कप्यास’ से उपमित
किया गया है और नेत्रोंको पुण्डरीक-
की उपमा दी गयी है; इस प्रकार]
उपमितोपमान होनेके कारण यह
हीनोपमा नहीं है ।

ऐसे गुणवाले उस आवित्यान्तर्गत
पुरुषका ‘उत्’ यह गौण नाम है ।
इसकी गौणता किस प्रकार है ?
वह यह देव सम्पूर्ण पापोंसे अर्थात्
पापोंसहित उनके कार्योंसे उदित
अर्थात् ऊपर गया हुआ है, इसलिये
वह ‘उत्’ नामवाला है । जैसा कि
‘जो आत्मा पापसे हटा हुआ है’
इत्यादिरूपसे श्रुति आगे कहेगी ।
ऐसे गुणसे युक्त उस ‘उत्’ नामवाले
पुरुषको जो पूर्वोक्त प्रकारसे जानता
है वह भी इसी प्रकार सम्पूर्ण

देत्युद्गच्छति सर्वेभ्यः पाप्मभ्यः।
ह वा इत्यवधारणार्थं निपातौ
उदेत्येवेत्यर्थः ॥ ७ ॥

पापोंसे ऊपर उठ जाता है। 'ह'
और 'वै' ये निश्चयार्थक निपात
हैं—अर्थात् ऊपर उठ ही जाता
है ॥ ७ ॥

—:०:—

तस्योद्गीथत्वं देवस्यादित्या-
दीनामिव विवक्षितत्वादाह—

आदित्यादिके समान उस [उत्-
संज्ञक] देवका उद्गीथत्व कहना
इष्ट होनेके कारण श्रुति कहती है—

तस्यर्क्च साम च गेष्णौ तस्मादुद्गीथस्तस्मात्त्वे-
बोद्धातैतस्य हि गाता । स एष ये चामुष्मात्पराञ्चो
लोकास्तेषां चेष्टे देवकामानां चेत्यधिदैवतम् ॥ ८ ॥

उस देवके ऋक् और साम—ये दोनों पक्ष हैं। इसीसे वह देव उद्-
गीथरूप है, और इसीसे [इसका गान करनेवाला] उद्गाता कहलाता है,
क्योंकि वह इस (उत्) का ही गान करनेवाला होता है। वह यह उत्
नामक देव जो इस (आदित्यलोक) से ऊपरके लोक हैं और जो
देवताओंकी कामनाएँ हैं, उनका शासन करता है। यह अधिदैवत
उद्गीथोपासना है ॥ ८ ॥

तस्यर्क्च साम च गेष्णौ
पृथिव्याद्युत्तलक्षणे पर्वणी ।
सर्वात्मा हि देवः । परापरलोक
कामेशितृत्वादुपपद्यते पृथिव्य-
ग्न्याद्यृक्सामगेष्णत्वम्, सर्वयो-
नित्वाच्च ।

उस देवके ऋक् और साम
गेष्ण हैं अर्थात् पूर्वोक्त पृथिवी और
अग्नि आदि उसके दोनों पक्ष हैं,
क्योंकि वह देव सर्वरूप है। वह
परलोक और इहलोकसम्बन्धी काम-
नाओंका शासन करनेवाला है; अतः
उसका पृथिवी और अग्नि आदिरूप
ऋक् और साममय पंखोंसे युक्त होना
उचित ही है। तथा सबका कारण
होनेसे भी [उसका ऋक्-सामरूप
पक्षोंवाला होना उचित है] ।

यत् एवमुन्नामा चासावृक्सा-
मगेष्णश्च तस्मादेक्सामगेष्णत्व-
प्राप्तमुद्गीथत्वमुच्यते परोक्षेण
परोक्षप्रियत्वादेवस्य, तस्मादुद्गीथ
इति । तस्मात्त्वेव हेतोरुदं गाय-
तीत्युद्गाता । तस्माद्ध्येतस्य यथो-
क्तस्योन्नाम्नो गातासावतो युक्तो-
द्गातेति नामप्रसिद्धिरुद्गातुः ।

स एष देव उन्नामा ये चासु-
ष्मादादित्यात्पराश्वः परागञ्च-
नाद्धर्वा लोकास्तेषां लोकानां
चेष्टे न केवलमीशितृत्वमेव च-
शब्दाद्धारयति च, “स दाधार
पृथिवीं धामुतेमाम्” (यजु० २५।
१०) इत्यादिमन्त्रवर्णात् । किं
च देवकामानामीष्ट इत्येतदधि-
दैवतं देवताविषयं देवस्योद्गी-
थस्य स्वरूपमुक्तम् ॥ ८ ॥

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि प्रथमाध्याये पष्ठपण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥ ६ ॥

इस प्रकार क्योंकि वह ‘उत्’
नामवाला है तथा ऋक् और साम
उसके पक्ष हैं, इसलिये ऋक्-साम-
रूप पक्षोवाला होनेसे उसमें प्राप्त
उद्गीयत्वका परोक्षरूपसे प्रतिपादन
हो जाता है, क्योंकि वह देव परोक्ष
प्रियक है । इसलिये वह उद्गीय है
ऐसा कहा । इसी हेतुसे, क्योंकि
[यज्ञमें उद्गान करनेवाला] उत्का
गान करता है इसलिये वह उद्गाता
कहलाता है । इस प्रकार क्योंकि
वह उपयुक्त ‘उत्’ नामक देवका
गान करता है इसलिये उद्गाताका
‘उद्गाता’ ऐसा नाम प्रसिद्ध होना
उचित ही है ।

वही यह उत् नामक देव इस
आदित्यलोकसे परे जानेके कारण जो
पराङ् यानी ऊपरके लोक हैं उन
लोकोका ईश्वर (शासक) है । वह
केवल शासनकर्ता ही नहीं है ‘च’
शब्दसे यह भी सिद्ध होता है कि वह
उनका धारण भी करता है; जैसा
कि “उसने इस पृथ्वीको और
द्युलोकको धारण किया” इत्यादि
मन्त्रवर्णसे सिद्ध होता है । यही नहीं,
वह देवताओंकी कामनाओंका भी
शासक है—इस प्रकार यह उस देव-
का—उद्गीयका अधिदैवत—देवता-
विषयक स्वरूप कहा गया ॥ ८ ॥

*देवताओंकी परोक्षप्रियता ‘परोक्षप्रिया इव हि देवाः प्रत्यक्षद्विषः’ इस श्रुतिसे
प्रमाणित होती है ।

सप्तम खण्ड

—:ॐ:—

अध्यात्म-उद्गीथोपासना

अथाध्यात्मं वागेवक्प्राणः साम तदेतदेतस्यामृच्य-
ध्यूढं साम तस्मादृच्यध्यूढं साम गीयते । वागेव सा
प्राणोऽमस्तत्साम ॥ १ ॥

इससे आगे अध्यात्म उपासना है—वाणी ही ऋक् है और प्राण साम है । इस प्रकार इस [वाक् रूप] ऋक्में [प्राण रूप] साम अधिष्ठित है । अतः ऋक्में अधिष्ठित सामका ही गान किया जाता है । वाक् ही 'सा' है और प्राण 'अम' है । इस प्रकार ये [दोनों मिलकर] साम हैं ॥ १ ॥

अथाधुनाध्यात्ममुच्यते—वा-
गेवक्प्राणः साम, अधरोपरि-
स्थानत्वसामान्यात् । प्राणो
घ्राणमुच्यते सह वायुना । वागेव
सा प्राणोऽम इत्यादि पूर्ववत् ॥ १ ॥

आधिदैविक उपासनाके पश्चात्
अब अध्यात्म उपासनाका वर्णन
किया जाता है—नीचे-ऊपर स्थान
होनेमें तुल्य होनेके कारण वाक् ही
ऋक् है और प्राण साम है । वायुके
सहित घ्राणेन्द्रिय ही यहाँ प्राण कहा
गया है । वाक् ही 'सा' है और
प्राण 'अम' है इत्यादि कथन पूर्ववत्
समझना चाहिये ॥ १ ॥

—***—

चक्षुरेवर्गात्मा साम तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढं साम
तस्मादृच्यध्यूढं साम गीयते । चक्षुरेव सात्मास्त-
त्साम ॥ २ ॥

चक्षु ही ऋक् है और आत्मा साम है । इस प्रकार इस [चक्षुरूप] ऋक्मे यह [आत्मारूप] साम अधिष्ठित है । इसलिये ऋक्मे अधिष्ठित सामका ही गान किया जाता है । चक्षु ही 'सा' है और आत्मा 'अम' है । इस प्रकार ये [दोनों मिलकर] साम हैं ॥ २ ॥

चक्षुरेव ऋक्, आत्मा साम,
आत्मेतिच्छायात्मा तत्स्थत्वा-
त्साम ॥ २ ॥

चक्षु ही ऋक् है और आत्मा साम है । यहाँ 'आत्मा' शब्दसे छायात्माका ग्रहण है; क्योंकि वही नेत्रमे स्थित होनेके कारण साम है ॥ २ ॥

—: * :—

श्रोत्रमेवङ्मनः साम तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढं साम
तस्मादृच्यध्यूढं साम गीयते । श्रोत्रमेव सा मनोऽ-
मस्तत्साम ॥ ३ ॥

श्रोत्र ही ऋक् है और मन साम है । इस प्रकार इस [श्रोत्ररूप] ऋक्मे यह [मनरूप] साम अधिष्ठित है । अतः ऋक्में अधिष्ठित सामका ही गान किया जाता है । श्रोत्र ही 'सा' है और मन 'अम' है । इस प्रकार ये [दोनों मिलकर] साम हैं ॥ ३ ॥

श्रोत्रमेवङ्मनः साम, श्रोत्रस्या-
धिष्ठातृत्वान्मनसः सामत्वम् ॥ ३ ॥

श्रोत्र ही ऋक् है और मन साम है, श्रोत्रका अधिष्ठाता होनेके कारण मनकी सामरूपता है ॥ ३ ॥



अथ यदेतदक्ष्णः शुक्लं भाः सैवर्गथ यन्नीलं परः
कृष्णं तत्साम । तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढं साम । तस्मा-
दृच्यध्यूढं साम गीयते । अथ यदेवैतदक्ष्णः शुक्लं भाः
सैव साथ यन्नीलं परः कृष्णं तदमस्तत्साम ॥ ४ ॥

तथा यह जो आँखोंका शुक्ल प्रकाश है वह ऋक् है और जो नीलवर्ण अत्यन्त श्यामता है वह साम है। इस प्रकार इस [शुक्ल प्रकाशरूप] ऋक्में यह [नीलवर्ण अत्यन्त श्यामतारूप] साम अधिष्ठित है। अतः ऋक्में अधिष्ठित सामका ही गान किया जाता है। तथा यह जो नेत्रका शुक्ल प्रकाश है वही 'सा' है और जो नीलवर्ण परम श्यामता है वही 'अम' है। इस प्रकार ये [दोनों मिलकर] साम हैं ॥ ४ ॥

अथ यदेतदक्षः शुक्लं भाः
सैवर्क् । अथ यन्नीलं परः कृष्ण-
मादित्य इव दृक्शक्त्यधिष्ठानं
तत्साम ॥ ४ ॥

तथा यह जो नेत्रोंका शुक्ल प्रकाश है वही ऋक् है और जो सूर्यके समान दृक्शक्तिका अधिष्ठानभूत नीलवर्ण अतिशय श्यामत्व है वह साम है ॥ ४ ॥

आदित्यान्तर्गत और नेत्रान्तर्गत पुरुषोंकी एकता

अथ य एषोऽन्तरक्षिणि पुरुषो दृश्यते सैवर्क्तत्साम
तदुक्तं तयजुस्तद्ब्रह्म । तस्यैतस्य तदेव रूपं यदमुष्य
रूपं यावमुष्य गोष्णौ तौ गोष्णौ यन्नाम तन्नाम ॥ ५ ॥

तथा यह जो नेत्रोंके मध्यमें पुरुष दिखलायी देता है वही ऋक् है, वही साम है, वही उक्त है, वही यजुः है और वही ब्रह्म (वेद) है। उस इस पुरुषका वही रूप है जो उस (आदित्यान्तर्गत पुरुष) का रूप है। जो उसके पक्ष हैं वही इसके पक्ष हैं, जो उसका नाम है वही इसका नाम है ॥ ५ ॥

अथ य एषोऽन्तरक्षिणि पुरुषो
 दृश्यते, पूर्ववत् । सैवर्गध्यात्मं
 वागाद्या पृथिव्याद्या चाधि-
 दैवतम् । प्रसिद्धा च ऋक्पाद-
 बद्धान्तरात्मिका तथा साम ।
 उक्थसाहचर्याद्वा स्तोत्रं साम
 ऋक् शस्त्रमुक्थादन्यत् । तथा
 यजुःस्वाहास्वधावषडादिसर्वमेव
 चाग्यजुस्तत्स एव; सर्वात्मक-
 त्वात्सर्वयोनित्वाच्चेति ह्यवोचाम ।
 ऋगादिप्रकरणात्तद्ब्रह्मेति त्रयो
 वेदाः ।

तस्यैतस्य चानुपस्य
 पुरुषस्य तदेव रूपमतिदिश्यते ।
 किं तत् ? यदमुष्यादित्यपुरुषस्य ।
 हिरण्यमय इत्यादि यदधिदैवत-
 मुक्तम् । यावमुष्य गेष्णौ पर्वणी
 तावेवास्यापि चानुपस्य गेष्णौ ।
 यच्चामुष्य नामोदित्युद्गीथ इति
 च तदेवास्य नाम ।

तथा यह जो नेत्रोंके मध्यमे
 पुरुष दिखलायी देता है—इस
 वाक्यका तात्पर्य पूर्ववत् समझना
 चाहिये । वही वागादि अध्यात्म
 और पृथिवी आदि अधिदैवत ऋक्
 है, जिसके पाद नियत अक्षरोंसे
 बंधे होते हैं वह ऋक् तो प्रसिद्ध
 ही है—तथा वही साम है ।
 अथवा [इन ऋक् और साम
 शब्दोंका अर्थ इस प्रकार समझना
 चाहिये—] उक्थका सहचारी
 होनेसे स्तोत्र ही साम है और
 उक्थसे भिन्न जो शस्त्र (मन्त्रविशेष)
 है वेही ऋक् हैं; तथा स्वाहा, स्वधा
 और वषट् आदि सम्पूर्ण वाक्य ही
 यजुः है । सर्वात्मक और सबका
 कारण होनेके कारण वह यजुः
 स्वयं पुरुष ही है—ऐसा हम पहले
 कह चुके हैं । यहाँ ऋगादिका प्रकरण
 होनेसे 'वही ब्रह्म है' इस वाक्यमें [ब्रह्म-
 शब्दसे] तीनों वेद समझने चाहिये ।

उस इस नेत्रस्थ पुरुषका वही
 रूप वतलाया जाता है । वह रूप
 क्या है ? जो रूप उस आदित्या-
 न्तर्गत पुरुषका था, जिसका कि
 हिरण्यमय आदि अधिदैवतरूपसे
 वर्णन किया गया था । जो उस
 (आदित्यपुरुष) के पक्ष थे वे ही
 इस नेत्रान्तर्गत पुरुषके भी पक्ष हैं ।
 जो उसके 'उत्' अथवा 'उद्गीय' आदि
 नाम थे, वे ही इसके भी नाम हैं ।

स्थानभेदाद्रूपगुणनामातिदे-

शादीशितृत्वविषयभेदव्यपदेशा-

चादित्यचाल्लुपयोर्भेद इति चेत् ?

न; अमुनानेनैवेत्येकस्योभया-

त्मप्राप्त्यनुपपत्तेः ।

द्विधाभावेनोपपद्यत इति

चेत्, वक्ष्यति हि “स एकधा

भवति त्रिधा भवति” इत्यादि,

न, चेतनस्यैकस्य निरवयव-

त्वाद् द्विधाभावानुपपत्तेः । तस्मा-

दध्यात्माधिदैवतयोरेकत्वमेव ।

यत्तु रूपाद्यतिदेशो भेदकारण-

मवोचो न तद्भेदावगमाय ।

किं तर्हि ? स्थानभेदाद् भेदाशङ्का

मा भूदित्येवमर्थम् ॥ ५ ॥

यदि कहो कि आश्रयका भेद होनेसे, [आदित्यान्तर्गत पुरुषके] रूप, गुण और नामका (चाक्षुष पुरुषमें) अतिदेश^१ होनेसे तथा ईशितृत्व (शासन) के विषयोंका भेद बतलाये जानेके कारण आदित्य और नेत्रान्तर्गत पुरुषोंका भेद है—तो ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि ऐसा माननेपर [मन्त्र ७ और ८ में] ‘अमुना’ ‘अनेनैव’ इन शब्दोंसे प्रतिपादित एकके ही द्वारा दोनोंकी प्राप्ति सम्भव नहीं होगी ।

यदि कहो कि वह उन दोनोंको दो रूपसे प्राप्त होता है, जैसा कि “वह एकरूप होता है, वह तीन रूप होता है” इत्यादि रूपसे श्रुति कहेगी भी—तो यह भी ठीक नहीं; क्योंकि निरवयव होनेके कारण एक ही चेतनका दो रूप होना सम्भव नहीं है । अतः अध्यात्म और अधिदैवत—इन दोनोंकी एकता ही है । और तुमने जो रूपादिके अतिदेशको उनके भेदका कारण बतलाया, सो वह उनका भेद सूचित करनेके लिये नहीं है । तो वह किसलिये है? वह तो, आश्रयका भेद होनेसे कहीं उनके भेदकी आशङ्का न हो जाय—इसलिये है ॥५॥

स एष ये चैतस्मादर्वाञ्चो लोकास्तेषां चेष्टे
मनुष्यकामानां चेति । तथ इमे वीणायां गायन्त्येतं
ते गायन्ति तस्मात्तै धनसनयः ॥ ६ ॥

वह यह (चाक्षुष पुरुष) जो इस (अध्यात्म आत्मा) से नीचेके लोक है उनका तथा मानवीय कामनाओंका शासन करता है । अत जो ये लोक वीणामे गान करते हैं वे उसीका गान करते हैं इसीसे वे धनवान् होते हैं ॥ ६ ॥

स एष चाक्षुषः पुरुषो ये
चैतस्मादाध्यात्मिकादात्मनोर्वा-
ञ्चोर्वाग्गता लोकास्तेषां चेष्टे
मनुष्यसंयन्धिनां च कामानाम् ।
तत्तस्माद्य इमे वीणायां गायन्ति
गायकास्त एतमेव गायन्ति ।
यस्मादीश्वरं गायन्ति तस्मात्ते
धनसनयो धनलाभयुक्ता धन-
वन्त इत्यर्थः ॥ ६ ॥

वह यह चाक्षुष पुरुष जो इस
आध्यात्मिक आत्मासे नीचेके लोक
हैं, उनका तथा मनुष्यसम्बन्धी
कामनाओंका ईशान (शासन)
करता है । अत जो ये गायक लोग
वीणामे गान करते हैं वे उसीका
गान करते हैं । इस प्रकार क्योंकि
वे ईश्वरका ही गान करते हैं, इस-
लिये वे धनलाभयुक्त अर्थात्
धनवान् होते हैं ॥ ६ ॥

— ❀ —

इनकी अभेददृष्टिसे उपासनाका फल

अथ य एतदेवं विद्वान्साम गायत्युभौ स गायति
सोऽमुनैव स एष ये चामुष्मात्पराञ्चो लोकास्ताँश्चा-
प्नोति देवकामाँश्च ॥ ७ ॥

तथा जो इस प्रकार [चाक्षुष और आदित्य दोनों पुरुषोंकी एकत
जाननेवाला पुरुष सामगान करता है वह [चाक्षुष और आदित्य]

दोनोंका ही गान करता है । तथा वह इसके ही द्वारा जो इस (आदित्य-लोक) से ऊपरके लोक हैं और जो देवताओंके भोग हैं, उन्हें प्राप्त करता है ॥ ७ ॥

अथ य एतदेवं विद्वान्यथोक्तं
देवमुद्गीथं विद्वान्साम गायत्युभौ
स गायति चानुपमादित्यं च ।
तस्यैवंविदः फलमुच्यते—सोऽ-
मुनैवादित्येन स एष ये चामुष्मा-
त्पराश्चो लोकास्तांश्चाप्नोति आ-
दित्यान्तर्गतदेवो भूत्वेत्यर्थो
देवकामांश्च ॥ ७ ॥

इस उपर्युक्त देवको जो इस प्रकार जाननेवाला पुरुष सामगान करता है वह चाक्षुष और आदित्य दोनों ही पुरुषोंको गाता है । इस प्रकार जाननेवाले उस उपासकको जो फल मिलता है वह वतलाया जाता है—वह यह उपासक इस आदित्यके द्वारा ही जो इससे ऊपरके लोक हैं उन्हें प्राप्त होता है । तात्पर्य यह है कि आदित्यान्तर्गत देवरूप होकर वह इन्हें और देवताओंके भोगोंको प्राप्त करता है ॥ ७ ॥

— ४: —

अथानेनैव ये चैतस्मादूर्वाश्चो लोकास्तांश्चाप्नोति
मनुष्यकामांश्च तस्मादु हैवंविदुद्गाता ब्रूयात् ॥ ८ ॥
कं ते काममागायानीत्येष ह्येव कामागानस्येष्टे य एवं
विद्वान्साम गायति साम गायति ॥ ८ ॥

तथा इसीके द्वारा जो इससे नीचेके लोक हैं उन्हें और मनुष्य-सम्बन्धिनी कामनाओंको प्राप्त करता है । अतः इस प्रकार जाननेवाला-उद्गाता [यजमानसे इस प्रकार] कहे—॥८॥ 'मैं तेरे लिये किन इष्ट कामनाओंका आगान करूँ' क्योंकि यह उद्गाता कामनाओंके आगानमें समर्थ होता है, जो कि इस प्रकार जाननेवाला होकर सामगान करता है, सामगान करता है ॥ ८ ॥

अथानेनैव चाक्षुषेणैव ये | तथा इस चाक्षुष पुरुषके द्वारा
 चैतस्मादर्वाञ्चो लोकास्तांश्चा- ही, जो इससे नीचेके लोक हैं उन्हे
 प्नोति मनुष्यकामांश्च चाक्षुषे मनुष्यसम्बन्धी भोगोको वह प्राप्त
 भूत्वेत्यर्थः। तस्मादु हैवंविदुद्गाता करता है। अभिप्राय यह कि चाक्षुष
 ऋयाद्यजमानं कमिष्टं ते तव पुरुष होकर ही उन सबको प्राप्त
 काममागायानीति। एष हि करता है। अतः इस प्रकार जानने-
 यस्मादुद्गाता कामागानस्योद्गा- वाला उद्गाता यजमानसे कहे कि
 नेन कामं संपादयितुमीष्टे समर्थ 'मैं तेरे लिये किन इष्ट कामनाओं-
 इत्यर्थः। कोऽसौ ? य एवं विद्वा- का आगान करूं ?' क्योंकि यह
 न्साम गायति साम गायति। द्विरु- उद्गाता इष्ट कामनासम्बन्धी आगान-
 क्तिरुपासनसमाप्त्यर्था ॥८-६॥ के उद्गानसे उन कामनाओंको
 सम्पन्न करनेमें समर्थ होता है।
 वह उद्गाता कौन है ? जो इस
 प्रकार जाननेवाला होकर साम गान
 करता है, साम गान करता है।
 यह द्विरुक्ति उपासनाकी समाप्तिके
 लिये है ॥ ८-६ ॥

— : • : —

इतिच्छान्दोग्योपनिषद् प्रथमाध्याये
 सप्तमखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥ ७ ॥



अष्टम खण्ड

॥१॥

उद्गीथोपासनाकी उत्कृष्टता प्रदर्शित करनेके लिये

शिलक, दाल्भ्य और प्रवाहणका संवाद

अनेकधोपास्यत्वादक्षरस्य प्र-
कारान्तरेण परोवरीयस्त्वगुण-
फलमुपासनान्तरमानिनाय। इति-
हासस्तु सुखावबोधनार्थः ।

उद्गीथसंज्ञक अक्षर (ओंकार) के
अनेक प्रकारसे उपासनीय होनेके
कारण श्रुति प्रकारान्तरसे उसकी
उत्तरोत्तर उत्कृष्ट गुणविशिष्ट फल-
वाली एक अन्य उपासना प्रस्तुत
करती है। यहाँ जो इतिहास दिया
जाता है वह सरलतासे समझानेके
लिये है।

त्रयो होद्गीथे कुशला बभूवुः शिलकः शालाव-
त्यश्चैकितायनो दाल्भ्यः प्रवाहणो जैवलिरिति ते होचु-
रुद्गीथे वै कुशलाः स्मो हन्तोद्गीथे कथां वदाम इति ॥१॥

कहते हैं, शालावान्का पुत्र शिलक, चिकितायनका पुत्र दाल्भ्य
और जीवलका पुत्र प्रवाहण—ये तीनों उद्गीथविद्यामें कुशल थे। उन्होंने
परस्पर कहा—‘हमलोग उद्गीथविद्यामें निपुण हैं; अतः यदि आप-
लोगोंकी अनुमति हो तो उद्गीथके विषयमें परस्पर वार्तालाप करें’ ॥१॥

त्रयस्त्रिसंख्याकाः; ह इत्यै-
तिह्यार्थः, उद्गीथ उद्गीथज्ञानं
प्रति कुशला निपुणा बभूवुः ।

त्रयः—तीन संख्यावाले, ‘ह’
यह निपात इतिहासको सूचित करने-
के लिये है, उद्गीथमें—उद्गीथविद्या-
में कुशल—निपुण थे। तात्पर्य यह

कस्मिंश्चिद्देशे काले च निमित्ते
वा समेतानामित्यभिप्रायः । न
हि सर्वस्मिञ्जगति त्रयाणामेव
कौशलमुद्गीथादिविज्ञाने । श्रूय-
न्ते ह्युपस्तिज्ञानश्रुतिकैकेयप्रभृत-
यः सर्वज्ञकल्पाः ।

के ते त्रयः ? इत्याह—शिलको
नामतः शालावतोऽपत्यं शालावत्यः
चिकितायनस्यापत्यं चैकितायनः,
दल्मगोत्रो दाल्म्यो द्व्यामुप्याय-
णो वा । प्रवाहणो नामतो जीवल-
स्यापत्यं जैवालरित्येते त्रयः ।

ते होचुरन्योन्यमुद्गीथे वै
कुशला निपुणा इति प्रसिद्धाः
स्मः । अतो हन्त यद्यनुमतिर्भ-
वतामुद्गीथ उद्गीथज्ञाननिमित्तां
कथां विचारणां पक्षप्रतिपक्षोप-
न्यासेन वदामो वादं कुर्म
इत्यर्थः ।

है कि किसी देश और कालमें अथवा
किसी निमित्तविशेषसे एकत्रित हुए
पुरुषोंमें [ये तीन व्यक्ति उद्गीथमें निपुण
थे] । सारे ससारके भीतर उद्गीथ आदि-
के ज्ञानमें इन तीनकी ही कुशलता
हो—ऐसी बात नहीं है, क्योंकि श्रुतिमें
उपस्ति, जानश्रुति और कैकेय आदि
सर्वज्ञकल्प पुरुष भी प्रसिद्ध हैं ही ।

वे तीन कौन थे ? इस विषयमें
श्रुति कहती है—शिलक जिसका
नाम था वह शालावान्का पुत्र
शालावत्य, चिकितायनका पुत्र
चैकितायन, जो दल्मगोत्रमें उत्पन्न
होनेके कारण दाल्म्य कहा गया है ।
अथवा वह द्व्यामुप्यायण ॐ होगा ।
तथा नामसे प्रवाहण और जीवलका
पुत्र होनेसे जैवाल कहलानेवाला—
ये तीन पुरुष थे ।

उन्होंने परस्पर एक-दूसरेसे
कहा—हमलोग उद्गीथमें कुशल-
निपुण हैं—इस प्रकार प्रसिद्ध हैं ।
अतः यदि आपलोगोंकी सम्मति हो तो
उद्गीथमें—उद्गीथविद्याके सम्बन्धमें
कथा—विचार कहे, अर्थात् पक्ष-
प्रतिपक्षके स्थापनपूर्वक परस्पर
विवाद करे ।

★ जिस पुत्रको 'यह मुझे और तुझे दोनोंहीको जल और पिण्डदान देने-
का अधिकारी होगा' ऐसा कहकर धर्मपूर्वक ग्रहण किया जाता है उसे 'द्व्या-
मुप्यायण' कहते हैं ।

तथा च तद्विद्यसंवादे विपरी-
तग्रहणाशोऽपूर्वविज्ञानोपजनः सं-
शयनिवृत्तिश्चेति । अतस्तद्विद्य-
संयोगः कर्तव्य इति चेतिहास-
प्रयोजनम् । दृश्यते हि शिलका-
दीनाम् ॥ १ ॥

इस प्रकार, जिन्हें विवक्षित
अर्थका ज्ञान है उन पुरुषोंके
पारस्परिक संवादसे विपरीत ग्रहण-
का नाश, अपूर्व ज्ञानकी उत्पत्ति
और संशयकी निवृत्ति होती है ।
अतः उन-उन विषयोंके ज्ञाता
पुरुषोंका साथ करना चाहिये—यह
भी इस इतिहासका प्रयोजन है ।
यही बात शिलकादिके प्रसङ्गमें भी
देखी जाती है ॥ १ ॥

—❀—

तथेति ह समुपविविशुः स ह प्रवाहणो जैवलि-
रुवाच भगवन्तावग्रे वदतां ब्राह्मणयोर्वदतोर्वाच ॥ श्रोण्या-
मीति ॥ २ ॥

तब वे 'बहुत अच्छा' ऐसा कहकर बैठ गये । फिर जीवलके पुत्र
प्रवाहणने कहा—'पहले आप दोनों पूज्यवर प्रतिपादन करें । मैं आप
ब्राह्मणोंकी कही हुई वाणीको श्रवण करूँगा' ॥ २ ॥

तथेत्युक्त्वा ते समुपविविशु-
र्होपविष्टवन्तः किलः । तत्र राज्ञः
प्रागल्भ्योपपत्तेः स ह प्रवाहणो
जैवलिरुवाचेतसौ भगवन्तौ पूजा-
वन्तावग्रे पूर्वं वदताम् । ब्राह्मण-

फिर वे 'बहुत अच्छा' ऐसा
कहकर बैठ गये । उनमें [ब्राह्मणोंके
प्रथम बोलनेसे] राजा (क्षत्रिय)
की प्रागल्भ्यता (वृष्टता) सिद्ध होती
है, इसलिये उस जीवलके पुत्र
प्रवाहणने शेष दोनोंके प्रति कहा—
'पहले आप भगवान्—पूजनीय लोग
कहें; आप ब्राह्मणोंके कहे हुए शब्दों-

योरिति लिङ्गाद्राजासौ युवयो- को मैं श्रवण करूँगा । 'आप दोनों
ब्राह्मणयोर्वदतोर्वाचं श्रोष्यामि । आह्वणोके' इस कथनरूप लिङ्गसे ज्ञात
होता है कि वह क्षत्रिय है 'वाचम्'
अर्थरहितामित्यपरे वाचमिति ऐसा विशेषण होनेके कारण दूसरे
व्याख्याकार 'अर्थहीन शब्दमात्र
विशेषणात् ॥ २ ॥ सुनूँगा' ऐसा अर्थ करते हैं ॥ २ ॥

स ह शिलकः शालावत्यश्चैकितायनं दाल्भ्यमु-
वाच हन्त त्वा पृच्छानीति पृच्छेति होवाच ॥ ३ ॥

तब उस शालावान्के पुत्र शिलकने चिकितायनकुमार दाल्भ्यसे
कहा—'यदि तुम्हारी अनुमति हो तो मैं तुमसे पूछूँ?' उसने कहा—
'पूछो' ॥ ३ ॥

उक्तयोः स ह शिलकः शा- उपयुक्त दोनोंमेंसे शालावान्के
लावत्यश्चैकितायनं दाल्भ्यमु- पुत्र शिलकने चैकितायन दाल्भ्यसे
वाच—हन्त यद्यनुमंस्यसे त्वा कहा—'यदि तुम अनुमति दो तो
त्वां पृच्छानीत्युक्त इतरः पृच्छेति मैं तुमसे पूछूँ।' तब इस प्रकार
होवाच ॥ ३ ॥ कहे जानेपर दूसरेने 'पूछो' ऐसा
कहा ॥ ३ ॥

—:❀:—

लब्धानुमतिराह—

उसकी अनुमति पाकर [शिलक-
ने] कहा—

का साम्नो गतिरिति स्वर इति होवाच । स्वरस्य
का गतिरिति प्राण इति होवाच । प्राणस्य का गतिरित्य-
न्नमिति होवाचान्नस्य का गतिरित्याप इति होवाच ॥ ४ ॥

‘सामकी गति (आश्रय) क्या है ?’ इसपर दूसरेने ‘स्वर’ ऐसा कहा । ‘स्वरकी गति क्या है ?’ ऐसा प्रश्न होनेपर दूसरेने ‘प्राण’ ऐसा कहा । ‘प्राणकी गति क्या है ?’ इसपर दूसरेने ‘अन्न’ ऐसा कहा । तथा ‘अन्नकी गति क्या है ?’ ऐसा पूछे जानेपर दाल्भ्यने ‘जल’ ऐसा कहा ॥४॥

का साम्नः प्रकृतत्वादुद्गीथस्य ।

उद्गीथो ह्यत्रोपास्यत्वेन प्रकृतः ।

“परोवरीयांसमुद्गीथम्” (१।६।

२) इति च वक्ष्यति । गतिरा-

श्रयः परायणमित्येतत् । एवं

पृष्टो दाल्भ्य उवाच—स्वर इति;

स्वरात्मकत्वात्साम्नः । यो यदा-

त्मकः स तद्गतिस्तदाश्रयश्च भव-

तीति युक्तं मृदाश्रय इव घटादिः ।

स्वरस्य का गतिरिति प्राण

इति होवाच । प्राणनिष्पाद्यो

हि स्वरस्तस्मात्स्वरस्य प्राणो

गतिः । प्राणस्य का गतिरित्यन्न-

मिति होवाच । अन्नावष्टम्भो

हि प्राणः । “शुष्यति वै प्राण

सामकी—प्रकरणप्राप्त होनेके

कारण उद्गीथकी गति—आश्रय

अर्थात् परायण क्या है ? क्योंकि

यहाँ उपास्यरूपसे उद्गीथका ही

प्रकरण है, जैसा कि ‘परोवरीयांसमु-

द्गीथमुपास्ते’ (१।६।२) इत्यादि

श्रुतिमें कहेंगे भी । इस प्रकार पूछे

जानेपर दाल्भ्यने कहा—‘स्वर’

क्योंकि साम स्वरस्वरूप है । जिस

प्रकार [मृत्तिकामय] घटादि पदार्थों-

का मृत्तिका ही आश्रय होती है,

उसी प्रकार जो पदार्थ यदात्मक—

जिसके स्वरूपसे युक्त होता है उस

पदार्थकी वही गति और आश्रय

भी होता है—यह उचित ही है ।

‘स्वरकी गति क्या है ?’ ऐसा

प्रश्न होनेपर [दाल्भ्यने] ‘प्राण’

ऐसा कहा, क्योंकि स्वर प्राणसे ही

निष्पन्न होनेवाला है, इसलिये स्वर-

की गति प्राण है । ‘प्राणकी गति

क्या है ?’ ऐसा पूछे जानेपर उसने

कहा ‘अन्न’, क्योंकि प्राण अन्नके

ही आश्रय रहनेवाला है, जैसा कि

अतेऽन्नात्" (बृ० उ० ५ ।
 १२।१) इति हि श्रुतेः । "अन्नं
 दाम" (बृ० उ० २ । २ । १)
 इति च । अन्नस्य का गति-
 रित्याप इति होवाच । अप्सं-
 भवत्वादन्नस्य ॥ ४ ॥

"अन्नके बिना प्राण सूख जाता है"
 इस श्रुतिसे सिद्ध होता है तथा
 "अन्न यह [वत्सस्थानीय प्राणकी]
 रस्सी है" ऐसी श्रुति भी है । फिर
 'अन्नकी गति क्या है ?' ऐसा प्रश्न
 होनेपर दाल्भ्यने कहा—'आप्'
 क्योंकि अन्न आप् (जल) से ही
 उत्पन्न होनेवाला है ॥ ४ ॥

—:०:—

अपां का गतिरित्यसौ लोक इति होवाचामुष्य
 लोकस्य का गतिरिति न स्वर्गं लोकमतिनयेदिति
 होवाच स्वर्गं वयं लोकं सामाभिसंस्थापयामः स्वर्गसं-
 स्तावहि सामेति ॥ ५ ॥

'जलकी गति क्या है ?' ऐसा प्रश्न होनेपर उसने 'वह लोक' ऐसा
 कहा । 'उस लोककी गति क्या है ?' इसपर दाल्भ्यने कहा कि 'स्वर्ग-
 लोकका अतिक्रमण करके सामको कोई किसी दूसरे आश्रयमें नहीं ले जा
 सकता । हम सामको स्वर्गलोकमें ही स्थित करते हैं, क्योंकि सामकी स्वर्ग-
 रूपसे स्तुति की गयी है' ॥ ५ ॥

अपां का गतिरित्यसौ लोक
 इति होवाच । अमुष्माल्लोकाद्
 वृष्टिः संभवति । अमुष्य लोकस्य
 का गतिः ? इति पृष्ठो दाल्भ्य
 उवाच । स्वर्गममुं लोकमती-
 त्याश्रयान्तरं साम न नयेत्क-
 थिदिति होवाच ।

'जलकी गति क्या है ?' इसपर
 दाल्भ्यने 'वह लोक' ऐसा कहा,
 क्योंकि उस लोकसे ही वृष्टि होनी
 सम्भव है । 'उस लोककी क्या गति
 है ?' ऐसा पूछे जानेपर दाल्भ्यने
 कहा—'उस स्वर्गलोकका अति-
 क्रमण करके कोई सामको किसी दूसरे
 आश्रयमें नहीं ले जा सकता ।'

अतो वयमपि स्वर्गं लोकं
सामाभिसंस्थापयामः । स्वर्गलोक-
प्रतिष्ठं साम जानीम इत्यर्थः ।
स्वर्गसंस्तावं स्वर्गत्वेन संस्तवनं
संस्तावो यस्य तत्साम स्वर्ग-
संस्तावं हि यस्मात् “स्वर्गो वै
लोकः सामवेद” इति श्रुतिः ॥५॥

अतः हम भी सामको स्वर्ग-
लोकमें ही स्थापित करते हैं । अर्थात्
सामको स्वर्गलोकमें प्रतिष्ठित समझते
हैं, क्योंकि साम स्वर्गसंस्ताव अर्थात्
जिसका स्वर्गरूपसे संस्तवन किया
गया है, ऐसा स्वर्गसंस्ताव है “निश्चय
स्वर्गलोक ही साम है ऐसा जानता
है” यह श्रुति भी है ॥ ५ ॥

—: * :—

तँह शिलकः शालावत्यश्चैकितायनं दाल्भ्यमु-
वाचाप्रतिष्ठितं वै किल ते दाल्भ्य साम यस्त्वेतर्हि
ब्रूयान्मूर्धा ते विपतिष्यतीति मूर्धा ते विपतेदिति ॥६॥

उस चिकितानपुत्र दाल्भ्यसे शालवानुके पुत्र शिलकने कहा—‘हे
दाल्भ्य ! तेरा साम निश्चय ही अप्रतिष्ठित है । जो इस समय कोई
सामवेत्ता यह कह दे कि ‘तेरा मस्तक पृथिवीपर गिर जाय’ तो निश्चय
ही तेरा मस्तक गिर जायगा । ६ ॥

तमितरः शिलकः शालावत्य-
श्चैकितायनं दाल्भ्यमुवाच—
अप्रतिष्ठितमसंस्थितं परावरीय-
स्त्वेनासमाप्तगति सामेत्यर्थः । वा
इत्यागमं स्मारयति किलेति च ।
दाल्भ्य ते तव साम । यस्त्व-
सहिष्णुः सामविदेतर्ह्येतस्मिन्काले

उस चैकितायन दाल्भ्यसे दूसरे
शालावत्य शिलकने कहा—‘हे
दाल्भ्य ! निश्चय ही तेरा साम
अप्रतिष्ठित-असंस्थित अर्थात् उत्त-
रोत्तर उत्कृष्टरूपसे असमाप्त गतिवाला
है ।’ ‘वै’ और ‘किल’ इन निपातों-
से श्रुति आगम यानी उपदेश-
परम्पराका स्मरण कराती है । यदि
इस समय कोई असहिष्णु सामवेत्ता
अप्रतिष्ठित सामको ‘यह प्रतिष्ठित

ब्रूयात्कश्चिद्विपरीतविज्ञानमप्रति-
ष्ठितं साम प्रतिष्ठितमिति एवं
वादापराधिनं मूर्धा शिरस्ते
विपतिष्यति विस्पष्टं पतिष्य-
तीति । एवमुक्तस्यापराधिनस्त-
थैव तद्विपत्तेन संशयो न त्वहं
ब्रवीमीत्यभिप्रायः ।

ननु मूर्धपाताहं चेदपराधं
कृतवानतः परेणानुक्तस्यापि
पतेन्मूर्धा न चेदपराध्युक्तस्यापि
नैव पतति । अन्यथाकृताभ्यागमः
कृतनाशश्च स्याताम् ।

नैव दोषः; कृतस्य कर्मणः
शुभाशुभस्य फलप्राप्तेर्देशकाल-
निमित्तापेक्षत्वात् । तत्रैवं
सति मूर्धपातनिमित्तस्याप्यज्ञान-
स्य पराभिख्याहारनिमित्तापेक्षत्व-
मिति ॥ ६ ॥

है' इस प्रकार कहनेका अपराध
करनेवाले तुम्ह विपरीत विज्ञान-
वान्से कहे कि 'तेरा मस्तक गिर
जायगा—स्पष्टतया पतित हो
जायगा' तो इस प्रकार कहे जानेपर
तुम्ह अपराधीका मस्तक उसी प्रकार
गिर पड़ेगा—इसमे संशय नहीं ।
तात्पर्य यह है कि मैं तो ऐसा कहता
नहीं हूँ [यदि कोई अन्य कह देगा
तो अवश्य ऐसा ही होगा] ।'

शंका—यदि मस्तक गिरनेयोग्य
पाप किया है तब तो दूसरेके न
कहनेपर भी मस्तक गिर ही जायगा
और यदि वह ऐसा अपराधी नहीं
है तो कहनेपर भी नहीं गिर
सकता; नहीं तो बिना कियेकी प्राप्ति
और किये हुएका नाश ये दो दोष
प्राप्त होंगे ।

समाधान—यह दोष नहीं है,
क्योंकि किये हुए शुभ और अशुभ
कर्मोंके फलकी प्राप्ति देश, काल
और निमित्तकी अपेक्षावाली होती
है । ऐसी स्थितिमे मूर्धपातका
निमित्तभूत जो अज्ञान है, वह भी
दूसरेके कथनरूप निमित्तकी अपेक्षा-
वाला ही है ॥ ६ ॥

एवमुक्तो दाल्भ्य आह—

ऐसा कहे जानेपर दाल्भ्यने

कहा—

हन्ताहमेतद्भगवतो वेदानोति विद्धीति होवाचा-
मुष्य लोकस्य का गतिरित्ययं लोक इति होवाचास्य
लोकस्य का गतिरिति न प्रतिष्ठां लोकमतिनयेदिति
होवाच प्रतिष्ठां वयं लोकं सामाभिसंस्थापयामः
प्रतिष्ठासंस्तावंहि सामेति ॥ ७ ॥

मैं यह बात श्रीमान्से जानना चाहता हूँ; इसपर [शिलकने]
कहा—‘जान लो ।’ तब ‘उस लोककी गति क्या है ?’ ऐसा पूछे जानेपर
उसने ‘यह लोक’ ऐसा कहा । फिर ‘इस लोककी गति क्या है ?’ ऐसा
प्रश्न होनेपर ‘इस प्रतिष्ठाभूत लोकका अतिक्रमण करके सामको अन्यत्र
नहीं ले जाना चाहिये’ ऐसा कहा । हम प्रतिष्ठाभूत इस लोकमें सामको
स्थित करते हैं [अर्थात् यहीं उसकी चरम स्थितिका निश्चय करते हैं];
क्योंकि सामका प्रतिष्ठारूपसे ही स्तवन किया गया है ॥ ७ ॥

हन्ताहमेतद्भगवतो वेदानि
यत्प्रतिष्ठं सामेत्युक्तः प्रत्युवाच
शालावत्यो विद्धीति होवाच ।
अमुष्य लोकस्य का गतिरिति पृष्टो
दाल्भ्येन शालावत्योऽयं लोक इति
होवाच । अयं हि लोको यागदान-
होमादिभिरमुं लोकं पुष्यतीति ।

“अतः प्रदानं देवा उपजीवन्ति”

‘जिसमें साम प्रतिष्ठित है यह
बात मैं श्रीमान्से जानना चाहता
हूँ’ ऐसा कहे जानेपर शालावत्यने
उत्तर दिया—‘जान लो ।’ ‘उस
लोककी गति क्या है?’ इस प्रकार
दाल्भ्यसे पूछे जानेपर शालावत्यने
‘यह लोक’ ऐसा कहा; क्योंकि यह
लोक ही याग, दान और होमादिके
द्वारा उस लोकका पोषण करता
है । इस विषयमें “अतः दानके
आश्रयसे देवगण जीवित रहते हैं”

इति हि श्रुतयः । प्रत्यक्षं हि सर्वभूतानां धरणी प्रतिष्ठेति । अतः साम्नोऽप्ययं लोकः प्रतिष्ठेवेति युक्तम् ।

ऐसी श्रुतियाँ भी हैं । सम्पूर्ण प्राणियों की प्रतिष्ठा पृथिवी है—यह प्रत्यक्ष ही है । अतः सामकी भी यही लोक-प्रतिष्ठा है—ऐसा मानना उचित ही है ।

अस्य लोकस्य का गतिः ? इत्युक्तं आह शालावत्यः । न प्रतिष्ठामिमं लोकमतीत्य नयेत्साम कश्चित् । अतो वयं प्रतिष्ठां लोकं सामाभिसंस्थापयामः । यस्मात्प्रतिष्ठासंस्तावं हि प्रतिष्ठात्वेन संस्तुतं सामेत्यर्थः । “इयं वै रथन्तरम्” इति च श्रुतिः ॥७॥

‘इस लोककी गति क्या है ?’ इस प्रकार पूछे जानेपर शालावत्यने कहा—‘किसीको भी प्रतिष्ठाभूत इस लोकका अतिक्रमण करके सामको अन्यत्र नहीं ले जाना चाहिये, अतः हम प्रतिष्ठाभूत इस लोकमें ही सामको सब प्रकारसे स्थापित करते हैं, क्योंकि साम प्रतिष्ठासस्ताव—प्रतिष्ठारूपसे स्तुत है । “यह [पृथिवी] ही रथन्तर साम है” ऐसी श्रुति भी है ॥ ७ ॥’

—❀—

तुह प्रवाहणो जैवलिरुवाचान्तवद्वै किल ते शालावत्य साम यस्त्वेतर्हि ब्रूयान्मूर्धा ते विपतिष्यतीति मूर्धा ते विपनेदिति हन्ताहमेतद्भगवतो वेदान्तीति विद्धीति होवाच ॥ ८ ॥

तब उससे जीवलके पुत्र प्रवाहणने कहा—‘हे शालावत्य ! निश्चय ही तुम्हारा साम अन्तवान् है । यदि कोई ऐसा कह देता कि तुम्हारा मस्तक गिर जाय तो तुम्हारा मस्तक गिर जाता ।’ [शालावत्यने कहा—] ‘मैं इसे श्रीमान्से जानना चाहता हूँ ।’ इसपर प्रवाहणने ‘जान लो’ ऐसा कहा ॥ ८ ॥

तमेवमृक्तवन्तं ह प्रवाहणो
जैवलिरुवाचान्तवद्वै किल ते
शालावत्य सामेत्यादि पूर्ववत् ।
ततः शालावत्य आह—हन्ताह-
मेतद्भगवतो वेदानीति विद्धीति
होवाच ॥ ८ ॥

इस प्रकार कहनेवाले उस
लशावत्यके प्रति जीवलके पुत्र
प्रवाहणने 'हे शालावत्य ! तुम्हारा
साम निश्चय ही अन्तवान् है'
इत्यादि पूर्ववत् कहा । तब शाला-
वत्यने कहा—'मैं इसे श्रीमान्से
जानना चाहता हूँ ।' तब दूसरे
(प्रवाहण) ने कहा—'जान लो' ॥ ८ ॥

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि प्रथमाध्याये
अष्टमखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥ ८ ॥



नवम खण्ड

—: ० :—

शिलककी उक्ति—आकाश ही सबका आश्रय है

इतरोऽनुज्ञात आह—

प्रवाहणकी अनुमति पाकर
शिलकने कहा—

अस्य लोकस्य का गतिरित्याकाश इति होवाच
सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्त
आकाशं प्रत्यस्तं यन्त्याकाशो ह्येवैभ्यो ज्यायानाकाशः
परायणम् ॥ १ ॥

‘इस लोककी क्या गति है?’ इसपर प्रवाहणने कहा—आकाश,
क्योंकि ये समस्त भूत आकाशसे ही उत्पन्न होते हैं, आकाशमे ही लयको
प्राप्त होते हैं और आकाश ही इनसे बड़ा है; अतः आकाश ही इनका
आश्रय है ॥ १ ॥

अस्य लोकस्य का गतिरिति
आकाश इति होवाच प्रवाहणः ।
आकाश इति च पर आत्मा
“आकाशो वै नाम” (छा०
उ० = १४ । १) इति श्रुतेः ।
तस्य हि कर्म सर्वभूतोत्पाद-
कत्वम् । तस्मिन्नेव हि भूत-
प्रलयः । “तत्तेजोऽमृतं” (६ । २ ।
३), “तेजः परस्यां देवतायाम्”
(६ । ८ । ६) इति हि वक्ष्यति ।

‘इस लोककी गति क्या है’
इसपर प्रवाहणने कहा—‘आकाश’ ।
यहां ‘आकाश’ शब्दसे परमात्मा
विवक्षित है । [भूताकाश नहीं]
जैसाकि “आकाश ही नाम [और
रूपका निर्वाह करनेवाला है]” इस
श्रुतिसे सिद्ध होता है । सम्पूर्ण
भूतोंको उत्पन्न करना यह उसीका
कार्य है और उसीमे भूतोंका प्रलय
होता है; जैसा कि श्रुति “उसने
तेजको रचा” “तेज पर देवतामेंलीन
होता है” इत्यादि प्रकारसे आगे
कहेगी ।

सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि
 स्थावरजङ्गमान्याकाशादेव समु-
 त्पद्यन्ते तेजोऽज्जनादिक्रमेण साम-
 ध्यात् । आकाशं प्रत्यस्तं यान्ति
 प्रलयकाले तेनैव विपरीतक्रमेण ।
 हि यस्मादाकाश एवैभ्यः सर्वेभ्यो
 भूतेभ्यो ज्यायान्महत्तरोऽस्तः स
 सर्वेषां भूतानां परमयनं परायणं
 प्रतिष्ठा त्रिष्वपि कालेष्वित्यर्थः ॥ १ ॥

“आत्मन आकाशः सम्भूतस्त-
 तेजोऽसृजत” इत्यादि श्रुतियोंके वल-
 से ये सम्पूर्ण चराचर भूत तेज,
 जल और अन्न इस क्रमसे
 आकाशसे ही उत्पन्न होते हैं; और
 प्रलयकालमें उसी विपरीतक्रमसे
 आकाशमें ही लीन हो जाते
 हैं, क्योंकि आकाश ही इन समस्त
 भूतोंसे बड़ा है । अतः वही समस्त
 भूतोंका परायण—परम आश्रय
 अर्थात् तीनों कालोंमें उनकी
 प्रतिष्ठा है ॥ १ ॥

—: ० :—

आकाशसंज्ञक उद्गीथकी उत्कृष्टता और उसकी उपासनाका फल

स एष परोवरीयानुद्गीथः स एषोऽनन्तः परोवरीयो
 हास्य भवति परोवरीयसो ह लोकाञ्जयति य एतदेवं
 विद्वान्परोवरीयाँ समुद्गीथमुपास्ते ॥ २ ॥

वह यह उद्गीथ परम उत्कृष्ट है, यह अनन्त है । जो इसे इस
 प्रकार जाननेवाला विद्वान् इस परमोत्कृष्ट (परमात्मभूत) उद्गीथकी
 उपासना करता है उसका जीवन परमोत्कृष्ट हो जाता है और वह
 उत्तरोत्तर उत्कृष्ट लोकोंको अपने अधीन कर लेता है ॥ २ ॥

यस्मात्परं परं वरीयो वरीय-
 सोऽप्येष वरः परश्च वरीयाँश्च
 परोवरीयानुद्गीथः परमात्मा
 संपन्न इत्यर्थः । अत एव स
 एषोऽनन्तोऽविद्यमानान्तः ।

क्योंकि उत्तरोत्तर उत्कृष्ट—श्रेष्ठ-
 से भी श्रेष्ठ अर्थात् पर और उत्कृष्ट-
 रूप यह उद्गीथ ही परमात्मभावसे
 सम्पन्न होता है, इसलिये वह यह
 उद्गीथ अनन्त—जिसका कोई अन्त
 नहीं है, ऐसा है ।

तमेतं परोवरीयांसं परमात्म-
भूतमनन्तमेवं विद्वान्परोवरीयां-
समुद्गीथमुपास्ते; तस्यैतत्फल-
माह—परोवरीयः परं परं
वरीयो विशिष्टतरं जीवनं हास्य
विदुषो भवति दृष्टं फलमदृष्टं
च परोवरीयस उत्तरोत्तरविशिष्ट-
तरानेव ब्रह्माकाशान्तोल्लोकाञ्ज-
यति य एतदेवं विद्वानुद्गीथ-
मुपास्ते ॥ २ ॥

उस इस परम उत्कृष्ट परमात्म-
भूत अनन्त उद्गीथको इस प्रकार
जाननेवाला जो विद्वान् इस परमो-
त्कृष्ट उद्गीथकी उपासना करता
है, उसके लिये श्रुति यह फल
बतलाती है—जो इसे इस प्रकार
जाननेवाला विद्वान् उद्गीथकी
उपासना करता है उस विद्वान्को
यह दृष्ट फल होता है कि उस
विद्वान्का जीवन उत्तरोत्तर उत्कृष्ट-
तर हो जाता है तथा अदृष्ट फल
यह होता है कि वह उत्तरोत्तर
ब्रह्माकाशपर्यन्त विशिष्ट लोकोंको
जीत लेता है ॥ २ ॥

त ५ हैतमतिधन्वा शौनक उदरशाण्डिल्यायोक्त्वो-
वाच यावत् एनं प्रजायामुद्गीथं वेदिष्यन्ते परोवरीयो
हैभ्यस्तावदस्मिल्लोके जीवनं भविष्यति ॥ ३ ॥

शुनकके पुत्र अतिधन्वाने उस इस उद्गीथका उदरशाण्डिल्यके प्रति
निरूपण कर उससे कहा—जबतक मेरी संततिमेसे [मेरे वंशज] इस
उद्गीथको जानेंगे तबतक इस लोकमें उनका जीवन उत्तरोत्तर उत्कृष्टतर
होता जायगा ॥ ३ ॥

किं च तमेतमुद्गीथं विद्वानति-
धन्वा नामतः शुनकस्यापत्यं
शौनक उदरशाण्डिल्याय शि-

तथा इस उद्गीथको जाननेवाले
अतिधन्वा नामक शौनकने—
शुनकके पुत्रने अपने शिष्य उदर-
शाण्डिल्यके प्रति इस उद्गीथविद्याका

प्यायैतमुद्गीथदर्शनमुक्त्वोवाच ।
यावत्ते तव प्रजायां प्रजासंतता-
वित्यर्थः । एनमुद्गीथं त्वत्संतति-
जा वेदिष्यन्ते ज्ञास्यन्ति तावन्तं
कालं परोवरीयो हैभ्यः प्रसि-
द्धेभ्यो लौकिकजीवनेभ्य उत्तरो-
त्तरविशिष्टतरं जीवनं तेभ्यो
भविष्यति ॥ ३ ॥

वर्णन करके कहा—‘जवतक तेरी
प्रजामें अर्थात् तेरी संततिमें तेरे
गोत्रज इस उद्गीथको जानेंगे
तवतक—उतने समयतक उन्हें
इन प्रसिद्ध लौकिक जीवनोंकी
अपेक्षा उत्तरोत्तर विशिष्टतर जीवन
प्राप्त होगा’ ॥ ३ ॥

—*—

तथामुष्मिल्लोके लोक इति । स य एतदेवं
विद्वानुपास्ते परोवरीय एव हास्यास्मिल्लोके जीवनं
भवति तथामुष्मिल्लोके लोक इति लोके लोक
इति ॥ ४ ॥

तथा परलोकमें भी उसे [उत्कृष्टसे उत्कृष्ट] लोककी प्राप्ति होती
है । जो इसे इस प्रकार जाननेवाला ‘पुरुष इसकी उपासना करता है,
उसका जीवन निश्चय ही इस लोकमें उत्कृष्टतर होता है तथा परलोकमें
भी उसे [उत्तरोत्तर उत्कृष्टतर] लोक प्राप्त होता है—परलोकमें उसे
[उत्तरोत्तर उत्कृष्टतर] लोक प्राप्त होता है ॥ ४ ॥

तथादृष्टेऽपि परलोकेऽमुष्मि-
न्परोवरीयाँल्लोको भविष्यतीत्यु-
क्तवाग्शाण्डिल्यायातिधन्वा शौ-
नकः । स्यादेतत्फलं पूर्वेषां महा-

‘तथा अदृष्ट परलोकमें भी उसे
उत्तरोत्तर उत्कृष्ट लोककी ही प्राप्ति
होगी’—ऐसा शुनकपुत्र अतिधन्वा-
ने शाण्डिल्यके प्रति कहा । ‘यह
फल पूर्वकालिक परम भाग्यशाली

भाग्यानां नैदंयुगीनानामित्या-
 शङ्कानिवृत्तय आह—स यः
 कश्चिदेतदेवं विद्वानुद्गीथमेतर्ह्युपा-
 स्ते तस्याप्येवमेव परोवरीय एव
 हास्यास्मिँल्लोके जीवनं भवति
 तथामुष्मिँल्लोके लोक इति लोके
 लोक इति ॥ ४ ॥

पुरुषोंको प्राप्त होता होगा, वर्तमान
 युगके पुरुषोंको नहीं हो सकता'
 ऐसी आशङ्काकी निवृत्तिके लिये
 श्रुति कहती है—इस समय भी इसे
 इस प्रकार जाननेवाला जो कोई
 पुरुष उद्गीथकी उपासना करता है
 उसका भी इस लोकमें उसी प्रकार
 उत्तरोत्तर उत्कृष्टतर ही जीवन
 होता है तथा परलोकमें भी उसे
 उत्तरोत्तर उत्कृष्टतर लोककी ही
 प्राप्ति होती है ॥ ४ ॥



इति च्छान्दोग्योपनिषदि प्रथमाध्याये
 नवमखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥ ६ ॥



दशम खण्ड



उपस्तिका आख्यान

उद्गीथोपासनप्रसङ्गेन प्रस्ताव-
प्रतिहारविषयमप्युपासनं वक्त-
व्यमितीदमारभ्यते । आख्यायि-
का तु सुखावबोधार्था ।

उद्गीथोपासनाके प्रसङ्गसे यहाँ
प्रस्ताव एवं प्रतिहारविषयक उपा-
सना भी बतलायी जानी चाहिये, इसी-
लिये आगेका ग्रन्थ आरम्भ किया
जाता है । यहाँ जो आख्यायिका है,
वह सरलतासे समझनेके लिये है—

मटचीहतेषु कुरुष्वाटिक्या सह जाययोषस्तिर्ह
चाक्रायण इभ्यग्रामे प्रद्राणक उवास ॥ १ ॥

ओले और पत्थर पड़नेसे कुरुदेशके खेतीके चौपट हो जानेपर वहाँ
इभ्य ग्रामके भीतर 'आटिकी' (जिसके स्तनादि खीजनोचित चिह्न प्रकट
नहीं हुए हैं ऐसी अल्पवयस्का) पत्नीके साथ चक्रका पुत्र उषस्ति दुर्गातिकी
अवस्थामें रहता था ॥ १ ॥

मटचीहतेषु मटच्योऽशन-
यस्ताभिर्हतेषु नाशितेषु कुरुषु
कुरुसस्येष्वित्यर्थः । ततो दुर्भिक्षे
जात आटिक्यानुपजातपयोधरा-
दिद्वीव्यञ्जनया सह जाययोष-
स्तिर्ह नामतश्चक्रस्यापत्यं चाक्रा-
यणः । इमो हस्ती तमर्हतीतीभ्य

[कुरुओंके] मटचीहत होनेपर—
मटची ओले और पत्थरको कहते हैं,
उनसे कुरुदेशके अर्थात् कुरुदेशकी
खेतीके हत—नष्ट हो जाने तथा उसके
कारण दुर्भिक्ष हो जानेपर आटिकी
यानी जिसके स्तनादि खीजनोचित
चिह्न प्रकट नहीं हुए हैं ऐसी स्त्रीके
साथ उषस्तिनामक चाक्रायण—चक्रका
पुत्र इभ्य ग्राममें—इभ हाथीको

ईश्वरो हस्त्यारोहो वा, तस्य ग्राम
इभ्यग्रामस्तस्मिन्प्रद्राणकोञ्चा-
लाभात् । द्रा कुत्सायां गतौ ।
कुत्सितां गतिं गतोऽन्त्यावस्थां
प्राप्त इत्यर्थः । उवासोपितवान्
कस्यचिद्गृहमाश्रित्य ॥ १ ॥

कहते हैं, उसकी पात्रता रखनेवाला
व्यक्ति इभ्य—घनी या हाथीवान—
कहलाता है, उसके ग्रामको इभ्य-
ग्राम कहते हैं, उसमें अन्न प्राप्त न
होनेके कारण प्रद्राणक हो—‘द्रा’
घातुका प्रयोग कुत्सित गतिके अर्थमें
होता है, अतः कुत्सित गति यानी
दुरवस्थाको प्राप्त हो किसीके घरका
आश्रय लेकर निवास करता था ॥ १ ॥

— * :—

स हेभ्यं कुलमापान्त्वादन्तं विभिक्षे त् होवाच ।
नेतोऽन्ये विद्यन्ते यच्च ये न इम उपनिहिता इति ॥ २ ॥

उसने धुने हुए उड़द खानेवाले एक महावतसे याचना की । तब
उसने उससे कहा—इन जूठे उड़दोंके सिवा मेरे पास और नहीं हैं । जो
कुछ एकत्र थे वे सब-के-सब ये मैंने [अपने भोजनपात्रमें] रख लिये हैं
[अतः मैं किस प्रकार आपकी याचना पूर्ण करूं ?] ॥ २ ॥

सोऽन्नार्थमटन्निभ्यं कुलमापा-
न्कुत्सितान्मापान्त्वादन्तं भक्षयन्तं
यदृच्छुयोपलभ्य विभिक्षे याचित-
वान् । तमुपस्ति होवाचेभ्यः ।
नेतोऽस्मान्मया भक्ष्यमाणादुच्छि-
ष्टराशेः कुलमापा अन्ये न विद्य-
न्ते । यच्च ये राशौ मे ममोपनि-
हिताः प्रक्षिप्ता इमे भाजने किं
करोमि ? ॥ २ ॥

अन्नके लिये घूमते-घूमते उसने
अकस्मात् एक हाथीवानको धुने
उड़द खाते देख उससे याचना की ।
उस उपस्तिसे हाथीवानने कहा—
मेरेद्वारा खाये जाते हुए इन
जूठे उड़दोंके समूहके सिवा
मेरे पास और उड़द नहीं हैं । जो
एकत्रित थे वे सभी मेरे इस पात्र में
गिरा लिये गये हैं, अब मैं क्या
करूं ? ॥ २ ॥

इत्युक्तः प्रत्युवाचोपस्तिः—

ऐसा कहे जानेपर उपस्तिने
उत्तर दिया—

एतेषां मे देहीति होवाच तानस्मै प्रददौ हन्ता-
नुपानमित्युच्छिष्टं वै मे पीतं स्यादिति होवाच ॥३॥

तू मुझे इन्हें ही दे दे—ऐसा उपस्तिने कहा । तब महावतने वे उड़द उसे दे दिये और कहा 'यह अनुपान भी लो ।' इसपर वह बोला—
'इसे लेनेसे मेरेद्वारा निश्चय ही उच्छिष्ट जल पीया जायगा' ॥ ३ ॥

एतेषामेतानित्यर्थः, मे मह्यं
देहीति होवाच । तान्स इभ्यो-
ऽस्मा उपस्तये प्रददौ प्रदत्तवान् ।
अनुपानाय समीपस्थमुदकं हन्त
गानु शपानिमित्युक्तः प्रत्यु-
वाच—उच्छिष्टं वै मे ममेदमुदकं
पीतं स्याद्यदि, पास्यामि ॥३॥

'एतेषाम्' इस षष्ठ्यन्त पदका
अर्थ 'एताव्' (इन्हें) है । अर्थात्
'तू मुझे इन उड़दोंको ही दे' ऐसा
उपस्तिने कहा । तब उस महावतने
उपस्तिको वे उड़द दे दिये
तथा पीनेके लिये पास रखे हुए
जलको लेकर बोला—'भाई ?
अनुपान भी ले लो ।' ऐसा कहे
जानेपर उपस्तिने कहा—'यदि मैं
इस जलको पीऊँगा तो निश्चय ही
मेरेद्वारा यह उच्छिष्ट जल पिया
जायगा [अर्थात् मुझे उच्छिष्ट जल
पीनेका दोष प्राप्त होगा] ॥ ३ ॥

— * :—

इत्युक्तवन्तं प्रत्युवाचेतरः—

इस प्रकार कहनेवाले उस
उपस्तिसे दूसरे (महावत) ने
कहा—

न स्वदेतेऽप्युच्छिष्टा इति न वा अजीविष्यमि-
मानखादन्निति होवाच कामो म उदकपानमिति ॥४॥

‘क्या मे (उडद) भी उच्छिष्ट नहीं हैं ?’ उसने कहा—‘इन्हें बिना खाये तो मैं जीवित नहीं रह सकता था, जलपान तो मुझे यथेच्छ मात्रामे मिलता है’ ॥ ४ ॥

किं न सिद्देते कुल्माषा
अप्युच्छिष्टा इत्युक्त आहोपस्तिर्न
वा अजीविष्यं न जीविष्यामी-
मान्कुल्माषानखादन्नभक्षयन्निति
होवाच । काम इच्छातो मे
ममोदकपानं लभ्यत इत्यर्थः ।

अतश्चैतामवस्थां प्राप्तस्य वि-
द्याधर्मयशोवतः स्वात्मपरोपकार-
समर्थस्यैतदपि कर्म कुर्वतो नागः-
स्पर्श इत्यभिप्रायः । तस्यापि
जीवितं प्रत्युपायान्तरेऽजुगुप्सिते
सति जुगुप्सितमेतत्कर्म दोषाय ।
ज्ञानावलेपेन कुर्वतो नरकपातः
स्यादेवेत्यभिप्रायः, प्रद्राणक-
शब्दश्रवणात् ॥ ४ ॥

‘क्या ये उडद भी उच्छिष्ट नहीं हैं ?’ ऐसा कहे जानेपर उपस्तिने कहा—‘इन उडदोंको बिना खाये—बिना भक्षण किये तो मैं जीवित नहीं रह सकता था । जलपान तो मुझे इच्छानुसार मिल जाता है ।’

अतः इसका यह अभिप्राय है कि इस अवस्थाको प्राप्त हुए, विद्या, धर्म और यशसे सम्पन्न तथा अपने और दूसरोंके उपकारमें समर्थ पुरुषको ऐसा कर्म करते हुए भी पापका स्पर्श नहीं हो सकता । उसके भी जीवनका यदि कोई अन्य अनिन्द्य उपाय हो तो यह निन्दनीय कर्म दोषके ही लिये होगा । ज्ञाना-
भिमानवश ऐसा कर्म करनेवाले पुरुषका भी नरकमें पतन होगा ही—यह इसका अभिप्राय है; क्योंकि श्रुतिमें ‘प्रद्राणक’ शब्दका प्रयोग है* ॥ ४ ॥

—:❀:—

* चाक्रायणने ‘प्रद्राणक’ अर्थात् अत्यन्त आपद्ग्रस्त होनेपर ही उच्छिष्ट भोजन किया था—इससे यह सिद्ध होता है कि विधिकी व्यतिश्रम जीवनरक्षाका कोई वैध साधन न रहनेपर ही किया जा सकता है अन्यथा कदापि नहीं ।

स ह खादित्वातिशेषाञ्जायाया आजहार साथ एव सुमिक्षा बभूव तान्प्रतिगृह्य निदधौ ॥ ५ ॥

उन्हें खाकर वह बचे हुए उड़दोंको अपनी पत्नीके लिये ले आया । वह पहले ही बूब मिश्रा प्राप्त कर चुकी थी । अतः उसने उन्हें लेकर रख दिया ॥ ५ ॥

तांश्च स खादित्वातिशेषान-
तिशिष्टाञ्जायायै कारुण्यादाज-
हार । साटिक्यग्र एव कुल्माष-
प्राप्तेः सुमिक्षा शोभनमिक्षा
लब्धान्नेत्येतद्वभूव संवृत्ता ।
तथापि स्त्रीस्वाभाव्यादनवज्ञाय
तान्कुल्माण्यन्त्युर्हस्तात्प्रतिगृह्य
निदधौ निक्षिप्तवती ॥ ५ ॥

उन्हें खाकर वह बचे हुए उड़दोंको करुणावश अपनी भार्याके लिये ले आया । वह आटिकी उड़दोंके मिलनेसे पूर्व ही सुमिक्षा-शोभनमिक्षा हो चुकी थी अर्थात् अन्न प्राप्त कर चुकी थी । तथापि स्त्रीस्वभाववश, [पतिके दिये हुए] उन उड़दोंकी अवहेलना न करके उन्हें पतिके हाथसे लेकर रख दिया ॥ ५ ॥

स ह प्रातः संजिहान उवाच यद्वतान्नस्य लभेन्नहि लभेन्नहि धनमात्रा राजासौ यद्यते स मा सर्वैशर्त्विज्यैर्वृणीतेति ॥ ६ ॥

उसने प्रातःकाल शय्यात्याग करनेके अनन्तर कहा—यदि हमें कुछ अन्न मिल जाता तो हम कुछ धन प्राप्त कर लेते, क्योंकि वह राजा यज्ञ करनेवाला है, वह समस्त ऋत्विक्कर्मोंके लिये मेरा वरण कर लेगा ॥६॥

स तस्याः कर्म जानन्प्रातः

वह अपनी पत्नीके उस कार्यको कि इसने उदङ्गवचारखेहैं, जानता था, अतः प्रातःसमय—उषःकालमें शय्याअथवा निद्राका त्याग करनेके अनन्तर उस

रुषःकाले संजिहानः शयनं निद्रां

वा परित्यजन्नुवाच पत्न्याः

शृण्वन्त्याः, यद्यदि बतेतिखिद्य-

मानोऽन्नस्य स्तोकं लभेमहि

तद्भुक्त्वान्नं समर्थो गत्वा

लभेमहि धनमात्रां धनस्याल्पम् ।

ततोऽस्माकं जीवनं भविष्यतीति ।

धनलामे च कारणमाह—

राजासौ नातिदूरे स्थाने यक्ष्यते ।

यजमानत्वात्तस्यात्मनेपदम् । स

च राजा मा मां पात्रमुपलभ्य

सर्वैरात्विज्यैर्ऋत्विक्कर्मभिर्ऋत्वि-

क्कर्मप्रयोजनायेत्यर्थो वृणी-

तेति ॥ ६ ॥

अपनी पत्नीके सुनते हुए कहा—

‘यदि [भूखसे] खिन्न होते

हुए हमें थोड़ा-सा अन्न मिल

जाता—यहाँ ‘बत’ अव्ययका तात्पर्य

है ‘खिन्न होते हुए’—तो उस

अन्नको खाकर सामर्थ्यवान् हो

[कुछ दूर] जाकर हम धनकी

मात्रा अर्थात् थोड़ा-सा धन प्राप्त

कर लेते और उससे हमारा जीवन-

निर्वाह हो जाता ।

धनलामे कारण बतलाता

है—यहाँसे थोड़ी ही दूरपर वह

राजा यज्ञ करेगा । यजमान होनेके

कारण उसके लिये ‘यक्ष्यते’ ऐसा

आत्मनेपदका प्रयोग किया गया है ।

वह राजा मुझे सुपात्र समझकर समस्त

आत्विज्यो—ऋत्विक्कर्मोंके लिये

अर्थात् ऋत्विक्कर्मोंको करानेके

प्रयोजनसे वरण कर लेगा ॥ ६ ॥

— ० —

तं जायोवाच हन्त पत इम एव कुलमापा इति
तान्वादित्वामुं यज्ञं विततमैयाय ॥ ७ ॥

उससे उसकी पत्नीने कहा—‘स्वामिन् ! [आपके दिये हुए] वे
उड्ड ही ये मौजूद हैं; [इन्हे लीजिये] ।’ उपस्ति उन्हें खाकर ऋत्विजों-
द्वारा विस्तारपूर्वक किये जानेवाले उस यज्ञमे गया ॥ ७ ॥

* क्योंकि यजनरूप क्रियाका फल उस राजाको ही प्राप्त होनेवाला था ।

एवमुक्तवन्तं जायोवाच—
हन्त गृहाण हे पत इम एव ये
मद्धस्ते विनिक्षिप्तास्त्वया कुल्मा-
पा इति । तान्खादित्वामुं यज्ञं
राज्ञो विततं विस्तारितमृत्विग्भि-
रेयाय ॥ ७ ॥

इस प्रकार कहते हुए उपस्तिसे
उसकी पत्नीने कहा—‘हे स्वामिन् !
आप इन उड़दोंको ही लीजिये
जिन्हें आपने मेरे हाथमें दिया था ।
उपस्ति उन्हें खाकर राजाके उस
वितत—ऋत्विजोंद्वारा विस्तारपूर्वक
सम्पादित होनेवाले यज्ञमें गया ॥७॥

—: * :—

राजयज्ञमें उपस्ति और ऋत्विजोंका संवाद

तत्रोद्गातनास्तावे स्तोष्यमाणानुपोपविवेश स ह
प्रस्तोतारमुवाच ॥ ८ ॥

वहाँ [जाकर वह] आस्ताव (स्तुति) के स्थानमें स्तुति करते हुए
उद्गाताओंके समीप बठ गया और उसने प्रस्तोतासे कहा—॥ ८ ॥

तत्र च गत्त्वोद्गातनुद्गातपुरु-
षानागत्य स्तुवन्त्यस्मिन्नित्या-
स्तावस्तस्मिन्नास्तावे स्तोष्यमाणानु-
पोपविवेश समीप उपविष्टस्ते-
षामित्यर्थः । उपविश्य स ह
प्रस्तोतारमुवाच ॥ ८ ॥

और वहाँ जाकर वह उद्गाता
लोगोंके पास आ आस्तावमें—
जिस स्थानमें [प्रस्तोतागण] स्तुति
करते हैं, उसे आस्ताव कहते हैं,
उसमें—स्तुति करते हुए उद्गाताओं-
के समीप बैठ गया । तथा वहाँ
बठकर उसने प्रस्तोतासे कहा—॥८॥

प्रस्तोतार्या देवता प्रस्तावमन्वायत्ता तां चेदविद्वा-
न्प्रस्तोष्यसि मूर्धा ते विपतिष्यतीति ॥ ९ ॥

हे प्रस्तोतः ! जो देवता प्रस्ताव-भक्तिमें अनुगत है यदि तू उसे
बिना जाने प्रस्तवन करेगा तो तेरा मस्तक गिर जायगा ॥ ९ ॥

हे प्रस्तोतरित्यामन्त्र्यामिमु-
 खीकरणाय । या देवता प्रस्तावं
 प्रस्तावभक्तिमनुगतान्वायत्ता तां
 चेद्देवतां प्रस्तावभक्तेरविद्वान्सन्
 प्रस्तोष्यसि विदुषो मम समीपे ।
 तत्परोक्षेऽपि चेद्विपतेत्तस्य मूर्धा
 कर्ममात्रविदामनधिकार एव
 कर्मणि स्यात् । तच्चानिष्टम्, अवि-
 दुषामपि कर्मदर्शनात्, दक्षिण-
 मार्गश्रुतेश्च । अनधिकारे चावि-
 दुषामुत्तर एवैको मार्गः श्रूयेत ।
 न च स्मार्तकर्मनिमित्त एव
 दक्षिणः पन्थाः, “यज्ञेन दानेन”
 इत्यादिश्रुतेः । ‘तथोक्तस्य मया’
 इति च विशेषणाद्विद्वत्समक्षमेव
 कर्मण्यनधिकारो न सर्वत्राग्नि-

‘हे प्रस्तोतः !’—इस प्रकार
 अपनी ओर लक्ष्य करानेके लिये
 सम्बोधन करते हुए [वह बोला—]
 ‘जो देवता प्रस्तावमे—प्रस्तावभक्ति-
 मे अन्वायत्त यानी अनुगत है, यदि
 उस प्रस्तावभक्तिके देवताको बिना
 जाने ही तू उसका, उसे जाननेवाले
 मेरे समीप, प्रस्तवन करेगा तो तेरा
 मस्तक गिर जायगा ।’ यदि यह
 माना जाय कि देवता-ज्ञानियोके
 परोक्षमे भी मस्तक गिर जायगा तो
 केवल कर्मका ही ज्ञान रखनेवालोका
 कर्ममे अनधिकार ही सिद्ध होगा ।
 और यह बात माननीय नहीं है,
 क्योंकि कर्म तो अविद्वानोंको भी
 करते देखा जाता है और दक्षिण-
 मार्गका प्रतिपादन करनेवाली श्रुतिसे
 भी यही सिद्ध होता है । और यदि
 उनका अधिकार न होता तो श्रुतिमें
 एकमात्र उत्तरमार्गका ही प्रतिपादन
 किया होता, क्योंकि दक्षिण मार्ग
 केवल स्मार्त कर्मके ही कारण प्राप्त
 होनेवाला नहीं है, जैसा कि “यज्ञसे
 दानसे” इत्यादि श्रुतिसे भी सिद्ध
 होता है । तथा ‘मेरेद्वारा इस प्रकार
 कहे हुए’ इस वाक्यद्वारा विशेष-
 रूपसे निरूपण किये जानेके कारण
 भी विद्वान्के सामने ही उसे कर्मका
 अधिकार नहीं है । अग्निहोत्र

होत्रस्मार्तकर्मध्ययनादिषु च, स्मार्तं कर्म और अध्ययनादि समस्त
 अनुज्ञायास्तत्र तत्र दर्शनात् । कर्मोंमें ऐसा नियम नहीं है, क्योंकि
 कर्ममात्रविदामप्यधिकारः सिद्धः । जहाँ-तहाँ [अविद्वान्के लिये भी]
 कर्मणीति । मूर्धा ते कर्मानुष्ठानकी आज्ञा देखी जाती
 विपतिष्यतीति ॥ ६ ॥ है । अतः यह सिद्ध हुआ कि
 केवल कर्ममात्रका ज्ञान करनेवालों-
 का भी कर्ममें अधिकार है ॥ ६ ॥



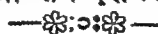
एवमेवोद्गातारमुवाचोद्गातर्या देवतोद्गीथमन्वा-
 यत्ता तां चेदविद्वानुद्गातस्यसि मूर्धा ते विपतिष्यतीति
 ॥ १० ॥ एवमेव प्रतिहर्तारमुवाच प्रतिहर्तर्या देवता
 प्रतिहारमन्वायत्ता तां चेदविद्वान्प्रतिहरिष्यसि मूर्धा ते
 विपतिष्यतीति ते ह स्मारतास्तूष्णीमासांचक्रिरे ॥ ११ ॥

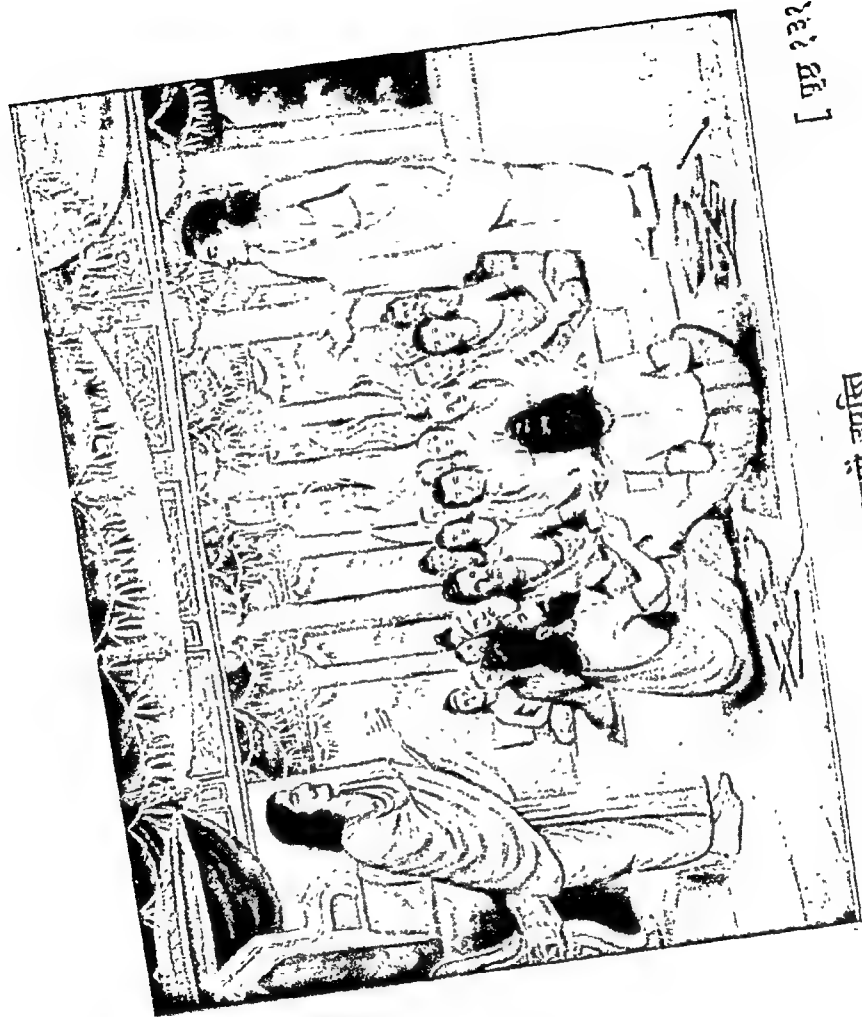
इसी प्रकार उसने उद्गातासे भी कहा—‘हे उद्गातः ! जो देवता
 उद्गीथमें अनुगत है यदि तू उसे बिना जाने उद्गान करेगा तो तेरा
 मस्तक गिर जायगा’ ॥ १० ॥ इसी प्रकार प्रतिहर्तसे भी कहा—‘हे
 प्रतिहर्तः ! जो देवता प्रतिहारमें अनुगत है यदि तू उसे बिना जाने प्रति-
 हरण करेगा तो तेरा मस्तक गिर जायगा ।’ तब वे प्रस्तोता आदि अपने-
 अपने कर्मोंसे उपरत हो मौन होकर बैठ गये ॥ ११ ॥

एवमेवोद्गातारं प्रतिहर्तार-
 मुवाचेत्यादि समानमन्यत् । ते इसी प्रकार उद्गातासे तथा प्रति-
 हर्तसे कहा—इत्यादि शेष अर्थ पूर्व-
 प्रस्तोत्रादयः कर्मभ्यः समारता वत् है । तब वे प्रस्तोता आदि कर्मसे
 उपरताः सन्तो मूर्धपातभयात्तू- समारत अर्थात् उपरत हो मस्तक
 ण्णीमासांचक्रिरेज्यच्चाकुर्वन्तः, गिर जानेके भयसे झुप होकर बैठ
 अर्थित्वात् ॥ १०-११ ॥ गये और अर्थी होनेके कारण उन्होंने
 कुछ और नहीं किया ॥ १०-११ ॥



इतिच्छान्दोग्योपनिषदि प्रथमाध्याये दशमखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥ १० ॥





[पृष्ठ १३१]

यज्ञशालामें उपस्ति

एकादश खण्ड

राजा और उपस्ति का संवाद

अथ हैनं यजमान उवाच भगवन्तं वा अहं वि-
विदिपाणीत्युपस्तिरस्मि चाक्रायण इति होवाच ॥१॥

तब उससे यजमानने कहा—‘मैं आप पूज्य-चरणको जानना चाहता हूँ ।’ इसपर उसने कहा—‘मैं चक्रका पुत्र उपस्ति हूँ’ ॥ १ ॥

अथान्तरं हैनमुपस्तिं यज-
मानो राजोवाच । भगवन्तं वै
पूजावन्तमहं विविदिपाणि वेदि-
तुमिच्छामीत्युक्त उपस्तिरस्मि
चाक्रायणस्तवापि श्रोत्रपथमागतो
यदीति होवाचोक्तवान् ॥ १ ॥

तदनन्तर उस उपस्तिसे यजमान
राजाने कहा—‘मैं भगवान्को—
पूजनीयको जानना चाहता हूँ ।’
ऐसा कहे जानेपर उसने कहा—
‘यदि तुमने मुना हो तो मैं चक्रका
पुत्र उपस्ति हूँ’ ॥ १ ॥

—:०:—

स होवाच भगवन्तं वा अहमेभिः सर्वैरात्विज्यैः
पर्यैपिपं भगवतो वा अहमवित्यान्यानवृषि ॥ २ ॥

मैंने इन समस्त ऋत्विक्कर्मोंके लिये श्रीमान्को खोजा था ।
श्रीमान्को न मिलनेसे ही मैंने दूसरे ऋत्विजोंका वरण किया था ॥ २ ॥

स ह यजमान उवाच—सत्य-
मेवमहं भगवन्तं बहुगुणमश्रीपं
सर्वैश्च ऋत्विक्कर्मभिरात्विज्यैः
पर्यैपिपं पर्येषणं कृतवानस्मि ।

उस यजमानने कहा—‘यह
ठीक ही है, मैंने श्रीमान्को बहुत
गुणवान् मुना है । मैंने सम्पूर्ण
ऋत्विक्कर्मोंके लिये आपकी खोज

अन्विष्य भगवतो वा अहम्-
विन्यालाभेनान्यानिमानवृषि वृ-
तवानस्मि ॥ २ ॥

की थी। ढूँढ़नेपर श्रीमान्के न
मिलनेसे ही मैंने इन दूसरे ऋत्विजों-
का वरण किया था ॥ २ ॥

—*—

भगवाँस्त्वेव मे सर्वैरात्विज्यैरिति तथेत्यथ तर्ह्येत
एव समतिसृष्टाः स्तुवतां यावत्त्वेभ्यो धनं दद्यास्तावन्मम
दद्या इति तथेति ह यजमान उवाच ॥ ३ ॥

मेरे समस्त ऋत्विक्कर्मोंके लिये श्रीमान् ही रहें—ऐसा सुनकर
उपस्तिने 'ठीक है' ऐसा कहा—[और बोला—] 'अच्छा तो मेरे द्वारा
प्रसन्नतासे आज्ञा दिये हुए ये ही लोग स्तुति करें; और तुम जितना धन
इन्हें दो उतना ही मुझे देना।' तब यजमानने 'ऐसा ही होगा' यह
कहा ॥ ३ ॥

अद्यापि भगवाँस्त्वेव मे मम
सर्वैरात्विज्यैर्ऋत्विक्कर्मार्थमस्तिव-
त्युक्तस्तथेत्याहोपस्तिः । किं
त्वथैवं तर्ह्येत एव त्वया पूर्वं वृता
मया समतिसृष्टा मया सम्यक्प्र-
सन्नेनानुज्ञाताः सन्तः स्तुव-
ताम् । त्वया त्वेतत्कार्यम्,
यावत्त्वेभ्यः प्रस्तोत्रादिभ्यः सर्वेभ्यो
धनं दद्याः प्रयच्छसि तावन्मम
दद्याः । इत्युक्तस्तथेति ह यज-
मान उवाच ॥ ३ ॥

'अब भी श्रीमान् ही मेरे सम्पूर्ण
ऋत्विक्कर्मोंके लिये रहें' ऐसा
कहे जानेपर उपस्तिने कहा—
'अच्छा, किंतु तुमने पहले जिनका
वरण कर लिया है वे ही ऋत्वि-
गण मेरे द्वारा समतिसृष्ट हो—
प्रसन्नतासे आज्ञा प्राप्त कर स्तवन
करें। तुम्हें तो यही करना होगा कि
जितना धन तुम इन सम्पूर्ण प्रस्तोता
आदिको दोगे उतना ही मुझे देना।'
ऐसा कहे जानेपर यजमानने 'ऐसा
ही होगा' यह कहा ॥ ३ ॥

उपस्तिके प्रति प्रस्तोताका श्रद्धा

अथ हैनं प्रस्तोतोपससाद प्रस्तोतर्या देवता
प्रस्तावमन्वायत्ता तां चेदविद्वान्प्रस्तोप्यसि मूर्धा ते
विपतिष्यतीति मा भगवानवोचत्कतमा सा देवतेति ॥ ४ ॥

तदनन्तर उस (उपस्ति) के पास [शिष्यभावसे] प्रस्तोता आया [और बोला—] 'भगवन् ! आपने जो मुझसे कहा था कि हे प्रस्तोत ! जो देवता प्रस्तावमे अनुगत है यदि तू उसे बिना जाने प्रस्तवन करेगा तो तेरा मस्तक गिर जायगा—सो वह देवता कौन है ?' ॥ ४ ॥

अथ हैनमौपस्थ्यं वचः श्रुत्वा
प्रस्तोतोपससादोपस्तिं विनये-
नोपजगाम । प्रस्तोतर्या देवते-
त्यादि मा मां भगवानवोचत्पृ-
र्वम्; कतमा सा देवता ? या
प्रस्तावमक्तिमन्वायत्तेति ॥ ४ ॥

तदनन्तर उपस्तिका यह वचन
सुनकर प्रस्तोता उपस्तिके प्रति
उपसन्न हुआ—विनीत भावसे
उपस्तिके समीप आया [और
बोला—] 'श्रीमान्ने जो पहले 'हे
प्रस्तोत ! जो देवता प्रस्तावमे अनु-
गत है' इत्यादि वाक्य मुझसे कहा
था सो वह देवता कौन है, जो कि
प्रस्तावमक्तिमे अनुगत है ?' ॥ ४ ॥

—❀—

उपस्तिका उत्तर—प्रस्तावानुगत देवता प्राण है

प्राण इति होवाच सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि
प्राणमेवाभिसंविशन्ति प्राणमभ्युजिहते । सैषा देवता
प्रस्तावमन्वायत्ता । तां चेदविद्वान्प्रास्तोप्यो मूर्धा ते
व्यपतिष्यत्तथोक्तस्य मयेति ॥ ५ ॥

उस (उपस्ति) ने 'वह (देवता) प्राण है' ऐसा कहा 'क्योंकि
ये सभी भूत प्राणमे ही प्रवेश कर जाते हैं और प्राणसे ही उत्पन्न होते

हैं। वह यह प्राण-देवता ही प्रस्तावमें अनुगत है, यदि तू उसे बिना जाने ही प्रस्तवन करता तो मेरेद्वारा इस प्रकार कहे जानेपर तेरा मस्तक गिर जाता' ॥ ५ ॥

पृष्टः प्राण इति होवाच । युक्तं
प्रस्तावस्य प्राणो देवतेति । कथम् ?
सर्वाणि स्थावरजङ्गमानि भूतानि
प्राणमेवामिसंविशन्ति प्रलयकाले
प्राणमपि लक्षयित्वा प्राणात्म-
नैव, उज्जिहते प्राणादेवोद्गच्छ-
न्तीत्यर्थ उत्पत्तिकाले । अतः
सैषा देवता प्रस्तावमन्वायचा ।

तां चेदविद्वांस्त्वं प्रास्तोष्यः
प्रस्तवनं प्रस्तावभक्तिं कृतवानसि
यदि मूर्धा शिरस्ते व्यपतिष्य-
द्विपतितमभविष्यत्तथोक्तस्य मया
तत्काले मूर्धा ते विपतिष्यतीति ।
अतस्त्वया साधु कृतम्, सया
निषिद्धः कर्मणो यदुपरममकार्षी-
रित्यभिप्रायः ॥ ५ ॥

इस प्रकार पूछे जानेपर उसने
'वह देवता प्राण है' ऐसा कहा ।
प्राण प्रस्तावका देवता है—यह
कथन ठीक ही है । किस प्रकार ?
क्योंकि सम्पूर्ण स्थावर-जङ्गम प्राणी
प्रलयकालमें प्राणहीमें प्रवेश करते
हैं, अर्थात् प्राणकी ओर लक्ष्यकर
प्राणरूपसे ही [उसमें स्थित हो
जाते हैं] और उत्पत्तिकालमें उसीसे
उद्गत होते हैं अर्थात् वे प्राणसे ही
उत्पन्न होते हैं । अतः वह यह
प्राणदेवता ही प्रस्तावमें अनुगत है ।

तू यदि उसे बिना जाने ही
प्रस्तवन—प्रस्तावभक्ति करता तो
तेरा मूर्धा यानी मस्तक गिर जाता ।
अर्थात् उस समय मेरे इस प्रकार
कहनेपर कि 'तेरा मस्तक गिर
जायगा' तेरा मस्तक अवश्य गिर
जाता । अतः अभिप्राय यह है कि तूने
जो मेरे निषेध करनेपर कर्मसे उपरति
की वह अच्छा ही किया है ॥ ५ ॥

अथ हैनमुद्गातोपससादोद्गातर्या देवतोद्गीथमन्वायत्ता
तां चेदविद्वानुद्गास्यसि मूर्धा ते विपतिष्यतीति मा भग-
वानवोचत्कतमा सा देवतेति ॥ ६ ॥

तदनन्तर उसके समीप उद्गाता आया [और बोला—]
'भगवन् ! आपने मुझसे जो कहा था कि हे उद्गात ! जो देवता
उद्गीथमे अनुगत है यदि उसे बिना जाने ही तू उद्गान करेगा तो तेरा
मस्तक गिर जायगा—सो वह देवता कौन है ?' ॥ ६ ॥

तथोद्गाता पप्रच्छ कतमा सोद्गीथमक्तिमनुगतान्वायत्ता दे- वता ? इति ॥ ६ ॥	इसी प्रकार उससे उद्गाताने भी पूछा कि वह उद्गीथमक्तिमे अनुगत कौन देवता है ? ॥ ६ ॥
--	--

—:ॐ:—

उपस्थित्वा उत्तर— उद्गीथानुगत देवता आदित्य है

आदित्य इति होवाच सर्वाणि ह वा इमानि
भूतान्यादित्यमुच्चैः सन्तं गायन्ति सैषा देवतोद्गीथम-
न्वायत्ता तां चेदविद्वानुद्गास्यो मूर्धा ते व्यपतिष्यत्त-
थोक्तस्य मयेति ॥ ७ ॥

उपस्थितने 'वह (देवता) आदित्य है' ऐसा कहा क्योंकि ये सभी
भूत ऊँचे ऋते आदित्यका ही गान करते हैं । वह यह आदित्य देवता
ही उद्गीथमे अनुगत है । यदि तू उसे बिना जाने ही उद्गान करता
तो मेरे द्वारा उस तरह कहे जानेपर तेरा मस्तक गिर जाता ॥ ७ ॥

पृष्ट आदित्य इति होवाच । सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्या-	इस प्रकार पूछे जानेपर उसने 'वह [देवता] आदित्य है' ऐसा कहा, क्योंकि ये सभी प्राणी ऊँचे
--	---

दित्यमुच्चैरुर्ध्वं सन्तं गायन्ति

शब्दयन्ति स्तुवन्तीत्यभिप्रायः,

उच्छृण्वन्सामान्यात् ; प्रशब्द-

सामान्यादिव प्राणः । अतः सैषा

देवतेत्यादि पूर्ववत् ॥ ७ ॥

अर्थात् ऊपर विद्यमान आदित्यका ही गान—शब्द अर्थात् स्तवन करते हैं; प्रस्तावसे 'प्र' शब्दमें समानता होनेके कारण जैसे प्राण-प्रस्ताव-देवता था उसी प्रकार यहाँ [उद्गत आदित्य और उद्गीथकी] 'उत्' शब्दमें समानता होनेसे यह उद्गीथ देवता है, अतः वह यह देवता आदि शेष अर्थ पूर्ववत् है ॥ ७ ॥

—:ॐ:—

प्रतिहर्तृणां प्रश्न

अथ हैनं प्रतिहर्तोपससाद प्रतिहर्तर्या देवता प्रतिहारमन्वायत्ता तां चेदविद्वान्प्रतिहरिष्यसि मूर्धा ते विपतिष्यतीति मा भगवानवोचत्कतमा सा देवतेति ॥ ८ ॥

फिर प्रतिहर्ता उसके पास आया [और बोला—] 'भगवन् ! आपने जो मुझसे कहा था कि हे प्रतिहर्तः ! जो देवता प्रतिहारमें अनुगत है यदि उसे विना जाने ही तू प्रतिहरण करेगा तो तेरा मस्तक गिर जायगा—सो वह देवता कौन है ?' ॥ ८ ॥

एवमेवाथ हैनं प्रतिहर्तोपस-

साद कतमा सा देवता प्रतिहार-

मन्वायत्तेति ? ॥ ८ ॥

इसी प्रकार फिर उसके पास प्रतिहर्ता आया और बोला कि 'वह प्रतिहारमें अनुगत देवता कौन है ?' ॥ ८ ॥

—:ॐ:—

उपस्तिका उत्तर—प्रतिहारानुगत देवता अन्न है

अन्नमिति होवाच सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्यन्नमेव प्रतिहरमाणानि जीवन्ति सैषा देवता प्रतिहार-

मन्वायत्ता तां चेद्विद्वान्प्रत्यहरिष्यो मूर्धा ते व्यपति-
ष्यत्तथोक्तस्य मयेति तथोक्तस्य मयेति ॥ ६ ॥

इसपर उसने 'वह (देवता) अन्न है' ऐसा कहा; क्योंकि ये सम्पूर्ण भूत अपने प्रति अन्नका ही हरण करते हुए जीवित रहते हैं। वह यह अन्न देवता प्रतिहारमे अनुगत है। यदि तू उसे बिना जाने ही प्रतिहरण करता तो मेरेद्वारा उस तरह कहे जानेपर तेरा मस्तक गिर जाता ॥ ६ ॥

पृष्टोज्ज्वलमिति होवाच। सर्वाणि
ह वा इमानि भूतान्यन्नमेवा-
त्मानं प्रति सर्वतः प्रतिहर-
माणानि जीवन्ति। सैषा देवता
प्रतिशब्दसामान्यात्प्रतिहारभक्ति-
मनुगता। समानमन्यत्तथोक्तस्य
मयेति। प्रस्तावोद्गीथप्रतिहार-
भक्तीः प्राणादित्यान्नदृष्ट्योपासी-
तेति समुदायार्थः। प्राणाद्यापत्तिः
कर्मसमृद्धिर्वा फलमिति ॥ ६ ॥

इस प्रकार पूछे जानेपर उसने 'वह देवता अन्न है' ऐसा उत्तर दिया, क्योंकि ये सम्पूर्ण भूत सब ओरसे अपनी ओर अन्नका प्रतिहरण करते हुए ही जीवित रहते हैं। वह यह देवता ही 'प्रति' शब्दमे सादृश्य होनेके कारण प्रतिहार भक्तिमें अनुगत है। ['तां चेद्विद्वान्' यहाँसे लेकर] 'तथोक्तस्य मया' यहाँतक शेष अर्थ पहलेके समान है। समुदायार्थ ('प्राण इति होवाच' इत्यादि सब मन्त्रोंका सारांश) यह है कि प्रस्ताव, उद्गीथ और प्रतिहार भक्तियोंकी क्रमशः प्राण, आदित्य और अन्नदृष्टिसे उपासना करनी चाहिये। प्राणादिरूपताकी प्राप्ति अथवा कर्ममे समृद्धिलान करना यह उस उपासनाका फल है ॥ ६ ॥

—❀:❀:❀—

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि प्रथमाध्याये
एकादशखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥ ११ ॥

—❀:❀:❀—

द्वादश खण्ड

—:❀:—

शौवसामसम्बन्धी उपाख्यान

**अथातः शौव उद्गीथस्तद्ध वको दाल्भ्यो ग्लावो
वा मैत्रेयः स्वाध्यायमुद्व्राज ॥ १ ॥**

तदनन्तर अव [अन्नलाभके लिये अपेक्षित] शौव उद्गीथका आरम्भ किया जाता है। वहाँ प्रसिद्ध है कि [पूर्वकालमें] दल्भका पुत्र वक अथवा मित्राका पुत्र ग्लाव स्वाध्यायके लिये [गाँवके बाहर] जलाशयके समीप गया ॥ १ ॥

अतीते खण्डेऽन्नाप्राप्तिनिमित्ता
शौवोद्गीथोपदेश- कष्टावस्थोक्तो-

प्रयोजनम् च्छिष्टपर्युषितभक्षण-

लक्षणा सा मा भूदित्यन्नलाभाय

अथानन्तरं शौवः स्वमिदृष्ट

उद्गीथ उद्गानं सामातः
प्रस्तूयते ।

तत्तत्र ह किल वको नामतो

दल्भस्यापत्यं दाल्भ्यो ग्लावो

वा नामतो मित्रायाश्चापत्यं

मैत्रेयः । वाशब्दश्चार्थे द्वयामुप्या-

अतीत खण्डमें अन्नकी अप्राप्तिसे होनेवाली उच्छिष्ट और पर्युषित (वासी) अन्नभक्षणरूप कष्टमयी अवस्थाका वर्णन किया गया था, वैसी अवस्थाकी प्राप्ति न हो— इसलिये अव इससे आगे अन्न-प्राप्तिके लिये शौव—श्वानोंद्वारा देखे हुए उद्गीथ—उद्गान सामका आरम्भ किया जाता है ।

यहाँ प्रसिद्ध है कि वकनामक दाल्भ्य—दल्भका पुत्र अथवा ग्लाव-नामक मैत्रेय—मित्राका पुत्र स्वाध्याय करनेके लिये ग्रामसे बाहर 'उद्व्राज' एकान्त देशमें स्थित जलाशयके समीप गया। यहाँ 'वा' शब्द 'च'

यणो ह्यसौ । वस्तुविषये क्रिया-
स्विव विकल्पानुपपत्तेः ।

“द्विनामा द्विगोत्रः” इत्यादि हि
स्मृतिः । दृश्यते चोभयतः पिण्ड-
भाक्त्वम् । उद्गीथे बद्धचित्तत्वा-
द्वपावनादराद्वा वाशब्दः स्वाध्या-
यार्थः । स्वाध्यायं कर्तुं ग्रामा-
द्वहिरुद्ब्रजोद्गतवान्विविक्त-
देशस्थोदकाभ्याशम् ।

उद्ब्रज प्रतिपालयाश्चकारेति
चैकवचनान्विलङ्गादेकोऽसावृषिः ।
श्वोद्गीथकालप्रतिपालनादपेः स्वा-
ध्यायकरणमन्नकामनयेति लक्ष्यत
इत्यभिप्रायतः ॥ १ ॥

(और) के अर्थमें है । ध्वश्य
ही वह द्विगोत्रायाण है, क्योंकि
वस्तुके विषयमें क्रियाओंके समान
विकल्प होना सम्भव नहीं है ।
“द्विनामा द्विगोत्रः” इत्यादि वाक्य
स्मृतिमें प्रसिद्ध भी है । [जिस
गोत्रमें पुत्र उत्पन्न होता है और
जहाँ वह धर्मपूर्वक गोद लिया
जाता है उन] दोनोंका उससे
पिण्डग्रहण करना लोकमें भी देखा
ही जाता है । अथवा उद्गीथविद्या-
में बद्धचित्त होनेसे ऋषियोगे
अनादर होनेके कारण ‘वा’ शब्दका
प्रयोग स्वाध्यायके लिये किया
गया है ।

‘उद्ब्रज’ और ‘प्रतिपालया-
श्चकार’ इन क्रियाओंमें एकवचन
होनेसे सिद्ध होता है कि यह
एक ही ऋषि है । [तृतीय मन्त्रमें
कथित] श्वानोके उद्गीथकालकी
प्रतीक्षा करनेसे तात्पर्यतः यह
लक्षित होता है कि ऋषिका
स्वाध्याय करना अन्नकी कामनासे
है ॥ १ ॥

तस्मै श्वा श्वेतः प्रादुर्वभूव तमन्ये श्वान उपसमे-
त्योचुरन्नं नो भगवानागायत्वशनायाम वा इति ॥ २ ॥

उसके समीप एक श्वेत कुत्ता प्रकट हुआ । उसके पास दूसरे कुत्तोंने आकर कहा—‘भगवन् ! आप हमारे लिये अन्नका आगान कीजिये, हम निश्चय ही भूखे हैं’ ॥ २ ॥

स्वाध्यायेन तोषिता देवत-
र्षिर्वा श्वरूपं गृहीत्वा श्वा श्वेतः
संस्तस्मा ऋषये तदनुग्रहार्थं प्रादु-
र्वभूव प्रादुश्चकार । तमन्ये शुक्लं
श्वानं जुल्लकाः श्वान उपसमेत्यो-
चुरुक्तवन्तोऽन्नं नाऽस्मभ्यं भग-
वानागायत्वागानेन निष्पादय-
त्वित्यर्थः ।

मुख्यप्राणं वागादयो वा
प्राणमन्वन्नभुजः स्वाध्यायपरितो-
षिताः सन्तोऽनुगृहीयुरेनं श्वरूप-
मादायेति युक्तमेवं प्रतिपत्तुम् ।
अशनायाम वै बुभुक्षिताः स्मो
वा इति ॥ २ ॥

स्वाध्यायसे संतुष्ट हो उस ऋषिके निमित्त—उसपर अनुग्रह करनेके लिये [कोई] देवता या ऋषि श्वानरूप धारणकर श्वेत कुत्ता बनकर प्रकट हुआ । उस श्वेत कुत्तेसे दूसरे छोटे-छोटे कुत्तोंने समीप आकर कहा—‘भगवन् ! आप हमारे लिये अन्नका आगान कीजिये अर्थात् आगानके द्वारा अन्न प्रस्तुत कीजिये ।’

अथवा मुख्य प्राणसे वागादि गौण प्राणोंने इस तरह कहा, क्योंकि मुख्य प्राणके पीछे अन्न ग्रहण करनेवाले वागादिगौण प्राण उसके स्वाध्यायसे संतुष्ट हो श्वानरूप धारणकर उसपर अनुग्रह करें—ऐसा मानना उचित ही है। ‘अवश्य ही हमें अशन (भोजन) की इच्छा है अर्थात् हम निश्चय ही भूखे हैं’ ॥ २ ॥

तान्होवाचेहैव मा प्रातरुपसमीयातेति तद्ध वको
दाल्भ्यो ग्लावो वा सैत्रेयः प्रतिपालयाश्चकार ॥ ३ ॥

उनसे उस (श्वेत श्वान) ने कहा—‘तुम प्रातःकाल यही मेरे पास आना ।’ तब दाल्भ्य बक अथवा मैत्रेय ग्लाव उनकी प्रतीक्षा करता रहा ॥ ३ ॥

एवमुक्ते श्वः श्वेत उवाच ।

तान्नुल्लकाञ्शुन ईहवास्मिन्नेव

देशे मा मां प्रातः प्रातःकाल उप-

समीयातेति । दैर्घ्यं छान्दसं

समीयातेति प्रमादपाठो वा ।

प्रातःकालकरणं तत्काल एव

कर्तव्यार्थम् । अन्नदस्य वा

सवितुरपराद्धेऽनाभिमुख्यात् ।

तत्तत्रैव ह बको दाल्भ्यो

ग्लावो वा मैत्रेय ऋषिः प्रतिपा-

लयाञ्चकार प्रतीक्षणं कृतवा-

नित्यर्थः ॥ ३ ॥

ऐसा कहे जानेपर श्वेत कुत्तेने उन छोटे-छोटे कुत्तोसे कहा—‘तुम प्रातःकाल इसी स्थानपर मेरे पास आना । ‘समीयात’ इस क्रियापदमे दीर्घपाठ छान्दस है अथवा प्रमादके कारण है । प्रातःकालकी जो नियुक्ति की गयी है वह उसी समय उद्गानकी कर्तव्यता सूचित करनेके लिये अथवा मध्याह्नोत्तर कालमे अन्नदाता सूर्य उद्गाताके सम्मुख नही रहता—यह सूचित करनेके लिये है ।

तब दाल्भ्य बक अथवा मैत्रेय ग्लाव नामक ऋषि उसी स्थानपर ‘प्रतिपालयाञ्चकार’—प्रतीक्षा करता रहा—यह इसका तात्पर्य है ॥ ३ ॥

ते ह यथेवेह बहिष्पवमानेन स्तोप्यमाणाः स-
रवाः सर्पन्तीत्येवमासष्टपुस्तेह समुपविश्य हिं चक्रुः ॥ ४ ॥

उन कुत्तोने, जिस प्रकार कर्ममे बहिष्पवमान स्तोत्रसे स्तवन करने-वाले उद्गाता परस्पर मिलकर भ्रमण करते हैं उसी प्रकार भ्रमण किय और फिर वहाँ बैठकर हिकार करने लगे ॥ ४ ॥

ते श्वानस्तत्रैवागम्य ऋपेः
समर्चं यथैवेह कर्मणि वहिष्पवमा-
नेन स्तोत्रेण स्तोष्यमाणा उद्गातृ-
पुरुषाः संरब्धाः संलग्ना अन्यो-
न्यमेव मुखेनान्योन्यस्य पुच्छं
गृहीत्वा ससृपुरासृप्तवन्तः परि-
भ्रमणं कृतवन्त इत्यर्थः । त एवं
संसृप्त्य समुपविश्योपविष्टाः
सन्तो हि चक्रुर्हिकारं कृतवन्तः
॥ ४ ॥

उन कुत्तोंने वहाँ उस ऋषिके
सम्मुख आकर, जिस प्रकार कर्ममें
वहिष्पवमान स्तोत्रसे स्तवन करने-
वाले उद्गातालोग एक-दूसरेसे मिल-
कर चलते हैं उसी प्रकार मुँहसे
एक-दूसरेकी पूँछ पकड़कर सर्पण-
परिभ्रमण किया । उन्होंने इस
प्रकार परिभ्रमण कर फिर वहाँ
बैठकर हिकार किया ॥ ४ ॥

—:ॐ:—

कुत्तोंद्वारा किया हुआ हिकार

ओ ३ सदा ३ ओं ३ पिवा ३ ओं ३ देवो वरुणः
प्रजापतिः सविता २ न्नमिहा २ हरदन्नपते ३ ऽन्न-
मिहा २ हरा २ हरो ३ मिति ॥ ५ ॥

ॐ हम खाते हैं, ॐ हम पीते हैं, ॐ देवता, वरुण, प्रजापति,
सूर्यदेव यहाँ अन्न लावें । हे अन्नपते ! यहाँ अन्न लाओ, अन्न लाओ,
ॐ ॥ ५ ॥

ओमदामों पिवामों देवो द्यो-
तनात्, वरुणो वर्षणाजगतः,
प्रजापतिः पालनात्प्रजानाम्,
सविता प्रसवितृत्वात्सर्वस्यादित्य
उच्यते । एतैः पर्यायैः स एवं-
भूत आदित्योऽन्नमस्मभ्यमिहा-
हरदाहरत्त्विति ।

ॐ हम खाते हैं, ॐ हम पीते
हैं, ॐ । आदित्य ही द्योतनशील
होनेके कारण देव, जगत्की वर्षा
करनेके कारण वरुण, प्रजाओंका
पालन करनेसे प्रजापति तथा
सबका प्रसविता होनेके कारण
सविता कहा जाता है । इन
पर्यायोंके कारण ऐसे गुणोंवाले वे
आदित्य हमारे लिये यहाँ अन्न लावें ।

त एवं हिं कृत्वा पुनरप्युचुः-
 स त्वं हेऽन्नपते ! स हि सर्वस्या-
 न्नस्य प्रसवितृत्वात्पतिः । न हि
 तत्पाकेन विना प्रसृतमन्नमणु-
 मात्रमपि जायते प्राणिनाम् ।
 अतोऽन्नपतिः । हेऽन्नपतेऽन्नमस्म-
 म्यमिहाहराहरेति । अम्यास
 आदरार्थः । ओमिति ॥ ५ ॥

इस प्रकार हिंकार कर उन्होंने
 फिर भी कहा—‘वही तू हे अन्नपते !
 —सम्पूर्ण अन्नका उत्पत्तिकर्ता होनेके
 कारण वही अन्नपति है, क्योंकि
 उसके पाक विना उत्पन्न हो जानेपर
 भी प्राणियोंके लिये अणुमात्र भी
 अन्न उत्पन्न नहीं होता, अतः वह
 अन्नपति है—हे अन्नपते ! तू हमारे
 लिये यहाँ अन्न ला ।’ ‘आहर’ इस
 शब्दकी पुनरावृत्ति आदरके लिये
 है । ओमिति—[यह पद उपासनाकी
 समाप्ति सूचित करनेके लिये
 है] ॥ ५ ॥

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि प्रथमाध्याये
 द्वादशखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥१२॥



त्रयोदश खण्ड

सामावयवभूत स्तोभाक्षरसम्बन्धिनी उपासनाएँ

भक्तिविषयोपासनं सामा-
वयवसंबद्धमित्यतः सामावयवा-
न्तरस्तोभाक्षरविषयाण्युपासना-
न्तराणि संहतान्युपदिश्यन्ते-
ऽन्तरं सामावयवसंबद्धत्वावि-
शेषात्—

सामभक्ति-विषयक उपासना
सामावयवोंसे सम्बद्ध है। अतः
यहाँसे आगे सामके एक अवयवमात्र
स्तोभाक्षरविषयक अन्य संहत
उपासनाओंका वर्णन किया जाता
है, क्योंकि उनका भी सामावयव-
रूपसे [सामभक्तिके साथ] सम्बद्ध
होना समान ही है—

अयं वाव लोको हाउकारो वायुर्हाइकारश्चन्द्रमा
अथकारः । आत्मेहकारोऽग्निरीकारः ॥ १ ॥

यह लोक ही हाउकार है, वायु हाइकार है, चन्द्रमा अथकार है,
आत्मा इहकार है और अग्नि ईकार है ॥ १ ॥

अयं वावायमेव लोको हाउ-
कारः स्तोभो रथन्तरे साम्नि
प्रसिद्धः । 'इयंवै रथन्तरम्' इत्य-
स्मात्संबन्धसामान्याद्धाउकार-
स्तोभोऽयं लोक इत्येवमुपासीत् ।
वायुर्हाइकारः । वामदेव्ये सामनि
हाइकारः प्रसिद्धः । वाय्वप्सं-
बन्धश्च वामदेव्यस्य साम्नो योनि-

यह लोक ही रथन्तर साममें
प्रसिद्ध हाउकार स्तोभ है। 'यही
रथन्तर है' इस सम्बन्धसामान्यसे
हाउकार स्तोभ ही यह लोक है—इस
प्रकार उपासना करे। वायु हाइकार
है; वामदेव्य साममें हाइकार स्तोभ
प्रसिद्ध है। वायु और जलका
सम्बन्ध ही वामदेव्य सामका मूल

रिति । अस्मात् सामान्याद्धाइ-

कारं वायुदृष्ट्योपासीत ।

चन्द्रमा अथकारः । चन्द्र-

दृष्ट्याथकारमुपासीत । अन्ने हीदं

स्थितम् । अन्नात्मा चन्द्रः ।

अकाराकारसामान्याच्च । आत्मे-

हकारः । इहेति स्तोमः प्रत्यक्षो

ह्यात्मेहेति व्यपदिश्यते, इहेति

च स्तोमः, तत्सामान्यात् । अग्नि-

रीकारः । ईनिधनानि चाग्नेयानि

सर्वाणि सामानीत्यतस्तत्सामा-

न्यात् ॥ १ ॥

है । अतः इस समानताके कारण
हाइकार सामकी वायुदृष्टिसे उपासना
करनी चाहिये ।

चन्द्रमा अथकार है । अथकार-
की उपासना चन्द्रदृष्टिसे करनी
चाहिये, क्योंकि यह (चन्द्रमा)
अन्नमे ही स्थित है । चन्द्रमा अन्न-
स्वरूप ही है । अकार और अकारमे
समानता होनेके कारण भी [अन्न-
रूप चन्द्रमाकी अथकाररूपसे
उपासना करनी चाहिये] आत्मा
इहकार है, 'इह' यह [एक प्रकार-
का] स्तोम होता है । प्रत्यक्ष ही
आत्मा 'इह' ऐसा कहकर निर्देश
किया जाता है और 'इह' ऐसा
स्तोम भी होता है, अतः उसकी
समानताके कारण [आत्मा इहकार
है] । अग्नि ईकार है । सम्पूर्ण
आग्नेय साम 'ई' मे समाप्त होनेवाले
हैं । अतः उस सदृशताके कारण
अग्नि ईकार है ॥ १ ॥



आदित्य ऊकारो निहव एकारो विश्वे देवा औ-
होयिकारः प्रजापतिर्हिकारः प्राणः स्वरोऽन्नं या
वाग्विराट् ॥ २ ॥

आदित्य ऊकार है, निहव एकार है, विश्वेदेव औहोयिकार हैं,
प्रजापति हिकार है तथा प्राणस्वर है, अन्न या है एव विराट् वाक् है ॥ २ ॥

आदित्य ऊकारः । ऊच्चैरूर्ध्वं
सन्तमादित्यं गायन्तीत्यूकारश्चायं
स्तोमः । आदित्यदैवत्ये साम्नि
स्तोम ऊ इत्यादित्य ऊकारः ।
निहव इत्याह्वानमेकारः स्तोमः ।
एहीति चाह्वयन्तीति तत्सामा-
न्यात् । विश्वेदेवा औहोयिकारः ।
वैश्वदेव्ये साम्नि स्तोमस्य दर्श-
नात् । प्रजापतिर्हिकारः । आनि-
रुक्त्याद्धिकारस्य चाव्यक्तत्वात् ।

प्राणः स्वरः, स्वर इति
स्तोमः । प्राणस्य च स्वरहेतुत्व-
सामान्यात् । अन्नं या । या
इति स्तोमोऽन्नम् । अन्नेन हीदं
यातीत्यतस्तत्सामान्यात् । वा-
गिति स्तोमो विराडन्नं देवता-
विशेषो वा । वैराजे साम्नि स्तो-
मदर्शनात् ॥ २ ॥

आदित्य ऊकार है; ऊँचा अर्थात्
ऊपरकी ओर स्थित आदित्यका ही
[उद्गाता लोग] गान करते हैं, अतः
ऊकार ही यह स्तोम है । आदित्य
देवतासम्बन्धी साममें ऊ स्तोम है,
अतः आदित्य ऊकार है—[ऐसी
उपासना करे] । निहव आह्वानको
कहते हैं; वह एकार स्तोम है,
क्योंकि 'एहि' ऐसा कहकर लोग
पुकारा करते हैं, उस सादृश्यके
कारण [निहव एकार है] ।
विश्वेदेव औहोयिकार हैं, क्योंकि
वैश्वदेव्य साममें यह स्तोम देखा
जाता है । प्रजापति हिकार है,
क्योंकि उसका किसी प्रकार निर्वचन
नहीं किया जा सकता तथा हिकार
भी अव्यक्त ही है ।

प्राण स्वर है; 'स्वर' यह एक
प्रकारका स्तोम है । स्वरका कारण
होनेमें उससे प्राणकी सदृशता
होनेके कारण [प्राण स्वर है] । अन्न
या है । 'या' यह स्तोम अन्न है,
क्योंकि अन्नसे ही यह प्राणी यात्रा
करता है अतः उसकी समानता
होनेके कारण अन्न या है । 'वाक्'
यह स्तोम विराट्—अन्न अथवा
देवताविशेष है, क्योंकि वैराज
साममें वाक् स्तोम देखा जाता है ॥ २ ॥

अनिरुक्तस्त्रयोदशः स्तोमः संचरो हुंकारः ॥३॥

जिसका [विशेषरूपसे] निरूपण नहीं किया जाता और जो [कार्यरूपसे] संचर करनेवाला है वह तेरहवाँ स्तोम हुंकार है ॥ ३ ॥

अनिरुक्तोऽव्यक्तत्वादिदं चेदं | जो अव्यक्त होनेके कारण 'यह
चेति निर्वक्तुं न शक्यत | और यह' इस रूपसे निरूपित नहीं
इत्यतः संचरो विकल्प्यमान- किया जा सकता, इसलिये अनिरुक्त
स्वरूप इत्यर्थः। कोऽसौ? इत्याह- है और संचर अर्थात् विकल्प्यमान-
त्रयोदशः स्तोमो हुंकारः। हैं—वह तेरहवाँ स्तोम हुंकार है। वह
अव्यक्तो ह्ययमतोऽनिरुक्तविशेष- अव्यक्त ही है, अतः अनिरुक्तविशेष-
एवोपास्य इत्यभिप्रायः ॥ ३ ॥ | इसका अभिप्राय है ॥ ३ ॥

स्तोभाक्षरसम्बन्धिनी उपासनाश्लोका फल

स्तोभाक्षरोपासनाफलमाह— | अब स्तोभाक्षरोंकी उपासनाका
फल बतलाते हैं—

दुग्धेऽस्मै वाग्दोहं यो वाचो दोहोऽन्नवानन्नादो
भवति य एतामेव सास्त्रामुपनिषदं वेदोपनिषदं वेद ॥ ४ ॥

जो इस प्रकार इस सामसम्बन्धिनी उपनिषद्को जानता है उसे
वाणी, जो वाणीका फल है उस फलको देती है तथा वह अन्नवान् और
अन्न भक्षण करनेवाला होता है ॥ ४ ॥

दुग्धेऽस्मै वाग्दोहमित्याद्यु- | 'दुग्धेऽस्मै वाग्दोहम्' इत्यादि
वाक्यका अर्थ पहले (छा० १।३।
कार्यम्। य एतामेवं यथोक्त- ७ मे) कहा जा चुका है। जो-

लक्षणां साम्नां सामावयवस्तो-
 भाक्षरविषयामुपनिषदं दर्शनं वेद
 तस्यैतद्यथोक्तं फलमित्यर्थः ।
 द्विरभ्यासोऽध्यायपरिसमाप्त्यर्थः
 सामावयवविषयोपासनाविशेष-
 परिसमाप्त्यर्थो वेति ॥ ४ ॥

इस उपर्युक्त लक्षणविशिष्ट सामकी
 सामावयवभूत स्तोभाक्षरसम्बन्धिनी
 उपनिषद्को जानता है, उसे
 यह पूर्वोक्त फल मिलता है—ऐसा
 इसका तात्पर्य है । 'उपनिषदं
 वेद उपनिषदं वेद' यह पुनरुक्ति
 अध्यायकी समाप्ति सूचित करनेके
 लिये है । अथवा सामावयवविषयक
 उपासनाविशेषकी समाप्ति वतानेके
 लिये है ॥ ४ ॥

—:०:—

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि प्रथमाध्याये
 त्रयोदशखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥१३॥

—:ॐ:—

इति श्रीसद्गोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यपरमहंसपरिव्राजकाचार्य-
 श्रीमच्छंकरभगवत्पादकृतौ छान्दोग्योपनिषद्विवरणे
 प्रथमोऽध्यायः समाप्तः ॥ १ ॥



द्वितीय अध्याय

प्रथम खण्ड

— ०:—

साधुदृष्टिसे समस्त सामोपासना

ओमित्येतदक्षरमित्यादिना
सामावयवविषयमुपासनमनेक-
फलमुपदिष्टम् । अनन्तरं च स्तो-
भाक्षरविषयमुपासनमुक्तम् । सर्व-
थापि सामैकदेशसम्बद्धमेव तदि-
ति । अथेदानीं समस्ते साम्नि
समस्तसामविषयाण्युपासनानि
वक्ष्यामीत्यारभते श्रुतिः । युक्तं
ह्येकदेशोपासनानन्तरमेकदेशवि-
षयमुपासनमुच्यत इति ।

[प्रथम अध्यायमे स्थित] 'ओमित्ये-
तदक्षरम्' इत्यादि मन्त्रके द्वारा अनेक
फल देनेवाली सामावयवसम्बन्धिनी
उपासनाओंका उपदेश किया गया ।
उसके पश्चात् सामके अवयवभूत
स्तोभाक्षरविषयिणी उपासनाका
निरूपण हुआ । वह भी सर्वथा
सामके एकदेशसे ही सम्बन्ध रखती
है । इसके बाद अब मैं समस्त
साममे होनेवाली अर्थात् समस्त सामसे
सम्बन्ध रखनेवाली उपासनाओंका
वर्णन करूँगी—इस आशयसे श्रुति
आरम्भ करती है । एकदेश
[अर्थात् अवयव] से सम्बन्ध रखने-
वाली उपासनाके अनन्तर एकदेशी
(अवयवी) में सम्बद्ध उपासनाका
वर्णन किया जाता है—यह ठीक ही है ।

ॐ समस्तस्य खलु साम्न उपासनं साधु यत्खलु
साधु तत्सामेत्याचक्षते यदसाधु तदसामेति ॥१॥

ॐ समस्त सामकी उपासना साधु है । जो साधु होता है उसको साम कहते हैं और जो असाधु होता है वह असाम कहलाता है ॥ १ ॥

समस्तस्य सर्वावयवविशिष्टस्य
पाञ्चभक्तिकस्य सामभक्तिकस्य
चेत्यर्थः । खल्विति वाक्यालंका-
रार्थः साम्न उपासनं साधु ।
समस्ते साम्नि साधुदृष्टिविधिपर-
त्वान्न पूर्वोपासननिन्दार्थत्वं
साधुशब्दस्य ।

ननु पूर्वत्राविद्यमानं साधुत्वं

समस्ते साम्न्यभिधीयते, न;

साधु सामेत्युपास्त इत्युपसंहार-

रात् । साधुशब्दः शोभनवाची

कथमवगम्यते? इत्याह—यत्खलु

लोके साधु शोभनमनवद्यं प्रसिद्धं

तत्सामेत्याचक्षते कुशलाः । यद-

साधु विपरीतं तदसामेति ॥१॥

समस्त अर्थात् सम्पूर्ण अवयवोंसे
युक्त यानी पाञ्चभक्तिक और साम-
भक्तिक सामकी उपासना साधु है ।
'खलु' यह निपात वाक्यकी शोभा
वढ़ानेके लिये है । समस्त साममें
साधुदृष्टिका विधान करनेमें प्रवृत्त
होनेके कारण साधु शब्द पूर्व उपा-
सनाकी निन्दाके लिये नहीं है ।

यदि कहो कि पूर्व उपासनामें
न रहनेवाली ही साधुता समस्त
साममें बतलायी जाती है, तो ऐसा
कहना ठीक नहीं; क्योंकि [पूर्वोक्त
उपासनाका] 'साम साधु है इस प्रकार
उपासना करे' ऐसा कहकर उपसंहार
किया है । 'साधु' शब्द शोभन अर्थका
बोधक है—यह कैसे जाना जाता
है ? इसपर कहते हैं—लोकमें जो
वस्तु साधु—शोभन अर्थात् निर्दोष-
रूपसे प्रसिद्ध है उसको निपुणजन
'साम' ऐसा कहकर पुकारते हैं ।
तथा जो असाधु यानी विपरीत
होती है, उसको असाम कहते हैं ॥१॥

तदुत्ताप्याहुः साम्नेनमुपागादिति साधुनैनमुपागा-
दित्येव तदाहुरसाम्नेनमुपागादित्यसाधुनैनमुपागादि-
त्येव तदाहुः ॥ २ ॥

इसी विषयमें कहते हैं—[जब कहा जाय कि अमुक पुरुष] इस [राजा आदि] के पास नामद्वारा गया तो [ऐसा कहकर] लोग यही कहते हैं कि वह इसके पास साधुभावसे गया और [जब यो कहा जाय कि] वह इसके पास असामद्वारा गया तो [इससे] लोग यही कहते हैं कि वह इसके यहाँ असाधुभावसे प्राप्त हुआ ॥ २ ॥

तत्तत्रैव साध्वसाधुविवेक-
करण उताप्याहुः । साम्नेनं
राजानं सामन्तं चोपागादुपगत-
वान् । कोऽसौ ? यतोऽसाधुत्व-
प्राप्त्याशङ्का स इत्यभिप्रायः ।
शोभनाभिप्रायेण साधुनैनमुपा-
गादित्येव तत्तत्राहुर्लौकिका
बन्धनाद्यसाधुकार्यमपश्यन्तः ।
यत्र पुनर्धिर्पर्ययो बन्धनाद्यसाधु-
कार्यं पश्यन्ति तत्रासाम्नेनमुपा-
गादित्यसाधुनैनमुपागादित्येव
तदाहुः ॥ २ ॥

वहाँ—उस साधु-असाधुका विवेक करनेमें ही कहते हैं कि [जब यह कहा जाता है कि] इस राजा अथवा सामन्तके पास सामरूपसे गया—कौन गया ? जिससे कि असाधुत्वकी प्राप्ति की आशङ्का थी वह—ऐसा इसका तात्पर्य है—तो उसके बन्धन आदि असाधु कार्यके न देखनेवाले लौकिक पुरुष यही कहते हैं कि वह उस [राजा या सामन्त] के पास शोभन अभिप्रायसे साधुभावसे गया । और जहाँ इसके विपरीत बन्धन आदि असाधु-कार्य देखते हैं वहाँ वे ऐसा ही कहते हैं कि वह इसके पास असाम—असाधुत्वसे गया ॥ २ ॥

अथोताप्याहुः साम नो वतेति यत्साधु भवति
साधु वतेत्येव तदाहुरसाम नो वतेति यदसाधु भवत्य-
साधु वतेत्येव तदाहुः ॥ ३ ॥

इसके अनन्तर ऐसा भी कहते हैं कि हमारा साम (शुभ हुआ) ।
अर्थात् जब शुभ होता है तो 'अहा ! बड़ा अच्छा हुआ' ऐसा कहते हैं;
और ऐसा भी कहते हैं—'हमारा असाम हुआ' अर्थात् जब अशुभ होता
है तो 'ओह ! बुरा हुआ !' ऐसा कहते हैं ॥ ३ ॥

अथोताप्याहुः स्वसंवेद्यं साम
नोऽस्माकं वतेत्यनुकम्पयन्तः संवृ-
त्तमित्याहुः । एतत्तैरुक्तं भवति
यत् साधु भवति साधु
वतेत्येव तदाहुः । विपर्यये
जातेऽसाम नो वतेति । यदसाधु
भवत्यसाधु वतेत्येव तदाहुः ।
तस्मात्सामसाधुशब्दयोरेकार्थत्वं
सिद्धम् ॥ ३ ॥

इसके अनन्तर ऐसा भी कहते हैं
कि 'अहा ! वह स्वयं ही अनुभव
करने योग्य साम हमें प्राप्त हो गया
है ।' 'वत' इस निपातका आशय
यह है कि वे अनुकम्पा करते हुए
कहते हैं । अर्थात् उनके द्वारा यह
प्रतिपादित होता है कि जो साधु होता
है वही 'अहा ! यह साधु है' ऐसा
कहा जाता है तथा विपरीत होनेपर
'ओह ! हमारे लिये यह असाम है'
ऐसा कहते हैं । जो असाधु होता
है वही 'ओह ! यह असाधु (बुरा)
है' ऐसा कहा जाता है । इससे साम
और साधु शब्दोंकी एकार्थता
सिद्ध होती है ॥ ३ ॥

—: * :—

स य एतदेवं विद्वान्साधु सामेत्युपास्तेऽभ्याशो ह
यदेन साधवो धर्मा आ च गच्छेयुरूप च नमेयुः ॥ ४ ॥

इसे ऐसे जाननेवाला जो पुरुष 'साम साधु है' इस प्रकार उपासना
करता है उसके पास, जो साधु धर्म हैं वे शीघ्र ही आ जाते हैं और
उसके प्रति विनम्र हो जाते हैं ॥ ४ ॥

अतः स यः कश्चित्साधु
सामेति साधुगुणवत्सामेत्युपास्ते
समस्तं साम साधुगुणवद्विद्वांस्त-
स्यैतत्फलम् अभ्याशो ह क्षिप्रं ह,
यदिति क्रियाविशेषणार्थम्, एन-
मुपासकं साधवः शोभना धर्माः
श्रुतिस्मृत्यविरुद्धा आ च गच्छे-
युरागच्छेयुश्च । न केवलमागच्छे-
युरूप च नमेयुरूपनमेयुश्च भोग्य-
त्वेनोपतिष्ठेयुरित्यर्थः ॥ ४ ॥

अतः वह जो कोई पुरुष साम
साधु है यानी साम साधुगुणविशिष्ट
है—ऐसी उपासना करता है अर्थात्
समस्त सामको साधु गुणवाला
जानता है उसे यह फल मिलता
है, इस उपासकको जो श्रुति-
स्मृतिसे अविरुद्ध शुभ धर्म हैं, वे
अभ्यास अर्थात् शौघ ही प्राप्त हो
जाते हैं । यहां जो 'यत्' पद है
वह क्रियाविशेषणके लिये है । केवल
प्राप्त ही नहीं होते उसके प्रति
विनम्र भी हो जाते हैं, अर्थात्
भोग्यरूपसे उपस्थित हो जाते हैं । ४।

—०—

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि द्वितीयाध्याये
प्रथमखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥ ४ ॥



द्वितीय खण्ड

—:०:—

लोकविषयक पाँच प्रकारकी सामोपासना

कानि पुनस्तानि साधुदृष्टि-
विशिष्टानि समस्तानि सामान्यु-
पास्यानि? इति, इमानि तान्युच्यन्ते
लोकेषु पञ्चविधमित्यादीनि ।

फिर वे साधुदृष्टिविशिष्ट उपासना
करने योग्य समस्त साम कौन-से हैं?
ऐसी आशङ्का होनेपर कहते हैं—वे
'लोकेषु पञ्चविधम्' इत्यादि मन्त्रों-
द्वारा इस प्रकार बतलाये जाते हैं—

लोकेषु पञ्चविधं सामोपासीत पृथिवी हिंकारः ।
अग्निः प्रस्तावोऽन्तरिक्षमुद्गीथ आदित्यः प्रतिहारो
द्यौर्निधनमित्यूध्वेषु ॥ १ ॥

ऊपरके लोकोंमें निम्नाङ्कितरूपसे पाँच प्रकारके सामकी उपासना
करनी चाहिये । पृथिवी हिंकार है, अग्नि प्रस्ताव है, अन्तरिक्ष उद्गीथ है,
आदित्य प्रतिहार है और द्युलोक निधन है ॥ १ ॥

ननु लोकादिदृष्ट्या तान्युपा-
साम्नि द्विधा दृष्टौ स्यानि साधुदृष्ट्या
विरोधोद्भावनम् चेति विरुद्धम् ।

शंका—किंतु उन समस्त सामोंकी
लोकादिदृष्टिसे तथा साधुदृष्टिसे भी
उपासना करनी चाहिये—ऐसा
कहना तो परस्पर विरुद्ध है?

न, साध्वर्थस्य लोकादिकार्येषु
कारणस्यानुगतत्वा-
विरोधपरिहारः

त, मृदादिवद्घ-
टादिविकारेषु । साधुशब्दवा-
च्योऽर्थो धर्मो ब्रह्म वा सर्वथापि
लोकादिकार्येष्वनुगतम् । अतो

समाधान—ऐसी बात नहीं है,
क्योंकि जिस प्रकार मृत्तिका आदि
अपने विकार घटादिमें अनुगत होते
हैं उसी प्रकार [सबका] कारण-
भूत साधु पदार्थ लोकादि कार्यवर्गमें
अनुगत है । साधुशब्दका वाच्यार्थ धर्म
अथवा ब्रह्म सभी प्रकारसे लोकादि
कार्यवर्गमें व्याप्त है । अतः जिस

यथा यत्र घटादिदृष्टिर्मुदादिदृष्ट्यनुगतैव सा, तथा साधुदृष्ट्यनुगतैव लोकादिदृष्टिः, धर्मादिकार्यत्वाल्लोकादीनाम् । यद्यपि कारणत्वमविशिष्टं ब्रह्मधर्मयोः, तथापि धर्म एव साधुशब्दवाच्य इति युक्तम्, साधुकारी साधुर्भवतीति धर्मविषये साधु शब्दप्रयोगात् ।

ननु लोकादिकार्येषु कारणलोकादिषु दृष्ट्यनुगतादित्वादर्थानुशासनवैयर्थ्यात् नैव तद्दृष्टिरिति शङ्का 'साधु सामेत्युपास्ते' इति न वक्तव्यम् ।

न, शास्त्रगम्यत्वात्तद् दृष्टेः । तद्विरसनम् सर्वत्र हि शास्त्रप्रापिता एव धर्मा उपास्या न विद्यमाना अप्यशास्त्रीयाः ।

लोकेषु पृथिव्यादिषु पञ्चविधं पञ्चभक्तिभेदेन पञ्चप्रकारं साधु समस्तं सामोपासीत । कथम् ? पृथिवी हिंकारः । लोकेष्विति या सप्तमी तां प्रथ-

प्रकार जहाँ घटादिदृष्टि होती है वहाँ वह भुक्तिकादिदृष्टिसे अनुगत ही होती है, उसी प्रकार लोकादिदृष्टि भी साधुदृष्टिसे अनुगत ही होती है; क्योंकि ये लोकादि धर्मादिके कार्य ही होते हैं । यद्यपि ब्रह्म और धर्मका प्रपञ्चकारणत्व तो समान है तो भी 'साधु' शब्दका वाच्य धर्म ही है—ऐसा मानना ठीक है; क्योंकि 'साधु करनेवाला साधु होता है' इस प्रकार—धर्मके विषयमें ही 'साधु' शब्दका प्रयोग किया गया है ।

शंका—लोकादि कार्योंमें उनका कारण अनुगत होनेके कारण उसमें साधुदृष्टि होना तो स्वतः सिद्ध है । ऐसी अवस्थामें 'साम साधु है इस प्रकार उपासना करता है' यह नहीं कहना चाहिये था ।

समाधान—नहीं, क्योंकि वह दृष्टि शास्त्रसे ही प्राप्त हो सकती है । सभी जगह शास्त्रविहित धर्म ही उपासनीय होते हैं, अशास्त्रीय धर्म विद्यमान रहनेपर भी उपासनीय नहीं होते ।

पृथिवी आदि लोकोमें पञ्चविध—पाँच प्रकारकी भक्तिके भेदसे पाँच प्रकारके साधुगुणविशिष्ट समस्त सामकी उपासना करनी चाहिये । सो किस प्रकार ? [यह बतलाते हैं—] पृथिवी हिंकार है । 'लोकेषु' इस पदमें जो सप्तमी विभक्ति है उसे प्रथमा

मात्वेन विपरिणामस्य पृथिवीदृ-
ष्ट्या हिंकारे पृथिवी हिंकार
इत्युपासीत । व्यत्यस्य वा सप्त-
मीश्रुतिं लोकविषयां हिंकारादिषु
पृथिव्यादिदृष्टिं कृत्वोपासीत ।

तत्र पृथिवी हिंकारः, प्राथम्य-
सामान्यात् । अग्निः प्रस्तावः,
अग्नौ हि कर्माणि प्रस्तूयन्ते;
प्रस्तावश्च भक्तिः । अन्तरिक्षमु-
द्गीथः, अन्तरिक्षं हि गगनम्,
गकारविशिष्टश्चोद्गीथः । आदित्यः
प्रतिहारः, प्रतिप्राण्यभिमुख-
त्वान्मां प्रति मां प्रतीति । द्यौ-
निधनम्, दिवि निधीयन्ते हीतो

विभक्तिके रूपसे* परिणत कर
हिंकारमें पृथिवी-दृष्टिद्वारा अर्थात्
'पृथिवी हिंकार है' इस प्रकार उपा-
सना करे । अथवा 'लोकेषु' इस पद-
की सप्तमी-श्रुतिको हिंकारादिमें करके
और वहाँकी कर्मविभक्ति लोक
शब्दमें कर हिंकारादिमें पृथिवी
आदि दृष्टि करके उपासना करे ।†

उनमें पृथिवी हिंकार है, क्योंकि
उन दोनोंमें 'प्रथमता' यह समान गुण
है । अग्नि प्रस्ताव है, क्योंकि अग्निमें
ही कर्मोंका प्रस्ताव किया जाता है और
प्रस्ताव भी एक प्रकारकी सामभक्ति
है । अन्तरिक्ष उद्गीथ है । अन्तरिक्ष
गगन (आकाश) को कहते हैं और
उद्गीथ भी गकारविशिष्ट है [इसलिये
उन दोनोंमें सादृश्य है] । आदित्य प्रति-
हार है, क्योंकि वह प्रत्येक प्राणीके अभि-
मुख है । सब लोग यह अनुभव करते
हैं कि वह 'मां प्रति, मां प्रति—मेरे
सम्मुख है, मेरे सम्मुख है ।' तथा द्यौ
निधन है, क्योंकि यहाँसे [मरकर]

* प्रथमान्तरूपसे परिणत करनेपर वाक्यका स्वरूप यों होगा—'लोकाः पञ्चविधं समेत्युपासीत ।' भाव यह कि 'पृथिवी आदि लोक पाँच प्रकारके साम हैं' इस प्रकार उपासना करे । इसीलिये आगे 'पृथिवी हिंकारः' इत्यादिमें पृथिवी आदि शब्दोंमें सप्तमी विभक्तिका प्रयोग न करके प्रथमाका ही प्रयोग हुआ है ।

† अर्थात् 'लोकेषु पञ्चविधं सामोपासीत' इस वाक्यके अन्तर्गत 'लोकेषु' इस पदमें जो सप्तमी विभक्ति है उसे पञ्चविध साम एवं उसके द्वारा प्रतिपाद्य हिंकार आदिमें ले जाय और 'पञ्चविधं साम' में जो द्वितीया विभक्ति है उसे लोक-पदमें ले जाय, इस दशामें वाक्यका स्वरूप ऐसा होगा—'पञ्चविधे साम्नि लोकम् (लोकदृष्टि कृत्वा) उपासीत' । इसीका फलितार्थ बतलाते हुए भाष्यकार लिखते हैं—'हिंकारादिषु पृथिव्यादिदृष्टि कृत्वोपासीत' ।

गता इत्यूर्ध्वेपूर्वगत्ये लोके-

दृष्ट्या सामोपासनम् ॥ १ ॥

जानेवाले लोग द्युलोकमें रखे जाते हैं । इस प्रकार उत्तरोत्तर ऊर्ध्वगत-ऊपरके लोकोमें लोकदृष्टिसे की जानेवाली उपासना बतलायी गयी ॥१॥

—:०—

आवृत्तिकालिक अधोमुख लोकोमें पञ्चविध सामोपासना

अथावृत्तेषु द्यौर्हिकार आदित्यः प्रस्तावोऽन्तरिक्ष-
मुद्गीथोऽग्निः प्रतिहारः पृथिवी निधनम् ॥ २ ॥

अब अधोमुख लोकोमें सामोपासनाका निरूपण किया जाता है—
द्युलोक हिकार है, आदित्य प्रस्ताव है, अन्तरिक्ष उद्गीथ है, अग्नि प्रतिहार है और पृथिवी निधन है ॥ २ ॥

अथावृत्तेष्ववाङ्मुखेषु पञ्च-
विधमुच्यते सामोपासनम् ।

गत्यागतिविशिष्टा हि लोकाः ।

यथा ते, तथादृष्ट्यैव सामोपासनं

विधीयते यतः, अत आवृत्तेषु

लोकेषु द्यौर्हिकारः प्राथम्यात् ।

आदित्यः प्रस्तावः, उदिते ह्यादित्ये

प्रस्तूयन्ते कर्माणि प्राणिनाम् ।

अन्तरिक्षमुद्गीथः पूर्ववत् । अग्निः

प्रतिहारः, प्राणिभिः प्रतिहरणा-

अब आवृत्त अर्थात् पुनरावृत्तिके समय अधोमुख लोकोमें पाँच प्रकारकी सामोपासनाका निरूपण किया जाता है, क्योंकि ये लोक गमन और आगमन [दोनों प्रकारकी वृत्तियों] से युक्त हैं । गमन और आगमन-कालमें जिस प्रकार वे स्थित हैं उसी दृष्टिसे उनमें सामोपासनाका विधान किया जाता है, इसलिये आगमनकालमें उन अधोमुख लोकोमें प्रथम होनेके कारण द्युलोक हिकार है, आदित्य प्रस्ताव है, क्योंकि सूर्यके उदित होनेपर ही प्राणियोंके कर्म प्रस्तुत होते हैं; तथा पहलेहीके समान अन्तरिक्ष उद्गीथ है; अग्नि प्रतिहार है, क्योंकि प्राणियोंद्वारा उसका प्रतिहरण (एक

दग्नेः । पृथिवी निधनम्, तत् स्थानसे दूसरे स्थानपर ले जाना)
 आगतानामिह निधनात् ॥२॥ क्योंकि वहाँसे आये हुए प्राणियोंको
 इसीमें रक्खा जाता है ॥ २ ॥

—:~:—

उपासनफलम्—

उपासनाका फल—

कल्पन्ते हास्मै लोका ऊर्ध्वाश्चावृत्ताश्च य एतदेवं
 विद्वाँल्लोकेषु पञ्चविधं सामोपास्ते ॥ ३ ॥

जो इसे इस प्रकार जाननेवाला पुरुष लोकोंमें पञ्चविध सामकी
 उपासना करता है उसके प्रति ऊर्ध्व और अधोमुख लोक भोग्यरूपसे
 उपस्थित होते हैं ॥ ३ ॥

कल्पन्ते समर्था भवन्ति हास्मै
 लोका ऊर्ध्वाश्चावृत्ताश्च गत्या-
 गतिविशिष्टा भोग्यत्वेन व्य-
 तिष्ठन्त इत्यर्थः । य एतदेवं
 विद्वाँल्लोकेषु पञ्चविधं समस्तं
 साधु सामेत्युपास्ते; इति सर्वत्र
 योजना पञ्चविधे सप्तविधे
 च ॥ ३ ॥

कल्प—समर्थ होते हैं (भोग्यरूप-
 से प्राप्त होते हैं) अर्थात् उसके प्रति
 गमनागमन कालकी स्थितिसे युक्त
 ऊर्ध्व एवं अधोमुख लोक भोग्यरूपसे
 उपस्थित होते हैं । [किसके प्रति ?]
 जो इसे इस प्रकार जाननेवाला पुरुष
 'लोकोंमें पाँच प्रकारका समस्त साम
 साधु गुणविशिष्ट है' इस प्रकार
 उपासना करता है । इसी प्रकार
 पञ्चविध और सप्तविध सामकी
 उपासनामें भी सर्वत्र इस वाक्यकी
 योजना करनी चाहिये ॥ ३ ॥

—:~:—

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि द्वितीयाध्याये
 द्वितीयखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥ २ ॥

—:~:—

तृतीय खण्ड

— ❀ —

वृष्टिविषयक पाँच प्रकारकी सामोपासना

वृष्टौ पञ्चविधः सामोपासीतपुरोवातो हिंकारो
मेघो जायते स प्रस्तावो वर्षति स उद्गीथो विद्योतते
स्तनयति स प्रतिहारः ॥ १ ॥

वृष्टिमे पाँच प्रकारके सामकी उपासना करे। पूर्वीय वायु हिंकार है
मेघ जो उत्पन्न होता है—वह प्रस्ताव है, जो बरसता है वह उद्गीथ है, जो
चमकता और गर्जना करता है वह प्रतिहार है ॥ १ ॥

वृष्टौ पञ्चविधं सामोपासीत;
लोकस्थितेवृष्टिनिमित्तत्वादानन्त-
र्यम् । पुरोवातो हिंकारः, पुरो-
वाताद्युद्ग्रहणान्ता हि वृष्टिः;
यथा साम हिंकारादिनिधनान्तम्,
अतः पुरोवातो हिंकारः प्राथ-
म्यात् । मेघो जायते स प्रस्तावः,
ग्रावृषि मेघजनने वृष्टेः प्रस्ताव
इति हि प्रसिद्धिः । वर्षति स
उद्गीथः श्रैष्ठ्यात् । विद्योतते

वृष्टिमे पाँच प्रकारके सामकी
उपासना करे। लोकोंकी स्थिति
वृष्टिके कारण होनेसे इसका लोक-
सम्बन्धिनी उपासनाके अनन्तर
निरूपण किया गया है।
पूर्वीय वायु हिंकार है। पूर्वीय वायुसे
लेकर जलग्रहणपर्यन्त वृष्टिकही जाती
है, जिस प्रकार कि हिंकारसे लेकर
निधनपर्यन्त साम कहा जाता है।
अतः प्रथम होनेके कारण पूर्वीय
वायु हिंकार है। मेघ जो उत्पन्न होता
है वह प्रस्ताव है, वर्षा ऋतुमे मेघके
उत्पन्न होनेपर ही वृष्टि प्रस्तुत होती
है—यह प्रसिद्ध ही है। मेघ जो बरसता
है वही श्रैष्ठ्याके कारण उद्गीथ है;
तथा जो विजली चमकती और

स्तनयति स प्रतिहारः, प्रतिहृत- | कड़कती है—वही प्रतिहृत होने
(इधर-उधर फैलने) के कारण
त्वात् ॥ १ ॥ प्रतिहार है ॥ १ ॥

—:❧:—

उद्गृह्णाति तन्निधनं वर्षति हास्मै वर्षयति ह य
एतदेवं विद्वान्वृष्टौ पञ्चविधं सामोपास्ते ॥ २ ॥

मेघ जो जल ग्रहण करता है—यह निधन है। जो इसे
इस प्रकार जाननेवाला पुरुष वृष्टिमें पाँच प्रकारके सामकी
उपासना करता है उसके लिये वर्षा होती है और वह [स्वयं भी] वर्षा
करा लेता है ॥ २ ॥

उद्गृह्णाति तन्निधनम्, [वादल] जो जल ग्रहण करता
है यह निधन है, क्योंकि समाप्तिमें
समाप्तिसामान्यात् । फलमुपा- इन दोनोंकी समानता है [अर्थात्
जनस्य-वर्षति हास्मा इच्छातः । जलग्रहण और निधन दोनों
अन्तिम कार्य हैं] । अब इस उपा- सनाका फल बतलाते हैं—उसके
इच्छानुसार मेघ वर्षा करता है, तथा वृष्टिके न होनेपर भी वह वर्षा
करा लेता है । 'य एतदेवम्' इत्यादि शेष वाक्यका अर्थ पूर्ववत् समझना
चाहिये ॥ २ ॥

—:❧:—

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि द्वितीयाध्याये
तृतीयखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥ ३ ॥



चतुर्थ खण्ड

—:ॐ:—

जलविषयक पाँच प्रकारकी सामोपासना

सर्वास्वप्सु पञ्चविधं सामोपासीत मेघो यत्संप्लवते
स हिंकारो यद्वर्पति स प्रस्तावो याः प्राच्यः स्यन्दन्ते स
उद्गीथो याः प्रतीच्यः स प्रतिहारः समुद्रो निधनम् ॥१॥

सब प्रकारके जलोमे पाँच प्रकारके सामकी उपासना करे । मेघ जो घनीभावको प्राप्त होता है—वह हिंकार है, वह जो बरसता है—वह प्रस्ताव है, [नदियाँ] जो पूर्वकी ओर बहती हैं, वह उद्गीथ है तथा जो पश्चिमकी ओर बहती हैं वह प्रतिहार है और समुद्र निधन है ॥१॥

सर्वास्वप्सु पञ्चविधं सामो-
पासीत । वृष्टिपूर्वकत्वात्सर्वासा-
मपामानन्तर्यम् । मेघो यत्संप्ल-
वत एकीभावेनेतरेतरं घनीभवति
मेघो यदा उन्नतस्तदा संप्लवत
इत्युच्यते । तदापामारम्भः
स हिंकारः । यद्वर्पति स प्रस्तावः,

सब प्रकारके जलोमे पाँच
प्रकारके सामकी उपासना करे ।
सम्पूर्ण जल वृष्टिपूर्वक ही होते हैं
इसलिये वृष्टिविषयक उपासनाके
बाद जलविषयक उपासनाका
निरूपण किया गया है । मेघ जो
समवन करता है अर्थात् परस्पर एक
होकर घनीभूत होता है ['समवते' का
'घनीभूत होता है' अर्थ इसलिये
किया गया है कि] जब मेघ ऊँचा
होता है उस समय वह समवन
करता है—ऐसा कहा जाता है ।
उस घनीभूत होनेके ही समय
जलोका प्रारम्भ होता है; अतः
समवन ही हिंकार है । वह जो

आपः सर्वतो व्याप्तुं प्रस्तुताः ।

याः प्राच्यः स्यन्दन्ते स उद्गीथः,

श्रैष्ठ्यात् । याः प्रतीच्यः स

प्रतिहारः प्रतिशब्दसामान्यात् ।

समुद्रो निधनम्, तन्निधनत्वा-

दपास् ॥ १ ॥

वरसता है उसीको प्रस्ताव कहा जाता है, क्योंकि उसी समय जल-का सर्वत्र प्रसार आरम्भ होता है । जो जल [गङ्गादि नदियोंके रूपमें] पूर्वकी ओर वहते हैं वे उत्कृष्ट होनेके कारण उद्गीथ और जो प्रतीची (पश्चिम) की ओर वहते हैं वे 'प्रति' शब्दमें समान होनेके कारण प्रतिहार कहे जाते हैं तथा समुद्र निधन है, क्योंकि उसीमें जलोंका संचय होता है ॥ १ ॥

—: * :—

न हाप्सु प्रेत्यप्सुमान्भवति य एतदेवं विद्वान्सर्वा-
स्वप्सु पञ्चविधं सामोपास्ते ॥ २ ॥

जो इसे इस प्रकार जाननेवाला पुरुष सब प्रकारके जलोंमें पञ्चविध सामकी उपासना करता है वह जलमें नहीं मरता और जलसे सम्पन्न होता है ॥ २ ॥

न हाप्सु प्रैति, नेच्छति

चेत् । अप्सुमान्मान्भवति

फलम् ॥ २ ॥

यदि वह इच्छा न करे तो जलमें मृत्युको प्राप्त नहीं होता तथा वह अप्सुमान् अर्थात् [इच्छानुकूल] जलसे सम्पन्न होता है—यह इस (उपासना) का फल है ॥ २ ॥

—: ० :—

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि द्वितीयाध्याये
चतुर्थखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥ ४ ॥

—: ० :—

पञ्चम खण्ड

ऋतुविषयक पाँच प्रकारकी सामोपासना

ऋतुषु पञ्चविधं सामोपासीत वसन्तो हिंकारो
ग्रीष्मः प्रस्तावो वर्षा उद्गीथः शरत्प्रतिहारो हेमन्तो
निधनम् ॥ १ ॥

ऋतुओंमें पाँच प्रकारके सामकी उपासना करे। वसन्त हिंकार है,
ग्रीष्म प्रस्ताव है, वर्षा उद्गीथ है, शरत् प्रतिहार है और हेमन्त
निधन है ॥ १ ॥

ऋतुषु पञ्चविधं सामोपासीत।

ऋतुव्यवस्थाया यथोक्ताम्बुनि-

मित्तत्वादानन्तर्यम्। वसन्तो

हिंकारः, प्राथम्यात्। ग्रीष्मः

प्रस्तावः, यवादिसंग्रहः प्रस्तूयते

हि प्रावृद्धर्थम्। वर्षा उद्गीथः,

प्राधान्यात्। शरत्प्रतिहारः,

रोगिणां मृतानां च प्रतिहरणात्।

हेमन्तो निधनम्, निवाते निध-

नात्प्राणिनाम् ॥ १ ॥

ऋतुओंमें पाँच प्रकारके सामकी

उपासना करे। ऋतुओंकी व्यवस्था

पूर्वोक्त जलरूप निमित्तसे ही होती

है, इस कारण यह ऋतुविषयक सामो-

पासना उसके बाद कही गयी है

[उनमें] सबसे पहला होनेके कारण

वसन्त हिंकार है। ग्रीष्म प्रस्ताव है,

क्योंकि [इसी समय] वर्षाऋतुके

लिये जौ आदि अन्नोके संग्रहका

प्रस्ताव किया जाता है। प्रधानताके

कारण वर्षा उद्गीथ है। रोगी और

मृत प्राणियोंका प्रतिहरण करनेके

कारण शरद्दुत्प्रतिहार (एक जगह-

से दूसरे स्थानपर ले जाना) है तथा

वायुके अभावमें प्राणियोंका निधन

होनेके कारण हेमन्तऋतु निधन

है ॥ १ ॥

फलम्—

| इस उपासनाका फल—

कल्पन्ते हास्मा ऋतव ऋतुमान्भवति य एतदेवं
विद्वानृतुषु पञ्चविधं सामोपास्ते ॥ २ ॥

जो इसे इस प्रकार जाननेवाला पुरुष ऋतुओंमें पाँच प्रकारके
सामकी उपासना करता है उसे ऋतुएँ अपने अनुरूप भोग देती हैं और
वह ऋतुमान् (ऋतुसम्बन्धी भोगोंसे सम्पन्न) होता है ॥ २ ॥

कल्पन्ते ह ऋतुव्यवस्था-
नुरूपं भोग्यत्वेनास्मा उपा-
सकायतवः । ऋतुमानातवैर्भोगैश्च
संपन्नो भवतीत्यर्थः ॥ २ ॥

इस उपासनाके लिये ऋतुएँ अपने
कालकी व्यवस्थाके अनुरूप फल
भोग्य-रूपसे उपस्थित करनेमें समर्थ
होती हैं और वह ऋतुमान् होता है,
अर्थात् ऋतु-सम्बन्धी भोगोंसे सम्पन्न
होता है ॥ २ ॥

—: ० :—

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि द्वितीयाध्याये
पञ्चमखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥ ५ ॥



षष्ठ खण्ड

—❀❀—

पशुविषयक पाँच प्रकारकी सामोपासना ।

**पशुषु पञ्चविधं सामोपासीताजा हिंकारोऽवयः
प्रस्तावो गाव उद्गीथोऽश्वाः प्रतिहारः पुरुषो निघनम् ॥ १ ॥**

पशुओमे पाँच प्रकारके सामकी उपासना करे । बकरे हिंकार हैं, भेडे प्रस्ताव हैं, गौएँ उद्गीथ हैं, अश्व प्रतिहार हैं और पुरुष निघन है ॥ १ ॥

॥ पशुषु पञ्चविधं सामोपासीत ।

सम्यग्धृत्तेष्वृतुषु पशव्यः काल

इत्यानन्तर्यम् । अजा हिंकारः,

प्राधान्यात्प्राथम्याद्वा, “अजः

पशूनां प्रथमः” इति श्रुतेः ।

अवयः प्रस्तावः, साहचर्यदर्श-

नादजावीनाम्, गाव उद्गीथः,

श्रैष्ठ्यात् । अश्वाः प्रतिहारः,

प्रतिहरणात्पुरुषाणाम् । पुरुषो

निघनम्, पुरुषाश्रयत्वात्पशू-

नाम् ॥ १ ॥

पशुओमें पाँच प्रकारके सामकी उपासना करे । ऋतुओके ठीक-ठीक वरतनेसे पशुओके लिये अनुकूल समय रहता है इसलिये यह उपासना उसके पीछे कही गयी है । सबमें प्रधान होनेके कारण अथवा “पशुओमे सर्वप्रथम बकरा है” इस श्रुतिके अनुसार सबसे पहले होनेके कारण बकरे हिंकार हैं । बकरे और भेडोका साहचर्य देखा जानेसे भेडे प्रस्ताव हैं । सर्वश्रेष्ठ होनेके कारण गौएँ उद्गीथ हैं । पुरुषोका प्रतिहरण (बहन) करनेके कारण घोडे प्रतिहार हैं तथा पशुवर्ग पुरुषके आश्रित हैं, अतः पुरुष निघन है ॥ १ ॥

—❀❀—

फलम्—

इस उपासनाका फल—

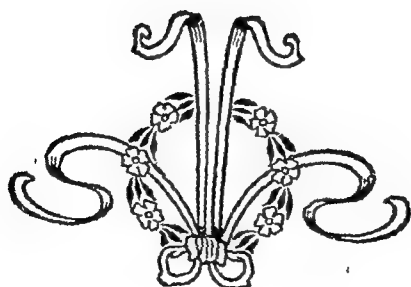
भवन्ति हास्य पशवः पशुमान्भवति य एतदेवं
विद्वान्पशुषु पञ्चविधं सामोपास्ते ॥ २ ॥

जो इस प्रकार जाननेवाला पुरुष पशुओंमें पञ्चविध सामकी उपासना करता है उसे पशु प्राप्त होते हैं और वह पशुधनसे सम्पन्न होता है ॥ २ ॥

<p>भवन्ति हास्य पशवः, पशुमान्भवति पशुफलैश्च भोग- त्यागादिभिर्युज्यत इत्यर्थः ॥२॥</p>	<p>उसे पशु प्राप्त होते हैं और वह पशुमाव होता है अर्थात् वह पशुओंसे प्राप्त होनेवाले फल-भोग एवं दानादिसे युक्त होता है ॥ २ ॥</p>
--	--



इतिच्छान्दोग्योपनिषद् द्वितीयाध्याये
पञ्चखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥ ६ ॥



सप्तम खण्ड

—:०:—

प्राणविषयक पाँच प्रकारकी सामोपासना

प्राणेषु पञ्चविधं परोवरीयः सामोपासीत प्राणो
हिंकारो वाक्प्रस्तावश्चक्षुर्द्वितीयः श्रोत्रं प्रतिहारो मनो
निधनं परोवरीयाँसि वा एतानि ॥ १ ॥

प्राणोमे पाँच प्रकारके परोवरीय (उत्तरोत्तर उत्कृष्ट) गुणविशिष्ट
सामकी उपासना करे । [उनमे] प्राण हिंकार है, वाक् प्रस्ताव है, चक्षु
उद्गमीय है, श्रोत्र प्रतिहार है और मन निधन है । ये उपासनाएँ निश्चय
ही परोवरीय (उत्तरोत्तर श्रेष्ठ) हैं ॥ १ ॥

प्राणेषु पञ्चविधं परोवरीयः
सामोपासीत । परंपरं वरीयस्त्व-
गुणवत्प्राणद्विविधं सामोपा-
सीतेत्यर्थः । प्राणो घ्राणं हिंकारः,
उत्तरोत्तरवरीयसां प्राथम्यात् ।
वाक्प्रस्तावः, वाचा हि प्रस्तूयते
सर्वम्, वाग्वरीयसी प्राणात्,
अप्राप्तमप्युच्यते वाचा, प्राप्तस्यैव
तु गन्धस्य ग्राहकः प्राणः ।

प्राणोमे पाँच प्रकारके परोवरीय
सामकी उपासना करे अर्थात् उत्तरो-
त्तर श्रेष्ठत्वगुणवात् प्राणद्विविधं
सामकी उपासना करे । उन उत्तरो-
त्तर श्रेष्ठ प्राणोमें प्रथम होनेके कारण
प्राण—घ्राणोन्द्रिय हिंकार है । वाणी
प्रस्ताव है, क्योंकि वाणीसे ही सबका
प्रस्ताव किया जाता है । वाणी
प्राणकी अपेक्षा उत्कृष्ट है, [क्योंकि]
वाणीसे अप्राप्त वस्तुका भी निरूपण
किया जाता है और प्राण केवल
प्राप्त हुए गन्धका ही ग्रहण करने-
वाला है ।

चक्षुरुद्रीथः, वाचो बहुतर-
 विषयं प्रकाशयति चक्षुरतो
 वरीयो वाचः, उद्रीथः श्रैष्ठ्यात् ।
 श्रोत्रं प्रतिहारः, प्रतिहतत्वात्,
 वरीयश्चक्षुषः सर्वतः श्रवणात् ।
 मनो निधनम्, मनसि हि
 निधीयन्ते पुरुषस्य भोग्यत्वेन
 सर्वेन्द्रियाहता विषयाः, वरी-
 यस्त्वं च श्रोत्रान्मनसः, सर्वे-
 न्द्रियविषयव्यापकत्वात्, अती-
 न्द्रियविषयोऽपि मनसो गोचर
 एवेति । यथोक्तहेतुभ्यः परोवरी-
 यांसि प्राणादीनि वा एतानि ॥ १ ॥

चक्षु उद्रीय है; चक्षु वाणीसे भी
 अधिक विषयको प्रकाशित करता
 है; अतः वह वाणीसे उत्कृष्ट है
 और उत्कृष्ट होनेके कारण ही उद्रीय
 है । श्रोत्र प्रतिहार है, क्योंकि वह
 प्रतिहत है तथा सब ओरसे श्रवण
 करनेके कारण वह नेत्रकी अपेक्षा
 उत्कृष्ट भी है । मन निधन है क्योंकि
 भोग्यरूपसे पुरुषकी सम्पूर्ण इन्द्रियों-
 द्वारा लाये हुए विषय मनमें ही
 रक्खे जाते हैं, तथा सम्पूर्ण इन्द्रियोंके
 विषयोंमें व्यापक होनेके कारण
 श्रोत्रकी अपेक्षा मनकी उत्कृष्टता
 भी है । तात्पर्य यह है कि जो
 पदार्थ अन्य इन्द्रियोंकी पहुँचसे परे
 है वह भी मनका विषय तो है ही ।
 उपर्युक्त हेतुओंसे ये प्राणादि
 उत्तरोत्तर उत्कृष्ट हैं ॥ १ ॥

—:❀:—

परोवरीयो हास्य भवति परोवरीयसो ह लोकाञ्ज-
 यति य एतदेवं विद्वान् प्राणेषु पञ्चविधं परोवरीयः
 सामोपास्त इति तु पञ्चविधस्य ॥ २ ॥

जो इसे इस प्रकार जाननेवाला पुरुष प्राणोंमें पाँच प्रकारके
 उत्तरोत्तर उत्कृष्टतर सामकी उपासना करता है उसका जीवन उत्तरोत्तर
 उत्कृष्टतर होता जाता है और वह उत्तरोत्तर उत्कृष्टतर लोकोंको जीत
 लेता है । यह पाँच प्रकारकी सामोपासनाका निरूपण किया गया ॥ २ ॥

एतद्दृष्ट्या विशिष्टं यः परो-
 चरीयः सामोपास्ते परोचरीयो
 हास्य जीवनं भवतीत्युक्तार्थम् ।
 इति तु पञ्चविधस्य साम्न उपा-
 सनमुक्तमिति सप्तविधे वक्ष्यमाण-
 विषये बुद्धिसमाधानार्थम् । निर-
 पेक्षो हि पञ्चविधे वक्ष्यमाणे
 बुद्धिः समाधिस्तति ॥ २ ॥

जो पुरुष इस प्राणदृष्टिसे युक्त
 उत्तरोत्तर उत्कृष्टतर सामकी उपा-
 सना करता है उसका जीवन निश्चय
 ही उत्तरोत्तर उत्कृष्टतर होता जाता
 है—यह अर्थ पहले (१।६।२ मे)
 कहा जा चुका है । इस प्रकार यह
 पाँच प्रकारके सामकी उपासना तो
 कह दी गयी; यह बात श्रुतिने आगे
 कही जानेवाली सप्तविध सामोपा-
 सनामे बुद्धिको समाहित करनेके लिये
 कही है, क्योंकि पञ्चविध सामोपा-
 सनामे निरपेक्ष हुआ पुरुष ही आगे
 कही जानेवाली उपासनामे बुद्धिको
 समाहित करना चाहेगा ॥ २ ॥

— : • : —

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि द्वितीयाध्याये
 सप्तमखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥ ७ ॥



अष्टम खण्ड

—:०:—

वाणीविषयक सप्तविध सामोपासना

अथ सप्तविधस्य वाचि सप्तविधं सामोपासीत
यत्किं च वाचो हुमिति स हिंकारो यत्प्रेति स प्रस्तावो
यदेति स आदिः ॥ १ ॥

अब सप्तविध सामकी उपासनाका प्रकरण [आरम्भ किया जाता]
है—वाणीमें सप्तविध सामकी उपासना करनी चाहिये। वाणीमें जो कुछ
'हु' ऐसा स्वरूप है वह हिंकार है, जो कुछ 'प्र' ऐसा स्वरूप है वह प्रस्ताव
है और जो कुछ 'आ' ऐसा स्वरूप है वह आदि है ॥ १ ॥

अथानन्तरं सप्तविधस्य सम-
स्तस्य साम्न उपासनं साध्विद-
मारभ्यते। वाचीति सप्तमी
पूर्ववत्। वाग्दृष्टिविशिष्टं सप्तविधं
सामोपासीतेत्यर्थः। यत्किञ्च
वाचः शब्दस्य हुमिति यो
विशेषः स हिंकारो हकारसामा-
न्यात्। यत्प्रेति शब्दरूपं स
प्रस्तावः प्रसामान्यात्। यत् आ

अब इसके पश्चात्—यह सप्तविध
समस्त सामकी साधु उपासना आरम्भ
की जाती है। श्रुतिमें 'वाचि' इस पद-
की सप्तमी विभक्ति पूर्ववत् ('लोकेषु'
आदि पदोंकी सप्तमीके समान)
समझनी चाहिये। इसका तात्पर्य यह
है कि वाग्दृष्टिविशिष्ट सप्तविध सामकी
उपासना करनी चाहिये। जो कुछ
वाणी अर्थात् शब्दका 'हु' ऐसा विशेष-
रूप है वह हिंकार है, क्योंकि 'हु' और
हिंकारमें हकारकी समानता है; जो
कुछ 'प्र' ऐसा शब्दरूप है वह
प्रस्ताव है, क्योंकि उन दोनोंमें 'प्र'
शब्दका सादृश्य है। तथा जो कुछ

इति स आदिः, आकारसामा-
न्यात् आदिरित्योङ्कारः,
सर्वादित्वात् ॥ १ ॥

‘आ’ ऐसा शब्दरूप है वह आकार-
मे समता होनेके कारण आदि है ।
‘आदि’ यह ओङ्कारका वाचक
है, क्योंकि वही सबका आदि
है ॥ १ ॥



यदुदितिस उद्गीथो यत्प्रतीति स प्रतिहारो यदु-
पेति स उपद्रवो यन्नीति तन्निधनम् ॥ २ ॥

जो कुछ ‘उत्’ ऐसा शब्दरूप है वह उद्गीथ है, जो कुछ ‘प्रति’
ऐसा शब्द है वह प्रतिहार है, जो कुछ ‘उप’ ऐसा शब्द है वह उपद्रव
है और जो कुछ ‘नि’ ऐसा शब्दरूप है वह निधन है ॥ २ ॥

यदुदितिस उद्गीथः, उत्पू-
र्वत्वादुद्गीथस्य । यत्प्रतीति स
प्रतिहारः, प्रतिसामान्यात् ।
यदुपेति स उपद्रव उपोषक्रम-
त्वादुपद्रवस्य । यन्नीति तन्नि-
धनम्, निशब्दसामान्यात् ॥ २ ॥

जो कुछ ‘उत्’ ऐसा शब्दरूप
है वह उद्गीथ है, क्योंकि ‘उद्गीथ’
शब्दके आरम्भमे ‘उत्’ है; जो कुछ
‘प्रति’ ऐसा शब्दस्वरूप है वह
प्रतिहार है, क्योंकि उनमे ‘प्रति’
शब्दका सादृश्य है; जो कुछ ‘उप’
ऐसा शब्दरूप है वह उपद्रव है,
क्योंकि उपद्रव शब्दके आरम्भमे
‘उप’ शब्द है तथा जो कुछ ‘नि’
ऐसा शब्दरूप है वह निधन है,
क्योंकि ‘नि’ और ‘निधन’ मे ‘नि’
शब्दकी समानता है ॥ २ ॥

दुग्धेऽस्मै वाग्दोहं यो वाचो दोहोऽन्नवानन्नादो
भवति य एतदेवं विद्वान्वाचि सप्तविध्ँ सामोपास्ते ॥३॥

जो इसे इस प्रकार जाननेवाला पुरुष वाणीमें सप्तविध सामकी
उपासना करता है उसे वाणी, जो कुछ वाणीका दोह (सार) है उसे
देती है तथा वह प्रचुर अन्नसे सम्पन्न और उसका भोक्ता होता है ॥ ३ ॥

दुग्धेऽस्मा इत्याद्युक्तार्थम् ॥ ३ ॥

‘दुग्धेऽस्मै’ इत्यादि श्रुतिका अर्थ
पहले (१ । ३ । ७ में) कहा
जा चुका है ॥ ३ ॥

—:४:—

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि द्वितीयाध्याये
अष्टमखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥ ८ ॥



नवम खण्ड

—: ० :—

आदित्यविषयिणी सात प्रकारकी सामोपासना

अथ खल्वमुमादित्यं सप्तविधं सामोपासीत सर्वदा
समस्तेन साम मां प्रति मां प्रतीति सर्वेण समस्तेन
साम ॥ १ ॥

अब उस आदित्यके रूपमें सप्तविध सामकी उपासना करनी चाहिए ।
आदित्य सर्वदा सम है, इसलिये वह साम है । मेरे प्रति, मेरे प्रति ऐसा
अनुभूत होनेका कारण वह सबके प्रति सम है, इसलिये साम है ॥ १ ॥

अवयवमात्रे साम्न्यादित्य-
दृष्टिः पञ्चविधेषूक्ता प्रथमे चा-
ध्याये । अथेदानीं खल्वमुमा-
दित्यं समस्ते साम्न्यवयवविभा-
गशोऽध्यस्य सप्तविधं सामो-
पासीत । कथं पुनः सामत्व-
मादित्यस्य ? इत्युच्यते—

उद्गीथत्वे हेतुवदादित्यस्य
सामत्वे हेतुः । कोऽसौ ? सर्वदा
समो वृद्धिच्याभावात्तेन हेतुना
सामादित्या मां प्रति मां प्रतीति

पञ्चविध सामोपासनाओंके
मसङ्गमें तथा प्रथम अध्यायमें केवल
अवयवमात्र साममें आदित्यदृष्टि बत-
लायी गयी है । उसके बाद अब यह
बताया जाता है कि उस आदित्यको
समस्त साममें उसके अवयवविभागके
अनुसार आरोपित कर सप्तविध
सामकी उपासना करे । तो फिर
आदित्यकी सामरूपता किस प्रकार
है ? यह बतलाया जाता है—

आदित्यके उद्गीथरूप होनेमें जिस
प्रकार हेतु है उसी प्रकार उसके
सामरूप होनेमें भी है । वह हेतु
क्या है ? वृद्धि और क्षयका अभाव
होनेके कारण आदित्य सर्वदा सम
है इसी कारणसे वह साम है । वह
'मेरे प्रति, मेरे प्रति' इस प्रकार

तुल्यां बुद्धिमुत्पादयति; अतः । सर्वेण समोऽतः साम समत्वा-
दित्यर्थः ।

उद्गीथभक्तिसामान्यवचनादेव

लोकादिषूक्तसामान्याद्विकारा-

दित्वं गम्य इति हिंकारादित्वे

कारणं नोक्तम् । सामत्वे पुनः

सवितुरनुक्तं कारणं न सुबोध-

मिति समत्वमुक्तम् ॥ १ ॥

सबमें समान बुद्धि उत्पन्न करता है [क्योंकि उसे सभी प्राणी अपने-अपने सम्मुख देखते हैं] इसलिये वह सबके साथ समान है; अतः इस समताके कारण वह साम है ।

उद्गीथभक्तिमें समानता बतलाने-से ही [अर्थात् उद्गीथके साथ आदित्यका ऊर्ध्वत्वमें सादृश्य है—ऐसा जो श्रुतिने कहा है उसके अनुसार ही] लोकादिमें भी [सामावयवोंके साथ] सादृश्य बतलाये जानेसे उनका हिंकारादिरूप होना ज्ञात होता है—इसीसे [श्रुतिमें आदित्यावयवोंके] हिंकारादिरूप होनेमें कारण नहीं बतलाया गया था ।* किंतु आदित्यकी साम-रूपतामें न बतलाया गया कारण सुगमतासे नहीं जाना जा सकता इसलिये उसके सम्बन्धमें समत्वरूप कारण बतलाया गया है ॥ १ ॥

—:८:—

तस्मिन्निमानि सर्वाणि भूतान्यन्वायत्तानीति त्रिष्य-
त्तस्य यत्पुरोदयात्स हिंकारस्तदस्य पशवोऽन्वायत्तास्त-
स्मात्ते हिं कुर्वन्ति हिंकारभाजिनो ह्येतस्य साम्नः ॥ २ ॥

उस आदित्यमें ये सम्पूर्ण भूत अनुगत हैं—ऐसा जाने । जो उस आदित्यके उदयसे पूर्व है वह हिंकार है । उस सूर्यका जो हिंकाररूप है

* क्योंकि लोकादिके हिंकारादिरूप होनेमें जो-जो कारण हैं, वे ही आदित्यावयवोंके सम्बन्धमें भी समझे जा सकते हैं ।

उसके पशु अनुगत हैं, इससे वे हिकार करते हैं। अतः वे ही इस आदित्यरूप सामके हिकारभाजन हैं ॥ २ ॥

तस्मिन्नादित्येऽवयवविभागश
इमानि वक्ष्यमाणानि सर्वाणि
भूतान्यन्वायत्तान्यनुगतान्यादि-
त्यमुपजीव्यत्वेनेति विद्यात् ।
कथम् ? तस्यादित्यस्य यत्परोद-
याद्धर्मरूपम्, स हिकारो भक्तिस्त-
त्रेदं सामान्यं यत्तस्य हिकार-
भक्तिरूपम् ।

तदस्यादित्यस्य साम्नः पशवो
गवादयोऽन्वायत्ता अनुगतास्त-
द्भक्तिरूपमुपजीवन्तीत्यर्थः ।
यस्मादेवं तस्मात्ते हि कुर्वन्ति पशवः
प्रागुदयात् । तस्माद्धिकारभाजिनो
ह्येतस्यादित्याख्यस्य साम्नः तद्भ-
क्तिभजनशीलत्वाद्धि त एवं
वर्तन्ते ॥ २ ॥

उस आदित्यमे ये आगे बतलाये
जानेवाले समस्त भूत अवयवविभा-
गानुसार उसके उपजीव्य रूपसे अन्वा-
यत्त—अनुगत हैं—ऐसा जाने । वे
किस प्रकार अनुगत हैं ? [यह
बतलाते हैं—] उस आदित्यका उदयसे
पहले जो धर्मरूप (धर्मानुष्ठानका
प्रेरक स्वरूप) है वह हिकारभक्ति
है । उस धर्मरूपमे यही सादृश्य है
कि वह उस (आदित्यसंज्ञक साम)
का हिकारभक्तिरूप है ।

उस इस आदित्यरूप सामके गौ
आदि पशु अन्वायत्त—अनुगत हैं;
अर्थात् उस हिकारभक्तिरूपसे उसके
उपजीवी हैं । क्योंकि ऐसा है
इसीलिये वे पशु सूर्योदयसे पूर्व
हिकार-शब्द करते हैं । अतः वे
इस आदित्यसंज्ञक सामके हिकार-
पात्र हैं । उस हिकारभक्तिके सेवन-
मे तत्पर रहनेसे ही वे इस प्रकार
वर्तवि करते हैं [अर्थात् सूर्योदयसे
पूर्व हिकार करते हैं] ॥ २ ॥

—:ॐ:—

अथ यत्प्रथमोदिते स प्रस्तावस्तदस्य मनुष्या
अन्वायत्तास्तस्मात्ते प्रस्तुतिकामाः प्रशंसाकामाः
प्रस्तावभाजिनो ह्येतस्य साम्नः ॥ ३ ॥

तथा सूर्यके पहले-पहल उदित होनेपर जो रूप होता है वह प्रस्ताव है । उसके उस रूपके मनुष्य अनुगामी हैं, अतः वे प्रस्तुति [प्रत्यक्षस्तुति] और प्रशंसा [परोक्षस्तुति] की इच्छावाले हैं, क्योंकि वे इस सामकी प्रस्तावभक्तिका सेवन करनेवाले हैं ॥ ३ ॥

अथ यत्प्रथमोदिते सवितृ-
रूपं तदस्यादित्याख्यस्य साम्नः
प्रस्तावस्तदस्य मनुष्या अन्वा-
यत्ताः पूर्ववत् । तस्मात्ते प्रस्तुतिं
प्रशंसां कामयन्ते । यस्मात्प्रस्ता-
वभाजिनो ह्येतस्य साम्नः ॥३॥

तथा सूर्यके पहले-पहल उदित होनेपर जो उसका रूप होता है वह इस आदित्यसंज्ञक सामका प्रस्ताव है; पूर्ववत् [अर्थात् पशुओं-के समान] उसके उस रूपके मनुष्य अनुगामी हैं । इसीसे वे प्रस्तुति और प्रशंसाकी इच्छा करते हैं, क्योंकि वे इस सामके प्रस्तावका भजन करनेवाले हैं ॥ ३ ॥

—: ०:—

अथ यत्सङ्गववेलायाँ स आदिस्तदस्य वयाँ स्य-
न्वायत्तानि तस्मात्तान्यन्तरिक्षेऽनारम्बणान्यादायात्मानं
परिपतन्त्यादिभाजीनि ह्येतस्य साम्नः ॥ ४ ॥

तत्पश्चात् आदित्यका जो रूप सङ्गववेलामें (सूर्योदयके तीन मुहूर्त पश्चात् कालमें) रहता है वह आदि है । उसके उस रूपके अनुगत पक्षिगण हैं; क्योंकि वे इस सामके आदिका भजन करनेवाले हैं, इसलिये वे अन्तरिक्षमें अपनेको निराधाररूपसे सब ओर ले जाते हैं ॥ ४ ॥

अथ यत्सङ्गववेलायां गवां
रश्मीनां सङ्गमनं सङ्गमो यस्यां
वेलायां गवां वा वत्सैः सा सङ्ग-

तत्पश्चात् सङ्गववेलामें—जिस वेलामें गोयानी सूर्यकिरणोंका सङ्गम होता है अथवा जिसमें गौओंका बछड़ोंसे सङ्गम होता है उसे सङ्गववेला

ववेला तस्मिन्काले यत्सावित्रं
रूपं स आदिर्भक्तिविशेष ओ-
ङ्कारस्तदस्य वयांसि पक्षिणो-
ऽन्वायत्तानि ।

यत एवं तस्मात्तानि वयां-
स्यन्तरिक्षेऽनारम्भणान्यनालम्ब-
नान्यात्मानमादायात्मानमेवाल-
म्बनत्वेन गृहीत्वा परिपतन्ति
गच्छन्त्यत आकारसामान्यादा-
दिभक्तिभाजीनि ह्येतस्य
साम्नः ॥ ४ ॥

कहते हैं, उस कालमें सूर्यदेवका जो
रूप होता है वह आदि—भक्तिविशेष
ओङ्कार है । उसके उस रूपके
अनुगामी पक्षिगण हैं ।

क्योंकि ऐसा है इसलिये वे
पक्षिगण आकाशमें अनारम्भण—
बिना आश्रयके ही अपनेको आ-
लम्बनरूपसे ग्रहण कर सब ओर
जाते हैं । अतः ['आदायात्मानं
परिपतन्ति' इसके आरम्भमें]
आकाररूप सादृश्य होनेके कारण
वे इस सामकी आदिसज्ञक भक्तिके
भागी हैं ॥ ४ ॥



अथ यत्सम्प्रति मध्यन्दिने स उद्गीथस्तदस्य
देवा अन्वायत्तास्तस्मात्ते सत्तमाः प्राजापत्यानामुद्गीथ-
भाजिनो ह्येतस्य साम्नः ॥ ५ ॥

तथा अथ जो मध्यदिवसमें आदित्यका रूप होता है वह उद्गीथ है ।
इसके उस रूपके देवतालोग अनुगत हैं । इसीसे वे प्रजापतिसे उत्पन्न
हुए प्राणियोंमें सर्वश्रेष्ठ है, क्योंकि वे इस सामकी उद्गीथभक्तिके
भागी हैं ॥ ५ ॥

अथ यत्सम्प्रति मध्यन्दिन
अजुमध्यन्दिन इत्यर्थः । स
उद्गीथभक्तिस्तदस्य देवा अन्वा-

तथा अथ जो सम्प्रति मध्यन्दिनमें
अर्थात् ठीक मध्याह्नमें [आदित्यका
रूप होता] है वह उद्गीथभक्ति है;
उसके उस रूपके अनुगामी देवता-

यत्ताः, द्योतनातिशयात्तत्काले । लोग हैं, क्योंकि उस समय वे अत्यन्त
तस्मात्ते सत्तमा विशिष्टतमाः प्रकाशशील होते हैं । इसीसे वे प्राजा-
प्राजापत्यानां प्रजापत्यपत्याना- पत्योंमें—प्रजापतिके पुत्रोंमें सत्तम-
विशिष्टतम होते हैं, क्योंकि वे इस
मुद्गीथभाजिनो ह्येतस्य साम्नः ॥ ५ ॥ सामकी उद्गीथभक्तिके भागी हैं ॥ ५ ॥

अथ यदूर्ध्वं मध्यन्दिनात्प्रागपराह्णात्स प्रतिहारस्त-
दस्य गर्भा अन्वायत्तास्तस्मात्ते प्रतिहृता नावपद्यन्ते
प्रतिहारभाजिनो ह्येतस्य साम्नः ॥ ६ ॥

तथा आदित्यका जो रूप मध्याह्नके पश्चात् और अपराह्णके पूर्व होता है वह प्रतिहार है । उसके उस रूपके अनुगामी गर्भ हैं । इसीसे वे प्रतिहृत (ऊपरकी ओर आकृष्ट) किये जानेपर नीचे नहीं गिरते, क्योंकि वे इस सामकी प्रतिहारभक्तिके पात्र हैं ॥ ६ ॥

अथ यदूर्ध्वं मध्यन्दिनात्प्राग- तथा आदित्यका जो रूप
पराह्णाद्यद्रूपं सवितुः स प्रतिहार- मध्याह्नके पश्चात् और अपराह्णसे पूर्व
स्तदस्य गर्भा अन्वायत्ताः । होता है वह प्रतिहार है । उसके
अतस्ते सवितुः प्रतिहारभक्ति- उस रूपके अनुगामी गर्भ हैं । अतः
रूपेणोर्ध्वं प्रतिहृताः सन्तो नाव- वे सूर्यकी प्रतिहारभक्तिरूपसे ऊपर-
पद्यन्ते नाथः पतन्ति तद्द्वारे की ओर प्रतिहृत (आकृष्ट) होनेके
सत्यपीत्यर्थः । यतः प्रतिहार- कारण, पतनके द्वारपर रहते हुए
भाजिनो ह्येतस्य साम्नो गर्भाः ॥ ६ ॥ भी, अवपन्न नहीं होते—नीचे नहीं
गिरते, क्योंकि गर्भ इस सामकी
प्रतिहारभक्तिके भागी हैं ॥ ६ ॥

अथ यदूर्ध्वमपराह्णात्प्रागस्तमयात्स उपद्रवस्तद-
स्यारण्या अन्वायत्तास्तस्मात्ते पुरुषं दृष्ट्वा कक्षं^७ श्व-
भ्रमित्युपद्रवन्त्युपद्रवभाजिनो ह्येतस्य साम्नः ॥ ७ ॥

तथा आदित्यका जो रूप अपराह्नके पश्चात् और सूर्यास्तसे पूर्व होता है वह उपद्रव है। उसके उस रूपके अनुगामी वन्य पशु हैं। इसीसे वे पुरुषको देखकर भयवश अरण्य अथवा गुहामें भाग जाते हैं, क्योंकि वे इस सामकी उपद्रवभक्तिके भागी हैं ॥ ७ ॥

अथ यदूर्ध्वमपराह्णात्प्रागस्त-
मयात्स उपद्रवस्तदस्यारण्याः
पशवोऽन्वायत्ताः । तस्मात्ते पुरुषं
दृष्ट्वा भीताः कक्षमरण्यं श्वभ्रं
भयशून्यमित्युपद्रवन्त्युपगच्छन्ति;
दृष्ट्वोपद्रावणादुपद्रवभाजिनो
ह्येतस्य साम्नः ॥ ७ ॥

तथा आदित्यका जो रूप अपराह्नके पश्चात् और सूर्यास्तके पूर्व होता है वह उपद्रव है। उसके उस रूपके अनुगामी वन्य पशु हैं। इसीसे वे पुरुषको देखकर भयभीत हो कक्ष—वनमें अथवा भयशून्य गुहामें भाग जाते हैं। इस प्रकार देखकर भागनेके कारण वे इस सामकी उपद्रवभक्तिके भागी हैं ॥७॥

—***—

अथ यत्प्रथमास्तमिते तन्निधनं तदस्य पितरोऽन्वा-
यत्तास्तस्मात्तान्निदधति निधनभाजिनो ह्येतस्य साम्न
एवं खल्वमुमादित्यं सप्तविधं सामोपास्ते ॥ ८ ॥

तथा आदित्यका जो रूप सूर्यास्तसे पूर्व होता है वह निधन है। उसके उस रूपके अनुगत पितृगण हैं; इसीसे [आद्यकालमें] उन्हें [पितृ-
पितामह आदिरूपसे दर्भपर] स्थापित करते हैं, क्योंकि वे पितृगण निश्चय ही इस सामकी निधनभक्तिके पात्र हैं। इसी प्रकार इस आदित्यरूप सप्तविध सामकी उपासना करते हैं ॥ ८ ॥

अथ यत्प्रथमास्तमितेऽदर्शनं
जिगमिषति सवितरि तन्निधनं
तदस्य पितरोऽन्वायत्तास्तस्मा-
त्तान्निदधति पितृपितामहप्रपिता-
महरूपेण दर्भेषु निक्षिपन्ति
तांस्तदर्थं पिण्डान्वास्थापयन्ति ।
निधनसंबन्धान्निधनभाजिनो ह्ये-
तस्य साम्नः पितरः । एवमवय-
वशः सप्तधा विभक्तं खल्वमुमा-
दित्यं सप्तविधं सामोपास्ते
यस्तस्य तदापत्तिः फलमिति
वाक्यशेषः ॥ ८ ॥

तथा सूर्यास्तसे पूर्व अर्थात् सूर्य
जब अदृश्य होना चाहता है उस समय
उसका जो रूप है वह निधन है ।
उसके उस रूपके अनुगत पितृगण हैं ।
इसीसे उन्हें निहित करते हैं अर्थात्
पिता, पितामह और प्रपितामहरूपसे
उन्हें दर्भोंपर स्थापित करते हैं
अथवा उनके उद्देश्यसे पिण्ड रखते
हैं । इस प्रकार निधनका सम्बन्ध
होनेके कारण वे पितृगण इस
सामकी निधनभक्तिके पात्र हैं ।
इस प्रकार अवयवरूपसे सात भागों-
में विभक्त हुए इस आदित्यरूप
सप्तविध सामकी जो उपासना करता
है उसे आदित्यरूपताकी प्राप्ति
होनारूप फल मिलता है—यह
वाक्यशेष है ॥ ८ ॥

—***—

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि द्वितीयाध्याये
नवमखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥ ६ ॥



दशम खण्ड

--: ० :--

मृत्युसे अतीत सप्तविध सामकी उपासना

मृत्युरादित्यः अहोरात्रादि-
कालेन जगतः प्रमापयित्वा-
त्तस्यातितरणायेदं सामोपासन-
मुपदिश्यते—

दिवस और रात्रि आदि कालके
द्वारा जगत्का प्रमापयिता
[अर्थात् वधकर्ता] होनेके कारण
आदित्य मृत्यु है, उसे पार करनेके
लिये इस सामोपासनाका उपदेश
किया जाता है—

अथ खल्वात्मसंमितमतिमृत्यु सप्तविध सामो-
पासीत हिङ्कार इति त्र्यक्षरं प्रस्ताव इति त्र्यक्षरं
तत्समम् ॥ १ ॥

अब [यह बतलाया जाता है कि] समान अक्षरोवाले मृत्युसे
अतीत सप्तविध सामकी उपासना करे । 'हिङ्कार' यह तीन अक्षरोवाला
है तथा 'प्रस्ताव' यह भी तीन अक्षरोवाला है, अतः उसके
समान है ॥ १ ॥

अथ खल्वनन्तरमादित्य-
मृत्युविषयसामोपासनस्यात्मसं-
मितं स्वावयवतुल्यतया मितं
परमात्मतुल्यतया वा संमित-
मतिमृत्यु मृत्युजयहेतुत्वात् ।

अब निश्चय ही आदित्यरूप मृत्यु-
के विषयभूत सामकी उपासनाके
पश्चात् आत्मसंमित—अपने अवयवों
(सामावयवो) की तुल्यताद्वारा
परिमिति अथवा परमात्मसदृशताके
कारण ज्ञात, जो मृत्युको जीतनेका
हेतु होनेके कारण अतिमृत्यु है,
[उस] सप्तविध सामकी उपासना

यथा प्रथमेऽध्याय उद्गीथभक्ति-
नामाक्षराण्युद्गीथ इत्युपास्यत्वे-
नोक्तानि, तथेह साम्नः सप्त-
विधभक्तिनामाक्षराणि समाहृत्य
त्रिभिस्त्रिभिः समतया सामत्वं
परिकल्प्योपास्यत्वेनोच्यन्ते ।

तदुपासनेन मृत्युगोचराक्षर-
संख्यासामान्येन तं मृत्युं प्राप्य
तदतिरिक्ताक्षरेण तस्यादित्यस्य
मृत्योरतिक्रमणायैव संक्रमणं
कल्पयति । अतिमृत्यु सप्तविधं
सामोपासीत मृत्युमतिक्रान्त-
मतिरिक्ताक्षरसंख्ययेत्यतिमृत्यु
साम । तस्य प्रथमभक्तिनामा-
क्षराणि हिङ्कार इत्येतत्त्र्यक्षरं
भक्तिनाम । प्रस्ताव इति च

करे—यह बतलाया जाता है]
जिस प्रकार प्रथम अध्यायमें उद्गीथ-
भक्तिके नामके अक्षर 'उद्गीथ हैं'
इस प्रकार उपास्यरूपसे बतलाये
गये हैं, उसी प्रकार यहाँ सामकी
सात प्रकारकी भक्तियोंके नामोंके
अक्षरोंको एकत्रित कर (तीन-तीन
अक्षरोंद्वारा समत्व होनेके कारण
उनके सामत्वकी कल्पना कर उन्हें
उपास्यरूपसे बतलाया जाता है ।

मृत्युके विषयभूत अक्षरोंकी संख्या
[जो इक्कीस है उस] की सदृशताके
कारण उन अक्षरोंकी उपासना
करनेसे मृत्यु (आदित्य) को प्राप्तकर
उनसे अतिरिक्त अक्षरद्वारा उस
आदित्यरूप मृत्युके अतिक्रमणके
लिये ही श्रुति [उपासकके] संक्रमणकी
कल्पना करती है* [श्रुतिमें
जो कहा है कि] अतिमृत्यु सप्तविध
सामकी उपासना करे सो अतिरिक्त
अक्षरसंख्या (बाईसवीं) के द्वारा मृत्यु-
का अतिक्रमण करनेके कारण साम
अतिमृत्यु है । उस सामकी प्रथम
भक्तिके नामाक्षर 'हिङ्कार' हैं, यह
भक्तिनाम तीन अक्षरोंवाला है; तथा

* यह बात आगे पाँचवें मन्त्रमें स्पष्ट कर दी गयी है ।

भक्त्येव्यक्षरमेव नाम तत्त्वेपूर्ण
समम् ॥ १ ॥

‘प्रस्ताव’ यह प्रस्तावभक्तिका नाम
भी तीन अक्षरोवाला ही है, अतः
यह पहले नामके समान है ॥ १ ॥

—: * :—

आदिरिति द्व्यक्षरं प्रतिहार इति चतुरक्षरं तत
इहैकं तत्समम् ॥ २ ॥

‘आदि’ यह दो अक्षरोवाला नाम है और ‘प्रतिहार’ यह चार
अक्षरोवाला नाम है । इसमेंसे एक अक्षर निकालकर आदिमें मिलानेसे वे
समान हो जाते हैं ॥ २ ॥

आदिरिति द्व्यक्षरं सप्तविध-
स्य साम्नः संख्यापूरण ओङ्कार
आदिरित्युच्यते । प्रतिहार इति
चतुरक्षरम् । तत इहैकमक्षरमव-
च्छिद्याक्षरयोः प्रक्षिप्यते ।
तेन तत्सममेव भवति ॥ २ ॥

‘आदि’ यह दो अक्षरोवाला है ।
सात प्रकारके सामकी संख्याको
पूर्ण करनेमें ओङ्कार ‘आदि’
इस नामसे कहा जाता है । तथा
‘प्रतिहार’ चार अक्षरोवाला नाम
है । यहाँ उसमेंसे एक अक्षर
निकालकर आदिके दो अक्षरोंमें मिला
दिया जाता है । इससे वह उसके
समान ही हो जाता है ॥ २ ॥

—: ❧ :—

उद्गीथ इति त्र्यक्षरमुपद्रव इति चतुरक्षरं त्रिभि-
स्त्रिभिः समं भवत्यक्षरमतिशिष्यते त्र्यक्षरं तत्समम् ॥ ३ ॥

‘उद्गीथ’ यह तीन अक्षरोंका और ‘उपद्रव’ यह चार अक्षरोंका नाम
है । ये दोनों तीन-तीन अक्षरोंमें तो समान हैं, किंतु एक अक्षर वच
रहता है । अतः [‘अक्षर’ होनेके कारण] तीन अक्षरोंवाला होनेसे तो
वह [एक] भी उनके समान ही है ॥ ३ ॥

उद्गीथ इति त्र्यक्षरमुपद्रवः
इति चतुरक्षरं त्रिभिस्त्रिभिः समं
भवत्यक्षरमतिशिष्यतेऽतिरिच्यते ।
तेन वैषम्ये प्राप्ते साम्नः समत्व-
करणायाह तदेकमपि सदक्षर-
मिति त्र्यक्षरमेव भवति । अत-
स्तत्समम् ॥ ३ ॥

‘उद्गीथ’ यह नाम तीन अक्षरों
वाला है और ‘उपद्रव’ यह चार
अक्षरोंवाला । तीन-तीन अक्षरोंसे
ये समान हैं, किंतु एक अक्षर
वच रहता है यानी बढ़ता है ।
उसके कारण इनमें विषमता
प्राप्त होनेपर सामका समत्व करनेके
लिये श्रुति कहती है कि वह एक
होनेपर भी ‘अक्षर’ है, इसलिये वह
नाम भी तीन अक्षरोंवाला ही है ।
अतः उन्हींके समान है ॥ ३ ॥

—:❀:—

निधनमिति त्र्यक्षरं तत्सममेव भवति तानि ह वा
एतानि द्वाविंशतिरक्षराणि ॥ ४ ॥

‘निधन’ यह नाम तीन अक्षरोंका है, अतः यह उनके समान ही
है । वे ही ये बाईस अक्षर हैं ॥ ४ ॥

निधनमिति त्र्यक्षरं तत्सम-
मेव भवति । एवं त्र्यक्षरसमतया
सामत्वं संपाद्य यथाप्राप्तान्येवा-
क्षराणि संख्यायन्ते । तानि ह
वा एतानि सप्तभक्तिनामाक्षराणि
द्वाविंशतिः ॥ ४ ॥

‘निधन’ यह तीन अक्षरोंवाला
नाम है, अतः यह उनके समान ही
है । इस प्रकार तीन अक्षरोंमें
समानता होनेके कारण उनका
सामत्व सम्पादित कर इस प्रकार
प्राप्त हुए अक्षरोंकी गणना की जाती
है—निश्चय ही वे ये सात भक्तियोंके
नामाक्षर बाईस हैं ॥ ४ ॥

—:❀:—

एकविंशत्यादित्यमामोत्येकविंशो वा इतोऽसा-
वादित्यो द्वाविंशेन परमादित्याज्जयति तन्नाकं तद्वि-
शोकम् ॥ ५ ॥

इक्कीस अक्षरोद्वारा साधक आदित्यलोक प्राप्त करता है, क्योंकि इस लोकसे वह आदित्य निश्चय ही इक्कीसवाँ है। वाईसवे अक्षरद्वारा वह आदित्यसे परे उस दु खहीन एवं शोकरहित लोकको जीत लेता है ॥५॥

तत्रैकविंशत्यक्षरसंख्ययादित्य-
मामोति मृत्युम् । यस्मादेकविंश
इतोऽस्माल्लोकादसावादित्यः सं-
ख्यया । “द्वादश मासाः पञ्चतर्तव-
च्चय इमे लोका असावादित्य
एक विंशः” इति श्रुतेः । अति-
शिष्टेन द्वाविंशेनाक्षरेण परं मृत्यो
रादित्याज्जयत्यामोतीत्यर्थः । यच्च
तदादित्यात्परं किं तत् ? नाकं
कमिति सुखं तस्य प्रतिषेधोऽकं
तन्न भवतीति नाकं कमेवेत्यर्थः,
अमृत्युविषयत्वात् । विशोकं च
तद्विगतशोकं मानसदुःखरहित-
मित्यर्थः । तदामोतीति ॥ ५ ॥

वहाँ वह इक्कीस अक्षर-संख्याके
द्वारा तो आदित्यलोक रूप मृत्युको
प्राप्त करता है, क्योंकि इस लोककी
अपेक्षा वह आदित्यलोक संख्यामे
इक्कीसवाँ है। जैसा कि “बारह
महीने, पाँच ऋतुएँ, तीन ये लोक
और इक्कीसवाँ वह आदित्यलोक”,
इत्यादि श्रुतिसे सिद्ध होता है। बचे
हुए वाईसवे अक्षरद्वारा वह मृत्यु यानी
आदित्यलोकसे परे उत्कृष्ट लोकको
जीत लेता यानी प्राप्त कर लेता है।
उस आदित्यलोकसे जो परे है वह क्या
है? वह नाक है—क सुखको कहते
हैं उसका प्रतिषेधक अक है, वह
जिसमे न हो उसे नाक कहते हैं;
अर्थात् मृत्युका विषय न होनेके कारण
वह क (सुख) ही है। तथा वह
विशोक—शोकरहित अर्थात् मानसिक
दु खसे हीन है। उसी (लोक) को
वह प्राप्त कर लेता है ॥ ५ ॥

—०:—

उक्त स्यैव पिण्डितार्थमाह—

श्रुति ऊपर कही हुई बातका ही
साराश कहती है—

आप्नोति हादित्यस्य जयं परो हास्यादित्यजया-
ज्जयो भवति य एतदेवं विद्वानात्मसंमितमतिमृत्यु
सप्तविधं सामोपास्ते सामोपास्ते ॥ ६ ॥

[वह पुरुष] आदित्यलोककी जय प्राप्त करता है तथा उसे आदित्य-
विजयसे भी उत्कृष्ट जय प्राप्त होती है, जो इस उपासनाको इस प्रकार
जाननेवाला होकर आत्मसंमित और मृत्युसे अतीत सप्तविध सामकी उपा-
सना करता है—सामकी उपासना करता है ॥ ६ ॥

एकविंशतिसंख्ययादित्यस्य
जयमाप्नोति । परो हास्यैवंविद
आदित्यजयान्मृत्युगोचरात्परो
जयो भवति द्वाविंशत्यक्षरसंख्य-
येत्यर्थः । य एतदेवं विद्वानित्या-
द्युक्तार्थम् । तस्यैतद्यथोक्तं फल-
मिति । द्विरभ्यासः सप्तविध्य-
समाप्त्यर्थः ॥ ६ ॥

इक्कीसवीं अक्षर-संख्याके द्वारा
आदित्यलोककी जय प्राप्त करता है;
अतः तात्पर्य यह है कि इस प्रकार
जाननेवाले इस उपासकको बाईसवीं
अक्षर-संख्याके द्वारा इस मृत्युगोचर
आदित्यजयकी अपेक्षा भी उत्कृष्ट
जय प्राप्त होती है। 'य एतदेवं विद्वान्'
इत्यादि वाक्यका अर्थ पहले कहा
जा चुका है; उसे यह उपयुक्त फल
प्राप्त होता है। 'सामोपास्ते-सामो-
पास्ते' यह द्विरुक्ति उपासनाकी
सप्तविधताकी समाप्ति सूचित करनेके
लिये है ॥ ६ ॥

—:०:—

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि द्वितीयाध्याये दशमखण्ड-
भाष्यं सम्पूर्णम् ॥ १० ॥

—★—

एकादश खण्ड

गायत्रिसामकी उपासना

विना नामग्रहणं पञ्चविधस्य [यहाँतक] विना नाम लिये पञ्च-
सप्तविधस्य च साम्न उपासनमु- विध एवं सप्तविध सामकी उपासनाका

क्तम् । अथेदानीं गायत्रादिनामग्र-
हणपूर्वकं विशिष्टफलानि सामोपा-
सनान्तराण्युच्यन्ते । यथाक्रम गाय-
त्रादीनां कर्मणि प्रयोगस्तथैव—

वर्णन किया गया । अब आगे 'गायत्र'
आदि नाम लेकर विशिष्ट फलवती
अन्य सामोपासनाओंका उल्लेख किया
जाता है । गायत्र आदि उपासनाओं-
का उनके क्रमके अनुसार कर्ममें प्रयोग
किया जाता है; उसीके अनुसार—

मनो हिंकारो वाक्प्रस्तावश्चक्षुर्दृष्टीथः श्रोत्रं प्रति-
हारः प्राणो निधनमेतद्गायत्रं प्राणेषु प्रोतम् ॥ १ ॥

मन हिंकार है, वाक् प्रस्ताव है, चक्षु उद्गोथ है, श्रोत्र प्रतिहार है
और प्राण निधन है । यह गायत्रसंज्ञक साम प्राणोंमें प्रतिष्ठित है ॥ १ ॥

मनो हिंकारो मनसः सर्वकरण-
वृत्तीनां प्राथम्यात् । तदानन्त-
र्याद्वाक्प्रस्तावश्चक्षुर्दृष्टीथः - थै-
ष्ठ्यात् । श्रोत्रं प्रतिहारः प्रतिहृत-
त्वात् । प्राणो निधनं यथोक्तानां
प्राणे निधनात्स्वापकाले । एत-
द्गायत्रं साम प्राणेषु प्रोतं गाय-
त्र्याः प्राणसंस्तुतत्वात् ॥ १ ॥

सम्पूर्ण इन्द्रियवृत्तियोंमें मनकी
प्रथमता होनेके कारण मन हिंकार है,
उसका पश्चाद्वर्ती होनेसे वाक् प्रस्ताव
है, उत्कृष्ट होनेके कारण चक्षु उद्गोथ
है, प्रतिहृत होनेके कारण श्रोत्र प्रतिहार
है तथा प्राण निधन है, क्योंकि सुषुप्ति-
कालमें पूर्वोक्त सम्पूर्ण इन्द्रियवर्ग प्राणमें
लीन हो जाते हैं । यह गायत्रसंज्ञक साम
प्राणोंमें प्रतिष्ठित है, क्योंकि गायत्रीका
प्राणरूपसे स्तवन किया गया है ॥ १ ॥

स य एवमेतद्गायत्रं प्राणेषु प्रोतं वेद प्राणो भवति
सर्वमायुरेति ज्योर्जीवति महान्प्रजया पशुभिर्भवति
महान्कीर्त्या महामनाः स्यात्तद्व्रतम् ॥ २ ॥

वह जो इस प्रकार गायत्रसंज्ञक सामको प्राणोंमें प्रतिष्ठित जानता है,
प्राणवान् होता है, पूर्ण आयुका उपभोग करता है, प्रशस्त जीवनलाभ करता
है, प्रजा और पशुओंद्वारा महान् होता है तथा कीर्तिके द्वारा भी महान्
होता है । वह महामना (उदारहृदय) होवे—यही उसका व्रत है ॥ २ ॥

स य एवमेतद्वायत्रं प्राणेषु
 प्रोतं वेदप्राणी भवति । अविक्ल-
 करणो भवतीत्येतत् । सर्वमायु-
 रेति । “शतं वर्षाणि सर्वमायुः पु-
 रुषस्य” इति श्रुतेः । ज्योगुज्ज्वलं
 जीवति । महान्भवति प्रजादिभि-
 र्महांश्च कीर्त्या । गायत्रोपासकस्यै-
 तद्ब्रतं भवति यन्महामनस्त्वम्,
 अलुद्रचित्तः स्यादित्यर्थः ॥ २ ॥

वह जो इस प्रकार इस गायत्र-
 संज्ञक सामको प्राणोंमें प्रतिष्ठित
 जानता है, प्राणवान् होता है अर्थात्
 अविक्ल इन्द्रियवान् होता है, वह
 पूर्ण आयुका उपभोग करता है ।
 “पुरुषकी पूर्ण आयु सौ वर्ष है”—
 ऐसी श्रुति है । ज्योक्—उज्ज्वल
 जीवन प्रतीत करता है; प्रजादिके
 कारण महान् होता है तथा कीर्तिके
 कारण भी महान् होता है । यह
 जो महामनस्त्व (विशालहृदयता) है,
 गायत्रोपासकका व्रत है अर्थात् उसे
 उदारचित्त होना चाहिये ॥ २ ॥

—❀:०:❀—

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि द्वितीयाध्याये एकादशखण्ड-
 भाष्यं सम्पूर्णम् ॥ ११ ॥

द्वादश खण्ड

रथन्तरसामकी उपासना

अभिमन्थति स हिंकारो धूमो जायते स प्रस्तावो
 ज्वलति स उद्गीथोऽङ्गारा भवन्ति स प्रतिहार
 उपशाम्यति तन्निधनं स शांम्यति तन्निधनमेतद्रथन्त-
 रमग्नौ प्रोतम् ॥ १ ॥

अभिमन्थन करता है—यह हिंकार है, धूम उत्पन्न होता है—यह
 प्रस्ताव है, प्रज्वलित होता है—यह उद्गीथ है, अङ्गार होते हैं—यह
 प्रतिहार है तथा शान्त होने लगता है—यह निधन है और सर्वथा शान्त
 हो जाता है—यह भी निधन है । रथन्तरसाम अग्निमें प्रतिष्ठित है ॥ १ ॥

अभिमन्यति स हिंकारः प्राथ-
म्यात् । अग्नेर्धूमो जायते स
प्रस्ताव आनन्तर्यात् । ज्वलति
स उद्गीथो हविःसंवन्धाच्छ्रैष्ठ्यं
ज्वलनस्य । अङ्गारा भवन्ति स
प्रतिहारोऽङ्गाराणां प्रतिहृतत्वात् ।
उपशमः सावशेषत्वाग्नेः संशमो
निःशेषोपशमः समाप्तिसामान्या-
विधनम् । एतद्रथन्तरमग्नौ प्रोतम्;
मन्यने ह्यग्नेर्गीयते ॥ १ ॥

[अग्निका] अभिमन्यन करता
है—यह सर्वप्रथम होनेके कारण
हिंकार है । अग्निसे जो धुआं उत्पन्न
होता है वह इसका पश्चाद्वर्ती
होनेके कारण प्रस्ताव है । अग्नि
जलता है—यह उद्गीथ है, हविका
संवन्ध होनेके कारण अग्निके
प्रज्वलित होनेकी श्रेष्ठता है । अङ्गार
होते हैं—यह प्रतिहार है, क्योंकि
अङ्गारोंका प्रतिहरण किया जाता
है । अग्निके बुझनेमें कसर रह जानेके
कारण उपशम और उसका संबंध
शान्त हो जाना संशम रूप निघन हैं,
क्योंकि उसके साथ समाप्तिये इनकी
समानता है । यह रथन्तरसाम अग्नि-
में अनुस्यूत है तथा यह अग्नि-मन्यन-
कालमें गाया जाता है ॥ १ ॥

— ❀ —

स य एवमेतद्रथन्तरमग्नौ प्रोतं वेद ब्रह्मवर्चस्यन्नादो
भवति सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति महान्प्रजया पशुभिर्भवति
महान्कीर्त्या न प्रत्यङ्ङग्निमाचामेन्न निधीवेत्तद्व्रतम् । २ ।

वह, जो पुरुष इस प्रकार इस रथन्तरसामको अग्निमें अनुस्यूत
जानता है वह ब्रह्मतेज सम्पन्न और अन्नका भोक्ता होता है, पूर्ण जीवनका
उपभोग करता है, उज्ज्वल जीवन व्यतीत करता है, प्रजा और पशुओंके
कारण महान् होता है तथा कीर्तिके कारण महान् होता है । अग्निकी
और मुख करके भक्षण न करे और न थूके ही—यह व्रत है ॥ २ ॥

स य इत्यादि पूर्ववत् । ब्रह्म-
वर्चसी वृत्तस्वाध्यायनिमित्तं

'स य' इत्यादि मन्त्रका अर्थ
पूर्ववत् समझना चाहिये । ब्रह्मवर्चसी
—सदाचार और स्वाध्यायके

तेजो ब्रह्मवर्चसम्, तेजस्तु
केवलं त्विड्भावः । अन्नादो
दीप्ताग्निः । न प्रत्यङ्ङग्नेरभिमुखो
नाचासेन भक्षयेत्किञ्चिन्न निष्ठी-
वेच्च श्लेष्मनिरसनं च न कुर्या-
त्तद्व्रतम् ॥ २ ॥

निमित्तसे प्राप्तहुआ तेज 'ब्रह्मवर्चस'
कहलाता है, केवल तेज तो त्विड्-
भाव (कान्ति) का नाम है ।
'अन्नाद' का अर्थ दीप्ताग्नि है ।
अग्निकी ओर मुख करके आचमन
यानी कुछ भी भक्षण न करे और न
निष्ठीवन—श्लेष्मा (कफ) का ही
त्याग करे—यह व्रत है ॥ २ ॥

—:०:—

इतिछान्दोग्योपनिषदि द्वितीयाध्याये
द्वादशखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥ १२ ॥

त्रयोदश खण्ड

—:०:—

वामदेव्यसामकी उपासना

उपमन्त्रयते स हिंकारो ज्ञपयते स प्रस्तावः स्त्रिया सह
शेते स उद्गीथः प्रतिस्त्रीं सह शेते स प्रतिहारः कालं गच्छति
तन्निधनं पारं गच्छति तन्निधनमेतद्वामदेव्यं मिथुने प्रोतम् १

पुरुष जो संकेत करता है, वह हिंकार है; जो तोष देता (प्रसन्न
करनेके लिये मीठी बातें कहता) है, वह प्रस्ताव है; स्त्रीके साथ जो सोता
है वह उद्गीथ है; अपनी अनेक पत्नियोंमेंसे प्रत्येकके साथ जो शयन
(अनुकूल वर्तवि) करता है, वह प्रतिहार है; मिथुनद्वारा जो समय बिताता
है, वह निधन है; मैथुन आदि क्रियाकी जो समाप्ति करता है, वह भी
निधन ही है, यह वामदेव्य साम मिथुनमें ओत-प्रोत है ॥ १ ॥

उपमन्त्रयते संकेतं करोति प्राथ-

पुरुष जो उपमन्त्रण—संकेत

म्यात्स हिंकारः । ज्ञपयते तोषयति

करता है, वह प्रथम होनेसे हिंकार
है । जो ज्ञापन करता—मीठी बातें कह-

स प्रस्तावः । सहशयनमेकपर्यङ्कग-

कर तोष देता है, वह प्रस्ताव है । स्त्री-
पुरुषका जो साथ सोना—एक शय्यापर

सनं स उद्गीथः श्रैष्ठ्यात् । प्रतिस्त्रीं

जाना है, वह उद्गीथ है, क्योंकि (उत्तम

शयनं द्वियोगमिमुखीभावः स

प्रतिहारः । कालं गच्छति मैथुनेन

पारं समाप्तिं गच्छति तन्निधनम् ।

एतद्वामदेव्यं मिथुने श्रोतम् ,

वाय्वम्बुमिथुनसम्बन्धात् ॥१॥

सन्तानकी प्राप्तिका हेतु होनेके कारण) वह उत्कृष्ट है । अपनी अनेक पत्नियों-मेसे प्रत्येकके साथ जो शयन करना—सम्मुख या अनुकूल होना है, वह प्रतिहार है । पुरुष मिथुनद्वारा जो समय बिताता है तथा मैथुनक्रियाकी जो समाप्ति करता है, वह निधन है । यह वामदेव्य साम मिथुनमे श्रोतश्रोत है; क्योंकि वायु और जलके मिथुन (जोड़े) से इसका सम्बन्ध है ॥ १ ॥

—*—

स य एवमेतद्वामदेव्यं मिथुने श्रोतं वेद मिथुनी भवति मिथुनान्मिथुनात्प्रजायते सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति महान्प्रजया पशुभिर्भवति महान्कीर्त्या न काञ्चन परिहरेत्तद्व्रतम् ॥ २ ॥

जो पुरुष इस प्रकार इस वामदेव्य सामको मिथुनमे श्रोतश्रोत जानता है, वह मिथुनवान् (दाम्पत्य-सुखसे सम्पन्न) होता है, प्रत्येक मैथुनसे संतानको जन्म देता है । सारी आयुका उपभोग करता है, उज्ज्वल जीवन बिताता है । प्रजा और पशुओंके कारण महान् होता है तथा कीर्तिके कारण भी महान् होता है । जिस उपासकके अनेक पत्नियाँ हो वह उनमेंसे किसीका भी परित्याग न करे, यह (वामदेव्योपासकका) व्रत है ॥ २ ॥

स य इत्यादि पूर्ववत् । मिथुनी

भवत्यविधुरो भवतीत्यर्थः । मिथुना-

न्मिथुनात्प्रजायत इत्यमोघरेतस्त्व-

मुच्यते । न काञ्चन काञ्चिदपि

स्त्रियं स्वात्मतत्त्वप्राप्तां न परिहरेत्स-

‘स य’ इत्यादि मन्त्रभागका अर्थ पूर्ववत् है । मिथुनवान् होता है अर्थात् कभी विधुर (पत्नीके संयोग-सुखसे वञ्चित) नहीं होता है । मिथुन-मिथुन-से संतानको जन्म देता है, इस कथनके द्वारा उसकी अमोघवीर्यता बतायी जाती है । अपनी बहुत-सी स्त्रियोंमेंसे जो कोई जब कभी समागमकी इच्छा लेकर अपनी शय्यापर आ जाय, उसका परित्याग न

मागमार्थिनीम्, वामदेव्यसामो-
पासनाङ्गत्वेन विधानात्। एतस्मा-
दन्यत्र प्रतिषेधस्मृतयः। वचनप्रा-
माण्याच्च धर्मावगतेर्न प्रतिषेध-
शास्त्रेणास्य विरोधः ॥ २ ॥

करे; क्योंकि वामदेव्य सामोपासनाके
अङ्गरूपसे इसका विधान किया गया है।
स्मृतियोंके निषेध-वचन इस वामदेव्यो-
पासनासे अन्यत्र ही लागू होते हैं। श्रुति-
के वचनोंके प्रमाणसे ही धर्मका निश्चय
होता है, अतः निषेधशास्त्रके साथ इस
विधिका विरोध नहीं है ॥ २ ॥

—:०:—

इति छान्दोग्योपनिषद्

द्वितीयाध्याये

त्रयोदशखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥ १३ ॥

—:०:—

चतुर्दश खण्ड

—:०:—

बृहत्सामकी उपासना

उद्यन्धिकार उदितः प्रस्तावो मध्यन्दिन उद्गीथो-
ऽपराह्णः प्रतिहारोऽस्त्यन्निधनमेतद्बृहदादित्ये प्रोतम् ॥ २ ॥

उदित होता हुआ सूर्य हिकार है, उदित हुआ प्रस्ताव है, मध्याह्नकालिक
सूर्य उद्गीथ है, मध्याह्नोत्तरकालिक प्रतिहार है और जो अस्तमित होनेवाला
सूर्य है, वह निधन है। यह बृहत्साम सूर्यमें स्थित है ॥ १ ॥

उद्यन्सविता स हिकारः
प्राथम्यादर्शनस्य । उदितः
प्रस्तावः प्रस्तवनहेतुत्वात् कर्मणा-
म् । मध्यन्दिन उद्गीथः श्रैष्ठ्यात् ।
अपराह्णः प्रतिहारः पश्चादीनां
गृहान् प्रति हरणात् । यदस्तं
यस्तन्निधनं रात्रौ गृहे निधानात्
प्राणिनाम् । एतद्बृहदादित्ये
प्रोतं बृहत् आदित्यदैवत्य-
त्वात् ॥ १ ॥

उदित होता हुआ जो सूर्य है वह
हिकार है, क्योंकि उसका दर्शन सबसे
पहले होता है। उदित हुआ सूर्य
कर्मोंके प्रस्तवनका हेतु होनेके कारण
प्रस्ताव है। मध्याह्नकालीन सूर्य
उत्कृष्ट होनेके कारण उद्गीथ है। पशु
आदिको घरोंकी ओर ले जानेके
कारण अपराह्णसूर्य प्रतिहार है। तथा
जो अस्तको प्राप्त होनेवाला सूर्य है
वह रातमें सम्पूर्ण प्राणियोंको अपने
घरोंमें निहित करनेवाला होनेसे निधन
है। यह बृहत्साम सूर्यमें स्थित है, क्यों-
कि बृहत्का सूर्य ही देवता है ॥ १ ॥

—:०:—

स य एवमेतद्वृहदादित्ये प्रोतं वेद तेजस्व्यन्नादो
भवति सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति महान्प्रजया पशुभि-
र्भवति महान्कीर्त्या तपन्तं न निन्देत्तद्व्रतम् ॥ २ ॥

वह पुरुष, जो इस प्रकार इस बृहत्सामको सूर्यमे स्थित
जानता ह, तेजस्वी और अन्नका भोग करनेवाला होता है। वह पूर्ण
आयुको प्राप्त होता है, उज्ज्वल जीवन व्यतीत करता है, प्रजा और
पशुओंके कारण महान् होता है तथा कीर्तिके कारण भी महान् होता
है। तपने हुए सूर्यकी निन्दा न करे—यह नियम है ॥ २ ॥

स य इत्यादि पूर्ववत् । तपन्तं
न निन्देत्तद्व्रतम् ॥ २ ॥

‘स य’ इत्यादि श्रुतिका अर्थ
पूर्ववत् है। तपते हुए सूर्यकी
निन्दा न करे—यह [बृहत्सामो-
पासकके लिये] नियम है ॥ २ ॥

— ० —

इति च्छान्दोग्योपनिषदि . द्वितीयाध्याये
चतुर्दशअण्डभाष्य सम्पूर्णम् ॥ १४ ॥



— ० —

पञ्चदश खण्ड

वैरूपसामकी उपासना

अभ्राणि संप्लवन्ते स हिंकारो मेघो जायते स
प्रस्तावो वर्षति स उद्गीथो विद्योतते स्तनयति स प्रतिहार
उद्गृह्णाति तन्निधनमेतद्वैरूपं पर्जन्ये प्रोतम् ॥ १ ॥

बादल एकत्रित होते हैं—यह हिंकार है। मेघ उत्पन्न होता है—
यह प्रस्ताव है। जल बरसता है—यह उद्गीथ है। विजली चमकती
और कड़कती है—यह प्रतिहार है तथा वृष्टिका उपसंहार होता है—
यह निधन है। यह वैरूप साम मेघमें ओतप्रोत है ॥ १ ॥

अभ्राण्यम्बरान्मेघ उदक-
सेक्तृत्वात्। उक्तार्थमन्यत्। एतद्वै-
रूपं साम पर्जन्ये प्रोतम्। अनेक-
रूपत्वादभ्रादिभिः पर्जन्यस्य
वैरूप्यम् ॥ १ ॥

जलधारण करनेके कारण
बादलोंका नाम 'अभ्र' है तथा जल-
सेचन करनेवाले होनेसे वे 'मेघ'
कहलाते हैं। शेष सबका अर्थ पहले
[खण्ड ३ मन्त्र १ में] कहा
जा चुका है। यह 'वैरूप' नामक
साम मेघमें अनुस्यूत है। अभ्रादि-
रूपसे अनेकरूप होनेके कारण
पर्जन्यकी विविधरूपता है ॥ १ ॥

स य एवमेतद्वैरूपं पर्जन्ये प्रोतं वेद विरूपाँश्च
सुरूपाँश्च पशूनवरुन्धे सर्वमायुरेति ज्यो जीवति महान्
प्रजया पशुभिर्भवति महान्कीर्त्या वर्षन्तं न निन्देत्तद्व्र-
तम् ॥ २ ॥

वह पुरुष, जो इस प्रकार इस वैरूप सामको पर्जन्यमे अनुस्यूत
जानता है वह विरूप और सुरूप पशुओंका अवरोध करता है, पूर्ण
आयुको प्राप्त होता है, उज्ज्वल जीवन व्यतीत करता है, प्रजा और
पशुओंके कारण महान् होता है तथा कीर्तिके कारण महान् होता है।
वसते हुए मेघकी निन्दा न करे—यह व्रत है ॥ २ ॥

विरूपांश्च सुरूपांश्चाजावि-
प्रभृतीन् पशूनवरुन्धे प्राप्नोती-
त्यर्थः । वर्षन्तं न निन्देत्तद्व्र-
तम् ॥ २ ॥

वह दकरी और भेड़ आदि
विरूप एवं सुरूप पशुओंका अवरोध
करता है, अयत्ति उन्हें प्राप्त करता
है। वसते हुए मेघकी निन्दा न
करे—यह [वैरूपसामोपासकके
लिये] नियम है ॥ २ ॥

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि द्वितीयाध्याये
पञ्चदशखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥ १५ ॥



षोडश खण्ड

—: * :—

वैराजसामकी उपासना

वसन्तो हिंकारो ग्रीष्मः प्रस्तावो वर्षा उद्गीथः
शरत्प्रतिहारो हेमन्तो निघनमेतद्वैराजमृतुषु प्रोतम् ॥ १ ॥

वसन्त हिंकार है, ग्रीष्म प्रस्ताव है, वर्षा उद्गीथ है, शरद् ऋतु प्रतिहार है, हेमन्त निघन है—यह वैराज साम ऋतुओंमें अनुस्यूत है ॥ १ ॥

वसन्तो हिंकारः प्राथम्यात् । सर्वप्रथम होनेके कारण वसन्त
हिंकार है, ग्रीष्म प्रस्ताव है इत्यादि
ग्रीष्मः प्रस्ताव इत्यादि पूर्ववत् ॥ १ ॥ अर्थ पूर्ववत् समझना चाहिये ॥ १ ॥

—: ० :—

स य एवमेतद्वैराजमृतुषु प्रोतं वेद विराजति
प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन सर्वमायुरेति ज्योञ्जीवति
महान्प्रजया पशुभिर्भवति महान्कीर्त्यतून्न निन्देत्त-
द्व्रतम् ॥ २ ॥

वह पुरुष, जो इस प्रकार इस वैराज सामको ऋतुओंमें अनुस्यूत जानता है, प्रजा पशु और ब्रह्मतेजके कारण शोभित होता है, वह

पूर्ण आयुको प्राप्त होता है, उज्ज्वल जीवन व्यतीत करता है, प्रजा और पशुओंके कारण महान् होता है तथा कीर्तिके कारण भी महान् होता है । ऋतुओंकी निन्दा न करे—यह व्रत है ॥ २ ॥

<p>एतद्वैराजमृतुषु प्रोतं वेद विराजति ऋतुवद्यथर्तव आर्त- वैर्धमैर्विराजन्त एवं प्रजादिभि- विद्वानित्युक्तमन्यत् । ऋतून् निन्देत्तद्व्रतम् ॥ २ ॥</p>	<p>इस वैराज सामको जो ऋतुओमे अनुस्यूत जानता है वह ऋतुओके समान विराजता है । जिस प्रकार ऋतुएं ऋतुसम्बन्धी धर्मोंके कारण शोभाको प्राप्त होती हैं उसी प्रकार विद्वान् प्रजा आदिके कारण सुशोभित होता है । और सब अर्थ कहा जा चुका है । ऋतुओंकी निन्दा न करे—यह [वैराजसामो- पासकके लिये] नियम है ॥ २ ॥</p>
---	--

—: * :—

इतिच्छान्दोग्योपनिषद् द्वितीयाध्याये
षोडशखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥ १६ ॥



सप्तदश खण्ड

—:८:—

शक्वरीसामकी उपासना

पृथिवी हिंकारोऽन्तरिक्षं प्रस्तावो द्यौरुद्गीथो दिशः
प्रतिहारः समुद्रो निधनमेताः शक्यो लोकेषु प्रोताः ॥ १ ॥

पृथिवी हिंकार है, अन्तरिक्ष प्रस्ताव है, द्युलोक उद्गीथ है, दिशाएँ
प्रतिहार हैं और समुद्र निधन है—यह शक्वरीसाम लोकोंमें अनुस्यूत है ॥ १ ॥

<p>पृथिवी हिंकार इत्यादि पूर्व- वत् । शक्य इति नित्यं बहु- वचनम्, रेवत्य इव । लोकेषु प्रोताः ॥ १ ॥</p>	<p>‘पृथिवी हिंकारः’ इत्यादि श्रुति- का अर्थ पूर्ववत् है । ‘रेवत्यः’ इस पदके समान ‘शक्यः’ यह पद सर्वदा बहुवचनान्त है । [यह शक्वरी- साम] लोकोंमें अनुस्यूत है ॥ १ ॥</p>
--	---

—:९:—

स य एवमेताः शक्यो लोकेषु प्रोता वेद लोकी
भवति सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति महान्प्रजया पशुभि-
र्भवति महान्कीर्त्या लोकान्न निन्देत्तद्व्रतम् ॥ २ ॥

वह पुरुष, जो इस प्रकार इस शक्वरीसामको लोकोंमें अनुस्यूत जानता
है, लोकवान् होता है, वह सम्पूर्ण आयुको प्राप्त होता है । उज्ज्वल जीवन
व्यतीत करता है । प्रजा और पशुओंके कारण महान् होता है तथा
कीर्तिके कारण भी महान् होता है । लोकोंकी निन्दा न करे—यह
व्रत है ॥ २ ॥

<p>लोकी भवति लोकफलेन युज्यत इत्यर्थः । लोकान्न निन्देत्त- द्व्रतम् ॥ २ ॥</p>	<p>लोकी होता है अर्थात् लोक- सम्बन्धी फलसे सम्पन्न होता है । लोकोंकी निन्दा न करे—यह [शक्वरी सामोपासकके लिये] नियम है ॥ २ ॥</p>
--	---

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि द्वितीयाध्याये
सप्तदशखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥ १७ ॥

—:०:—

अष्टादश खण्ड

— * —

रेवतीसामकी उपासना

अजा हिंकारोऽव्ययः प्रस्तावो गाव उद्गीथोऽश्वाः
प्रतिहारः पुरुषो निधनमेता रेवत्यः पशुषु प्रोताः ॥ १ ॥

बकरी हिंकार है, भेड़ें प्रस्ताव हैं, गौएँ उद्गीथ हैं, घोड़े प्रतिहार हैं और पुरुष निधन है—यह रेवतीसाम पशुओंमें अनुस्यूत है ॥ १ ॥

अजा हिंकार इत्यादि | 'अजा हिंकारः' इत्यादि मन्त्रका
अर्थ पूर्ववत् है। यह [रेवतीसाम]
पूर्ववत् । पशुषु प्रोताः ॥ १ ॥ | पशुओंमें अनुस्यूत है ॥ १ ॥

— ❀ —

स य एवमेता रेवत्यः पशुषु प्रोता वेद पशुमान्
भवति सर्वमायुरेति ज्योऽजीवति महान्प्रजया पशुभि-
र्भवति महान्कीर्त्या पशून् निन्देत्तद्व्रतम् ॥ २ ॥

वह पुरुष, जो इस प्रकार इस रेवतीसामको पशुओंमें अनुस्यूत जानता है, पशुमान् होता है, वह पूर्ण आयुको प्राप्त होता है। उज्ज्वल जीवन व्यतीत करता है। प्रजा और पशुओंके कारण महान् होता है तथा कीर्तिके कारण भी महान् होता है। पशुओंकी निन्दा न करे, यह नियम है ॥ २ ॥

पशून् निन्देत्तद्व्रतम् ॥ २ ॥ | पशुओंकी निन्दा न करे—
यह [रेवतीसामोपासकके लिये]
नियम है ॥ २ ॥

— ❀ —

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि द्वितीयाध्याये
अष्टादशखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥ १८ ॥

— ❀ —

एकोनविंश खण्ड

—०:०—

यज्ञायजीयसामकी उपासना

लोम हिंकारस्त्वक्प्रस्तावो मांसमुद्गीथोऽस्थिप्रतिहारो मज्जा निधनमेतद्यज्ञायजीयमङ्गेषु प्रोतम् ॥ १ ॥

लोम हिंकार है, त्वचा प्रस्ताव है, मांस, उद्गीथ है, अस्थि प्रतिहार है और मज्जा निधन है । यह यज्ञायजीय साम अङ्गोंमें अनुस्यूत है ॥ १ ॥

<p>लोम हिंकारो देहावयवानां प्राथम्यात् । त्वक्प्रस्ताव आन- न्तर्यात् । मांसमुद्गीथः श्रैष्ठ्यात् । अस्थि प्रतिहारः प्रतिहृतत्वात् । मज्जा निधनमानन्त्यात् । एतद्यज्ञायजीयं नाम साम देहावयवेषु प्रोतम् ॥ १ ॥</p>	<p>देहके अवयवोंमें सर्वप्रथम होनेके कारण लोम हिंकार है । लोमोंके अनन्तर होनेके कारण त्वचा प्रस्ताव है । उत्कृष्ट होनेके कारण मांस उद्गीथ है प्रतिहृत होनेके कारण अस्थि प्रतिहार है तथा सबके अन्तमें स्थित होनेके कारण मज्जा निधन है । यह यज्ञायजीय- नामक साम देहके अवयवोंमें अनुस्यूत है ॥ १ ॥</p>
---	--

—*::*—

स य एवमेतद्यज्ञायजीयमङ्गेषु प्रोतं वेदाङ्गी भवति
नाङ्गेन विहूर्लसि सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति महान्प्रजया
पशुभिर्भवति महान्कीर्त्या संवत्सरं मज्जो नाशनीयात्त-
द्व्रतं मज्जो नाशनीयादिति वा ॥ २ ॥

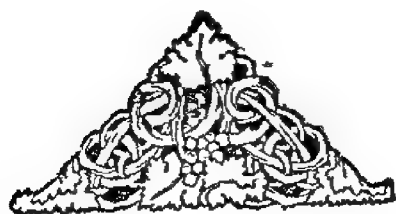
वह पुरुष, जो इस प्रकार इस यज्ञायज्ञोय सामको अङ्गोंमें अनुस्यूत जानता है, अङ्गवान होता है । वह अङ्गके कारण कुटिल नहीं होता, पूर्ण आयुको प्राप्त होता है, उज्ज्वल जीवन व्यतीत करता है, प्रजा और पशुओंके कारण महान् होता है तथा कीर्तिके कारण भी महान् होता है । एक वर्षनक मासभक्षण न करे—यह व्रत है, अथवा [सर्वदा ही] मासभक्षण न करे—ऐसा नियम है ॥ २ ॥

अङ्गी भवति समग्राङ्गी भव-
तीत्यर्था नाङ्गेन हस्तपादादिना
विहर्छति न कुटिली भवति पङ्गुः
कुणी चेत्पर्थः । संवत्सरं संव-
त्सरमात्रं मज्जो मांसानि नाश्नी-
यान्न भक्षयेत् । बहुवचनं
मत्स्योपलक्षणार्थम् । मज्जो
नाश्नीयात्सर्वदैव नाश्नीयादिति
वा तद्व्रतम् ॥ २ ॥

अङ्गी होता है अर्थात् पूर्णाङ्ग
होता है । अङ्ग अर्थात् हाथ-पाँव
आदिके द्वारा कुटिल यानी लंगड़ा या
श्मश्रुरहित नहीं होता । संवत्सरपर्यन्त
अर्थात् केवल एक साल मासभक्षण
न करे । 'मज्ज' इस पदमें बहु-
वचन मछलियोंको उपलक्षित करानेके
लिये है [अर्थात् मास एवं
मत्स्यादि न खाय] । अथवा 'मज्जो
नाश्नीयात्—सर्वदा ही मास मछली
न खाय—ऐसा नियम है ॥ २ ॥

— ❀ —

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि द्वितीयाध्याये एकोन-
विंशखण्डभाष्य सम्पूर्णम् ॥ १६ ॥



विंश खण्ड

—❀—

राजनसामकी उपासना

अग्निर्हिकारो वायुः प्रस्ताव आदित्य उद्गीथो
नक्षत्राणि प्रतिहारश्चन्द्रमा निधनमेतद्राजनं देवतासु
प्रोतम् ॥ १ ॥

अग्नि हिंकार है, वायु प्रस्ताव है, आदित्य उद्गीथ है, नक्षत्र प्रति-
हार हैं, चन्द्रमा निधन है—यह राजनसाम देवताओंमें अनुस्यूत है ॥१॥

अग्निर्हिकारः प्रथमस्थानत्वात् ।
वायुः प्रस्ताव आनन्तर्यसामा-
न्यात् । आदित्य उद्गीथः
श्रैष्ठ्यात् । नक्षत्राणि प्रतिहारः
प्रतिहृतत्वात् । चन्द्रमा निधनं
कर्मिणां तन्निधनात् । एतद्राजनं
देवतासु प्रोतं देवतानां दीप्ति-
मत्त्वात् ॥ १ ॥

अग्नि हिंकार है, क्योंकि उसका
स्थान सर्वप्रथम है । आनन्तर्यमें
तुल्यता होनेके कारण वायु प्रस्ताव
है । उत्कृष्ट होनेके कारण आदित्य
उद्गीथ है । प्रतिहृत होनेके कारण
नक्षत्र प्रतिहार हैं तथा चन्द्रमा
निधन है, क्योंकि उसीमें कर्म-
काण्डियोंका निधन होता है । यह
राजनसाम देवताओंमें अनुस्यूत
है, क्योंकि देवगण दीप्तिमान्
होते हैं ॥ १ ॥

विद्वत्फलम्—

इस उपासनाके विद्वान्को प्राप्त
होनेवाला फल—

स य एवमेतद्राजनं देवतासु प्रोतं वेदैतासामेव
देवतानां सलोकतां सार्ष्टितां सायुज्यं गच्छति सर्व-

मायुरेति ज्योऽजीवति महान् प्रजया पशुभिर्भवति
महान् कीर्त्या ब्राह्मणान्न निन्देत्तद्व्रतम् ॥ २ ॥

वह पुरुष, जो इस प्रकार इस राजनसामको देवताओंमें अनुस्यूत जानता है, उन्हीं देवताओंके सालोक्य, साष्टित्व (तुल्य ऐश्वर्य) और सायुज्यको प्राप्त हो जाता है। वह पूर्ण आयुको प्राप्त होता है, उज्ज्वल जीवन व्यतीत करता है, प्रजा और पशुओंके द्वारा महान् होता है तथा कीर्तिके द्वारा भी महान् होता है। ब्राह्मणोंकी निन्दा न करे—यह व्रत है ॥ २ ॥

एतासामेवाग्न्यादीनां देवता-
नां सलोकतां समानलोकतां
साष्टितां समानद्वित्वं सायुज्यं
सयुग्भावमेकदेहदेहित्वमित्येतत् ।
वाशब्दोज्ज्वलुप्तो द्रष्टव्यः ।
सलोकतां वेत्यादि । भावना-
विशेषतः फलविशेषोपपत्तेः ।
गच्छति प्राप्नोति । समुच्चयानुप-
पत्तेश्च । ब्राह्मणान्न निन्देत्तद्व्रतम् ।
“एते वै देवाः प्रत्यक्षं यद्ब्राह्मणाः”
इति श्रुतेर्ब्राह्मणनिन्दा देवता-
निन्दैवेति ॥ २ ॥

इन अग्नि आदि देवताओंकी ही सलोकता—समानलोकता, साष्टिता—पमान ऐश्वर्य, सायुज्य—परस्पर मिल जानेके भावको अर्थात् एक ही देहके देहित्वको प्राप्त हो जाता है। यहाँ ‘वा’ शब्द लुप्त समझना चाहिये। अतः ‘सलोकता वा’ इत्यादि पाठ जानना चाहिये। क्योंकि भावनाविशेषसे फलविशेषकी उत्पत्ति होती है और इन सब फलोंका समुच्चय होना [अर्थात् एक ही उपासकको इन सब फलोंका प्राप्त होना] भी सम्भव नहीं है। ब्राह्मणोंकी निन्दा न करे—यह इस प्रकारके उपासकके लिये नियम है। “ये जो ब्राह्मण हैं प्रत्यक्ष देवता ही हैं” ऐसी श्रुति होनेसे ब्राह्मण-निन्दा देवनिन्दा ही है ॥ २ ॥

—:ॐ:—

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि द्वितीयाध्याये
विंशसख्यभाष्यं सम्पूर्णम् ॥ २ ॥

—:ॐ:—

एकविंश खण्ड

—:०:—

सर्वविषयक सामकी उपासना

त्रयी विद्या हिंकारस्त्रय इमे लोकाः प्रस्तावोऽग्नि-
वायुरादित्यः स उद्गीथो नक्षत्राणि वयाँसि मरीचयः
स प्रतिहारः सर्पा गन्धर्वाः पितरस्तन्निधनमेतत्साम
सर्वस्मिन्प्रोतम् ॥ १ ॥

त्रयीविद्या हिंकार है। ये तीन लोक प्रस्ताव हैं। अग्नि, वायु और आदित्य—ये उद्गीथ हैं। नक्षत्र, पक्षी और किरणें—ये प्रतिहार हैं। सर्प, गन्धर्व और पितृगण—ये निधन हैं। यह सामोपासना सबमें अनुस्यूत है ॥ १ ॥

त्रयी विद्या हिंकारः । अग्न्या-
दिसाम्न आनन्तर्यं त्रयीविद्याया
अग्न्यादिकार्यत्वश्रुतेः । हिंकारः
प्राथम्यात्सर्वकर्तव्यानाम् । त्रय इमे
लोकास्तत्कार्यत्वादनन्तरा इति
प्रस्तावः । अग्न्यादीनामुद्गीथत्वं
श्रैष्ठ्यात् । नक्षत्रादीनां प्रतिहृत-

त्रयीविद्या हिंकार है। त्रयीविद्या अग्नि आदिका कार्य है—ऐसी श्रुति होनेके कारण त्रयीविद्या अग्नि आदि सामोपासनाके पश्चात् कही गयी है। सम्पूर्ण कर्मोंके आरम्भमें होनेके कारण त्रयीविद्या हिंकार है। उसके कार्य होनेके कारण ये तीन लोक उसके पश्चाद्बर्ती हैं, अतः ये प्रस्ताव हैं। उत्कृष्टताके कारण अग्नि आदिका उद्गीथत्व बतलाया गया है। तथा प्रतिहृत होनेके कारण नक्षत्रादिकी प्रतिहारता है।

त्वात्प्रतिहारत्वम् । सर्पादीनां
धकारसामान्यान्निधनत्वम् ।

और घकाग्ने समानता होनेके
कारण सर्पादिका निधनत्व बतलाया
गया है ।*

एतत्साम नामविशेषाभावा-
त्सामसमुदायः सामशब्दः सर्व-
स्मिन्प्रोतम् । त्रयीविद्यादि हि
सर्वम् । त्रयीविद्यादिदृष्ट्या
हिंकारादिसामभक्तय उपास्याः
अतीतेष्वपि सामोपासनेषु येष
प्रोतं यद्यत्साम तद्दृष्ट्या तदु-
पास्यमिति । कर्माङ्गानां दृष्टि-
विशेषेणाज्यस्येव संस्कार्यत्वात्
॥ १ ॥

यह साम—किसी नामविशेष-
का अभाव होनेके कारण यह
सामसमुदाय अर्थात् 'साम' शब्द
सबमें अनुस्यूत है । त्रयीविद्या
आदि ही सब कुछ हैं, तथा त्रयी-
विद्या आदि दृष्टिसे ही हिंकार आदि
सामभक्तियोंकी उपासना करनी
चाहिये । पीछे बतलायी हुई सामो
पासनाओंमें भी जिन जिनमें जो-जो
साम अनुस्यूत ह इन त्रयीविद्या
आदिकी दृष्टिसे ही उनकी उपासना
करनी चाहिये । ['पत्न्यावेक्षित-
माज्य भवति' इस वाक्यके अनुसार
पत्नीकी दृष्टि पड़नेसे] जैसे आज्य
संस्कारयुक्त होता है, उसी प्रकार
सभी कर्माङ्ग दृष्टिविशेषसे ही संस्कार
किये जाने योग्य हैं ॥ १ ॥



सर्वविषयसामविदः फलम्—

सर्वविषयक सामके विद्वान्को
मिलनेवाला फल—

स य एवमेतत्साम सर्वस्मिन्प्रोतं वेद सर्वं ह
भवति ॥ २ ॥

*यहाँ 'सर्प' शब्दका पर्याय 'विषधर', 'कणधर' आदि कोई धकारविशिष्ट
शब्द लेना चाहिये, जैसा कि २।२। के भाष्यमें भाष्यकारने अन्तरिक्षको उद्गीय
बतलाते हुए अन्तरिक्षके पर्यायभूत गकारविशिष्ट 'गगन' शब्दका ग्रहण किया है ।

वह, जो इस प्रकार सबमें अनुस्यूत इस सामको जानता है सर्वरूप हो जाता है ॥ २ ॥

सर्वं ह भवति सर्वेश्वरो भव-
तीत्यर्थः । निरुपचरितसर्वभावे
हि दिक्स्थेभ्यो बलिप्राप्त्यनुप-
पत्तिः ॥ २ ॥

सर्व हो जाता है अर्थात् सर्वेश्वर
हो जाता है; क्योंकि सर्वभावका
उपचार हुए बिना सम्पूर्ण दिशाओं-
में स्थित पुरुषोंसे बलि प्राप्त होना
सम्भव नहीं है ॥ २ ॥

— ❀ —

सर्वविषयक सामकी उपासनाका उत्कर्ष

तदेष्ट श्लोको यानि पञ्चधा त्रीणि त्रीणि तेभ्यो
न ज्यायः परमन्यदस्ति ॥ ३ ॥

इसी विषयमें यह मन्त्र भी है—जो पाँच प्रकारके तीन-तीन बत-
लाये गये हैं, उनसे श्रेष्ठ तथा उनके अतिरिक्त और कोई नहीं है ॥ ३ ॥

तदेष्टस्मिन्नर्थ एष श्लोको
मन्त्रोऽप्यस्ति । यानि पञ्चधा
पञ्चप्रकारेण हिंकारादिविभागैः
प्रोक्तानि त्रीणि त्रीणि त्रयी-
विद्यादीनि तेभ्यः पञ्चत्रिकेभ्यो
ज्यायो महत्तरं परं च व्यति-
रिक्तमन्यद्वस्त्वनन्तरं नास्ति न
विद्यत इत्यर्थः । तत्रैव हि सर्व-
स्यान्तर्भावः ॥ ३ ॥

इसी अर्थमें यह श्लोक यानी मन्त्र
भी है । हिंकारादि-विभागोंद्वारा
जो पाँच प्रकारसे बतलाये हुए तीन-
तीन हैं यानी त्रयीविद्या आदि हैं,
उन पाँच त्रिकोंकी अपेक्षा उत्कृष्ट—
महान् और उनसे भिन्न कोई दूसरी
वस्तु नहीं है—यह इसका तात्पर्य
है । अर्थात् उन्हींमें सम्पूर्ण वस्तुओं-
का अन्तर्भाव हो जाता है ॥ ३ ॥

— ❀ —

यस्तद्वेद स वेद सर्वं सर्वा दिशो बलिमस्मै
हरन्ति सर्वमस्मीत्युपासीत तद्व्रतं तद्व्रतम् ॥ ४ ॥

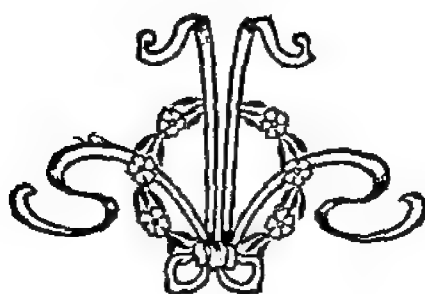
जो उसे जानता है वह सब कुछ जानता है । उसे सभी दिशाएँ बलि समर्पित करती हैं । 'मैं सब कुछ हूँ' इस प्रकार उपासना करे— यह नियम है, यह नियम है ॥४॥

यस्तद्यथोक्तं सर्वात्मकं साम
वेद स वेद सर्वं स सर्वज्ञो भव-
तीत्यर्थः । सर्वा दिशः सर्वदि-
क्स्था अस्मा एवंविदे बलिं भोगं
हरन्ति प्रापयन्तीत्यर्थः । सर्व-
मस्मि भवामीत्येवमेतत्सामोपा-
सीत तस्यैतदेव व्रतम् । द्विरुक्तिः
सामोपासनसमाप्त्यर्था ॥ ४ ॥

जो पुरुष इस पूर्वोक्त सर्वात्मक सामको जानता है, वह सबको जानता है; अर्थात् वह सर्वज्ञ हो जाता है । सम्पूर्ण दिशाएँ—सम्पूर्ण दिशाओमें स्थित पुरुष इस प्रकार जाननेवाले इस उपासकके प्रति बलि यानी भोग उपरिधत्त करते हैं, अर्थात् उसे भोगोंकी प्राप्ति कराते हैं । 'मैं सब कुछ हूँ' इसी प्रकार इस सामकी उपासना करे—उस उपासकके लिये यही नियम है । यहाँ जो द्विरुक्ति है वह सामोपासनाकी समाप्तिके लिये है ॥ ४ ॥

—०—

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि द्वितीयाध्याये
एकविंशखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥ २१ ॥



द्वाविंश खण्ड

विनर्दिगुणविशिष्ट सामकी उपासना

सामोपासनप्रसङ्गेन गान-
विशेषादिसंपदुद्गातुरुपदिश्यते;
फलविशेषसंयन्धात् ।

सामोपासनाके प्रसङ्गसे उद्गाता-
को गानविशेषादि^१ सम्पत्तिका
उपदेश किया जाता है, क्योंकि इससे
फलविशेषका सम्बन्ध होता है—

विनर्दि साम्नो वृणो पशव्यमित्यग्नेरुद्गीथोऽनिरुक्तः
प्रजापतेर्निरुक्तः सोमस्य भृदु श्लक्ष्णं वायोः श्लक्ष्णं
बलवदिन्द्रस्य क्रौञ्चं बृहस्पतेरपध्वान्तं वरुणस्य
तान्सर्वानेवोपसेवेत वारुणं त्वेव वर्जयेत् ॥ १ ॥

सामके 'विनर्दि' नामक गानका वरण करता है; वह पशुओंके लिये
हितकर है और अग्निदेवतासम्बन्धी उद्गीथ है । प्रजापति का उद्गीथ
अनिरुक्त है, सोमका निरुक्त है, वायुका मृदुल और श्लक्ष्ण (सरलतासे
उच्चारण किये जानेयोग्य) है, इन्द्रका श्लक्ष्ण और बलवान् है, बृहस्पति-
का क्रौञ्च (क्रौञ्चपक्षीके शब्दके समान) है और वरुणका अपध्वान्त
(भ्रष्ट) है । इन सभी उद्गीथोंका सेवन करे; केवल वरुणसम्बन्धी उद्गीथ-
का ही परित्याग कर दे ॥ १ ॥

विनर्दि विशिष्टो नर्दः स्वर-

विशेष ऋषभकूजितसमोऽस्या-

स्तीति विनर्दि गानमिति वाक्य-

विनर्दि—जिसका नर्द यानी
स्वरविशेष ऋषभ (बैल) के शब्द-
के समान विशिष्ट है वह विनर्दि-
गान है; यहाँ 'गान' शब्द वाक्य-
शेष है । वह विनर्दि गान पशुओंके

शेषः । तच्च साम्नः संघन्धि पशु-
भ्यो हितं पशव्यमग्नेरग्निदैवत्यं
चोद्गीथ उद्गानम् । तदहमेवं
विशिष्टं वृणे प्रार्थय इति कश्चि-
द्यजमान उद्गाता वा मन्यते ।

अनिरुक्तोऽमुकसम इत्यविशे-
षितः प्रजापतेः प्रजापतिदैवत्यः
स गानविशेषः, अनिरुक्त्या-
त्प्रजापतेः । निरुक्तः स्पष्टः
सोमस्य सोमदैवत्यः स उद्गीथ
इत्यर्थः । मृदु श्लक्ष्णं च गानं
वायोर्वायुदैवत्यं तत् । श्लक्ष्णं
बलवच्च प्रयत्नाधिक्योपेतं चेन्द्र-
स्यैन्द्रं तद्गानम् । क्रौञ्चं क्रौञ्च-
पक्षिनिनादसमं बृहस्पतेर्वार्हस्पत्यं
तत् । अपध्वान्तं भिन्नकांस्य-
स्वरसमं वरुणस्यैतद्गानम् । तान्
सर्वानिवोपसेवेत प्रयुञ्जीत वारुणं
त्वेवैकं वर्जयेत् ॥ १ ॥

लिये हितकर और अग्निदेवता-
सम्बन्धी उद्गीथ—उद्गान है ।
इस प्रकारके उस विशिष्ट सामका
मैं वरण करता हूँ अर्थात् उसके
लिये प्रार्थना करता हूँ—इस प्रकार
कोई यजमान अथवा उद्गाता
मानता है ।

प्रजापतिका जो गानविशेष है, वह
अनिरुक्त है अर्थात् अमुकके तुल्य है—
इस प्रकार विशेषरूपसे निरूपित
नहीं किया जा सकता; क्योंकि प्रजा-
पति भी विशेषरूपसे निरूपित नहीं
किया जाता । सोमका अर्थात्
सोमदेवतासम्बन्धी जो उद्गीथ है,
वह निरुक्त यानी स्पष्ट है । जो
गान मृदु और श्लक्ष्ण है, वह वायुका
यानी वायुदेवतासम्बन्धी है । जो
श्लक्ष्ण और बलवान् यानी अधिक
प्रयत्नकी अपेक्षावाला है, वह इन्द्रका
यानी इन्द्रसम्बन्धी गान है । जो
क्रौञ्च यानी क्रौञ्चपक्षीके शब्दके
समान है, वह बृहस्पतिका यानी
बृहस्पतिदेवतासम्बन्धी गान है ।
अपध्वान्त अर्थात् फूटे हुए काँसेके
स्वरके समान जो है, वह वरुणदेवता-
सम्बन्धी गान है । उन सभीका सेवन
अर्थात् प्रयोग करे, एकमात्र वरुण-
सम्बन्धी गानका ही त्याग करे ॥ १ ॥

स्तवमके समय ध्यानका प्रकार

अमृतत्वं देवेभ्य आगायानीत्यागायेत्स्वधां पितृभ्य
आशां मनुष्येभ्यस्तृणोदकं पशुभ्यः स्वर्गं लोकं
यजमानायान्नमात्मन आगायानीत्येतानि मनसा
ध्यायन्नप्रमत्तः स्तुवीत ॥ २ ॥

मैं देवताओंके लिये अमृतत्वका आगान (साधन) करूँ—इस प्रकार चिन्तन करते हुए आगान करे । पितृगणके लिये स्वधा, मनुष्योंके लिये आशा (उनकी इष्ट वस्तुओं), पशुओंके लिये तृण और जल, यजमानके लिये स्वर्गलोक और अपने लिये अन्नका आगान करूँ—इस प्रकार इनका मनसे ध्यान करते हुए प्रमादरहित होकर स्तुति करे ॥ २ ॥

अमृतत्वं देवेभ्य आगायानि
साधयानि । स्वधां पितृभ्य आ-
गायान्याशां मनुष्येभ्य आशां
प्रार्थितमित्येतत् । तृणोदकं
पशुभ्यः स्वर्गं लोकं यजमाना-
यान्नमात्मने मह्यमागायानीत्ये-
तानि मनसा चिन्तयन्ध्यायन्न-
प्रमत्तः स्वरोष्मव्यञ्जनादिभ्यः
स्तुवीत ॥ २ ॥

मैं देवताओंके लिये अमृतत्वका आगान—साधन करूँ; पितृगणके लिये स्वधाका आगान करूँ; मनुष्योंके लिये आशा यानी प्रार्थित वस्तुका [साधन करूँ] । पशुओंके लिये तृण और जल, यजमानके लिये स्वर्गलोक और अपने लिये अन्नका आगान करूँ—इस प्रकार इन बातोंका मनसे ध्यान—चिन्तन करते हुए स्वर, ऊष्म और व्यञ्जनादिके उच्चारणमें प्रमादरहित होकर स्तुति करे ॥ २ ॥

— : * : —

स्वरादि यहाँकी देवात्मकता

सर्वे स्वरा इन्द्रस्यात्मनः सर्व ऊष्माणः प्रजापते-
रात्मानः सर्वे स्पर्शा मृत्योरात्मानस्तं यदि स्वरेषूपाल-

भेतेन्द्र ॐ शरणं प्रपन्नोऽभूवं स त्वा प्रति वक्ष्यतीत्येनं
ब्रूयात् ॥ ३ ॥

सम्पूर्ण-स्वर इन्द्रके आत्मा हैं, समस्त ऊर्मवर्ण प्रजापतिके आत्मा हैं, समस्त स्पर्शवर्ण मृत्युके आत्मा है। [इस प्रकार जाननेवाले] उस उद्गाताको यदि कोई पुरुष स्वरोके उच्चारणमें दोष प्रदर्शित करे तो वह उससे कहे कि मैं इन्द्रके शरणागत हूँ; वही तुझे इसका उत्तर देगा ॥ ३ ॥

सर्वे स्वरा अकारादय इन्द्रस्य
वलकर्मणः प्राणस्यात्मानो देहा-
वयवस्थानीयाः । सर्व ऊष्माणः
शपसहादयः प्रजापतेर्विराजः
कश्यपस्य वात्मानः । सर्वे
स्पर्शाः कादयो व्यञ्जनानि
मृत्योरात्मानः ।

तमेवंविदमुद्गातारं यदि
कश्चित्स्वरेपुपालभेत स्वरस्त्वया
दुष्टः प्रयुक्त इत्येवमुपालब्ध
इन्द्रं प्राणमीश्वरं शरणमाश्रयं
प्रपन्नोऽभूवं स्वरान्प्रयुञ्जानोऽहं
स इन्द्रो यत्तव वक्तव्यं त्वा त्वां
प्रति वक्ष्यति स एव देव उत्तरं
दास्यतीत्येनं ब्रूयात् ॥ ३ ॥

अकारादि सम्पूर्ण स्वर, बल ही जिसका कर्म है उस इन्द्र यानी प्राणके आत्मा अर्थात् देहावयव-स्थानीय हैं। श प स ह आदि समस्त ऊर्मवर्ण प्रजापतिके अर्थात् विराट् या कश्यपके आत्मा हैं। क आदि (कवर्गसे लेकर पवर्ग तक) सम्पूर्ण स्पर्शवर्ण यानी व्यञ्जन मृत्युके आत्मा हैं।

इस प्रकार जाननेवाले उद्गाताको यदि कोई पुरुष स्वरोमें उपालम्भ दे—‘तूने दोषयुक्त स्वरका प्रयोग किया है’—इस प्रकार उपालम्भ दिये जानेपर वह उसे यह उत्तर दे कि स्वरोका प्रयोग करते समय मैं इन्द्र अर्थात् प्राणरूप ईश्वरके शरणागत—आश्रित था; अतः तुझे जो कुछ उत्तर देना होगा, वह इन्द्रदेव ही देगा ॥ ३ ॥

अथ यद्ये नमूष्मसूपालभेत प्रजापतिं शरणं प्रपन्नोऽभूवं स त्वा प्रति पेक्ष्यतीत्येनं ब्रूयादथ यद्ये न स्पर्शं पूपालभेत मृत्युं शरणं प्रपन्नोऽभूवं स त्वा प्रति धक्ष्यतीत्येनं ब्रूयात् ॥ ४ ॥

और यदि कोई इसे ऊष्मवर्णोंके उच्चारणमें दोष प्रदर्शित करे तो उससे कहे कि 'मैं प्रजापतिके शरणागत था, वही तेरा मर्दन करेगा।' और यदि कोई इसे स्पर्शोंके उच्चारणमें उलाहना दे तो उससे कहे कि 'मैं मृत्युकी शरणको प्राप्त था, वही तुझे दग्ध करेगा' ॥ ४ ॥

अथ यद्ये नमूष्मसु तथैवोपालभेत प्रजापतिं शरणं प्रपन्नोऽभूवं स त्वा त्वां प्रति पेक्ष्यति संचूर्णयिष्यतीत्येनं ब्रूयात् । अथ यद्येनं स्पर्शंपूपालभेत मृत्युं शरणं प्रपन्नोऽभूवं स त्वा त्वां प्रति धक्ष्यति भस्मीकरिष्यतीत्येनं ब्रूयात् ॥ ४ ॥

और यदि उसी प्रकार कोई पुरुष इसे ऊष्मवर्णोंके उच्चारणमें दोष प्रदर्शित करे तो वह उससे कहे कि 'मैं प्रजापतिकी शरणको प्राप्त था, वही तुझे पीसेगा अर्थात् [तेरे मदको] अच्छी तरह चूर्ण करेगा।' और यदि कोई इसे स्पर्शोंके उच्चारणमें उलाहना दे तो उससे कहे कि 'मैं मृत्युके शरणागत था, वही तुझे दग्ध यानी भस्मीभूत करेगा' ॥ ४ ॥

वर्णोंके उच्चारणकालमें चिन्तनीय

सर्वे स्वरा घोषवन्तो बलवन्तो वक्तव्या इन्द्रे बलं ददानीति सर्व ऊष्माणोऽग्रस्ता अनिरस्ता विवृता वक्तव्याः प्रजापतेरात्मात्मानं परिददानीति सर्वे स्पर्शां लेशेनानभिनिहिता वक्तव्या मृत्योरात्मानं परिहराणीति ॥ ५ ॥

सम्पूर्ण स्वर घोषयुक्त और बलयुक्त उच्चारण किये जाने चाहिये; अतः [उनका उच्चारण करते समय] 'मैं इन्द्रमें बलका आधान करूँ'

ऐसा [चिन्तन करना चाहिये] । सारे ऊष्मवर्ण अग्रस्त, अनिरस्त एवं विवृतरूपसे उच्चारण किये जाते हैं [अन्तः उन्हें बोलते समय ऐसा चिन्तन करना चाहिये कि] 'मैं प्रजापतिको आत्मदान करूँ' । समस्त स्पर्शवर्णों-को एक दूसरेसे तनिक भी मिलाये बिना ही बोलना चाहिये और उस समय 'मैं मृत्युसे अपना परिहार करूँ' [ऐसा चिन्तन करना चाहिये] ॥ ५ ॥

यत इन्द्राद्यात्मानः स्वराद-
योस्तः सर्वे स्वरा घोषवन्तो बल-
वन्तो वक्तव्याः । तथाहमिन्द्रे
बलं ददानि बलमादधानीति ।
तथा सर्व ऊष्माणोऽग्रस्ता
अन्तरप्रवेशिता अनिरस्ता बहि-
रप्रक्षिप्ता विवृता विवृतप्रयत्नोपे-
ताः प्रजापतेरात्मानं परिददानि
प्रयच्छन्तीति । सर्वे स्पर्शा लेशेन
शनकैरनभिनिहिता अनभिनि-
क्षिप्ता वक्तव्या मृत्योरात्मानं
वालानिव शनकैः परिहरद्भिर्मृ-
त्योरात्मानं परिहराणीति ॥ ५ ॥

क्योंकि ये स्वरादि इन्द्रादिरूप हैं,
अतः सम्पूर्ण स्वर घोषयुक्त और
बलयुक्त बोले जाने चाहिये । तथा
[उस समय] 'मैं इन्द्रमे बलका
आधान करूँ' ऐसा [चिन्तन करना
चाहिये] । इसी प्रकार समस्त ऊष्म-
वर्ण अग्रस्त—भीतर बिना प्रवेश
कराये हुए, अनिरस्त—बाहर बिना
निकाले हुए और विवृत—विवृत
प्रयत्नसे युक्त उच्चारण किये जाते
चाहिये और [उनका उच्चारण करने
समय] 'मैं प्रजापतिको आत्मदान करूँ'
ऐसा [चिन्तन करना चाहिये] । तथा
सम्पूर्ण स्पर्शवर्ण लेशमात्र—थोड़े-से
भी अनभिनिहित—परस्पर बिना मिले
हुए बोलने चाहिये और [उस समय यह
चिन्तन करना चाहिये कि] जिस प्रकार
लोग धीरे-धीरे बालकोको जल आदि-
से बचाते हैं उसी प्रकार मैं अपनेको
धीरे-धीरे मृत्युसे हटाऊँ ॥ ५ ॥

—:०—

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि द्वितीयाध्याये
द्वाविंशखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥ २२ ॥

—:०:—

१. वर्णोंके स्पृष्ट, ईपत्स्पृष्ट, विवृत और संवृत ये चार प्रयत्न होते हैं ।
इनमें स्वर और ऊष्मोंका विवृत, स्पर्शोंका स्पृष्ट, अन्तःस्थोंका ईपत्स्पृष्ट और ह्रस्व
अवयवोंका संवृत प्रयत्न होता है ।

त्रयोविंश खण्ड

—:०:—

तीन धर्मस्कन्ध

ओङ्कारस्योपासनविध्यर्थं त्रयो
धर्मस्कन्धा इत्याद्यारभ्यते । नैवं
मन्तव्यं सामावयवभूतस्यैवो-
द्गीथादिलक्षणस्योङ्कारस्योपास-
नात्फलं प्राप्यत इति । किं तर्हि ?
यत्सर्वैरपि सामोपासनैः कर्ष-
मिश्राप्राप्यं तत्फलममृतत्वं केव-
लादोङ्कारोपासनात्प्राप्यत इति ।
तत्स्तुत्यर्थं सामप्रकरणे तदु-
पन्यासः—

ओङ्कारोपासनाका विधान करने-
के लिये 'त्रयो धर्मस्कन्धाः' इत्यादि
प्रकरणका आरम्भ किया जाता है ।
ऐसा नहीं मानना चाहिये कि एक-
मात्र सामके अवयवभूत उद्गीथादि-
रूप ओङ्कारकी ही उपासनासे
फलकी प्राप्ति होती है । तो फिर
क्या बात है ? [ऐसा प्रश्न होनेपर
कहते हैं—] जो सभी सामोपासनाओं
और कर्मोंसे भी अप्राप्य है, वह
अमृतत्वरूप फल केवल ओङ्कारो-
पासनासे ही प्राप्त हो जाता है ।
अतः उसकी स्तुतिके लिये सामो-
पासनाके प्रकरणमें उसका उल्लेख
किया जाता है—

त्रयो धर्मस्कन्धा यज्ञोऽध्ययनं दानमिति प्रथम-
स्तप एव द्वितीयो ब्रह्मचार्याचार्यकुलवासी तृतीयो-
ऽत्यन्तमात्मानमाचार्यकुलेऽवसादयन्सर्व एते पुण्य-
लोका भवन्ति ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति ॥ १ ॥

धर्मके तीन स्कन्ध (आधारस्तम्भ) हैं—यज्ञ, अध्ययन और दान—
यह पहला स्कन्ध है । तप ही दूसरा स्कन्ध है । आचार्यकुलमें रहनेवाला

ब्रह्मचारी जो आचार्यकुलमें अपने शरीरको अत्यन्त क्षीण कर देता है, तीसरा स्कन्ध है। ये सभी पुण्यलोकके भागी होते हैं। ब्रह्ममे सम्यक् प्रकारसे स्थित [चतुर्थाश्रमी संन्यासी] अमृतत्वको प्राप्त होता है ॥ १ ॥

त्रयस्त्रिसंख्याका धर्मस्य
स्कन्धा धर्मस्कन्धा धर्मप्रविभागा
इत्यर्थः । के ते ? इत्याह—
यज्ञोऽग्निहोत्रादिः । अध्ययनं
सनियमस्य ऋगादेरभ्यासः ।
दानं वहिषेदि यथाशक्तिद्रव्य-
संविभागो भिक्षुमाणेभ्यः । इत्येव
प्रथमो धर्मस्कन्धः । गृहस्थ-
समवेतत्वाच्चनिर्वर्तकेन गृहस्थेन
निर्दिश्यते । प्रथम एक इत्यर्थो
द्वितीयतृतीयश्रवणान्नाद्यर्थः ।

तप एव द्वितीयस्तप इति
कृच्छ्रचान्द्रायणादि तद्वास्तापसः
परिव्राड् वा न ब्रह्मसंस्थ आश्रम-
धर्ममात्रसंस्थो ब्रह्मसंस्थस्य त्व-
मृतत्वश्रवणात् । द्वितीयो धर्म-
स्कन्धः ।

धर्मस्कन्ध—धर्मके स्कन्ध यानी
धर्मके विभाग त्रयः अर्थात् तीन
संख्यावाले हैं। वे कौन-से हैं ?
इसपर कहते हैं, यज्ञ—अग्निहोत्रादि,
अध्ययन—नियमपूर्वक ऋग्वेदादिका
अभ्यास और दान—वेदीके बाहर
भिक्षा माँगनेवालोंको यथाशक्ति धन
देना—इस प्रकार यह पहला धर्म-
स्कन्ध है। यह धर्म गृहस्थधर्मसम्बन्धी
होनेके कारण उसके साधक गृहस्थ-
रूपसे उसका निर्देश किया जाता
है। यहां 'प्रथम' शब्दका अर्थ
एक है, श्रुतिमें 'द्वितीय, तृतीय'
शब्द होनेसे इसका प्रयोग आद्य
अर्थमें नहीं किया गया।

तप ही दूसरा धर्मस्कन्ध है।
'तप' इस शब्दसे कृच्छ्रचान्द्रायणादि
समभन्ने चाहिये, उनसे युक्त तपस्वी
या परिव्राजक, ब्रह्मनिष्ठ नहीं
बल्कि जो केवल आश्रमधर्ममें ही
स्थित है; क्योंकि श्रुतिने ब्रह्मनिष्ठके
लिये तो अमृतत्वकी प्राप्ति वतलायी
है। यह दूसरा धर्मस्कन्ध है।

ब्रह्मचार्यचार्यकुले वस्तुं
शीलमस्येत्याचार्यकुलयासी ।
अत्यन्तं यावज्जीवमात्मानं निय-
मैराचार्यकुलेज्वसादयन्क्षपयन्देहं
तृतीयो धर्मस्कन्धः । अत्यन्त-
मित्यादिविशेषणान्तैष्टिक इति
गम्यते । उपकुर्वाणस्य स्वाध्या-
यग्रहणार्थत्वान्न पुण्यलोकत्वं
ब्रह्मचर्येण ।

सर्व एते त्रयोऽप्याश्रमिणो
यथोक्तैर्धर्मैः पुण्यलोका भवन्ति ।
पुण्यां लोको येषां त इमे पुण्य-
लोका आश्रमिणो भवन्ति ।
अवशिष्टस्त्वनुक्तः परिव्राड् ब्रह्म-
संस्थो ब्रह्मणि सम्यक्स्थितः सोऽ-
मृतत्वं पुण्यलोकविलक्षणममरण-
भावमात्यन्तिकमेति नापेक्षिकं
देवादमृतत्ववत्; पुण्यलोकात्
पृथगमृतत्वस्य विभागकरणात् ।

जिसका स्वभाव आचार्यकुलमें
निवास करनेका है, वह आचार्यकुल-
वासी ब्रह्मचारी, जो कि अत्यन्त
अर्थात् यावज्जीवन अपनेको नियमों-
द्वारा आचार्यकुलमें ही अवसन्न करता
रहता है, यानी अपने देहको क्षीण
करता रहता है, तीसरा धर्मस्कन्ध
है । 'अत्यन्तम्' इत्यादि विशेषणोंसे
यह जाना जाता है कि यहाँ नैष्ठिक
ब्रह्मचारी अभिप्रेत हैं, क्योंकि
उपकुर्वाण ब्रह्मचारीका ब्रह्मचर्य
स्वाध्यायके लिये होनेसे उसके द्वारा
पुण्यलोककी प्राप्ति नहीं हो सकती ।

ये सभी अर्थात् तीनों आश्रमों-
वाले उपर्युक्त धर्मोंके कारण पुण्य-
लोकोके भागी होते हैं । जिन्हें
पुण्यलोक प्राप्त हो ऐसे वे आश्रमी
पुण्यलोक कहलाते हैं । इनसे बचा
हुआ, जिसका यहाँ उल्लेख नहीं
किया गया, वह चतुर्थ परिव्राजक
ब्रह्मसंस्थ ब्रह्ममें सम्यक् प्रकारसे स्थित
होकर अमृतत्वको—पुण्यलोकोसे
भिन्न आत्यन्तिक अमरणभावको प्राप्त
हो जाता है, देवादिकोंके अमरत्वके
समान उसका अमृतत्व आपेक्षिक
नहीं होता, क्योंकि यहाँ पुण्यलोकसे
अमृतत्वका पृथक् विभाग किया
गया है ।

यदि च पुण्यलोकातिशय-
मात्रममृतत्वमभविष्यत्ततः पुण्य-
लोकत्वाद्विभक्तं नावक्ष्यत् ।
विभक्तोपदेशाच्चात्यन्तिकममृत-
त्वमिति गम्यते ।

अत्र चाश्रमधर्मफलोपन्यासः
प्रणवसेवास्तुत्यर्थं न तत्फलवि-
ध्यर्थम् । स्तुतये च प्रणवसेवाया
आश्रमधर्मफलविधये चेति हि
मिद्येत वाक्यम् । तस्मात्स्मृति-
सिद्धाश्रमफलानुवादेन प्रणवसे-
वाफलममृतत्वं ब्रुवन्प्रणवसेवां
स्तौति । यथा पूर्णवर्मणः सेवा
भक्तपरिधानमात्रफला राजवर्म-
णस्तु सेवा राज्यतुल्यफलेति
तद्वत् ।

प्रणवश्च तत्सत्यं परं ब्रह्म
तत्प्रतीकत्वात् । “एतद्व्येवाक्षरं

यदि पुण्यलोकका अतिशयमान
(अधिकता) ही अमृतत्व होता तो
पुण्यलोकरूप ही होनेके कारण इस-
का उससे पृथक् वर्णन न किया जाता ।
अतः पृथक् उपदेश किया जानेके
कारण यहाँ आत्यन्तिक अमृतत्व ही
अभिप्रेत है—ऐसा जाना जाता है ।

यहाँ जो आश्रमधर्मोंके फलोका
उल्लेख किया है, वह प्रणवोपासना-
की स्तुतिके लिये ही है, उनके
फलोका विधान करनेके लिये नहीं
है । परन्तु यदि यह कहा जाय कि
'यह वाक्य प्रणवसेवाकी स्तुतिके लिये
और आश्रमधर्मके फलका विधान
करनेके लिये भी है, तो वाक्यभेद
ही जायगा । अतः यह मन्त्र स्मृति-
प्रतिपादित आश्रमफलके अनुवाद-
द्वारा 'प्रणवसेवाका फल अमृतत्व है'
यह बतलाता हुआ प्रणवोपासनाकी
ही स्तुति करता है । जिस प्रकार
[कोई कहे कि] पूर्णवर्माकी सेवा
भोजन वस्त्रमात्र फल देनेवाली है
और राजवर्माकी सेवा राज्यके
समान फल देनेवाली है । उसी
प्रकार यहाँ समझना चाहिये ।

प्रणव ही वह सत्य परब्रह्म है,
क्योंकि यह उसका प्रतीक है ।

ब्रह्म, एतद्धयेवाक्षरं परम्" (क०
उ० १।२।१६) इत्याद्या-
म्नायात्काठके युक्तं तत्सेवातो-
ऽमृतत्वम् ।

अत्राहुः केचिच्चतुर्णामाश्रमि-
णामविशेषेण स्वकर्मा-
परमतोऽ-

नुष्ठानात्पुण्यलोकतेहो-
न्यासः

क्ता ज्ञानवर्जितानां
सर्व एते पुण्यलोका भवन्तीति ।
नात्र परिव्राडवशेषितः । परि-
व्राजकस्यापि ज्ञानं यमा नियमाश्च
तप एवेति 'तप एव द्वितीयः'
इत्यत्र तपःशब्देन परि-
व्राट्तापसौ गृहीतौ । अतस्तेषा-
मेव चतुर्णां यो ब्रह्मसंस्थः प्रणव-
सेवकः सोऽमृतत्वमेतीति; चतु-
र्णामधिकृतत्वाविशेषाद् ब्रह्मसं-
स्थत्वेऽप्रतिषेधाच्च । स्वकर्मच्छिद्रे
च ब्रह्मसंस्थतायां सामर्थ्योप-
पत्तेः ।

कठोपनिषद्में "यह अक्षर ही ब्रह्म
है, यह अक्षर ही पर है" इत्यादि
श्रुति होनेसे उसकी सेवाद्वारा
अमृतत्वकी प्राप्ति होना उचित
ही है ।

यहां कुछ लोग ऐसा कहते हैं कि
इस मन्त्रमें 'ये सभी पुण्यलोकके भागी
होते हैं' इस वाक्यद्वारा ज्ञानरहित
चारों ही आश्रमियोंको समानरूपसे
अपने-अपने धर्मोंका पालन करनेसे
पुण्यलोककी प्राप्ति वतलायी गयी है ।
इनमें परिव्राजकको भी छोड़ा नहीं
है । परिव्राजकके भी ज्ञान, यम और
नियम—ये तप ही हैं, अतः 'तप ही
दूसरा धर्मस्कन्ध है' इस वाक्यमें
'तप' शब्दसे परिव्राजक और वान-
प्रस्थ दोनोंका ग्रहण किया गया है ।
अतः उन चारोंहीमें जो ब्रह्मनिष्ठ
प्रणवोपासक होता है, वही अमृतत्वको
प्राप्त हो जाता है, क्योंकि इन
चारोंका ही अधिकार समान है और
ब्रह्मनिष्ठामें भी किसीका प्रतिषेध नहीं
किया गया, क्योंकि अपने-अपने
कर्मोंके अनुष्ठानसे अवकाश मिलने-
पर सभीको ब्रह्ममें स्थित होनेका
सामर्थ्य होना सम्भव है । ॥

न च यववराहादिशब्दवद्ब्रह्मसंस्थशब्दः परिव्राजके रूढः, ब्रह्मणि संस्थितिनिमित्तमुपादाय प्रवृत्तत्वात् । न हि रूढिशब्दा निमित्तमुपाददते । सर्वेषां च ब्रह्मणि स्थितिरुपपद्यते । यत्र यत्र निमित्तमस्ति ब्रह्मणि संस्थितिस्तस्य तस्य निमित्तवतो वाचकं सन्तं ब्रह्मसंस्थशब्दं परिव्राजके-विषये संकोचे कारणाभावान्निरोद्धुमयुक्तम् । न च पारिव्राज्याश्रमधर्ममात्रेणामृतत्वम्, ज्ञानानर्थक्यप्रसङ्गात् ।

पारिव्राज्यधर्मयुक्तमेव ज्ञान-
ममृतत्वसाधनमिति चेन्न;
आश्रमधर्मत्वाविशेषात् । धर्मो
वा ज्ञानविशिष्टोऽमृतत्व-
साधनमित्येतदपि सर्वाश्रमधर्मा-

इसके सिवा 'यव' और 'वराह' आदि शब्दोंके समान 'ब्रह्मसंस्थ' शब्द परिव्राजकमें ही रूढ भी नहीं है, क्योंकि यह तो ब्रह्ममें स्थितिरूप निमित्तको लेकर ही प्रवृत्त हुआ है । रूढ शब्द किसी निमित्तको स्वीकार नहीं करते । और ब्रह्ममें सभीकी स्थिति होनी सम्भव है । अतः जहाँ-जहाँ भी ब्रह्ममें स्थितिरूप निमित्त है उसी-उसी निमित्तवादका वाचक होनेसे ब्रह्मसंस्थ शब्द केवल परिव्राजका ही वाचक है—ऐसे संकोचका कोई कारण न होनेसे उसे उसी अर्थमें निरुद्ध करना उचित नहीं है । इसके सिवा पारिव्राज्य (सन्यास) आश्रमधर्ममात्रसे भी अमृतत्वका प्राप्त होना सम्भव नहीं है, क्योंकि इससे ज्ञानकी निरर्थकताका प्रसङ्ग उपस्थित हो जाता है ।

यदि कहो कि पारिव्राज्यधर्म-सहित ही ज्ञान अमृतत्वका साधन है, तो ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि आश्रमधर्मतत्त्वमें अन्य आश्रमोंके धर्मोंसे उसमें कोई विशेषता नहीं है । अथवा यदि यो कहो कि ज्ञानविशिष्ट धर्म ही अमृतत्वका साधन है तो यह नियम भी समस्त

णामविशिष्टम् । न च वचनमस्ति
परिव्राजकस्यैव ब्रह्मसंस्थस्य
मोक्षो नान्येषामिति । ज्ञानान्मोक्ष
इति च सर्वोपनिषदां सिद्धान्तः ।
तस्माद्य एव ब्रह्मसंस्थः स्वाश्रम-
विहितकर्मवतां सोऽमृतत्वमेतीति ।

न; कर्मनिमित्तविद्याप्रत्यय-
योर्विरोधात् । कर्त्ता-

पूर्वोपन्यस्त-
मतनिराकरणम्

दिकारकक्रियाफल-

भेदप्रत्ययवत्त्वं हि

निमित्तमुपादायेदं कुर्विदं भा
कापीरिति कर्मविधयः प्रवृत्ताः ।
तच्च निमित्तं न शास्त्रकृतम्,
सर्वप्राणिषु दर्शनात् । “सद्...
एकमेवाद्वितीयम्” (छा० उ०
६।२।१) “आत्मैवेदं सर्वम्”
(छा० उ० ७।२५।२) “ब्रह्मै-
वेदं सर्वम्” (नृसिंहो० उ० ७)
इति शास्त्रजन्यप्रत्ययो विद्या-
रूपः स्वाभाविकं क्रियाकारक-
फलभेदप्रत्ययं कर्मविधिनिमित्त-

आश्रमधर्मोंके लिये एक-सा है ।
ऐसा कोई शास्त्रवाक्य भी नहीं है कि
एकमात्र ब्रह्मनिष्ठ संन्यासीको ही
मोक्ष प्राप्त हो सकता है, औरोंको
नहीं । ज्ञानसे मोक्ष होता है—यही
सम्पूर्ण उपनिषदोंका सिद्धान्त है ।
अतः अपने-अपने आश्रमधर्मका
पालन करनेवालोंमें जो कोई भी
ब्रह्मनिष्ठ होगा वही अमृतत्वको
प्राप्त होगा ।

सिद्धान्ती—ऐसा नहीं हो सकता,
क्योंकि कर्मके निमित्तभूत प्रत्यय
और ज्ञानोत्पादक प्रत्ययोंमें परस्पर
विरोध है । कर्त्ता आदि कारक,
क्रिया और फलके भेदसे युक्त होना-
रूप निमित्तको लेकर ही ‘यह करो’
और ‘यह मत करो’ इस प्रकारकी
कर्मविधियाँ प्रवृत्त होती हैं । और
वह निमित्त शास्त्रका किया हुआ
नहीं है, क्योंकि वह सभी प्राणियोंमें
देखा जाता है । “एक ही अद्वितीय
सत् है” “यह सब आत्मा ही है”
“यह सब ब्रह्म ही है” यह जो
शास्त्रजनित विद्यारूप प्रत्यय है,
वह कर्मनिमित्तक स्वाभाविक
क्रिया, कारक और फलभेदरूप
प्रत्ययको नष्ट किये बिना

मनुष्यमृद्य न जायते भेदाभेद-
प्रत्ययोविरोधात् । न हि तैमि-
रिकद्विचन्द्रादिभेदप्रत्ययमनुष-
मृद्य तिमिरापगमे चन्द्राद्येकत्व-
प्रत्यय उपजायते, विद्याविद्या-
प्रत्यययोर्विरोधात् ।

तत्रैवं सति यं भेदप्रत्ययमुपा-
दाय कर्मविधयः

परिव्राज एव

प्रवृत्ताः स यस्यो-

ब्रह्मसंस्थत्वम्

पमर्दितः "सद्"

एकमेवाद्वितीयम्" (छा० उ०
६ । २ । १) "तत्सत्यम्" (छा०
उ० ६ । ८ । ७) "विकारमे-
दोज्ज्वलम्" इत्येतद्वाक्यप्रमाण-
जनितेनैकत्वप्रत्ययेन स सर्व-
कर्मभ्यो निवृत्तो निमित्तनिवृत्तेः ।
स च निवृत्तकर्मा ब्रह्मसंस्थ
उच्यते स च परिव्राडेवान्यस्या-
संभवात् ।

अन्यो ह्यनिवृत्तभेदप्रत्ययः

सोज्ज्वलत्पश्यन्मृगवन्मन्वानो वि-
जानन्निदं कृत्वेदं प्राप्नुयामिति
हि मन्यते । तस्यैवं कुर्वतो न

उत्पन्न नहीं होता, क्योंकि भेद
और अभेद प्रत्ययोमे परस्पर विरोध
है । तिमिररोगको नष्ट होनेपर तिमिर-
रोगजनित द्विचन्द्रदर्शनादि भेद-
प्रत्ययका नाश हुए बिना चन्द्रादिके
एकत्वकी प्रतीति भी नहीं होती,
क्योंकि ज्ञान और अज्ञानकी
प्रतीतियोमे परस्पर विरोध है ।

ऐसी अवस्थामे, जिस भेद-
प्रतीतिको स्वीकार कर कर्मविधियाँ
प्रवृत्त हुई हैं, वह भेदप्रतीति जिसकी
"एक ही अद्वितीय सत् है"
"वही सत्य है" "विकाररूप भेद
मिथ्या है" इत्यादि वाक्यप्रमाण-
जनित एकत्वप्रतीतिके द्वारा नष्ट हो
गयी है, वही कर्मविधिके निमित्तकी
निवृत्ति हो जानेसे सम्पूर्ण कर्मोंसे
निवृत्त हो जाता है, वह कर्मोंसे
निवृत्त हुआ पुरुष ही ब्रह्मसंस्थ
कहा जाता है और वह परिव्राजक
ही हो सकता है, क्योंकि दूसरेके
लिये ऐसा होना असम्भव है ।

उससे भिन्न जिसकी भेदप्रतीति
निवृत्त नहीं हुई है, वह अन्य
पदार्थोंको देखता, सुनता, मानता
और जानता हुआ 'ऐसा करके इसे
प्राप्त करूँगा' यह मानता है । ऐसा
करनेवाले उस पुरुषको ब्रह्मनिष्ठता

ब्रह्मसंस्थता । वाचारम्भणमात्र-
विकारानृताभिसंधिप्रत्ययवत्त्वा-
त् । न चासत्यमित्युपमदिते
भेदप्रत्यये सत्यमिदमनेन कर्त-
व्यं मयेति प्रमाणप्रमेयबुद्धिरुप-
पद्यते । आकाश इव तलमल-
बुद्धिविवेकिनः ।

उपमदितेऽपि भेदप्रत्यये कर्म-
भ्यो न निवर्तते चेत्प्रागिव भेद-
प्रत्ययोपमर्दनादेकत्वप्रत्ययविधा-
यकं वाक्यमप्रमाणीकृतं स्यात् ।
अभक्ष्यभक्षणादिप्रतिषेधवाक्या-
नां प्रामाण्यवद्युक्तमेकत्ववाक्य-
स्यापि प्रामाण्यम्; सर्वोपनिषदां
तत्परत्वात् ।

कर्मविधीनामप्रामा-

कर्मविधीनाम-

ण्यप्रसङ्ग इति चेत् ?

प्रामाण्यनिरसनम्

न; अनुपमदितभेदप्रत्ययव-

त्पुरुषविषये प्रामाण्योपपत्तेः, स्व-

मादिप्रत्यय इव प्राक्प्रबोधात् ।

नहीं हो सकती, क्योंकि वह वाचा-
रम्भणमात्र विकारमें मिथ्याभिनिवेश-
रूप प्रतीति करनेवाला होता है । यह
असत्य है—इस प्रकार भेदप्रतीतिके
बाधित हो जानेपर उसमें 'यह सत्य
है, इससे मुझे यह कर्तव्य है' ऐसी
प्रमाण-प्रमेयरूप बुद्धि होनी सम्भव
नहीं है, जिस प्रकार कि विवेकी पुरुष-
को आकाशमें तलमलबुद्धि होनी ।

यदि भेदप्रतीतिके नष्ट हो
जानेपर भी बोधवान् पुरुष भेदज्ञान-
की निवृत्ति होनेसे पूर्वके समान
कर्मोंसे निवृत्त नहीं होता तो वह
मानो एकत्वविधायक वाक्योंको
अप्रामाणिक सिद्ध करता है । अभक्ष्य-
भक्षणाका प्रतिषेध करनेवाले वाक्यों-
की प्रामाणिकताके समान एकत्व-
प्रतिपादक वाक्यकी प्रामाणिकता
भी उचित ही है; क्योंकि सम्पूर्ण
उपनिषदें उसीका प्रतिपादन
करनेमें तत्पर हैं ।

पूर्व०—इस प्रकार तो कर्मविधियों-
की अप्रामाणिकताका प्रसंग उपस्थित
हो जायगा ।

सिद्धान्ती—नहीं, जिस पुरुषका
भेदज्ञान निवृत्त नहीं हुआ है उसके
सम्बन्धमें उनकी प्रामाणिकता हो
सकती है, जिस प्रकार कि जागनेसे
पूर्व स्वप्नादिका ज्ञान प्रामाणिक
माना जाता है ।

विवेकिनामकरणात्कर्मविधि-
प्रामाण्योच्छेद इति चेत् ?

न, काम्यविध्यनुच्छेददर्शनात्
न हि कामात्मता न प्रशस्तेत्येवं
विज्ञानवद्भिः काम्यानि कर्माणि
नानुष्ठीयन्त इति काम्यकर्मविधय
उच्छिद्यन्तेऽनुष्ठीयन्त एव कामि-
मिरिति । तथा ब्रह्मसंस्थैर्ब्रह्मवि-
द्भिर्नानुष्ठीयन्ते कर्माणीति न
तद्विधय उच्छिद्यन्तेऽब्रह्मविद्भिर्-
नुष्ठीयन्त एवेति ।

परिव्राजकानां भिक्षाचरणा-
दिवदुत्पन्नैकत्वप्रत्ययानामपि गृ-
हस्थादीनामग्निहोत्रादिकर्मानिवृ-
त्तिरिति चेत् ?

न; प्रामाण्यचिन्तायां पुरुष-
प्रवृत्तेरदृष्टान्तत्वात् । न हि

पूर्व०—किन्तु विवेकियोंके न
करनेसे तो कर्मविधिकी प्रमाणताका
उच्छेद मानना ही होगा ।

सिद्धान्ती—नही, क्योंकि काम्य
विधिका उच्छेद होता देखा नहीं
गया । 'सकामता अच्छी नहीं है'
ऐसा जिन्हें ज्ञान हो गया है उन
पुरुषोंद्वारा काम्यकर्म नहीं किये
जाते, अतः काम्यकर्मोंकी विधियोंका
उच्छेद हो गया हो—ऐसी बात
देखनेमें नहीं आती, बल्कि [उस
समय भी] सकाम पुरुषोंद्वारा
उनका अनुष्ठान किया ही जाता है ।
इसी प्रकार यदि ब्रह्मनिष्ठ ब्रह्मवेत्ताओं-
द्वारा कर्मोंका अनुष्ठान नहीं किया
जाता तो इससे उनकी विधिका ही
उच्छेद नहीं हो जाता । जो ब्रह्म-
वेत्ता नहीं है उनके द्वारा उनका
अनुष्ठान किया ही जाता है ।

पूर्व०—जिस प्रकार सन्यासीलोग
भिक्षाटन करते हैं उसी प्रकार जिन्हें
एकत्वज्ञान उत्पन्न हो गया है उन
गृहस्थोंके भी अग्निहोत्रादि कर्मोंकी
निवृत्ति नहीं होनी चाहिये, यदि
ऐसी शङ्का हो तो ?

सिद्धान्ती—नही, क्योंकि प्रमाणता-
का विचार करनेमें पुरुषकी प्रवृत्ति
दृष्टान्तरूप नहीं हो सकती ।

नाभिचरेदिति प्रतिषिद्धमप्यभि-
चरणं कश्चित्कुर्वन्ष्ट इति शत्रौ
द्वेषरहितेनापि विवेकिनाभि-
चरणं क्रियते । न च कर्मविधि-
प्रवृत्तिनिमित्ते भेदप्रत्यये बाधि-
तेऽग्निहोत्रादौ प्रवर्तकं निमित्त-
मस्ति । परिव्राजकस्येव भिक्षा-
चरणादौ बुभुक्षादि प्रवर्तकम् ।

इहाप्यकरणे प्रत्यवायभयं
प्रवर्तकमिति चेत् ?

न, भेदप्रत्ययवतोगधिकृत-
त्वात् । भेदप्रत्ययवानुपमर्दित-
भेदबुद्धिविद्यया यः स कर्मण्य-
धिकृत इत्यवोचाम । यो बाधि-
कृतः कर्मणि तस्य तदकरणे
प्रत्यवायो न निवृत्ताधिकारस्य;

‘अभिचार न करे’ इस प्रकार प्रति-
षिद्ध होनेपर भी किसीको अभिचार
करते देखा है—इतनेहीसे जिसका
शत्रुके प्रति द्वेषभाव भी नहीं है
वह विवेकी पुरुष—भी अभिचार
करने लगे—यह सम्भव नहीं है ।
इसी प्रकार कर्मविधिकी प्रवृत्तिके
निमित्तभूत भेदप्रत्ययका बोध हो
जानेपर बोधवान् पुरुषको अग्नि-
होत्रादि कर्ममें प्रवृत्त करनेवाला कोई
निमित्त नहीं है, जिस प्रकार कि
संन्यासीको भिक्षाटनादिमें प्रवृत्त
करनेवाला क्षुधादिरूप निमित्त है ।

पूर्व०—यहाँ भी नित्यकर्म न
करनेपर प्रत्यवाय होनेका भय ही
प्रवृत्त करनेवाला है—यदि ऐसा
मानें तो ?

सिद्धान्ती—नहीं, क्योंकि कर्मा-
नुष्ठानका अधिकारी भेदज्ञानी ही है ।
जिसकी भेदबुद्धि ज्ञानसे नष्ट नहीं
हुई है वह भेदज्ञानी ही कर्मका
अधिकारी है—ऐसा हम पहले कह
चुके हैं । इस प्रकार जो कर्मका
अधिकारी है उसे ही उसके न
करनेपर प्रत्यवाय हो सकता है ।
जो उसके अधिकारसे बाहर है उसे
प्रत्यवाय नहीं हो सकता, जिस

गृहस्थस्येव ब्रह्मचारिणो विशेष-
धर्मानुष्ठाने ।

एवं तर्हि सर्वः स्वाश्रमस्थ
उत्पन्नैकत्वप्रत्ययः परिव्राडिति
चेत् ?

न; स्वस्वामित्वभेदबुद्धयनि-
वृत्तेः । कर्मार्थत्वान्चेतराश्रमा-
णाम्; “अथ कर्म कुर्वीय” (बृ०
उ० १।४।१७) इति श्रुतेः ।
तस्मात्स्वस्वामित्वाभावाद्भिन्नुरेक
एव परिव्राट्; न गृहस्थादिः ।

एकत्वप्रत्ययविधिजनितेन प्र-
त्ययेन विधिनिमित्तभेदप्रत्यय-
स्योपमर्दितत्वाद्यमनियमाद्यनुप-
पत्तिः परिव्राजकस्येति चेत् ?

प्रकार कि ब्रह्मचारीके विशेष धर्मका
अनुष्ठान न करनेपर गृहस्थको
प्रत्यवाय नहीं हो सकता ।

पूर्व०—इस प्रकार तब तो जिसे
एकत्वका ज्ञान हो गया है वह कोई
भी पुरुष अपने आश्रममें रहता हुआ
ही परिव्राजक हो सकता है ?

सिद्धान्ती—नहीं, क्योंकि उनकी
स्वस्वामित्वरूप^१ भेदबुद्धि निवृत्त
नहीं होती, क्योंकि अन्य आश्रम
कर्मनुष्ठानके ही लिये हैं; जैसा कि
“[खो-पुत्रादिकी प्राप्तिके] अनन्तर
मैं कर्म करूँगा” इस श्रुतिसे सिद्ध
होता है । अतः स्वस्वामिभावका
अभाव हो जानेसे एकमात्र भिक्षु ही
परिव्राट् हो सकता है, गृहस्थादि अन्य
आश्रमावलम्बी नहीं हो सकता ।

पूर्व०—एकत्वकी प्रतीति कराने-
वाले विधिवाक्यसे उत्पन्न हुए ज्ञान-
द्वारा कर्मविधिनिमित्तक भेदज्ञानके
निवृत्त हो जानेसे तो सन्यासीको
यम-नियमादिका पालन करना भी
सम्भव नहीं है [अतः उसका स्वेच्छा-
चारी हो जाना बहुत सम्भव है] ।

१. यह मेरा है और मैं इसका स्वामी हूँ ऐसी अधिकृत-मधिकारोत्पत्ति ।

न; बुमुच्चादिनैकत्वप्रत्ययात्
 प्रच्यावितस्योपपत्तेर्निवृत्त्यर्थत्वात् ।
 न च प्रतिषिद्धसेवाप्राप्तिः;
 एकत्वप्रत्ययोत्पत्तेः प्रागेव प्रति-
 षिद्धत्वात् । न हि रात्रौ कूपे
 कण्टके वा पतित उदितेऽपि
 सवितरि पतति तस्मिन्नेव ।
 तस्मात्सिद्धं निवृत्तकर्मा भिक्षुक
 एव ब्रह्मसंस्थ इति ।

यत्पुनरुक्तं सर्वेषां ज्ञानवज्जि-
 तपःशब्देन तानां पुण्यलोकते-
 परिव्राड्ग्रहणस्य ति, सत्यमेतत् ।
 प्रत्याख्यानम् यच्चोक्तं तपःशब्देन
 परिव्राडप्युक्त इति, एतदसत्;
 कस्मात् ? परिव्राजकस्येव ब्रह्म-
 संस्थतासंभवात् । स एव ह्यव-
 शेपित इत्यघोचाम । एकत्ववि-
 ज्ञानवतोऽग्निहोत्रादिवत्तपोनिवृ-
 त्तेश्च । भेदबुद्धिमत एव हि तपः-

सिद्धान्ती—ऐसी बात नहीं है,
 क्योंकि क्षुधा आदिद्वारा एकत्व
 प्रत्ययसे च्युत कर दिये जानेपर
 उसके द्वारा अनुचित कर्मोंसे निवृत्ति-
 के लिये उनका पालन किया जाना
 सम्भव है । इसके सिवा उसके
 द्वारा प्रतिषिद्धि कर्मोंका सेवन किया
 जाना भी सम्भव नहीं है, क्योंकि
 उनका प्रतिषेध तो वह एकत्वज्ञानकी
 उत्पत्तिसे पूर्व ही कर चुकता है ।
 रात्रिके समय कुएँ या कांटोंमें गिर
 जानेवाला पुरुष सूर्योदय होनेपर भी
 उन्हीमें नहीं गिर जाता । अतः सिद्ध
 होता है कि कर्मोंसे निवृत्त हुआ
 भिक्षुक ही ब्रह्मनिष्ठ हो सकता है ।

तथा यह जोकहाकि सम्पूर्ण ज्ञान-
 रहित पुरुषोंको पुण्यलोककी प्राप्ति
 होती है सो ठीक ही है; परंतु ऐसा
 जो कहा कि 'तपः' शब्दसे संन्यासी-
 का भी कथन है सो ठीक नहीं ।
 ऐसा क्यों है ? क्योंकि परिव्राजककी
 ही ब्रह्मनिष्ठता होनी सम्भव है । और
 वही [पुण्यलोकको प्राप्त होनेवालों-
 मेंसे] वच रहा है—ऐसा हम
 पहले कह चुके हैं; क्योंकि एकत्व
 विज्ञानवान्का तो अग्निहोत्रादिके
 समान तप भी निवृत्त हो ही जाता
 है । भेदबुद्धिमान्में ही तपकी

कर्तव्यता स्यात् । एतेन कर्म-

च्छिद्रे ब्रह्मसंस्थतासामर्थ्यम्,

अप्रतिपेधश्च प्रत्युक्तः । तथा

ज्ञानवानेव निवृत्तकर्मा परित्रा-

डिति ज्ञानवैयर्थ्यं प्रत्युक्तम् ।

यत्पुनरुक्तं यववराहादिशब्द-
परिव्राजके ब्रह्म- वत्परिव्राजके न
संस्थशब्दस्या- रूढो ब्रह्मसंस्थशब्द
रूढत्वनिरासः इति तत्परिहृतम् ।
तस्यैव ब्रह्मसंस्थतासंभवान्नान्य-
स्येति ।

यत्पुनरुक्तं रूढशब्दा निमित्तं
'रूढिनिमित्तं नो- नोपाददत इति,
पादत्ते' इति न्या- तन्न, गृहस्थतत्त्व-
यस्यानित्यत्वम् परिव्राजकादिशब्द-
दर्शनात् । गृहस्थितिपरिव्राज्य-
तत्त्वणादिनिमित्तोपादाना अपि
गृहस्थपरिव्राजकावाश्रमिविशेषे
विशिष्टजातिमति च तच्चेति रूढा
दृश्यन्ते शब्दाः । न यत्र यत्र
तानि निमित्तानि तत्र तत्र

वर्तव्यता भी रह सकती है । इससे
अन्य आश्रमवालोंको भी कर्मोंसे
अवकाश मिलनेपर ब्रह्मस्थितिके
सामर्थ्यका तथा उनके लिये ब्रह्म-
निष्ठाके अप्रतिपेधका भी निषेध
कर दिया गया । तथा ज्ञानी ही
निवृत्तकर्मा परिव्राट् हो सकता है—
इससे ज्ञानकी निरर्थकताका भी
खण्डन कर दिया गया ।

तथा ऐसा जो कहा कि 'यव'
और 'वराह' आदि शब्दोंके समान
'ब्रह्मसंस्थ' शब्द परिव्राजकमें रूढ
नहीं है उसका भी परिहार कर
दिया गया, क्योंकि उसीकी ब्रह्मनिष्ठा
होनी सम्भव है, और किसीकी नहीं ।

इसके सिवा वादीने जो कहा कि
रूढ शब्द निमित्तको स्वीकार नहीं
करता, सो ऐसी बात नहीं है,
क्योंकि गृहस्थ, तक्षा और परि-
व्राजकादि शब्द देखे जाते हैं । गृहमें
रहना, परिव्राज्य सब कुछ त्याग कर
चला जाना और तक्षण काष्ठ छेदन
आदि निमित्तोंको स्वीकार करते
हुए भी 'गृहस्थ' और 'परिव्राजक'
शब्द आश्रमिविशेषोमें और 'तक्षा'
शब्द जातिविशेषमें रूढ देखे जाते
हैं । ये गृहस्यादि शब्द जहाँ-जहाँ
वे निमित्त हैं वही-वही प्रवृत्त

वर्तन्ते; प्रसिद्ध्यभावात् । तथे-
हापि ब्रह्मसंस्थशब्दो निवृत्तसर्व-
कर्मतत्साधनपरिव्राडेकविषये-
ऽत्याश्रमिणि परमहंसाख्ये वृत्त
इह भवितुमर्हति, मुख्यामृतत्व-
फलश्रवणात् ।

अतश्चेदमेवैकं वेदोक्तं पारि-
ब्राज्यम् । न यज्ञोपवीतत्रिदण्ड-
कमण्डल्वादिपरिग्रह इति ।
“मुण्डोऽपरिग्रहः” (जावा० उ०
५) “असङ्गः” इति च श्रुतिः,
“अत्याश्रमिभ्यः परमं पवित्रम्”
(श्वे० उ० ६ । २१) इत्यादि
च श्वेताश्वतरीये । “निःस्तुति-
निर्नमस्कारः” इत्यादिस्मृति-
भ्यश्च । “तस्मात्कर्म न कुर्वन्ति
यतयः पारदर्शिनः । तस्मादलिङ्गो
धर्मज्ञोऽव्यक्तलिङ्गः” इत्यादि-
स्मृतिभ्यश्च ।

नहीं होते, क्योंकि ऐसी प्रसिद्धि
नहीं है । इसी प्रकार यहाँ भी
‘ब्रह्मसंस्थ’ शब्दकी वृत्ति सम्पूर्ण
कर्म और उनके साधनोंसे निवृत्त
हुए एकमात्र अत्याश्रमी परमहंस
परिव्राजकमें ही होनी उचित है,
क्योंकि उन्हींको मुख्य अमृतत्वरूप
फलकी प्राप्ति सुनी गयी है ।

अतः एकमात्र यही वेदोक्त पारि-
ब्राज्य है । यज्ञोपवीत, त्रिदण्ड या
कमण्डलु आदिका ग्रहण करना
मुख्य पारिब्राज्य नहीं है । इस
विषयमें “मुण्डित अपरिग्रही” और
“असङ्ग” ऐसी श्रुति है; तथा
“अत्याश्रमियोंको परम पवित्र
[ज्ञानका उपदेश किया]” इस
श्वेताश्वतरीय श्रुतिसे और
“निःस्तुतिर्निर्नमस्कारः” इत्यादि स्मृ-
तियोंसे एवं “अतः पारदर्शी यति-
गण कर्म नहीं करते, इसलिये
अलिङ्ग धर्मज्ञ और अव्यक्तलिङ्ग
[होकर विचरे]” इत्यादि स्मृतियोंसे
भी यही बात सिद्ध होती है ।

यत्तु सांख्यैः कर्मत्यागोऽभ्यु-
 साख्यबोद्धाज- पगम्यते, क्रिया-
 कर्तृकर्मत्या- कारकफलभेदबुद्धेः
 गम्य मिथ्यात्वम् सत्यत्वाभ्युपगमात्,
 तन्मृषा । यच्च बौद्धैः शून्यता-
 भ्युपगमादकर्तृत्वमभ्युपगम्यते,
 तदप्यसत्, तदभ्युपगन्तुः
 सत्त्वाभ्युपगमात् । यच्चैरलस-
 तयाकर्तृत्वाभ्युपगमः सोऽप्य-
 सत्कारकबुद्धेरनिवर्तितत्वात्प्रमा-
 णेन । तस्माद्वेदान्तप्रमाणजनितै-
 कत्वप्रत्ययवत् एव कर्मनिवृत्ति-
 लक्षणं पारिव्राज्यं ब्रह्मसंस्थत्वं
 चेति सिद्धम् । एतेन गृहस्थस्यै-
 कत्वविज्ञाने सति पारिव्राज्यम-
 र्थसिद्धम् ।

नन्वग्न्युत्सादनदोषभाक्स्या-
 त्परिव्रजन्, “वीरहा वा एष
 देवानां योगिमुद्रासयते” इति
 श्रुतेः ; न, दैवोत्सादित्वाडुत्सन्न

क्रिया, कारक और फलरूप भेद-
 बुद्धिका सत्यत्व स्वीकार करनेके
 कारण सांख्यवादी जो कर्मत्यागको
 स्वीकार करते हैं, वह ठीक नहीं
 है । तथा बौद्धोंने जो शून्यताको
 स्वीकार करनेके कारण अकर्तृत्वको
 स्वीकार किया है वह भी ठीक नहीं
 है, क्योंकि उन्हें उसका अकर्तृत्व
 स्वीकार करनेवालेकी भी सत्ता माननी
 होगी [और बौद्ध लोग आत्माकी सत्ता
 स्वीकार नहीं करते] । तथा अज्ञानी
 लोग जो आलस्यवश अकर्तृत्व
 स्वीकार कर लेते हैं वह भी ठीक
 नहीं है, क्योंकि प्रमाणद्वारा उनकी
 कारक बुद्धिकी निवृत्ति नहीं होती ।
 अतः वेदान्तप्रमाणजनित एकत्व
 ज्ञानवान्को ही कर्मनिवृत्तिरूप
 पारिव्राज्य और ब्रह्मनिष्ठत्व हो सकते
 हैं—यह सिद्ध होता है । इससे
 गृहस्थको भी एकत्व विज्ञान हो
 जानेपर पारिव्राज्य अर्थतः सिद्ध हो
 जाता है ।

अदि कहो कि परिव्राजक होनेसे
 तो वह अग्निपरित्यागरूप दोषका
 भागी होगा, जैसा कि “जो
 अग्निका त्याग करता है वह
 देवताओंका पुत्र होना है” इस
 श्रुतिसे सिद्ध होता है—तो ऐसा
 कहना ठीक नहीं, क्योंकि विधाता-

एव हि स एकत्वदर्शने जाते । द्वारा उच्छिन्न कर दिया जानेके कारण वह अग्नि एकत्वदर्शन होनेपर स्वतः ही त्यक्त हो जाता है, जैसा कि “अग्निका अग्नित्व निवृत्त हो गया” ऐसी श्रुतिसे सिद्ध होता है । अतः परिव्राजक होनेसे गृहस्थ दोषका भागी नहीं होता ॥ १ ॥

—: ० :—

त्रयीविद्या और व्याहृतियोंकी उत्पत्ति

यत्संस्थोऽमृतत्वमेति तन्नि- जिसमें स्थित हुआ पुरुष अमृतत्व प्राप्त कर लेता है उसका निरूपण करनेके लिये श्रुति कहती है—
रूपणार्थमाह—

प्रजापतिर्लोकानभ्यतपत्तेभ्योऽभितप्तेभ्यस्त्रयी विद्या
संप्राप्तवत्तामभ्यतपत्तस्या अभितप्ताया एतान्यक्षराणि
संप्राप्तवन्त भूर्भुवः स्वरिति ॥ २ ॥

प्रजापतिने लोकोंके उद्देश्यमे ध्यानरूप तप किया । उन अभितप्त लोकोंसे त्रयी विद्याकी उत्पत्ति हुई तथा उस अभितप्त त्रयी विद्यासे ‘भूः, भुवः और स्वः’ ये अक्षर उत्पन्न हुए ॥ २ ॥

प्रजापतिर्विराट् कश्यपो वा प्रजापति अर्थात् विराट् या कश्यपजीने लोकोंके उद्देश्यसे—
लोकानुद्दिश्य तेषु सारजिष्ठ- उनमेंसे सार ग्रहण करनेकी इच्छासे
याभ्यतपदभितापं कृतवान्व्यानं अभिताप किया अर्थात् ध्यानरूप
तपः कृतवानित्यर्थः । तेभ्यो- तप किया । इस प्रकार अभितप्त
ऽभितप्तेभ्यः सारभूता त्रयी विद्या हुए उन भूतोंसे उनकी सारभूता
संप्राप्तवत्प्रजापतेर्मनसि प्रत्यभा- त्रयीविद्या प्रादुर्भूत हुई; तात्पर्य यह
कि प्रजापतिके मनमें त्रयीविद्याका

दित्यर्थः । तामभ्यतपत्, पूर्ववत् ।
तस्या अभितप्ताया एतान्यक्षराणि
संप्राप्तवन्त भू भुवः स्वरिति
व्याहृतयः ॥ २ ॥

प्रतिभान हुआ । प्रजापतिने पूर्ववत्
उसके जड़ेख्यने भो तप किया ।
उस अभितप्त त्रयीविद्यासे भू, भुव
और स्व — ये व्याहृतिरूप अक्षर
उत्पन्न हुए ॥ २ ॥

—: ० :—

ओङ्कारकी उत्पत्ति

तान्यभ्यतपत्तेभ्योऽभितप्तेभ्य उँकारः संप्राप्तवत्त-
द्यथा शङ्कुना सर्वाणि पर्णानि संतृण्णान्येवमोङ्कारेण सर्वा
वाक्संतृण्णोङ्कार एवेदँ सर्वमोङ्कार एवेदँ सर्वम् ॥ ३ ॥

[फिर प्रजापतिने] उन अक्षरोका आलोचन किया । उन आलोचित
अक्षरोसे ओङ्कार उत्पन्न हुआ । जिस प्रकार शङ्कुओ (नसो) द्वारा
सम्पूर्ण पत्ते व्याप्त रहते हैं उसी प्रकार ओङ्कारसे सम्पूर्ण वाक् व्याप्त है ।
ओङ्कार ही यह सब कुछ है—ओङ्कार ही यह सब कुछ है ॥ ३ ॥

तान्यक्षराण्यभ्यतपत्तेभ्यो-
ऽभितप्तेभ्य उँकारः संप्राप्तवत्त-
द्ब्रह्म कीदृशम्? इत्याह—तद्यथा
शङ्कुना पर्णानालेन सर्वाणि पर्णा-
नि पत्रावयवजातानि संतृण्णानि
विद्धानि व्याप्तानीत्यर्थः । एव-
मोङ्कारेण ब्रह्मणा परमात्मनः
प्रतीकभूतेन सर्वा वाक्शब्दजातं

[फिर उसने] उन अक्षरोकी
आलोचना की । उन आलोचित
अक्षरोसे ओङ्कार उत्पन्न हुआ ।
वह [ओङ्काररूप] ब्रह्म कैसा है
इसपर श्रुति कहती है—जिस प्रकार
शङ्कु—पत्तेकी नसोसे सम्पूर्ण पत्ते-
पत्तेके अवयवसमूह अनुविद्ध अर्थात्
व्याप्त रहते हैं, इसी प्रकार परमात्मके
प्रतीकभूत ओङ्काररूप ब्रह्मद्वारा

संतृण्णा । “अकारो वै सर्वा
वाक्” इत्यादिश्रुतेः ।

परमात्मविकारश्च नामधेय-
मात्रमित्यत उँकार एवेदं
सर्वमिति । द्विरभ्यास आदरार्थः ।
लोकादिनिष्पादनकथनमोङ्कार-
स्तुत्यर्थमिति ॥ ३ ॥

सम्पूर्ण वाक्—शब्दसमूह व्याप्त है,
जैसा कि “अकार ही सम्पूर्ण वाक्
है” इत्यादि श्रुतियोंसे सिद्ध होता है ।
जितना नामधेयमात्र है सब
परमात्माका ही विकार है । अतः
यह सब ओङ्कार ही है । द्विरुक्ति
आदरके लिये है । तथा लोकादिको
प्राप्त कराना आदि जो कहा गया
है वह ओंकारकी स्तुतिके लिये है । ३।

—: ० :—

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि द्वितीयाध्याये
त्रयोविंशखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥ २३ ॥



चतुर्विंश खण्ड

—:०:—

सामोपासनप्रसङ्गेन कर्मगुण-
भूतत्वान्निवर्त्योद्धारं परमात्म-
प्रतीकत्वादमृतत्वहेतुत्वेन मही-
कृत्य प्रकृतस्यैव यज्ञस्याङ्ग-
भूतानि सामहोममन्त्रोत्थाना-
न्युपदिदिच्छन्नाह—

सामोपासनाके प्रसङ्गसे कर्मका
गुणभूत (अङ्ग) हो जानेके कारण
अब ओद्धारको [उपासनाकाण्डसे]
निवृत्त कर वह परमात्माका प्रतीक
होनेके कारण अमृतत्वका साधन है—
इस प्रकार उसे महान् बताकर
प्रकरणप्राप्त यज्ञके ही अङ्गभूत
साम, होम, मन्त्र और उत्थानोंका
उपदेश करनेकी इच्छासे धृति
कहती है—

सवनोके अधिकारी देवता

ब्रह्मवादिनो वदन्ति यद्वसूनां प्रातःसवनं रुद्राणां
माध्यन्दिनं सवनमादित्यानां च विश्वेषां च देवानां
तृतीयसवनम् ॥ १ ॥

ब्रह्मवादी कहते हैं कि प्रातःसवन वसुओंका है, मध्याह्नसवन
सूर्योंका है तथा तृतीय सवन आदित्य और विश्वेदेवोंका है ॥ १ ॥

ब्रह्मवादिनो वदन्ति यत्प्रातः-
सवनं प्रसिद्धं तद्वसूनाम् । तैश्च
प्रातःसवनसंबद्धोऽयं लोको वशी-
कृतः सवनेशानैः । तथा रुद्रै-

ब्रह्मवादी लोग कहते हैं कि जो
प्रातःसवन प्रसिद्ध है वह वसुओं-
का है । उन सवनके अधीश्वरोंद्वारा
यह प्रातःसवनसम्बन्धी लोक अपने
वशीभूत किया हुआ है । तथा
मध्याह्नसवनके अधीश्वर सूर्योंद्वारा

माध्यन्दिनसवनेशानैरन्तरिक्ष-
लोकः । आदित्यैश्च विश्वैर्देवैश्च
तृतीयसवनेशानैस्तृतीयो लोको
वशीकृतः । इति यजमानस्य
लोकोऽन्यः परिशिष्टो न विद्यते । १ ।

अन्तरिक्षलोक और तृतीय सवन-
के स्वामी आदित्यों एवं विश्वे-
देवोंद्वारा तृतीय लोक अपने
अधीन किया हुआ है । इस प्रकार
यजमानके लिये इनके अधिकारसे
बचा हुआ कोई दूसरा लोक नहीं
है ॥ १ ॥

— : * : —

साम आदिको जाननेवाला ही यज्ञ कर सकता है

क्व तर्हि यजमानस्य लोक इति स यस्तं न
विद्यात्कथं कुर्यादथ विद्वान्कुर्यात् ॥ २ ॥

तो फिर यजमानका लोक कहाँ है ? जो यजमान उस लोकको
नहीं जानता वह किस प्रकार यज्ञानुष्ठान करेगा ? अतः उसे जाननेवाला
ही यज्ञ करेगा ॥ २ ॥

अतः क्व तर्हि यजमानस्य
लोको यदर्थं यजते । न कचि-
ल्लोकोऽस्तीत्यभिप्रायः । “लोकाय
वै यजते यो यजते” इति श्रुतेः
लोकाभावे च स यो यजमानस्तं
लोकस्वीकरणोपायं सामहोम-
मन्त्रोत्थानलक्षणं न विद्यान्
विजानीयात्सोऽज्ञः कथं कुर्या-
द्यज्ञम् । न कथञ्चन तस्य कर्तृत्व-
मुपपद्यत इत्यर्थः ।

अतः यजमानका वह लोक कहाँ
है जिसके लिये वह यज्ञानुष्ठान
करता है ? तात्पर्य यह है कि वह
लोक कहीं नहीं है । किंतु “जो भी
यज्ञ करता है वह पुण्यलोकके ही
लिये करता है” ऐसी श्रुति होनेके
कारण जो यजमान लोकका अभाव
होनेसे साम, होम, मन्त्र और
उत्थानरूप लोकस्वीकृतिके उपायको
नहीं जानता वह अज्ञानी किस प्रकार
यज्ञानुष्ठान कर सकता है ? तात्पर्य
यह है कि उसका कर्तृत्व किसी
प्रकार सम्भव नहीं है ।

सामादिविज्ञानस्तुतिपस्त्वा-
 न्नाविदुषः कर्तृत्वं कर्ममात्रविदः
 प्रतिषिध्यते । स्तुतये च सामा-
 दिविज्ञानस्याविद्वत्कर्तृत्वप्रति-
 पेधाय वेति हि मिथेत वाक्यम् ।
 आद्ये चौपस्त्ये काण्डेऽविदुषोऽपि
 कर्मास्तीति हेतुमवोचाम । अथै-
 तद्वक्ष्यमाणं सामाद्युपायं विद्वान्
 कुर्यात् ॥ २ ॥

[यह वाक्य] सामादिविज्ञान-
 की स्तुति करनेवाला है, अतः
 इसके द्वारा केवल कर्ममानके ज्ञाता
 अज्ञानीके कर्तृत्वका प्रतिषेध नहीं
 किया जाता । '[यह वाक्य]
 सामादिविज्ञानकी स्तुतिके लिये है
 और अविद्वान्के कर्म-कर्तृत्वका
 प्रतिषेध करनेके लिये भी है' यदि
 ऐसा माना जाय तो वाक्य भेद हो
 जायगा; क्योंकि प्रथम अध्यायके
 औपस्त्यकाण्डमे (दशम खण्डमें)
 कर्म अविद्वान्के भी लिये है—ऐसा
 हमने [कर्मानुष्ठानमे] हेतु बतलाया
 है । अतः आगे बतलाये जानेवाले
 सामादि उपायोको जाननेवाला
 होकर ही कर्म करे ॥ २ ॥

—:ॐ:—

प्रातः सवनमें वसुदेवतासम्बन्धी सामगान

किं तद्वेद्यम् ? इत्याह—

वह उसका ज्ञातव्य साम क्या
 है ? सो श्रुति बतलाती है—

पुरा प्रातरनुवाकस्योपाकरणाज्जघनेन गार्हपत्यस्यो-
 दङ्मुख उपविश्य स वासव सामाभिगायति ॥ ३ ॥

प्रातरनुवाकका आरम्भ करनेसे पूर्व वह (यजमान) गार्हपत्याग्निके
 पीछेकी ओर उत्तराभिमुख बैठकर वसुदेवतासम्बन्धी सामका गान
 करता है ॥ ३ ॥

पुरा पूर्वं प्रातरनुवाकस्य
शस्त्रस्य प्रारम्भाज्जघनेन गार्ह-
पत्यस्य पश्चादुदङ्मुखः सन्नुप-
विश्य स वासवं वसुदैवत्यं
सामाभिगायति ॥ ३ ॥

प्रातरनुवाकसे पूर्व अर्थात् प्रातः-
कालमें पढ़े जाने योग्य 'शस्त्र' नामक*
स्तोत्रपाठसे पूर्व गार्हपत्याग्निके पीछेकी
ओर उत्तराभिमुख बैठकर वह
यजमान वासव—वसुदेवतासम्बन्धी
सामका गान करता है ॥ ३ ॥

—:ॐ:—

लो ३ कद्वारमपावा ३ रू ३३ पश्येम त्वा वयं रा
३ ३ ३ ३ ३ हु ३ म आ ३ ३ ज्या ३ यो ३ आ ३ २ १ १ १ इति ॥ ४ ॥

[हे अग्ने !] तुम इस लोकका द्वार खोल दो; जिससे कि हम
राज्यप्राप्तिके लिये तुम्हारा दर्शन कर लें ॥ ४ ॥

लोकद्वारमस्य पृथिवीलोकस्य
प्राप्तये द्वारमपावृणु हेज्जे तेन
द्वारेण पश्येम त्वा त्वां राज्या-
येति ॥ ४ ॥

हे अग्ने ! तुम लोकद्वार—इस
पृथिवीलोककी प्राप्तिके लिये, इसका
द्वार खोल दो। उस द्वारसे हम राज्य-
प्राप्तिके लिये तुम्हारा दर्शन करें ॥ ४ ॥

—: ० :—

अथ जुहोति नमोऽग्नये पृथिवीक्षिते लोकक्षिते लोकं
मे यजमानाय विन्दैष वै यजमानस्य लोक एतास्मि ॥ ५ ॥

तदनन्तर [यजमान इस मन्त्रद्वारा] हवन करता है—पृथिवीमें
रहनेवाले इहलोकनिवासी अग्निदेवको नमस्कार है। मुझ यजमानको तुम
[पृथिवी] लोककी प्राप्ति कराओ। यह निश्चय ही यजमानका लोक है,
मैं इसे प्राप्त करनेवाला हूँ ॥ ५ ॥

* जिन ऋक्-मन्त्रोंका गान नहीं किया जाता उन्हें 'शस्त्र' कहते हैं और
जिन शस्त्रोंका प्रातःकाल पाठ किया जाता है उनका नाम 'प्रातरनुवाक' है।

अथानन्तरं जुहोत्यनेन मन्त्रेण
नमोऽग्नये प्रह्वीभूतास्तुभ्यं वयं
पृथिवीक्षिते पृथिवीनिवासाय
लोकक्षिते पृथिवीलोकनिवासा-
येत्यर्थः । लोकं मे मद्यं यजमा-
नाय विन्द लभस्व । एष वै मम
यजमानस्य लोक एता गन्ता-
स्मि ॥ ५ ॥

इसके पश्चात् वह इस मन्त्रद्वारा
हवन करता है—अग्निदेवको
नमस्कार है । हम पृथ्वीमें रहनेवाले
और पृथ्वीलोकनिवासी तुम्हारे प्रति
विनम्र होते हैं । भुक्त यजमानको तुम
पुण्यलोककी प्राप्ति कराओ । यह
निश्चय ही यजमानका लोक है, मैं
इसे प्राप्त करनेवाला हूँ ॥ ५ ॥

—ॐ००ॐ—

अत्र यजमानः परस्तादायुषः स्वाहापजहि परि-
धमित्युक्त्वोत्तिष्ठति तस्मै । वसवः प्रातःसवनं संप्रय-
च्छन्ति ॥ ६ ॥

इस लोकमें यजमान 'मैं आयु समाप्त होनेके अनन्तर [पुण्यलोकको
प्राप्त होऊँगा] 'स्वाहा'—ऐसा कहकर हवन करता है, और 'परिध
(अर्गला—अडंगे) को नष्ट करो' ऐसा कहकर उत्थान करता है ।
वसुगण उसे प्रातःसवन प्रदान करते हैं ॥ ६ ॥

अत्रास्मिंल्लोके यजमानोऽह-
मायुषः परस्तादूर्ध्वं मृतः सन्नि-
त्यर्थः, स्वाहेति जुहोति । अप-
जह्यपनय परिधं लोकद्वारार्गल-
मित्येतं मन्त्रमुक्त्वोत्तिष्ठति ।
एवमेतैर्वसुभ्यः प्रातःसवनसंबद्धो
लोको निष्कीतः स्यात्ततस्ते

यहाँ—इस लोकमें यजमान
'मैं आयु समाप्त होनेपर—आयुके
पीछे अर्थात् मरनेपर [पुण्यलोक
प्राप्त करूँगा] 'स्वाहा' ऐसा कहकर
हवन करता है । 'तुम परिध यानी
लोकद्वारकी अर्गलाको दूर करो'—
इस मन्त्रको कहकर उत्थान करता
है । इस प्रकार इन [साम, मन्त्र,
होम और उत्थान] के द्वारा वसुओं-
से प्रातःसवनसे सम्बद्ध लोक मोल

प्रातःसवनं वसवो यजमानाय
सम्प्रयच्छन्ति ॥ ६ ॥

ले लिया जाता है । तब वे वसुगण
यजमानको प्रातःसवन प्रदान करते
हैं । ॥ ६ ॥

—:ॐ:—

मध्याह्नसवनमें रुद्रसम्बन्धी सामगान

पुरा माध्यन्दिनस्य सवनस्योपाकरणाज्जघनेना-
ग्नीध्रीयस्योदङ्मुख उपविश्य स रौद्रं सामाभि-
गायति ॥ ७ ॥

मध्याह्नसवनका आरम्भ करनेसे पूर्व यजमान दक्षिणाग्निके पीछे
उत्तराभिमुख बैठकर रुद्रदेवतासम्बन्धी सामका गान करता है ॥ ७ ॥

तथाग्नीध्रीयस्य दक्षिणाग्नेर्ज-
घनेनोदङ्मुख उपविश्य स रौद्रं
सामाभिगायति यजमानो रुद्र-
दैवत्यं वैराज्याय ॥ ७ ॥

तथा आग्नीध्रीय यानी दक्षिणाग्नि-
के पीछेकी ओर उत्तराभिमुख बैठकर
यजमान वैराज्यपदकी प्राप्तिके लिये
रुद्रदेवतासम्बन्धी सामका गान
करता है ॥ ७ ॥

लो३कद्वारमपावा३र्णू ३३ पश्येम त्वा वयं वैरा
३ ३ ३ ३ ३ हु ३ मू आ ३ ३ ज्या ३ यो ३ आ
३ २ १ १ १ इति ॥ ८ ॥

[हे वायो !] तुम अन्तरिक्षलोकका द्वार खोल दो, जिससे कि
वैराज्यपदकी प्राप्तिके लिये हम तुम्हारा दर्शन कर सकें ॥ ८ ॥

अथ जुहोति नमो वायवेऽन्तरिक्षद्विते लोकद्विते
लोकं मे यजमानाय विन्दैष वै यजमानस्य लोक
एतास्मि ॥ ९ ॥

तदनन्तर [यजमान इस मन्त्रद्वारा] हवन करता है—अन्तरिक्ष-
में रहनेवाले अन्तरिक्षलोकनिवासी वायुदेवको नमस्कार है । मुझ
यजमानको तुम [अन्तरिक्ष] लोककी प्राप्ति कराओ । यह निश्चय ही
यजमानका लोक है, मैं इसे प्राप्त करनेवाला हूँ ॥ ९ ॥

अत्र यजमानः परस्तादायुषः स्वाहापजहि परिघ-
मित्युक्त्वोत्तिष्ठति तस्मै रुद्रा माध्यन्दिनं सवनं
सम्प्रयच्छन्ति ॥ १० ॥

यहाँ यजमान, 'मैं आयु समाप्त होनेपर [अन्तरिक्षलोक प्राप्त
करूँगा] स्वाहा' ऐसा कहकर हवन करता है और 'लोकद्वारकी अगंला-
को दूर करो' ऐसा कहकर उत्थान करता है । रुद्रगण उसे मध्याह्नसवन
प्रदान करते हैं ॥ १० ॥

अन्तरिक्षक्षित इत्यादि समा-	'अन्तरिक्षक्षिते' इत्यादि मन्त्रोंका अर्थ [पाँचवे और छठे मन्त्रके] समान है ॥ ८-१० ॥
नम् ॥ ८-१० ॥	

—***—

तृतीय सवनमें आदित्य और विश्वदेवसम्बन्धी सामका गान

पुरा तृतीयसवनस्योपाकरणाज्जघनेनाहवनीयस्यो-
दङ्मुख उपविश्य स आदित्यं वैश्वदेवं सामाभि-
गायति ॥ ११ ॥

तृतीय सवनका आरम्भ करनेसे पूर्व यजमान आहवनीयाग्निके पीछे
उत्तराभिमुख बैठकर आदित्य और विश्वदेवसम्बन्धी सामका गान करता है ११

तथाहवनीयस्योदङ्मुख उप- विश्य स आदित्यदैवत्यमादि- त्यं वैश्वदेवं च सामाभिगा- यति क्रमेण स्वाराज्याय साम्राज्याय ॥ ११ ॥	तथा आहवनीयाग्निके पीछे उत्तराभिमुख बैठकर वह स्वाराज्य और साम्राज्यप्राप्तिके लिये ऋमशः आदित्यदेवतासम्बन्धी तथा विश्वदेव- सम्बन्धी सामका गान करता है ॥ ११ ॥

—❀—

लो३ कद्वारमपावा३ र्णू ३३ पश्येम त्वा वयं^ॐ-
 स्वारा ३३३३३ हु ३ मू आ ३३ ज्या ३ यो ३ आ
 ३२१११ इति ॥ १२ ॥ आदित्यमथ वैश्वदेवं लो-
 ३ कद्वारमपावा३ र्णू ३३ पश्येम त्वा वयं^ॐ साम्रा ३३
 ३३३ हु ३ मू आ ३३ ज्या ३ यो ३ आ ३२१११
 इति ॥ १३ ॥

लोकका द्वार खोल दो, जिससे हम स्वाराज्यप्राप्तिके लिये तुम्हारा दर्शन कर सकें। यह आदित्यसम्बन्धी साम है; अब विश्वेदेवसम्बन्धी साम कहते हैं—लोकका द्वार खोल दो, जिससे हम साम्राज्यप्राप्तिके लिये तुम्हारा दर्शन कर सकें ॥ १२-१३ ॥

—:❀:—

अथ जुहोति नम आदित्येभ्यश्च विश्वेभ्यश्च देवेभ्यो
 दिविक्षिद्भ्यो लोकक्षिद्भ्यो लोकं मे यजमानाय
 विन्दत ॥ १४ ॥

तत्पश्चात् [यजमान इस मन्त्रद्वारा] हवन करता है—स्वर्गमें रहनेवाले द्युलोकनिवासी आदित्योंको और विश्वेदेवोंको नमस्कार है। भुक्त यजमानको तुम पुण्यलोककी प्राप्ति कराओ ॥ १४ ॥

एष वै यजमानस्य लोक एतास्म्यत्र यजमानः
 परस्तादायुषः स्वाहापहत परिघमित्युक्त्वोत्तिष्ठति ॥ १५ ॥

यह निश्चय ही यजमानका लोक है; मैं इसे प्राप्त करनेवाला हूँ। यहाँ यजमान 'आयु समाप्त होनेपर [मैं इसे प्राप्त करूँगा] स्वाहा'—ऐसा कहकर हवन करता है और 'लोकद्वारकी अर्गलाको दूर करो'—ऐसा कहकर उत्थान करता है ॥ १५ ॥

दिविहित्त्वम् इत्येवमादि । 'दिविहित्त्वम्ः' इत्यादि शेष
सर्व अर्थ पहलेके ही समान हैं ।
समानमन्यत् । विन्दतापहतेति । 'विन्दत, अपहत' इन क्रियाओंमें
बहुवचन होना ही पूर्वकी अपेक्षा
विशेष है । ये मन्त्र यजमान-सम्बन्धी
मानं त्वेतत् । एतास्म्यत्र यजमान
हैं, क्योंकि 'मैं यजमान इस लोकको
इत्यादिलिङ्गात् ॥ १४-१५ ॥' इत्यादि लिङ्गसे
यह स्पष्ट होता है ॥ १४-१५ ॥

—❀—

तस्मा आदित्याश्च विश्वे च देवास्तृतीयसवनं सम्प्रयच्छ-
न्त्येव ह वै यज्ञस्य मात्रां वेद य एवं वेद य एवं वेद ॥ १६ ॥

उस (यजमान) को आदित्य और विश्वदेव तृतीय सवन प्रदान
करते हैं । जो इस प्रकार जानता है, जो इस प्रकार जानता है वह
निश्चय ही यज्ञकी मात्रा (यज्ञके यथार्थ स्वरूप) को जानता है ॥ १६ ॥

एष ह वै यजमान एवंविद् । एवंविद्—इस प्रकार पूर्वोक्त
यथोक्तस्य सामादेर्विद्वान्यज्ञस्य सामादिको जाननेवाला यह यजमान
मात्रां यज्ञयाथात्म्यं वेद यथोक्तम् । निश्चय ही यज्ञकी मात्रा—यज्ञके
पूर्वोक्त यथार्थ स्वरूपको जानता है ।
य एवं वेद य एवं वेदेति द्वि- 'य एवं वेद य एवं वेद' यह द्विरुक्ति
रुक्तिरध्यायपरिसमाप्त्यर्था ॥ १६ ॥ अध्यायकी समाप्तिके लिये है ॥ १६ ॥

—❀—

इति च्छान्दोग्योपनिषदि द्वितीयाध्याये
चतुर्विंशत्खण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥ २४ ॥

—❀—

इति श्रीगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यस्य परमहंसपरिव्राजकाचार्य-
श्रीमच्छंकरभगवतः कृतौ छान्दोग्यविवरणे
द्वितीयोऽध्यायः सम्पूर्णः ॥ २ ॥

—❀—

तृतीय अध्याय

प्रथम खण्ड

—:०:—

मधुविद्या

ॐ असौ वा आदित्य इत्या-
ध्यायारम्भे सम्ब-
न्धः । अतीतानन्त-
राध्यायान्त उक्तं यज्ञस्य मात्रां
वेदेति यज्ञविषयाणि च साम-
होममन्त्रोत्थानानि विशिष्टफल-
प्राप्तये यज्ञाङ्गभूतान्युपदिष्टानि ।
सर्वयज्ञानां च कार्यनिवृत्तिरूपः
सविता महत्या श्रिया दीप्यते ।
स एष सर्वप्राणिकर्मफलभूतः
प्रत्यक्षं सर्वैरुपजीव्यते । अतो
यज्ञव्यपदेशानन्तरं तत्कार्यभूत-
सवितृविषयमुपासनं सर्वपुरुषा-

‘ॐ असौ वा आदित्यः’ इत्यादि
अध्यायके आरम्भमें पूर्वोत्तर ग्रन्थका
सम्बन्ध [वतलाया जाता है] ।
अव्यवहितपूर्व अध्यायके अन्तमें यह
वतलाया गया है कि ‘वह यज्ञके
यथार्थ स्वरूपको जान जाता है ।
तथा उसी अध्यायमें विशिष्ट फलकी
प्राप्तिके लिये यज्ञके अङ्गभूत यज्ञ-
सम्बन्धी साम, होम, मन्त्र और
उत्थानोंका भी उपदेश किया गया
है । [इनके द्वारा] सम्पूर्ण यज्ञों-
का कार्यनिष्पत्तिरूप [अर्थात्
सम्पूर्ण यज्ञसाधनोंका फलस्वरूप]
सूर्य महती श्रिसे दीप्त हो जाता है ।
वह यह सूर्यदेव सम्पूर्ण प्राणियोंके
कर्मोंका फलस्वरूप है; अतः समस्त
जीव प्रत्यक्ष ही इसके आश्रयसे
जीवन धारण करते हैं । अतः अब
यज्ञका निरूपण करनेके पश्चात् में
उसके फलस्वरूप सूर्यकी उपासना-

थैभ्यः श्रेष्ठतमफलं विधास्यामी-
त्येवमारभते श्रुतिः—

का, जो सम्पूर्ण पुरुषार्थोंसे श्रेष्ठतम
फलवाली है, विधान करूंगी—इस
उद्देश्यसे श्रुति आरम्भ करती है—

आदित्यादिगं मधु आदि-दृष्टि

ॐ असौ वा आदित्यो देवमधु तस्य धौरेव
तिरश्चीनव ॥ शोऽन्तरिक्षमपूपो मरीचयः पुत्राः ॥ १ ॥

ॐ यह आदित्य निश्चय ही देवताओंका मधु है। धुलोक ही
उसका तिरछा बांस है [जिसपर कि वह लटका हुआ है], अन्तरिक्ष
छत्ता है और किरणें [उसमें रहनेवाले] मक्खियोंके बच्चे हैं ॥ १ ॥

असौ वा आदित्यो देवम-
ध्वित्यादि । देवानां मोदना-
न्मध्विव मध्वसावादित्यः ।
वस्वादीनां च मोदनहेतुत्वं
वक्ष्यति सर्वयज्ञफलरूपत्वादादि-
त्यस्य ।

कथं मधुत्वम् ? इत्याह—तस्य
मधुनो धौरेव आमरस्येव मधु-
नस्तिरश्चीनश्चासौ वंशश्चेति तिर-
श्चीनवंशः । तिर्घगतेव हि धौर्ल-
क्ष्यते । अन्तरिक्षं च मध्वपूपो

‘असौ वा आदित्यो देवमधु’
इत्यादि । देवताओंको प्रसन्न करने-
वाला होनेसे वह आदित्य मधुके
समान मानो मधु है । वसु आदिको
प्रसन्न करनेमें उसकी हेतुताका
श्रुति आगे (३ । ६ । १ में)
प्रतिपादन करेगी, क्योंकि वह
आदित्य सम्पूर्ण यज्ञोंका फल-
स्वरूप है ।

इसका मधुत्व किस प्रकार है ?
यह श्रुति बतलाती है—मधुकरके
मधुके समान इस मधुका धुलोक ही
तिरछा बांस है । जो तिरश्चीन (तिरछा)
हो और वंश (बांस) हो उसे
तिरश्चीनवंश (तिरछा बांस) कहते हैं;
क्योंकि धुलोक तिरछा ही दिखायी
देता है । तथा अन्तरिक्ष मधुका छत्ता
है, वह धुलोक रूप बांसमें लगकर

द्युवंशे लग्नः सल्लम्बत इवातो
मध्वपूपसामान्यादन्तरिक्षं मध्व-
पूपो मधुनः सवितुराश्रयत्वाच्च ।

मरीचयो रश्मयो रश्मिस्था
आपो भौमाः सवित्राकृष्टाः “एता
वा आपः स्वराजो यन्मरीचयः”
इति हि विज्ञायन्ते । ता अन्त-
रिक्षमध्वपूपस्थरश्म्यन्तर्गतत्वा-
द्भ्रमरबीजभूताः पुत्रा इव हिता
लक्ष्यन्त इति पुत्रा इव पुत्रा
मध्वपूपनाड्यन्तर्गता हि भ्रमर-
पुत्राः ॥ १ ॥

मानो लटकता है, अतः मधुके छत्तेके
समान होनेके कारण तथा मधुरूप
सूर्यका आश्रय होनेसे भी अन्तरिक्ष-
लोक ही मधुका छत्ता है ।

मरीचि—किरणें अर्थात् सूर्यद्वारा
खींचा हुआ उसकी किरणोंमें स्थित
पार्थिव जल—जिसका कि “स्वराट्
(स्वयंप्रकाश सूर्य) की जो किरणें
हैं वे निश्चय ही जल हैं” इस श्रुतिद्वारा
ज्ञान होता है, वह अन्तरिक्षरूप
शहदके छत्तेमें स्थित किरणोंके
अन्तर्गत होनेके कारण मधुकरोंके
बीजभूत पुत्रों (मधुमक्खियोंके
बच्चों) के समान उनमें निहित
दिखायी देता है । अतः वह सूर्य-
रश्मिस्थ जल) भ्रमरपुत्रोंके समान
पुत्ररूप है, क्योंकि छत्तेके छिद्रोंमें
ही भ्रमरपुत्र रहा करते हैं ॥ १ ॥

—*—

आदित्यकी पूर्वदिक्सम्बन्धिनी किरणोंमें मधुनाड्यादि-दृष्टि

तस्य ये प्राञ्चो रश्मयस्ता एवास्य प्राच्यो मधु-
नाड्यः । ऋच एव मधुकृत ऋग्वेद एव पुष्पं ता
ः अमृता आपस्ता वा एता ऋचः ॥ २ ॥ एतमृग्वेदम-
भ्यतपस्तस्याभितप्तस्य यशस्तेज इन्द्रियं वीर्यमन्ना-
य रसोऽजायत ॥ ३ ॥

उस आदित्यकी जो पूर्वदिशाकी किरणें हैं, वे ही इस (अन्तरिक्ष-रूप छत्ते) के पूर्वदिशावर्ती छिद्र हैं। ऋक् ही मधुकर हैं, ऋग्वेद ही पुष्प हैं, वे सोम आदि अमृत ही जल हैं। उन इन ऋक् [रूप मधुकरों] ने ही इस ऋग्वेदका अभिताप किया। उस अभिताप ऋग्वेदसे यश, तेज, इन्द्रिय, वीर्य और अन्नाद्यरूप रस उत्पन्न हुआ ॥ २-३ ॥

तस्य सवितुर्मध्वाश्रयस्य मधु-
नो ये प्राञ्चः प्राच्यां दिशिगता
रश्मयस्ता एवास्य प्राच्यः प्रा-
गञ्चनान्मधुनो नाड्यो मधुनाड्य
इव मध्वाधारच्छिद्राणीत्यर्थः ।

तत्र ऋच एव मधुकृतो लो-
हितरूपं सवित्राश्रयं मधु कुर्व-
न्तीति मधुकृतो भ्रमरा इव । यतो
रसानादाय मधु कुर्वन्ति तत्पुष्प-
मिव पुष्पमृग्वेद एव ।

तत्र ऋगब्राह्मणसमुदायस्यगर्वे-
दाख्यत्वाच्छब्दमात्राच्च भोग्य-
रूपरसनिस्रावासंभवाद्येवदशब्दे-
नात्र ऋग्वेदविहितं कर्म । ततो
हि कर्मफलभूतमधुरसनिस्राव-
संभवात् । मधुकरैरिव पुष्प-

मधुके आश्रयभूत उस सूर्यरूप
मधुकी जो पूर्वदिशागत किरणें हैं
वे ही पूर्वकी ओर जानेके कारण
इसकी पूर्व मधुनाडियाँ हैं। मधुकी
नाडियोंके समान मधुनाडियाँ हैं
अर्थात् वे मधुके आधारभूत छिद्र हैं।

तहाँ ऋचाएँ ही मधुकर हैं, वे
सूर्यमें रहनेवाला लोहितरूप मधु
उत्पन्न करती हैं, अतः भ्रमरोंके
समान वे ही मधुकर हैं। जिससे
रसोको ग्रहण करके वे मधु करती
हैं वह ऋग्वेद ही पुष्पके समान
पुष्प है।

किंतु यहाँ ऋगब्राह्मणसमुदायका
ही नाम ऋग्वेद है और केवल शब्दसे
ही भोग्यरूप रसका निकलना
असम्भव है; अतः 'ऋग्वेद' शब्दसे
यहाँ ऋग्वेदविहित कर्म अभिप्रेत
है, क्योंकि उसीसे कर्मफलभूत
मधुरूप रसका निकलना सम्भव
है। मधुकरोंके समान उस पुष्प

स्थानीया ऋग्वेदविहितात्कर्मण अप
आदाय ऋग्भिर्मधु निर्वर्त्यते ।

कास्ता आपः ? इत्याह—ताः
कर्मणि प्रयुक्ताः सोमाज्यपयो-
रूपा अग्नौ प्रक्षिप्तास्तत्पाकाभि-
निवृत्ता अमृता अमृतार्थत्वा-
दत्यन्तरसवत्य आपो भवन्ति ।
तद्रसानादाय ता वा एता ऋचः
पुष्पेभ्यो रसमाददाना इव भ्रमरा
ऋचः एतमृग्वेदमृग्वेदविहितं कर्म
पुष्पस्थानीयम् अभ्यतपन्नभितापं
कृतवत्य इवैता ऋचः कर्मणि
प्रयुक्ताः ।

ऋग्भिर्हि मन्त्रैः शस्त्राद्यङ्ग-
भावमुपगतैः क्रियमाणं कर्म
मधुनिर्वर्तकं रसं मुञ्चतीत्युप-
पद्यते पुष्पाणीव भ्रमरैराचूष्यमा-
णानि । तदेतदाह—तस्यग्वेद-
स्याभितप्तस्य, कोऽसौ रसः ? य

स्थानीय ऋग्वेदविहित कर्मसे ही रस
ग्रहण करके ऋचाओंद्वारा मधु
तैयार किया जाता है ।

वे रस क्या हैं ? सो श्रुति
बतलाती है—वे कर्मोंमें प्रयुक्त
अर्थात् अग्निमें डाले हुए सोम, घृत
एवं दुग्धरूप रस अग्निपाकसे निष्पन्न
हुए अमृत होते हैं अर्थात् अमृतत्व
(मोक्ष) के हेतु होनेके कारण वे
[अमृतसंज्ञक] जल अत्यन्त रसमय
होते हैं । उन रसोंको ही ग्रहण
करके इन ऋचाओंने—पुष्पोंसे
रस ग्रहण करनेवाले भ्रमरोंके
समान इन ऋचाओंने इस
ऋग्वेदको—पुष्पस्थानीय ऋग्वेद-
विहित कर्मको अभितप्त किया
अर्थात् कर्ममें प्रयुक्त हुई इन
ऋचाओंने मानो उनका अभिताप
किया ।

शस्त्रादि यज्ञाङ्गभावको प्राप्त हुए
ऋगादि मन्त्रोंद्वारा ही किया हुआ
कर्म भ्रमरोंसे धूसे जाते हुए
पुष्पोंके समान मधु बनानेवाला
रस छोड़ता है—यह कथन
ठीक ही है । इसी बातको यह
श्रुति बतलाती है—उस अभि-
तप्त ऋग्वेदका वह कौन-सा रस

ऋद्धमधुकरामितापनिःसृत इत्यु-
च्यते ।

यशो विश्रुतत्वं तेजो देहगता
दीप्तिरिन्द्रियं सामर्थ्योपितैरिन्द्रि-
यैरवैकल्यं वीर्यं सामर्थ्यं बल-
मित्यर्थः, अन्नाद्यमन्नं च तदाद्यं
च येनोपयुज्यमानेनाहन्यहनि
देवानां स्थितिः स्यात्तदन्नाद्यमेप-
रसोऽजायत यागादिलक्षणात्
कर्मणः ॥ २-३ ॥

है? जो ऋगूँरूप मधुकरके अभितापसे
निकला हुआ है—ऐसा कहा
जाता है ।

उस यागादिरूप कर्मसे यश—
विख्याति, तेज—देहगत दीप्ति,
इन्द्रिय—सामर्थ्ययुक्त इन्द्रियोंके
कारण—अविकलता, वीर्य—सामर्थ्य
यानी बल और अन्नाद्य—जो अन्न
हो और खाद्य (भक्ष्य) भी हो,
जिसका प्रतिदिन उपयोग किये
जानेपर देवताओंकी स्थिति हो उसे
अन्नाद्य कहते हैं—ऐसा रस उत्पन्न
हुआ ॥ २-३ ॥

—*—

तद्व्यक्षरत्तदादित्यमभितोऽश्रयत्तद्वा एतद्व्यदेतदा-
दित्यस्य रोहितं रूपम् ॥ ४ ॥

वह (यश आदि रस) विशेषरूपसे गया । उसने [जाकर] आदित्य-
के [पूर्व] भागमें आश्रय लिया । यह जो आदित्यका रोहित (लाल)
रूप है वही यह (रस) है ॥ ४ ॥

यशआद्यन्नाद्यपर्यन्तं तद्व्य-
क्षरद्विशेषेणाक्षरदगमत् । गत्वा
च तदादित्यमभितः पार्श्वतः पूर्व-
भागं सवितुरश्रयदाश्रितवदि-
त्यर्थः । अमुष्मिन्नादित्ये संचितं

यशसे लेकर अन्नाद्यपर्यन्त वह
रस 'व्यक्षरत्' विशेषरूपसे गया ।
उसने जाकर सूर्यको पार्श्वतः सूर्यके
पूर्वभागको आश्रित किया, ऐसा
इसका तात्पर्य है । हम इस
आदित्यमें संचित हुए कर्मफलसंज्ञक

कर्मफलाख्यं मधु भोक्ष्यामह
इत्येवं हि यशआदिलक्षणफल-
प्राप्तये कर्माणि क्रियन्ते मनुष्यैः
केदारनिष्पादनमिव कर्षकैः ।
तत्प्रत्यक्षं प्रदर्श्यते श्रद्धाहेतोस्तद्वा
एतत् । किं तत् ? यदेतदादित्यस्यो-
द्यतो दृश्यते रोहितं रूपम् ॥४॥

मधुको भोगेंगे—इस प्रकार यश आदि-
रूप फलकी प्राप्तिके लिये मनुष्योंद्वारा
कर्म किये जाते हैं, जैसे कि कृषक-
लोग—[धान्यादिकी प्राप्तिके लिये]
क्यारियाँ बनाते हैं । श्रद्धाकी उत्पत्ति-
के लिये अब उसे प्रत्यक्ष प्रदर्शित
किया जाता है—वह निश्चय यह
है । वह क्या है ? यह जो उदित
होते हुए सूर्यका रोहित (लाल)
रूप देखा जाता है ॥ ४ ॥

—***—

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि तृतीयाध्याये
प्रथमखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥ १ ॥



द्वितीय खण्ड

—★—

आदित्यकी दक्षिणदिक्सम्बन्धिनी किरणोंमें मधुनाड्यादि-दृष्टि

अथ येऽस्य दक्षिणा रश्मयस्ता एवास्य दक्षिणा
मधुनाड्यो यजूँष्येव मधुकृतो यजुर्वेद एव पुष्पं ता
अमृता आपः ॥ १ ॥

तथा इसकी जो दक्षिण दिशाकी किरणें हैं वे ही इसकी दक्षिण-
दिशार्वातिनी मधुनाडियां हैं, यजु.श्रुतियां ही मधुकर हैं, यजुर्वेद ही पुष्प
है तथा वह [सोमादिरूप] अमृत ही-आप है ॥ १ ॥

अथ येऽस्य दक्षिणा रश्मय
इत्यादि समानम् । यजूँष्येव मधु-
कृतो यजुर्वेदविहिते कर्मणि प्रयु-
क्तानि । पूर्ववन्मधुकृत इव ।
यजुर्वेदविहितं कर्म पुष्पस्थानीयं
पुष्पमित्युच्यते । ता एव सोमाद्या
अमृता आपः ॥ १ ॥

‘अथ येऽस्य दक्षिणा रश्मयः’
इत्यादि श्रुतिका अर्थ पूर्ववत् है ।
यजु.श्रुतियां ही मधुकर हैं अर्थात्
यजुर्वेदविहित कर्मोंमें प्रयुक्त यजुर्मन्त्र
ही पूर्ववत् मधुकरोंके समान हैं ।
यजुर्वेदविहित कर्म ही पुष्पस्थानीय
होनेके कारण ‘पुष्प है’ ऐसा कहा
जाता है । तथा वे सोम आदि अमृत
ही आप है ॥ १ ॥

—:०:—

तानि वा एतानि यजूँष्येतं यजुर्वेदमभ्यतपँस्त-
स्याभितप्तस्य यशस्तेज इन्द्रियं वीर्यमन्नायँ रसोऽजा-

यत् ॥ २ ॥ तद्वयञ्चरत्तदादित्यमभितोऽश्रयत्तद्वा एत-
द्यदेतदादित्यस्य शुक्लं रूपम् ॥ ३ ॥

उन इन यजुःश्रुतियोंने इस यजुर्वेदका अभिताप किया । उस अभितप्त यजुर्वेदसे यज्ञ, तेज, इन्द्रिय, वीर्य और अन्नाद्यरूप रस उत्पन्न हुआ । उस रसने विशेषरूपसे गमन किया और आदित्यके निकट [दक्षिण] भागमें आश्रय लिया । यह जो आदित्यका शुक्ल रूप है यह वही है ॥ २-३ ॥

तानि वा एतानि यजुंष्येतं | उन यजुःश्रुतियोंने ही इस
यजुर्वेदमभ्यतपन्नित्येवमादि सर्वं यजुर्वेदको अभितप्त किया—इत्यादि
समानम् । मध्वेतदादित्यस्य | प्रकारसे यह सब अर्थ पूर्ववत् है ।
दृश्यते शुक्लं रूपम् ॥ २-३ ॥ | यह जो आदित्यका शुक्लरूप दिखायी
देता है मधु है ॥ २-३ ॥

—:०:—

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि तृतीयाध्याये
द्वितीयखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥ २ ॥



तृतीय खण्ड

—:८:—

आदित्यकी पश्चिमदिक्सम्बन्धितो किरणोमे मधुनाड्यादि-दृष्टि

अथ येऽस्य प्रत्यञ्चो रश्मयस्ता एवास्य प्रतीच्यो
मधुनाड्यः सामान्येव मधुकृतः सामवेद एव पुष्पं ता
अमृता आपः ॥ १ ॥

तथा, ये जो इसकी पश्चिम ओरकी रश्मियाँ हैं वे ही इसकी पश्चिमीय
मधुनाडियाँ हैं । सामश्रुतियाँ ही मधुकर हैं, सामवेदविहित कर्म ही पुष्प
है तथा वह [सोमादिरूप] अमृत ही आप है ॥ १ ॥

तानि वा एतानि सामान्येत सामवेदमभ्यतप स्त-
स्याभितप्तस्य यशस्तेज इन्द्रियं वीर्यमन्नाय रसो-
ऽजायत ॥ २ ॥

उन इन सामश्रुतियोने ही इस सामवेदविहित कर्मका अभिताप
किया । उस अभितप्त सामवेदसे ही यश, तेज, इन्द्रिय, वीर्य और
अन्नाद्यरूप रस उत्पन्न हुआ ॥ २ ॥

तद्व्यक्षरत्तदादित्यमभितोऽश्रयत्तद्वा एतद्यदेतदा-
दित्यस्य कृष्ण रूपम् ॥ ३ ॥

उस रसने विक्षेपरूपसे गमन किया और आदित्यके समीप [पश्चिम]
भागमे आश्रय लिया । यह जो आदित्यका कृष्ण तेज है यह वही है ॥ ३ ॥

अथ येऽस्य प्रत्यञ्चो रश्मयः	'अथ येऽस्य प्रत्यञ्चो रश्मयः' इत्यादि श्रुतियोंका अर्थ पूर्ववत् है । तथा सामश्रुतियोका जो मधु है वही यह आदित्यका कृष्ण तेज है ॥ १-३ ॥
इत्यादि समानम् । तथा साम्नां	
मधु एतदादित्यस्य कृष्णं	
रूपम् ॥ १-३ ॥	

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि तृतीयाध्याये

तृतीयखण्डभाग्यं सम्पूर्णम् ॥ ३ ॥

—:१०:—

चतुर्थ खण्ड

—:❀:—

आदित्यकी उत्तरदिक्सम्बन्धिनो किरणोंमें मधुनाड्यादि-दृष्टि

अथ येऽस्योदञ्चो रश्मयस्ता एवास्योदीच्यो मधु-
नाड्योऽथर्वाङ्गिरस एव मधुकृत इतिहासपुराणं पुष्पं
ता अमृता आपः ॥ १ ॥

तथा इसकी जो उत्तर दिशाकी किरणें हैं वे ही इसकी उत्तरदिशाकी मधुनाडियाँ हैं । अथर्वाङ्गिरस श्रुतियाँ ही मधुकर हैं, इतिहास-पुराण ही पुष्प हैं तथा वह [सोमादिरूप] अमृत ही आप है ॥ १ ॥

ते वा एतेऽथर्वाङ्गिरस एतदितिहासपुराणमभ्य-
तपस्त्वस्याभितप्तस्य यशस्तेज इन्द्रियं वीर्यमन्ना-
द्य रसोऽजायत ॥ २ ॥

उन इन अथर्वाङ्गिरस श्रुतियोंने ही इस इतिहास-पुराणको अभितप्त किया । उस अभितप्त हुए [इतिहास-पुराणरूप पुष्प] से ही यश, तेज, इन्द्रिय, वीर्य और अन्नाद्यरूप रसकी उत्पत्ति हुई ॥ २ ॥

तद्व्यक्षरत्तदादित्यमभितोऽश्रयत्तद्वा एतद्यदेतदा-
दित्यस्य परं कृष्णं रूपम् ॥ ३ ॥

उस रसने विशेषरूपसे गमन किया और आदित्यके निकट [उत्तर] भागमें आश्रय लिया । यह जो आदित्यका अत्यन्त कृष्ण रूप है यह वही है ॥ ३ ॥

अथ येऽस्योदञ्चो रश्मयः
इत्यादि समानम् । अथर्वाङ्गि-
रसोऽथर्वणाङ्गिरसा च दृष्टामन्त्रा
अथर्वाङ्गिरसः कर्मणि प्रयुक्ता
मधुकृतः । इतिहासपुराणं पुष्पम् ।
तयोश्चेतिहासपुराणयोश्चमेधे
पारिप्लावसु रात्रिषु कर्माङ्गित्वेन
विनियोगः सिद्धः । मध्वेतदा-
दित्यस्य परं कृष्णं रूपमतिशयेन
कृष्णमित्यर्थः ॥ १-३ ॥

‘अथ येऽस्योदञ्चो रश्मयः’
इत्यादि मन्त्रोका अर्थं पूर्ववत् हे
अथर्वाङ्गिरस --अथर्वा और अङ्गिरा
ऋषियोंके प्रत्यक्ष किये हुए मन्त्र
अथर्वाङ्गिरस कहलाते हैं; कर्ममें
प्रयुक्त हुए वे ही मन्त्र मधुकर हैं ।
इतिहास पुराण ही पुष्प हैं । उन
इतिहास और पुराणोका अश्वमेध यज्ञ
में पारिप्लावा रात्रियोंमें* कर्माङ्गिरूपसे
विनियोग प्रसिद्ध ही है । इस आदित्य-
का जो परम कृष्ण अर्थात् अतिशय
कृष्ण रूप है वही मधु है ॥ १-३ ॥

—:ॐ:—

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि तृतीयाध्याये
चतुर्थखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥ ४ ॥



* अश्वमेधयज्ञ बहुत दिनोंमें समाप्त होता है । उसके अनुष्ठानमें षुपचाप
बैठे-बैठे यज्ञकर्त्ताओंको आलस्य आने लगता है । उसकी निवृत्तिके लिये श्रुतिमें
रात्रिके समय इतिहास-पुराणादिप्रवणका विधान किया है । विविध उपाख्यानादि-
के समुदायका नाम ‘पारिप्लाव’ है, जिन रात्रियोंमें उनके श्रवणका विधान है
वे ‘पारिप्लावा रात्रियाँ’ कहलाती हैं ।

पञ्चम खण्ड

—:❀:—

आदित्यकी ऊर्ध्वदिक्सम्बन्धिनी किरणोंमें मधुनाड्यादि-दृष्टि

अथ येऽस्योर्ध्वा रश्मयस्ता एवास्योर्ध्वा मधुनाड्यो
गुह्या एवादेशा मधुकृतो ब्रह्मैव पुष्पं ता अमृता आपः ॥ १ ॥

तथा इसकी जो ऊर्ध्वरश्मियाँ हैं वे ही इसकी ऊपरकी ओरकी मधुनाडियाँ हैं। गुह्य आदेश ही मधुकर हैं। [प्रणवरूप] ब्रह्म ही पुष्प है तथा वह [सोमादिरूप] अमृत ही आप है ॥ १ ॥

ते वा एते गुह्या आदेशा एतद्ब्रह्माभ्यतपस्तस्याभि-
ततस्य यशस्तेज इन्द्रियं वीर्यमन्नाद्य रसोऽजायत ॥ २ ॥

उन इन गुह्य आदेशोंने ही इस [प्रणवसंज्ञक] ब्रह्मको अभितप्त किया। उस अभितप्त ब्रह्मसे ही यश, तेज, इन्द्रिय, वीर्य और अन्नाद्यरूप रस उत्पन्न हुआ ॥ २ ॥

तद्व्यक्षरत्तदादित्यमभितोऽश्रयत्तद्वा एतद्यदेतदा-
दित्यस्य मध्ये क्षोभत इव ॥ ३ ॥

उस रसने विशेषरूपसे गमन किया और वह आदित्यके निकट [ऊर्ध्व] भागमें आश्रित हुआ। यह जो आदित्यके मध्यमें क्षुब्ध-सा होता है यही वह (मधु) है ॥ ३ ॥

<p>अथ येऽस्योर्ध्वा रश्मय इत्यादि पूर्ववत् । गुह्या गोप्या रहस्या एवादेशा लोकद्वारीयादिविधय</p>	<p>‘अथ येऽस्योर्ध्वा रश्मयः’ इत्यादि मन्त्रोंका अर्थ पूर्ववत् है । गुह्य— गोपनीय अर्थात् रहस्यभूत जो आदेश हैं यानी जो लोकद्वारीयादि*</p>
---	--

* ‘लोकद्वारमपावृणु पश्येम त्वा वयम्’ (लोकका द्वार खोल दे; जिससे हम तुम्हे देखें) इत्यादि ही ‘लोकद्वारीयादि विधियाँ’ हैं ।

उपासनानि च कर्माङ्गविषयाणि
मधुकृतः । ब्रह्मैव शब्दाधिकारात्
प्रणवाख्यं पुष्पं समानमन्यत् ।
मध्वेतदादित्यस्य मध्ये क्षोभत
इव समाहितदृष्टैर्दृश्यते सञ्चल-
तीव ॥ १-३ ॥

विधियां और कर्माङ्गसम्यन्विता
उपासनाएँ हैं वे ही मधुकर हैं ।
ब्रह्म शब्दका अधिकार होनेसे
प्रणवसंज्ञक ब्रह्म ही पुष्प है । शेष
अर्थ पूर्ववत् है । समाहितदृष्टि
पुरुषको इस आदित्यके मध्यमें जो
क्षुभित अर्थात् संचलित-सा होता
दिखायी देता है वही मधु है ॥ १-३ ॥

—:०:—

ते वा एते रसानां रसा वेदा हि रसास्तेषामेते
रसास्तानि वा एतान्यमृतानांममृतानि वदा ह्यमृतास्ते-
षामेतान्यमृतानि ॥ ४ ॥

वे ये [पूर्वोक्त रोहितादि रूप] ही रसोंके रस हैं, वेद ही रस हैं
और ये उनके भी रस हैं । वे ही ये अमृतोंके अमृत हैं—वेद ही अमृत-
हैं और ये उनके भी अमृत हैं ॥ ४ ॥

ते वा एते यथोक्ता रोहिता-
दिरूपविशेषा रसानां रसाः ।
केषां रसानाम् ? इत्याह—वेदा हि
यस्माल्लोकनिष्पन्दत्वात्सारा इति
रसास्तेषां रसानां कर्मभावमा-
पन्नानामप्येते रोहितादिविशेषा
रसा अत्यन्तसारभूता इत्यर्थः ।

वे ये पूर्वोक्त रोहितादि रूप
विशेष ही रसोंके रस हैं । किन्
रसोंके रस हैं ? ऐसा प्रश्न होनेपर
श्रुति कहती है—क्योंकि लोकोंके
सारभूत होनेके कारण वेद ही सार
अर्थात् रस हैं और कर्मभावको प्राप्त
हुए उन रसोंके भी वे रोहितादिरूप-
विशेष रस यानी अत्यन्त सारभूत हैं ।

तथामृतानाममृतानि वेदा ह्यमृताः
नित्यत्वाद्, तेषामेतानि रोहिता-
दीनि रूपाण्यमृतानि । रसानां
रसा इत्यादि कर्मस्तुतिरेषा—
यस्यैवंविशिष्टान्यमृतानि फल-
मिति ॥ ४ ॥

तथा ये अमृतोंके भी अमृत हैं, क्योंकि
वेद ही नित्य होनेके कारण अमृत
हैं, उनके भी ये रोहितादि रूप
अमृत हैं । 'रसानां रसाः' (रसोंके
रस) इत्यादि वाक्य कर्मकी स्तुति है;
अर्थात् इस वाक्यका ऐसा तात्पर्य है
कि जिस रसरूप कर्मके ऐसे अमृत-
रूप फल हैं [उसके माहात्म्यका
कहाँतक वर्णन किया जाय ?] ॥ ४ ॥

—❀—

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि तृतीयाध्याये
पञ्चमखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥ ५ ॥



षष्ठ खण्ड

— * —

वसुओंके जीवनाश्रयभूत प्रथम अमृतकी उपासना

तथाप्रथमममृतं तद्वसव उपजीवन्त्यग्निना मुखेन न
वै देवा अश्नन्ति न पिवन्त्येतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ति ॥ १ ॥

इनमें जो पहला अमृत है, उससे वसुगण अग्निप्रधान होकर जीवन धारण करते हैं। देवगण न तो खाते हैं और न पीते ही हैं, वे इस अमृतको देखकर ही तृप्त हो जाते हैं ॥ १ ॥

तत्तत्र यत्प्रथमममृतं रोहित-
रूपलक्षणं तद्वसवः प्रातःसवने-
शाना उपजीवन्त्यग्निना मुखेना-
ग्निना प्रधानभूतेनाग्निप्रधानाः
सन्त उपजीवन्तीत्यर्थः। अन्नाद्यं
रसोऽजायतेतिवचनात्कवलग्राह-
मश्नन्तीति प्राप्तम्, तत्प्रतिपिब्यते
न वै देवा अश्नन्ति न पिवन्तीति।
कथं तर्ह्युपजीवन्ति ? इत्युच्यते—
एतदेव हि यथोक्तममृतं रोहितं
रूपं दृष्ट्वापलभ्य सर्वकरणैरनुभूय

वहाँ इनमें जो रोहितरूपवाला
पहला अमृत है उसके उपजीवी
प्रातःसवनाधिकारी वसुगण हैं। वे
अग्निमुखसे—प्रधानभूत अग्निसे
अर्थात् अग्निप्रधान होकर इसके
उपजीवी होते हैं। 'अन्नाद्यरूप रस
उत्पन्न हुआ' इस वाक्यसे सिद्ध होता
है कि वे उसे एक-एक ग्रास लेकर
खाते हैं। इसीका 'देवगण न तो
खाते हैं और न पीते ही हैं'—इस
वाक्यद्वारा प्रतिषेध किया जाता है
तो फिर वे किस प्रकार उसके
उपजीवी होते हैं ? ऐसा प्रश्न होने-
पर कहा जाता है—वे इस उपयुक्त
अमृत अर्थात् रोहितरूपको देखकर
—उपलब्ध कर यानी समस्त इन्द्रियों-
से इसका अनुभव कर तृप्त हो जाते

तृप्यन्ति, दृशेः सर्वकरणद्वारोप-
लब्ध्यर्थत्वात् ।

ननु रोहितं रूपं दृष्ट्वेत्युक्तम्,
कथमन्येन्द्रियविषयत्वं रूपस्येति?

न; यशआदीनां श्रोत्रादिगम्य-
त्वात् । श्रोत्रग्राह्यं यशः । तेजो-

रूपं चाक्षुषम् । इन्द्रियं विषय-
ग्रहणकार्यानुमेयं करणसामर्थ्यम् ।

वीर्यं बलं देहगत उत्साहः प्राण-
वत्ता अन्नाद्यं प्रत्यहमुपजीव्य-

मानं शरीरस्थितिकरं यद्भवति ।
रसो ह्येवमात्मकः सर्वः । यं दृष्ट्वा

तृप्यन्ति सर्वे । देवा दृष्ट्वा तृप्य-
न्तीत्येतत्सर्वं स्वकरणैरनुभूय

तृप्यन्तीत्यर्थः । आदित्यसंश्रयाः
सन्तो वैगन्ध्यादिदेहकरणादोष-

रहिताश्च ॥ १ ॥

हैं, क्योंकि 'दृश्' धातु समस्त
इन्द्रियोंद्वारा उपलब्धि (ज्ञान)
होनेके अर्थमें प्रयुक्त होनेवाला है ।

किंतु यहाँ तो कहा गया है ।
कि रोहितरूपको देखकर [अर्थात्
सम्पूर्ण इन्द्रियोंसे उसका अनुभव
कर^१] फिर रूप अन्य इन्द्रियोंका
विषय कैसे हो सकता है ? [इसपर
कहते हैं—] ऐसी बात नहीं है,
क्योंकि श्रोत्रादि अन्य इन्द्रियोंके
विषय तो यश आदि हैं । यश
श्रोत्रग्राह्य है, चक्षु इन्द्रियका विषय
तेजोरूप है । विषयग्रहणरूप कार्यसे
अनुमित होनेवाले करणोंके सामर्थ्य-
का नाम 'इन्द्रिय' है, 'वीर्य'का अर्थ
है बल-देहगत उत्साह यानी प्राण-
वत्ता तथा 'अन्नाद्य' जिसके आश्रित
होकर प्राणादि प्रतिदिन जीवित रहते
हैं और जो शरीरकी स्थिति करनेवाला
है, वह है । इस प्रकार यह सब
कुछ रस है, जिसे देखकर सब
देवता तृप्त होते हैं । 'देवगणदेखकर
तृप्त होते हैं—' इसका आशय यह
है कि इन सबका अपनी इन्द्रियोंसे
अनुभव करके वे तृप्त हो जाते हैं ।
तथा आदित्यके आश्रित होनेसे वे
दुर्गन्ध आदि देह और इन्द्रियोंके
दोषोंसे रहित भी हैं ॥ १ ॥

—: ० :—

१. क्योंकि भाष्यमें 'दृश्' धातुका ऐसा ही अर्थ कहा गया है ।

किं ते निरुद्यमा अमृतमुप- | तो क्या वे उद्यमहीन रहकर ही
जीवन्ति ? न; कथं तर्हि ? | इस अमृतके उपजीवी होते हैं ?
नहीं, तो फिर किस प्रकार होते हैं ?—

त एतदेव रूपमभिसंविशन्त्येतस्माद्रूपादुद्यन्ति ॥ २ ॥

वे देवगण इस रूपको लक्षित करके ही उदासीन हो जाते हैं और फिर इसीसे उत्साहित होते हैं ॥ २ ॥

एतदेव रूपमभिलक्ष्याधुना | इस रूपको ही लक्षित कर अर्थात्
भोगावसरो नास्माकमिति | अभी हमारे भोगका अवसर नहीं
बुद्ध्वा भिसंविशन्त्युदासते । है—ऐसा जानकर वे उदासीन हो
यदा वै तस्यामृतस्य भोगावसरो | जाते हैं । और जब उस अमृतके
भवेत्तदैतस्मादमृतभोगनिमित्तमि- | भोगका अवसर उपस्थित होता है
त्यर्थः । एतस्माद्रूपादुद्यन्त्वुत्सा- | तब इस अमृतसे अर्थात् इस अमृतके
हवन्तो भवन्तीत्यर्थः । न ह्यनु- | भोगके लिये इस रूपसे ही उत्साह-
त्साहवतामननुतिष्ठतामलसानां | युक्त हो जाते हैं, क्योंकि जो
भोगप्राप्तिर्लोके दृष्टा ॥ २ ॥ | अनुत्साही, अनुष्ठानहीन और
प्राप्ति होती नहीं देखी जाती ॥ २ ॥

— * —

स य एतदेवममृतं वेद वसूनामेवैको भूत्वाग्निर्नैव
मुखेनैतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यति स एतदेव रूपमभिसंवि-
शत्येतस्माद्रूपादुदेति ॥ ३ ॥

वह, जो इस प्रकार इस अमृतको जानता है वह वसुओंसे ही
कोई एक होकर अग्निकी ही प्रधानतासे इसे देखकर तृप्त हो जाता है ।
वह इस रूपको लक्ष्य करके ही उदासीन होता है और इस रूपसे ही
उत्साहित होता है ॥ ३ ॥

स यः कश्चिदेतदेवं यथोदित-
 मृड् मधुकरतापरससंक्षरणमृग्वेद-
 विहितकर्मपुष्पात्तस्य चादित्य-
 संश्रयणं रोहितरूपत्वं चामृतस्य
 प्राचीदिग्गतरश्मिनाडीसंस्थतां
 वसुदेवभोग्यतां तद्विदश्च वसुभिः
 सहैकतां गत्वाग्निना मुखेनोप-
 जीवनं दर्शनमात्रेण तृप्तिं स्वभो-
 गावसर उद्यमनं तत्कालापाये च
 संवेशनं वेद सोऽपि वसुवत्सर्वं
 तथैवानुभवति ॥ ३ ॥

जो कोई पुरुष इस यथोक्त
 अमृतको इस प्रकार [जानता है]
 अर्थात् ऋग्वेदविहित कर्मरूप पुष्प-
 से ऋक्-श्रुतिरूप मधुकरोंके अभि-
 तापद्वारा रसका संक्षरण होना,
 उसका आदित्यके आश्रित होना,
 रोहितरूप होना, अमृतका पूर्व-
 दिग्वातिनी रश्मिनाडियोंमें स्थित होना,
 वसुनामक देवोंका भोग्य होना, उसे
 जाननेवालोंका वसुगणके साथ
 एकताको प्राप्त होकर अग्निप्रधानता-
 से उसके आश्रित जीवन धारण
 करना, उसके दर्शनमात्रसे उनका
 (उसे जाननेवालोंका) वृष्ट होना,
 अपने भोगके समय उनका उससे
 उत्साहित होना और भोगावसरकी
 समाप्तिपर उदासीन हो जाना
 जानता है वह भी वसुओंके समान
 इन सब बातोंका उसी प्रकार
 अनुभव करता है ॥ ३ ॥

कियन्तं कालं विदांस्तदमृत-
 मुपजीवति ? इत्युच्यते—

विद्वान् कितने समयतक उस
 अमृतके आश्रित होकर जीवन धारण
 करता है, यह बतलाया जाता है—

स यावदादित्यः पुरस्तादुदेता पश्चादस्तमेता
 वसूनामेव तावदाधिपत्यं स्वाराज्यं पर्येता ॥ ४ ॥

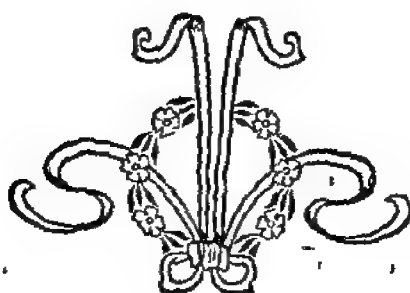
जबतक आदित्य पूर्व दिशासे उदित होता है और पश्चिम दिशामें
 अस्त होता है तबतक वह [विद्वान्] वसुओंके आधिपत्य और
 स्वाराज्यको प्राप्त होता है ॥ ४ ॥

स विद्वान्यावदादित्यः पुर-
स्तात्प्राच्यां दिश्युदेता पश्चात्प्र-
तीन्यामस्तमेता तावद्वस्त्रनां भोग-
कालस्तावन्तमेव कालं वस्त्रनामा-
धिपत्यं स्वाराज्यं पर्येता परितो
गन्ता भवतीत्यर्थः । न यथा
चन्द्रमण्डलस्थः केवलकर्मा पर-
तन्त्रो देवानामनभूतः ।
किं तर्हि ? अयमाधिपत्यं स्वराड्-
भावं चाधिगच्छति ॥ ४ ॥

जबतक आदित्य पूर्वकी
ओर—पूर्वदिशामें उदित होता
और पश्चिमकी ओर अस्त होता
है तबतक वसुओंका भोगकाल
है; वह विद्वान् उतने ही समयतक
वसुओंके आधिपत्य और स्वाराज्य-
को 'पर्येता'—सब ओरसे प्राप्त
होता है—ऐसा इसका भावार्थ है ।
जिस प्रकार चन्द्रमण्डलमें स्थित
केवल कर्मपरायण पुरुष देवताओंका
भोग्य होकर परतन्त्र रहता है उस
प्रकार यह नहीं रहता । तो फिर
किस प्रकार रहता है ? [इसपर
कहते हैं—] यह तो आधिपत्य
और स्वाराज्य—स्वराड्भावको प्राप्त
हो जाता है ॥ ४ ॥

— : * : —

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि तृतीयाध्याये
षष्ठखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥ ६ ॥



सप्तम खण्ड

— ❀ —

रुद्रोंके जीवनाश्रयभूत द्वितीय अमृतकी उपासना

अथ यद्द्वितीयममृतं तद्रुद्रा उपजीवन्तीन्द्रेण
मुखेन न वै देवा अश्नन्ति न पिबन्त्येतदेवामृतं दृष्ट्वा
तृप्यन्ति ॥ १ ॥

अब, जो दूसरा अमृत है, रुद्रगण इन्द्रप्रधान होकर उसके आश्रित
जीवन धारण करते हैं। देवगण न तो खाते हैं और न पीते हैं, वे इस
अमृतको देखकर ही तृप्त हो जाते हैं ॥ १ ॥

त एतदेव रूपमभिसंविशन्त्येतस्माद्रूपादुद्यन्ति ॥ २ ॥

वे इस रूपको लक्षित करके ही उदासीन हो जाते हैं और इसीसे
उद्यमशील होते हैं ॥ २ ॥

स य एतदेवममृतं वेद रुद्राणामेवैको भूत्वेन्द्रेणैव
मुखेनैतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यति स एतदेव रूपमभिसंवि-
शत्येतस्माद्रूपादुदेति ॥ ३ ॥

वह, जो इस प्रकार इस अमृतको जानता है, रुद्रोंमेंसे ही कोई एक
होकर इन्द्रकी ही प्रधानतासे इस अमृतको ही देखकर तृप्त हो जाता है।
वह इस रूपसे ही उदासीन हो जाता है और इस रूपसे ही उद्यमशील
होता है ॥ ३ ॥

अथ यद्द्वितीयममृतं तद्रुद्रा | 'अथ यद्द्वितीयममृतं तद्रुद्रा उप-
जीवन्ति' इत्यादि श्रुतियोंका अर्थ
उपजीवन्तीत्यादिसमानम् ॥ १-३ ॥ पूर्ववत् है ॥ १-३ ॥

— ❀ —

स यावदादित्यः पुरस्तादुदेता पश्चादस्तमेता
द्विस्तावदक्षिणत उदेतोत्तरतोऽस्तमेता रुद्राणामेव
तावदाधिपत्यं स्वाराज्यं पर्येता ॥ ४ ॥

जबतक आदित्य पूर्वसे उदित होता और पश्चिममे अस्त होता है उससे दुगुने समयतक वह दक्षिणसे उदित होता है और उत्तरमे अस्त होता है । इतने समयपर्यन्त वह रुद्रोंके ही आधिपत्य एव स्वाराज्य-को प्राप्त होता है ॥ ४ ॥

स यावदादित्यः पुरस्तादु-
देता पश्चादस्तमेता द्विस्तावत्तो
द्विगुणं कालं दक्षिणत उदेतोत्त-
रतोऽस्तमेता रुद्राणां तावद्भोग-
कालः ॥ ४ ॥

वह आदित्य जबतक पूर्वसे उदित होता और पश्चिममे अस्त होता है उससे दूने समयतक दक्षिणसे उदित होता और उत्तरमे अस्त होता रहता है । इतना समय रुद्रोंका भोगकाल है [अर्थात् वसुओंकी अपेक्षा रुद्रोंका भोगकाल दूना है] ॥ ४ ॥

—:०—

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि तृतीयाध्याये
सप्तमखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥ ७ ॥



अष्टम खण्ड

आदित्योंके जीवनाश्रयभूत तृतीय अमृतकी उपासना

अथ यत्तृतीयममृतं तदादित्या उपजीवन्ति वरुणेन
मुखेन न वै देवा अश्नन्ति न पिबन्त्येतदेवामृतं दृष्ट्वा
तृप्यन्ति ॥ १ ॥

तदनन्तर जो तीसरा अमृत है, आदित्यगण वरुणप्रधान होकर
उसके आश्रित जीवन धारण करते हैं। देवगण न तो खाते हैं और न
पीते हैं; वे इस अमृतको देखकर ही वृष हो जाते हैं ॥ १ ॥

त एतदेव रूपमभिसंविशन्त्येतस्माद्रूपादुद्यन्ति ॥ २ ॥

वे इस रूपको ही लक्षित करके उदासीन होते हैं और इसीसे
उद्यमशील हो जाते हैं ॥ २ ॥

स य एतदेवममृतं वेदादित्यानामेवैको भूत्वा
वरुणेनैव मुखेनैतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यति स एतदेव
रूपमभिसंविशत्येतस्माद्रूपादुदेति ॥ ३ ॥

वह, जो इस प्रकार इस अमृतको जानता है, आदित्योंमेंसे ही कोई एक
होकर वरुणकी ही प्रधानतासे इस अमृतको देखकर वृष हो जाता है। वह
इस रूपसे ही उदासीन होता है और इसीसे उद्योगी हो जाता है ॥ ३ ॥

स यावदादित्यो दक्षिणत उदेतोत्तरतोऽस्तमेता
द्विस्तावत्पश्चादुदेता पुरस्तादस्तमेतादित्यानामेव ताव-
दाधिपत्यं स्वाराज्यं पर्येता ॥ ४ ॥

वह आदित्य जितने समयतक दक्षिणसे उदित होता और उत्तरमे अस्त होता है उससे दूने समयतक पश्चिमसे उदित होता और पूर्वमे अस्त होता रहता है । इतने समयतक वह आदित्योके ही आधिपत्य और स्वाराज्यको प्राप्त होता है ॥ ४ ॥

तथा पश्चादुत्तरत ऊर्ध्वमुदेता
उत्तरोत्तरेण विपर्ययेणास्तमेता ।
द्विगुणकालाख्ये पूर्वस्मात्पूर्वस्माद्द्वि-
आक्षेपः गुणोत्तरोत्तरेण का-
लेनेत्यपौराणं दर्शनम् । सवितु-
श्चतुर्दिशमिन्द्रियमवरुणसोमपुत्री-
पूदयास्तमयकालस्य तुल्यत्वं हि
पौराणिकैरुक्तम् । मानसोत्तरस्य
मूर्धनि मेरोः प्रदक्षिणावृत्तेस्तुल्य-
त्वादिति ।

अत्रोक्तः परिहार आचार्यैः ।
उक्ताक्षेप- अमरावत्यादीनां पु-
निरसनम् रीणां द्विगुणोत्तरो-
त्तरेण कालेनोद्वासः स्यात् ।
उदयश्च नाम सवितुस्तन्निवासि-
नां प्राणिनां चक्षुर्गोचरापत्तिस्त-
दत्ययश्चास्तमनं न परमार्थतः

इसी प्रकार पूर्व-पूर्वकी अपेक्षा उत्तरोत्तरदूने समयतक पश्चिम, उत्तर और ऊपरकी ओर सूर्य उदित होता है और इनसे विपरीत दिशाओमे अस्त होता है । किंतु यह तो पुराणदृष्टि-के विरुद्ध है; क्योंकि पौराणिकोंने चारो दिशाओमे इन्द्र, यम, वरुण और सोमकी पुरियोंमे सूर्यके उदय और अस्तके काल समान ही बतलाये हैं, कारण कि मानसोत्तर पर्वतके शिखरपर जो सूर्यका सुमेरुके चारो ओर घूमनेका मार्ग है वह सर्वत्र समान है ।

यहाँ आचार्योंने (श्रीद्रविडाचार्य-ने) इस प्रकार इस (आक्षेप) का परिहार किया है—अमरावती आदि पुरियोंका उत्तरोत्तर दूने समयमे उद्वास (नाश) होता है । उन पुरियोंके निवासियोंकी दृष्टिमे आना ही सूर्यका उदय है और उनकी दृष्टिसे छिप जाना ही सूर्यका अस्त है । वस्तुतः सूर्यके

उदयास्तमने स्तः । तन्निवासिनां
च प्राणिनामभावे तान्प्रति तेनैव
मार्गेण गच्छन्नापि नैवोदेता ना-
स्तमेतेति चक्षुर्गोचरापत्तेस्तदत्य-
यस्य चाभावात् ।

तथामरावत्याः सकाशाद् द्वि-
गुणं कालं संयमनी पुरी वसत्य-
तस्तन्निवासिनः प्राणिनः प्रति
दक्षिणत इवोदेत्युत्तरतोऽस्तमेती-
त्युच्यतेऽस्मद्वबुद्धिं चापेक्ष्य; तथो-
त्तरास्वपि पुरीषु योजना । सर्वेषां
च मेरुत्तरतो भवति ।

यदामरावत्यां मध्याह्नगतः
सविता तदा संयमन्यामुधन्
दृश्यते, तत्र मध्याह्नगतो वारुण्या-
मुधन्दृश्यते, तथोत्तरस्याम्; अद-
क्षिणावृत्तेस्तुल्यत्वात् । इलावृत्त-
वासिनां सर्वतः पर्वतप्राकारनि-

उदय और अस्त हैं ही नहीं । उन
पुरियोंमें निवास करनेवाले प्राणियों-
का अभाव हो जानेपर उनके लिये
सूर्यदेव उसी मार्गसे जाते हुए भी
न तो उदित होते हैं और न अस्त ही
होते हैं, क्योंकि उस समय सूर्यका
किसीकी दृष्टिका विषय होना अथवा
न होना समाप्त हो जाता है ।

तथा अमरावती पुरीकी अपेक्षा
दूने समय संयमनी पुरी रहती है ।
अतः उसमें रहनेवाले प्राणियोंके
लिये सूर्य मानो दक्षिणकी ओरसे
उदित होता है और उत्तरमें अस्त
हो जाता है—यह बात हमलोगों-
की दृष्टिको लेकर कही गयी है ।
इसी प्रकार आगेकी अन्य पुरियोंमें
भी योजना कर लेनी चाहिये । तथा
मेरु इन सभीके उत्तरकी ओर है ।

जिस समय अमरावती पुरीमें
सूर्य मध्याह्नमें स्थित होता है उस
समय संयमनी पुरीमें वह उदित
होता देखा जाता है, और वहाँपर
मध्याह्नमें स्थित होनेपर वरुणाकी
पुरीमें उदित होता दिखायी देता
है । इसी प्रकार उत्तरदिशार्वातिनी
पुरीके विषयमें समझना चाहिये;
क्योंकि उसकी प्रदक्षिणाका चक्र
सर्वत्र समान है । सूर्यरश्मियोंके

वारितादित्यरश्मीनां सवितोर्ध्वं
इवोदेतावर्गस्तमेता दृश्यते ।
पर्वतोर्ध्वच्छिद्रप्रवेशात्सवितुप्रका-
शस्य ।

तथर्गाधमृतोपजीविनाममृता-
नां च द्विगुणोत्तरोत्तरवीर्यवच्च-
मनुमीयते भोगकालद्वैगुण्यलि-
ङ्गेन । उद्यमनसंवेशनादि देवानां
रुद्रादीनां विदुषश्च समानम्
॥ १-४ ॥

सब भोरसे पर्वतरूप परकोटेद्वारा रोक
लिये जानेके कारण इलावृतखण्डमें
रहनेवालोंको वह मानो ऊपरकी
ओर उदित होता और नीचेकी
ओर अस्त होता दिखायी देता है,
क्योंकि वहाँ सूर्यका प्रकाश पर्वतोंके
ऊपरी छिद्रद्वारा ही प्रवेश करता है।

इस प्रकार ऋगादि अमृतके
आश्रित जीवन व्यतीत करनेवाले
देवताओंके पराक्रमकी उत्तरोत्तर
द्विगुणताका उनके भोगकालके
द्विगुणत्वरूप लिङ्गसे अनुमान किया
जाता है । रुद्रादि देवताओं और
विद्वानोंके उद्यमन और संवेशन
समान ही हैं ॥ १-४ ॥

—:०:—

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि तृतीयाध्याये
अष्टमखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥ ८ ॥



नवम खण्ड

—:०:—

मरुद्गणके जीवनाश्रयभूत चतुर्थ अमृतकी उपासना

अथ यच्चतुर्थममृतं तन्मरुत उपजीवन्ति सोमेन
मुखेन न वै देवा अश्नन्ति न पिबन्त्येतदेवामृतं दृष्ट्वा
तृप्यन्ति ॥ १ ॥

तथा जो चौथा अमृत है, मरुद्गण सोमकी प्रधानतासे उसके
आश्रित जीवन धारण करते हैं । देवगण न तो खाते हैं और न पीते हैं,
वे इस अमृतको देखकर ही वृष हो जाते हैं ॥ १ ॥



त एतदेव रूपमभिसंविशन्त्येतस्माद्रूपादुच्यन्ति ॥ २ ॥

वे इस रूपको लक्षित करके ही उदासीन होते हैं और इसीसे
उद्यमशील हो जाते हैं ॥ २ ॥

—:ॐ:—

स य एतदेवममृतं वेद मरुतामेवैको भूत्वा सोमे-
नैव मुखेनैतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यति स एतदेव रूपमभि-
संविशत्येतस्माद्रूपादुदेति ॥ ३ ॥

वह, जो इस प्रकार इस अमृतको जानता है, मरुतोंमेंसे ही कोई एक होकर
सोमकी प्रधानतासे ही इस अमृतको देखकर वृष हो जाता है । वह इस
रूपसे ही उदासीन होता है और इस रूपसे ही उत्साहित होता है ॥ ३ ॥

—*::*—

स यावदादित्यः पश्चादुदेता पुरस्तादस्तमेता द्विस्ता-
वदुत्तरत उदेता दक्षिणतोऽस्तमेता मरुतामेव तावदाधि-
पत्यं स्वाराज्यं पर्येता ॥ ४ ॥

वह आदित्य जितने समयतक पश्चिमसे उदित होता और पूर्वमें अस्त होता है उससे दूने कालतक उत्तरसे उदित होता और दक्षिणम अस्त होता रहता है । इतने कालतक वह मरुद्गणके ही आधिपत्य और स्वाराज्यको प्राप्त होता है ॥ ४ ॥

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि तृतीयाध्याये
नवमखण्डः सम्पूर्णः ॥ ६ ॥



दशम खण्ड

—:०:—

साध्योंके जीवनाश्रयभूत पञ्चम अमृतकी उपासना

अथ यत्पञ्चमममृतं तत्साध्या उपजीवन्ति ब्रह्मणा
मुखेन न वै देवा अश्नन्ति न पिबन्त्येतदेवामृतं दृष्ट्वा
तृप्यन्ति ॥ १ ॥

तथा जो पांचवाँ अमृत है, साध्यगण ब्रह्माकी प्रधानतासे उसके
आश्रित जीवन धारण करते हैं। देवगण न तो खाते हैं और न पीते हैं,
वे इस अमृतको देखकर ही तृप्त हो जाते हैं ॥ १ ॥

—:ॐ:—

त एतदेव रूपमभिसंविशन्त्येतस्माद्रूपादुद्यन्ति ॥ २ ॥

वे इस रूपको लक्षित करके ही उदासीन होते हैं और इसीसे
उद्यमशील हो जाते हैं ॥ २ ॥

—: * :—

स य एतदेवममृतं वेद साध्यानामेवैको भूत्वा
ब्रह्मणैव मुखेनैतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यति स एतदेव रूप-
मभिसंविशत्येतस्माद्रूपादुदेति ॥ ३ ॥

वह, जो इस प्रकार इस अमृतको जानता है, साध्यगणमेंसे ही कोई
एक होकर ब्रह्माकी ही प्रधानतासे इस अमृतको ही देखकर तृप्त हो जाता
है। वह इस रूपको लक्ष्य करके ही उदासीन होता है और इस रूपसे ही
उत्साहित हो जाता है ॥ ३ ॥

—:०:—

सयावदादित्य उत्तरत उदेता दक्षिणतोऽस्तमेता
द्विस्तावदूर्ध्व उदेतार्वाङ्स्तमेता साध्यानामेव तावदाधि-
पत्यं स्वाराज्यं पर्येता ॥ ४ ॥

वह आदित्य जबतक उत्तरसे उदित होता है और दक्षिणमें
अस्त होता है उससे दूने समयतक ऊपरकी ओर उदित होता है और
नीचेकी ओर अस्त होता है । इतने कालतक वह साध्योंके ही आधिपत्य
और स्वाराज्यको प्राप्त होता है ॥ ४ ॥

—: ० :—

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि तृतीयाध्याये
दशमखण्डः सम्पूर्णः ॥ १० ॥



एकादश खण्ड

—: ० :—

भोगक्षयके अनन्तर सबका उपसंहार हो जानेपर आदित्यरूप
ब्रह्मकी स्वस्वरूपमें स्थिति

कृत्वैवमुदयास्तमनेन प्राणिनां
स्वकर्मफलभोगनिमित्तमनुग्रहं त-
त्कर्मफलोपभोगक्षये तानि प्राणि-
जातान्यात्मनि संहृत्य—

इस प्रकार उदय और अस्तके
द्वारा प्राणियोंको अपने-अपने कर्म-
फलभोगके लिये अनुगृहीत कर, उनके
कर्मफलभोगका क्षय होनेपर उन
प्राणियोंका अपनेमें उपसंहार कर—

अथ तत ऊर्ध्व उदेत्य नैवोदेता नास्तमेतैकल
एव मध्ये स्थाता तदेष श्लोकः ॥ १ ॥

फिर उसके पश्चात् वह ऊर्ध्वगत होकर उदित होनेपर फिर न तो
उदित होगा और न अस्त ही होगा; बल्कि अकेला ही मध्यमें स्थित
रहेगा। उसके विषयमें यह श्लोक है ॥ १ ॥

अथ ततस्तस्मादनन्तरं प्रा-
ण्यनुग्रहकालादूर्ध्वः सन्नात्मन्यु-
देत्योद्गम्य यान्प्रत्युदेति तेषां
प्राणिनामभावात्स्वात्मस्थो नैवो-
देता नास्तमेतैकलोऽद्वितीयो-
ऽनवयवो मध्ये स्वात्मन्येव
स्थाता ।

फिर उसके पश्चात्—प्राणियों-
पर अनुग्रह करनेके कालके अनन्तर
ऊर्ध्वगत हो—अपनेमें उदित हो
अर्थात् जिन प्राणियोंपर अनुग्रह
करनेके लिये उदित होता है उन
प्राणियोंका अभाव हो जानेके कारण
अपनेहीमें स्थित हो वह न तो उदित
ही होगा और न अस्त ही होगा;
बल्कि अकेला—अद्वितीय अर्थात्
निरवयव होकर मध्यमें अपनेमें
ही स्थित रहेगा ।

तत्र कश्चिद्विद्वान्वस्वादिस्मा-
 नाचरणो रोहिताद्यमृतभोगभागी
 यथोक्तक्रमेण स्वात्मानं सवितार-
 मात्मत्वेनोपेत्य समाहितः सन्नेतं
 मन्त्रं द्युत्योत्थितोज्ज्वलं पृष्ठवते
 जगाद् । यतस्त्वमागतो ब्रह्मलो-
 कात्किं तत्राप्यहोरात्राभ्यां परि-
 वर्तमानः सविता प्राणिनामायुः
 क्षपयति यथेहास्माकमित्येवं पृष्टः
 प्रत्याह—तच्च यथापृष्टे यथोक्ते
 चार्थे एष श्लोको भवति तेनोक्तो
 योगिनेति श्रुतेर्वचनमिदम् ॥१॥

वहाँ [जन्ममुक्तिमें] जिसका
 आचरण वसु आदिके समान है और
 जो रोहितादि अमृतभोगका भाजन
 है ऐसे किसी विद्वान्ने उपर्युक्त जन्मसे
 आत्मभूत सूर्यको आत्मरूपसे उपलब्ध
 करते हुए समाहितचित्त हो इस
 मन्त्रका साक्षात्कार कर व्युत्थान
 होनेपर अपनेसे प्रश्न करनेवाले एक
 दूसरे व्यक्तिसे इस प्रकार कहा था ।
 उससे जब यह पूछा गया कि 'तुम
 ब्रह्मलोकसे आये हो [अतः यथाश्रु-
 तो] क्या वहाँ भी सूर्य दिन-रात
 विचरता हुआ प्राणियोंकी आयुको
 क्षीण करता है जिस प्रकार कि वह
 यहाँ हमारी आयुका क्षय करता है ?'
 —तब उसने निम्नाङ्कित उत्तर
 दिया । 'इस प्रकार पूछे हुए उपर्युक्त
 प्रश्नके विषयमें उस योगीद्वारा कहा
 हुआ यह श्लोक है ।' यह श्रुतिवा-
 चाक्य है ॥ १ ॥

ब्रह्मलोकके विषयमें विद्वान्का अनुभव

न वै तत्र न निम्लोच नोदियाय कदाचन । देवा-
 स्तेनाहँ सत्येन मा विराधिपि ब्रह्मणेति ॥ २ ॥

वहाँ निश्चय ही ऐसा नहीं होता । वहाँ [सूर्यका] न कभी अस्त
 होता है और न उदय होता है । हे देवगण ! इस सत्यके द्वारा मैं ब्रह्मसे
 विरुद्ध न होऊँ ॥ २ ॥

न वै तत्र यतोऽहं ब्रह्मलोका-
दागतस्तस्मिन्न वै तत्रैतदस्ति
यत्पृच्छसि । न हि तत्र निम्लो-
चास्तस्यसत्सविता न चोदिया-
योद्गतः कुतश्चित्कदाचन कस्मि-
न्दिदपि काल इति ।

उदयास्तमयवर्जितो ब्रह्मलोक
इत्यनुपपन्नमित्युक्तः शपथमिव
प्रतिपेदे । हे देवाः साक्षिणो यूयं
शृणुत यथा मयोक्तं सत्यं वच-
स्तेन सत्येनाहं ब्रह्मणा ब्रह्मस्व-
रूपेण मा विराधिपि मा विरुध्ये-
यमप्राप्तिर्ब्रह्मणो मम मा भू-
दित्यर्थः ॥ २ ॥

जहाँसे—जिस ब्रह्मलोकसे मैं
आया हूँ—वहाँ उसमें निश्चय ही यह
तुम जो कुछ पूछते हो नहीं है ।
वहाँ न तो सूर्यास्त होता है और
न कभी—किसी भी समय सूर्य
कहींसे उदित होता है ।

ब्रह्मलोक सूर्यके उदय और
अस्तसे रहित है—यह बात तो
असङ्गत है—इस प्रकार कहे जानेपर
वह मानो शपथ करता है—हे
देवगण ! तुम साक्षी हो, सुनो—
मैंने जो सत्य वचन कहा है उस
सत्यके द्वारा मैं ब्रह्मसे—ब्रह्मके
स्वरूपसे विरुद्ध न होऊँ; अर्थात्
मुझे ब्रह्मकी अप्राप्ति न हो ॥ २ ॥

—:—

मधुविद्याका फल

सत्यं तेनोक्तमित्याह श्रुतिः—

उसने सत्य ही कहा है—यह
बात श्रुति बतलाती है—

न ह वा अस्मा उदेति न निम्लोचति सकृद्दिवा
हैवास्मै भवति य एतामेवं ब्रह्मोपनिषदं वेद ॥ ३ ॥

जो इस प्रकार इस ब्रह्मोपनिषद् (वेदरहस्य) को जानता है उसके
लिये न तो सूर्यका उदय होता है और न अस्त होता है । उसके लिये
सर्वदा दिन ही रहता है ॥ ३ ॥

न ह वा अस्मै यथोक्तब्रह्म-
विदे नोदेति न निम्लोचति

इसके अर्थात् उपर्युक्त ब्रह्मवेत्ताके
लिये न तो सूर्य उदित होता है
और न अस्तमित ही होता है ।

नास्तमेति किन्तु ब्रह्मविदेऽस्मै
सकृद्दिवा हैव सदैवाहर्भवति
स्वयंज्योतिष्वात् । य एतां यथो-
क्तां ब्रह्मोपनिषदं वेदगुह्यं वेद ।
एवं तन्त्रेण वंशादित्रयं प्रत्य-
मृतसम्बन्धं च यच्चान्यदवोचा-
मैवं जानातीत्यर्थः । विद्वानुद-
यास्तमयकालापरिच्छेद्यं नित्य-
मजं ब्रह्म भवतीत्यर्थः ॥ ३ ॥

बल्कि इस ब्रह्मवेत्ताके लिये 'सकृ-
द्दिवा'—सर्वदा दिन हो बना रहता
है, क्योंकि वह स्वयं प्रकाशस्वरूप
होता है [ऐसा किसके लिये होता
है ? ऐसा प्रश्न होनेपर कहते हैं—]
जो इस उपयुक्त ब्रह्मोपनिषद्—वेद-
रहस्यको जानता है; अर्थात् जो
शास्त्रद्वारा वंशादित्रय', प्रत्येक अमृत-
के साथ वस्तु आदिका सम्बन्ध तथा
और भी जो कुछ हमने कहा है उसे
उसी प्रकार जानता है । तात्पर्य
यह है कि वह विद्वान् उदय और
अस्त रूप कालसे अपरिच्छेद्य नित्य
अजन्मा ब्रह्म हो हो जाता है ॥ ३ ॥

—***—

सम्प्रदायपरम्परा

तद्वैतदुब्रह्मा प्रजापतय उवाच प्रजापतिर्मनवे मनुः
प्रजाभ्यस्तद्वैतदुद्दालकायारुण्ये ज्येष्ठाय पुत्राय पिता
ब्रह्म प्रोवाच ॥ ४ ॥

वह यह मधुज्ञान ब्रह्माने विराट् प्रजापतिसे कहा था, प्रजापतिने मनुसे
कहा और मनुने प्रजावर्गके प्रति कहा । तथा अपने ज्येष्ठ पुत्र अरुणानन्दन
उद्दालकको उसके पिताने इस ब्रह्मविज्ञानका उपदेश दिया था ॥ ४ ॥

तद्वैतन्मधुज्ञानं ब्रह्मा हिरण्य-
गर्भो विराजे प्रजापतय उवाच ।
वह यह मधुज्ञान ब्रह्मा—हिरण्य-
गर्भने विराट् प्रजापतिको सुनाया था ।
उसने भी इसे मनुको सुनाया और

सोऽपि मनवे । मनुर्निश्वाक्काद्या-
भ्यः प्रजाभ्यः प्रोवाचेति विद्यां
स्तौति ब्रह्मादिविशिष्टक्रमाग-
तेति । किं च तद्धैतन्मधुज्ञानमु-
द्दालकायारुणये पिता ब्रह्मविज्ञानं
ज्येष्ठाय पुत्राय प्रोवाच ॥ ४ ॥

मनुने इक्ष्वाकु आदि प्रजावर्ग
(अपनी संतान) को सुनाया—
इस प्रकार 'यह विद्या ब्रह्मादि-
विशिष्ट परम्परासे आयी है' ऐसा
कहकर श्रुति इस विद्याकी स्तुति
करती है । यही नहीं, यह मधुज्ञान
अरुणपुत्र उद्दालकको अर्थात् यह
ब्रह्मविज्ञान पिताने अपने ज्येष्ठ पुत्रको
सुनाया था ॥ ४ ॥

—❀—

इदं वाव तज्ज्येष्ठाय पुत्राय पिता ब्रह्म प्रब्रूयात्
प्रणाय्याय वान्तेवासिने ॥ ५ ॥

अतः इस ब्रह्मविज्ञानका पिता अपने ज्येष्ठ पुत्रको अथवा सुयोग्य
शिष्यको उपदेश करे ॥ ५ ॥

इदं वाव तद्यथोक्तमन्योऽपि
ज्येष्ठाय पुत्राय सर्वप्रियार्हाय ब्रह्म
प्रब्रूयात् । प्रणाय्याय वा योग्या-
वान्तेवासिने शिष्याय ॥ ५ ॥

अतः कोई दूसरा विद्वान् भी यह
उपयुक्त ब्रह्मविज्ञान सबसे प्रिय
वस्तुके पात्र अपने ज्येष्ठ पुत्रको ही
बतलावे, अथवा जो शिष्य सुयोग्य
हो उससे कहे ॥ ५ ॥

—❀—

नान्यस्मै कस्मैचन यद्यप्यस्मा इमामग्निः परि-
ग्रहीतां धनस्य पूर्णा दद्यादेतदेव ततो भूय इत्येतदेव
ततो भूय इति ॥ ६ ॥

किसी दूसरेको नहीं बतलावे, यद्यपि इस आचार्यको यह समुद्र-
परिवेष्टित और धनसे परिपूर्ण सारी पृथिवी दे [तो भी किसी

दूसरेको इस विद्याका उपदेश न करे, क्योंकि] सबसे यही बढ़कर है, यही बढ़कर है ॥ ६ ॥

नान्यस्मै कस्मैचन प्रभूयात्ती-
र्थद्वयमनुज्ञातमनेकेषां प्राप्तानां
तीर्थानामाचार्यादीनाम् । कस्मा-
त्पुनस्तीर्थसंकोचनं विद्यायाः
कृतम् ? इत्याह—यद्यप्यस्मा
आचार्याय इमां कश्चित्पृथिवी-
मद्भिः परिगृहीतां समुद्रपरि-
वेष्टितां समस्तामपि दद्यात्, यस्या
विद्याया निष्कयार्थम्, आचार्याय
धनस्य पूर्णं संपन्नां भोगोपकर-
णैः; नासावस्य निष्कयः, यस्मा-
त्ततोऽपि दानादेतदेव यन्मधुवि-
द्यादानं भूयो बहुतरफलमित्पर्यः ।
द्विरम्यास आदरार्थः ॥ ६ ॥

किसी औरको इसका उपदेश
न करे—ऐसा कहकर श्रुतिने
आचार्य (विद्या देकर विद्या सीखने-
वाले) आदि अनेक तीर्थों (विद्या-
दानके पात्रों) मेंसे केवल दो तीर्थ
(ज्येष्ठ पुत्र और योग्य शिष्य) के
लिये ही आज्ञा दी है । किन्तु इस
विद्याके पात्रोंका संकोच क्यों किया
गया है ? इसपर श्रुति कहती है—
यदि इस विद्याका बदला चुकानेके
लिये कोई पुरुष इस आचार्यको
जलसे परिगृहीत अर्थात् समुद्रसे
घिरी हुई और घनसे परिपूर्ण यानी
भोगकी सामग्रियोंसे सम्पन्न यह सारी
पृथिवी भी देतो भी वह इसका बदला
नही हो सकता ? क्योंकि उस
दानमें भी यह मधुविद्याका दान ही
बड़ा—अधिक फलवाला है, ऐसा
इसका तात्पर्य है । द्विरुक्ति विद्याके
आदरके लिये है ॥ ६ ॥

—०:०—

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि तृतीयाध्याये

एतादशाखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥ ११ ॥



द्वादश खण्ड

— ❧ —

गायत्रीद्वारा ब्रह्मकी उपासना

यत एवमतिशयफलैषा ब्रह्म-
विद्यातः सा प्रकारान्तरेणापि
ब्रह्मव्येति गायत्री वा इत्याद्या-
रभ्यते । गायत्रीद्वारेण चोच्यते,
ब्रह्मणः सर्वविशेषरहितस्य नेति
नेतात्यादिविशेषप्रतिषेधगम्यस्य
दुर्वोधत्वात् । सत्स्वनेकेषुच्छन्दःसु
गायत्र्या एव ब्रह्मज्ञानद्वारतयोपा-
दानं प्राधान्यात् । सोमाहरणादित-
रच्छन्दोऽन्तराहरणेनेतरच्छन्दो-

क्योंकि इस प्रकार ब्रह्मविद्या
अतिशय फलवती है इसलिये उसका
अन्य प्रकारसे भी वर्णन करना
चाहिये; इसीसे 'गायत्री वा' इत्यादि
मन्त्रका आरम्भ किया जाता है ।
गायत्रीद्वारा भी ब्रह्मका ही निरूपण
किया जाता है, क्योंकि 'नेति नेति'
इत्यादि प्रकारसे विशेषोंके प्रतिषेध-
द्वारा अनुभूत होनेवाला सर्वविशेष-
रहित ब्रह्म कठिनतासे समझमें आने-
वाला है । अनेकों छन्दोंके रहते
हुए भी प्रधानताके कारण गायत्रीका
ही ब्रह्मज्ञानके द्वाररूपसे ग्रहण
किया जाता है । सोमाहरण^१ करनेसे
अन्य छन्दोंके अक्षरोंको लानेसे^२,

१. एक बार सोमाभिलाषी देवताओंने सोम लानेके लिये गायत्री, त्रिष्टुप् और जगती—इन तीन छन्दोंको नियुक्त किया; परंतु असमर्थ होनेके कारण जगती और त्रिष्टुप्—ये दो छन्द तो मार्गमेंसे ही लौट आये, केवल एक गायत्री छन्द ही सोमके पास जा सका और वही सोमके रक्षकोंको परास्त कर उसे देवताओंके पास लाया । यह कथा ऐतरेय ब्राह्मणमें 'सोमो वै राजामुष्मिल्लोक आसीत्' इस प्रसङ्गमें आयी है ।

२. गायत्रीके सिवा जो और छन्द सोम लानेके लिये गये थे वे मार्गमें ही थक जानेके कारण अपने कुछ अक्षर छोड़ आये थे । जगतीके तीन अक्षर और त्रिष्टुप्का एक अक्षर—ये मार्गमें रह गये थे । इन्हें लाकर गायत्रीने उनकी पूर्ति की ।

व्याप्त्या च सर्वसवनव्यापकत्वाच्च
यज्ञे प्राधान्यं गायत्र्याः । गाय-
त्रीसारत्वाच्च ब्राह्मणस्य, मातर-
मिव हित्वा गुरुतरां गायत्री
ततोऽन्यद्गुरुतरं न प्रतिपद्यते
यथोक्तं ब्रह्मापीति । तस्यामत्य-
न्तगौरवस्य प्रसिद्धत्वात् । अतो
गायत्रीमुखेनैव ब्रह्मोच्यते—

इतर छन्दोमे व्याप्त' रहनेसे और
सभी सवनोमे व्यापक होनेसे' यज्ञमे
गायत्रीकी प्रधानता है । क्योंकि
ब्राह्मणका सार गायत्री ही है,
इसलिये उपर्युक्त ब्रह्म भी माताके
समान गुरुतरा गायत्री को छोड़कर
उससे उत्कृष्टतर किसी अन्य
आलम्बनको प्राप्त नहीं होता, क्योंकि
उसमे लोकका अत्यन्त गौरव प्रसिद्ध
ही है । अतः गायत्रीके द्वारा ही
ब्रह्मका निरूपण किया जाता है—

गायत्री वा इदं सर्वं भूतं यदिदं किं च वाग्वै
गायत्री वाग्वा इदं सर्वं भूतं गायति च त्रायते च ॥१॥

गायत्री ही ये सब भूत-प्राणिवर्ग हैं । जो कुछ भी ये स्थावर जगम
प्राणी हैं वे गायत्री ही हैं । वाक् ही गायत्री है और वाक् ही ये सब प्राणी
हैं, क्योंकि यहाँ गायत्री उनका गान (नामोच्चारण) करती और उनकी
[भय आदिमे] रक्षा करती है ॥ १ ॥

गायत्री वा इत्यवधारणार्थो
वैशब्दः । इदं सर्वं भूतं प्राणि-
जातं यत्किं च स्थावरं जङ्गमं वा
तत्सर्वं गायत्र्येव । तस्याच्छन्दो-

'गायत्री वै' इस पद मे 'वै' शब्द
निश्चयार्थक है । ये समस्त भूत
अर्थात् ये जो कुछ स्थावर जङ्गम
प्राणी है वे सब गायत्री ही हैं ।
वह (गायत्री) तो केवल छन्दमान

१ उष्णिक और अनुष्ण आदि अथ छंदाके प्रत्येक पादमे क्रमशः ७ और
५ आदि अक्षर होते हैं और गायत्रीके एक पादमें ६ अक्षर होते हैं इसलिये यह उन
छन्दोमें भी व्याप्त है क्योंकि अधिक सख्याकी सत्ता यून सख्याके बिना नष्ट हो सकती ।

२ प्रातः सवन गायन है मध्याह्नसवन तृतीयं है और तृतीय सवन जागत
है । अर्थात् गायत्री, त्रिष्टुप् और जगती ये क्रमशः उनके छन्द हैं । गायत्री त्रिष्टुप्
और जगतीमें व्यप्यते है, इसलिये वह उन सवनोमें भी व्यापक है ।

मात्रायाः सर्वभूतत्वमनुपपन्नमिति
गायत्रीकारणं वाचं शब्दरूपा-
मापादयति गायत्रीम्, वाग्वै
गायत्रीति ।

वाग्वा इदं सर्वं भूतम् ।
यस्माद्वाक्शब्दरूपा सती सर्वं
भूतं गायति शब्दयत्यसौ गौर-
सावश्च इति च, त्रायते च रक्षत्य-
गुष्मान्मा भैषीः, किं ते भयमु-
त्थितम्, इत्यादिना सर्वतो भया-
न्निवर्त्यमानो वाचा त्रातः स्यात् ।
यद्वाग्भूतं गायति च त्रायते च
गायत्र्येव तद्गायति च त्रायते च
वाचोऽनन्यत्वाद्गायत्र्याः । गाना-
त्त्राणाच्च गायत्र्या गायत्रीत्वम्
॥ १ ॥

है, उसका सर्वभूतरूप होना तो
सम्भव नहीं है; अतः 'वाग्वै गायत्री'
ऐसा कहकर श्रुति गायत्रीकी कारण-
भूत शब्दरूप वाक्को ही गायत्री
कहती है ।

वाक् ही यह सब भूतसमुदाय
है; क्योंकि शब्दरूप हुई वाक् ही
समस्त भूतोंका गान—शब्द यानी
नामोल्लेख करती है; जैसे 'यह गौ है'
'यह अश्व है' इत्यादि; तथा यही
त्राण—रक्षा करती है; जैसे 'इससे
मत डर' 'तुझे क्या भय उत्पन्न हुआ
है ?' इत्यादि वाक्योंसे सब ओरसे
भयसे निवृत्त किये जानेपर वाणीके
ही द्वारा मनुष्यकी रक्षा की जाती
है । इस प्रकार वाणी जो प्राणियोंका
गान और त्राण करती है वह
गान और त्राण गायत्रीके द्वारा ही
किया जाता है, क्योंकि गायत्री वाणी-
से भिन्न नहीं है । गान और त्राण
करनेके कारण ही गायत्रीका
गायत्रीत्व है ॥ १ ॥

—:ॐ:—

या वै सा गायत्रीयं वाच सा येयं पृथिव्यस्या-
हीदं सर्वं भूतं प्रतिष्ठितमेतामेव नातिशीयते ॥ २ ॥

जो वह गायत्री है वह यही है, जो कि यह पृथिवी है, क्योंकि इसीमे ये सब भूत स्थित हैं और इसीका वे कभी अतिव्रमण नहीं करते ॥ २ ॥

या वै सैवल्लक्षणा सर्वभूतरूपा
गायत्री; इयं वाव सा येयं
पृथिवी । कथं पुनरियं पृथिवी
गायत्रीति ? उच्यते—सर्वभूतसंब-
न्धात् । कथं सर्वभूतसंबन्धः ?
अस्यां पृथिव्यां हि यस्मात्सर्वं
स्थावरं जङ्गमं च भूतं प्रतिष्ठितम्,
एतामेव पृथिवीं नातिशीयते
नातिवर्तत इत्येतत् ।

यथा गानत्राणाम्यां भूत-
संबन्धो गायत्र्याः, एवं भूतप्रति-
ष्ठानाद्भूतसंबन्धा पृथिवी; अतो
गायत्री पृथिवी ॥ २ ॥

जो वह ऐसे लक्षणोंवाली सर्व-
भूतरूप गायत्री है वह यही है, जो
कि यह पृथिवी है । किंतु यह पृथिवी
गायत्री किस प्रकार है ? सो बतलाया
जाता है—मपूर्ण प्राणियोसे इसका
सम्बन्ध होनेके कारण यह गायत्री
है । इसका समस्त प्राणियोसे किस
प्रकार सम्बन्ध है ? क्योंकि इस
पृथिवीमे ही समस्त स्थावर तथा
जङ्गम प्राणी स्थित है और ये इस
पृथिवीका ही अतिव्रमण अर्थात्
अतिवर्तन कभी नहीं करते ।

जिस प्रकार गान और वाणके
कारण गायत्रीका प्राणियोसे सम्बन्ध है
उसी प्रकार भूतोंकी प्रतिष्ठा होनेके
कारण पृथिवी भूतोसे सम्बद्ध है
अतः पृथिवी गायत्री है ॥ २ ॥

— ❧ —

या वै सा पृथिवीयं वाव सा यदिदमस्मिन्पुरुषे
शरीरमस्मिन्हीमे प्राणाः प्रतिष्ठिता एतदेव नाति-
शीयन्ते ॥ ३ ॥

जो भी यह पृथिवी है वह यही है जो कि इस पुरुषमे शरीर है;
क्योंकि इसीमे ये प्राण स्थित हैं और इसीको वे कभी नहीं
छोड़ते ॥ ३ ॥

या वै सा पृथिवी गायत्री; इयं
वाव सेदमेव; तत्किम् ? यदिदम-
स्मिन्पुरुषे कार्यकरणसंघाते जी-
वति शरीरं पार्थिवत्वाच्छरीरस्य ।
कथं शरीरस्य गायत्रीत्व-
मिति ? उच्यते—अस्मिन्हीमे
प्राणा भूतशब्दवाच्याः प्रतिष्ठा-
ताः, अतः पृथिवीवद् भूतशब्द-
वाच्यप्राणप्रतिष्ठानाच्छरीरं गा-
यत्री; एतदेव यस्माच्छरीरं
नातिशीयन्ते प्राणाः ॥ ३ ॥

जो भी वह पृथिवीरूप गायत्री
है वह यह निश्चय ही है; यही कौन ?
जो इस पुरुषमें—भूत और इन्द्रियोंके
सजीव संघातमें शरीर है, क्योंकि
शरीर पृथिवीका ही विकार है ।
शरीरका गायत्रीत्व किस प्रकार
है ? सो बतलाया जाता है; क्योंकि
इसीमें 'भूत' शब्दवाच्य प्राण
प्रतिष्ठित हैं । अतः पृथिवीके समान
'भूत' शब्दवाच्य प्राणोंका अधिष्ठान
होनेके कारण शरीर गायत्री है,
क्योंकि प्राण इस शरीरका ही
अतिक्रमण नहीं करते ॥ ३ ॥

— : * : —

यद्वै तत्पुरुषे शरीरमिदं वाव तद्यदिदमस्मिन्नन्तः-
पुरुषे हृदयमस्मिन्हीमे प्राणाः प्रतिष्ठिता एतदेव
नातिशीयन्ते ॥ ४ ॥

जो भी इस पुरुषमें शरीर है वह यही है, जो कि इस अन्तःपुरुष-
में हृदय है; क्योंकि इसीमें ये प्राण प्रतिष्ठित हैं और इसीका अतिक्रमण
नहीं करते ॥ ४ ॥

यद्वै तत्पुरुषे शरीरं गायत्रीदं
वाव तत् । यदिदमस्मिन्नन्तर्मध्ये
पुरुषे हृदयं पुण्डरीकाख्यमेतद्गा-
यत्री । कथम् ? इत्याह—अस्मिन्हीमे

जो भी इस पुरुषमें शरीररूप
गायत्री है वह यही है, जो कि इस
अन्तःपुरुष—मध्यवर्ती पुरुषमें
पुण्डरीकसंज्ञक हृदय है । वह गायत्री
है । किस प्रकार ? सो बतलाते हैं—

प्राणाः पतिष्ठिताः; अतः शरीर-
वद्गायत्री हृदयम् । एतदेव च
नातिशीयन्ते प्राणाः । “प्राणो ह
पिता प्राणो माता ।” (छा०
उ० ७ । १५ । १) “अहिंस-
न्सर्वभूतानि” (छा० उ० ८ ।
१५ । १) इति च श्रुतेः, भूत-
शब्दवाच्याः प्राणाः ॥ ४ ॥

क्योंकि इसीमें ये प्राण प्रतिष्ठित हैं ।
अतः शरीरके समान हृदय
गायत्री है, क्योंकि प्राण । इसका भी
अतिक्रमण नहीं करते । “प्राण
पिता है, प्राण माता है” “सम्पूर्ण
प्राणियोंकी हिंसा न करते हुए”
इत्यादि श्रुतियाँ होनेके कारण प्राण
‘भूत’ शब्दवाच्य हैं ॥ ४ ॥

सैषा चतुष्पदा षड्विधा गायत्री तदेतद्व्याख्य-
नूक्तम् ॥ ५ ॥

वह यह गायत्री चार चरणवाली और छ प्रकारकी है । वह यह

[गायत्र्याख्य ब्रह्म] मन्त्रोद्धार प्रकाशित किया गया है ॥ ५ ॥

सैषा चतुष्पदा षडक्षरपदा

छन्दोरूपा सती भवति गायत्री

षड्विधा वाग्भूतपृथिवीशरीरहृदय-

प्राणरूपा सती षड्विधा भवति ।

वाक्प्राणयोरन्यार्थनिर्दिष्टयोरपि

गायत्रीप्रकारत्वम्; अन्यथा षड्वि-

विधसंख्यापूरणानुपपत्तेः । तदे-

तस्मिन्नर्थ एतद्गायत्र्याख्यं ब्रह्म

गायत्र्यनुगतं गायत्रीमुखेनोक्त-

वह यह चार पदवाली और

छ छ अक्षरोंके पदवाली है तथा

वाक्, भूत, पृथिवी, शरीर, हृदय

और प्राणरूपा होनेसे वह षड्विधा-

छ प्रकारकी है । वाक् और प्राण-

का यद्यपि अन्य अर्थमें निर्देश किया

गया है, तो भी वे गायत्रीके प्रकार-

रूपसे स्वीकृत किये जाते हैं, अन्यथा

गायत्रीके छ प्रकारोंकी संख्या

पूर्ण नहीं हो सकती । इसी अर्थमें

यह गायत्रीसंज्ञक ब्रह्म, जो गायत्रीका

मृचापि मन्त्रेणाभ्यनूक्तं प्रका-
शितम् ॥ ५ ॥

अनुगत और गायत्रीद्वारा ही प्रति-
पादित है, ऋचा यानी मन्त्रसे भी
प्रकाशित किया गया है ॥ ५ ॥

—:***:—

कार्यब्रह्म और शुद्ध ब्रह्मका भेद

तावानस्य महिमा ततो ज्यायाँश्च पूरुषः । पादो-
ऽस्य सर्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवीति ॥ ६ ॥

[ऊपर जो कुछ कहा गया है] उतनी ही इस (गायत्र्याख्य
ब्रह्म) की महिमा है; तथा [निर्विकार] पुरुष इससे भी उत्कृष्ट है ।
सम्पूर्ण भूत इसका एक पाद हैं और इसका [पुरुषसंज्ञक] त्रिपाद अमृत
प्रकाशमय स्वात्मामें स्थित है ॥ ६ ॥

तावानस्य गायत्र्याख्यस्य
ब्रह्मणः समस्तस्य महिमा विमूति-
विस्तारः । यावांश्चतुष्पात्पञ्च-
धश्च ब्रह्मणो विकारः पादो गाय-
त्रीति व्याख्यातः । अतस्तस्मा-
द्विकारलक्षणाद्गायत्र्याख्याद्वाचा-
रम्भणमात्रात्ततो ज्यायान्महत्त-
रश्च परमार्थसत्यरूपोऽविकारः
पूरुषः पूरुषः सर्वपूरणात्पुरि-
शयनाच्च ।

इस गायत्रीसंज्ञक समस्त (पाद-
विभागविशिष्ट) ब्रह्मकी उतनी ही
महिमा—विभूतिविस्तार है, जितना
कि चार पादवाला और छः प्रकार-
का ब्रह्मका विकारभूत एक पाद
गायत्री है; ऐसा कहकर निरूपण
किया गया है । अतः उस विकारभूत
वाचारम्भणमात्र गायत्रीसंज्ञक
ब्रह्मसे परमार्थ सत्यस्वरूप
निर्विकार पुरुष उत्कृष्ट महत्तर है;
जो सबको पूरित करने तथा शरीर-
रूप पुरमें शयन करनेके कारण
पुरुष कहलाता है ।

तस्यास्य पादः सर्वाणि
भूतानि तेजोअन्नादीनि सस्था-
वरजङ्गमानि । त्रिपात्वयः पादा
अस्य सोऽयं त्रिपात् । त्रिपाद-
मृतं पुरुषारूपं समस्तस्य गाय-
त्र्यात्मनो दिवि द्योतनवति
स्वात्मन्यवस्थितमित्यर्थ इति
॥ ६ ॥

तेज, अन्न और अणु आदि सम्पूर्ण
स्थावर-जङ्गम प्राणी उस इस
पुरुषका एक पाद हैं । तथा वह
त्रिपात्—जिसके तीन पाद हो उसे
'त्रिपात्' कहने हैं—समस्त गायत्री-
रूप पुरुषका पुरुषसंज्ञक त्रिपाद्
अमृत दिवि—द्युतिमान्में यानी
प्रकाशस्वरूप स्वात्मामे स्थित है—
ऐसा इसका तात्पर्य है ॥ ६ ॥

भूतआकाश, देहाकाश और हृदयाकाशका अन्वेष

यद्वै तद्वन्नहो तोदं वाव तद्योऽयं वहिर्धा पुरुषा-
दाकाशो यो वै स वहिर्धा पुरुषादाकाशः ॥ ७ ॥ अयं
वाव स योऽयमन्तः पुरुष आकाशो यो वै सोऽन्तः
पुरुष आकाशः ॥ ८ ॥ अयं वाव स योऽयमन्तर्हृदय
आकाशस्तदेतत्पूर्णमप्रवर्ति पूर्णमप्रवर्तिनीं श्रियं लभते
य एवं वेद ॥ ९ ॥

जो भी वह [त्रिपाद् अपूर्तरूप] कह्य है वह यही है, जो कि यह
पुरुषसे बाहर आकाश है, और जो भी यह पुरुषसे बाहर आकाश है ।
वह यही है जो कि यह पुरुषके भीतर आकाश है, तथा जो भी यह
पुरुषके भीतर आकाश है । वह यही है जो कि हृदयके अन्तर्गत आकाश
है । वह यह हृदयाकाश पूर्ण और कहीं भी प्रवृत्त न होनेवाला है । जो
पुरुष ऐसा जानता है वह पूर्ण और कहीं प्रवृत्त न होनेवाली सम्पत्ति
प्राप्त करता है ॥ ७-९ ॥

यद्वै तत्त्रिपादमृतं गायत्री-
मुखेनोक्तं ब्रह्मेतीदं वाव तदिद-
मेव तद्योज्यं प्रसिद्धो ब्रह्मर्षा
बहिः पुरुषादाकाशो भौतिको यो
वै स ब्रह्मर्षा पुरुषादाकाश
उक्तः ॥ ७ ॥ अयं वाव स योज्य-
मन्तः पुरुषे शरीर आकाशः ।

यो वै सोऽन्तःपुरुष आका-
शः ॥ ८ ॥ अयं वाव स योज्यमन्त-
हृदये हृदयपुण्डरीक आकाशः ।

कथमेकस्य सत आकाशस्य
त्रिधा भेद इति ? उच्यते—
बाह्येन्द्रियविषये जागरितस्थाने
नमसि दुःखत्राहुर्यं दृश्यते
ततोऽन्तःशरीरे स्वप्नस्थानभूते
मन्दतरं दुःखं भवति स्वप्नान्
पश्यतः । हृदयस्थे पुनर्नमसि न
कश्चन कामं कामयते न कश्चन
स्वप्नं पश्यति । अतः सर्वदुःख-
निवृत्तिरूपमाकाशं सुषुप्तस्थानम् ।

जो कभी गायत्रीके द्वारा कहा हुआ
वह त्रिपाद् अमृत ब्रह्म है वह यही है
—वह निश्चय यही है जो कि यह
बाहरकी ओर—पुरुषसे बाहर प्रसिद्ध
भौतिक आकाश है । तथा जो भी
यह पुरुषसे बाहर आकाश बतलाया
गया है ॥ ७ ॥ वह यही है जो पुरुष
अर्थात् शरीरके भीतर आकाश है ।

जो भी वह पुरुषके भीतर
आकाश है ॥ ८ ॥ वह यही है जो
यह हृदयके भीतर अर्थात् हृदय-
पुण्डरीकमें आकाश है ।

एक होनेपर भी आकाशका तीन
प्रकारका भेद क्यों है ? ऐसा प्रश्न
होनेपर कहा जाता है—जो बाह्य
इन्द्रियोंका विषय है और जिसकी
जाग्रत् अवस्थामें उपलब्धि होती है
ऐसे इस आकाशमें दुःखकी बहुलता
देखी जाती है । उसकी अपेक्षा
स्वप्नमें उपलब्ध होनेवाले शरीरान्त-
र्गत आकाशमें स्वप्न देखनेवाले पुरु-
षको मन्दतर दुःख होता है । किन्तु
हृदयस्थ आकाशमें जीव न तो किसी
भोगकी इच्छा करता है और न
कोई स्वप्न ही देखता है; अतः
सुषुप्तिमें उपलब्ध होनेवाला आकाश
सम्पूर्ण दुःखोंका निवृत्तिरूप है ।

अतो युक्तमेकस्यापि त्रिधा
भेदान्वाख्यानम् ।

बहिर्धा पुरुषादारम्याकाशस्य
हृदये संकोचकरणं चेतःसमा-
धानस्थानस्तुतये यथा "त्रयाणा-
मपि लोकानां कुरुक्षेत्रं विशिष्यते ।
अर्धतस्तु कुरुक्षेत्रमर्धतस्तु पृथुद-
कम्" इति तद्वत् ।

तदेतद्भार्ताकाशाख्यं ब्रह्म

पूर्णं सर्वगतं न हृदयमात्रपरि-
च्छिन्नमिति मन्तव्यम्, यद्यपि
हृदयाकाशे चेतः समाधीयते ।
अप्रवर्ति न कुतश्चित्कचित्प्रवर्तितं
शीलमस्येत्यप्रवर्ति तदनुच्छित्ति-
धर्मकम् । यथान्यानि भूतानि
परिच्छिन्नान्युच्छित्तिधर्मकाणि न
तथा हार्दं नमः । पूर्णमप्रवर्तिनी-

इसलिये एक ही आकाशके तीन
भेदोका कयन उचित ही है ।

पुरुषके वहि स्थित आकाशसे
लेकर जो हृदयदेशमें आकाशका
संकोच किया गया है वह चित्तकी
एकाग्रताके स्थानकी स्तुतिके लिये
है, जिस प्रकार [स्थानकी स्तुतिके
लिये ही ऐसा कहा जाता है—]
"तीनों लोकोमें कुरुक्षेत्र उत्कृष्ट है
तथा [द्विदल धान्यके समान]
आधेमें कुरुक्षेत्र है और आधेमें
'पृथुदक' है" उसी प्रकार [यहाँ
हृदयाकाशकी स्तुति समझनी
चाहिये] ।

वह यह हृदयाकाशसज्ञक ब्रह्म
पूर्ण—सर्वगत है, वह केवल हृदय-
मात्रमें ही परिच्छिन्न है—ऐसा नहीं
मानना चाहिये, यद्यपि चित्त केवल
हृदयाकाशमें ही समाहित किया
जाता है । वह अप्रवर्ति अर्थात्
अविनाशी स्वभाववाला है—जिसका
कभी कहीं प्रवृत्त होनेका स्वभाव न हो
उसे अप्रवर्ति कहते हैं । जिस प्रकार
अन्य परिच्छिन्न भूत उच्छित्ति(विनाश)
धर्मवाले हैं उसी प्रकार हृदयाकाश
नाशवान् नहीं है । जो पुरुष इस
प्रकार उपयुक्त पूर्ण और अविनाशी

मनुच्छेदात्मिकां त्रियं विभूतिं | गुणविशिष्टं ब्रह्मको जानता है वह
 गुणकलं लभते दृष्टम्; य एवं पूर्ण और अप्रवर्तिनी- कभी नष्ट न
 यथोक्तं पूर्णाप्रवर्तिगुणं ब्रह्म होनेवाली धी—विभूति इस दृष्ट
 वेद, जानातीहैव जीवंस्तद्भावं गौण फलको प्राप्त करता है । अर्थात्
 प्रतिपद्यत इत्यर्थः ॥ ६ ॥ इसी लोकमें यानी जीवित रहते हुए
 ही तद्रूपताको प्राप्त हो जाता
 है ॥ ६ ॥

—: * :—

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि तृतीयाध्याये
 द्वादशखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥ १२ ॥



त्रयोदश खण्ड

—:०:—

हृदयान्तर्गत पूर्वसुषुप्तप्रणकी उपासना

तस्य ह वा एतस्य हृदयस्य पञ्च देवसुषुप्तः स
योऽस्य प्राङ् सुषुप्तः स प्राणस्तच्चक्षुः स आदित्यस्त-
देतत्तेजोऽन्नायमित्युपासीत तेजस्व्यन्नादो भवति य
एवं वेद ॥ १ ॥

उस इस प्रसिद्ध हृदयके पाँच देवसुषुप्त हैं। इसका जो पूर्वदिशा-
वर्ती सुषुप्त (छिद्र) है वह प्राण है; वह चक्षु है, वह आदित्य है, वही
वह तेज और अन्नाद्य है—इस प्रकार उपासना करे। जो इस प्रकार
ज्ञानता है [अर्थात् इस प्रकार इनकी उपासना करता है] वह तेजस्वी
और अन्नका भोक्ता होता है ॥ १ ॥

तस्य ह वा इत्यादिना
गायत्र्याख्यस्य ब्रह्मण उपास-
नाङ्गत्वेन द्वारपालादिगुण-
विधानार्थमारभ्यते। यथा लोके
द्वारपाला राज्ञ उपासनेन वशी-
कृता राजप्राप्त्यर्था भवन्ति
तथेहापीति।

इस 'तस्य ह वा' इत्यादि खण्ड-
द्वारा गायत्रीसंज्ञक ब्रह्मकी उपासनाके
अङ्गरूपसे द्वारपालादि गुणोंका
विधान करनेके लिये [यह उत्तर
ग्रन्थ] आरम्भ किया जाता है।
क्योंकि जिस प्रकार लोकमें राजाके
द्वारपाल उपासनासे (भेंट आदि
देकर) अपने अधीन कर लिये
जानेपर राजासे भेंट करनेमें उपयोगी
होते हैं उसी प्रकार यहाँ भी [इन
उपासनाङ्गोंका उपयोग होता है] ।

तस्येति प्रकृतस्य हृदयस्येत्यर्थः। एतस्यानन्तरनिर्दिष्टस्य पञ्च पञ्चसंख्याका देवानां सुषयो देवसुषयः स्वर्गलोकप्राप्तिद्वार-च्छिद्राणि, देवैः प्राणादित्यादि-भी रक्ष्यमाणानीत्यतो देव-सुषयः। तस्य स्वर्गलोकभवनस्य हृदयस्यास्य यः प्राङ् सुषिः पूर्वाभिमुखस्य प्रागतं यच्छिद्रं द्वारं स प्राणः, तत्स्थस्तेन द्वारेण यः संचरति वायुविशेषः स प्रागनितीति प्राणः।

तेनैव संयद्धमव्यतिरिक्तं तच्चक्षुः, तथैव स आदित्यः “आ-दित्यो ह वै बाह्यः प्राणः” (प्र० उ० ३।८) इति श्रुतेश्चक्षुरूप-प्रतिष्ठाक्रमेण हृदि स्थितः “स आदित्यः कस्मिन्प्रतिष्ठित इति चक्षुषि” (वृ० उ० ३।६।२०) इत्यादि हि वाजसनेयके।

‘तस्य’ अर्थात् उस प्रकृत हृदयके, एतस्य—जिसका अव्यवहित पूर्वमें ही वर्णन किया गया है, पाँच-पाँच संख्यावाले देवसुषि—देवताओंके सुषि अर्थात् स्वर्गलोककी प्राप्तिके द्वारभूत पाँच छिद्र हैं। वे प्राण और आदित्य आदि देवताओंसे सुरक्षित हैं इसलिये देवसुषि कहलाते हैं। स्वर्गलोकके भवनरूप उस इस हृदय-का जो प्राङ् सुषि है—पूर्वाभिमुख हृदयका जो पूर्वदिशावर्ती छिद्र यानी द्वार है वह प्राण है। जो उस हृदयमें ही स्थित है और उसीके द्वारा संचार करता है वह वायुविशेष ‘प्राक् अनिति’ इस व्युत्पत्तिके अनुसार प्राण कहलाता है।

उस (प्राण) हीसे सम्बद्ध और अभिन्न चक्षु है। इसी प्रकार वह आदित्य भी है, जैसा कि “आदित्य निश्चय ही बाह्य प्राण है” इस श्रुतिसे प्रमाणित होता है। वह चक्षु और रूपके प्रतिष्ठाक्रमसे हृदयमें स्थित है। “वह आदित्य किसमें स्थित है? चक्षुमें” इत्यादि वाजसनेय-श्रुतिमें कहा है। प्राण-

प्राणवायुदेवतैव द्वेका चक्षुरा-
दित्यश्च सहाश्रयेण । वक्ष्यति च-
प्राणाय स्वाहेति हुतं हविः सर्व-
मेतत्तर्पयतीति ।

तदेतत्प्राणाख्यं स्वर्गलोक-
द्वारपालत्वाद्ब्रह्म स्वर्गलोकं
प्रतिपित्सुस्तेजश्चैतच्चक्षुरादित्य-
स्वरूपेणानाद्यत्वाच्च सवितुस्तेजो-
ज्ज्ञाद्यमित्याभ्यां गुणाभ्यामुपा-
सीत । ततस्तेजस्यन्नादश्रामया-
वित्त्वरहितो भवति य एवं वेद
तस्यैतद्गुणफलम् । उपासनेन
वशीकृतो द्वारपः स्वर्गलोकप्राप्ति-
हेतुर्भवतीति मुख्यंचफलम्॥१॥

वायुरूप एक ही देवता एक ही
आश्रयमे स्थित होनेके कारण चक्षु
और आदित्य नामसे कहे जाते हैं ।
'प्राणाय स्वाहा' ऐसा कहकर दिया
हुआ हवि चक्षुरादि सम्पूर्ण इन्द्रियों-
की वृद्धि करता है—ऐसा आगे
कहेगे भी ।

वह यह प्राणाख्य ब्रह्म स्वर्गलोक-
का द्वारपाल है अतः स्वर्गप्राप्तिको
इच्छावाला पुरुष, यह चक्षु और
आदित्यरूपसे तथा अन्नाद्यरूपसे
सविताका तेज और अन्नाद्य है
—इस प्रकार इन दो गुणोंसे इसकी
उपासना करे । इससे वह तेजस्वी
और अन्नाद्य अर्थात् रुग्णत्वादिसे
रहित होता है । जो ऐसा जानता
है उसे यह गौण फल प्राप्त होता है,
किन्तु मुख्य फल तो यही है कि
उपासनाद्वारा अपने अधीन किया
हुआ वह द्वारपाल स्वर्गलोकप्राप्तिका
कारण होता है ॥ १ ॥

—२६१—

हृदयान्तर्गत दक्षिणसुषिभूत व्यानकी उपासना

अथ योऽस्य दक्षिणः सुषिः स व्यानस्त-
च्छ्रोत्रं स चन्द्रमास्तदेतच्छ्रीश्च यशश्चेत्युपासीत श्रीमा-
न्यशस्वी भवति य एवं वेद ॥ २ ॥

तथा इसका जो दक्षिण छिद्र है वह व्यान है, वह श्रोत्र है, वह चन्द्रमा है और वही यह श्री एवं यश है—इस प्रकार उसकी उपासना करे। जो ऐसा जानता है वह श्रीमान् और यशस्वी होता है ॥ २ ॥

अथ योऽस्य दक्षिणः सुषिस्त-

त्स्थो वायुविशेषः स वीर्यवत्कर्म

कुर्वन्विगृह्य वा प्राणापानौ नाना

वानितीति व्यानस्तत्संवद्धमेव

च तच्छ्रोत्रमिन्द्रियं तथा स

चन्द्रमाः—“श्रोत्रेण सृष्टा दिशश्च

चन्द्रमाश्च” इति श्रुतेः। सहाश्रयौ

पूर्ववत् ।

तदेतच्छ्रीश्च विभूतिः श्रोत्र-

चन्द्रमसोर्ज्ञानान्नहेतुत्वम् अतस्ता-

भ्यां श्रीत्वम्। ज्ञानान्नवतश्च यशः

ख्यातिर्भवतीति यशोहेतुत्वाद्य-

शस्त्वम्, अतस्ताभ्यां गुणसंख्या-

मुपासीतेत्यादि संमानम् ॥ २ ॥

तथा इसका जो दक्षिण छिद्र है उसमें स्थित जो वायुविशेष है वह वीर्यवान् कर्म करता हुआ गमन करता है या प्राण और अपानसे विरोध करके अथवा नाना प्रकारसे गमन करता है, इस कारण ‘व्यान’ कहलाता है। उससे सम्बद्ध जो श्रोत्र है वह इन्द्रिय है। तथा उसीसे सम्बद्ध वह चन्द्रमा है, जैसा कि “[विराट्के] श्रोत्र-द्वारा दिशा और चन्द्रमा रचे गये हैं” इस श्रुतिसे सिद्ध होता है। पूर्ववत् (चक्षु और आदित्यके समान) ये भी एक ही आश्रयवाले हैं।

वह यह [व्यानसंज्ञक ब्रह्म] श्री यानी विभूति है। श्रोत्र और चन्द्रमा क्रमशः ज्ञान और अन्नके हेतु हैं; इसलिये उनके द्वारा व्यान-का श्रीत्व माना गया है। ज्ञानवान् और अन्नवान्का यश अर्थात् प्रसिद्धि होती है; अतः यशका हेतु होनेसे उसकी यशःस्वरूपता है। अतः उन दो गुणोंसे युक्त उसकी उपासना करे—इत्यादि शेष अर्थ पूर्ववत् है ॥ २ ॥

हृदयान्तर्गत पश्चिममुपिभूत अपानको उपासना

अथ योऽस्य प्रत्यङ् सुषिः सोऽपानः सा वाक् सो-
ऽग्निस्तदेतद्ब्रह्मवर्चसमन्नायमित्युपासीत ब्रह्मवर्चस्य-
ज्ञादो भवति य एवं वेद ॥ ३ ॥

तथा इसका जो पश्चिम छिद्र है वह अपान है, वह वाक् है, वह
अग्नि है और वही वह ब्रह्मतेज एव अन्नाद्य है—इस प्रकार उसकी
उपासना करे। जो ऐसा जानता है वह ब्रह्मतेजस्वी और अन्नका भोक्ता
होता है ॥ ३ ॥

अथ योऽस्य प्रत्यङ् सुषिः
पश्चिमस्तत्स्थो वायुविशेषः स
मूत्रपुरीषाद्यनयन्नधोऽग्नितीत्व-
पानः सा तथा वाक्; तत्सं-
न्यात्, तथाग्निः तदेतद्ब्रह्मवर्चसं
वृत्तस्वाध्यायनिमित्तं तेजो ब्रह्म-
वर्चसम्; अग्निसंबन्धाद् वृत्तस्वा-
ध्यायस्य । अन्नग्रसनहेतुत्वाद्-
पानस्यान्नाद्यत्वम् । समानमन्यत्
॥ ३ ॥

तथा इसका जो प्रत्यङ् सुषि—
प्रत्यङ् यानी पश्चिम उसमें स्थित
जो वायुविशेष है वह मल-
मूत्रादिको दूर करता हुआ
नीचेकी ओर ले जाता है। इसलिये
'अपान' कहलाता है। तथा वही
वाक् और अग्नि है, क्योंकि इनका
उत्स (समष्टि अपान) से सम्बन्ध
है। वह यह ब्रह्मतेज है—सदाचार
और स्वाध्यायके कारण होनेवाले
तेजका नाम ब्रह्मवर्चस है, क्योंकि
सदाचार और स्वाध्याय अग्निसे
सम्बद्ध हैं। अन्न निगलनेमें
हेतु होनेके कारण अपानका अन्न-
भोक्तृत्व स्वीकृत किया गया है।
शेष अर्थ पूर्ववत् है ॥ ३ ॥



हृदयान्तर्गत उत्तरसुपिभूत समानकी उपासना

अथ योऽस्योदङ् सुषिः स समानस्तन्मनः स
पर्जन्यस्तदेतत्कीर्तिश्च व्युष्टिश्चेत्युपासीत कीर्तिमान्व्यु-
ष्टिमान् भवति य एवं वेद ॥ ४ ॥

तथा इसका जो उत्तरीय छिद्र है वह समान है, वह मन है, वह
मेघ है और वही यह कीर्ति और व्युष्टि (देहका लावण्य) है— इस
प्रकार उसकी उपासना करे । जो इस प्रकार जानता है वह कीर्तिमान्
और व्युष्टिमान् होता है ॥ ४ ॥

अथ योऽस्योदङ् सुषिरुद-
गतः सुपिस्तत्स्थो वायुविशेषः
सोऽशितपीते समं नयतीति
समानः । तत्संवद्धं मनोज्ञतः-
करणं स पर्जन्यो वृष्ट्यात्मको
देवः पर्जन्यनिमित्ताश्वाप इति,
“मनसा सृष्टा आपश्च वरुणश्च”
इति श्रुतेः ।

तदेतत्कीर्तिश्च, मनसो ज्ञान-
स्य कीर्तिहेतुत्वात् ; आत्मपरोक्षं
विश्रुतत्वं कीर्तिः; यशः स्वकरण-

तथा इसका जो उदङ् सुषि—
उत्तरवर्ती छिद्र है, उसमें स्थित हुआ
जो वायुविशेष है वह खाये-पिये
अन्न-जलको समानरूपसे [सम्पूर्ण
शरीरमें] ले जाता है, इसलिये
‘समान’ है । उसीसे सम्बन्ध रखने-
वाला मन—अन्तःकरण और वह
पर्जन्य यानी वृष्टिरूप देव है,
क्योंकि “[विराट् पुरुषके] मनसे
अप् और वरुण रचे गये हैं” इस
श्रुतिके अनुसार अप् (जल) मेघ-
हीसे होनेवाले हैं ।

तथा यह (समाननामक ब्रह्म)
ही कीर्ति है, क्योंकि मन यानी ज्ञान
ही कीर्तिका हेतु है । अपने पोछे
जो विख्यात होती है उसे कीर्ति
कहते हैं । जो ख्याति अपनी

संवेद्यं विश्रुतत्वम् । व्युष्टिः का- इन्द्रियोंसे गृहीत की जा सकती है
 न्तिदेहगतं लावण्यम् । ततश्च उसे यश कहते हैं । व्युष्टि—कान्ति
 कीर्तिसंभवात्कीर्तिश्चेति । समा- उससे भी कीर्तिकी उत्पत्ति होती है
 समन्यत् ॥ ४ ॥ अतः वह भी कीर्ति ही है । शेष
 अर्थ पूर्ववत् है ॥ ४ ॥

हृदयान्तर्गतं ऊर्ध्वं सुविभूत उदानकी उपासना

अथ योऽस्योर्ध्वः सुषिः स उदानः स वायुः
 स आकाशस्तदेतदोजश्च महश्चेत्युपासीतौजस्वी
 महस्वान्भवति य एवं वेद ॥ ५ ॥

तथा इसका जो ऊर्ध्वं छिद्र है वह उदान है, वह वायु है, वह
 आकाश है और वही यह ओज और महः है—इस प्रकार उसकी
 उपासना करे । जो इस प्रकार जानता है वह ओजस्वी (बलवान्) और
 महस्वान् (तेजस्वी) होता है ॥ ५ ॥

अथ योऽस्योर्ध्वः सुषिः स तथा इसका जो ऊर्ध्व-छिद्र है
 उदान आ पादतलादारभ्योर्ध्व- वह उदान है । पैरके तलुआसे
 मुत्कमणादुत्कर्षार्थं च कर्म कुर्व- लेकर अपरकी ओर उत्कमण करनेके
 न्तितीत्युदानः स वायुस्तदावा- कारण और उत्कर्षके लिये कर्म
 रआकाशः । तदेतद् वाय्वाका- करता हुआ चेष्टा करता है—इसलिये
 शयोरोजोहेतुत्वादोजो बलं मह- वह 'उदान' है । वही वायु और
 त्वाच्च मह इति समानमन्यत् ॥ ५ ॥ उसका आधारभूत आकाश भी है ।
 वायु और आकाश ओजके हेतु हैं
 अतः यह (उदानसंज्ञक ब्रह्म) ही
 ओज—बल है और महत्ताके कारण
 महः भी है । शेष अर्थ पूर्ववत् है ॥ ५ ॥

उपर्युक्त प्राणादि द्वारपालोंकी उपासनाका फल

ते वा एते पञ्च ब्रह्मपुरुषाः स्वर्गस्य लोकस्य द्वार-
पाः स य एतानेवं पञ्च ब्रह्मपुरुषान्स्वर्गस्य लोकस्य द्वार-
पान्वेदास्य कुले वीरो जायते प्रतिपद्यते स्वर्गं लोकं य
एतानेवं पञ्च ब्रह्मपुरुषान्स्वर्गस्य लोकस्य द्वारपान्वेद॥६॥

वे ये पाँच ब्रह्मपुरुष स्वर्गलोकके द्वारपाल हैं। वह जो कोई भी स्वर्गलोकके द्वारपाल इन पाँच ब्रह्मपुरुषोंको जानता है उसके कुलमें वीर उत्पन्न होता है। जो इस प्रकार स्वर्गलोकके द्वारपाल इन पाँच पुरुषोंको जानता है वह स्वर्गलोकको प्राप्त होता है ॥ ६ ॥

ते वा एते यथोक्ताः पञ्च-
सुषिसंवन्धात्पञ्च ब्रह्मणो हार्दस्य
पुरुषा राजपुरुषा इव द्वारस्थाः
स्वर्गस्य हार्दस्य लोकस्य
द्वारपा द्वारपालाः । एतैर्हि
चक्षुःश्रोत्रवाङ्मनःप्राणैर्वह्निर्मुख-
प्रवृत्तैर्ब्रह्मणो हार्दस्य प्राप्ति-
द्वाराणि निरुद्धानि । प्रत्यक्षं
ह्येतदजितकरणतया बाह्यविषया-
सङ्गानृतप्ररूढत्वान्न हार्दे ब्रह्मणि
मनस्तिष्ठति । तस्मात्सत्यमुक्तमेते
पञ्च ब्रह्मपुरुषाः स्वर्गस्य लोकस्य
द्वारपा इति ।

वे हो ये, जैसे कि ऊपर बतलाये
गये हैं, पाँच सुषियोंके सम्बन्धके
कारण हृदयस्थ ब्रह्मके पाँच पुरुष
हैं, अर्थात् द्वारस्थ राजपुरुषोंके
समान हृदयस्थ स्वर्गलोकके द्वारपाल
हैं। चक्षु, श्रोत्र, वाक्, मन और
प्राणोंके द्वारा बाहरकी ओर प्रवृत्त
हुए इन्हींके द्वारा हृदयस्थित ब्रह्मकी
प्राप्तिके द्वार खुले हुए हैं। यह
वात प्रत्यक्ष ही है कि अजितेन्द्रियता-
के कारण बाह्य विषयोंकी आसक्ति-
रूप अनृतसे व्याप्त रहनेके कारण
मन हृदयस्थित ब्रह्ममें स्थित नहीं
होता। अतः यह ठीक ही कहा है
कि ये पाँच ब्रह्मपुरुष स्वर्गलोकके
द्वारपाल हैं।

अतः स य एतानेवं यथोक्त-
गुणविशिष्टान् स्वर्गस्य लोकस्य
द्वारपान् वेद उपास्त उपासनया
वशीकरोति स राजद्वारपालानि-
वोपासनेन वशीकृत्य तैरनि-
वारितः प्रतिपद्यते स्वर्गं लोकं
राजानमिव हार्दं ब्रह्म ।

किं चास्य विदुषः कुले वीरः
पुत्रो जायते - वीरपुरुषसेवनात् ।
तस्य चर्णापाकरणेन ब्रह्मोपासन-
प्रवृत्तिहेतुत्वम् । ततश्च स्वर्ग-
लोकप्रतिपत्तये पारम्पर्येण भव-
तीति स्वर्गलोकप्रतिपत्तिरेवैकं
फलम् ॥ ६ ॥

अतएव जो कोई इन उपयुक्त
गुणविशिष्ट स्वर्गलोकके द्वारपालोको
इस प्रकार जानता है—उपासना
करता है अर्थात् उपासनाद्वारा
अपने अधीन करता है, वह राजाके
द्वारपालोके समान इन्हे उपासना-
द्वारा वशीभूत कर इनसे निवारित
न होता हुआ राजाको प्राप्त होनेके
समान स्वर्गलोक यानी हृदयस्थित
ब्रह्मको प्राप्त होता है ।

तथा वीर पुरुषका सेवन करनेके
कारण इस विद्वान्के कुलमें वीर पुत्र
उत्पन्न होता है। वह पुत्र पितृ-श्राद्ध-
को निवृत्ति करके उसे ब्रह्मकी
उपासनामें प्रवृत्त करनेका हेतु होता
है। अतः वह परम्परासे उसकी
स्वर्गलोकप्राप्तिका भी कारण होता है।
इसलिये स्वर्गलोककी प्राप्ति ही
इसका एकमात्र फल है ॥ ६ ॥

—:०:—

अथ यदसौ विद्वान्स्वर्गं लोकं
वीरपुरुषसेवनात्प्रतिपद्यते, यद्योक्तं
“त्रिपादस्यामृतं दिवि” इति
तदिदं लिङ्गेन चक्षुःश्रोत्रेन्द्रिय-

तथा वह विद्वान् वीर पुरुषका
सेवन करनेसे जिस स्वर्गलोकको
प्राप्त होता है और जिस स्वर्गका
“इसका तीन पादरूप अमृत द्युलोक-
में है” इस प्रकार वर्णन किया गया
है उसीको अब अनुमापक लिङ्गद्वारा
चक्षु और श्रोत्रेन्द्रियका विषय

विश्वतः पृष्ठेष्वित्येतस्य व्याख्यानं सर्वतः पृष्ठेष्विति, संसारदुपरीत्यर्थः, 'संसार एव हि सर्वः, असंसारण एकत्वान्निर्भेदत्वाच्च । अनुत्तमेषु, तत्पुरुषसमासाशङ्कानिवृत्तय आह, उत्तमेषु लोकेष्विति, सत्यलोकादिषु हिरण्यगर्भादिकार्यरूपस्य परमेश्वरस्यासन्नत्वादुच्यते, उत्तमेषु लोकेष्विति ।

इदं वावेदमेव तद्यदिदमस्मिन् पुरुषेऽन्तर्मन्ये ज्योतिश्चक्षुःश्रोत्राक्षेण लिङ्गेनोष्णिग्ना शब्देन चावगम्यते । यच्च चा स्पर्शरूपेण गृह्यते तच्चक्षुषैव; दृढप्रतीतिकरत्वाच्च; अविनाभूतत्वाच्च रूपस्पर्शयोः ॥ ७ ॥

'विश्वतः पृष्ठेषु' इसीकी व्याख्या 'सर्वतः पृष्ठेषु' ये पद हैं; अर्थात् संसारसे ऊपर, क्योंकि संसार ही सब है; असंसारो ब्रह्म तो एक और भेदरहित है । 'अनुत्तमेषु' इस पदमे [जो उत्तम न हो-ऐसा अर्थ करके होनेवाली] तत्पुरुषसमासकी शङ्काको निवृत्त करनेके लिये 'उत्तमेषु लोकेषु' ऐसा कहा है । सत्यलोकादिमें हिरण्यगर्मादि कार्यरूप ब्रह्म समीप रहता है, इसलिये उनके विषयमें 'उत्तमेषु लोकेषु' ऐसा कहा गया है ।

वह निश्चय यही है जो कि यह इस पुरुषके भीतर ज्योति है, जो क्रमशः चक्षु और श्रोत्रसे ग्रहण किये जाने योग्य उष्णता और शब्दरूप लिङ्गसे जानी जाती है । त्वचाद्वारा स्पर्शरूपसे जिमका ग्रहण किया जाता है उस वस्तुका मानो चक्षुसे ही ग्रहण होता है, क्योंकि त्वचा तो केवल उसकी दृढ प्रतीति करानेवाली है, तथा रूप और स्पर्श ये एक-दूसरेके बिना रह नहीं सकते ॥७॥

—:—

हृदयस्थित परमज्योतिका अनुमापक लिङ्ग

कथं पुनस्तस्य ज्योतिषो लिङ्गं त्वग्दृष्टिगोचरत्वमापद्यते ? इत्याह—

किन्तु उस ज्योतिका अनुमापक लिङ्ग त्वगिन्द्रियकी विषयताको किस प्रकार प्राप्त होता है ? इस विषयमें श्रुति कहती है—

तस्यैषा दृष्टिर्यत्रैतदस्मिञ्छरीरे स स्पर्शेनोष्णि-
मानं विजानाति तस्यैषा श्रुतिर्यत्रैतत्कर्णावपिगृह्य निनद-
मिव नदथुरिवाग्नेरिव ज्वलत उपशृणोति तदेतद्दृष्टं
च श्रुतं चेत्युपासीत चक्षुष्यः श्रुतो भवति य एवं वेद
य एवं वेद ॥ ८ ॥

उस इस (हृदयस्थित पुरुष) का यही दर्शनोपाय है जब कि [मनुष्य]
इस शरीरमें स्पर्शद्वारा उष्णताको जानता है तथा यही उसका श्रवणोपाय
है जब कि यह कानोंको मूँदकर निनद (रथके घोष), नदथु (वैलके
डकराने) और जलते हुए अग्निके शब्दके समान श्रवण करता है, वह
यह ज्योति दृष्ट और श्रुत है—इस प्रकार इसकी उपासना करे । जो
उपासक ऐसा जानता है [इस प्रकार उपासना करता है] वह दर्शनीय
और विश्रुत (विख्यात) होता है ॥ ८ ॥

यत्र यस्मिन्काले, एतदिति
क्रियाविशेषणम्, अस्मिञ्छरीरे
हस्तेनालभ्य संस्पर्शेनोष्णिमानं
रूपसहभाविनमुष्णस्पर्शभावं वि-
जानाति, स ह्युष्णिमा नामरूप-
व्याकरणाय देहमनुप्रविष्टस्य चै-
तन्यात्मज्योतिषो लिङ्गमव्यभि-
चारात् । न हि जीवन्तमात्मान-

‘यत्र’—जिस समय, ‘एतद्’
यह ‘विजानाति’ इस क्रियाका
विशेषण है, इस शरीरमें हाथसे
स्पर्श करके उस स्पर्शद्वारा रूपके
साथ रहनेवाली उष्णताको जानता
है; वह उष्णिमा ही नामरूपका
विभाग करनेके लिये देहमें अनु-
प्रविष्ट हुए चैतन्यात्मज्योतिका
अनुमान करानेवाला लिङ्ग है, क्योंकि
उसका कभी व्यभिचार नहीं होता ।
जीवित शरीरको उष्णता कभी नहीं

मृष्णिमा व्यभिचरति । 'उष्ण
एव जीविष्यञ्छीतो मरिष्यन्'
इति हि विज्ञायते । मरणकाले
च तेजः परस्थां देवतायामिति
परेणाविभागत्वोपगमात् । अतो-
ऽसाधारणं लिङ्गमौष्ण्यमग्नेरिव
धूमः । अतस्तस्य परस्यैषा दृष्टिः
साक्षादिव दर्शनं दर्शनोपाय
इत्यर्थः ।

तथा तस्य ज्योतिष एषा
श्रुतिः श्रवणं श्रवणोपायोऽप्यु-
च्यमानः । यत्र यदा पुरुषो
ज्योतिषो लिङ्गं शुभ्रपति तदै-
तत्कर्णावपिगृह्येतच्छब्दः क्रिया-
विशेषणम् । अपिगृह्यापिधायेत्य-
र्थोऽङ्गुलिभ्यां प्रोक्ष्य निनद-
मिव रथस्येव घोषो निनदस्त-
मिव शृणोति नदधुरिव ऋषभ-
कृजितमिव शब्दो यथा चाग्ने-

त्यागती । जीवित रहनेवाला उष्ण
ही होता है और मरनेवाला शीत
होता है—ऐसा ही जाना जाता
है । मरण कालमें तेज पर देवतामें
लीन हो जाता है, क्योंकि उस
समय पर देवताके साथ उसका
अभेद हो जाता है । अतः धूम जिस
प्रकार अग्निका अनुमापक है
उसी प्रकार उष्णता जीवनका
असाधारण लिङ्ग है । इसलिये उस
पर देवताकी यह दृष्टि यानी साक्षात्
दर्शनके समान उसके दर्शनका
साधन है—ऐसा इसका तात्पर्य है ।

तथा यह उस ज्योतिकी श्रुति—
श्रवण यानी सुननेका आगे कहा
जानेवाला उपाय है । जहाँ—
जिस समय पुरुष इस ज्योतिके
लिङ्गको सुनना चाहता है उस
समय, 'एतत् कर्णावपिगृह्य' यहाँ
'एतत्' शब्द 'अपिगृह्य' क्रियाका
विशेषण है, अर्थात् कानोको इस
प्रकार मूँदकर—अङ्गुलियोंसे बंदकर
निनदके समान—रथके घोषको
'निनद' कहते हैं, उसके समान शब्द
सुनता है तथा नदधु—बैलके डकारने-
के समान और जिस प्रकार बाहर

वर्हिर्ज्वलत एवं शब्दमन्तःशरीर
उपशृणोति ।

यदेतज्ज्योतिर्दृष्टश्रुतलिङ्गत्वाद्
दृष्टं च श्रुतं वेत्युपासीत ।
यथोपासनान्चक्षुष्यो दर्शनीयः
श्रुतो विश्रुतश्च । यत्स्पर्शगुणो-
पासननिमित्तं फलं तद्रूपे संपा-
दयति चक्षुष्य इति, रूपस्पर्श-
योः सहभावित्वात्; इष्टत्वाच्च
दर्शनीयतायाः । एवं च विद्या-
याः फलमुपपन्नं स्यान्न तु मृदु-
त्वादिस्पर्शवत्त्वे । य एवं यथो-
क्तौ गुणौ वेद । स्वर्गलोकप्रति-
पत्तिस्तूक्तमदृष्टं फलम् । द्विर-
भ्यास आदरार्थः ॥ ८ ॥

जलते हुए अग्निका शब्द होता है
उस प्रकारके शब्दका अपने शरीर-
के भीतर श्रवण करता है ।

इस प्रकार यह ज्योति दृष्ट और
श्रुत लिङ्गयुक्त होनेसे दृष्ट और
श्रुत है—इस तरह इसकी उपासना
करे । इस प्रकार उपासना करनेसे
वह उपासक चक्षुष्य—दर्शनीय और
श्रुत—विख्यात हो जाता है । स्पर्श-
गुणसम्बन्धिनी उपासनासे जो फल
होता है उसीको श्रुति 'चक्षुष्य'
ऐसा कहकर रूपमें सम्पादन करती
है, क्योंकि रूप और स्पर्श ये दोनों
साथ-साथ रहनेवाले हैं और दर्श-
नीयता सबको इष्ट भी है । इस
प्रकार [दर्शनीयताके मिलनेसे] ही
इस विद्याका दृष्ट फल उपपन्न हो
सकता है, मृदुत्वादि स्पर्शयुक्त होनेसे
नहीं । इस प्रकार जो इन दोनों
गुणोंको जानता है [उसे इस फल-
की प्राप्ति होती है] । स्वर्गलोककी
प्राप्ति तो इसका अदृष्ट फल बत-
लाया गया है । 'य एवं वेद—य एवं
वेद' यह द्विरुक्ति आदरके लिये है ॥ ८ ॥

—:०:—

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि तृतीयाध्याये
त्रयोदशखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥१३॥

चतुर्दश खण्ड

—★—

शाण्डिल्यविद्या

सर्वदृष्टिसे ब्रह्मोपासना

पुनस्तस्यैव त्रिपादमृतस्य ब्रह्म-
ज्ञानन्तगुणवतोऽनन्तशक्तेरनेक-
भेदोपास्यस्य विशिष्टगुणशक्ति-
मत्त्वेनोपासनं विधित्सन्नाह—

अब फिर उसी त्रिपादमृत,
अनन्तगुणवान्, अनन्तशक्ति और
अनेक प्रकारसे उपासनीय ब्रह्मकी
विशिष्टगुणयुक्त और शक्तिमान्
रूपसे उपासनाका विधान करनेकी
इच्छासे श्रुति कहती है—

सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत ।
अथ खलु क्रतुमयः पुरुषो यथाक्रतुरस्मिँल्लोके पुरुषो
भवति तथेतः प्रेत्य भवति स क्रतुं कुर्वीत ॥ १ ॥

यह सारा जगत् निश्चय ब्रह्म ही है, यह उसीसे उत्पन्न होनेवाला,
उसीमें लीन होनेवाला और उसीमें विलीन करनेवाला है—इस प्रकार शान्त
[रागद्वेषरहित] होकर उपासना करे, क्योंकि पुरुष निश्चय ही क्रतुमय—
निश्चयात्मक है; इस लोकमें पुरुष जैसे निश्चयवाला होता है वैसा ही यह सि-
मरकर जानेपर होता है। अतः उस पुरुषको निश्चय करना चाहिये ॥१॥

सर्वं समस्तं खल्विति वाक्या-
लङ्कारार्थो निपातः । इदं जग-
न्नामरूपविकृतं प्रत्यक्षादिविषयं
ब्रह्म कारणं वृद्धतमत्वादब्रह्म ।

सर्वं—समस्त 'खलु' यह निपात
वाक्यकी शोभा बढ़ानेके लिये है ।
यह अर्थात् नाम-रूपमय विकारको
प्राप्त होनेवाला और प्रत्यक्षादि
प्रमाणोंका विषयभूत जगत् ब्रह्म—
कारणरूप ही है । वृद्धतम [सबसे
बड़ा] होनेके कारण वह [जगत्-
का कारण] ब्रह्म कहलाता है ।

कथं सर्वस्य ब्रह्मत्वम् ? इत्यत आह—तज्जलानिति; तस्माद्-ब्रह्मणो जातं तेजोज्वलादिक्रमेण सर्वम्, अतस्तज्जम्; तथा तेनैव जननक्रमेण प्रतिलोमतया तस्मिन्नेव ब्रह्मणि लीयते तदात्मतया श्लिष्यत इति तल्लम्, तथा तस्मिन्नेव स्थितिकालेऽनिति प्राणिति चेष्टत इति । एवं ब्रह्मात्मतया त्रिषु कालेष्वविशिष्टं तद्व्यतिरेकेणाग्रहणात् । अतस्तदेवेदं जगत् । यथा चेदं तदेवैकमद्वितीयं तथा षष्ठे विस्तरेण वक्ष्यामः ।

यस्माच्च सर्वमिदं ब्रह्म, अतः शान्तो रागद्वेषादिदोषरहितः संयतः सन्यत्तत्सर्वं ब्रह्म तद्वक्ष्यमाणैर्गुणैरुपासीत ।

कथमुपासीत ? क्रतुं कुर्वीत
क्रतुनिश्चयोऽध्यवसाय एवमेव

यह सब ब्रह्मरूप किस प्रकार है ? ऐसा प्रश्न होनेपर श्रुति कहती है—‘तज्जलानिति’ । तेज, अप् और अग्नादि क्रमसे सारा जगत् उस ब्रह्मसे उत्पन्न हुआ है, इसलिये यह ‘तज्ज’ है तथा उसी जननक्रमके विपरीत क्रमसे उस ब्रह्ममें ही लीन होता है अर्थात् तादात्म्यरूपसे उसमें मिल जाता है, इसलिये ‘तल्ल’ है और अपनी स्थितिके समय उसीमें अनन-प्राणन यानी चेष्टा करता है, इसलिये ‘तदन’ है । इस प्रकार ब्रह्मात्मरूपसे वह तीनों कालोंमें समान रहता है, क्योंकि उसका उस (ब्रह्म) के बिना ग्रहण नहीं किया जाता; अतः वह (ब्रह्म) ही यह सारा जगत् है । जिस प्रकार यह जगत् ‘वह एकमात्र अद्वितीय ब्रह्म ही है’ उसका हम छठे अध्यायमें विस्तारपूर्वक निरूपण करेंगे ।

क्योंकि यह सब ब्रह्म है, अतः शान्त यानी राग-द्वेषसे रहित—संयतेन्द्रिय होकर वह जो सब ब्रह्म है उसकी आगे कहे जानेवाले गुणों-द्वारा उपासना करे ।

उसकी किस प्रकार उपासना करे ? [सो बतलाते हैं—] क्रतु करे—‘क्रतु’ निश्चय यानी अध्यवसाय-

नान्यथेत्यविचलः प्रत्ययस्तं क्रतुं
 कुर्वीतोपासीतेत्यनेन व्यवहितेन
 संबन्धः । किं पुनः क्रतुकरणेन
 कर्तव्यं प्रयोजनम् ? कथं वा
 क्रतुः कर्तव्यः ? क्रतुकरणं चा-
 भिप्रेतार्थसिद्धिसाधनं कथम् ?
 इत्यस्यार्थस्य प्रतिपादनार्थमथे-
 त्यादिग्रन्थः ।

अथ खल्विति हेतुवर्थः । यस्मात्
 क्रतुमयः क्रतुप्रायोऽध्यवसाया-
 त्मकः पुरुषो जीवः, यथाक्रतु-
 र्यादृशः क्रतुरस्य सोऽयं यथा-
 क्रतुर्यथाध्यवसायो यादृङ्निश्च-
 योऽस्मिँल्लोके जीवन्निह पुरुषो
 भवति, तथेतोऽस्मादेहात्प्रेत्य
 भूत्वा भवति; क्रत्वन्तुरूपफला-
 त्मको भवतीत्यर्थः । एवं होत-
 व्छाद्यतो दृष्टम्—“यं यं वापि

को कहते हैं अर्थात् यह ऐसा ही है,
 इसमें अन्य प्रकारका नहीं है—
 ऐसी जो अविचल प्रतीति है वही
 क्रतु है, उस क्रतुको करे—इस
 प्रकार इसका व्यवधानयुक्त
 ‘उपासीत’ इस क्रियासे सम्बन्ध
 है । किंतु उस क्रतुके बरनेमें
 क्या प्रयोजन सिद्ध करना है ?
 अथवा किस प्रकार वह क्रतु करना
 चाहिये तथा वह क्रतु करना किस
 प्रकार अभीष्ट अर्थकी सिद्धिका
 साधन है ? इस सब विषयका
 प्रतिपादन करनेके लिये ही ‘अथ’
 इत्यादि आगेका ग्रन्थ है ।

‘अथ खलु’ यह पदसमूह हेतुके
 लिये है । क्योंकि पुरुष यानी
 जीव क्रतुमय—क्रतुप्राय अर्थात्
 अध्यवसायात्मक है, इसलिये इस
 लोकमें जीवित रहता हुआ यह पुरुष
 यथाक्रतु—जिस प्रकारके क्रतुवाला
 होता है अर्थात् जिस प्रकारके
 अध्यवसायवाला—जैसे निश्चयवाला
 होता है, वैसे ही यहाँसे—इस दहसे
 ‘प्रेत्य’—मरकर होना है । तात्पर्य यह
 है कि वह अपने निश्चयके अनुसार
 फलवाला होता है । शास्त्रसे भी यह
 बात ऐसी ही देखी गयी है—“जिस-

स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्”

(गीता ८।६) इत्यादि । यत

एवं व्यवस्था शास्त्रदृष्टातः स

एवं जानन्क्रतुं क्षुर्वीत यादृशं क्रतुं

वक्ष्यामस्तम् । यत एवं शास्त्र-

प्रामाण्यादुपपद्यते क्रतुवनुरूपं

फलम्, अतः स कर्तव्यः क्रतुः ॥ १ ॥

जिस भावको स्मरण करता हुआ

अन्तमें शरीर त्यागता है [उसी-

उसी भावको प्राप्त होता है] ” क्योंकि

ऐसी व्यवस्था शास्त्रप्रतिपादित है,

अतः इस प्रकार जाननेवाला वह

पुरुष क्रतु करे—जिस प्रकारका क्रतु

हम बतलाते हैं, वैसा ही क्रतु करे ।

क्योंकि इस प्रकार शास्त्रप्रामाण्यसे

निश्चयके अनुरूप ही फल मिलना

सिद्ध होता है, इसलिये उसे वह

निश्चय करना चाहिये ॥ १ ॥



समग्र ब्रह्ममें आरोपित गुण

कथम् ?

किस प्रकार निश्चय करना
| चाहिये ?

मनोमयः प्राणशरीरो भारूपः सत्यसंकल्प आ-
काशात्मा सर्वकर्मा सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः सर्व-
मिदमभ्यात्तोऽवाक्यत्वादरः ॥ २ ॥

[वह ब्रह्म] मनोमय, प्राणशरीर, प्रकाशस्वरूप, सत्यसंकल्प, आकाशशरीर, सर्वकर्मा, सर्वकाम, सर्वगन्ध, सर्वरस, इस सम्पूर्ण जगत्-को सब ओरसे व्याप्त करनेवाला, वाक्प्रहित और सम्भ्रमशून्य है ॥ २ ॥

मनोमयो मनःप्रायः; मनु-
तेऽनेनेति मनस्तत्त्ववृत्त्या विष-

मनोमय—मनःप्रायः; जिसके
द्वारा जीव मनन करता है उसे मन
कहते हैं, यह अपनी वृत्तिद्वारा

येषु प्रवृत्तं भवति, तेन मनसा
तन्मयः; तथा प्रवृत्त इव तत्प्रायो
निवृत्त इव च । अत एव
प्राणशरीरः प्राणो लिङ्गात्मा
विज्ञानक्रियाशक्तिद्वयसंमूर्छितः;
“यो वै प्राणः सा प्रज्ञा या वा
प्रज्ञा स प्राणः” (कौ० उ० ३।
३) इति श्रुतेः । स शरीरं यस्य स
प्राणशरीरः, “मनोमयः प्राण-
शरीरनेता” (मु० उ० २। २।
७) इति च श्रुत्यन्तरात् ।

भारूपः, भा दीप्तिश्चैतन्य-
लक्षणं रूपं यस्य स भारूपः ।
सत्यसंकल्पः, सत्या अचित्ताः
संकल्पा यस्य सोऽयं सत्यसं-
कल्पः । न यथा संसारिण इवा-
नैकान्तिकफलः संकल्प ईश्वर-
स्येत्यर्थः । अनृतेन मिथ्याफल-
त्वहेतुना प्रत्यूढत्वात्संकल्पस्य
मिथ्याफलत्वम् । वक्ष्यति—
‘अनृतेन हि प्रत्यूढः’ इति

विषयोऽपि प्रवृत्तं हुग्रा करता है ।
उस मनके कारण वह मनोमय है,
अतः पुरुष मन प्राय होकर मनके
प्रवृत्त होनेपर प्रवृत्त सा होता है
और निवृत्त होनेपर निवृत्त-सा हो
जाता है । इसीलिये वह प्राणशरीर
है, “जो प्राण है वही प्रज्ञा है और
जो प्रज्ञा है वह प्राण है” इस
श्रुतिके अनुसार विज्ञान और क्रिया
इन दो शक्तियोंसे मिलकर बना
हुग्रा लिङ्गशरीर ही प्राण है, वह
प्राण जिसका शरीर है उसे प्राण-
शरीर कहते हैं, जैसा कि “आत्मा
मनोमय और प्राणरूप शरीरको
[अन्य देहमे] ले जानेवाला है” इस
अन्य श्रुतिसे सिद्ध होता है ।

भारूप—भा—दीप्ति अर्थात्
चैतन्य ही जिसका रूप है उसे
भारूप कहते हैं । सत्यसंकल्प—
जिसके सकल्प सत्य यानी अमिथ्या
हैं वह मह ब्रह्म सत्यसंकल्प है ।
तात्पर्यं यह है कि ससारी पुरुषके
समान ईश्वरका सकल्प अनैकान्तिक
(कभी हो, कभी न हो ऐसे) फल-
वाला नहीं है । ससारी जीवका
संकल्प अनृत अर्थात् मिथ्या फलरूप
हेतुसे प्रत्यूढ-वृद्धिको प्राप्त होनेके
कारण मिथ्या फलवाला होता है ।
‘वे अनृतसे प्रत्यूढ हैं’ ऐसा आगे
चलकर श्रुति कहेगी भी ।

‘आकाशात्मा, आकाश इवा-
त्मा स्वरूपं यस्य स आकाशा-
त्मा । सर्वगतत्वं सूक्ष्मत्वं रूपा-
दिहीनत्वं चाकाशतुल्यतेश्वरस्य ।
सर्वकर्मा, सर्वं विश्वं तेनेश्वरेण
क्रियत इति जगत्सर्वं कर्मास्य स
सर्वकर्मा; “स हि सर्वस्य कर्ता”
(वृ० उ० ४ । ४ । १३)
इति श्रुतेः । सर्वकामः सर्वे
कामा दोषरहिता अस्येति सर्व-
कामः; “धर्माविरुद्धो श्रुतेषु
कामोऽस्मि” (गीता ७ । ११)
इति स्मृतेः ।

ननु कामोऽस्मीति वचनादिह
बहुव्रीहिर्न संभवति सर्वकाम
इति ।

न; कामस्य कर्तव्यत्वा-

च्छब्दादिवत्पदार्थप्रसङ्गाच्च

आकाशात्मा—जिसका आत्मा
यानी स्वरूप आकाशके समान हो
उसे ‘आकाशात्मा’ कहते हैं।
सर्वत्रव्यापक, सूक्ष्म तथा रूप आदिसे
रहित होना ही ईश्वरका आकाशके
समान होना है। सर्वकर्मा—उस ईश्वर-
के द्वारा सर्व यानी विश्वका निर्माण किया
जाता है—इसलिये यह सारा जगत्
उसका कर्म है; अतः वह ईश्वर सर्व-
कर्मा है, जैसा कि “वही सबका
कर्ता है” इस श्रुतिसे सिद्ध होता
है। सर्वकाम—सम्पूर्ण दोषरहित
काम उस परमात्माके ही हैं इसलिये
वह सर्वकाम है; जैसा कि “मैं
प्राणियोंमें धर्मसे अविरुद्ध काम हूँ”
इस स्मृतिसे प्रमाणित होता है।

शङ्का—किंतु ‘कामोऽस्मि’ (मैं
काम हूँ) ऐसा वचन होनेके कारण
‘सर्वकाम’ इस पदमें बहुव्रीहिसमास
नहीं हो सकता ?

समाधान—नहीं, क्योंकि कामका
कार्यत्व स्वीकृत किया गया है*; इस-
लिये शब्दादिके समान भगवान्की भी

* अतः यदि बहुव्रीहि न मानकर कर्मधारय मानें तो समस्त काम (कार्य)
और ब्रह्म एकरूप सिद्ध होंगे, ऐसी दशामें जैसे कार्य अनादि नहीं है उसी प्रकार
ब्रह्म भी अनादि नहीं माना जा सकेगा । इसके अतिरिक्त जैसे सभी कार्य किसी
चेतन कर्ताके अधीन होते हैं उसी तरह ब्रह्ममें भी पराधीनताका दोष उपस्थित
होगा । इतना ही नहीं, शब्दादिके समान काम भी पदार्थ है अतः काम और
ब्रह्मकी एकता माननेपर ब्रह्ममें भी पदार्थताकी आपत्ति होने लगेगी; इसलिये यहाँ
बहुव्रीहिसमास ही ठीक है

देवस्य । तस्माद्यथेह सर्वकाम
इति बहुव्रीहिस्तथा कामोऽस्मीति
स्मृत्यर्थो वाच्यः ।

सर्वगन्धः, सर्वे गन्धाः सुख-
करा अस्य सोऽयं सर्वगन्धः ।
“पुण्योगन्धः पृथिव्याम्” (गीता
७।६) इति स्मृतेः । तथा
रसा अपि विज्ञेया अपुण्यगन्ध-
रसग्रहणस्य पाप्ममम्यन्धनिमि-
त्तत्वश्रवणात् । “तस्मात्तेनोभयं
जिघ्रति सुरभि च दुर्गन्धि च ।
पाप्मना ह्येष विद्धः” (छा० उ०
१।२।२) इति श्रुतेः । न च
पाप्मसंसर्ग ईश्वरस्य; अविद्यादि-
दोषस्यानुपपत्तेः ।

सर्वमिदं जगदभ्यात्तोऽभि-
व्याप्तः । अततेव्यप्यत्यर्थस्य
कर्तरि निष्ठा । तथावाकी, उच्यते-

परार्थताका प्रसङ्ग उपस्थित होगा ।
अतः जिस प्रकार यहाँ ‘सर्वकामः’
पदमे बहुव्रीहिसमाप्त किया गया है
उसी प्रकार ‘कामोऽस्मि’ इस
स्मृतिका अर्थ करना चाहिये ।*

सर्वगन्ध—समस्त सुखकर गन्ध
उसीके हैं इसलिये वह ‘सर्वगन्ध’
है; जैसा कि “पृथिवीमे में पुण्यगन्ध
है” इस स्मृतिसे सिद्ध होता है ।
इसी प्रकार पुण्यरस भी उसीके
सम्पन्ने चाहिये । क्योंकि श्रुतिने
अपुण्यगन्ध और रसका ग्रहण तौ
पापसम्बन्धके निमित्तसे बतलाया है;
जैसा कि “इसीसे उस (घ्राणेन्द्रिय)
के द्वारा सुगन्ध और दुर्गन्ध दोनों;
को ही सूँघता है, क्योंकि यह पापसे
विद्ध है” इस श्रुतिद्वारा प्रमाणित
होता है । किंतु ईश्वरका पापसे
ससर्ग नहीं है, क्योंकि उसमे
अविद्यादि दोष होने सम्भव
नहीं हैं ।

इस सम्पूर्ण जगत्को वह सब और
व्याप्त किये हुए है । व्याप्ति अर्थवाले
‘अत्’ घातसे कर्ता अर्थमें निष्ठा (क्त)
प्रत्यय होनेसे ‘आत्त-’ पद सिद्ध होना
है । इसी प्रकार वह अवाकी भी है,
जिसके द्वारा बोला जाता है उसे ‘वाक्’

* तात्पर्य यह कि उक्त गीताके ‘कामोऽस्मि’ इन पदाका ‘काम हूँ’ ऐसा
अर्थ न करके ‘कामवाला हूँ’ यह अर्थ समझना चाहिये ।

अयेति वाक्, वागेव वाक्ः । यद्वा
वचेर्वागन्तस्य करणे वाक्ः । स
यस्य विद्यते स वाकी न वाकी
अवाकीः । वाक्यप्रतिषेधश्चात्रोप-
लक्षणाार्थः । गन्धरसादिश्रवणादी-
श्वरस्य प्राप्तानि घ्राणादीनि कर-
णानि गन्धादिग्रहणाय ।* अतो
वाक्प्रतिषेधेन प्रतिषिध्यन्ते
तानि । “अपाणिपादो जवनो
ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणो-
त्यकर्णः” (श्वे० उ० ३ । १६)
इत्यादिमन्त्रवर्णात् ।

अनादरोऽसंभ्रमः । अप्राप्त-
प्राप्तौ हि संभ्रमः स्यादनाप्तका-
मस्य । न त्वाप्तकामत्वाच्चित्य-
तृप्तस्येश्वरस्य संभ्रमोऽस्ति क्वचित्
॥ २ ॥

कहते हैं, ‘वाक्’ ही ‘वाक्’ है ।
अथवा ‘वच्’ धातुसे करणार्थमें ‘घञ्’
प्रत्यय करनेसे ‘वाक्’ शब्द निष्पन्न
होता है । वह (वाक्) जिसमें
हो उसे ‘वाकी’ कहते हैं, जो वाकी
न हो वही ‘अवाकी’ कहलाता है ।
यहाँ जो वाक्का प्रतिषेध किया
गया है वह अन्य इन्द्रियोंका भी
उपलक्षण करनेके लिये है । श्रुतिमें
गन्ध और रसादिका प्रसंग होनेसे
उन गन्धादिका ग्रहण करनेके लिये
ईश्वरके घ्राणादि इन्द्रियाँ होनी सिद्ध
होती हैं; अतः वाक्के प्रतिषेधद्वारा
उन सबका भी प्रतिषेध किया गया
है; जैसा कि “बिना हाथ-पावका ही
वह वेगवान् और ग्रहण करनेवाला
है तथा बिना नेत्रका होकर भी
देखता और बिना कर्णका होकर
भी सुनता है” इत्यादि मन्त्रवर्णसे
सिद्ध होता है ।

अनादर अर्थात् असम्भ्रम
(आग्रहरहित) है । जो आप्तकाम
नहीं है उसे ही अप्राप्त वस्तुकी
प्राप्तिके लिये आग्रह हो सकता है ।
आप्तकाम होनेके कारण नित्यतृप्त
ईश्वरको कहीं भी सम्भ्रम नहीं है ॥ २ ॥

ब्रह्म छोटेसे छोटा और बड़ेसे बड़ा है

एष म आत्मान्तर्हृदयेऽणीयान्वीहेर्वा यवाद्वा
सर्पपाद्वा श्यामाकाद्वा श्यामाकतण्डुलाद्वैष म
आत्मान्तर्हृदये ज्यायान्पृथिव्या ज्यायानन्तरिक्षाज्या-
यान्दिवो ज्यायानेभ्यो लोकेभ्यः ॥ ३ ॥

हृदयकमलके भीतर यह मेरा आत्मा घानसे, यवसे, सरसोंसे, श्यामाकसे अथवा श्यामाकतण्डुलसे भी सूक्ष्म है तथा हृदयकमलके भीतर यह मेरा आत्मा पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्युलोक अथवा इन सब लोकोकों अपेक्षा भी बड़ा है ॥ ३ ॥

एष योक्तगुणो मे ममात्मान्त-
र्हृदये हृदयपुण्डरीकस्थान्तर्मन्वे-
ऽणीयानणुवरो वीहेर्वा यवादे-
त्याद्यत्यन्तसूक्ष्मत्वप्रदर्शनार्थम् ।
श्यामाकाद्वा श्यामाकतण्डुलाद्वेति
परिच्छिन्नपरिमाणादणीयानित्यु-
क्तेऽणुपरिमाणत्वं प्राप्तमाशङ्क्य
अतस्तत्प्रतिषेधायारभते—एष म
आत्मान्तर्हृदये ज्यायान्पृथिव्या
इत्यादिना । ज्यायःपरिमाणाच्च
ज्यायस्त्वं दर्शयन्ननन्तपरिमा-

यह पयुक्त गुणविशिष्ट मेरा
आत्मा अन्तर्हृदय—हृदयकमलके
अन्त—भीतर ग्रीहि (घान) से,
यववा यवादिके भी अणीयानु—सूक्ष्म-
तर है, यह कथन आत्माकी अत्यन्त
सूक्ष्मता प्रदर्शित करनेके लिये है ।
वह श्यामाक और श्यामाकतण्डुलसे
भी सूक्ष्म है—इस प्रकार परिच्छिन्न
परिमाणसे सूक्ष्म बतलानेपर उसका
अणुपरिमाणत्व प्राप्त होता है—ऐसी
आशङ्का कर अब उसका प्रतिषेध
करनेके लिये 'एष म आत्मा ज्याया-
न्पृथिव्या' इत्यादि वाक्यमे श्रुति
आरम्भ करती है । इस प्रकार
स्थूलतर पदार्थोंकी अपेक्षा भी उसकी
महत्ता प्रदर्शित कर श्रुति 'मनोमयः'

णत्वं दर्शयति मनोमय इत्यादि-
ना ज्यायानेभ्यो लोकेभ्य इत्य-
न्तेन ॥ ३ ॥

यहाँसे लेकर 'ज्यायानेभ्यो लोकेभ्यः'
यहाँतकके ग्रन्थद्वारा उसका अनन्त-
परिमाणत्व प्रदर्शित करती है ॥३॥

हृदयस्थित ब्रह्म और परब्रह्मकी एकता

सर्वकर्मा सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः सर्वमिद-
मभ्यात्तोऽवाक्यनादर एष म आत्मान्तर्हृदय एतद्ब्रह्म-
तमितः प्रेत्याभिसंभवितास्मीति यस्य स्यादद्धा न विचि-
कित्सास्तीति ह स्माह शाण्डिल्यः शाण्डिल्यः ॥ ४ ॥

जो सर्वकर्मा, सर्वकाम, सर्वगन्ध, सर्वरस, इस सबको सब ओरसे
व्याप्त करनेवाला, वाक्कूहित और सम्भ्रममूल्य है वह मेरा आत्मा
हृदयकमलके मध्यमें स्थित है। यही ब्रह्म है, इस शरीरसे मरकर जानेपर
मैं इसीको प्राप्त होऊँगा। ऐसा जिसका निश्चय है और जिसे इस विषयमें
कोई संदेह भी नहीं है [उसे ईश्वरभावकी ही प्राप्ति होती है] ऐसा
शाण्डिल्यने कहा है, शाण्डिल्यने कहा है ॥ ४ ॥

यथोक्तगुणलक्षण ईश्वरो

अत्रोपास्यत्वेन ध्येयो न तु तद्गुण-

सगुणब्रह्मोवाभि- विशिष्ट एव। यथा
प्रेतं न निर्गुण-

मिति स्थापनम् राजपुरुषमानय

चित्रगुं वेत्युक्ते न विशेषणस्याप्या-

नयने व्याप्रियते तद्वदिहापि

प्राप्तमतस्तन्निवृत्त्यर्थं सर्वकर्मैत्यादि

पूर्वोक्त गुणोंसे लक्षित होनेवाले
ईश्वरका ही ध्यान करना चाहिये,
उन गुणोंसे युक्तका नहीं; जिस प्रकार
'राजपुरुषको अथवा चित्रगुको लाओ'
ऐसा कहे जानेपर उनके विशेषण
(राजा अथवा चित्र-विचित्र गाय)
को लानेकी चेष्टा नहीं की जाती
उसी प्रकार यहाँ भी निर्गुण ब्रह्म ही
[उपास्यरूपसे] प्राप्त होता था;
अतः उसकी निवृत्तिके लिये 'सर्व-

पुनर्वचनम् । तस्मान्मनो-
मयत्वादिगुणविशिष्ट एवेश्वरो
ध्येयः ।

अत एव पष्ठसप्तमयोरिव
“तत्त्वमसि” (छा० उ० ६ । ८।
१६) “आत्मैवेदं सर्वम्” (छा०
उ० ७ । २५ । २) इति नेह स्वा-
राज्येऽभिपिञ्चति, एष म आत्मै-
तद्ब्रह्मैतमितः प्रेत्याभिसंभविता-
स्मीति लिङ्गात्; न त्वात्मशब्देन
प्रत्यगात्मैवोच्यते, ममेति पठ्याः
संबन्धार्थप्रत्यायकत्वात्, एतम्
अभिसंभवितास्मीति च कर्मकर्तृ-
त्वनिर्देशात् ।

ननु पष्ठेऽप्यथ संपत्स्य इति

पूर्वपक्षिण सत्संपत्तेः काला-
प्राक्षेपः न्तरितत्वं दर्शयति ।

कर्मा’ इत्यादि विशेषणोको पुनः
कहा गया है । इसलिये मनोमयत्वादि
गुणोंसे युक्त ईश्वरका ही ध्यान
करना चाहिये ।

इसी छठे और सातवें अध्यायोंमें
श्रुतिने जिस प्रकार “तत्त्वमसि”
[तू वह है] और “आत्मैवेद सर्वम्”
[यह सब आत्मा ही है] इन
वाक्योंद्वारा साधकको स्वाराज्यपर
अभिपिक्त किया है उस प्रकार
वह यहाँ नहीं करती, ‘यह
मेरा आत्मा है’ ‘यह ब्रह्म है’ ‘मैं
यहाँसे मरकर जानेपर इसे प्राप्त
होऊँगा’ इत्यादि वाक्य इस
विषयमें लिङ्ग हैं । यहाँ ‘आत्मा’
शब्दसे प्रत्यगात्माका ही निरूपण
नहीं किया जाता, क्योंकि ‘मम’
यह पष्ठी उसके सम्बन्धार्थकी प्रतीति
करानेवाली है । तथा ‘मैं इसे प्राप्त
होऊँगा’ इन शब्दोंद्वारा ब्रह्म और
आत्माके कर्मत्व और कर्तृत्वका
निर्देश किया गया है ।

पूर्व०—किंतु छठे अध्यायमें भी
‘अथ संपत्स्ये’ [देहत्यागके अनन्तर
सत्स्वरूप हो जाऊँगा] इस वचनसे
श्रुतिने सत्स्वरूप होनेमें कालका
व्यवधान तो दिखाया ही है ।

न, आरब्धसंस्कारक्षेपस्थित्य-

उत्ताक्षेप- र्थपरत्वात्, न

निरासः कालान्तरितार्थता;

अन्यथा तत्त्वमसीत्येतस्वार्थस्य

बाधप्रसङ्गात् । बध्नात्मशब्दस्य

प्रत्वगर्थत्वं सर्वं सत्त्विदं

ब्रह्मेति च प्रकृतम्, एष म आत्मा-

न्तर्हृदय एतद्ब्रह्मेत्युच्यते; तथा-

प्यन्तर्धानमीषदपरित्यज्यैवैतमा-

त्मानमितोऽस्माच्छरीरात्प्रेत्याभि-

संभवितास्मीत्युक्तम् ।

यथाक्रतुरूपस्यात्मनः प्रति-

पत्तास्मीति यस्यैवंविदः स्याद्भवे-

दद्धा सत्यमेवं स्यामहं प्रेत्यैवं न

सिद्धान्ती—ऐसी बात नहीं है, क्योंकि यह वचन आरब्धकर्म-जनित संस्कारोंकी समाप्तिपर्यन्त ही जीवकी स्थिति बतलानेके लिये है, इसका तात्पर्य कालका व्यवधान प्रदर्शित करनेमें नहीं है; नहीं तो 'तू वह है' इस वाक्यके अर्थके बाध होनेका प्रसङ्ग उपस्थित होगा*। यद्यपि यहां 'आत्मा' शब्द प्रत्य-गात्माका बोधक है, और 'यह सब निश्चय ब्रह्म ही है' इस वाक्यसे ब्रह्मका भी प्रकरणा है तथा 'यह मेरा आत्मा हृदयके भीतर है—यह ब्रह्म है' ऐसा भी कहा गया है; तथापि 'थोड़ा-सा भी व्यवधान न छोड़कर मैं मरनेपर इस शरीरसे जाकर इसे प्राप्त होऊंगा'—ऐसा साधकका निश्चय बताया गया है ।

इस प्रकार जाननेवाले जिस विद्वान्को 'मैं अपने निश्चयके अनुरूप सगुण परमात्माको प्राप्त होने-वाला हूँ, मैं अवश्य वैसा ही हो

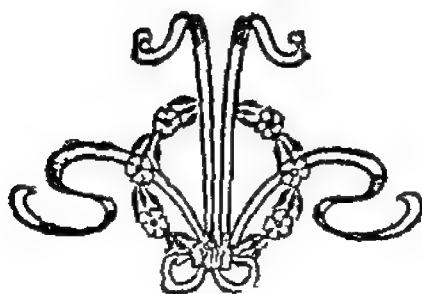
* इसमें ब्रह्म और आत्माके अभेदका वर्तमानकालिक क्रियापदसे प्रतिपादन किया गया है; अतः कालभेद स्वीकार करनेसे इसके अभिप्रायसे विरोध उपस्थित होगा ।

स्यामिति न च विचिकित्सास्ति,
इत्येतस्मिन्नर्थे क्रतुफलसंबन्धे; स
तथैवेश्वरभावं प्रतिपद्यते विद्वानि-
त्येतदाह स्मोक्तवान्किल शाण्डि-
ल्यो नामर्षिः । द्विरभ्यास
आदरार्थः ॥ ४ ॥

जाऊँगा' ऐसा निश्चय है; और जिसे
'मैं ऐसा नहीं होऊँगा' ऐसी अपने
निश्चयके फलके सम्बन्धमें शङ्का नहीं
है, वह विद्वान् उसी प्रकार ईश्वर-
भावको प्राप्त हो जाता है—ऐसा
शाण्डिल्य नामक ऋषिने कहा है ।
'शाण्डिल्यः शाण्डिल्य' यह द्विवक्ति
आदरके लिये है ॥ ४ ॥

—: * :—

इति श्रद्धावद्विषयोपनिषदि तृतीयाध्याये
चतुर्दशखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥ १४ ॥



पञ्चदश खण्ड

—: ० :—

विराट्कोशोपासना

<p>‘अस्य कुले वीरो जायते’ इत्युक्तम् । न वीरजन्मसात्रं पितुश्चाणाय; “तस्मात्पुत्रमनुशिष्टं लोक्यमाहुः” इति श्रुत्यन्तरात् । अतस्तदीर्घायुष्टुं कथं स्यादित्येव- मर्थं कोशविज्ञानारम्भः । अभ्य- हितविज्ञानव्यासङ्गादनन्तरमेव नोक्तं तदिदानीमेवारम्भ्यते—</p>	<p>‘इसके कुलमें वीर पुत्र होता है’—ऐसा (३।१३।६ में) कहा गया है । किंतु वीर पुत्रका जन्ममात्र ही पिताकी रक्षाका कारण नहीं हो सकता; जैसा कि “अतः अनुशासित पुत्रको [ब्राह्मणलोक] लोक्य [पुण्यलोक प्राप्त कराने- वाला] कहते हैं” इस अन्य श्रुतिसे सिद्ध होता है । अतः उसे दीर्घायुष्टु- की प्राप्ति कैसे हो सकती है—इसीके लिये कोशविज्ञानका आरम्भ किया जाता है । अभ्यहित* उपासनाके प्रतिपादनमें संलग्न रहनेके कारण ‘वीरो जायते’ इस श्रुतिके अनन्तर ही इसका वर्णन नहीं किया, इसलिये अब आरम्भ किया जाता है—</p>
---	---

* गायत्रीरूप उपाधिसे युक्त ब्रह्मको उपासनाको कौक्षेय ज्योतिर्में आरोपित करके परब्रह्मकी उपासना करना अभ्यहित है और उसकी मनोमय-त्वादिगुणविशिष्ट ब्रह्मोपासना अन्तरङ्ग है ।

अन्तरिक्षोदरः कोशो भूमिबुध्नो न जीर्यति दिशो
ह्यस्य स्रक्तयो धौरस्योत्तरं विलस एष कोशो वसुधा-
नस्तस्मिन्विश्वमिदं श्रितम् ॥ १ ॥

अन्तरिक्ष जिसका उदर है वह कोश पृथिवीरूप मूलवाला है । वह जीर्ण नहीं होता । दिशाएँ इसके कोण हैं, आकाश ऊपरका छिद्र है वह यह कोश वसुधान है । उसीमे यह सारा विश्व स्थित है ॥ १ ॥

अन्तरिक्षमुदरमन्तः सुषिं य-
स्य सोऽयमन्तरिक्षोदरः, कोशः
कोश इवानेकधर्मसादृश्यात्कोशः
स च भूमिबुध्नः, भूमिबुध्नो मूलं
यस्य स भूमिबुध्नः न जीर्यति न
विनश्यति, त्रैलोक्यात्मकत्वात् ।
सहस्रयुगकालावस्थायी हि सः ।

दिशो ह्यस्य सर्वाः स्रक्तयः
कोणाः । धौरस्य कोशस्योत्तर-
मूर्ध्वं विलम्, स एष यथोक्तगुणः
कोशो वसुधानः, वसु धीयते-
जस्मिन्प्राणिनां कर्मफलाख्यमतो
वसुधानः । तस्मिन्नन्तविश्वं
समस्तं प्राणिकर्मफलं सह

अन्तरिक्ष है उदर—अन्त छिद्र
जिसका वह यह अन्तरिक्षोदर कोश
जो अनेक धर्मोंमे सादृश्य रखनेके
कारण कोशके समान कोश है, वह
भूमिबुध्न—भूमि है बुध्न—मूल जिसका
ऐसा भूमिबुध्न (पृथ्वीमूलक) है, वह
त्रैलोक्यरूप होनेके कारण जीर्ण नहीं
होता अर्थात् नाशको प्राप्त नहीं
होता । क्योंकि वह तो सहस्र-
युगकालपर्यन्त रहनेवाला है ।

समस्त दिशाएँ ही इसकी स्रक्तियाँ
अर्थात् कोण हैं । सुलोक इस कोशका
ऊपरी छिद्र है । वह यह पूर्वोक्त गुणो-
वाना कोश वसुधान है, इसमे प्राणि-
योके कर्मफलमज्ञक वसुका आधान
किया जाता है, इसलिये यह कोश
वसुधान है । तात्पर्य यह है कि
उस कोशके भीतर ही प्राणियोका
सम्पूर्ण कर्मफल जिसका कि

तत्साधनैरिदं यद्वृक्षते प्रत्यक्षादि
प्रमाद्यैः श्रितमाश्रितं स्थितमि-
त्यर्थः ॥ १ ॥

प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे ग्रहण किया जाता है, अपने साधनोंके सहित श्रित—आश्रित अर्थात् स्थित है ॥ १ ॥

तस्य प्राची दिग्जुहूर्नाम सहमाना नाम दक्षिणा
राज्ञीनाम प्रतीची सुभूता नामोदीची तासां वायुर्वत्सः
स य एतमेवं वायुं दिशां वत्सं वेद न पुत्ररोदं रोदिति
सोऽहमेतमेवं वायुं दिशां वत्सं वेद न पुत्ररोदं रुदम् ॥ २ ॥

उस कोशकी पूर्व दिशा 'जुहू' नामवाली है, दक्षिण दिशा 'सहमाना' नामकी है, पश्चिम दिशा 'राज्ञी' नामवाली है तथा उत्तरदिशा 'सुभूता' नामकी है। उन दिशाओंका वायु वत्स है। वह, जो इस प्रकार इस वायुको दिशाओंके वत्सरूपसे जानता है पुत्रके निमित्तसे रोदन नहीं करता। वह मैं इस प्रकार इस वायुको दिशाओंके वत्सरूपसे जानता हूँ; अतः मैं पुत्रके कारण न रोऊँ ॥ २ ॥

तस्यास्य प्राची दिक्प्राग्गतो
भागो जुहूर्नाम जुह्वत्यस्यां
दिशि कर्मिणः प्राङ्मुखाः सन्त
इति जुहूर्नाम । सहमाना नाम
सहन्तेऽस्यां पापकर्मफलानि
यमयुष्यां प्राणिन इति सहमाना
नाम दक्षिणा दिक् । तथा
राज्ञी नाम प्रतीची पश्चिमादिक्,

उस इसकोशकी प्राची दिशा—
पूर्वकी ओरका भाग, 'जुहू' नाम-
वाला है। कर्मठ लोग इस
दिशामें पूर्वाभिमुख होकर हवन
करते हैं इसलिये यह 'जुहू' नाम-
वाली है। दक्षिण दिशा 'सहमाना'
नामकी है, क्योंकि इसी दिशामें जीव
यमपुरीमें अपने पापकर्मोंके फलरूप
दुःखको सहन करते हैं, इसलिये
दक्षिण दिशा 'सहमाना' नामवाली
है। तथा प्रतीची यानी पश्चिम दिशा
'राज्ञी' नामकी है; वरुण राजासे

राज्ञी राज्ञा वरुणेनाविष्ठिता
संध्यारागयोगाद्वा। सुभूता नाम
भूतिमद्भिरीश्वरकुबेरादिमिरविष्ठि-
तत्वात्सुभूता नामोदीची ।

अविष्ठित होनेके कारण अथवा
सायंकालिक राग (लालिमा) के
योगसे पश्चिम दिशा 'राज्ञी' है ।
उत्तर दिशा 'सुभूता' नामवाली है ।
ईश्वर, कुबेर आदि भूतिसम्पन्न देव-
ताओंसे अविष्ठित होनेके कारण
उत्तर दिशा 'सुभूता' नामवाली है ।

तासां दिशां वायुर्वत्सो दि-
ग्जत्वाद्वायोः; पुरोवात इत्यादि-
दर्शनात् । यः कश्चित्पुत्रदीर्घ-
जीविताथ्येवं यथोक्तगुणं वायुं
दिशां वत्सममृतं वेद, स न
पुत्ररोदं पुत्रनिमित्तं रोदनं न
रोदिति पुत्रो न म्रियत इत्यर्थः ।
यत एवं विशिष्टं कोशदिग्बत्स-
विषयं विज्ञानमतः सोऽहं पुत्र-
जीविताथ्येवमेतं वायुं दिशां
वत्सं वेद जाने । अतो मा पुत्र-
रोदं मा रुदं पुत्रमरणनिमित्तम् ।
पुत्ररोदो मम मामदित्यर्थः ॥२॥

उन दिशाओंका वायु वत्स है,
क्योंकि वायु दिशाओंसे ही उत्पन्न
होनेवाला है । जैसा कि पूर्वीय वायु
आदि प्रयोगोंसे देखा जाता है । वह
कोई भी पुरुष, जो कि पुत्रके दीर्घ-
जीवनकी कामनावाला है, यदि इस
प्रकार पूर्वोक्त गुणवाले दिशाओंके
वत्स अमृतरूप वायुको जानता है
वह पुत्ररोद—पुत्रनिमित्तक रोदन
नहीं करता । अर्थात् उसका पुत्र
नहीं मरता, क्योंकि कोश और
दिशाओंके वत्ससे सम्बन्ध रखने-
वाला विज्ञान ऐसे गुणवाला है अतः
अपने पुत्रके जीवनकी कामनावाला
मैं दिशाओंके वत्सरूप इस वायुको
इस प्रकार जानता हूँ; इसलिये
पुत्ररोद—पुत्रके मरणसे होनेवाला
रोदन न करूँ । अर्थात् मुझे पुत्रके
लिये रोनेका प्रसङ्ग प्राप्त न
हो ॥ २ ॥

अरिष्टं कोशं प्रपद्ये ऽमुनामुनामुना प्राणं प्रप-
द्ये ऽमुनामुनामुना भूः प्रपद्ये ऽमुनामुनामुना भुवः प्रप-
द्ये ऽमुनामुनामुना स्वः प्रपद्ये ऽमुनामुनामुना ॥ ३ ॥

मैं अमुक अमुक अमुकके सहित अविनाशी कोशकी शरण हूँ;
अमुक अमुक अमुकके सहित प्राणकी शरण हूँ; अमुक अमुक अमुकके
सहित भूःकी शरण हूँ; अमुक-अमुक अमुकके सहित भुवःकी शरण हूँ;
अमुक अमुक अमुकके सहित स्वःकी शरण हूँ* ॥ ३ ॥

अरिष्टमविनाशिनं कोशं य-
थोक्तं प्रपद्ये प्रपन्नोऽस्मि पुत्रा-
युषे । अमुनामुनामुनेति त्रिर्नाम
शृणाति पुत्रस्य । तथा प्राणं
प्रपद्येऽमुनामुनामुना, भूःप्रपद्येऽमु-
नामुनामुना, भुवःप्रपद्येऽमुना-
मुनामुना, स्वः प्रपद्येऽमुनामुना-
मुना, सर्वत्र प्रपद्य इति त्रिर्नाम
शृणाति पुनः पुनः ॥ ३ ॥

पुत्रको दोर्घायुके लिये मैं पूर्वोक्त
अरिष्ट—अविनाशी कोशकी शरण
हूँ । 'अमुना अमुना अमुना' इसका
यह तात्पर्य है कि तीन-तीन बार
अपने पुत्रका नाम लेता है । तथा
अमुक अमुक अमुकके सहित प्राण-
की शरण हूँ; अमुक अमुक अमुकके
सहित भूःकी शरण हूँ; अमुक अमुक
अमुकके सहित भुवःकी शरण हूँ
और अमुक अमुक अमुकके सहित
स्वःकी शरण हूँ । सर्वत्र 'अमुक
अमुक अमुकके सहित शरण हूँ'
ऐसा कहकर बारम्बार तीन-तीन
बार पुत्रका नाम लेता है । ॥ ३ ॥



त यद्वोचं प्राणं प्रपद्ये इति प्राणो वा इदं सर्वं
भूतं यदिदं किञ्च तमेव तत्प्रापत्सि ॥ ४ ॥ अथ यद्वोचं

* इसमें जहाँ-जहाँ 'अमुक' शब्द आया है वहाँ अपने पुत्रके नामका
उच्चारण करना चाहिये ।

भूः प्रपथ इति पृथिवीं प्रपथे अन्तरिक्षं प्रपथे दिवं प्रपथे
इत्येव तदवोचम् ॥ ५ ॥ अथ यदवोचं भुवः प्रपथ
इत्यग्निं प्रपथे वायुं प्रपथ आदित्यं प्रपथ इत्येव तद-
वोचम् ॥ ६ ॥ अथ यदवोचं स्वः प्रपथ इत्यश्वेदं
प्रपथे यजुर्वेदं प्रपथे सामवेदं प्रपथ इत्येव तदवोचं
तदवोचम् ॥ ७ ॥

उस मैंने जो कहा कि 'मैं प्राणकी शरण हूँ' सो यह जो
कुछ सम्पूर्ण भूतसमुदाय है प्राण ही है, उसीकी मैं शरण हूँ ॥ ४ ॥
तथा मैंने जो कहा कि 'मैं भूकी शरण हूँ' इससे मैंने यही
कहा है कि 'मैं पृथिवीकी शरण हूँ, अन्तरिक्षकी शरण हूँ और द्युलोक-
की शरण हूँ' ॥ ५ ॥ फिर मैंने जो कहा कि 'मैं भुवकी शरण हूँ'
इससे यह कहा गया है कि 'मैं अग्निकी शरण हूँ, वायुकी शरण हूँ और
आदित्यकी शरण हूँ' ॥ ६ ॥ तथा मैंने जो कहा कि 'मैं स्वकी शरण हूँ'
इससे 'मैं अश्वेदकी शरण हूँ, यजुर्वेदकी शरण हूँ और सामवेदकी
शरण हूँ' यही मैंने कहा है, यही मैंने कहा है ॥ ७ ॥

स यदवोचं प्राणं प्रपथ इति
व्याख्यानार्थमुपन्यासः । प्राणो
वा इदं सर्वं भूतं यदिदं जगत् ।
'यथा वारा नामौ' (छा० उ०
७ । १५ । १) इति वक्ष्यति ।
अतस्तमेव सर्वं तत्तेन प्राणप्रति-
पादनेन प्रापत्तिं प्रपन्नोऽभूवम् ।
तथा भूः प्रपथ इति त्रैलोक्यान्

'उस मैंने जो कहा कि मैं प्राणकी
शरण हूँ' इसीकी व्याख्या करनेके
लिये विस्तार किया जाता है । यह
जितना भी जगत् है सब प्राण ही
है, 'जैसे कि नामिमे अरे लगे रहते
हैं [उस प्रकार प्राणमे सम्पूर्ण भूत
समर्पित हैं]' ऐसा आगे कहेंगे भी ।
अतः उस प्राणकी प्रतिपत्तिके द्वारा
मैं उससर्वभूत [त्रिराट्] का हो गय
हूँ । मैंने जो यह कहा कि 'मैं भूः-

भूरादीन्प्रपद्य इति तदवोचम् ।
 अथ यदवोचं भुवः प्रपद्य इत्य-
 ग्न्यादीन्प्रपद्य इति तदवोचम् ।
 अथ यदवोचं स्वः प्रपद्य इत्य-
 ग्वेदादीन्प्रपद्य इत्येव तदवोच-
 मिति । उपरिष्टान्मन्त्राञ्जपेत्ततः
 पूर्वोक्तमजरं कोशं सदिग्वत्सं
 यथावच्छयात्वा । द्विर्वचनमादरा-
 र्थम् ॥ ४-७ ॥

की शरण हैं' उससे यही कहा गया कि मैं पृथिवी आदि तीन लोकोंकी शरण हूँ । तथा मैंने जो कहा कि 'मैं भुवःकी शरण हूँ' उससे यही कहा गया है कि मैं अग्नि आदिकी शरण हूँ । और ऐसा जो कहा है कि 'मैं स्वःकी शरण हूँ' इससे यही कहा गया है कि मैं ऋग्वेदादिकी शरण हूँ । तत्पश्चात् उपर्युक्त अजर कोशका दिशाओंके वत्सके सहित विधिपूर्वक ध्यान कर ऊपरके मन्त्रोंको जपे । 'तदवोचं तदवोचम्' यह द्विरुक्ति आदरके लिये है ॥ ४-७ ॥

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि तृतीयाध्याये
 पञ्चदशखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥ १५ ॥



षोडश खण्ड

— * :—

आत्मयज्ञोपासना

पुत्रायुष उपासनमुक्तं जपश्च ।
अधेदानीमात्मनो दीर्घजीवना-
येदमुपासनं जपं च विदधदाह ।
जीवन्हि स्वयं पुत्रादिफलेन
युज्यते, नान्यथा । इत्यत आ-
त्मानं यज्ञं संपादयति पुरुषः—

पुत्रकी आयुके लिये उपासना
और जप कहे गये । अब अपनी
दीर्घायुके लिये इस जप और
उपासनाका विधान करता हुआ
वेद कहता है । पुरुष स्वयं जीवित
रहनेपर ही पुत्रादि फलसे युक्त
होता है, और किसी प्रकार नहीं;
इससे वह अपनेको यज्ञरूपसे
निष्पन्न करता है—

पुरुषो वाव यज्ञस्तस्य यानि चतुर्विंशतिवर्षाणि
तत्प्रातःसवनं चतुर्विंशत्यक्षरा गायत्री गायत्रं प्रातः-
सवनं तदस्य वसवोज्ज्वायताः प्राणा वाव वसव एते
होदः सर्वं वासयन्ति ॥ १ ॥

निश्चय पुरुष ही यज्ञ है । उसके (उसकी आयुके) जो चौबीस
वर्ष हैं, वे प्रातः सवन हैं । गायत्री चौबीस अक्षरोवाली है, और प्रातः-
सवन गायत्री छन्दसे सम्बद्ध है । उस इस प्रातःसवनके वसुगण अनुपात
हैं । प्राण ही वसु हैं, क्योंकि ये ही इस सबको बसाये हुए हैं ॥ १ ॥

पुरुषो जीवनविशिष्टः कार्य-
करणसंघातो यथाप्रसिद्ध एव ।

वावशब्दोज्ज्वाधारणार्थः । पुरुष

जीवनसे युक्त देह और इन्द्रियोवह
संघात, जैसा कि प्रसिद्ध है, वही
'पुरुष' है । 'वाव' शब्द निश्चयार्थक
है । अतः तात्पर्य यह है कि पुरुष

एव यज्ञ इत्यर्थः । तथा हि सामान्यैः संपादयति यज्ञत्वम् । कथम् ? तस्य पुरुषस्य यानि चतुर्विंशतिवर्षाण्युपस्तत्प्रातः-सवनं पुरुषाख्यस्य यज्ञस्य ।

केन सामान्येन ? इत्याह—चतुर्विंशत्यक्षरा गायत्री छन्दो गायत्रं गायत्रीछन्दस्कं हि विधियज्ञस्य प्रातःसवनम् । अतः प्रातःसवनसंपन्नेन चतुर्विंशतिवर्षायुषा युक्तः पुरुषः अतो विधियज्ञसाद्व्याद्यज्ञः । तथोत्तरयोः स्यायुषोः सवनद्वयसंपत्तिस्त्रिष्टुब्जगत्यक्षरसंख्यासामान्यतो वाच्या । ॥

किं च तदस्य पुरुषयज्ञस्य प्रातःसवनं विधियज्ञस्येव वसवो देवा अन्वायत्ता अनुगताः, सवनदेवतात्वेन स्वामिन इत्यर्थः । पुरुषयज्ञेऽपि विधियज्ञ इवाग्न्यादयो वसवो देवाः प्राप्ता इत्यतो

ही यज्ञ हैं । अब श्रुति सदृशता दिखलाकर पुरुषकी यज्ञरूपता सिद्ध करती है । किस प्रकार ? (सो वतलाते हैं—) उस पुरुषकी आयुके, जो चौबीस वर्ष हैं, वे उस पुरुष-संज्ञक यज्ञके प्रातःसवन हैं ।

वे किस समताके कारण प्रातःसवन हैं ? सो वतलाते हैं—गायत्री छन्द चौबीस अक्षरोंवाला है और विधियज्ञका प्रातःसवन भी गायत्र-गायत्रीछन्दवाला है । अतः पुरुष प्रातःसवनरूपसे निष्पन्न हुई चौबीस वर्षकी आयुसे युक्त है । इसीसे विधियज्ञसे सदृशता होनेके कारण वह यज्ञ है । इसी प्रकार पीछेकी दोनों आयुओंसे त्रिष्टुप् और जगती छन्दके अक्षरोंकी संख्यामें समानता होनेके कारण उनके द्वारा अन्य दोनों सवनोंकी निष्पत्ति वतलानी चाहिये ।

तथा विधियज्ञके समान इस पुरुषयज्ञके प्रातःसवनके भी वसु देवता अनुगत हैं । तात्पर्य यह है कि सवनदेवतारूपसे वे उसके स्वामी हैं । [इस कथनसे] विधियज्ञके समान पुरुषयज्ञमें भी अग्नि आदि ही वसुदेवता निश्चित होते हैं; अतः

विशिनष्टि । प्राणा वायु वसवो
वागादयो वायवश्च; ते हि
यस्मादिदं पुरुषादिप्राणिजातमेते
वासयन्ति । प्राणेषु हि देहे
वसन्तु सर्वमिदं वसति, नान्यथा;
इत्यतो वसनाद्वासनाच्च वसवः॥१॥

श्रुति उनकी विशेषता (विभिन्नता)
बतलाती है । [पुरुषयजनं] वाक्
प्रादि इन्द्रियां और प्राण प्रादि
वायु ही वसु हैं, क्योंकि वे ही इस
पुरुष प्रादि प्राणिसमुदायको वासित
किये हुए हैं । देहमें प्राणोंके रहते
हुए ही यह सब वसा हुआ है, और
किसी प्रकार नहीं, अतः देहमें
वसने अथवा उसे बसानेके कारण
प्राण वसु हैं ॥ १ ॥



तं चेदेतस्मिन्वयसि किञ्चिदुपतपेत्स ब्रूयात्प्राणा
वसव इदं मे प्रातःसवनं माध्यन्दिनं सवनमनुसंतनु-
तेति माहं प्राणानां वसूनां मध्ये यज्ञो विलोप्सीयेत्यु-
द्धेव तत एत्यगदो ह भवति ॥ २ ॥

यदि इस प्रातःसवनसम्पन्न आयुमें उसे कोई रोग आदि कष्ट
पहुँचावे तो उसे इस प्रकार कहना चाहिये, 'हे प्राणरूप वसुगण ! मेरे इस
प्रातःसवनको माध्यन्दिनसवनके साथ एकरूप कर दो, यज्ञस्वरूप में आप
प्राणरूप वसुओंके मध्यमें विभुष (नष्ट) न होऊँ' तब उस कष्टसे मुक्त
होकर वह नीरोग हो जाता है ॥ २ ॥

तं चेद्यज्ञसंपादिनमेतस्मिन्प्रा-
तःसवनसंपन्ने वयसि किञ्चिद्व्या-
घ्यादि मरणशङ्काकारणमुपतपेद्
दुःखमुत्पादयेत्स तदा यज्ञसंपादी

उस यज्ञसम्पादकको यदि प्रातः-
सवनरूपसे निपट न हुई इस आयुमें
मरणकी शङ्काकी कारणभूत कोई
व्याधि आदि कष्ट पहुँचावे तो वह
यज्ञसम्पादन करनेवाला पुरुष

धुरुष आत्मानं यज्ञं मन्यमानो
ब्रूयाज्जपेदित्यर्थ इमं मन्त्रम्—

हे प्राणा वसव इदं मे प्रातः-
सवनं मम यज्ञस्य वर्तते तन्मा-
ध्यन्दिनं सवनमनुसंतनुतेति मा-
ध्यन्दिनेन सवनेनायुषा सहित-
मेकीभूतं संततं कुरुतेत्यर्थः ।
माहं यज्ञो युष्माकं प्राणानां
वसूनां प्रातःसवनेशानां मध्ये
विलोप्सीय विलुप्येय विच्छिद्ये-
येत्यर्थः । इतिशब्दो मन्त्रपरि-
समाप्त्यर्थः । स तेन जपेन ध्यानेन
च ततस्तस्मादुपतापादुदेत्युद्ग-
च्छति । उद्गम्य विमुक्तः सन्न-
गदो हानुपतापो भवत्येव ॥२॥

अपनेको यज्ञ मानते हुए कहे—
अर्थात् इस मन्त्रको जपे—

‘हे प्राणरूप वसुगण ! यह मेरे
यज्ञका प्रातःसवन विद्यमान है;
इसे माध्यन्दिनसवनरूपसे अनुसंतत
करो; अर्थात् इसे माध्यन्दिनसवनरूप
मेरी आयुके साथ एकीभूत कर दो ।
यज्ञस्वरूप मैं प्रातःसवनके अधिष्ठाता
आप प्राणरूप वसुओंके मध्यमें
विलुप्त अर्थात्—विच्छिन्न न होऊँ ।
मूलमें ‘इति’ शब्द मन्त्रकी समाप्ति-
के लिये है । उस जप और ध्यानके
द्वारा वह उस कष्टसे छूट जाता है
और उससे छूटकर अगद—संताप-
नून्य ही हो जाता है ॥ २ ॥



अथ यानि चतुश्चत्वारिंशद्वर्षाणि तन्माध्यन्दिनं-
सवनं चतुश्चत्वारिंशदक्षरा त्रिष्टुप्त्रैष्टुभं माध्य-
न्दिनं सवनं तदस्य रुद्रा अन्वायन्ताः प्राणा वाव
रुद्रा एते हीदं सर्वं रोदयन्ति ॥३॥ तं चेदेतस्मिन्वयसि
किञ्चिदुपतपेत्स ब्रूयात्प्राणा रुद्रा इदं मे माध्य-
न्दिनं सवनं तृतीयसवनमनुसंतनुतेति माहं
प्राणानां रुद्राणां मध्ये यज्ञो विलोप्सीयेत्युद्गैव तत
एत्यगदो ह भवति ॥ ४ ॥

इसके पश्चात् जो चौवालीस वर्ष हैं, वे माध्यन्दिनसवन हैं । त्रिष्टुप् छन्द चौवालीस अक्षरोंवाला है और माध्यन्दिनसवन त्रिष्टुप् छन्दसे सम्बद्ध है । उस माध्यन्दिनसवनके रुद्रगण अनुगत हैं । प्राण ही रुद्र हैं, क्योंकि ये ही इस सम्पूर्ण प्राणिममुदायको रुलाते हैं । यदि उस यज्ञकर्ताको इस आयुमें कोई [रोगादि] सतप्त करे तो उसे इस प्रकार कहना चाहिये, 'हे प्राणरूप रुद्रगण ! मेरे इस मध्याह्नकालिक सवनको तृतीय सवनके साथ एकीभूत कर दो । यज्ञस्वरूप मैं प्राणरूप रुद्रोंके मध्यमें कभी विच्छिन्न (नष्ट) न होऊँ ।' ऐसा कहनेसे वह उस कष्टसे छूट जाता है और नीरोग हो जाता है ॥ ३-४ ॥

अथ यानि चतुश्चत्वारिंशद्वर्षाणि चतुश्चत्वारिंशद्वर्षाणि	'अथ यानि चतुश्चत्वारिंशद्वर्षाणि' इत्यादि वाक्यका अर्थ पूर्ववत् है । रोते अथवा रुलाते हैं, इसलिये प्राण 'रुद्र' हैं । वे (प्राण) मध्यम आयुमें कूर होने ह, इसलिये रुद्र कहलाते हैं ॥ ३-४ ॥
प्राणीन्यादि समानम् । रुदन्ति	
रोदयन्तीति प्राणा रुद्राः कूरा	
हि ते मध्यमे वयस्यतो रुद्राः	
॥ ३-४ ॥	

—•••—

अथ यान्यष्टाचत्वारिंशद्वर्षाणि तत्तृतीयसवन-
 मष्टाचत्वारिंशदक्षरा जगती जागतं तृतीयसवनं
 तदस्यादित्या अन्वायताः प्राणा वावादित्या एते
 हीदं सर्वमाददते ॥ ५ ॥ तं चेदेतस्मिन्वयसि किञ्चि-
 दुपतपेत्स त्रयात् प्राणा आदित्या इदं मे तृतीयसवन-
 मायुरनुसंतनुतेति माहं प्राणानामादित्यानां मध्ये यज्ञो
 विलोप्सीयेत्युद्धैव तत एत्यगदो हैव भवति ॥ ६ ॥

इसके पश्चात् जो अठतालीस वर्ष हैं, वे तृतीय सवन हैं । जगती छन्द अठतालीस अक्षरोंवाला है तथा तृतीय सवन जगती छन्दसे सम्बन्ध

रखता है। इस सवनके आदित्यगण अनुगत हैं। प्राण ही आदित्य हैं, क्योंकि ये ही इस सम्पूर्ण शब्दादि विषयसमूहको ग्रहण करते हैं। उस उपासकको यदि इस आयुमें कोई [रोगादि] संतप्त करे तो उसे इस प्रकार कहना चाहिये, 'हे प्राणरूप आदित्यगण ! मेरे इस तृतीय सवनको आयुके साथ एकीभूत कर दो। यज्ञस्वरूप मैं प्राणरूप आदित्योंके मध्यमें विनष्ट न होऊँ।' ऐसा कहनेसे वह उस कष्टसे मुक्त होकर नीरोग हो जाता है ॥ ५-६ ॥

तथादित्याः प्राणाः । ते हीदं
शब्दादिजातमाददेतेऽत आदि-
त्याः । तृतीयसवनमायुः षोडशो-
त्तरवर्षशतं समापयतानुसंतनुत
यज्ञं समापयतेत्यर्थः । समान-
मन्यत् ॥ ५-६ ॥

इसी प्रकार प्राण ही आदित्य हैं। वे इस शब्दादि विषयसमूहका आदान (ग्रहण) करते हैं, इसलिये आदित्य हैं। [हे प्राणरूप आदित्यगण !] तृतीयसवनको आयुके अनुसंतत करो अर्थात् एक सौ सोलह वर्ष तक पूर्ण करो यानी इस यज्ञको समाप्त करो। शेष सब पूर्ववत् है ॥ ५-६ ॥

—***—

निश्चिता हि विद्या फलाये-
त्येतद्दर्शयन्नुदाहरति—

निश्चिता विद्या अवश्य फलवती होती है—इस बातको प्रदर्शित करती हुई श्रुति उदाहरण देती है—

एतद्ध स्म वै तद्विद्वानाह महिदास ऐतरेयः स
किं स एतदुपतपसि योऽहमनेन न प्रेष्यामीति स ह
षोडशं वर्षशतमजीवत्प्र ह षोडशं वर्षशतं जीवति य
एवं वेद ॥ ७ ॥

इस प्रसिद्ध विद्याको जाननेवाले ऐतरेय महिदासने कहा था—
[अरे रोग !] तू मुझे क्यों कष्ट देता है, जो मैं कि इस रोगद्वारा

मृत्युको प्राप्त नहीं हो सकता ।' वह एक सौ सोलह वर्ष जीवित रहा था, जो इस प्रकार जानता है वह एक सौ सोलह वर्ष जीवित रहता है ॥ ७ ॥

एतद्यज्ञदर्शनं ह स्म वै किल
तद्विद्वानाह महिदासो नामतः,
इतगया अपत्यमैतरेयः । कि
कस्मान्मे ममैतदुपतपनमुपतपसि
स त्वं हे रोम; योऽहं यज्ञोऽनेन
त्वत्कृतेनोपतापेन न प्रेक्ष्यामि न
मरिष्याम्यतो धृथा तव श्रम
इत्यर्थः । इत्येवमाह स्मेति पूर्वस्य
संबन्धः । स एवंनिश्चयः सन्
षोडशं वर्षशतमजीवत् । अन्यो-
ऽप्येवंनिश्चयः षोडशं वर्षशतं
प्रजीवति य एवं यथोक्तं यज्ञ-
संपादनं वेद जानाति, स
इत्यर्थः ॥ ७ ॥

इस प्रसिद्ध यज्ञदर्शनको जानने-
वाले महिदासनामक इतराके पुत्र
ऐतरेयने 'हे रोम ! तू मुझे यह
सताप क्यों देता है ? जो यज्ञरूप
में तेरे इन सतापसे मृत्युको
प्राप्त नहीं होऊँगा—नहीं मरूँगा;
तात्पर्य यह है कि इसलिये तेरा यह
श्रम ब्रूया ही है'—इस प्रकार
ब्रूया था—इसका पूर्वसे सम्बन्ध है ।
ऐसे निश्चयवाला होकर वह एक सौ
सोलह वर्ष जीवित रहा । ऐसे ही
निश्चयवाला दूसरा पुरुष भी, जो
इस प्रकार पूर्वोक्त यज्ञसंपादनको
जानता है, एक सौ सोलह वर्ष
जीवित रहता है ॥ ७ ॥

—: * :—

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि तृतीयाध्याये
षोडशखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥ १६ ॥



सप्तदश खण्ड

—:ॐ:—

अक्षयादि फल देनेवाली आत्मयज्ञोपासना

स यदशिशिषति यत्पिपासति यन्न रमते ता अस्य दीक्षाः ॥ १ ॥

वह [पुरुष] जो भोजन करनेकी इच्छा करता है, जो पीनेकी इच्छा करता है और जो रममाण (प्रसन्न) नहीं होता—वही इसकी दीक्षा है ॥ १ ॥

स यदशिशिषतीत्यादियज्ञ-
सामान्यनिर्देशः पुरुषस्य पूर्वैर्गैव
संबध्यते । यदशिशिषत्यशितु-
मिच्छति, तथा पिपासति पातु-
मिच्छति, यन्न रमत इष्टाद्य-
प्राप्तिनिमित्तम्, यदेवंजातीयकं
दुःखमनुभवति ता अस्य दीक्षाः,
दुःखसामान्याद्विधियज्ञस्येव । १ ।

‘वह जो भोजन करनेकी इच्छा करता है’ इत्यादि पुरुषका यज्ञसे सादृश्यनिरूपण पूर्वग्रन्थसे ही सम्बन्ध रखता है । जो ‘अशिशि-
षति’—खानेकी इच्छा करता है, तथा ‘पिपासति’ पीनेकी इच्छा करता है, तथा जो इष्ट पदार्थोंकी अप्राप्तिके कारण रममाण नहीं होता अर्थात् जो इस प्रकारके दुःखका अनुभव करता है, वह, दुःखमें सदृशता होनेके कारण विधियज्ञकी दीक्षाके समान, इसकी दीक्षा है ॥ १ ॥

—:***:—

अथ यदश्नाति यत्पिबति यद्रमते तदुपसदैरेति ॥ २ ॥

फिर वह जो खाता है, जो पीता है और जो रतिका अनुभव करता है—वह उपसदोंकी सदृशताको प्राप्त होता है ॥ २ ॥

अथ यदश्नाति यत्पिबति
यद्रमते रतिं चानुभवतीष्टादि-
संयोगात्तदुपसदः समानतामेति ।
उपसदां च पयोव्रतत्वनिमित्तं
सुखमस्ति । अल्पभोजनीयानि
चाहान्यासन्नातीति प्रश्नासोऽतो-
ऽश्नादीनामुपसदां च सामा-
न्यम् ॥ २ ॥

फिर वह जो भोजन करता है,
पीता है और इष्ट पदार्थोंदिके संयोग-
से रतिका अनुभव करता है—वह
सब उपसदोंकी समानताको प्राप्त
होता है । उपसदोंकी पयोव्रतत्व
(केवल दुग्धपान) सम्बन्धी सुख
प्राप्त होता है । जिन दिनोमें स्वल्प
आहार प्राप्त हो सकता है वे समीप
ही हैं—यह देखकर यज्ञकर्ताको
आश्वासन होता है । अतः भोजनादि-
की उपसदोंसे सदृशता है ॥ २ ॥

अथ यद्धसति यज्जक्षति यन्मैथुनं चरति
स्तुतशस्त्रैरेव तदेति ॥ ३ ॥

तथा वह जो हँसता है, जो भक्षण करता है और जो मैथुन करता
है—वे सब स्तुत शस्त्रोंकी ही समानताको प्राप्त होने हैं ॥ ३ ॥

अथ यद्धसति यज्जक्षति भक्ष-
यति यन्मैथुनं चरति स्तुतशस्त्रै-
रेव तत्समानतामेति; शब्द-
वत्त्वसामान्यात् ॥ ३ ॥

तथा वह जो हँसता है, जो
भक्षण करता है और जो मैथुन करता
है वह स्तुतशस्त्रोंकी समानताको प्राप्त
होता है, क्योंकि शब्दयुक्त होनेमें
उनमें समानता है ॥ ३ ॥

अथ यत्तपो दानमार्जवमहिंसा सत्यवचनमिति
ता अस्य दक्षिणाः ॥ ४ ॥

तथा जो तप, दान, आर्जव (सरलता), अहिंसा और सत्यवचन हैं,
वे ही इसकी दक्षिणा हैं ॥ ४ ॥

अथ यत्तपो दानमार्जवमहिंसा
सत्यवचनमिति ता अस्य
दक्षिणाः; धर्मपुष्टिकरत्वसामा-
न्यात् ॥ ४ ॥

तथा पुरुषके जो तप, दान,
आर्जव, अहिंसा और सत्यभाषण
[आदि गुण] हैं, वे ही इसकी
दक्षिणा हैं; क्योंकि धर्मकी पुष्टि
करनेमें [दक्षिणाके साथ] उनकी
तुल्यता है ॥ ४ ॥

यस्माच्च यज्ञः पुरुषः—

। क्योंकि पुरुष यज्ञ है—

तस्मादाहुः सोष्यत्यसोष्टेति पुनरुत्पादनमेवास्य
तन्मरणमेवावमृथः ॥ ५ ॥

इसीसे कहते हैं कि 'प्रसूता होगी' अथवा 'प्रसूता हुई' वह इसका
पुनर्जन्म ही है; तथा मरण ही अवमृथस्नान है ॥ ५ ॥

तस्मात्तं जनयिष्यति माता
यदा, तदाहुरन्ये सोष्यतीति तस्य
मातरम्, यदा च प्रसूता भवति,
तदाऽसोष्ट पूर्णिकेति, विधियज्ञ
इव सोष्यति सोमं देवदत्तोऽसोष्ट
सोमं यज्ञदत्त इति, अतः शब्द-
सामान्याद्वा पुरुषो यज्ञः । पुन-
रुत्पादनमेवास्य तत्पुरुषाख्यस्य
यज्ञस्य यत्सोष्यत्यसोष्टेतिशब्द-

इसीसे जब माता उसे जन्म
देनेवाली होती है, तब दूसरे लोग
उसकी माताके विषयमें कहते हैं
कि 'यह प्रसूता होगी' और जब
वह प्रसूता होती है तो 'यह प्रसूता
हुई' अर्थात् पूर्णिका हुई' ऐसा कहते
हैं, जैसे कि विधियज्ञमें 'देवदत्त
सोमाभिषव (सोमरसका पान या
साधन) करेगा' अथवा 'यज्ञदत्तने
सोमाभिषव किया' ऐसा कहते
हैं। इस प्रकार 'सोष्यति' तथा
'असोष्ट' शब्दोंमें समानता होनेके
कारण पुरुष यज्ञ है। विधियज्ञके
समान इस पुरुषसंज्ञक यज्ञका जो
'सोष्यति' और 'असोष्ट' इन शब्दोंसे
सम्बद्ध होना है वह पुनरुत्पादन

संबन्धित्वं विधियज्ञस्येव । किं च
तन्मरणमेवास्य पुरुषयज्ञस्याव-
भूयः; समाप्तितामान्यात् ॥ ५ ॥

ही है, तथा मरण ही इस पुरुषयज्ञक ।
यज्ञका अवभूयस्नान है, क्योंकि
समाप्तिमे इन (मरण और अवभूय-
स्नान) दोनोंकी तुल्यता है ॥ ५ ॥

— ❀ —

तद्धैतदुधोर आङ्गिरसः कृष्णाय देवकीपुत्रायो-
क्त्वोवाचापिपास एव स बभूव सोऽन्तवेलायामेतत्त्रयं
प्रतिपद्ये तादितमस्यच्युतमसि प्राणस शितमसीति
तत्रैते द्वे ऋचौ भवतः ॥ ६ ॥

धोर आङ्गिरस ऋषिने देवकीपुत्र कृष्णको यह यज्ञदर्शन सुनाकर,
जिससे कि वह अन्य विद्याओंके विषयमे तृष्णाहीन हो गया था, कहा—
'उसे अन्नकालमे इन तीन मन्त्रोंका जप करना चाहिये (१) तू अक्षित
(अक्षय) है, (२) अच्युत (अविनाशी) है और (३) अति सूक्ष्म
प्राण है ।' तथा इसके विषयमे ये दो ऋचाएँ हैं ॥ ६ ॥

तद्धैतदयज्ञदर्शनं घोरो नामत
आङ्गिरसो गोत्रतः कृष्णाय
देवकीपुत्राय शिष्यायोक्त्वोवाच
तदेतत्त्रयमित्यादिव्यवहितेन सं-
बन्धः । स चैतद्दर्शनं श्रुत्वापि-
पास एवान्याभ्यो विद्याभ्यो
बभूव । इत्थं च विशिष्टेयं विद्या
यत्कृष्णस्य देवकीपुत्रस्यान्यां

इस यज्ञदर्शनको आङ्गिरस गोत्र
वाले धोरनामक ऋषिने अपने शिष्य
देवकीपुत्र कृष्णके प्रति कहकर फिर
कहा । इस वाक्यका 'तदेतत्त्रयम्'
इस व्यवधानयुक्त वाक्यमे सम्बन्ध
है । तथा वह कृष्ण तो इस यज्ञ-
दर्शनका श्रवण कर फिर अन्य
विद्याओंके प्रति तृष्णारहित हो
गया । 'यह विद्या ऐसी विशिष्ट
गुणसम्पन्ना है कि यह अन्य विद्याओं-
के प्रति देवकीपुत्र कृष्णकी तृष्णा-

विद्यां प्रति वृद्धिच्छेदकरीति
पुरुषयज्ञविद्यां स्तौति ।

घोर आङ्गिरसः कृष्णायोक्त्वे-
मां विद्यां किमुवाच? इति तदाह-
स एवं यथोक्तयज्ञविदन्तवेलायां
मरणकाल एतन्मन्त्रत्रयं प्रति-
पद्येत जपेदित्यर्थः। किं तत्? अक्षि-
तमक्षीणमक्षतं वासीत्येकं यजुः।
सामर्थ्यादादित्यस्थं प्राणं चैकी-
कृत्याह—तथा तमेवाहाच्युतं
स्वरूपादप्रच्युतमसीति द्वितीयं
यजुः। प्राणसंशितं प्राणश्च स
संशितं सम्यक्तनूकृतं च सूक्ष्मं
तत्त्वमसीति तृतीयं यजुः। तत्रै-
तस्मिन्नर्थे विद्यास्तुतिपरे द्वे ऋचौ
मन्त्रौ भवतः, न जपार्थे, त्रयं
प्रतिपद्येतेति त्रित्वसंख्यावाध-

का छेदन करनेवाली हुई—ऐसा
कहकर श्रुति पुरुषयज्ञविद्याकी स्तुति
करती है।

घोर आङ्गिरसने कृष्णके प्रति
यह विद्या कहकर क्या कहा—यह
वतलाते हैं—पूर्वोक्त यज्ञविद्याको
जाननेवाला वह पुरुष अन्तिम समय-
मरणकाल उपस्थित होनेपर इन तीन
मन्त्रोंको प्रतिपन्न हो अर्थात् इनका
जप करे। वह मन्त्र कौन-से हैं?
'तू अक्षित—अक्षीण अथवा अक्षय
है' यह एक यजु है। प्रसङ्गके
सामर्थ्यसे यह कथन आदित्यस्य
पुरुष और प्राणकी एकता करके
किया गया है। तथा उसीके प्रति श्रुति
कहती है—'तू अच्युत—स्वरूपसे
च्युत न होनेवाला है'—यह दूसरा
यजु है। 'तू प्राणसंशित—जो
प्राण संशित—सम्यक् प्रकारसे तनु
यानी सूक्ष्म किया गया है वह तू
है'—यह तीसरा यजु है। इस
अर्थमें इस विद्याकी स्तुति करनेवाली
दो ऋचाएँ यानी दो मन्त्र हैं, किन्तु
वे जपके लिये नहीं हैं, क्योंकि
पहले जो 'त्रयं प्रतिपद्येत' (तीनका
जप करे) ऐसी विधि की गयी है
उसकी 'तीन' संख्याका बाध हो

नात्; पञ्चसंख्या हि तदा जायगा और तब 'पांच', संख्या हो
स्यात् ॥ ६ ॥ जायगी ॥ ६ ॥

—:ॐ:—

आदित्प्रलस्य रेतसः । उद्वयं तमसस्परि ज्योतिः
पश्यन्त उत्तरं स्वः पश्यन्त उत्तरं देवं देवत्रा सूर्यमगन्म
ज्योतिरुत्तममिति ज्योतिरुत्तममिति ॥ ७ ॥

['आदित्प्रलस्य रेतसः' यह एक मन्त्र है और 'उद्वयं तमसस्परि'
इत्यादि दूसरा है । इनमें पहला मन्त्र इस प्रकार है—'आदित्प्रलस्य
रेतसो ज्योतिः पश्यन्ति वासरम् । परो यदिध्यते दिवि' * इसका अर्थ यह
है—] पुरातन कारणका प्रकाश देखते हैं; यह सर्वत्र व्याप्त प्रकाश, जो
परब्रह्ममें स्थित परम तेज देदीप्यमान है, उसका है । [अब 'उद्वयं
तमसस्परि' इत्यादि दूसरे मन्त्रका अर्थ करते हैं—] अज्ञानरूप अन्धकार-
से अतीत उत्कृष्ट ज्योतिको देखते हुए तथा आत्मीय उत्कृष्ट तेजको
देखते हुए हम सम्पूर्ण देवोंमें प्रकाशमान सर्वोत्तम ज्योतिःस्वरूप सूर्यको
प्राप्त हुए ॥ ७ ॥

आदित्यत्राकारस्यानुबन्ध-
स्तकारोऽनर्थक इच्छब्दश्च । प्रल-
स्य चिरन्तनस्य पुराणस्येत्यर्थः,
रेतसः कारणस्य बीजभूतस्य
जगतः सदाख्यस्य ज्योतिः
प्रकाशं पश्यन्ति । आशब्द
उत्सृष्टानुबन्धः पश्यन्तीत्यनेन
संबध्यते । किं तज्ज्योतिः

'आत् इत्' इसमें आकारके
पीछेका तकार और 'इत्' शब्द
अर्थरहित है । 'प्रलस्य'—चिरन्तन
यानी पुरातन 'रेतसः' कारणके
अर्थात् जगत्के बीजभूत सत्-
सज्ञक ब्रह्मके 'ज्योतिः'—प्रकाशको
देखते हैं । अपने अनुबन्ध तकारसे
रहित 'आ' शब्द 'पश्यन्ति'
इस क्रियासे सम्बद्ध है । उस किस
ज्योतिको देखते हैं ? इसपर श्रुति

पश्यन्ति? वासरसहरहरिं च तत्स-
र्वतो व्याप्तं ब्राह्मणो ज्योतिः ।

निवृत्तचक्षुषो ब्रह्मविदो ब्रह्म-
चर्यादिनिवृत्तिसाधनैः शुद्धान्तः-
करणा आ समन्ततो ज्योतिः
पश्यन्तीत्यर्थः । परः परमिति
लिङ्गव्यत्ययेन, ज्योतिष्परत्वात्;
यदिध्यते दीप्यते दिवि द्योतन-
वति परस्मिन्ब्रह्मणि वर्तमानम्,
येन ज्योतिषेद्धः सविता तपति
चन्द्रमा भाति विद्युद्विद्योतते
ग्रहतारागणा विभासन्ते ।

किं चान्यो मन्त्रदृगाह य-
थोक्तं ज्योतिः पश्यन्—उद्वयं
तमसोऽज्ञानलक्षणात्परि परस्ता-
दिति शेषः । तमसो वापनेव
यज्ज्योतिरुत्तरमादित्यस्थं परिप-
श्यन्तो वयमुदगन्मेति व्यवहि-
तेन संबन्धः । तज्ज्योतिः स्वः
स्वमात्मीयमस्मद्वृद्धि स्थितम्,

कहती है—] वासर अर्थात् 'दिनके'
समान सर्वत्र व्याप्त उस ब्रह्मकी
ज्योतिको देखते हैं ।

तात्पर्य यह है कि जिनकी
इन्द्रियाँ विषयोंसे निवृत्त हो गयी हैं
वे ब्रह्मचर्य आदि निवृत्तिके साधनों-
द्वारा शुद्धचित्त हुए ब्रह्मवेत्ता उस
ज्योतिको सब ओर देखते हैं । जो
ज्योति 'दिवि' द्योतनवान् परब्रह्ममें
देदीप्यमान है; तथा जिस ज्योतिसे
दीप्त होकर सूर्य तपता है, चन्द्रमा
प्रकाशित होता है, विजली चमकती
है तथा ग्रह और तारागण विशेष
रूपसे भासते हैं । यहाँ 'परः' यह
शब्द [नपुंसकलिङ्ग] 'ज्योतिः' के साथ
अन्वित है, इसलिये इसका लिङ्ग बदल
कर 'परम्' ऐसा समझना चाहिये ।

तथा उपर्युक्त ज्योतिको देखने-
वाला एक दूसरा मन्त्रद्रष्टा कहता
है—अज्ञानरूप अन्धकारसे अतीत
[जो परम तेज है] अथवा अन्ध-
कारकी निवृत्ति करनेवाला जो सूर्य-
मण्डलस्थ उत्कृष्ट तेज है उसे
देखते हुए हम प्राप्त हुए—
इस प्रकार इसका व्यवधानयुक्त
क्रियासे सम्बन्ध है । वह ज्योति
'स्व'—आत्मीय अर्थात् हमारे

आदित्यस्य च तदेकं ज्योतिः ।
यदुत्तरमुत्कृष्टतरमूर्ध्वतरं वापरं
ज्योतिरपेक्ष्य पश्यन्त उदगन्म
वयम् ।

कमुदगन्म ? इत्याह—देवं
द्योतनवन्तं देवेषु सर्वेषु सूर्यं
रसानां रश्मीनां प्राणानां च जगत
ईरणात्पर्यस्तमुदगन्म गतवन्तो
ज्योतिरुत्तमं सर्वज्योतिर्भ्य उत्कृ-
ष्टतममहो प्राप्ता वयमित्यर्थः ।
इदं तज्ज्योतिर्यद्गम्यां स्तुतं
यद्यजुस्त्रयेण प्रकाशितम् । द्विर-
भ्यासो यज्ञकल्पनापरिसमा-
प्त्यर्थः ॥ ७ ॥

अन्न-करणमे स्थित तेज और
आदित्यमे स्थित तेज एक ही है,
जिम अन्य तेजोंकी अपेक्षा उत्तर—
उत्कृष्टतर अर्थात् ऊर्ध्वतर तेजको
देखते हुए हम प्राप्त हुए ।

कैसे प्राप्त हुए—यह श्रुति
बतलाती है—समस्त देवताओंमे
देव अर्थात् द्योतनवान् सूर्यको
प्राप्त हुए; जो रस, किरण और
संसारके प्राणोंको प्रेरित करनेके
कारण सूर्य कहलाता है उस उत्तम
ज्योतिको—सम्पूर्ण ज्योतियोंमें
उत्कृष्टतम ज्योतिको प्राप्त हुए;
अहो ! [आश्चर्य है कि] हम
उसे प्राप्त हुए—ऐसा इसका
तात्पर्य है । यही वह ज्योति है
जिसकी दो ऋचाओंने स्तुति की है
तथा जो उपर्युक्त तीन यजुःश्रुतियों-
द्वारा प्रकाशित है । 'ज्योतिरुत्तमं
ज्योतिरुत्तमम्' यह द्विरुक्ति यज्ञ-
कल्पनाकी समाप्ति सूचित करनेके
लिये है ॥ ७ ॥

इति च्छान्दोग्योपनिषदि तृतीयाध्याये
सप्तदशखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥ १७ ॥



अष्टादश खण्ड



मन आदि दृष्टिसे अध्यात्म और आविर्देविक ब्रह्मोपासना

<p>मनोमय ईश्वर उक्त आका- शात्मेति च ब्रह्मणो गुणैकदेश- त्वेन । अथेदानीं मनआकाशयोः समस्तब्रह्मदृष्टिविधानार्थ आरम्भो मनो ब्रह्मेत्यादि—</p>	<p>[चतुर्दश खण्डके द्वितीय मन्त्रमें] ईश्वरके गुणोंके एकदेशको लेकर उसे मनोमय और आकाशात्मा कहा गया है । अब इससे आगे मन और आकाशमें समस्त ब्रह्मदृष्टिका विधान करनेके लिये 'मनो ब्रह्म' इत्यादि [अष्टादश खण्ड] का आरम्भ किया जाता है—</p>
--	--

मनो ब्रह्मेत्युपासीतेत्यध्यात्ममथाधिदैवतमाकाशो
ब्रह्मेत्युभयमादिष्टं भवत्यध्यात्मं चाधिदैवतं च ॥ १ ॥

'मन ब्रह्म है' इस प्रकार उपासना करे । यह अध्यात्मदृष्टि है ।
तथा 'आकाश ब्रह्म है' यह अधिदैवतदृष्टि है । इस प्रकार अध्यात्म और
अधिदैवत दोनोंका उपदेश किया गया ॥ १ ॥

<p>मनो मनुतेज्जेनेत्यन्तःकरणं तद्ब्रह्म परमित्युपासीतेति, एत- दात्मविषयं दर्शनमध्यात्मम् । अथाधिदैवतं देवताविषयमिदं वक्ष्यामः । आकाशो ब्रह्मेत्युपा- सीत । एवमुभयमध्यात्ममधि-</p>	<p>मन—जिससे प्राणी मनन करता है उस अन्तःकरणको मन कहते हैं । वह परब्रह्म है—ऐसी उपासना करे । यह आत्मविषयक दर्शन अध्यात्म है । अब यह अधिदैवत— देवताविषयक दर्शन कहते हैं । आकाश ब्रह्म है—ऐसी उपासना करे । इस प्रकार अध्यात्म और</p>
---	--

दैवतं चोभयं ब्रह्मदृष्टिविषयमा- अधिदैवत दोनों प्रकारको ब्रह्मदृष्टिके
 दिष्टमुपदिष्टं भवति, आकाश- विषयम आदेश—उपदेश किया
 मनसोः सूक्ष्मत्वाद् मनसोप- जाता है, क्योंकि आकाश और
 लभ्यत्वाच्च ब्रह्मणो योग्यं मनो मन दोनों ही सूक्ष्म हैं । इसके
 ब्रह्मदृष्टेः । आकाशश्च, सर्वगत- सिवा, ब्रह्म मनसे उपलब्ध किया जा
 त्वात्सूक्ष्मत्वादुपाधिहीनत्वाच्च । १। सकता है, इसलिये भी मन ब्रह्मदृष्टिके
 योग्य है, तथा सर्वगत, सूक्ष्म
 और उपाधिहीन होनेके कारण
 आकाश भी ब्रह्मदृष्टिके योग्य है ॥ १॥

— ❀ —

तदेतच्चतुष्पाद्ब्रह्म । वाक्पादः प्राणः पादश्चक्षुः
 पादः श्रोत्रं पाद इत्यध्यात्मम् । अथाधिदैवतमग्निः
 पादो वायुः पाद आदित्यः पादो दिशः पाद इत्यु-
 भयमेवादिष्टं भवत्यध्यात्मं चैवाधिदैवतं च ॥ २ ॥

वह यह (मन सज्ञक) ब्रह्म चार पादोवाला है । वाक् पाद है,
 प्राण पाद है, चक्षु पाद है और श्रोत्र पाद है । यह अध्यात्म है । अब
 अधिदैवत कहते हैं—अग्नि पाद है, वायु पाद है, आदित्य पाद है और
 दिशाएँ पाद हैं । इस प्रकार अध्यात्म और अधिदैवत दोनोंका उपदेश
 किया गया ॥ २ ॥

तदेतन्मनआख्यं चतुष्पा- वह यह मनसज्ञक ब्रह्म चतुष्पाद्
 द्ब्रह्म, चत्वारः पादा अस्येति । है । जिसके चार पाद हा उसे चतुष्पाद्
 कथं चतुष्पात्त्वं मनसो ब्रह्मणः ? कहत हैं । यह मनोब्रह्म चतुष्पाद्
 इत्याह—वाक्प्राणश्चक्षुः श्रोत्र- किस प्रकार है ? यह श्रुति दत्तलाती
 है—वाक्, प्राण, चक्षु और श्रोत्र—
 ये इसके पाद हैं । यह अध्यात्म-

मित्येते पादा इत्यध्यात्मम् । दृष्टि है । अब अधिदैवत वतलाते
 अथाधिदैवतमाकाशस्य ब्रह्मणो- हैं—आकाशसंज्ञक ब्रह्मके अग्नि,
 अग्निर्वायुरादित्यो दिश इत्येते । वायु, आदित्य और दिशाएँ ये पाद
 हैं । इस प्रकार अध्यात्म और
 एवमुभयमेव चतुष्पाद्ब्रह्मादिष्टं अधिदैवत दोनों प्रकारके चतुष्पाद्
 भवत्यध्यात्मं चैवाधिदैवतं च । २ । ब्रह्मका आदेश किया गया ॥ २ ॥



तत्र—

उनमें—

वागेव ब्रह्मणश्चतुर्थः पादः । सोऽग्निना ज्यो-
 तिषा भाति च तपति च । भाति च तपति च कीर्त्या
 यशसा ब्रह्मवर्चसेन य एवं वेद ॥ ३ ॥

वाक् ही ब्रह्मका चौथा पाद है; वह अग्निरूप ज्योतिसे दीप्त होता
 है और तपता है । जो ऐसा जानता है वह कीर्ति, यश और ब्रह्मतेजके
 कारण देदीप्यमान होता और तपता है ॥ ३ ॥

वागेव मनसो ब्रह्मणश्चतुर्थः
 पाद इतरपादत्रयापेक्षया । वाचा
 हि पादेनेव गवादि वक्तव्य-
 विषयं प्रति तिष्ठति । अतो
 मनसः पाद इव वाक् । तथा
 ग्राणो घ्राणः पादः । तेनापि
 गन्धविषयं प्रति च क्रामति ।
 तथा चक्षुः पादः श्रोत्रं पादः

वाक् ही मनरूप ब्रह्मका, अन्य
 तीन पादोंकी अपेक्षा चौथा पाद
 है । जिस प्रकार, गौ आदि जीव
 पादद्वारा इष्ट स्थानपर जाकर
 उपस्थित होते हैं उसी प्रकार वाणी-
 से ही मन वक्तव्य विषयपर ठहरता
 है । अतः वाक् मनके पादके समान
 है । इसी प्रकार घ्राण—घ्राण भी
 उसका पाद है । उसके द्वारा भी
 वह गन्धरूप विषयके प्रति जाता
 है । ऐसे ही चक्षु पाद है और
 श्रोत्र भी पाद है । इस प्रकार यह

इत्येवमध्यात्मं चतुष्पात्त्वं मनसो
ब्रह्मणः ।

अथाधिदैवतमग्निवाय्वादित्य-
दिश आकाशस्य ब्रह्मण उदर
इव गोः पादा विलग्रा उपलभ्य-
न्ते । तेन तस्याकाशस्याग्न्यादयः
पादा उच्यन्ते । एवमुभयम-
ध्यात्मं चैवाधिदैवतं चतुष्पादा-
दिष्टं भवति । तत्र वागेव
मनसो ब्रह्मणश्चतुर्थः पादः । सो-
ऽग्निनाधिदैवतेन ज्योतिषा भाति
च दीप्यते तपति च संतापं
चौष्ण्यं करोति ।

अथवा तैलघृताद्याग्नेयाग्ने-
नेद्धा चाग्भाति च तपति च
वदनायोत्साहवती स्यादित्यर्थः ।
विद्वत्फलम्—भाति च तपति च

मनस्य ब्रह्मका अध्यात्म चतु-
ष्पात्त्वं है ।

तथा अधिदैवतदृष्टि इस प्रकार
है—जिस तरह गौके उदरसे पैर
जुड़े रहते हैं उसी प्रकार आकाश-
रूप ब्रह्मके उदरमें अग्नि, वायु,
आदित्य और दिशाएँ—ये दिखायी
देते हैं । इसलिये ये अग्नि
आदि उस आकाशरूप ब्रह्मके
पाद कहे जाते हैं । इस प्रकार
अध्यात्म और अधिदैवत दोनों
प्रकारके चतुष्पाद् ब्रह्मका उपदेश
किया जाता है । उनमें वाक् ही
उस मनरूप ब्रह्मका चौथा पाद है ।
बहु अग्निरूप अधिदैवत ज्योतिसे
भासित—दीप्त होता और तपता
अर्थात् सताप यानी उष्णता
करता है ।

अथवा तैल और घृत आदि
आग्नेय (तेजोमय) पदार्थोंके
भक्षणसे दीप्त हुई वाक् प्रकाशित
होती और तपती है, अर्थात् बोलनेके
लिये उत्साहयुक्त होती है । इस
प्रकारकी उपासना करनेवालेको
प्राप्त होनेवाला फल—जो पूर्वोक्त

कीर्त्या यशसा ब्रह्मवर्चसेन य | अर्थको जानता है वह कीर्ति', यश?
 और ब्रह्मतेजसे प्रकाशित होता और
 एवं यथोक्तं वेद ॥ ३ ॥ तपता है ॥ ३ ॥

—०::०—

प्राण एव ब्रह्मणश्चतुर्थः पादः । स वायुना ज्यो-
 तिषा भाति च तपति च । भाति च तपति च कीर्त्या
 यशसा ब्रह्मवर्चसेन य एवं वेद ॥ ४ ॥

प्राण ही मनोमय ब्रह्मका चौथा पाद है । वह वायुरूप ज्योतिसे
 प्रकाशित होता और तपता है । जो इस प्रकार जानता है वह कीर्ति, यश
 और ब्रह्मतेजसे प्रकाशित होता और तपता है ॥ ४ ॥

चक्षुरेव ब्रह्मणश्चतुर्थः पादः । स आदित्येन
 ज्योतिषा भाति च तपति च । भाति च तपति च
 कीर्त्या यशसा ब्रह्मवर्चसेन य एवं वेद ॥ ५ ॥

चक्षु ही मनःसंज्ञक ब्रह्मका चौथा पाद है । वह आदित्यरूप ज्योतिसे
 प्रकाशित होता और तपता है । जो इस प्रकार जानता है वह कीर्ति,
 यश और ब्रह्मतेजसे प्रकाशित होता और तपता है ॥ ५ ॥

श्रोत्रमेव ब्रह्मणश्चतुर्थः पादः । स दिग्भिर्ज्योतिषा
 भाति च तपति च । भाति च तपति च कीर्त्या यशसा
 ब्रह्मवर्चसेन य एवं वेद य एवं वेद ॥ ६ ॥

श्रोत्र ही मनोरूप ब्रह्मका चौथा पाद है । वह दिशारूप ज्योतिसे
 प्रकाशित होता और तपता है । जो इस प्रकार जानता है वह कीर्ति, यश
 और ब्रह्मतेजसे प्रकाशित होता और तपता है ॥ ६ ॥

तथा प्राण एव ब्रह्मणश्चतुर्थः
पादः । स वायुना गन्धाय
भाति च तपति च । तथा चक्षु-
रादित्येन रूपग्रहणाय श्रोत्रं
दिग्भिः शब्दग्रहणाय । विद्या-
फलं समानम् । सर्वत्र ब्रह्मसंप-
त्तिरदृष्टं फलं य एव वेद ।
द्विरुक्तिर्दर्शनसमाप्त्यर्था ॥४-६॥

इसी प्रकार प्राण ही ब्रह्मका
चौथा पाद है । वह वायुद्वारा
गन्धग्रहणके लिये प्रकाशित होता
और तपता है [अर्थात् उत्साहित
होता है] । इसी तरह चक्षु रूप-
ग्रहणके लिये आदित्यद्वारा और श्रोत्र
शब्दग्रहणके लिये दिशाओद्वारा
उत्साहित होता है । इस प्रकारकी
उपासनाका फल सर्वत्र समान है ।
जो ऐसा जानता है उसे सर्वत्र
ब्रह्मप्राप्तिरूप अदृष्ट फल मिलता
है । 'य एव वेद, य एव वेद' यह
द्विरुक्ति विद्याकी समाप्तिके लिये
है ॥ ४-६ ॥

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि तृतीयाध्याये
अष्टादशखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥ १८ ॥



एकोनविंश खण्ड

आदित्य और अण्डदृष्टिसे अध्यात्म एवं आधिदैविक उपासना

आदित्यो ब्रह्मणः पाद उक्त | आदित्यको ब्रह्मका पाद बतलाया
इति तस्मिन्सकलब्रह्मदृष्ट्यर्थमिद- गया है; अतः उसमें समस्त ब्रह्मकी
मारभ्यते— दृष्टि करनेके लिये इस खण्डका
आरम्भ किया जाता है—

आदित्यो ब्रह्मेत्यादेशस्तस्योपव्याख्यानसदेवेदमग्र
आसीत् । तत्सदासीत्तत्समभवत्तदाण्डं निरवर्ततसत्संव-
त्सरस्य मात्राभश्यत तन्निरभियत ते आण्डकपाले
रजतं च सुवर्णं चाभवताम् ॥ १ ॥

आदित्य ब्रह्म है—ऐसा उपदेश है; उसीकी व्याख्या की जाती
है। पहले यह असत् ही था। वह सत् (कार्याभिमुख) हुआ। वह
अङ्कुरित हुआ। वह एक अण्डेमें परिणत हो गया। वह एक वर्षपर्यन्त
उसी प्रकार पड़ा रहा। फिर वह फूटा; वे दोनों अण्डेके खण्ड रजत
और सुवर्णरूप हो गये ॥ १ ॥

आदित्यो ब्रह्मेत्यादेश उप- 'आदित्य ब्रह्म है' यह आदेश-
असत्कार्यवाद-देशस्तस्योपव्या- उपदेश है। उस आदित्यका
समीक्षा स्तुतिके लिये उपाख्यान किया
ख्यानं क्रियते स्तु- जाता है। पहले अर्थात् अपनी
त्यर्थम् । असदव्याकृतनामरूप- उत्पत्तिसे पूर्वकी अवस्थामें यह
मिदं जगदशेषमग्रे प्रागवस्थाया- सम्पूर्ण जगत् असत्—जिसके
है ऐसा था; सर्वथा असत् [शून्य]

मुत्पत्तेरासीन्न त्वसदेव; 'कथ-
मसतः सज्जायेत' इत्यसत्कार्य-

त्वस्य प्रतिषेधात् ।

नन्विहासदेवेति विधानाद्वि-

कल्पः स्यात् ।

न; क्रियास्विव वस्तुनि

विकल्पानुपपत्तेः ।

कथं तर्हीदमसदेवेति ?

नन्ववोचामाव्याकृतनामरूप-

त्वादसदिवासदिति ।

नन्वेवशब्दोऽवधारणार्थः ।

सत्यमेवम्, न तु सत्त्वाभाव-
मवधारयति ।

किं तर्हि ?

व्याकृतनामरूपाभावमवधारय-
ति; नामरूपव्याकृतविषये सच्छ-
ब्दप्रयोगो दृष्टः । तच्च नामरूप-
व्याकरणमादित्यापत्तं प्रायशो

ही नहीं था; क्योंकि 'असत्से सत्की
उत्पत्ति कैसे हो सकती है' इस प्रकार
[आगे छोटे अध्यायमें] श्रुतिने
असत्कार्यत्वका प्रतिषेध किया है ।

पूर्व०-किंतु यहां 'असदेव
आसीत्' ऐसा विधान होनेके कारण
विकल्पक्षी हो सकता है ।

सिद्धान्ती-नही, क्योंकि क्रियाओं-
के समान वस्तुमें विकल्प होना
सम्भव नहीं है ।

पूर्व०-तो फिर 'इदम् असत् एव'
यह वाक्य क्यों कहा गया है ?

सिद्धान्ती-हम कह चुके हैं न,
कि नाम-रूपकी अभिव्यक्तिसे रहित
होनेके कारण मानो असत्की तरह
'असत्' था ।

पूर्व०-किंतु 'एव' शब्द तो
निश्चयार्थक है ।

सिद्धान्ती-यह तो ठीक है,
किंतु यह सत्ताके अभावका निश्चय
नहीं करता ।

पूर्व०-तो फिर क्या करता है ?

सिद्धान्ती-व्यक्त नाम-रूपके
अभावका निश्चय करता है । 'सत्'
शब्दका प्रयोग, जिनके नाम-रूप व्यक्त
हो गये हैं उन पदार्थोंके विषयमें देखा
गया है, और जगत्के नाम-रूपकी
अभिव्यक्ति प्रायः आदित्यके अधीन

ॐ अर्थात् सृष्टिके पूर्व यह सब कुछ 'असत्' अथवा सत् था, इन प्रकार
विकल्प हो सकता है ।

जगतः । तदभावे ह्यन्धं तम इदं
न प्रज्ञायेत किञ्चन, इत्यतस्तत्स्तु-
तिपरेवाक्ये सदपीदं प्रागुत्पत्तेर्ज-
गदसदेवेत्यादित्यं स्तौति ब्रह्म-
दृष्ट्यर्हत्वाय ।

आदित्यनिमित्तो हि लोके
सदिति व्यवहारः; यथासदेवेदं
राज्ञः कुलं सर्वगुणसंपन्ने पूर्ण-
वर्मणि राजन्यसतीति तद्वत् । न
च सत्त्वमसत्त्वं वेह जगतः प्रति-
पिपादयिषितम्, आदित्यो
ब्रह्मेत्यादेशपरत्वात् । उपसंहरि-
ष्यत्यन्ते 'आदित्यं ब्रह्मेत्युपास्ते'
इति ।

तत्सदासीत्, तदसच्छब्दवाच्यं
प्रागुत्पत्तेः स्तिमितमनिस्पन्दम-
सदिव सत्कार्याभिमुखमीषदुप-

है, क्योंकि उसके अभावमें घोर
अन्धकाररूप हुआ यह जगत् कुछ
भी नहीं जाना जाता । इसलिये
आदित्यके स्तवनपरक वाक्यमें, सत्
होनेपर भी उत्पत्तिसे पूर्व यह
जगत् असत् ही था' ऐसा कहकर
श्रुति, यह सूचित करनेके लिये कि
आदित्य ब्रह्मदृष्टिके योग्य है, उसकी
स्तुति करती है ।

लोकमें आदित्यके कारण ही
'सत्' ऐसा व्यवहार होता है, जिस
प्रकार 'सर्वगुणसम्पन्न राजा पूर्ण-
वर्मकि न रहनेसे यह राजवंश
नहीं-सा रह गया है' ऐसा कहा
जाता है, उसी प्रकार यहाँ समझना
चाहिये । इसके सिवा यहाँ इस
वाक्यसे जगत्की सत्ता अथवा
असत्ताका प्रतिपादन करना अभीष्ट
भी नहीं है, क्योंकि यह 'मन्त्र
आदित्य ब्रह्म है' ऐसा आदेश करनेके
लिये ही है; तथा अन्तमें भी
'आदित्य ब्रह्म है' इस प्रकार उपा-
सना करता है—ऐसा कहकर श्रुति
इसका उपसंहार करेगी ।

'तत्सदासीत्'—वह, 'असत्'
शब्दसे कहा जानेवाला तत्त्व, जो
उत्पत्तिसे पूर्व स्तब्ध, स्पन्दनरहित
और असत्के समान था, सत् यानी
कार्याभिमुख होकर कुछ प्रवृत्ति

जातप्रवृत्ति सदासीत् ततो लब्ध-
परिस्पन्दं तत्समभवदल्पतर-
नामरूपव्याकरणेनाङ्कुरीभूतमिव
धीजम् । ततोऽपि क्रमेण स्थूली-
भवत्तदद्भ्य आण्डं समवर्तत
संवृत्तम् । आण्डमिति दैर्घ्यं
छान्दसम् ।

तदण्डं संवत्सरस्य कालस्य
प्रसिद्धस्य मात्रां परिमाणमभिन्न-
स्वरूपमेवाशयत स्थितं बभूव ।
तत्ततः संवत्सरपरिमाणात्काला-
दूर्ध्वं निःश्रितं निर्भिन्नं वयसा-
मिवाण्डम् । तस्य निर्भिन्नस्या-
ण्डस्य कपाले द्वे रजतं च सुवर्णं
चाभवतां संवृत्ते ॥ १ ॥

पैदा होनेसे 'सत्' हो गया । फिर
उससे भी कुछ स्पन्दन प्राप्त कर वह
थोड़ेसे नाम रूपकी अभिव्यक्तिके
कारण अङ्कुरित हुए बीजके समान हो
गया । उस अवस्थासे भी वह क्रमशः
कुछ और स्थूल होता हुआ जलसे
अण्डके रूपमें परिणत हो गया ।
'आण्डम्' यह दीर्घ प्रयोग वैदिक है ।

वह अण्डासवत्सर नामसे प्रसिद्ध
कालकी मात्रा यानी परिमाणतक
[अर्थात् पूरे एक वर्ष] उसी प्रकार एक-
रूपमें पड़ा रहा । तत्पश्चात् एक वर्ष-
परिमाणकालके अनन्तर वह पक्षियो-
के अण्डके समान फूट गया । उस
फूटे हुए अण्डके जो दो खण्ड थे वे
रजत और सुवर्णरूप हो गये ॥ १ ॥

—❧—

तद्यद्रजतं स्तेयं पृथिवी यत्सुवर्णं सा धौर्ध्रजरायु
ते पर्वता यदुल्बं समेधो नीहारो या धमनयस्ता नद्यो
यद्वास्तेयमुदकं स समुद्रः ॥ २ ॥

उनमें जो खण्ड रजत हुआ वह यह पृथिवी है और जो सुवर्ण
हुआ वह धुलोक है । उस अण्डका जो जरायु (स्थूल गर्भवेष्टन) था [वही]
वे पर्वत हैं, जो उल्ब (सूक्ष्म गर्भवेष्टन) था वह मेघोंके सहित कुहरा

है, जो घमनियां थीं वे नदियां हैं तथा जो वस्तिगत जल था वह समुद्र है ॥ २ ॥

तत्तयोः कपालयोर्ध्वजतं
कपालमासीत्, सेयं पृथिवी पृथि-
व्युपलक्षितमधोऽण्डकपालमित्य-
र्थः । यत्सुवर्णं कपालं सा द्यौर्धु-
लोकोपलक्षितमूर्ध्वं कपालमित्य-
र्थः । यज्जरायु गर्भपरिवेष्टनं स्थू-
लमण्डस्य द्विशकलीभावकाल
आसीत्, ते पर्वतावभूवुः । यदुत्वं
सूक्ष्मं गर्भपरिवेष्टनम्, तत्सह
मेवैः समेधो नीहारोऽवध्यायो
वभूवेत्यर्थः । या गर्भस्य जातस्य
देहे धमनयः शिराः, ता नद्यो
वभूवुः । यत्तस्य वस्तौ भवं
वास्तेयमुदकम्, स समुद्रः ॥ २ ॥

उन खण्डोंमें जो रजतमय खण्ड
था वही यह पृथिवी अर्थात् पृथिवी-
रूपसे उपलक्षित नीचेका अण्डाण्ड
है; और जो सुवर्णमय खण्ड था वह
द्यौः अर्थात् धुलोकरूपसे उपलक्षित
ऊपरका अण्डाण्ड है । तथा दो
खण्डोंमें विभक्त होनेके समय उस
अण्डेका जो जरायु—स्थूल गर्भ-
वेष्टन था वह पर्वतसमूह हुआ, जो
उत्वं—सूक्ष्म गर्भवेष्टन था वह मेघों-
के सहित नीहार—अवध्याय अर्थात्
कुहरा हुआ, जो उत्पन्न हुए उस गर्भ-
के शरीरमें घमनियां—[रक्तवाहिनी]
नाडियां थीं, वे नदियां हुई और जो
उसके वस्तिस्थान (मूत्राशय) में
जल था, वह समुद्र हुआ ॥ २ ॥

—:—

अथ यत्तदजायत सोऽसावादित्यस्तं जायमानं
घोषा उल्लूलवोऽनूदतिष्ठन्त्सर्वाणि च भूतानि सर्वे च
कामास्तस्मात्तस्योदयं प्रति प्रत्यायनं प्रति घोषा उल्लूल-
वोऽनूत्तिष्ठन्ति सर्वाणि च भूतानि सर्वे च कामाः ॥ ३ ॥

फिर उससे जो उत्पन्न हुआ वह यह आदित्य है । उसके उत्पन्न
होते ही बड़े जोरोंका शब्द हुआ तथा उसीसे सम्पूर्ण प्राणी

और सारे भोग हुए हैं । इसीमे उमका उदय और अस्त होनेपर दीर्घ-
शब्दयुक्त घोष उत्पन्न होते हैं तथा सम्पूर्ण प्राणी और सारे भोग भी
उत्पन्न होते हैं ॥ ३ ॥

अथ यत्तदजायत गर्भरूपं
तस्मिन्नण्डे, सोऽमावादित्यः,
तमादित्यं जायमानं घोषाः शब्दा
उल्लव उरुरवो विस्तीर्णवा
उदतिष्ठन्नुत्थितवन्तः, ईश्वरस्ये-
वेह प्रथमपुत्रजन्मनि; सर्वाणि च
स्थावरजङ्गमानि भूतानि सर्वे च
तेषां भूतानां कामाः काम्यन्त
इति विषयाः स्त्रीष्वस्त्राद्यादयः ।

यस्मादादित्यजन्मनिमिक्ता
भूतकामोत्पत्तिस्तस्मादद्यत्वेऽपि
तस्यादित्यस्योदयं प्रति प्रत्या-
यनं प्रत्यस्तगमनं च प्रति, अथवा
पुनः पुनः प्रत्यागमनं प्रत्यायनं
तत्प्रति तन्निमित्तीकृत्येत्यर्थः,
सर्वाणि च भूतानि सर्वे च
कामा घोषा उल्लवश्चानूत्तिष्ठ-

• फिर उस अण्डेमें जो गर्भरूपसे
उत्पन्न हुआ वह यह आदित्य है ।
उस आदित्यके उत्पन्न होनेपर
उल्लव—उरुरव यानी सूर्यदेवापी
शब्दवाले घोष—शब्द उपस्थित हुए—
उत्पन्न हुए, जिस प्रकार कि
लोकमे किसी राजाके यहाँ प्रथम
पुत्रजन्म होनेपर [उत्सवपूर्ण
कोलाहल हुआ करता है] तथा
उसी समय समस्त स्थावर-जङ्गम
जीव और उन जीवोंके काम—
जिनकी कामना की जाती है
वे स्त्री, वस्त्र एवं अन्न आदि विषय
उत्पन्न हुए ।

क्योंकि प्राणिवर्ग और उसके
भोगोंकी उत्पत्ति आदित्यके जन्मके
कारण ही हुई है इसलिये आजकल
भी उस सूर्यदेवके उदयके प्रति
घोर प्रत्यायन अर्थात् प्रत्यस्तगमन
(अस्त) के प्रति अथवा पुन-पुन
प्रत्यागमन ही प्रत्यायन है, उसके
प्रति अर्थात् उसे ही निमित्त बनाकर
सम्पूर्ण भूत, सारे भोग और दीर्घ
शब्दयुक्त घोष उत्पन्न होते हैं ।

न्ति, प्रसिद्धं
सवितुः ॥ ३ ॥

सूर्यके उदय आदि होनेके समय ये
सब प्रसिद्ध ही हैं ॥ ३ ॥

—:०:—

स य एतमेवं विद्वानादित्यं ब्रह्मेत्युपास्तेऽभ्याशो
ह यदेनं साधवो घोषा आ च गच्छेयुरूप च निम्ने डे-
रन्निम्ने डेरन् ॥ ४ ॥

वह जो इस प्रकार जाननेवाला होकर आदित्यको 'यह ब्रह्म है' इस प्रकार उपासना करता है, [वह आदित्यरूप हो जाता है, तथा] उसके समीप शीघ्र ही सुन्दर घोष आते हैं और उसे सुख देते हैं, सुख देते हैं ॥४॥

स यः कश्चिदेतमेवं यथोक्त-
महिमानं विद्वान्सन्नादित्यं ब्रह्मे-
त्युपास्ते स तद्भावं प्रतिपद्यत
इत्यर्थः। किञ्च दृष्टं फलमभ्याशः
क्षिप्रं तद्विदः, यदिति क्रियावि-
शेषणम्, एतमेव विदं साधवः शो-
भना घोषाः, साधुत्वं घोषादीनां
यदुपभोगे पापानुबन्धाभावः। आ
च गच्छेयुरागच्छेयुश्च, उप च

वह जो कोई इस आदित्यको
ऐसी महिमावाला जानकर इसकी
'यह ब्रह्म है, इस प्रकार उपासना
करता है' वह तद्रूप ही हो जाता
है—ऐसा इसका भावार्थ है। तथा
उसे यह दृष्टफल भी मिलता है—
इस प्रकार जाननेवाले उस उपा-
सकके समीप अभ्याशः— शीघ्र ही
साधु—सुन्दर घोष आकर प्राप्त
होते हैं। मूलमें 'यत्' शब्द क्रिया-
विशेषण है। घोषादिकी साधुता
यही है कि उनका उपभोग करनेपर
पापानुबन्ध नहीं होता। वे घोष

निम्रेडेरन्तुपनिम्रेडेरंश्च न केवल-
 मागमनमात्रं घोपाणामुपसुखये-
 युश्चोपसुखं च कुर्युरित्यर्थः ।
 द्विरभ्यासोऽध्यायपरिसमाप्त्यर्थ
 आदरार्थश्च ॥ ४ ॥

आते है और उसे सुख देते हैं, उसे
 सुख देते है । तात्पर्य यह है कि
 घोपोका केवल आगमन ही नहीं
 होता वे उसे सुख भी देते है, सुख
 भी देते हैं । 'निम्रेडेरन्निम्रेडेरच्' यह
 द्विरुक्ति अध्यायकी समाप्ति सूचित करने
 और आदरप्रदर्शनके लिये है ॥ ४ ॥

—:०:—

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि तृतीयाध्याय एकोन-
 विंशखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥१६॥

इति श्रीमद्रोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यस्य परमहंसपरिव्राजकाचार्यस्य
 श्रीमच्छंकरभगवतः कृतौ छान्दोग्योपनिषद्विवरणे
 तृतीयोऽध्यायः समाप्तः ॥ ३ ॥



चतुर्थ अध्याय

—:—

प्रथम खण्ड

—ॐ:—

राजा. जानश्रुति और रैवका उपाख्यान

वायुप्राणयोर्ब्रह्मणः पाददृष्ट्य-
ध्यासः पुरस्ताद्वर्णितः । अथे-
दानीं तयोः साक्षाद्ब्रह्मत्वेनोपा-
स्यत्वाद्योत्तरमारभ्यते । सुखाव-
बोधार्थाख्यायिका विद्यादान-
ग्रहणविधिप्रदर्शनार्था च ।
श्रद्धान्नदानानुद्धतत्वादीनां च
विद्याप्राप्तिसाधनत्वं प्रदर्श्यते
आख्यायिकया—

वायु और प्राणमें ब्रह्मकी पाद-
दृष्टिके अध्यासका वर्णन पहले
(तृतीय अध्यायमें) कर दिया गया ।
अब इस समय उनका साक्षात्
ब्रह्मरूपसे उपास्यत्व बतलानेके
लिये आगेका प्रकरण आरम्भ किया
जाता है । यहाँ जो आख्यायिका है
वह सरलतासे समझनेके लिये तथा
विद्याके दान और ग्रहणकी विधि
प्रदर्शित करनेके लिये है । साथ ही
इस आख्यायिकाद्वारा श्रद्धा, अन्नदान
और अनुद्धतत्व (विनय) आदिका
विद्याप्राप्तिमें साधनत्व भी प्रदर्शित
किया जाता है—

ॐ जानश्रुतिर्ह पौत्रायणः श्रद्धादेयो बहुदायी
बहुपाक्य आस । स ह सर्वत आवस्थान्मापयाञ्चके
सर्वत एव मेऽत्स्यन्तीति ॥ ६ ॥

जनश्रुतकी संतान-परम्परामें उत्पन्न एवं उसके पुत्रका पौत्र श्रद्धापूर्वक
देनेवाला एवं बहुत दान करनेवाला था और उसके यहाँ [दान करनेके लिये]

बहुत-सा अन्न पकाया जाता था । उसने, इस आशयसे कि लोग सब जगह मेरा ही अन्न खायेंगे, सर्वत्र निवासस्थान (धर्मशाले) बनवा दिये थे ॥१॥

ज्ञानश्रुतिर्जनश्रुतस्यापत्यम्,
ह ऐतिह्यार्थः, पुत्रस्य पौत्रः
पौत्रायणः स एव श्रद्धादेयः
श्रद्धापुरःसरमेव ब्राह्मणादिभ्यो
देयमस्येति श्रद्धादेयः । बहुदायी
प्रभृतं दातुं शीलमस्येति बहुदा-
यी । बहुपाक्यो बहु पक्तव्यमह-
न्यहनि गृहे यस्यासौ बहुपाक्यः ।
भोजनार्थिभ्यो बह्वस्य गृहेज्ज-
पच्यत इत्यर्थः । एवंगुणसम्प-
न्नोऽसौ ज्ञानश्रुतिः पौत्रायणो
विशिष्टे देशे काले च कस्मिंश्चि-
दास धर्मव ।

स ह सर्वतः सर्वासु दिक्षु
ग्रामेषु नगरेषु चावसथानेत्य-
वसन्ति येष्वित्यावसथास्तान्माप-
याञ्चक्रे कारितवानित्यर्थः । सर्वत
एव मे भमान्नं तेष्वावसथेषु
छा० ४० २३—

ज्ञानश्रुतिका—जनश्रुतका अपत्य
(वंशधर), 'ह' यह निपात
इतिहासका द्योतक है, पुत्रके
पोतेको पौत्रायण कहते हैं. वही
श्रद्धादेय था, उसके पास जो कुछ
था वह ब्राह्मण आदिको श्रद्धापूर्वक
देनेके लिये ही था, इसलिये उसे
श्रद्धादेय कहा गया है, बहुदायी—
जिसका स्वभाव बहुत दान करनेका
था और बहुपाक्य—जिसके घरमें
नित्यप्रति बहुत-सा पाक्य—पकाया
हुआ अन्न रहता था अर्थात् जिसके
घर भोजनार्थियोंके लिये बहुत-सा
अन्न पकाया जाता था—ऐसा था,
ऐसे गुणोंसे युक्त वह जनश्रुतकी
सततिमें उत्पन्न हुआ उसका
प्रपौत्र किसी उत्तम देश और
कालमें हुआ था ।

प्रसिद्ध है, उसने सब ओर—
समस्त दिशाओंमें ग्राम और नगरोंके
भीतर आवसथ (धर्मशाले)—
जिनमें आकर यात्री ठहरते हैं वे
आवसथ कहलाते हैं—निर्मित
कराये अर्थात् बनवा दिये थे ।
इससे उसका यह अभिप्राय था कि

वसन्तोऽस्त्यन्ति भोक्ष्यन्त इत्ये-
वमभिप्रायः ॥ १ ॥

उन घर्मशालोंमें निवास करनेवाले
लोग सर्वत्र मेरा ही अन्न भोजन
करेंगे ॥ १ ॥

तत्रैवं सति राजनि तस्मिन्
धर्मकाले हर्म्यतलस्थे—

वहाँ इस प्रकार रहता हुआ
वह राजा जब एक बार गर्मीके
समय अपने महलकी छतपर
बैठा था—

अथ ह हंसा निशायामतिपेतुस्तद्धैव हं सो
हं समंभ्युवाद हो होऽयि भल्लाक्ष भल्लाक्ष जानश्रुतेः
पौत्रायणस्य समं दिवा ज्योतिराततं तन्मा प्रसाङ्-
क्षीस्तत्त्वा मा प्रधाक्षीरिति ॥ २ ॥

उसी समय रात्रिमें उधरसे हंस उड़कर गये । उनमेंसे एक हंसने
दूसरे हंससे कहा—‘अरे ओ भल्लाक्ष ! ओ भल्लाक्ष ! देख, जानश्रुति
पौत्रायणका तेज झूलोकके समान फैला हुआ है; तू उसका स्पर्श न कर,
वह तुझे भस्म न कर डाले’ ॥ २ ॥

अथ ह हंसा निशायां रात्रा-
वतिपेतुः । ऋपयो देवता वा
राज्ञोऽन्नदानगुणैस्तोषिताः सन्तो
हंसरूपा भूत्वा राज्ञो दर्शनगो-
चरेऽतिपेतुः पतितवन्तः । तत्त-
स्मिन्काले तेषां पततां हंसानामेकः
पृष्ठतः पतन्नग्रतः पतन्तं हंसम-

उसी समय निशा अर्थात् रात्रिमें
उधरसे हंस उड़कर गये । राजाके
अन्नदानसम्बन्धी गुणोंसे संतुष्ट
हुए ऋषि या देवता हंसरूप
होकर राजाकी दृष्टिके सामने होकर
उड़े । उस समय उड़कर जाते हुए
उन हंसोंमेंसे पीछे उड़ते हुए एक
हंसने आगे उड़कर जाते हुए दूसरे
हंससे ‘अरे ओ भल्लाक्ष ! ओ भल्लाक्ष !’

भ्युवादाभ्युक्तवान् हो होज्योति
 भो भो इति सम्बोध्य भल्लाक्ष
 भल्लाक्षेत्यादरं दर्शयन्त्यथा पश्य
 पश्याश्चर्यमिति तद्वत् । भल्लाक्षेति
 मन्ददृष्टित्वं सूचयन्नाह । अथवा
 सम्पद्ग्रहददर्शनाभिमानवत्त्वात्-
 स्यासकृदुपालव्यस्तेन पीड्यमा-
 नोऽमर्षितया तत्सूचयति भल्ला-
 क्षेति ।

जानश्रुतेः पौत्रायणस्य समं
 जानश्रुतेः तुल्यं दिवा द्युलोकेन
 प्रभाववर्णनम् ज्योतिः प्रभास्वर-
 मन्नदानादिजनितप्रभावजमाततं
 व्याप्तं द्युलोकस्पर्शगित्यर्थः ।
 दिवाद्वा वा समं ज्योतिरित्ये-
 तत् । तन्मा प्रसाङ्गीः सञ्जनं
 सक्तिं तेन ज्योतिषा सम्बन्धं मा
 कार्पीरित्यर्थः । तत्प्रसञ्जनेन
 तज्ज्योतिस्त्वा त्वां मा पधा-

इस प्रकार सम्बोधन करते हुए
 और जैसे कि 'देखो, देखो, बड़ा
 आश्चर्य है' इत्यादि कथनमे देखा
 जाता है, उसी प्रकार 'भल्लाक्ष !
 भल्लाक्ष !' ऐसा कहकर [अपने
 कथनके प्रति] आदर प्रदर्शित
 करते हुए कहा । 'भल्लाक्ष !' ऐसा
 कहकर उसकी मन्ददृष्टिताको
 सूचित करते हुए वह बोला ।
 अथवा सम्पद्ग्रहज्ञानके अभिमानसे
 युक्त होनेके कारण उस (आगे
 उड़नेवाले हंस) से निरन्तर छेड़े
 जानेसे पीडित होकर रोधवश उसे
 'भल्लाक्ष' कहकर सूचित करता
 है । [क्या सूचित करता है ? यह
 बतलाते हैं—]

जानश्रुति पौत्रायणकी ज्योति—
 अन्नदानादिजनित प्रभावसे प्राप्त
 हुई कान्ति द्युलोकके समान फैली
 हुई है, अर्थात् द्युलोकका स्पर्श
 करनेवाली है । अथवा इसका यह
 भी तात्पर्य हो सकता है कि दिवा
 यानी दिनके समान है । उससे
 प्रसङ्ग—सञ्जन यानी सक्ति न कर
 अर्थात् उस ज्योतिसे सम्बन्ध न
 कर । उसका सङ्ग करनेसे हव
 ज्योति तुझे भस्म अर्थात् दग्ध नकर

क्षीर्मा दहत्वित्यर्थः । पुरुषव्य- डाले । यहाँ पुरुषका परिवर्तन करके
[‘मा प्रधाक्षीः’*के स्थानमें] ‘मा प्रधा-
त्ययेन मा प्रधाक्षीदिति ॥ २ ॥ क्षीत’ऐसा पाठ सम्मना चाहिये ॥ २ ॥

—❀:❀—

तमु ह परः प्रत्युवाच कम्वर एनमेतत्सन्तं सयु-
ग्वानमिव रैकमात्थेति यो नु कथं सयुग्वा रैक
इति ॥ ३ ॥

उससे दूसरे [अग्रगामी] हंसने कहा—‘अरे ! तू किस महत्त्वसे
युक्त रहनेवाले इस राजाके प्रति इस तरह सम्मानित वचन कह रहा है ?
क्या तू इसे गाड़ीवाले रैकके समान बतलाता है ?’ [इसपर उसने
पूछा—] ‘यह जो गाड़ीवाला रैक है, कैसा है ?’ ॥ ३ ॥

तमेवमुक्तवन्तं पर इतरो- इस प्रकार कहते हुए उस हंससे
रैकवापेक्षया अग्रगामी प्रत्युवाचारे दूसरे आगे चलनेवाले हंसने कहा—
जानश्रुतेर्निकृ- निकृष्टोऽयं राजा अरे ! यह बेचारा राजा तो बहुत
ष्टत्वकथनम् वराकस्तं कमु एनं तुच्छ है । भला किस रूपमें वर्तमान—
पसन्तं केन माहात्म्येन युक्तं कैसे महत्त्वसे युक्त रहनेवाले इस
सन्तमिति कुत्सयत्येनमेवं सबहु- राजाके प्रति तू इस प्रकार यह
मानमेतद्वचनमात्थ ? रैकमिव अत्यन्त सम्मानपूर्ण शब्द कह रहा
सयुग्वानं सह युग्वना गन्त्या है—ऐसा कहकर वह उसकी अवज्ञा
वर्तत इति सयुग्वा रैकः, तमि- करता है—क्या तू इसे गाड़ीवाले
ऐसा जो रैक है उसके समान तू

* क्योंकि ‘प्रधाक्षीः’ मध्यम पुरुषकी क्रिया है और इसका कर्ता है ‘उद्योतिः’
जो प्रथम पुरुष है । इसलिये इसका रूप भी प्रथम पुरुषके अनुसार ‘प्रधाक्षीत्’
ऐसा होना चाहिये ।

वात्यैनम् ? अननुरूपमस्मिन्,
न युक्तमीदृशं वक्तुं रैक् इवेत्यभि-
प्रायः । इतरथाह—यो नु कथं
त्वयोच्यते सयुग्वा रैक्वः ।
इत्युक्तवन्तं भल्लात् आह—शृणु
यथा स रैक्वः ॥ ३ ॥

इसे बतला रहा है ? यह कथन
इसके अनुरूप नहीं है, अर्थात्
'यह रैक्के समान है' ऐसा
कहना उचित नहीं । इसपर
दूसरे ने कहा—'जिसके विषयमें
तुम कह रहे हो वह गाड़ी-
वाला रैक् कैसा है ?' ऐसा कहने-
वाले उस हससे भल्लाक्ष बोला—
'जैसा वह रैक् है, सुन' ॥ ३ ॥

—:—

यथा कृतायविजितायाधरेयाः संयन्त्येवमन^९सवं
तदभिसमेति यत्किञ्च प्रजाः साधु कुर्वन्ति यस्तद्वेद
यत्स वेद स मयैतदुक्त इति ॥ ४ ॥

जिस प्रकार [द्यूतक्रीडामें] कृतनामक पासेके द्वारा जीतनेवाले
पुरुषके अधीन उससे निम्न श्रेणीके सारे पासे हो जाते हैं उसी प्रकार
प्रजा जो कुछ सत्कर्म करती है वह सब उस (रैक्व) को प्राप्त हो
जाता है । जो बात वह रैक्व जानता है उसे जो कोई भी जानता है
उसके विषयमें भी मैंने यह कह दिया ॥ ४ ॥

यथा लोके कृतायः कृतो
नामायो द्यूतसमये
रैक्वस्य महत्त्वम् प्रसिद्धश्चतुरङ्गः, स
यदा जयति द्यूते प्रवृत्तानां तस्मै
विजिताय तदर्थमितरे त्रिद्वयेका-
ङ्का अधरेयाच्चेताद्वापरकलिना-

जिस प्रकार लोकमें द्यूतक्रीडाके
समय जो चार अङ्कवाला कृत-
नामक पासा प्रसिद्ध है, जब द्यूतमें
प्रवृत्त हुए पुरुषोंका वह कृतनामक
पासा जय प्राप्त करता है तो उसके
द्वारा विजय प्राप्त करनेवालेको ही
तीन, दो और एक अङ्कसे युक्त
चेता, द्वापर और कलिनामक

मानः संयन्ति संगच्छन्तेऽन्त-
र्भवन्ति । चतुरङ्गे कृताये त्रिद्वये-
काङ्क्षानां विद्यमानत्वात्तदन्तर्भ-
वन्तीत्यर्थः । यथायं दृष्टान्तः,
एवमेनं रैक्वं कृतायस्थानीयं
त्रेताद्यस्थानीयं सर्वं तदभि-
समेत्यन्तर्भवति रैक्वे । किं तत् ?
यत्किञ्च लोके सर्वाः प्रजाः साधु
शोभनं धर्मजातं कुर्वन्ति तत्सर्वं
रैक्वस्य धर्मेऽन्तर्भवति । तस्य
च फले सर्वप्राणिधर्मफलमन्तर्भ-
वतीत्यर्थः ।

तथान्योऽपि कश्चिद्यस्तद्वेद्यं
वेद, किं तत् ? यद्वेद्यं स रैक्वो
वेद तद्वेद्यमन्योऽपि यो वेद तमपि
सर्वप्राणिधर्मजातं तत्फलं च
रैक्वमिवाभिसमेतीत्यनुवर्तते । स
एवभूतोऽरैकोऽपि मया विद्वानेत-

नीचेके पासे भी प्राप्त हो जाते हैं
अर्थात् उसके अधीन हो जाते हैं;
तात्पर्य यह है कि चार अङ्कसे युक्त
कृतनामक पासेमें तीन, दो और
एक अङ्कवाले पासे भी विद्यमान
रहनेके कारण वे भी उसके अन्तर्गत
हो जाते हैं । जैसा यह दृष्टान्त है;
उसी प्रकार कृतस्थानीय इस रैक्-
को त्रेतादिस्थानीय वह सब प्राप्त हो
जाता है—सब उस रैक्के अन्तर्गत
हो जाता है । वह क्या है ? वह
यह कि जो कुछ लोकमें प्रजा साधु
—शोभन यानी धर्मकार्य करती है
सब-का-सब रैक्के धर्ममें समा
जाता है । तात्पर्य यह है कि
समस्त प्राणियोंके धर्मफल उसके
धर्मफलके अन्तर्गत हो जाते हैं ।

तथा दूसरा पुरुष भी, जो कोई
उस वेद्यको जानता है—वह वेद्य
क्या है ? जिसे कि वह रैक्
जानता है उस वेद्यको दूसरा भी
जो कोई जानता है उसे भी रैक्के
समान समस्त प्राणियोंका धर्मसमूह
और उसका फल प्राप्त हो जाता है
इस प्रकार यहाँ 'सर्वं तदभिसमेति' इस
पूर्ववाक्यका अनुवर्तन होता है । वह
इस प्रकारका रैक्से भिन्न विद्वान्,
भी मैंने ऐसा कहकर बतला दिया ।

दुक्त एवमुक्तः, रैक्ववत्स एव | तात्पर्यं यह है कि रैक्के समान
कृतायस्थानीयो भवतीत्यभि | वही कृतनामक पासेके सदृश
प्रायः ॥ ४ ॥ होता है ॥ ४ ॥

तदु ह जानश्रुतिः पौत्रायण उपशुश्राव । स ह
संजिहान एव क्षत्तारमुवाचाङ्गारे ह सयुग्वानमिव रैक-
मात्येति यो कथं सयुग्वारैक इति ॥ ५ ॥ यथा
कृतायविजितायाधरेयाः संयन्त्येवमेनं सर्वं तदभिस-
मेति यत्किञ्च प्रजाः साधु कुर्वन्ति यस्तद्वेद यत्स वेद
स मयेतदुक्त इति ॥ ६ ॥

इस बातको जानश्रुति पौत्रायणने सुन लिया । [दूसरे दिन सवेरे]
उठते ही उसने सेवकसे कहा—‘अरे भैया ! तू गाड़ीवाले रैक्के समान मेरी
स्तुति क्या करता है ?’ [इसपर सेवकने पूछा—] ‘यह जो गाड़ीवाला
रैक है, कैसा है ?’ ॥ ५ ॥ [राजाने कहा—] ‘जिस प्रकार कृतनामक
पासेके द्वारा जीतनेवाले पुरुषके अधीन उससे निम्नवर्ती समस्त पासे हो
जाते हैं उसी प्रकार उस रैक्को जो कुछ प्रजा सत्कर्म करती है, वह सब
प्राप्त हो जाता है तथा जो कुछ वह (रैक) जानता है उसे जो कोई
जानता है उसके विषयमें भी इस कथनद्वारा मैंने बतला दिया’ ॥ ६ ॥

तदु ह तदेतदीदृशं हंसवाक्य-
भात्मनः कुत्सारूपमन्यस्य विदुषो
रैक्वादेः प्रशंसारूपमुपशुश्राव
श्रुत्वान्हर्म्यतलस्थो राजा जान-
श्रुतिः पौत्रायणः । तच्च हंसवाक्यं | महलकी छतपर स्थित राजा
जानश्रुति पौत्रायणने अपनी निन्दा
रूप और रैक आदि किसी अन्य
विद्वान्की प्रशंसारूप यह इस प्रकार-
का हंसका वचन सुन लिया ।
तथा उस हंसके वचनको पुन

स्मरन्नेव पौनःपुन्येन रात्रिशेष-
मतिवाहयामास ।

ततः स वन्दिमी राजा
स्तुतियुक्ताभिर्वाग्भिः प्रतिबोध्य-
मान उवाच क्षत्तारं संजिहान
एव शयनं निद्रां वा परित्य-
जन्नेव, हेऽङ्ग वत्सारे ह सयुग्वान-
मिव रैक्वमात्थ किं माम् ? स
एव स्तुत्यर्हो नाहमित्यभिप्रायः ।
अथवासयुग्वानं रैक्वमात्थ गत्वा
मम तद्दिदृक्षाम् ; तदेवशब्दोऽव-
धारणार्थोऽनर्थको वा वाच्यः ।

स च क्षत्ता प्रत्युवाच रैक्वा-
नयनकामो राज्ञोऽभिप्रायज्ञः । यो
नु कथं सयुग्वारैक्व इति राज्ञैवं
चोक्त आनेतुं तच्चिह्नं ज्ञातुमि-
च्छन् यो नु कथं सयुग्वारैक्व
इत्यवोचत् । स च भल्लाक्षवचन-
मेवावोचत् ॥ ५-६ ॥

पुनः स्मरण करते हुए ही उसने
शेष रात्रिको बिताया ।

तब वन्दियोंद्वारा स्तुतियुक्त
वाक्योंसे जगाये जानेपर राजाने
शय्या अथवा निद्राको त्यागते ही
सेवकसे कहा—‘हे वत्स ! अरे !
क्या तू मुझे गाड़ीवाले रैक्कके समान
बतला रहा है ?’ तात्पर्य यह है
कि स्तुतिके योग्य तो वही है, मैं
नहीं हूँ; अथवा तू जाकर गाड़ीवाले
रैक्कको उसे देखनेकी मेरी इच्छा
सुना । ऐसा अर्थ होनेपर ‘सयुग्वानम्
इव’ इसमें ‘इव’ शब्द निश्चयार्थक
अथवा अर्थहीन कहना चाहिये ।

राजाके अभिप्रायको जाननेवाले
उस सेवकने रैक्कको लानेकी इच्छासे
पूछा—‘यह जो गाड़ीवाला रैक्क है,
कैसा है ?’ अर्थात् राजाके इस
प्रकार कहनेपर उसे लानेके लिये
उसके चिह्न जाननेकी इच्छासे
उसने ‘यह जो गाड़ीवाला रैक्क है,
कैसा है ?’ ऐसा कहा । तब राजाने
भल्लाक्षका वचन ही दुहरा दिया
॥ ५-६ ॥

— * —

तस्य स्मरन्—

उसके कथनको याद रखकर—

स ह क्षत्तान्विष्य नाविदमिति प्रत्येयाय त्
होवाच यत्रारे ब्राह्मणस्यान्वेपणा तदेनमच्छेति ॥७॥

वह सेवक उसकी खोज करनेके अनन्तर 'मैं उसे नहीं पा सका'
ऐसा कहता हुआ लौट आया । तब उससे राजाने कहा—'अरे ! जहाँ
ब्राह्मणकी खोज की जाती है वहाँ उसके पास जा' ॥ ७ ॥

स ह क्षत्ता नगरं ग्रामं वा
गत्वान्विष्य रैक्वं नाविदं न
व्यज्ञासिषमिति प्रत्येयाय प्रत्या-
गतवान् । तं होवाच क्षत्तारमरे
यत्र ब्राह्मणस्य ब्रह्मविद एका-
न्तेऽरण्ये नदीपुलिनादौ विविक्ते
देशेऽन्वेपणानुमार्गणं भवति
तत्तत्रैनं रैक्मच्छ ऋच्छ गच्छ
तत्र मार्गणं कुवित्यर्थः ॥ ७ ॥

वह सेवक नगर या ग्राममें
जाकर वहाँ खोजनेके अनन्तर 'मैंने
रैक्वको नहीं जाना—नहीं
पहचाना' ऐसा कहता हुआ लौट
आया । तब राजाने उस सेवकसे
कहा—'अरे ! जहाँ एकान्त जगलमें
—नदीके तीर आदि शून्य स्थानोंमें
ब्राह्मण—ब्रह्मवेत्ताकी खोज की जाती
है वहाँ इस रैक्वके पास 'ऋच्छ'
अर्थात् जा यानी वहाँ जाकर उसकी
खोज कर ॥ ७ ॥

इत्युक्तः—

इस प्रकार कहे जानेपर—

सोऽवस्ताच्छकटस्थ यामानं कायमणमुपोपविश
त हाभ्युवाद त्वं नु भगवः सयुग्वा रैक इत्यहं ह्यरा ३
इति ह प्रतिजज्ञे स ह क्षत्ताविदमिति प्रत्येयाय ॥८॥

उसने एक छकड़ेके नीचे खाज खुजलाते हुए [रैक्वको देखा] ।
वह उसके पास बैठ गया और बोला—'भगवन् ! क्या आप ही गाड़ी-
वाले रैक्व हैं ?' तब रैक्वने 'अरे ! हाँ, मैं ही हूँ' ऐसा कहकर स्वीकार

किया । तब वह सेवक यह समझकर कि मैंने उसे पहचान लिया है, लौट आया ॥ ८ ॥

क्षत्तान्विष्य तं विजने रेशे-
ऽधस्ताच्छुक्रटस्य गन्त्र्याः पामानं
खजूं कपमाणं कण्डूयमानं दृष्ट्वा
'अयं नूनं सयुग्वा रैक्' इत्युप-
समीप उपविदेश विनयेनोपविष्ट-
वान् । तं च रैक् हाभ्युवादोक्त-
वान्—त्वमसि हे भगवो भगवन्
सयुग्वा रैक् इति । एवं पृष्टो-
ऽहमस्मि ह्यरा ३ अर इति हाना-
दर एव प्रतिजज्ञेऽभ्युपगतवान् ।
स तं विज्ञायाविदं विज्ञातवान-
स्मीति प्रत्येयाय प्रत्यागत
इत्यर्थः ॥ ८ ॥

वह सेवक निर्जन स्थानमें खोज
करनेपर उसे एक गाड़ीके नीचे
खाज खुजाते देखकर 'निश्चय यही
गाड़ीवाला रैक्व है' ऐसा निश्चय कर
उसके समीप नम्रतापूर्वक बैठ गया;
तथा उस रैक्से कहा—'हे भगवन् !
गाड़ीवाले रैक्व आप ही हैं ?' इस
तरह पूछे जानेपर 'अरे ! हाँ, मैं ही
हूँ' इस प्रकार 'अरे' कहकर उसने
अनादर ही प्रकट किया । तब सेवक
उसे जानकर—यह समझकर कि 'अब
मैंने रैक्वको जान लिया—पहचान
लिया है' लौट आया ॥ ८ ॥

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि चतुर्थाध्याये
प्रथमखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥१॥



द्वितीय खण्ड

रैक्वके प्रति जानश्रुतिकी उपसर्ति

तदु ह जानश्रुतिः पौत्रायणः षट्शतानि गवां
निष्कमश्वतरीरथं तदादाय प्रतिचक्रमे त् हाभ्युवाद ॥ १ ॥

तब वह जानश्रुति पौत्रायण छः सौ गौएँ, एक हार और एक
खच्चरियोसे जुता हुआ रथ लेकर उसके पास आया और बोला ॥ १ ॥

<p>तच्च न्न ऋषेर्गार्हस्थ्यं प्रत्यभि- प्रायं बुद्ध्वा धनार्थितां च उ ह एव जानश्रुतिः पौत्रायणः षट्शतानि गवां निष्कं कण्डहारमश्वतरीरथमश्वतरीभ्यां युक्तं रथं तदादाय धनं गृहीत्वा प्रतिचक्रमे रैक्वं प्रति गतवान् । तं च गत्वाभ्युवाद हाभ्युक्त- वान् ॥ १ ॥</p>	<p>तब [सेवकके कथनसे] ऋषि- का गृहस्थाश्रम-सम्बन्धी अभिप्राय और धनकी इच्छा जान वह जान- श्रुति पौत्रायण छः सौ गौएँ, निष्क —गलेका हार और एक अश्वतरी- रथ—दो अश्वतरियो (खच्चरियों) से जुता हुआ रथ—यह इतना धन लेकर रैक्वके पास चला । और उसके पास जाकर अभिवादन किया अर्थात् कहा ॥ १ ॥</p>
--	---

—:०:—

रैक्वेमानि षट्शतानि गवामयं निष्कोऽयमश्व-
तरीरथो नु म एतां भगवो देवतांशाधि यां
देवतामुपास्स इति ॥ २ ॥

हे रैक्व ! ये छः सौ गौएँ, यह हार और यह खच्चरियोसे जुता हुआ
रथ मैं [आपके लिये] लाया हूँ । [आप इस धनको स्वीकार कीजिये।

और] हे भगवन् ! आप मुझे उस देवताका उपदेश दीजिये, जिसकी आप उपासना करते हैं ॥ २ ॥

हे रैक्क गवां षट् शतानीमानि । हे रैक्व ! मैं आपके लिये ये छः
तुभ्यं मयानीतानि, अयं निष्को- सौ गौएँ लाया हूँ तथा यह हार
श्वतरीरथश्चायमेतद्धनमादत्स्व, और खच्चरियोंसे जुता हुआ रथ
भगवोऽनुशाधि च मे मामेताम्, भी लाया हूँ, इस धनको ले लीजिये
यां च देवतां त्वमुपास्से तद्देवतो- और हे भगवन् ! मुझे उस देवताका
पदेशेन मामनुशाधीत्यर्थः ॥ २ ॥ उपदेश दीजिये जिसकी आप
उपासना करते हैं; अर्थात् उस
देवताका उपदेश करनेके द्वारा मेरा
अनुशासन कीजिये ॥ २ ॥

❀❀❀—

तमु ह परः प्रत्युवाचाह हारेत्वा शूद्र तवैव सह
गोभिरस्त्विति । तदु ह पुनरेव जानश्रुतिः पौत्रायणः
सहस्रं गवां निष्कमश्वतरीरथं दुहितरं तदादाय
प्रतिचक्रमे ॥ ३ ॥

उस राजासे दूसरे [अर्थात् रैक्व] ने कहा—‘ऐ शूद्र ! गौओंके सहित यह हारयुक्त रथ तेरे ही पास रहे ।’ तब वह जानश्रुति पौत्रायण एक सहस्र गौएँ, एक हार, खच्चरियोंसे जुता हुआ रथ और अपनी कन्या—इतना धन लेकर फिर उसके पास आया ॥ ३ ॥

तमेवमुक्तवन्तं राजानं प्रत्यु- इस प्रकार कहते हुए उस राजासे
वाच परो रैक्कः, अहेत्ययं निपातो उस द्वितीय व्यक्ति—रैक्वने कहा—
‘अह’ यह निपात दूसरी जगह
‘विनिग्रहार्थी योज्यत्रेह त्वनर्थकः,’ ‘विनिग्रह’ अर्थमें प्रयुक्त होता है,
‘एवशब्दस्य पृथक्प्रयोगात् । किंतु यहाँ ‘एव’ शब्दका पृथक्
प्रयोग रहनेके कारण निरर्थक
हारेत्वा हारेण युक्ता इत्वा गन्त्री है । हारसे युक्त जो इत्वा—गाड़ी

सेयं हारेत्वा गोभिः सह तवैवास्तु
तवैव तिष्ठतु, न समापर्याप्तेन
कर्तृमनेन प्रयोजनमित्यभिप्रायः,
हे शूद्रेति ।

ननु राजासौ क्षत्रसम्बन्धात्स
ह क्षत्रारमुवाचेत्युक्तम् । विद्या-
ग्रहणाय च ब्राह्मणसमीपोपग-
माच्छूद्रस्य चानधिकारात्कथमि-
दमनुरूपं रैक्वेणोन्यते हे
शूद्रेति ?

तत्राहुराचार्याः—हंसवचन-
श्रवणाच्छ्रुतेनमाविवेशः, तेनासौ
शुचा, श्रुत्वा रैक्स्य महिमानं वा
आद्रवतीति ऋषिरात्मनः परोक्ष-
ज्ञतां दर्शयन्शूद्रेत्याहेति । शूद्रवद्वा
वैनैवनेः विद्याग्रहणायोपजगाम ।

उसे 'हारेत्वा' कहते हैं, वह यह
गौश्रौंके सहित 'हारेत्वा' तेरा ही
रहे । तात्पर्य यह है कि हे शूद्र ! जो
कर्मके लिये अपर्याप्त है ऐसे इस
धनसे मुझे कोई प्रयोजन नहीं है ।

शङ्का-क्षत्ता (सेवक) से
सम्बन्ध होनेके कारण यह जानश्रुति
तो राजा है, क्योंकि 'स ह क्षत्रार-
मुवाच' (उसने सेवकसे कहा)
ऐसा पहले कहा जा चुका है । तथा
शूद्रका अधिकार न होनेसे ब्राह्मणके
समीप विद्याग्रहणके लिये जानेके
कारण भी [यह क्षत्रिय ही जान
पड़ता है] फिर रैकने 'हे शूद्र'
ऐसा अनुचित शब्द क्यों कहा ?

समाधान—इस विषयमें आचार्य-
गण ऐसा कहते हैं कि हंसका वचन
सुननेपर इस जानश्रुतिमें शोकका
आवेश हो गया था । उस शोकसे
अथवा रैककी महिमा सुनकर वह
द्रवीभूत हो रहा था, इसलिये ऋषिने
अपनी परोक्षज्ञता प्रदर्शित करनेके
लिये उसे 'शूद्र' कहकर सम्बोधित
किया । अथवा वह शूद्रके समान
केवल धनके द्वारा ही विद्या ग्रहण
करनेके लिये उसके समीप गया था,
शुश्रूषाद्वारा ग्रहण करने नहीं गया

न च शुश्रूषया, न तु जात्यैव
शूद्र इति ।

अपरे पुनराहुरल्पं धनमा-
हृतमिति रूपैवैनमुक्तवाञ्छद्रेति ।
लिङ्गं च ब्रह्माहरण उपादानं
धनस्येति ।

तदु हर्षेर्मतं ज्ञात्वा पुनरेव
जानश्रुतिः पौत्रायणो गवां सह-
स्रमधिकं जायां चर्षेरभिमतां
बुहितरमात्मनस्तदादाय प्रति-
चक्रमे क्रान्तवान् ॥ ३ ॥

[इसलिये उसे 'शूद्र' कहा हो]
वह जातिसे ही शूद्र हो—ऐसी
वात नहीं है ।

परंतु अन्य लोग ऐसा कहते
हैं कि वह थोड़ा धन लाया था
इसलिये रोषवश उसे 'शूद्र' कहा
था; बहुत-सा धन लानेपर उसे
ग्रहण कर लेना इस बातको सूचित
करता है ।

तत्र ऋषिका अभिप्राय समझकर
राजा जानश्रुति पौत्रायण पहलेसे
अधिक करके एक सहस्र गौएँ तथा
ऋषिकी अभीष्ट पत्नीरूपा अपनी
एक कन्या लेकर फिर उसके पास
गया ॥ ३ ॥

—:०:—

तूँ हाभ्युवाद रैक्वेदूँ सहस्रं गवामयं निष्कोऽय-
मश्वतरीरथ इयं जायायं ग्रामो यस्मिन्नास्सेऽन्वेव मा
भगवः शाधीति ॥ ४ ॥ तस्या ह मुखमुपोद्गृह्णन्नु-
वाचाजहारेभाः शूद्रानेनैव मुखेनालापयिष्यथा इति ते
हेते रैक्पणां नाम महावृषेषु यत्रास्मा उवास स तस्मै
होवाच ॥ ५ ॥

और उस (रैक्) से कहा—'हे रैक् ! ये एक सहस्र गौएँ, यह
हार, यह खच्चरियोसे जुता हुआ रथ, यह पत्नी और यह ग्राम जिसमें कि
आप हैं लीजिये और हे भगवन् ! मुझे अवश्य अनुशासित कीजिये' ॥ ४ ॥



रेम और अनशुनि

[पृष्ठ ३६६]

तब उस (राजकन्या) के मुखको ही [विद्याग्रहणका द्वार] समझते हुए रैकने कहा—‘अरे शूद्र ! तू ये (गौएँ आदि) लाया है [तो ठीक है;] तू इस विद्याग्रहणके द्वारसे ही मुझमें भाषण कराता है।’ इस प्रकार जहाँ वह रैक रहता था वे रैकपर्णनामक ग्राम महावृष देशमें प्रसिद्ध हैं। तब उसने उससे कहा ॥ ५ ॥

रैकवेदं गवां सहस्रमयं निष्को-
ऽयमध्वतरीरथ इयं जायार्थं मम
दुहितानीतायं च ग्रामो यस्मि-
न्नास्ते तिष्ठसि स च त्वदर्धे मया
कल्पितः । तदेतत्सर्वमादायानु-
शाध्येव मा मां हे भगवः ।

इत्युक्तस्तस्या जायार्थमानी-
ताया राज्ञो दुहितुर्हैव सुखं द्वारं
विद्याया दाने तीर्थमुपोद्गृह्णजान-
न्नित्यर्थः । “ब्रह्मचारी धनदायी
मेधावी श्रोत्रियः प्रियः । विद्याया
चा विद्यां प्राह तानि तीर्थानि
पणमम” इति विद्याया वचनं
विज्ञायते हि ।

एवं जानन्मुपोद्गृह्णन्नुवाचो-
क्तवान्—आजहाराहृतवान्म-

[और रैकसे कहा—] ‘हे रैक ! ये एक सहस्र गौएँ, यह द्वार, यह खन्चरियोसे मुक्त रथ और यह पत्नी अर्थात् आपकी भार्या होनेके लिये अपनी कन्या लाया है; तथा जिसमें आप रहते हैं वह गाँव भी मैंने आपहीके लिये निश्चित कर दिया है। हे भगवन् ! इन सबको ग्रहणकर आप मुझे उपदेश कर ही दीजिये ।’

ऐसा कहे जानेपर भार्या होनेके लिये लायी गयी उस राजकन्याके मुखको ही विद्यादानका द्वार अर्थात् तीर्थ जानते हुए [रैकने कहा—] ऐसा इसका तात्पर्य है। इस विषयमें विद्याका यह वचन प्रसिद्ध है—“ब्रह्मचारी, धन देनेवाला बुद्धिमान्, श्रोत्रिय, प्रिय और जो विद्याके बदलेमें विद्याका उपदेश करता है—ये छः मेरे तीर्थ हैं ।”

ऐसा जानकर अर्थात् ग्रहण कर रैकने कहा—‘तू जो ये गौएँ तथा

वान्यदिमा गा यच्चान्यद्धनं
तत्साध्विति वाक्यशेषः । शूद्रेति
पूर्व क्तानुवृत्तिमात्रं न तु कारणा-
न्तरापेक्षया पूर्ववत् । अनेनैव
मुखेन विद्याग्रहणतीर्थेनालाप-
यिष्यथा आलापयसीति मां भाष-
यसीत्यर्थः ।

ते हैते ग्रामा रैक्पर्णा
नाम विख्याता महावृषेषु देशेषु
यत्र येषु ग्रामेषु वासोपितावान्रैकः,
तानसौ ग्रामानदादस्मै रैक्वाय
राजा । तस्मै राज्ञे धनं दत्तवते ह
किलोवाच विद्यां सरैक्वः ॥४५॥

अन्य धन लाया है; यह ठीक ही
है,—ऐसा वाक्यशेष है । यहाँ जो
'शूद्र' ऐसा सम्बोधन है यह पूर्वोक्त-
का अनुकरणमात्र ही है, पूर्ववत्
किसी अन्य कारणकी अपेक्षासे
नहीं है । इस मुख यानी विद्याग्रहण-
के द्वारसे ही तू मुझसे आलाप
अर्थात् सम्भाषण कराता है ।

वे ये रैक्पर्ण नामसे प्रसिद्ध
ग्राम महावृष देशमें हैं, जिन ग्रामोंमें
कि रैक् रहा करता था, वे ग्राम
राजाने इस रैक्को दे दिये । इस
प्रकार धन देनेवाले उस राजाको
रैक्ने विद्याका उपदेश किया ॥४-५॥

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि चतुर्थाध्याये
द्वितीयखण्डभार्य्य सम्पूर्णम् ॥२॥



तृतीय खण्ड

— ❁ ❁ —

रैवटद्वारा सवर्गविद्याका उपदेश

वायुर्वाव संवर्गो यदा वा अग्निरुद्वायति वायुमेवा-
प्येति यदा सूर्योऽस्तमेति वायुमेवाप्येति यदा
चन्द्रोऽस्तमेति वायुमेवाप्येति ॥ १ ॥

वायु ही सवर्ग है। जब अग्नि बुझता है तो वायुमे ही लीन होता है, जब सूर्य अस्त होता है तो वायुमे ही लीन होता है और जब चन्द्रमा अस्त होता है तो वायुमे ही लीन हो जाता है ॥ १ ॥

वायुर्वाव संवर्गो वायुर्वाह्यो

वावेत्यवधारणार्थः । संवर्गः संव-

र्जनात्संग्रहणात्संग्रसनाद्वा संवर्गः॥

वक्ष्यमाणा अग्न्याद्या देवता

आत्मभावभाषादयतीत्यतः

संवर्गः । संवर्जनाख्यो गुणो

ध्येयो वायुवत्, कृतायान्तर्भाव-

दृष्टान्तात् । कथं संवर्गत्वं

वायोः ? इत्याह—यदा यस्मिन्काले

वा अग्निरुद्वायत्युद्वासनं प्राप्नो-

वायु ही सवर्ग है। यहाँ 'वायु'

शब्दसे वाह्यवायु अभिप्रेत है।

'वाव' यह निपात निश्चयार्थक है।

संवर्जन—संग्रहण अथवा सग्रसन

करनेके कारण वह सवर्ग है। आगे

कहे जानेवाले अग्नि आदि देवताओं-

को वायु अपने स्वरूपमे मिला लेता

है इसलिये वह सवर्ग है। कृत-

नामक पासेमे जैसे अन्य पासोका

अन्तर्भाव हो जाता है उसी दृष्टान्त-

के अनुसार वायुके समान संवर्जन-

सज्ञक गुणका चिन्तन करना

चाहिये। वायुकी सवर्गता किस

प्रकार है ? इस विषयमे श्रुति कहती

है—जब अर्थात् जिस समय अग्नि

उद्वासनको प्राप्त होता है अर्थात्

त्युपशाम्यति तदासावग्निर्वायु-
मेवाप्येति वायुस्वामाव्यमपि-
गच्छति । तथा यदा सूर्योऽस्तमेति
वायुमेवाप्येति । यदा चन्द्रोऽस्त-
मेति वायुमेवाप्येति ।

ननु कथं सूर्याचन्द्रमसोः स्व-
रूपावस्थितयोर्वायावपिगमनम् ?

नैष दोषः; अस्तमनेऽदर्शन
प्राप्तेर्वायुनिमित्तत्वात्, वायुना
ह्यस्तं नीयते सूर्यः; चलनस्य
वायुकार्यत्वात् । अथवा प्रलये
सूर्याचन्द्रमसोः स्वरूपभ्रंशे तेजो-
रूपयोर्वायावेवापिगमनं स्यात् ॥ १ ॥

शान्त हो जाता है उस समय यह
अग्नि वायुमें ही लीन हो जाता है
अर्थात् वायुके स्वभावको प्राप्त हो
जाता है । तथा जिस समय सूर्य
अस्त होता है वह भी वायुमें ही
लीन हो जाता है और जब चन्द्रमा
अस्त होता है वह भी वायुमें ही
लीन हो जाता है ।

शङ्का—अपने स्वरूपमें स्थित
सूर्य और चन्द्रमाका वायुमें किस
प्रकार लय हो सकता है ?

समाधान—यह कोई दोष नहीं
है, क्योंकि इनका अस्त होनेपर
अदर्शनको प्राप्त होना वायुके
कारण होता है । सूर्य वायुके ही
द्वारा अस्तको प्राप्त कराया जाता
है, क्योंकि गति वायुका ही कार्य
है अथवा प्रलयकालमें तेजोरूप
सूर्य और चन्द्रमाके स्वरूपका नाश
होनेपर भी उनका वायुमें ही लय
हो सकता है ॥ १ ॥

—: * :—

तथा—

तथा—

यदाप उच्छुष्यन्ति वायुमेवापियन्ति वायुह्येवैतान्
सर्वान्संवृङ्क्त इत्यधिदैवतम् ॥ २ ॥

जिन समय जल सूखता है वह वायुमे ही लीन हो जाता है । वायु ही इन सब जलोको अपनेमे लीन कर लेता है । यह अग्निदेवत दृष्टि हे ॥ २ ॥

यदाप उच्छुष्यन्त्युच्छ्रोष-
मान्नुवन्ति तदा वायुमेवापिय-
न्ति । वायुहि यस्मादेवैतान्गन्या-
द्यान्महाबलान्संवृङ्क्ते, अतो
वायुः संवर्गगुण उपास्य इत्यर्थः
इत्यग्निदेवतं देवतासु संवर्गदर्श-
नमुक्तम् ॥ २ ॥

जब जल सूखता है—शोषण-
को प्राप्त होता है उस समय वह
भी वायुमे ही लीन हो जाता है ।
क्योंकि वायु ही इन अग्नि आदि
महाबलवान् तत्त्वोको अपनेमे लीन
कर लेता है, इसलिये वायुकी सवर्ग
गुणरूपसे उपासना करनी चाहिये—
यह इसका तात्पर्य है । इस प्रकार
यह अग्निदेवत—देवताओंमें सवर्ग-
दृष्टि कही गयी ॥ २ ॥

—: : :—

अथाध्यात्मं प्राणो वाव संवर्गः स यदा स्वपिति
प्राणमेव वागप्येति प्राणं चक्षुः प्राणश्चोत्रं प्राणं मनः
प्राणो ह्येवैतान्सर्वान्संवृङ्क्त इति ॥ ३ ॥

अब अध्यात्मदर्शन कहा जाता है—प्राण ही सवर्ग है । जिस
समय वह पुरुष सोता है, प्राणको ही वाक् इन्द्रिय प्राप्त हो जाती है,
प्राणको ही चक्षु, प्राणको ही श्रोत्र और प्राणको ही मन प्राप्त हो जाता
है, प्राण ही इन सबको अपनेमे लीन कर लेता है ॥ ३ ॥

अथानन्तरमध्यात्ममात्मनि
संवर्गदर्शनमिदमुच्यते—प्राणो
मुख्यो वाव संवर्गः । स पुरुषो
यदा यस्मिन्काले स्वपिति प्राण-

अब आगे यह अध्यात्म अर्थात्
शरीरमे सवर्गदर्शन कहा जाता है ।
मुख्य प्राण ही सवर्ग है । यह पुरुष
जिस समय सोता है उस समय
प्राणको ही वाक् इन्द्रिय प्राप्त हो

मेव वागप्येति वायुमिवाग्निः ।

प्राणं चक्षुः प्राणं श्रोत्रं प्राणं

मनः प्राणो हि यस्मादेवैतान्वा-

गादीन्सर्वान्संवृड्क्त इति ॥ ३ ॥

जाती है, जिस प्रकार कि अग्नि वायुको । तथा प्राणको ही चक्षु, प्राणको ही श्रोत्र और प्राणको ही मन प्राप्त हो जाता है; क्योंकि प्राण ही इन वाक् आदि सबको अपनेमें लीन कर लेता है ॥ ३ ॥

—०:—

तौ वा एतौ द्वौ संवर्गौ वायुरेव देवेषु प्राणः
प्राणेषु ॥ ४ ॥

वे ये दो ही संवर्ग हैं—देवताओंमें वायु और इन्द्रियोंमें प्राण ॥ ४ ॥

तौ वा एतौ द्वौ संवर्गौ संव-
र्जनगुणौ वायुरेव देवेषु संवर्गः
प्राणः प्राणेषु वागादिषु
मुख्यः ॥ ४ ॥

वे ये दो ही संवर्ग—संवर्जन गुणवाले हैं—देवताओंमें वायु ही संवर्ग है तथा वाक् आदि प्राणोंमें (इन्द्रियोंमें) मुख्य प्राण ॥ ४ ॥

—:०:—

संवर्गकी स्तुतिके लिये आख्यायिका

अथैतयोः स्तुत्यर्थमियमा-
ख्यायिकारभ्यते—

अब इन (वायु और प्राण) की स्तुतिके लिये आख्यायिका आरम्भ की जाती है—

अथ ह शौनकं च कापेयमभिप्रतारिणं च
काक्षसेनिं परिविष्यमाणौ ब्रह्मचारी विभिन्ने तस्मा उ
ह न ददतुः ॥ ५ ॥

एक बार कपिगोत्रज शौनक और काक्षसेनके पुत्र अभिप्रतारीसे, जब कि उन्हें भोजन परोसा जा रहा था एक ब्रह्मचारीने भिक्षा मांगी; किंतु उन्होंने उसे भिक्षा न दी ॥ ५ ॥

हेत्येतिह्यर्थः, शौनकं च शुन-
कस्यापत्यं शौनकं कापेयं कपि-
गोत्रमभिप्रतारिणं च नामतः
कक्षसेनस्यापत्यं काक्षसेनिं भोज-
नायोपविष्टौ परिविष्यमाणौ
सूपकारैर्ब्रह्मचारी ब्रह्मविच्छ्रौण्डो
विमिक्षे भिक्षितवान् । ब्रह्म-
चारिणो ब्रह्मविन्मानितां युद्ध्वा
तं जिज्ञासमानो तस्मा उ भिक्षां
न ददतुर्न दत्तवन्तौ ह किमयं
वक्ष्यतीति ॥ ५ ॥

‘ह’ यह निपात ऐतिह्य (परम्परा-
गत कथानक) का द्योतक है ।
शौनक—शुनकका पुत्र शौनक जो
कि कापेय—कपिके गोत्रमे उत्पन्न
हुआ था, उससे और कक्षसेनका
पुत्र काक्षसेनि, जो नामसे अभि-
प्रतारी था, उससे, जब कि वे दोनों
भोजनके लिये बैठे थे और रसोइयों-
द्वारा इन्हे भोजन परोसा जा रहा
था, अपनेको ब्रह्मवेत्ताओं में शूरवीर
समझनेवाले एक ब्रह्मचारीने भिक्षा
माँगी । ब्रह्मचारीके ‘मैं ब्रह्मवेत्ता हूँ’ ऐसे
अभिमानको जानकर यह जाननेकी
इच्छासे कि ‘देखें यह क्या कहता
है ?’ उन्होंने भिक्षा न दी ॥ ५ ॥

स होवाच महात्मनश्चतुरो देव एकः कः स जगार
भुवनस्य गोपास्तं कापेय नाभिपश्यन्ति मर्त्या अभिप्रता-
रिन्विहुधा वसन्तं यस्मै वा एतदन्नं तस्मा एतन्न
दत्तमिति ॥ ६ ॥

उसने कहा—भुवनोके रक्षक उस एक देव प्रजापतिने चार
महात्माओंको ग्रस लिया है । हे कापेय ! हे अभिप्रतारिन् ! मनुष्य
अनेक प्रकारमे निवास करते हुए उस, एक देवको नहीं देखते, तथा
जिसके लिये यह अन्न है उसे ही नहीं दिया गया ॥ ६ ॥

स होवाच ब्रह्मचारी महात्म-
नश्चतुर इति द्वितीयावहुवचनम् ।

उस ब्रह्मचारीने कहा—‘महात्म-
न’ और ‘चतुर’ ये पद द्वितीयाविम-
क्तिके बहुवचन हैं । उस एक ही देव

देव एकोऽन्यादीन्वायुर्वागादीन् प्राणः, कः स प्रजापतिर्जगार असितवान् कः स जगारेति प्रश्नमेके । भुवनस्य भवन्त्यस्मिन् भूतानीति भुवनं भूरादिः सर्वो लोकस्तस्य गोपा गोपायिता रक्षिता गोप्तेत्यर्थः । तं कं प्रजापतिं हे कापेय नाभिपश्यन्ति न जानन्ति मर्त्या मरणधर्माणोऽवि-
वेकिनो वा हेऽभिप्रतारिन् बहुधा-
ध्यात्माधिदैवताधिभूतप्रकारैर्वस-
न्तम् । यस्मै वा एतदहन्यहन्यन्नम-
दनायाहियते संस्क्रियते च तस्मै
प्रजापतय एतदन्नं न दत्तमिति
॥ ६ ॥

क—प्रजापतिने अर्थात् वायुने अग्नि आदिको और प्राणने वागादिको अस लिया है । किन्ही-विन्हीका मत है कि जिसने असा है वह एक देव कौन है ? इस प्रकार यह प्रश्न है । वह भुवनका—जिसमें भूत (प्राणी) आदि होते हैं उस भूलोक आदि समस्त लोकोंको भुवन कहते हैं, उसका गोपा—गोपायिता अर्थात् रक्षा करनेवाला है । हे कापेय ! उस क अर्थात् प्रजापतिको अथवा हे अभिप्रतारिन् ! अनेक प्रकारसे यानी अध्यात्म, अधिदैवत और अधिभूत-भेदसे वास करते हुए उस देवको मर्त्य—मरण-धर्मा अथवा अविवेकी पुरुष नहीं देखते । तथा जिसके भक्षणके लिये नित्यप्रति इस अन्नका आहरण—संस्कार किया जाता है उस प्रजापतिको ही यह अन्न नहीं दिया गया ॥ ६ ॥

—: . :—

तदु ह शौनकः कापेयः प्रतिमन्वानः प्रत्येयायात्मा देवानां जनिता प्रजानां हिरण्यदंष्ट्रो बभसोऽन-
सूरिर्महान्तमस्य महिमानमाहुरनद्यमानो यदनन्नमत्तीति
वै वयं ब्रह्मचारिन्नेदमुपास्महे दत्तास्मै भिक्षामिति ॥ ७ ॥

उस वाक्यका कपिगोत्रोत्पन्न शौनकने मनन किया और फिर उस [ब्रह्मचारी] के पास आकर कहा—‘जो देवताओंका आत्मा, प्रजाओंका

उत्पत्तिकर्ता, हिरण्यदंष्ट्र, भक्षणशील और मेघावी है, जिसकी बड़ी महिमा कही गयी है, जो स्वयं दूसरोंसे न खाया जानेवाला और जो वस्तुतः अन्न नहीं है उनको भी भक्षण कर जाता है, हे ब्रह्मचारिन् ! उसीकी हम उपासना करते हैं । [ऐसा कहकर उसने सेवकोंको आज्ञा दी कि] 'इस ब्रह्मचारीको भिक्षा दो' ॥ ७ ॥

तदु ह—ब्रह्मचारिणो वचनं शौनकः कापेयः प्रतिमन्वानो मनसालोचयन्ब्रह्मचारिणं प्रत्येयायाजगाम । गत्वा चाह यं त्वमबोचो न पश्यन्ति मर्त्या इति तं वयं पश्यामः; कथम् ? आत्मा सर्वस्य स्थावरजङ्गमस्य, किञ्च देवानामग्न्यादीनामात्मनि संहृत्य ग्रसित्वा पुनर्जनितोत्पादयिता वायुरूपेणाधिदैवतमग्न्यादीनाम् । अध्यात्मं च प्राणरूपेण वागादीनां प्रजानां च जनिता ।

अथवात्मा देवानामग्निवागादीनां जनिता प्रजानां स्थावरजङ्गमानाम् । हिरण्यदंष्ट्रोऽमृतदंष्ट्रोऽमृतदंष्ट्र इति यावत् । वमसो भक्षणशीलः । अनसूरिः सूरिमे-

कपिगोत्रोत्पन्न शौनक ब्रह्मचारी-के उस वचनकी मनसे आलोचना कर ब्रह्मचारीके समीप गया तथा जाकर इस प्रकार बोला—जिसके विषयमे तुमने कहा कि मर्त्यगण उसे नहीं देखते उसे हम देखते हैं । किस प्रकार देखते हैं ? वह सम्पूर्ण स्थावर-जङ्गमका आत्मा तथा अग्नि आदि देवताओंका उत्पत्तिकर्ता अर्थात् अधिदैवत वायुरूपसे अपनेमें लीन कर अग्नि आदिका पुनः उत्पन्न करनेवाला और अध्यात्म प्राणरूपसे वागादि प्रजाओंकी उत्पत्ति करनेवाला है ।

अथवा यों समझो कि अग्नि और वाक् आदि देवोंका आत्मा और स्थावर-जङ्गम प्रजाओंका उत्पत्तिकर्ता है । हिरण्यदंष्ट्र—अमृतदंष्ट्र अर्थात् जिसकी डाढ़ें कभी नहीं दूटती, 'वमसः'—भक्षणशील, 'अनसूरि'—सूरि मेघावीको कहते हैं, जो सूरि न

धावी न सूरिरसूरिस्तत्प्रतिषेधो-
 ऽनसूरिः सूरिरेवेत्यर्थः । महान्त-
 मतिप्रमाणमप्रमेयमस्य प्रजापते-
 र्महिमानं विभूतिमाहुर्ब्रह्मविदः ।
 यस्मात्स्वयमन्यैरनद्यमानोऽभक्ष्य-
 माणो यदनन्नमग्निवागादिदेवता-
 रूपमस्ति भक्षयतीति । वा इति
 निरर्थकः । वयं हे ब्रह्मचारिन्
 आ इदमेवं यथोक्तलक्षणं ब्रह्म
 वयमा उपास्महे । वयमिति व्य-
 वहितेन सम्बन्धः । अन्ये न वय-
 मिदमुपास्महे, किं तर्हि ? परमेव
 ब्रह्मोपास्महे इति वर्णयन्ति ।
 दत्तास्मै भिक्षामित्यवोचद् भृ-
 त्यान् ॥ ७ ॥

हो वह 'असूरि' कहलाता है उसका
 भी प्रतिषेध 'अनसूरि' है अर्थात्
 वह सूरि (मेधावी) ही है । ब्रह्मवेत्ता-
 लोग इस प्रजापतिकी महती—अति
 प्रमाणवाली अर्थात् अप्रमेय महिमा
 विभूति वतलाते हैं; क्योंकि यह स्वयं
 दूसरोंसे अभक्ष्यमाण—न खाया
 जानेवाला और जो अग्नि आदि देवता-
 रूप अनन्न (दूसरोंका अन्न नहीं)
 है उसका अदन—भक्षण करता है।
 'वै' यह अव्यय निरर्थक है । हे
 ब्रह्मचारिन् ! हम इस उपर्युक्त
 लक्षणोंवाले ब्रह्मकी ही उपासना
 करते हैं । 'उपास्महे' इस क्रियाका
 व्यवधानशुक्त 'वयम्' इस कर्तासे
 सम्बन्ध है । कोई-कोई ['ब्रह्मचारि-
 न्नेदमुपास्महे' इसका 'ब्रह्मचारिन् न
 इदम् उपास्महे' ऐसा पदच्छेद कर]
 हम इस ब्रह्मकी उपासना नहीं
 करते; तो किसकी करते हैं ? पर-
 ब्रह्मकी ही उपासना करते हैं—
 ऐसी व्याख्या करते हैं । फिर उसने
 सेवकोंसे कहा कि 'इसे भिक्षा दो' ॥७॥

तस्मा उ ह ददुस्ते वा एते पञ्चान्ये पञ्चान्ये दश
 सन्तस्तत्कृतं तस्मात्सर्वासु दिक्ष्वन्नमेव दश कृतस्यैषा

विराडन्नादि तयेदः सर्वं दृष्टं सर्वमस्येदं दृष्टं भवत्य-
न्नादो भवति य एवं वेद य एवं वेद ॥ ८ ॥

तब उन्होंने उसे भिक्षा दे दी । वे ये [अग्न्यादि और वायु]
पाँच [वागादिसे] अन्य हैं तथा इनसे [वागादि और प्राण] ये पाँच
अन्य हैं इस प्रकार ये सब दश होते हैं । ये दश कृत (कृतनामक
पासेसे उपलक्षित द्युत) हैं । अतः सम्पूर्ण दिशाओमें ये अन्न ही दश कृत
हैं । यह विराट् ही अन्नादी (अन्न भक्षण करनेवाला) है । उसके द्वारा
यह सब देखा जाता है । जो ऐसा जानता है उसके द्वारा यह सब देख
लिया जाना है और वह अन्न भक्षण करनेवाला होता है ॥ ८ ॥

तस्मा उ ह ददुस्ते हि
मिनाम् । ते वै ये ग्रस्यन्तेऽग्न्या-
दयो यश्च तेषां ग्रसिता वायुः
पश्चान्ये वागादिभ्यः तथान्ये
तेभ्यः पश्चाध्यात्मं वागादयः
प्राणश्च, ते सर्वे दश भवन्ति
संख्यया, दश सन्तस्तत्कृतं भवति
ते । चतुरङ्ग एकाय एवं चत्वार-
स्र्यङ्काय एवं त्रयोऽपरे द्व्यङ्काय

तब उन्होंने उसे भिक्षा दे दी ।
वे ये अग्नि आदि, जो कि भक्षण
किय जाते हैं और जो उन्हें भक्षण
करनेवाला वायु है—ये पाँचो वागादि-
से अन्य हैं तथा उनसे वागादि और
प्राण—ये पाँच अध्यात्म अन्य हैं ।
ये सब सरयामें दश होते हैं और
दश होनेके कारण ये कृत हैं ।
उनमें एक पासा चार अङ्गोवाला
होता है, उसी प्रकार [अग्नि आदि
और वागादि—ये] चार हैं ।
जिस प्रकार तीन अङ्गोवाला पासा
होता है उसी प्रकार [अग्न्यादि
और वागादिमेंसे एक एकको छोड़-
कर] शेष अन्न है । जिस प्रकार
दो अङ्गोवाला पासा होता है उसी
प्रकार [दो-दोकी छोड़कर] अन्य

एवं द्वावन्यावेकाङ्काय एवमेको-
ज्य इति । एवं दश सन्तस्त-
त्कृतं भवति ।

यत एवम्, तस्मात्सर्वासु दिक्षु
दशस्वप्यग्न्याद्या वागाद्याश्च
दशसंख्यासामान्यादन्नमेव । “द-
शाक्षरा विराट्” “विराडन्नम्”
इति हि श्रुतिः । अतोऽन्नमेव दश-
संख्यत्वात् । तत एव दश कृतं
कृतेऽन्तर्भावाच्चतुरङ्कायत्वेनेत्यवो-
चाम । सैषा विराट् दशसंख्या
सत्यन्नं चान्नादी-अन्नादिनी च
कृतत्वेन । कृते हि दशसंख्यान्त-
र्भावातोऽन्नमन्नादिनी च सा ।

अन्न हैं तथा जिस प्रकार एक
अङ्कवाला पासा होता है उसी
प्रकार इनसे भिन्न [वायु और प्राण-
—ये अन्नादी] हैं । इस प्रकार
[४, ३, २, १] ये सब मिलकर
दश होनेके कारण ही कृत हैं ।

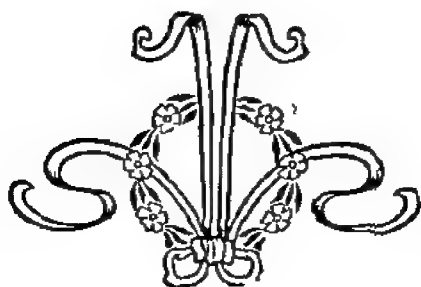
क्योंकि ऐसा है, इसलिये सम्पूर्ण
यानी दशों दिशाओंमें अग्न्यादि और
वागादि—ये दश संख्यामें समान
होनेके कारण अन्न ही हैं । “विराट्
दश अक्षरोंवाला है” “विराट् अन्न
है” ऐसी श्रुति भी है । अतः दश
संख्यावाले होनेके कारण ये
[अग्न्यादि और वागादि] अन्न
ही हैं । इसीलिये ये दश कृत ही
हैं, क्योंकि चार अङ्कवाला होनेसे
कृतनामक पासेमें सब पासोंका
अन्तर्भाव हो जाता है—ऐसा हम
पहले कह चुके हैं । वह यह विराट्
देवता दश संख्यावाली होती हुई
अन्न और अन्नादी-अन्नादिनी अर्थात्
अन्न भक्षण करनेवाली है, क्योंकि
वह कृतरूपा है । कृतमें दश
संख्याका अन्तर्भाव है, इसलिये यह
अन्न और अन्नादिनी है ।

तथा विद्वान्दशदेवतात्मभूतः
 सवर्गविद्यायाः सन्विराट्त्वेन दश-
 सर्वोपलब्धि- संख्यान्तं कृत-
 फलत्वम् संख्ययान्नादी च ।
 तथान्नान्नादिन्येदं सर्वं जगद्दश-
 दिक्संस्थं दृष्टं कृतसंख्याभूतयोप-
 लब्धम् । - एवंविदोऽस्य सर्वं
 कृतसंख्याभूतस्य दशदिक्संबद्धं
 दृष्टमुपलब्धं भवति । किञ्चान्नादश्च
 भवति य एवं वेद यथोक्त-
 दर्शी । द्विरभ्यास उपासन-
 समाप्त्यर्थः ॥ ८ ॥

इस प्रकार जाननेवाला उपासक
 दश देवताओंसे तादात्म्य प्राप्त कर
 दश सरयाके कारण विराटरूपसे
 अन्न और कृतरूपसे अन्नादी हो
 जाता है । इस प्रकार कृतसंख्याभूत
 उस अन्न और अन्नादिनीद्वारा दशो
 दिशाओंसे सम्बद्ध यह सारा जगत्
 दृष्ट अर्थात् उपलब्ध कर लिया गया
 है । इस प्रकार जाननेवाले कृत-
 संख्याभूत इस विद्वान्को दशों
 दिशाओंसे सम्बद्ध सब कुछ दृष्ट यानी
 उपलब्ध हो जाता है । तथा पूर्वोक्त-
 दृष्टिवाला जो उपासक इस प्रकार
 जानता है वह अन्नाद [दीप्तामि] भी
 होता है । 'य एवं वेद य एवं वेद'
 यह द्विरुक्ति उपासनाकी समाप्तिके
 लिये है ॥ ८ ॥

— : * : —

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि चतुर्थाध्याये
 वृतीयखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥ ३ ॥



चतुर्थ खण्ड

❀:०:❀

सत्यकामका ब्रह्मचर्य-पालन और वनमें जाकर गो चराना

सर्व वागाद्यग्न्यादि चान्ना-	अन्न और अन्नादिरूपसे भली
न्नादत्वंस्तुतं जगदेकीकृत्य	प्रकार स्तुत हुए वागादि और
षोडशधा प्रविभज्य तस्मिन्ब्रह्म-	अग्न्यादिरूप सम्पूर्ण जगत्को
दृष्टिविधातव्येत्यारभ्यते । श्रद्धा-	कारणरूपसे एक कर फिर उसके
तपसोर्वह्मोपासनाङ्गत्वप्रदर्शना-	सोलह-विभाग कर उसमें ब्रह्मादृष्टिका
याख्यायिका ।	विधान करना है; इसीके लिये अब
	आरम्भ किया जाता है । यहाँ जो
	आख्यायिका है वह श्रद्धा और
	तपका ब्रह्मोपासनाका अङ्गत्व
	प्रदर्शित करनेके लिये है ।

सत्यकामो ह जावालो जवालां मातरमामन्त्रया-
 श्रक्रे ब्रह्मचर्यं भवति विवत्स्यामि किंगोत्रो न्वहम-
 स्मीति ॥ १ ॥

जवालाके पुत्र सत्यकामने अपनी माता जवालाको सम्बोधित करके निवेदन किया—‘हे पूज्ये ! मैं ब्रह्मचर्यपूर्वक [गुरुकुलमें] निवास करना चाहता हूँ; [वता] मैं किस गोत्रवाला हूँ ?’ ॥ १ ॥

सत्यकामो ह नामतः, हशब्द	‘ह’ शब्द इतिहासका द्योतक
ऐतिह्यार्थः, जवालाया अपत्यं	है । जवालाके पुत्रने, जो नामसे
जावालो जवालां स्वां मातरमा-	सत्यकाम था, अपनी माता जवाला-
मन्त्रयाश्रक्रे आमन्त्रितवान् ।	को आमन्त्रित—सम्बोधित [करके
ब्रह्मचर्यं स्वाध्यायग्रहणाय हे	निवेदन] किया—‘हे पूजनीये ! मैं
भवति विवत्स्याम्याचार्यकुले	स्वाध्यायग्रहणके लिये ब्रह्मचर्यपूर्वक
	आचार्यकुलमें निवास करूँगा ।

किंगोत्रोऽहं किमस्य मम गोत्रं । मै किंगोत्रं हूं ? मेरा क्या गोत्र है ?
सोऽहं किंगोत्रो न्वहमस्मीति ॥१॥ अर्थात् मैं किस गोत्रवाला हूं ? ॥१॥

—:❀:—

एवं पृष्टा—

इस प्रकार पूछी जानेपर—

सा हैनमुवाच नाहमेतद्वेद तात यद्गोत्रस्त्वमसि
वहहं चरन्ती परिचारिणी यौवने त्वामलभे साहमेतन्न
वेद यद्गोत्रस्त्वमसि जवाला तु नामाहमस्मि सत्यकामो
नाम त्वमसि स सत्यकाम एव जावालो ब्रुवीथा इति ॥२॥

उसने उससे कहा—‘हे तात ! तू जिस गोत्रवाला है उसे मैं नहीं जानती । पहले मैं पतिके घर आये हुए बहुत-से अतिथियोंकी सेवा-टहल करनेवाली परिचारिका थी । [परिचर्यामिसलग्न होनेसे गोत्र आदिकी ओर मेरा ध्यान नहीं था] उन्ही दिनों युवावस्थामे जब मैंने तुझे प्राप्त किया [तुम्हारे पिता परलोकवासी हो गये, अतः उनसे भी पूछ न सकी] इसलिये मैं यह नहीं जानती कि तू किस गोत्रवाला है ? मैं तो जवाला नामवाली हूँ और तू सत्यकाम नामवाला है । अतः तू अपनेको ‘सत्यकाम जावाल’ बतला देना’ ॥ २ ॥

जवाला सा हैनं पुत्रमुवाच—
नाहमेतत्तव गोत्रं वेद, हे तात
यद्गोत्रस्त्वमसि । कस्मान्न वेत्सि ?
इत्युक्ताह—बहु भर्तृगृहे परिचर्या-
जातमतिथ्यभ्यागतादि चरन्त्यहं
परिचारिणी परिचरन्तीति परि-
चरणशौलैवाहम्, परिचरणचित्त-
तया गोत्रादिस्मरणे मम मनो

उस जवालाने अपने उस पुत्रसे
कहा—‘हे तात ! जिस गोत्रवाला
तू है मैं इस तेरे गोत्रको नहीं जानती ।’
क्यों नहीं जानती ?—इस प्रकार
कही जानेपर वह बोली—पतिके
घरमे अतिथि और अभ्यागतादिकों-
की बहुत टहल करनेवाली मैं परि-
चारिणी—परिचर्या करनेवाली
अर्थात् शुश्रूषापरायणा थी । इस
प्रकार परिचर्यामे चित्त लगा रहनेके
कारण गोत्रादिको याद रखनेमे मेरा

नाभूत् । यौवने च तत्काले त्वामलमे लब्धवत्यस्मि । तदैव ते पितोपरतः । अतोऽनाथाहं साहमेतन्न वेद यद्वोत्रस्त्वमसि । जवाला तु नामाहमस्मि सत्यकामो नाम त्वमसि स त्वं सत्यकाम एवाहं जावालोऽस्मीत्याचार्याय ब्रुवीथाः, यद्याचार्येण पृष्ट इत्यभिप्रायः ॥ २ ॥

मन नहीं था । तथा उस समय युवावस्थामें ही मैंने तुझे प्राप्त किया था । उसी समय तेरे पिताका देहान्त हो गया । इसलिये मैं अनाथा हो गयी और इसीसे मुझे इसका कुछ पता नहीं कि तू किस गोत्रवाला है । मैं तो जवाला नामवाली हूँ और तू सत्यकाम नामवाला है; अतः तात्पर्य यह है कि यदि आचार्य तुझसे पूछें तो तू यही कह देना कि 'मैं सत्यकाम जावाल हूँ' ॥ २ ॥

—:०:—

स ह हरिद्रुमतं गोतममेत्योवाच ब्रह्मचर्यं भगवति वत्स्यास्युपेयां भगवन्तमिति ॥ ३ ॥

उसने हरिद्रुमत गौतमके पास जाकर कहा—'मैं पूज्य श्रीमान्के यहाँ ब्रह्मचर्यपूर्वक वास करूँगा; इसीसे आपकी सन्निधिमें आया हूँ' ॥ ३ ॥

स ह सत्यकामो हरिद्रुमतं हरिद्रुमतोऽपत्यं हरिद्रुमतं गोतमं गोत्रत एत्य गत्वोवाच ब्रह्मचर्यं भगवति पूजावति त्वयि वत्स्यास्यत उपेयासुपगच्छेयं शिष्यतया भगवन्तम् ॥ ३ ॥

उस सत्यकामने, जो गोत्रतः गौतम थे, उन हरिद्रुमत-हरिद्रुमान्के पुत्रके पास जाकर कहा—'आप भगवान्-पूज्यवरके यहाँ मैं ब्रह्मचर्यपूर्वक वास करूँगा; इसीसे मैं आपकी सन्निधिमें उपसत्ति—शिष्यभावे गमन करता हूँ' ॥ ३ ॥

— ❁ —

इत्युक्तवन्तम्—

। इस प्रकार कहनेवाले—

त होवाच किं गोत्रो नु सोम्यासीति स होवाच नाहमेतद्वेद भो यद्वोत्रोऽहमस्म्यपृच्छं मातरं सा मा प्रत्यब्रवीदुबह्वहं चरन्ती परिचारिणी यौवने त्वामलमे

साहमेतन्न वेद यद्वोत्रस्त्वमसि जवाला तु नामाहमस्मि
सत्यकामो नाम त्वमसीति सोऽहं सत्यकामो जावा-
लोऽस्मि भो इति ॥ ४ ॥

उससे [गौतमने] कहा—‘हे सोम्य ! तू किस गोत्रवाला है ?’ उसने कहा—‘भगवन् ! मैं जिस गोत्रवाला हूँ उसे नहीं जानता । मैंने मातासे पूछा था । उसने मुझे यह उत्तर दिया कि ‘पहले मैं पतिके घर आये हुए बहुतमे अतिथियोकी सेवा-टहल करनेवाली परिचारिका थी [परिचर्यामें संलग्न होनेसे ही गोत्र आदिकी ओर मेरा ध्यान नहीं रहा] । उन्ही दिनों युवावस्थामे जब मैंने तुझे प्राप्त किया [तुम्हारे पिता परलोकवासी हो गये, अतः उनसे भी न पूछ सकी], इसलिये मैं यह नहीं जानती कि तू किस गोत्रवाला है ? मैं जवाला नामवाली हूँ और तू सत्यकाम नामवाला है ।’ अतः हे गुरो ! मैं सत्यकाम जावाल हूँ ॥ ४ ॥

तं होवाच गौतमः—किंगोत्रो
नु सोम्यासि ? इति, विज्ञातकुल-
गोत्रः शिष्य उपनेतव्यः, इति पृष्टः
प्रत्याह सत्यकामः । स
होवाच नाहमेतद्वेद भोः, यद्वो-
त्रोऽहमस्मि, किं त्वपृच्छं पृष्ट-
वानस्मि, मातरम् ; सा मया
पृष्टा मां प्रत्यब्रवीन्माता—बह्वहं
चरन्तीत्यादि पूर्ववत् । तस्या
अहं वचः स्मरामि, सोऽहं सत्य-
कामोज्ज्वालोऽस्मि भो इति ॥ ४ ॥

उससे गौतमने कहा—‘हे सोम्य ! तू किस गोत्रवाला है ? क्योंकि जिसके कुल और गोत्रका पता हो उसी शिष्यका उपनयन करना चाहिये ।’ इस प्रकार पूछे जानेपर सत्यकामने उत्तर दिया । वह बोला—‘भगवन् ! मैं जिस गोत्रवाला हूँ, उसे नहीं जानता, किंतु मैंने मातासे पूछा था, मेरेद्वारा पूछे जानेपर माताने मुझे यहो उत्तर दिया कि ‘मैं बहुत-से अतिथियोकी सेवा-टहल करनेवाली’ इत्यादि पूर्ववत् समझना चाहिये । मुझे उसके वे वचन याद हैं; अतः हे गुरो ! मैं सत्यकाम जावाल हूँ ॥ ४ ॥

तः होवाच नैतद्ब्राह्मणो विवक्तुमर्हति समिधः
 सोम्याहरोप त्वा नेष्ये न सत्यादगा इति तमुपनीय
 कृशानामवलानां चतुःशता गा निराकृत्योवाचेमाः सोम्या-
 नुसंव्रजेति ता अभिप्रस्थापयन्नुवाच नासहस्रेणावर्ते-
 येति सहवर्षगणं प्रोवासता यदा सहस्रं संपेदुः ॥५॥

उससे गौतमने कहा—‘ऐसा स्पष्ट भाषण कोई ब्राह्मणेतर नहीं कर सकता । अतः हे सोम्य ! तू समिधा ले आ, मैं तेरा उपनयन कर दूँगा; क्योंकि तूने सत्यका त्याग नहीं किया ।’ तब उसका उपनयन कर चार सौ कृश और दुर्बल गौएँ अलग निकालकर उससे कहा—‘सोम्य ! तू इन गौओंके पीछे जा ।’ उन्हें ले जाते समय उसने कहा—‘इनकी एक सहस्र गायें हुए बिना मैं नहीं लौटूँगा’ जब तक कि वे एक सहस्र हुईं वह बहुत वर्षोंतक वनमें ही रहा ॥ ५ ॥

तं होवाच गौतमो नैतद्ब्रह्म-
 ब्राह्मणो विशेषेण वक्तुमर्हत्यार्ज-
 वार्थसंयुक्तम् । ऋजवो हि ब्राह्म-
 णा नेतरे स्वभावतः । यस्मान्न
 सत्याद्ब्राह्मणजातिधर्मादगा ना-
 पेतवानसि, अतो ब्राह्मणं त्वामु-
 पनेष्येज्जः संस्कारार्थं होमाय
 समिधं सोम्याहरेत्युक्त्वा तमु-
 पनीय कृशानामवलानां गो-

उससे गौतमने कहा—‘ऐसा सरलार्थयुक्त वचन विशेषतः कोई अब्राह्मण नहीं बोल सकता, क्योंकि ब्राह्मण तो स्वभावतः ही सरल होते हैं, और लोग नहीं । क्योंकि तू ब्राह्मणजातिके धर्म सत्यसे विचलित अर्थात् भ्रष्ट नहीं हुआ, अतः मैं तुझ ब्राह्मणका उपनयन-संस्कार करूँगा। इसलिये हे सोम्य ! संस्कारार्थ होम करनेके लिये तू समिध ले आ ।’ ऐसा कह उसका उपनयन करनेके अनन्तर उसने गौओंके यूथमेंसे

यूथान्निराकृत्यापकृष्य चतुःशता
चत्वारि शतानि गवामुवाचेमा
गाः सोम्यानुसंव्रजानुगच्छ ।

इत्युक्तस्ता अरण्यं प्रत्यभि-
प्रस्थापयन्नुवाच नासहस्रेणा-
पूर्णेन सहस्रेण नावर्तेय न प्रत्या-
गच्छेयम् । स एवमुक्त्वा गा
अरण्यं तृणोदकबहुलं द्वन्द्वरहितं
प्रवेश्य स ह वर्षगणं दीर्घं प्रो-
वास प्रोषितवान् । ताः सम्य-
ग्गावो रक्षिता यदा यस्मिन्काले
सहस्रं संपेदुः संपन्ना बभूवुः ॥ ५ ॥

चार सौ कृश और निर्बल गौएं अलग
निकालकर उससे कहा—‘हे सोम्य !
तू इन गौओंका अनुगमन कर—
इनके पीछे-पीछे जा ।’

इस प्रकार कहे जानेपर उन्हें
वनकी ओर हाँकते हुए सत्यकामने
कहा—‘बिना एक सहस्र हुए
अर्थात् इनकी एक सहस्र संख्या
पूरी हुए बिना मैं नहीं लौटूँगा ।’
ऐसा कह वह उन गौओंको एक
वनमें, जिसमें कि तृण और जलकी
अधिकता थी तथा जो सर्वथा द्वन्द्व-
रहित था, ले गया और वर्षोंतक—
बहुत कालपर्यन्त, जबतक कि सम्यक्
प्रकारसे रक्षा की हुई वे गौएं एक
सहस्र हुईं, वही रहा ॥ ५ ॥



इतिच्छान्दोग्योपनिषदि चतुर्थाध्याये
चतुर्थखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥ ४ ॥



पञ्चम खण्ड

—:०:—

वृषभद्वारा सत्यकामको ब्रह्मके प्रथम पादका उपदेश

<p>तमेतं श्रद्धातपोभ्यां सिद्धं वायुदेवता दिक्सम्बन्धिनी तुष्टा सत्यपममनुप्रविश्यर्षमभावमाप- चानुग्रहाय ।</p>	<p>श्रद्धा और तपसे सिद्ध हुए उस इस सत्यकामसे दिक्सम्बन्धिनी वायुदेवता संतुष्ट होकर ऋषभ (साँड) में अनुप्रविष्ट हुई अर्थात् उसपर कृपा करनेके लिये ऋषभ- भावको प्राप्त हुई ।</p>
---	--

अथ हैनमृषभोऽभ्युवाद सत्यकाम ३ इति भगव
इति ह प्रतिशुश्राव प्राप्ताः सोम्य सहस्रं स्मः प्रापय
न आचार्यकुलम् ॥ १ ॥

तब उससे साँडने 'सत्यकाम !' ऐसा कहा । उसने 'भगवन् !'
ऐसा उत्तर दिया । [वह बोला—] 'हे सोम्य ! हम एक सहस्र हो
गये हैं, अब तू हमें आचार्यकुलमें पहुँचा दे' ॥ १ ॥

<p>अथ हैनमृषभोऽभ्युवादाभ्यु- क्तवान्सत्यकाम ३ इति संवोध्य, तमसौ सत्यकामो भगव इति ह प्रतिशुश्राव प्रतिवचनं ददौ । प्राप्ताः सोम्य सहस्रं स्मः, पूर्णा तव प्रतिज्ञा, अतः प्रापय नोऽस्मा- नाचार्यकुलम् ॥ १ ॥</p>	<p>तब उससे साँडने 'सत्यकाम !' इस प्रकार सम्बोधन करते हुए कहा । उसे सत्यकामने 'भगवन् !' ऐसा कहकर प्रतिवचन—प्रत्युत्तर दिया । [साँडने कहा—] 'हे सोम्य ! हम एक सहस्र हो गये हैं, तेरी प्रतिज्ञा पूरी हो गयी; अतः अब तू हमें आचार्यकुलमें पहुँचा दे' ॥ १ ॥</p>
--	--

—:०:—

किं च—

तथा—

ब्रह्मणश्च ते पादं ब्रवाणीति ब्रवीतु मे भगवानिति
तस्मै होवाच प्राची दिक्कला प्रतीची दिक्कला दक्षिणा
दिक्कलोदीची दिक्कलैष वै साम्य चतुष्कलः पादो
ब्रह्मणः प्रकाशवान्नाम ॥ २ ॥

‘[क्या] मैं तुझे ब्रह्मका एक पाद बतलाऊँ ?’ तब [सत्यकामने]
कहा—‘भगवान् मुझे [अवश्य] बतलावें ।’ साँड उससे बोला—‘पूर्व
दक्कला, पश्चिम दिक्कला, दक्षिण दिक्कला और उत्तर दिक्कला, हे
सोम्य ! यह ब्रह्मका ‘प्रकाशवान्’ नामक चार कलाओंवाला पाद है’ ॥२॥

अहं ब्रह्मणः परस्य ते तुभ्यं
पादं ब्रवाणि कथयानि ? इत्युक्तः
प्रत्युवाच—ब्रवीतु कथयतु मे
मह्यं भगवान् । इत्युक्तः ऋषभस्त-
स्मै सत्यकामाय होवाच—प्राची
दिक्कला ब्रह्मणः पादस्य चतुर्था
भागः तथा प्रतीची दिक्कला
दक्षिणा दिक्कलोदीची दिक्कलैष
वै सोम्य ब्रह्मणः पादश्चतुष्क-
लश्चतस्रः कला अवयवा यस्य
सोऽयं चतुष्कलः पादो ब्रह्मणः
प्रकाशवान्नाम प्रकाशवानित्येव
नामाभिधानं यस्य । तथोत्तरेऽपि
पादास्त्रयश्चतुष्कला ब्रह्मणः ॥२॥

‘[क्या] मैं तुम्हसे परब्रह्मका
एक पाद बतलाऊँ—कहूँ ?’ ऐसा
कहे जानेपर सत्यकामने उत्तर
दिया—‘भगवान् मुझे [अवश्य]
बतलावें ।’ इस प्रकार कहे जानेपर
साँडने उस सत्यकामसे कहा—‘पूर्व
दिक्कला उस ब्रह्मके पादका चौथा
भाग है । इसी प्रकार पश्चिम
दिक्कला, दक्षिण दिक्कला और उत्तर
दिक्कला रहै—हे सोम्य ! यह ब्रह्मका
चतुष्कलपाद है—जिसमें चार
कलाएं अवयव हैं ऐसा यह ब्रह्मका
प्रकाशवान् नामका अर्थात् ‘प्रकाश-
वान्’ यही जिसका नाम है [ऐसा
एक पाद है] । इसी प्रकार ब्रह्मके
आगेके तीन पाद भी चार कलाओं-
वाले ही हैं’ ॥ २ ॥

स य एतमेवं विद्वांश्चतुष्कलं पादं ब्रह्मणः
प्रकाशवानित्युपास्ते प्रकाशवानस्मिँल्लोके भवति
प्रकाशवतो ह लोकाञ्जयति य एतमेवं विद्वांश्चतुष्कलं
पादं ब्रह्मणः प्रकाशवानित्युपास्ते ॥ ३ ॥

वह, जो इसे इस प्रकार जाननेवाला पुरुष ब्रह्मके इस चतुष्कल पादकी 'प्रकाशवान्' इस गुणसे युक्त उपासना करता है, इस लोकमें प्रकाशवान् होता है और प्रकाशवान् लोकोंको जीत लेता है, जो कि इसे इस प्रकार जाननेवाला पुरुष ब्रह्मके इस चतुष्कल पादकी 'प्रकाशवान्' इस गुणसे युक्त उपासना करता है ॥ ३ ॥

स यः कश्चिदेवं यथोक्तमेतं
ब्रह्मणश्चतुष्कलं पादं विद्वान्प्र-
काशवानित्यनेन गुणेन विशिष्ट-
मुपास्ते तस्येदं फलं प्रकाशवा-
नस्मिँल्लोके भवति प्रख्यातो
भवतीत्यर्थः । तथादृष्टं फलं
प्रकाशवतो ह लोकान्देवादिस-
म्वन्धिनो मृतः सञ्जयति प्राप्नोति ।
य एतमेवं विद्वांश्चतुष्कलं पादं
ब्रह्मणः प्रकाशवानित्युपास्ते ॥ ३ ॥

वह, जो कोई विद्वान् ब्रह्मके इस चतुष्कल पादकी इस प्रकार 'प्रकाशवान्' इस गुणसे युक्त उपासना करता है उसे यह फल मिलता है कि वह इस लोकमें प्रकाशवान् अर्थात् विख्यात होता है । तथा अदृष्टफल यह होता है कि वह मरनेपर देवतादिसे सम्बद्ध प्रकाशवान् लोकोंको जीत लेता है, जो विद्वान् कि इस प्रकार ब्रह्मके इस चतुष्कलपादकी 'प्रकाशवान्' इस रूपसे उपासना करता है ॥ ३ ॥

—❀:०:❀—

इतिछान्दोग्योपनिषदि चतुर्थाध्याये
पञ्चमखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥ ५॥

—❀:०:❀—

षष्ठ खण्ड

—॥३॥—

अग्निद्वारा ब्रह्मके द्वितीय पादका उपदेश

अग्निष्टे पादं वक्तेति स ह श्वोभूते गा अभिप्रस्था-
पयाश्चकार । ता यत्राभि सायं बभूवुस्तत्राग्निमुपसमाधाय
गा उपरुध्य समिधमाधाय पश्चादग्नेः प्राङ्मुपोपविवेश ॥ १ ॥

‘अग्नि तुझे [दूसरा] पाद बतलावेगा’—ऐसा [कहकर वृषभ मौन
हो गया] । दूसरे दिन उसने गौओंको [गुरुकुलकी ओर] हाँक दिया ।
वे सायंकालमें जहाँ एकत्रित हुई वहाँ अग्नि प्रज्वलित कर गौओंको रोक
समिधाधान कर अग्निके पश्चिम पूर्वाभिमुख होकर बैठ गया ॥ १ ॥

सोऽग्निस्ते पादं वक्तेत्युपर-
मर्षमः । स सत्यकामो ह श्वोभूते
परेद्युर्नैत्यकं नित्यं कर्म कृत्वा
गा अभि प्रस्थापयाश्चकाराचार्य-
कुलं प्रति । ताः शनैश्चरन्त्य
आचार्यकुलाभिमुख्यः प्रस्थिता
यत्र यस्मिन्काले देशेऽभि सायं
निशायामभिसंवभूवुरेकत्राभि-
मुख्यः संभूताः । तत्राग्निमुप-
समाधाय गा उपरुध्य समिधमा-
धाय पश्चादग्नेः प्राङ्मुपोपविवेश
ऋषभवचो ध्यायन् ॥ १ ॥

वह साँड ‘अग्नि तुझे [दूसरा]
पाद बतलावेगा’—ऐसा कहकर मौन
हो गया । दूसरे दिन सत्यकामने
नैत्यक—नित्यकर्म करनेके अनन्तर
गौओंको गुरुकुलकी ओर चला दिया ।
वे गुरुकुलकी ओर धीरे-धीरे चलती
हुई जिस समय और जिस स्थानमें
अभि सायम्—रातमें एकत्रित
हुई वही अग्नि स्थापित कर गौओंको
रोक समिधाधान कर साँडके वचनों-
को याद करता हुआ अग्निके पश्चिम
पूर्वाभिमुख होकर बैठ गया ॥ १ ॥

—॥३॥—

तमग्निरभ्युवाद सत्यकाम ३ इति भगव इति ह
प्रतिशुश्राव ॥ २ ॥

उससे अग्निने 'सत्यकाम !' ऐसा कहा । तब उसने 'भगवान् !' ऐसा प्रत्युत्तर दिया ॥ २ ॥

<p>तमग्निरभ्युवाद् सत्यकाम ३ इति संबोध्य, तमसौ सत्यकामो भगव इति ह प्रतिशुश्राव प्रति- वचनं ददौ ॥ २ ॥</p>	<p>उससे अग्निने 'सत्यकाम !' इस प्रकार सम्बोधन करते हुए कहा । उसे सत्यकामने 'भगवान् !' ऐसा प्रत्युत्तर दिया ॥ २ ॥</p>
--	--

— ० : —

ब्रह्मणः सोम्य ते पादं ब्रवाणाति ब्रवीतु मे
भगवानिति तस्मै होवाच पृथिवी कलान्तरिक्षं कला
द्यौः कला समुद्रः कलैष वै सोम्य चतुष्कलः पादो
ब्रह्मणोऽनन्तवान्नाम ॥ ३ ॥

'हे सोम्य ! मैं तुझे ब्रह्मका एक पाद बतलाऊँ ?' [सत्यकामने कहा—] 'भगवान् मुझे [श्रवण] बतलावें ।' तब उसने उससे कहा— 'पृथिवी कला है, अन्तरिक्ष कला है, द्युलोक कला है और समुद्र कला है । हे सोम्य ! यह ब्रह्मका चतुष्कल पाद 'अनन्तवान्' नामवाला है' ॥ ३ ॥

<p>ब्रह्मणः सोम्य ते पादं ब्रवा- णाति ब्रवीतु मे भगवानिति तस्मै होवाच—पृथिवी कलान्तरिक्षं कला द्यौः कला समुद्रः कले- त्यात्मगोचरमेव दर्शनमग्नि- ब्रवीत् । एष वै सोम्य चतुष्कलः पादो ब्रह्मणोऽनन्तवान्नाम ॥ ३ ॥</p>	<p>'हे सोम्य ! मैं तुझे ब्रह्मका एक पाद बतलाऊँ ?' [सत्यकामने कहा—] 'भगवान् मुझे बतलावें ।' तब उसने उससे कहा— 'पृथिवी कला है, अन्तरिक्ष कला है, द्युलोक कला है और समुद्र कला है'—इस प्रकार अग्निने अपनेसे सम्बद्ध दर्शनका निरूपण किया—'हे सोम्य ! यह ब्रह्मका चार कलाओंवाला पाद 'अनन्तवान्' नामवाला है' ॥ ३ ॥</p>
--	--

— ० : —

स य एतमेवं विद्वांश्चतुष्कलं पादं ब्रह्मणोऽ-
नन्तवानित्युपास्तेऽनन्तवानस्मिँल्लोके भवत्यनन्तवतो ह
लोकाञ्जयति य एतमेवं विद्वांश्चतुष्कलं पादं ब्रह्मणो-
ऽनन्तवानित्युपास्ते ॥ ४ ॥

वह, जो इसे इस प्रकार जाननेवाला पुरुष ब्रह्मके इस चतुष्कल
पादकी 'अनन्तवान्' इस गुणसे युक्त उपासना करता है वह इस लोकमें
अनन्तवान् होता है और अनन्तवान् लोकोंको जीत लेता है, जो कि
इसे इस प्रकार जाननेवाला पुरुष ब्रह्मके इस चतुष्कल पादकी 'अनन्तवान्',
इस गुणसे युक्त उपासना करता है ॥ ४ ॥

<p>स यः कश्चिद्यथोक्तं पादम- नन्तवत्त्वेन गुणेनोपास्ते स तथैव तद्गुणो भवत्यस्मिँल्लोके मृतश्चा- नन्तवतो ह लोकान्स जयति य एतमेवमित्यादि पूर्ववत् ॥ ४ ॥</p>	<p>वह, जो कोई पुरुष उपयुक्त पाद- की अनन्तवत्त्व गुणसे युक्त उपासना करता है वह इस लोकमें उसी प्रकार—उसी गुणवाला हो जाता है, तथा मरनेपर अनन्तवान् लोकोंको जीत लेता है, जो कि इसे इस प्रकार जाननेवाला पुरुष—इत्यादि शेष अर्थ पूर्ववत् है ॥ ४ ॥</p>
---	---

—: * :—

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि चतुर्थाध्याये
षष्ठखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥ ६ ॥



सप्तम खण्ड

—॥३॥—

हंसद्वारा ब्रह्मके तृतीय पादका उपदेश

हंसस्ते पादं वक्तेति स ह श्वोभूते गा अभि-
प्रस्थापयाश्चकार ता यत्राभि सायं बभूवुस्तत्राग्निमुप-
समाधाय गा उपरुध्य समिधमाधाय पश्चादग्नेः प्राङ्मु-
पोपविवेश ॥१॥ तंहंस उपनिपत्याभ्युवाद सत्यकाम
३ इति भगव इति ह प्रतिशुश्राव ॥ २ ॥

‘हंस तुझे [तीसरा] पाद बतलावेगा’ ऐसा [कहकर अग्नि निवृत्त हो गया] । दूसरे दिन उसने गौओंको आचार्यकुलकी ओर हाँक दिया । वे सायङ्कालमें जहाँ एकत्रित हुईं वह उसी जगह अग्नि प्रज्वलित कर, गौओंको रोक और समिधाधान कर अग्निके पश्चिम पूर्वाभिमुख होकर बैठा ॥ १ ॥ तब हंसने उसके समीप उतरकर कहा—‘सत्यकाम !’ उसने उत्तर दिया—‘भगवन् !’ ॥ २ ॥

<p>सोऽग्निर्हंसस्ते पादं वक्तेत्यु- क्त्वोपरराम । हंस आदित्यः, शौक्लयात्पतनसामान्याच्च । स ह श्वोभूत इत्यादि समानम् ॥१-२॥</p>	<p>वह अग्नि ‘हंस तुझे तीसरा पाद बतलावेगा’ ऐसा कहकर उपरत हो गया । शुक्लता तथा उड़नेमें समानता होनेके कारण यहाँ आदित्यको हंस कहा गया है । ‘स ह श्वोभूते’ आदि वाक्यका अर्थ पूर्ववत् है ॥ १-२ ॥</p>
---	---

—***—

ब्रह्मणः सोम्य ते पादं ब्रवाणीति ब्रवीतु मे
भगवानिति तस्मै होवाचाग्निः कला सूर्यः कला चन्द्रः
कला विद्युत्कलैष वै सोम्य चतुष्कलः पादो ब्रह्मणो
ज्योतिष्मान्नाम ॥ ३ ॥

[हंसने कहा—] हे सोम्य ! मैं तुझे ब्रह्मका पाद बतलाऊँ ?'
[सत्यकाम बोला—] 'भगवान् मुझे बतलावें ।' तब वह उससे बोला—
'अग्नि कला है, सूर्य कला है, चन्द्रमा कला है और विद्युत् कला है ।
हे सोम्य ! यह ब्रह्मका चतुष्कल पाद 'ज्योतिष्मान्' नामवाला है' ॥ ३ ॥

स य एतमेवं विद्वाश्चतुष्कलं पादं ब्रह्मणो
ज्योतिष्मानित्युपास्ते ज्योतिष्मानस्मिँल्लोके भवति
ज्योतिष्मतो ह लोकाञ्जयति य एतमेवं विद्वाश्चतु-
ष्कलं पादं ब्रह्मणो ज्योतिष्मानित्युपास्ते ॥ ४ ॥

जो कोई इसे इस प्रकार जाननेवाला पुरुष ब्रह्मके इस चतुष्कल
पादको 'ज्योतिष्मान्' ऐसे गुणसे युक्त उपासना करता है वह इस लोकमें
ज्योतिष्मान् होता है तथा ज्योतिष्मान् लोकोंको जीत लेता है, जो कोई
कि इसे इस प्रकार जाननेवाला पुरुष ब्रह्मके इस चतुष्कल पादको
'ज्योतिष्मान्' ऐसे गुणसे युक्त उपासना करता है ॥ ४ ॥

अग्निः कला सूर्यः कला चन्द्रः ।
कला विद्युत्कलैष वै सोम्येति ।
ज्योतिर्विषयमेव च दर्शनं प्रोवा-
चातो हंसस्यादित्यत्वं प्रतीयते ।
विद्वत्फलम्—ज्योतिष्मान्दीप्ति-
युक्तोऽस्मिँल्लोके भवति । चन्द्रा-
दित्यादीनां ज्योतिष्मत एव च
मृत्वा लोकाञ्जयति; समानमुत्त-
रम् ॥ ३-४ ॥

'अग्नि कला है, सूर्य कला है,
चन्द्र कला है, विद्युत् कला है, हे
सोम्य यह' इत्यादि वाक्यसे उसने
ज्योतिर्विषयक दर्शनका ही निरूपण
किया है; इससे हंसका आदित्यत्व
प्रतीत होता है । इस प्रकारके
विद्वान्को प्राप्त होनेवाला फल—
वह इस लोकमें ज्योतिष्मान्—
दीप्तियुक्त होता है तथा मरनेपर
चन्द्र एवं आदित्यादिके ज्योतिष्मान्
लोकोंको ही जीत लेता है । आगेका
अर्थ पूर्ववत् है ॥ ३-४ ॥

—*:*—

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि चतुर्थाध्याये
सप्तमखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥ ७ ॥

—:~:—

अष्टम खण्ड

—: * :—

मद्गुद्वारा ब्रह्मके चतुर्थ पादका उपदेश

मद्गुण्टे पादं वक्तेति स ह श्वोभूतेगा अभिप्रस्था-
पयाञ्चकार ता यत्राभि सायं बभूवुस्तत्राग्निमुपसमाधाय
गा उपरुध्य समिधमाधाय पश्चाद्गनेः प्राङ्मुपोपविवेश ॥ १ ॥

‘मद्गु तुझे [चौथा] पाद वतलावेगा’ ऐसा [कहकर हंस चला गया] । दूसरे दिन उसने गौओंको गुरुकुलकी ओर हाँक दिया । वे सायंकालमें जहाँ एकत्रित हुई वहीं अग्नि प्रज्वलित कर गायोंको रोक समिधाधान कर अग्निके पीछे पूर्वाभिमुख होकर बैठ गया ॥ १ ॥

हंसोऽपि मद्गुण्टे पादं वक्ते-	हंस भी ‘मद्गु तुझे [चौथा]
त्युपरराम । मद्गुरुदकचरः पक्षी	पाद वतलावेगा’ ऐसा कहकर चला
स चाप्सम्बन्धात्प्राणः । स ह	गया । ‘मद्गु’ जलचर पक्षीको कहते
श्वोभूत इत्यादि पूर्ववत् ॥ १ ॥	हैं; जलसे सम्बन्ध होनेके कारण वह
	प्राण ही है । ‘स ह श्वोभूते’ इत्यादि
	वाक्यका तात्पर्य पूर्ववत् है ॥ १ ॥

तं मद्गुरुरूपनिपत्याभ्युवाद सत्यकाम ३ इति
भगव इति ह प्रतिशुश्राव ॥ २ ॥

मद्गुने उसके पास उतरकर कहा—‘सत्यकाम !’ तब उसने उत्तर दिया ‘भगवन् !’ ॥ २ ॥

ब्रह्मणः सोम्य ते पादं ब्रवाणीति ब्रवीतु मे
भगवानिति तस्मै होवाच प्राणः कला चक्षुः कला
श्रोत्रं कला मनः कलौष वै सोम्य चतुष्कलः पादो
ब्रह्मण आयतनवान्नाम ॥ ३ ॥

[मद्गु बोला—] 'हे सोम्य ! मैं तुझे ब्रह्मका पाद बतलाऊँ ?'
[सत्यकाम बोला—] 'भगवान् मुझे बतलावें ।' तब वह उससे बोला—
'प्राण कला है, चक्षु कला है, श्रोत्र कला है और मन कला है । हे
सोम्य ! यह ब्रह्मका चतुष्कल पाद 'आयतनवान्' नामवाला है' ॥ ३ ॥

स च मद्गुः प्राणः स्वविषय-
मेव च दर्शनमुवाच प्राणः कले-
त्याद्यायतनवानित्येवं नाम ।
आयतनं नाम मनः सर्वकण्ठोप-
हृतानां भोगानां तद्यस्मिन्पादे
विद्यत इत्यायतनवान्नाम
पादः ॥ २-३ ॥

उस मद्गु यानी प्राणने भी 'प्राण
कला है' इत्यादि 'आयतनवान्' इस
नामवाला पाद है, ऐसा कहकर
अपनेसे सम्बद्ध दर्शनका ही निरूपण
किया । समस्त इन्द्रियोंद्वारा ग्रहण
किये हुए भोगोंका आयतन मन ही
है, वह जिस पादमें विद्यमान है
वह पाद 'आयतनवान्' नामवाला
है ॥ २-३ ॥

स य एतमेवं विद्वांश्चतुष्कलं पादं ब्रह्मण आय-
तनवानित्युपास्त आयतनवानस्मिँल्लोके भवत्यायतनवतो
ह लोकाञ्जयति य एतमेवं विद्वांश्चतुष्कलं पादं ब्रह्मण
आयतनवानित्युपास्ते ॥ ४ ॥

वह जो इस प्रकार जाननेवाला पुरुष ब्रह्मके इस चतुष्कल पादकी 'आयतनवान्' ऐसे गुणसे युक्त उपासना करता है वह इस लोकमें 'आयतनवान्' होता है और आयतनवान् लोकोंको जीत लेता है, जो कोई कि इसे इस प्रकार जाननेवाला पुरुष ब्रह्मके इस चतुष्कल पादकी 'आयतनवान्' ऐसे गुणसे युक्त उपासना करता है ॥ ४ ॥

तं पादं तथैवोपास्ते यः स
आयतनवानाश्रयवानस्मिँल्लोके
भवति । तथायतनवत एव
सावकाशाँल्लोकान्मृतो जयति ।
य एतमेवमित्यादिपूर्ववत् ॥४॥

उस पादकी जो उसी प्रकार
उपासना करता है वह इस लोकमें
'आयतनवान्'—आश्रयवाला होता
है तथा मरनेपर आयतनवान्—
अवकाशयुक्त लोकोंको ही जीतता
है । 'य एतमेवम्' इत्यादि वाक्यका
अर्थ पूर्ववत् है ॥ ४ ॥

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि चतुर्थाध्याये-
ऽष्टमखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥ ८ ॥





गुरुभक्त सत्यकाम

[पृष्ठ ३९७]

नवम खण्ड

—:***:—

सत्यकामका आचार्यकुलमें पहुँचकर आचार्यद्वारा

पुनः उपदेश ग्रहण करना

स एवं ब्रह्मवित्सन्—

इस प्रकार वह ब्रह्मवेत्ता होकर—

प्राप हाचार्यकुलं तमाचार्योऽभ्युवाद सत्यकाम ३
इति भगव इति ह प्रतिशुश्राव ॥ १ ॥

आचार्यकुलमें पहुँचा । उससे आचार्यने कहा—‘सत्यकाम !’ तब उसने उत्तर दिया—‘भगवन् !’ ॥ १ ॥

—❧—

प्राप ह प्राप्तवानाचार्यकुलम् ।	आचार्यकुलमें पहुँचा । उससे
तमाचार्योऽभ्युवाद सत्यकाम ३	आचार्यने ‘सत्यकाम !’ ऐसा कहा ।
इति । भगव इति ह प्रतिशुश्राव । १ ।	तब उसने ‘भगवन् !’ ऐसा उत्तर दिया ॥ १ ॥

ब्रह्मविदिव वै सोम्य भासि को नु त्वानुशशासे-
त्यन्ये मनुष्येभ्य इति ह प्रतिजज्ञे भगवाँस्त्वेव मे
कामे ब्रूयात् ॥ २ ॥

‘हे सोम्य ! तू ब्रह्मवेत्ता-सा भासित हो रहा है; तुझे किसने उपदेश दिया है ?’ ऐसा [आचार्यने पूछा] । तब उसने उत्तर दिया ‘मनुष्योंसे भिन्न [देवताओं] ने मुझे उपदेश दिया है, अब मेरी इच्छाके अनुसार आप पूज्यपाद ही मुझे विद्याका उपदेश करें’ ॥ २ ॥

ब्रह्मविदिव वै सोम्य भासि ।	‘हे सोम्य ! तू ब्रह्मवेत्ता-सा
प्रसन्नेन्द्रियः प्रहसितवदनश्च	भासित हो रहा है ।’ कृतार्थ ब्रह्म- वेत्ता ही प्रसन्नेन्द्रिय, हासयुक्त मुख-

निश्चिन्तः कृतार्थो ब्रह्मविद्भवति ।

अत आचार्यो ब्रह्मविदिव भा-
सीति को न्विति वितर्कयन्नु-

वाच कस्त्वामनुशशासेति ।

स चाह सत्यकामोज्ये मनु-
ष्येभ्यो देवता मामनुशिष्ट-

वत्यः, कोज्यो भगवच्छिष्यं मां

मनुष्यः सन्ननुशसितुमुत्सहेते-

त्यभिप्रायः । अतो ज्ये मनुष्ये-

भ्य इति ह प्रतिजज्ञे प्रतिज्ञात-

वान् । भगवांस्तेव मे कामे

ममेच्छायां ब्रूयात्किमन्यैरुक्तेन

नाहं तद्गणयामीत्यभिप्रायः ॥२॥

वाला और चिन्तारहित हुआ करता है इसीसे आचार्यने कहा कि 'तू ब्रह्मवेत्ता-सा प्रतीत होता है, और 'को नु' इस प्रकार वितर्क करते हुए पूछा 'तुझे किसने उपदेश दिया है ?'

उस सत्यकामने कहा—'मनुष्यों-से अन्य देवताओंने मुझे उपदेश दिया है।' तात्पर्य यह है कि 'मनुष्य होनेपर तो मुझ श्रीमान्के शिष्यको उपदेश करनेका साहस ही कौन कर सकता है ?' अतः उसने यही प्रतिज्ञा की कि 'मुझे मनुष्योंसे अन्यने उपदेश किया है।' 'अब मेरी इच्छा-के अनुसार भगवान् ही मुझे उपदेश करें, औरोंके कहे हुएसे मुझे क्या लेना है ?' अभिप्राय यह है कि 'मैं उसे कुछ भी नहीं समझता' ॥२॥

—❀❀—

किं च—

यही नहीं—

श्रुतः ह्येव मे भगवद्दृशेभ्य आचार्याद्वैव विद्या
विदिता साधिष्ठं प्रापतीति तस्मै हैतदेवोवाचात्र ह न
किञ्चन वीयायेति वीयायेति ॥ ३ ॥

'मैंने श्रीमान्-जैसे ऋषियोंसे सुना है कि आचार्यसे जानी गयी विद्या ही अतिशय साधुताको प्राप्त होती है।' तब आचार्यने उसे उसी विद्याका उपदेश किया । उसमें कुछ भी न्यून नहीं हुआ, न्यून नहीं हुआ [अर्थात् उसकी विद्या पूर्ण ही रही] ॥ ३ ॥

श्रुतं हि यस्मान्मम विद्यत एवा-
स्मिन्नर्थे भगवद्दृशेभ्यो भगवत्स-
मेभ्य ऋषिभ्यः, आचार्याद्धैव
विद्या विदिता साधिष्ठं साधु-
तमत्वं प्रापति प्राप्नोतीत्यतो
भगवानेव ब्रूयादित्युक्त आचा-
र्योऽत्र वीक्षस्मै तामेव दैवतैरुक्तां
विद्याम् । अत्र ह न किञ्चन
षोडशकलविद्यायाः किञ्चिदेक-
देशमात्रमपि न वीयाय न विग-
तमित्यर्थः । द्विरभ्यासो विद्या-
परिसमाप्त्यर्थः ॥ ३ ॥

‘क्योंकि इस विषयमें भगवान्—
श्रीमान्के सदृश ऋषियोंसे मेरा यही
सुना हुआ है कि आचार्यसे जानी गयी
विद्या ही अतिशय साधुताको प्राप्त
होती है । अतः अब श्रीमान् ही मुझे
उपदेश करे ।’ ऐसा कहे जानेपर
आचार्यने उसे देवताओं द्वारा कही हुई
उसी विद्याका उपदेश किया । उसमें
अर्थात् उस षोडश कलाओंवाली
विद्यामें कुछ भी—उसका एकदेश
भी व्यययुक्त यानी विगत नहीं हुआ
अर्थात् उसकी विद्या पूर्ण ही रही ।
‘वीयाय वीयाय’ यह द्विरुक्ति विद्या-
की समाप्तिके लिये है ॥ ३ ॥



इतिच्छान्दोग्योपनिषदि चतुर्थाध्याये
नवमखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥६॥



दशम खण्ड

—:०:—

उपकोसलके प्रति अग्निद्वारा ब्रह्मविद्याका उपदेश

<p>पुनर्ब्रह्मविद्यां प्रकारान्तरेण वक्ष्यामीत्यारभते गतिं च तद्वि- दोऽग्निविद्यां च । आख्यायिका पूर्ववच्छ्रद्धातपसोर्ब्रह्मविद्यासाध- नत्वप्रदर्शनार्था ।</p>	<p>पुनः अन्य प्रकारसे ब्रह्मविद्याका निरूपण करना है, इसलिये तथा ब्रह्मवेत्ताकी गति और अग्निविद्याभी बतलानी है, इसलिये श्रुति आरम्भ करती है । यहाँ जो आख्यायिका है वह पूर्ववत् श्रद्धा और तपका ब्रह्मविद्यामें साधनत्व प्रदर्शित करने- के लिये है ।</p>
--	--

उपकोसलो ह वै कामलायनः सत्यकामे जाबाले
ब्रह्मचर्यमुवास तस्य ह द्वादशवर्षाण्यग्नीन्परिचचार स
ह स्मान्यानन्तेवासिनः समावर्तय५स्त५ह स्मैव न
समावर्तयति ॥ १ ॥

उपकोसलनामसे प्रसिद्ध कमलका पुत्र सत्यकाम जाबालके यहाँ
ब्रह्मचर्य ग्रहण करके रहता था । उसने बारह वर्षतक उस आचार्यके
अग्नियोंकी सेवा की; किंतु आचार्यने अन्य ब्रह्मचारियोंका तो समावर्तन
संस्कार कर दिया, किंतु केवल इसीका नहीं किया ॥ १ ॥

<p>उपकोसलो ह वै नामतः । कमलस्यापत्यंकामलायनः सत्य- कामे जाबाले ब्रह्मचर्यमुवास । तस्य ह ऐतिह्यार्थः । तस्याचार्यस्य द्वादशवर्षाण्यग्नीन्परिचचाराग्नी-</p>	<p>कमलके - पुत्र, कामलायनने, जिसका नाम उपकोसल था, सत्यकाम जाबालके यहाँ ब्रह्मचर्य- पूर्वक वास किया । 'तस्य ह' इसमें ह ऐतिह्यके लिये है । उसने बारह वर्षतक उस आचार्यके अग्नियोंकी</p>
---	--

नां परिचरणं कृतवान् । स ह
स्माचार्योऽन्यान्ब्रह्मचारिणः स्वा-
ध्यायं ग्राहयित्वा समावर्तयन्त-
मेवोपकोसलमेकं न समावर्तयति
स्म ह ॥ १ ॥

परिचर्या—सेवा की । किन्तु उस
आचार्यने अन्य ब्रह्मचारियोंका तो
स्वाध्याय ग्रहण कराकर समावर्तन
कर दिया, किन्तु उस उपकोसलका
ही समावर्तन नहीं किया ॥ १ ॥



तं जायोवाच ततो ब्रह्मचारी कुशलमग्नीन्परिच-
चारीन्मा त्वाग्नयः परिप्रवोचन्प्रब्रूह्यस्मा इति तस्मै
हाप्रोच्यैव प्रवासाञ्चक्रे ॥ २ ॥

उस (आचार्य) से उसकी भायानि कहा—‘यह ब्रह्मचारी खूब
तपस्या कर चुका है, इसने अच्छी तरह अग्नियोंकी सेवा की है ।
[देखिये] अग्नियां आपकी निन्दा न करें । अतः इसे विद्याका उपदेश
कर दीजिये ।’ किन्तु वह उसे उपदेश किये बिना ही बाहर चला
गया ॥ २ ॥

तमाचार्यं जायोवाच ततो
उपकोसलाय ब्रह्मचारी कुशलं
विद्या ब्रूहीति सम्यग्मग्नीन्परिच-
पाति प्रत्याचार्य- चारीत्परिचरित -
पत्न्या अनुरोधः वान् । भगवांश्चाग्निषु भक्तं न
समावर्तयति । अतोऽस्मद्भक्तं न
समावर्तयतीति ज्ञात्वा त्वामग्नयो
मा परिप्रवोचन्गर्हा तव मा
कुर्युः । अतः प्रब्रूह्यस्मै विद्यामि-

उस आचार्यसे उसकी भायानि
कहा—‘इस ब्रह्मचारीने खूब तपस्या
की है; इसने अग्नियोंकी अच्छी
तरह सेवा की है ! किन्तु श्रीमान्
तो अग्नियोंमें भक्ति रखनेवाले इस-
का समावर्तन ही नहीं करते । अतः
‘यह हमारे भक्तका समावर्तन नहीं
करता’—ऐसा जानकर अग्नियां
आपका परिवाद—आपकी निन्दा न
करें; इसलिये इस उपकोसलको इसकी
अभीष्ट विद्याका उपदेश कर दीजिये ।’

ष्टामुपकोसलायेति । तस्मा एवं किन्तु , खीद्वारा इस प्रकार कहे जानेपर भी, वह उससे कुछ कहे किञ्चित्प्रवासाञ्चक्रे प्रवसितवान् २, विना ही बाहर चला गया ॥ २ ॥

—*—

स ह व्याधिना न शितुं दध्रे तमाचार्यजायोवाच
ब्रह्मचारिन्नशान किं नु नाश्नासीति । स होवाच बहव
इमऽस्मिन्पुरुषे कामा नानात्यया व्याधिभिः प्रतिपूर्णा-
ऽस्मि नाशिष्यामीति ॥ ३ ॥

उस उपकोसलने मानसिक खेदसे अनशन करनेका निश्चय किया । उससे आचार्यपत्नीने कहा—‘अरे ब्रह्मचारिन् ! तू भोजन कर, क्यों नहीं भोजन करता ?’ वह बोला—‘इस मनुष्यमें बहुत-सी कामनाएँ रहती हैं जो वस्तुके स्वरूपका उल्लङ्घन करके अनेक विषयोंकी ओर जानेवाली हैं । मैं उन्हीं नानात्यय (बहुमुखी) मानसिक चिन्ताओंसे परिपूर्ण हूँ, इसलिये भोजन नहीं करूँगा’ ॥ ३ ॥

स होपकोसलो व्याधिना
खेदादुप- मानसेन दुःखेनान-
कोसलस्या- शितुमनशनं कर्तुं
नशनम् दध्रे धृतवान्मनः ।
तं तूष्णीमग्न्यागारेऽवस्थितमा-
चार्यजायोवाच हे ब्रह्मचारि-
न्नशान भुङ्क्ष्व किं नु कस्मान्नु
कारणान्नाश्नासीति ।

स होवाच बहवोऽनेकेऽस्मि-
न्पुरुषेऽकृतार्थे प्राकृते कामा
इच्छाः कर्तव्यं प्रति नानात्ययो-

उस उपकोसलने व्याधि—
मानसिक दुःखसे अनशन करनेका
मनमें निश्चय किया । तब अग्नि-
शालामें चुपचाप बैठे हुए उससे
आचार्यपत्नीने कहा—‘हे ब्रह्म-
चारिन् ! अशन—भोजन कर,
क्यों—किस कारणसे भोजन नहीं
करता ?’

वह बोला—‘इस अकृतार्थ
साधारण पुरुषमें अपने कर्तव्यके
प्रति बहुत-सी कामनाएँ—इच्छाएँ
रहती हैं, जिन व्याधियों—कर्तव्य-

ऽतिगमनं येषां व्याधीनां कर्तव्य-
चिन्तानां ते नानात्यया व्याधयः
कर्तव्यताप्राप्तिनिमित्तानि चित्त-
दुःखानीत्यर्थः । तैः प्रतिपूर्णाऽस्मि;
अतो नाशिष्यामीति ॥३॥

सम्बन्धिनी चिन्ताओंके अत्यय—
अतिगमन—वस्तुके स्वरूपका उल्लङ्घन
करके विषय-प्रवेशके मार्ग नाना हैं
ऐसी जो नानात्यय कामनारूप व्याधियाँ
अर्थात् कर्तव्यता प्राप्तिनिमित्तक मान-
सिक दुःख हैं, मैं उनसे परिपूर्ण हूँ, इस-
लिये भोजन नहीं करूँगा* ॥३॥

—:०:—

उक्त्वा तूष्णींभूते ब्रह्म-
चारिणि—

ब्रह्मचारीके इस प्रकार कहकर
चुप हो जानेपर—

अथ हाग्नयः समूदिरे ततो ब्रह्मचारी कुशलं नः
पर्यचारीद्धन्तास्मै प्रव्रवामेति तस्मै होचुः प्राणो ब्रह्म
कं ब्रह्म खं ब्रह्मेति ॥ ४ ॥

फिर अग्नियोने एकजित होकर कहा—‘यह ब्रह्मचारी तपस्या कर चुका
है; इसने हमारी अच्छी तरह सेवा की है। अच्छा, हम इसे उपदेश करें’ ऐसा
निश्चयकर वे उससे बोले—‘प्राण ब्रह्म है, ‘क’ ब्रह्म है, ‘ख’ ब्रह्म है’ ॥४॥

अथ हाग्नयः शुश्रूषयावर्जिताः
अग्नीना कारुण्याविष्टाः सन्त-
तस्मा उपदेष्टुं स्वयोऽपि समूदिरे
निश्चयः

संभयोक्तवन्तः । हन्तेदा-
नीमस्मै ब्रह्मचारिणेऽस्मद्भक्ता-
य दुःखिताय तपस्विने श्रद्धा-
नाय सर्वेऽनुशास्मोऽनुप्रव्रवाम
ब्रह्मविद्यामिति । एवं संप्रधार्य
तस्मै होचुरुक्तवन्तः—प्राणो ब्रह्म
कं ब्रह्म खं ब्रह्मेति ॥ ४ ॥

फिर उसकी सेवासे अनुकूल
हुए तीनों अग्नियोने करुणावश,
आपसमे मिलकर कहा—‘अच्छा
अपने अवभक्त इस दुखित, तपस्वी
एव श्रद्धालु ब्रह्मचारीको हम शिक्षा
दे—इसे हम ब्रह्मविद्याका
उपदेश करें—ऐसा निश्चयकर वे
उससे बोले—‘प्राण ब्रह्म है, ‘क’
ब्रह्म है, ‘ख’ ब्रह्म है’ ॥ ४ ॥

—:~:—

*यद्यपि ‘नानात्यया.’ पद ‘कामा’ का ही विशेषण है, तथापि भाष्यकारने
कामनाओं और व्याधियोंको एक मानकर उसे व्याधिका भी विशेषण बताया है ।

स होवाच विजानाम्यहं यत्प्राणो ब्रह्म कं च तु
खं च न विजानामीति ते होचुर्यद्वाव कं तदेव खं
यदेव खं तदेव कमिति प्राणं च हास्मै तदाकाशं
चोचुः ॥ ५ ॥

वह बोला—‘यह तो मैं जानता हूँ कि प्राण ब्रह्म है; किंतु ‘क’ और
‘ख’ को नहीं जानता ।’ तब वे बोले—‘निश्चय जो ‘क’ है वही ‘ख’ है और
जो ‘ख’ है वही ‘क’ है ।’ इस प्रकार उन्होंने उसे प्राण और उसके
[आश्रयभूत] आकाशका उपदेश किया ॥ ५ ॥

स होवाच ब्रह्मचारी विजाना-
उपदिश्यमा- म्यहं यद्भवद्भिरुक्तं
नस्य ब्रह्मचारिणः प्रसिद्धपदार्थकत्वा-
शङ्का त्प्राणो ब्रह्मेति;
यस्मिन्सति जीवनं यदपगमे च
न भवति, तस्मिन्वायुविशेषे
लोके रूढः; अतो युक्तं ब्रह्मत्वं
तस्य । तेन प्रसिद्धपदार्थकत्वा-
द्विजानाम्यहं यत्प्राणो ब्रह्मेति ।
कं च तु खं च न विजानामीति ।

ननु कंखंशब्दयोरपि सुखा-
कशविषयत्वेन प्रसिद्धपदार्थक-

वह ब्रह्मचारी बोला—‘आपने जो
कहा कि प्राण ब्रह्म है, सो प्रसिद्ध
पदार्थवाला होनेके कारण यह तो
मैं जानता हूँ, जिसके रहनेपर
जीवन रहता है और जिसके चले
जानेपर जीवन भी नहीं रहता
लोकमें उस वायुविशेषमें ही ‘प्राण’
शब्द रूढ है । अतः उसका ब्रह्म-
रूप होना तो उचित ही है । अतः
प्रसिद्ध पदार्थयुक्त होनेके कारण
यह तो मैं जानता हूँ कि ‘प्राण ब्रह्म-
है’ किंतु ‘क’ और ‘ख’ को मैं नहीं
जानता ।’

शङ्का—सुख और आकाश-
विषयक होनेके कारण ‘क’ और ‘ख’
शब्द भी तो प्रसिद्ध पदार्थवाले ही

त्वमेव कस्माद्ब्रह्मचारिणोऽज्ञानम् ।

हैं; फिर ब्रह्मचारीको उनका अज्ञान कैसे रहा ?

नूनं सुखस्य कंशब्दवाच्यस्य तदीयशङ्काया क्षणप्रध्वंसित्वात्स्वयुक्तत्वम् शब्दवाच्यस्य चाकाशस्याचेतनस्य कथं ब्रह्मत्वमिति मन्यते, कथं च भवतां वाक्यमप्रमाणं स्यादिति; अतो न विजानामीत्याह ।

समाधान-निश्चय ब्रह्मचारी यही मानता है कि 'क' शब्दका वाच्य सुख क्षणप्रध्वसी होनेके कारण और 'ख' शब्दका वाच्य आकाश अचेतन होनेसे किस प्रकार ब्रह्म हो सकता है ? और आपका वचन भी कैसे अप्रामाणिक होगा ? इसीसे उसने कहा कि 'मैं नहीं जानता' ।

तमेवमुक्तवन्तं ब्रह्मचारिणं अग्निवर्तकं ते हाग्नय ऊचुः । समाधानम् यद्वाच यदेव वयं कमवोचाम तदेव खमाकाशमिति । एवं खेन विशेष्यमाणं कं विषयेन्द्रियसंयोगजात्सुखान्निवर्तितं स्यान्नीलेनेव विशेष्यमाणमुत्पलं रक्तादिभ्यः । यदेव खमित्याकाशमवोचाम तदेव च कं सुखमिति जानीहि । एवं च सुखेन विशेष्यमाणं खं भौतिकादचेतनात्खान्निवर्तितं स्यान्नीलो-

इस प्रकार कहते हुए उस ब्रह्मचारीसे अनियोंने कहा—'हम जिसे 'क' ऐसा कहकर पुकारते हैं वही 'ख' यानी आकाश है । इस प्रकार जैसे 'नील' इस विशेषणसे युक्त कमल रक्तकमल आदिसे बिलग कर दिया जाता है, उसी प्रकार 'ख' शब्दसे विशेषित 'क' विषय और इन्द्रियोंके संयोगसे होनेवाले सुखसे निवृत्त कर दिया जाता है । जिसे हम 'ख'—आकाश कहते हैं उसीको तू 'क'—सुख ज्ञान । इस प्रकार नीलोत्पलके समान ही सुखसे विशेषित किया हुआ 'ख' (आकाश) भौतिक अचेतन 'ख' से निवृत्त कर दिया जाता है । तात्पर्य यह है कि

तप्लवदेव । सुखमाकाशस्थं ने-
तरल्लौकिकम् । आकाशं च
सुखाश्रयं नेतरद्भौतिकमित्यर्थः ।

नन्वाकाशं चेत्सुखेन विशेष-
विशेषणद्वयेऽ- यितुमिष्टमस्त्वन्य-
न्यतरस्यायुक्त- तरदेव विशेषणं य-
त्वशङ्कनम् द्वाव कं तदेव ख-
मित्यतिरिक्तमितरत् । यदेव खं
तदेव कमिति पूर्वविशेषणं वा ।

ननु सुखाकाशयोरुभयोरपि
उभयोरवश्य- लौकिकसुखाकाशा-
कताप्रदर्शनम् भ्यां व्यावृत्तिरिष्टे-
त्यवोचाम । सुखेनाकाशे विशे-
षिते व्यावृत्तिरुभयोरर्थप्राप्तयेति
चेत्सत्यमेवं किं तु सुखेन विशे-
षितस्यैवाकाशस्य ध्येयत्वं वि-
हितं न त्वाकाशगुणस्य विशेष-

आकाशस्थित सुख ब्रह्म है अन्य
लौकिक सुख नहीं तथा सुखके
आश्रित रहनेवाला आकाश ब्रह्म है
अन्य भौतिक आकाश नहीं ।

शङ्का—यदि यहाँ आकाशको
सुखके द्वारा विशेषित करना इष्ट
है तो कोई भी एक विशेषण रह
सकता था; अर्थात् 'यद्वाव कं तदेव
खम्' ऐसा एक विशेषण रह जाता,
दूसरा 'यदेव खं तदेव कम्' यह
विशेषण अधिक है । अथवा यदि
'यदेव खं तदेव कम्' यही रहे तो
पहला विशेषण अधिक है ॥

समाधान—किंतु इन सुख और
आकाश दोनोंहीकी लौकिक सुख
और आकाशसे व्यावृत्ति अभीष्ट
है—ऐसा हम पहले कह चुके हैं ।
यदि कहो कि सुखके द्वारा आकाश-
के विशेषित होनेपर दोनोंकी व्यावृत्ति
स्वतः सिद्ध ही है तो यह ठीक है,
किन्तु इससे सुखसे विशेषित
आकाशका ही ध्येयत्व विहित होगा
आकाशगुणसे युक्त विशेषणभूत
सुखका ध्येयत्व विहित नहीं होगा;

॥ तात्पर्य यह है कि इन दो उक्तियोंमेंसे किसी भी एक उक्तिसे श्रुतिका
अभिप्राय सिद्ध हो सकता था; फिर दोनोंका कथन क्यों हुआ ?

णस्य सुखस्य ध्येयत्वं विहितं
स्यात् । विशेषणोपादानस्य
विशेष्यनियन्तृत्वेनैवोपक्षयात् ।
अतः खेन सुखमपि विशेष्यते
ध्येयत्वाय ।

कुतश्चैतन्निश्चीयते ?

कंशब्दस्यापि ब्रह्मशब्दसं-
बन्धात्मकं ब्रह्मेति । यदि हि सुख-
गुणविशिष्टस्य खस्य ध्येयत्वं
विवक्षितं स्यात्कं खं ब्रह्मेति
ब्रूयुरग्नयः प्रथमम् । न चैव
मुक्तवन्तः; किं तर्हि ? कं ब्रह्म
खं ब्रह्मेति । अतो ब्रह्मचारिणो
मोहापनयनाय कंखंशब्दयोरि-
तरेतरविशेषणविशेष्यत्वनिर्देशो
युक्त एव यद्वाव कमित्यादिः ।

तदेतदग्निमिरुक्तं वाक्यार्थ-
मस्मद्बोधाय श्रुतिराह—प्राणं च

क्योकि विशेषणका ग्रहण अपने
विशेष्यका नियन्त्रण करके ही
समाप्त हो जाता है । इसलिये
[सुखका भी] ध्येयत्व प्रतिपादन
करनेके लिये आकाशसे सुखको भी
विशेषित किया गया है ।

शङ्का—किंतु ऐसा किस प्रकार
निश्चय किया जाता है ?

समाधान—‘ब्रह्म’ शब्दसे ‘क’
शब्दका भी सम्बन्ध होनेके कारण
‘क’ ब्रह्म है—ऐसा निश्चय होता है ।
यदि सुखगुणविशिष्ट आकाशका ही
ध्येयत्व बतलाना इष्ट होता तो
अग्निगण पहले ‘कं ख ब्रह्म’
(सुखस्वरूप आकाश ब्रह्म है)
ऐसा कहते । किन्तु उन्होंने ऐसा
नही कहा, तो क्या कहा है ?—
‘क’ ब्रह्म है, ‘ख’ ब्रह्म है, ऐसा
कहा है । अतः ब्रह्मचारीके मोहकी
निवृत्तिके लिये ‘यद्वाव कम्’ इत्यादि
रूपसे ‘क’ और ‘ख’ दोनों ही
शब्दोंको एक दूसरेके विशेषणविशे-
ष्यरूपसे बतलाना उचित ही है ।

अग्नियोंके कहे हुए इस वाक्यके
अर्थको श्रुति हमारे बोधके लिये

हास्मै ब्रह्मचारिणे तस्याकाश-
स्तदाकाशः प्राणस्य संवन्ध्या-
श्रयत्वेन हार्द आकाश इत्यर्थः,
सुखगुणवच्चनिर्देशात् चाकाशं
सुखगुणविशिष्टं ब्रह्म तत्स्थं च
प्राणं ब्रह्मसंपर्कदिव ब्रह्मेत्युभयं
प्राणं चाकाशं च समुच्चित्य
ब्रह्मणी ऊचुरग्नय इति ॥ ५ ॥

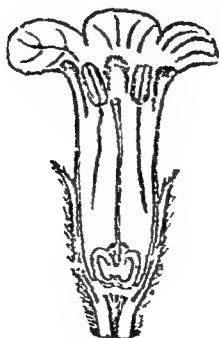
कहती है— अग्नियोंने उस ब्रह्म-
चारीको प्राण और 'तदाकाश'—
उसके आकाशका अर्थात् आश्रय-
रूपसे प्राणसे सम्बद्ध हृदयाकाशका
उपदेश किया, तथा सुखगुण-
विशिष्टता बतलानेके कारण उस
आकाशको सुखगुणविशिष्ट ब्रह्म
और उसमें स्थित प्राणको
ब्रह्मके सम्पर्कके कारण ही ब्रह्म
बतलाया । इस प्रकार प्राण
और आकाश इन दोनोंका
समुच्चय कर अग्नियोंने दो ब्रह्म
बतलाये' ॥ ५ ॥



इतिच्छान्दोग्योपनिषदि

चतुर्थाध्याये

दशमखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥ १० ॥



एकादश खण्ड



गार्हपत्याग्निविद्या

संभूयाग्नयो ब्रह्मचारिणे [इस प्रकार] सव अग्नियोने
मिलकर ब्रह्मचारीको ब्रह्मका उपदेश
किया ।
ब्रह्मोक्तवन्तः ।

अथ हैनं गार्हपत्योऽनुशशास पृथिव्यग्निरन्नमा-
दित्य इति । य एष आदित्ये पुरुषो दृश्यते सोऽहमस्मि
स एवाहमस्मीति ॥ १ ॥

फिर उसे गार्हपत्याग्निने शिक्षा दी—‘पृथिवी, अग्नि, अन्न और
आदित्य [ये मेरे चार शरीर हैं] । आदित्यके अन्तर्गत जो यह पुरुष
दिखायी देता है वह मैं हूँ, वही मैं हूँ’ ॥ १ ॥

अथानन्तरं प्रत्येकं स्वस्ववि-
षयां विद्यां वक्तुमारेमिरे । तत्रा-
दावेनं ब्रह्मचारिणं गार्हपत्यो-
ऽग्निरनुशशास । पृथिव्यग्निरन्न-
मादित्य इति ममेताश्चतसस्त-
नवः । तत्र य आदित्य एष
पुरुषो दृश्यते सोऽहमस्मि गार्ह-
पत्योऽग्निर्यश्च गार्हपत्योऽग्निः स
एवाहमादित्ये पुरुषोऽस्मीति ।
पुनः परावृत्त्या स एवाहमस्मीति
वचनम् ।

फिर उनमेंसे प्रत्येकने अपने-
अपनेसे सम्बद्ध विद्याका निरूपण
करना आरम्भ किया । उनमें सबसे
पहले उस ब्रह्मचारीको गार्हपत्याग्निने
शिक्षा दी—‘पृथिवी, अग्नि, अन्न
और आदित्य—ये मेरे चार शरीर
हैं । उनमें आदित्यमें जो यह पुरुष
दिखायी देता है वह मैं गार्हपत्याग्नि
हूँ और यह जो गार्हपत्याग्नि है वही
मैं आदित्यमें पुरुष हूँ । ‘वही मैं हूँ’
यह वाक्य [पूर्ववाक्यकी] पुनरा-
वृत्ति करके कहा गया है ।

पृथिव्यन्नयोरिव भोज्य-
त्वलक्षणयोः संवन्धो न गार्ह-
पत्यादित्ययोः । अतृत्वपक्तृत्व-
प्रकाशनधर्मा अविशिष्टा इत्यत
एकत्वमेवानयोस्त्यन्तम् । पृथि-
व्यन्नयोस्तु भोज्यत्वेनाभ्यां सं-
वन्धः ॥ १ ॥

भोज्यत्व ही जिनका लक्षण है
उन पृथिवी और अन्नके समान
गार्हपत्याग्नि और आदित्यका सम्बन्ध
नहीं है । इन दोनोंमें भोक्तृत्व,
पाचकत्व और प्रकाशकत्व ये धर्म
समानरूपसे हैं; अतः इन दोनोंका
अत्यन्त अभेद है । पृथिवी और
अन्नका तो इनसे भोज्यरूपसे
सम्बन्ध है ॥ १ ॥

—❀—

स य एतमेवं विद्वानुपास्तेऽपहते पापकृत्यां लोकी
भवति सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति नास्यावरपुरुषाः
क्षीयन्त उप वयं तं भुञ्जामोऽस्मि५श्च लोकेऽमुष्मि५श्च
य एतमेवं विद्वानुपास्ते ॥ २ ॥

वह पुरुष, जो इसे इस प्रकार जानकर इसकी उपासना करता है,
पापकर्मोंको नष्ट कर देता है, अग्निलोकवान् होता है, पूर्ण आयुको प्राप्त
होता है, उज्ज्वल जीवन व्यतीत करता है तथा इसके उत्तरवर्ती (संतान
परम्परामें उत्पन्न) पुरुष क्षीण नहीं होते । तथा उसका हम इस लोक
और परलोकमें भी पालन करते हैं जो कि इस प्रकार जानकर इसकी
उपासना करता है [उसको पूर्वोक्त फलकी प्राप्ति होती है] ॥ २ ॥

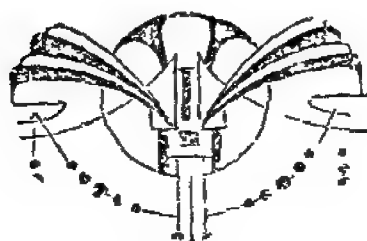
स यः कश्चिदेवं यथोक्तं । वह पुरुष, जो कोई कि इस
गार्हपत्यमग्निमन्नान्नादत्वेन च प्रकार भोग्य और भोक्तारूपसे चार
तुर्धा प्रविभक्तमुपास्ते सोऽपहते प्रकारोंमें विभक्त हुए पूर्वोक्त गार्ह-
विनाशयति पापकृत्यां पापं पापकर्मोंका नाश कर देता है- तथ

कर्म । लोकी लोकवांश्चास्मदी-
येन लोकेनाग्नेयेन तद्वान्भवति
यथा वयम् । इह च लोके सर्व
वर्षशतमायुरेति प्राप्नोति । ज्यो-
गुज्ज्वलं जीवति नाप्रख्यात
इत्येतत् । न चास्यावराश्च ते
पुरुषाश्चास्य विदुषः सन्ततिजा
इत्यर्थः । न क्षीयन्ते सन्तत्युच्छेदो
न भवतीत्यर्थः । किं च तं वय-
मुपशुञ्जामः पालयामोऽस्मिंश्च
लोके जीवन्तममुष्मिंश्च परलोके ।
य एतमेवं विद्वानुपास्ते यथोक्तं
तस्यैतत्फलमित्यर्थः ॥ २ ॥

हमारे आग्नेय लोकके द्वारा उसी
प्रकार लोकी—लोकवान् होता है
जैसे कि हम हैं । इस लोकमें भी
वह सम्पूर्ण—सौ वर्षकी आयु प्राप्त
करता है, ज्योक्—उज्ज्वल जीवन
व्यतीत करता है अर्थात् अप्रसिद्ध
होकर नहीं जीता तथा इसके
अवर पुरुष जो अवर—पश्चाद्भवर्ती
यानी सततिमे उत्पन्न हुए पुरुष
हैं वे क्षीण नहीं होने अर्थात्
इसकी सततिका उच्छेद नहीं होता ।
यही नहीं, इस लोकमें जीवित
रहते हुए तथा परलोकमें भी हम
उसका पालन करते हैं । तात्पर्य
यह है कि जो विद्वान् इस प्रकार
इसकी उपासना करता है उसे
पूर्वोक्त फल प्राप्त होता है ॥ २ ॥



इतिच्छान्दोग्योपनिषदि चतुर्थाध्याये
एकादशखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥ ११ ॥



द्वादश खण्ड

—:ॐ:—

अन्वाहार्यपचनाग्निविद्या

अथ हैनमन्वाहार्यपचनोऽनुशशासापो दिशो नक्ष-
त्राणि चन्द्रमा इति । य एष चन्द्रमसि पुरुषो दृश्यते
सोऽहमस्मि स एवाहमस्मीति ॥ १ ॥

फिर उसे अन्वाहार्यपचन (दक्षिणाग्नि) ने शिक्षा दी—‘जल,
दिशा, नक्षत्र और चन्द्रमा [ये मेरे चार शरीर हैं] । चन्द्रमामें जो यह
‘पुरुष दिखायी देता है वह मैं हूँ, वही मैं हूँ’ ॥ १ ॥

स य एतमेवं विद्वानुपास्तेऽपहते पापकृत्यां लोकी
भवति सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति नास्यावरपुरुषाः
क्षीयन्त उप वयं तं भुञ्जामोऽस्मि५श्च लोकेऽमुष्मि५श्च
य एतमेवं विद्वानुपास्ते ॥ २ ॥

वह पुरुष, जो इसे इस प्रकार जानकर इस (चार भागोंमें विभक्त
अग्नि) की उपासना करता है, पापकर्मोंका नाश कर देता है, लोकवान्
होता है, पूर्ण आयुको प्राप्त होता है और उज्ज्वल जीवन व्यतीत करता
है । उसके पोछे होनेवाले पुरुष (वंशज) क्षीण नहीं होते तथा इस
लोक और परलोकमें भी हम उसका पालन करते हैं, जो कि इस प्रकार
जानकर इसकी उपासना करता है ॥ २ ॥

<p>अथ हैनमन्वाहार्यपचनोऽनु- शशास दक्षिणाग्निरापो दिशो नक्षत्राणि चन्द्रमा इत्येता मम चतस्रस्तनवश्चतुर्धाहमन्वाहार्यप-</p>	<p>फिर उसे अन्वाहार्यपचन— दक्षिणाग्निने शिक्षा दी—‘जल, दिशा, नक्षत्र और चन्द्रमा—ये मेरे चार शरीर हैं । मैं अपनेको चार प्रकारसे विभक्त करके अन्वा-</p>
---	--

चन आत्मानं प्रविमज्ज्यावस्थितः ।
तत्र य एष चन्द्रमसि पुरुषो
दृश्यते सोऽहमस्मि स एवाहम-
स्मीति पूर्ववत् ।

अन्नसंवन्धाज्ज्योतिष्सामा-
न्याच्चाग्नाहार्यपचनचन्द्रमसोरे-
कत्वं दक्षिणदिक्संवन्धाच्च ।
अपां नक्षत्राणां च पूर्ववदन्नत्वे-
नैव संवन्धः । नक्षत्राणां चन्द्र-
मसो भोग्यत्वप्रसिद्धेः । अपाम-
न्नोत्पादकत्वादन्नत्वं दक्षिणाग्नेः
पृथिवीवद्गार्हपत्यस्य । समान-
मन्यत् ॥ १-२ ॥

हार्यपचनरूपसे स्थित हैं । उनमेंसे
चन्द्रमामे जो यह पुरुष दिखायी
देता है वह मैं हूँ, वही मैं हूँ—
ऐसा पूर्ववत् समझना चाहिये ।

अन्नसे^१ सम्बन्ध होनेके कारण,
ज्योतिष्मे समानता होनेसे तथा
दक्षिण^२ दिशासे सम्बन्ध होनेके कारण
अन्वाहार्यपचन और चन्द्रमाकी
एकता है । जल और नक्षत्रोका तो
पूर्ववत् अन्नरूपसे ही सम्बन्ध है,
क्योंकि नक्षत्र चन्द्रमाके भोग्य हैं,
यह प्रसिद्ध है तथा अन्नके उत्पत्ति-
कर्ता होनेके कारण जलोको भी इसी
प्रकार दक्षिणाग्निका अन्नत्व प्राप्त
है जैसे पृथिवीको गार्हपत्याग्निका ।
• शेष अर्थ पूर्ववत् है ॥ १-२ ॥

—❀—

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि चतुर्थोऽध्याये
द्वादशखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥ १२ ॥

—❀—

१. दर्श-पूर्णमास यज्ञमें अन्वाहार्यपचन अग्निमें हविष्य पकाया जाता है; तथा
चन्द्रमाके विषयमें 'चन्द्रमाको प्राप्त होकर अन्न हो जाता है' ऐसा श्रुतिवाक्य
है । इसलिये इन दोनोंका अन्नसे सम्बन्ध है ।

२. अन्वाहार्यपचनको दक्षिणाग्नि भी कहते हैं, तथा चन्द्रमाको भी दक्षिण
मार्गसे जानेवाले ही प्राप्त होते हैं । इसलिये इन दोनोंका दक्षिण दिशासे
सम्बन्ध है ।

त्रयोदश खण्ड

—:❀:—

आहवनीयाग्निविद्या

अथ हैनमाहवनीयोऽनुशशास प्राण आकाशो द्यौः
विद्युदिति । एष विद्युति पुरुषो दृश्यते सोऽहमस्मि
स एवाहमस्मीति ॥ १ ॥

तदनन्तर उसे आहवनीयाग्निने उपदेश किया—‘प्राण, आकाश,
द्युलोक और विद्युत् [ये मेरे चार शरीर हैं] । यह जो विद्युत्में पुरुष
दिखायी देता है वह मैं हूँ, वही मैं हूँ’ ॥ १ ॥

स य एतमेवं विद्वानुपास्तेऽपहते पापकृत्यां लोकी
भवति सर्वमायुरेति ज्योऽजीवति नास्यावरपुरुषाः
क्षीयन्त उप वयं तं भुञ्जामोऽस्मि५श्च लोकेऽमुष्मि५श्च
य एतमेवं विद्वानुपास्ते ॥ २ ॥

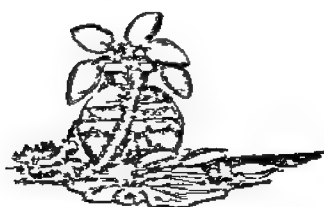
वह पुरुष, जो इसे इस प्रकार जानकर इस (चतुर्धा विभक्त
अग्नि) की उपासना करता है, पापकर्मको नष्ट कर देता है, लोकवान्
होता है, पूर्ण आयुको प्राप्त होता है तथा उज्ज्वल जीवन व्यतीत करता
है । उसके पश्चाद्वर्ती पुरुष (वंशज) क्षीण नहीं होते तथा उसका हम इस
लोक और परलोकमें भी पालन करते हैं जो कि इसे इस प्रकार जानकर
इसकी उपासना करता है ॥ २ ॥

अथ हैनमाहवनीयोऽनुशशास
प्राण आकाशो द्यौर्विद्युदिति
ममाप्येताश्चतसस्तनवः । य एष
विद्युति पुरुषो दृश्यते सोऽहम-
स्मीत्यादि पूर्ववत्सामान्यात् ।
दिवाकाशयोस्त्वाश्रयत्वाद्विद्युदा-
हवनीययोर्भोग्यत्वेनैव संवन्धः ।
समानमन्यत् ॥ १-२॥

तदनन्तर उसे आहवनीयाग्निने
उपदेश किया—‘प्राण, आकाश,
द्युलोक और विद्युत्—ये मेरे भी चार
शरीर हैं । यह जो विद्युत्मे पुरुष
दिखायी देता है वह मैं हूँ’ इत्यादि
अर्थ पहलेहीके समान होनेके कारण
पूर्ववत् है । द्युलोक और आकाशके
साथ विद्युत् और आहवनीयका
भोग्यरूपसे ही सम्बन्ध है, क्योंकि
ये क्रमशः इनके आश्रय हैं । शेष
अर्थ पूर्ववत् है ॥ १-२ ॥

—❀❀—

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि चतुर्थाध्याये
त्रयोदशखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥ १३ ॥



चतुर्दश खण्ड

—०::०—

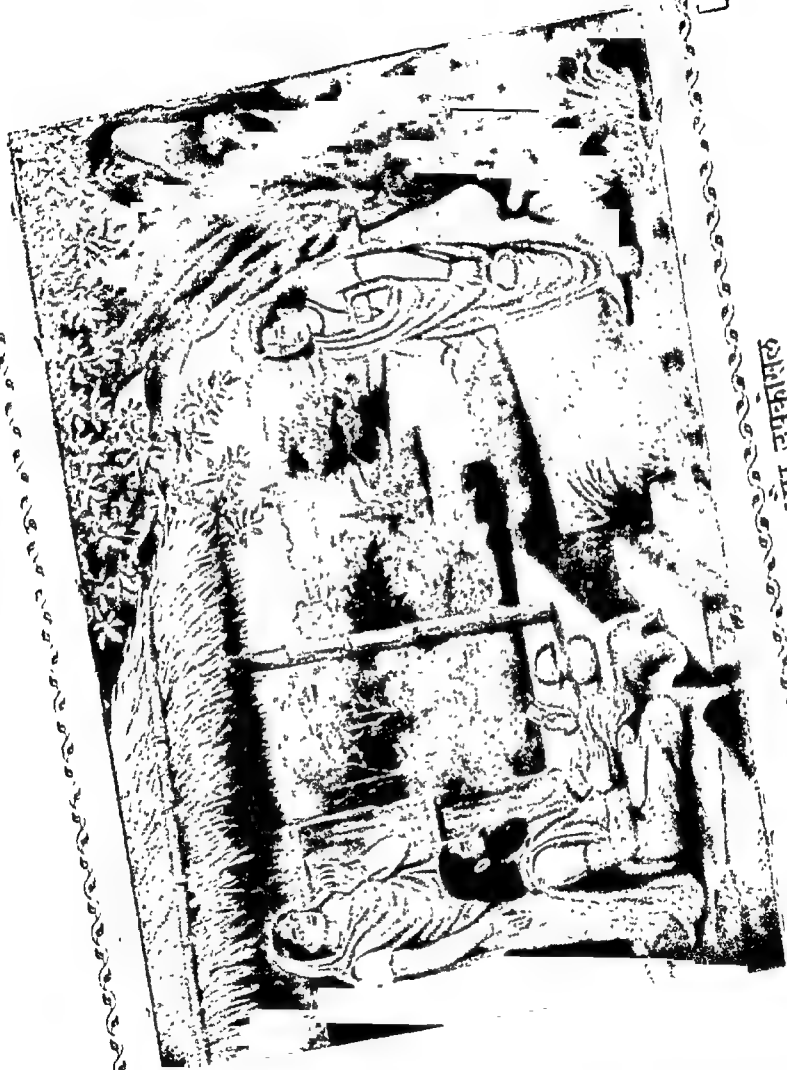
आचार्यका आगमन

ते होचुरूपकोसलैषा सोम्य तेऽस्मद्विद्यात्मविद्या
चाचार्यस्तु ते गतिं वक्तेत्याजगाम हास्याचार्यस्तमाचा-
र्योऽभ्युवादोपकोसल ३ इति ॥ १ ॥

उन्होंने कहा—‘उपकोसल ! हे सोम्य ! यह अपनी विद्या और
आत्मविद्या तेरे प्रति कही । आचार्य तुझे [इनके फलकी प्राप्ति] मार्ग
बतलावेंगे ।’ तदनन्तर उसके आचार्य आये । उससे आचार्यने कहा—
‘उपकोसल !’ ॥ १ ॥

ते पुनः संभूयोचुर्होपकोस-
लैषा सोम्य ते तवास्मद्विद्याग्नि-
विद्येत्यर्थः । आत्मविद्या पूर्वोक्ता
प्राणो ब्रह्म कं ब्रह्म खं ब्रह्मेति
च । आचार्यस्तु ते गतिं वक्ता
विद्याफलप्राप्तय इत्युक्तोपपरेषु-
रग्रयः । आजगाम हास्याचार्यः
कालेन । तं च शिष्यमाचार्यो-
भ्युवादोपकोसल ३ इति ॥ १ ॥

तब उन्होंने पुनः एक साथ
कहा—‘उपकोसल ! हे सोम्य !
यह हमने तेरे प्रति अपनी विद्या
अर्थात् अग्निविद्या और आत्मविद्या
—जो पहले ‘प्राणो ब्रह्म कं ब्रह्म
खं ब्रह्म’ इत्यादि रूपसे कही गयी है
कह दी । अब इस विद्याके फलकी
प्राप्तिके लिये आचार्य तुझे मार्ग
बतलावेंगे ।’ ऐसा कहकर अग्निगण
उपरत हो गये । कालान्तरमें उसके
आचार्य आये तब आचार्यने उस
अपने शिष्यसे कहा—‘उप-
कोसल !’ ॥ १ ॥



सुतगकाम और उपकामल

आचार्य और उपकोसलका संवाद

भगव इति ह प्रनिशुश्राव ब्रह्मविद इव सोम्य ते
मुखं भाति को नु त्वानुशशासेति को नु मानुशिष्याद्भो
इतीहापेव निहुत इमे नूनमीदृशा अन्यादृशा इतीहा-
ग्नीनभ्यूदे किं नु सोम्य किलऽते वोचन्निति ॥ २ ॥

उसने 'भगवत् !' ऐसा उत्तर दिया । [आचार्य बोले—] 'हे सोम्य ! तेरा मुख ब्रह्मवेत्ताके समान जान पड़ता है; तुझे किसने उपदेश किया है ?' 'अजी ! मुझे कौन उपदेश करता' ऐसा कहकर वह मानो उसे छिपाने लगा । [फिर अग्नियोकी ओर संकेत करके बोला—] 'निश्चय इन्हींने [उपदेश किया है] जो अन्य प्रकारके थे और अब ऐसे हैं'—ऐसा कहकर उसने अग्नियोंको बतलाया । [तब आचार्यने पूछा—] 'हे सोम्य ! इन्होंने तुझे क्या बतलाया है ?' ॥ २ ॥

इदमिति ह प्रतिजज्ञे लोकान्वाव किल सोम्य
तेऽवोचन्नहं तु ते तद्वक्ष्यामि यथा पुष्करपलाश आपो
न श्लिष्यन्त एवमेवंविदि पापं कर्म न श्लिष्यत इति
ब्रवीतु मे भगवानिति तस्मै होवाच ॥ ३ ॥

तब उसने 'यह बतलाया है' ऐसा कहकर उत्तर दिया । [इसपर आचार्यने कहा—] 'हे सोम्य ! उन्होंने तो तुझे केवल लोकोंका ही उपदेश किया है; अब मैं तुझे वह बतलाता हूँ जिसे जाननेवालेसे पाप-कर्मका उसी प्रकार सम्बन्ध नहीं होता जैसे कमलपत्रसे जलका सम्बन्ध नहीं होता ।' वह बोला—'भगवान् मुझे बतलावें ।' तब आचार्य उससे बोले ॥ ३ ॥

भगव इति ह प्रतिशुश्राव ।
 ब्रह्मविद् इव सोम्य ते मुखं
 प्रसन्नं भाति, को नु त्वानुशशा-
 सेत्युक्तः प्रत्याह—को नु मानु-
 शिष्यादनुशासनं कुर्याद्भो भगवं-
 स्त्वयि प्रोषित इतीहापेव निह्-
 नूतेऽपनिहनुत इवेति व्यवहितेन
 संबन्धः, न चापनिहनुते न च
 यथावदग्निभिरुक्तं ब्रवीतीत्यभि-
 प्रायः ।

कथम् ? इमेऽग्नयो मया परि-
 चरिता उक्तवन्तो नूनं यतस्त्वां
 दृष्ट्वा वेपमाना इवेदृशा दृश्यन्ते
 पूर्वमन्यादृशाः सन्त इतीहाग्नी-
 नभ्यूदेऽभ्युक्तवान्काकाग्नीन्दर्श-
 यन् । किं नु सोम्य किल ते
 तुभ्यमवोचन्नग्नय इति पृष्ट इत्ये-
 वमिदमुक्तवन्त इत्येवं ह प्रति-

उसने 'भगवन् !' ऐसा उत्तर
 दिया । फिर आचार्यद्वारा 'हे सोम्य !
 तेरा मुख ब्रह्मवेत्ताके समान प्रसन्न
 जान पड़ता है, सो तुझे किसने
 उपदेश किया है, ऐसा कहे जानेपर
 वह बोला—'भगवन् ! आपके
 बाहर चले जानेपर भला मुझे कौन
 उपदेश करता ?' इस प्रकार मानो
 वह [अग्निके कथनका] अपह्नव-
 (गोपन) सा करने लगा । 'अप
 इव निहनुते' इसमें 'अप' उपसर्गका
 'इव' के द्वारा व्यवधानयुक्त 'निहनुते'
 क्रियाके साथ सम्बन्ध है, अतः 'अप-
 निहनुते इव' ऐसा समझना चाहिये ।
 तात्पर्य यह है कि वह अग्निके कथनको
 न तो ज्यों-का-त्यों बतलाता ही है
 और न उसे [सर्वथा] छिपाता ही है ।

'सो कैसे ? देखिये मेरे द्वारा
 परिचर्या किये हुए इन अग्नियोंने ही
 मुझे उपदेश किया है; क्योंकि अब
 आपको देखकर ये इस प्रकार
 कांपते हुए-से दिखायी देते हैं, जब
 कि पहले ये अन्य प्रकारके थे' इस
 प्रकार काकुवचन (व्यङ्ग्योक्ति)
 के द्वारा उसने अग्नियोंको बतलाया ।
 फिर 'हे सोम्य ! अग्नियोंने
 तुझे क्या बतलाया है ? इस
 प्रकार पूछे जानेपर 'यही कहा है'

अज्ञे प्रतिज्ञातवान्प्रतीकमात्रं
'किञ्चिन्न सर्वं यथोक्तमग्निमिरु-
क्तमवोचत् ।

यत् आहाचार्यो लोकान्वाव
पृथिव्यादीन्हे सोम्य किल ते-
ऽवोचन्त ब्रह्म साकल्येन । अहं
तु ते तुभ्यं तद्ब्रह्म यदिच्छसि
त्वं श्रोतुं वक्ष्यामि, शृणु तस्य
मयोच्यमानस्य ब्रह्मणो ज्ञान-
माहात्म्यम्—यथा पुष्करपलाशे
पद्मपत्र आपो न श्लिष्यन्त एवं
यथा वक्ष्यामि ब्रह्मैवंविदि पापं
कर्म न श्लिष्यते न संबध्यत
इत्येवमुक्तवत्याचार्य आहोपको-
सलो ब्रवीतु मे भगवानिति
तस्मै होवाचाचार्यः ॥ २-३ ॥

ऐसा कहा, अर्थात् कुछ प्रतीकमात्र
ही बतलाया, अग्नियोंका कहा हुआ
सारा उपदेश यथावत् नहीं कहा ।

अतः आचार्यने कहा—हे
सोम्य ! अग्नियोंने तुझे पृथिवी आदि
लोक ही बतलाये हैं, ब्रह्मका पूर्ण-
तया उपदेश नहीं किया । अब मैं
तुझे उस ब्रह्मका उपदेश करूंगा,
जिसे कि तू सुनना चाहता है ।
मेरेद्वारा कहे जाते हुए उस ब्रह्मके
ज्ञानका माहात्म्य सुन—जिस प्रकार
पुष्कर-पलाश—कमलपत्रमे जल
श्लिष्ट—सम्बद्ध नहीं होता उसी
प्रकार जैसे ब्रह्मका मैं उपदेश
करूंगा उसे जाननेवालेमें पाप-
कर्मका सम्बन्ध नहीं होता ।
आचार्यके इस प्रकार कहनेपर
उपकोसलने कहा—‘भगवाद् मुझे
बतलावे ।’ तब आचार्य उससे
बोले ॥ २-३ ॥

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि

चतुर्थ्याध्याये

चतुर्दशखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥ १४ ॥



पञ्चदश खण्ड

—❀::❀—

आचार्यका उपदेश—नेत्रस्थित पुरुषकी उपासना

य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यत एष आत्मेति ।
होवाचैतदमृतमभयमेतद्ब्रह्मेति । तद्यद्यस्मिन्सर्पि-
र्वोदकं वा सिञ्चति वर्त्मनी एव गच्छति ॥ १ ॥

‘यह जो नेत्रमें पुरुष दिखाई देता है यह आत्मा है’—ऐसा उसने कहा ‘यह अमृत है, अभय है और ब्रह्म है’ उस (पुरुषके स्थानरूप नेत्र) में यदि घृत या जल डाले तो वह पलकोंमें ही चला जाता है ॥१॥

य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यते | ‘जिनका बाह्य इन्द्रियग्राम निवृत्त हो गया है उन ब्रह्मचर्यादि साधन-
निवृत्तचक्षुर्भिर्ब्रह्मचर्यादिसाधन-
संपन्नैः शान्तैर्विवेकिभिर्दृष्टेर्द्रष्टा,
“चक्षुषश्चक्षुः” (के०उ० १।२)
इत्यादिश्रुत्यन्तरात् ।

नन्वग्निभिरुक्तं वितथं यत
आचार्यस्तु ते गतिं वक्तुं
गतिमात्रस्य वक्तव्योचम्भविष्य-
द्विषयापरिज्ञानं चाग्नीनाम् ।

शङ्का—[आचार्यके इस कथनसे अभिर्योका कथन मिथ्या प्रमाणित होता है, क्योंकि उन्होंने तो ‘आचार्यस्तु ते गतिं वक्ता’ ऐसा कहकर ‘केवल गतिमात्र कहलावेंगे’ इतना ही कहा था । तथा इससे अभिर्योका भविष्यद्विषयसम्बन्धी ज्ञान न होना सिद्ध होता है ।

नैष दोषः; सुखाकाशस्यै-
वाक्षिणि दृश्यत इति द्रष्टु-
त्वादात् । एष आत्मा प्राणिना-
मिति होवाचैवमुक्तवानेतद्यदेवा-
त्मतत्त्वमवोचाम एतदमृतममरणा-
घर्म्यविनाश्यत एवामयं यस्य हि
विनाशाशङ्का तस्य मयोपपत्ति-
स्तदभावादमयमत एवैतद्ब्रह्म
बृहदनन्तमिति ।

किञ्चास्य ब्रह्मणोज्ज्वलपुरुषस्य
माहात्म्यं तत्तत्र पुरुषस्य स्थाने-
ज्ज्वलि यद्यप्यस्मिन्सर्पिवोदकं
वा सिञ्चति वर्त्मनी एव गच्छति
पद्मावेव गच्छति न चक्षुषा
संग्रह्यते पद्मपत्रेणोदकम् ।
स्थानस्याप्येतन्माहात्म्यं किं पुनः
स्थानिनोज्ज्वलपुरुषस्य निरञ्जनत्वं
वक्तव्यमित्यभिप्रायः ॥ १ ॥

समाधान—यह कोई दोष नहीं
है, क्योंकि ऐसा कहकर आचार्यने
[अग्नियोंके वतलाये हुए]
सुखाकाशरूप द्रष्टाका ही 'जो
नेत्रमें दिखायी देता है' इस प्रकार
अनुवाद किया है । यह प्राणियोंका
आत्मा है 'इति होवाच'—इस
प्रकार कहा । जिस आत्मतत्त्वका
वर्णन हम पहले कर चुके हैं वही
यह अमृत—अमरणघर्मा यानी
अविनाशी है; इसीसे अमय भी है,
क्योंकि जिसके नाशकी शङ्का होती
है उसीको मय हो सकता है; अतः
उसका अभाव होनेके कारण यह
अमय है । इसीसे यह ब्रह्म—बृहत्
यानी अनन्त है ।

तथा इस ब्रह्म—नेत्रस्थ पुरुषका
ऐसा माहात्म्य है कि इस पुरुषके
स्थानभूत नेत्रमें यदि घृत या जल
डाला जाय तो वह इधर-उधर
पलकोंमें ही चला जाता है; पद्मपत्रसे
जलके समान नेत्रसे उसका सम्बन्ध
नहीं होता । जब कि स्थानका भी
ऐसा माहात्म्य है तो स्थानी नेत्रस्थ
पुरुषकी निःसङ्गताके विषयमें तो
कहना ही क्या है ? यह इसका
अभिप्राय है ॥ १ ॥

एतत्संयद्वाप्त इत्याचक्षते एतत्संयद्वाप्त इति सर्वाणि वामान्यभिसंयन्ति सर्वाण्येन वामान्यभिसंयन्ति य एवं वेद ॥ २ ॥

इसे 'संयद्वाप्त' ऐसा कहते हैं, क्योंकि सम्पूर्ण सेवनीय वस्तुएँ सर्व ओरसे इसे ही प्राप्त होती हैं; जो इस प्रकार जानता है उसे सम्पूर्ण सेवनीय वस्तुएँ सर्व ओरसे प्राप्त होती हैं ॥ २ ॥

एतत् यथोक्तं पुरुषं संयद्वाप्त इत्याचक्षते । कस्मात् ? यस्मादेतं सर्वाणि वामानि वननीयानि संभजनीयानि शोभनान्यभिसंयन्त्यभिसंगच्छन्तीत्यतः संयद्वाप्तः । तथैवं विदमेनं सर्वाणि वामान्यभिसंयन्ति य एवं वेद ॥ २ ॥

इस पूर्वोक्त पुरुषको 'संयद्वाप्त' ऐसा कहते हैं । क्यों ? क्योंकि सम्पूर्ण वाम—वननीय—सम्भजनीय अर्थात् शोभन पदार्थ सर्व ओरसे इसे ही प्राप्त होते हैं, इसलिये यह संयद्वाप्त है । इसी प्रकार ऐसा जाननेवाले पुरुषको—जो इसे ऐसा जानता है उसे, सम्पूर्ण सेवनीय पदार्थ सर्व ओरसे प्राप्त होते हैं ॥ २ ॥

—॥३॥—

एष उ एव वामनीरेष हि सर्वाणि वामानि नयति सर्वाणि वामानि नयति य एवं वेद ॥ ३ ॥

यही वामनी है, क्योंकि यही सम्पूर्ण वामोंका वहन करता है । जो ऐसा जानता है वह सम्पूर्ण वामोंको वहन करता है ॥ ३ ॥

एष उ एव वामनीरेष हि सर्वाणि वामानि पुण्यकर्मफलानि पुण्यानुरूपं प्राणिभ्यो नयति प्रापयति वहति चात्मधर्मत्वेन । विदुषः फलं सर्वाणि

यही वामनी है, क्योंकि यही अपने धर्मरूपसे प्राणियोंके प्रति उनके पुण्यानुसार सम्पूर्ण वाम—पुण्य कर्मफलोंका वहन करता है । इसके विद्वान्को मिलनेवाला फल—जो ऐसा जानता है वह सम्पूर्ण

वामानि नयति य एवं वेद ॥३॥ | वामोका (पुण्यकर्मफलोंका) वहन करता है ॥ ३ ॥

एष उ एव भामनीरेष हि सर्वेषु लोकेषु भाति सर्वेषु लोकेषु भाति य एवं वेद ॥ ४ ॥

यही भामनी है, क्योंकि यही सम्पूर्ण लोकोमें भासमान होता है । जो ऐसा जानता है वह सम्पूर्ण लोकमें भासमान होता है ॥ ४ ॥

एष उ एव भामनीरेष हि यस्मात्सर्वेषु लोकेष्वादित्यचन्द्रा-
ग्न्यादिरूपैर्भाति दीप्यते । “तस्य भासा सर्वमिदं विभाति” (क० उ० ५।१६) इति श्रुतेः; अतो भामानि नयतीति भामनीः । य एवं वेदा-
सावपि सर्वेषु लोकेषु भाति ॥४॥

यही भामनी है, क्योंकि सम्पूर्ण लोकोमें आदित्य, चन्द्र और अग्नि आदिके रूपोंमें यही भासमान— दीप्त होता है । “उसीके प्रकाशसे यह सब प्रकाशित है” इस श्रुतिसे यही सिद्ध होता है । अतः भामो (प्रकाशो) का वहन करता है इसलिये भामनी है । जो ऐसा जानता है वह भी सम्पूर्ण लोकमें भासमान होता है ॥ ४ ॥

—:०—

ब्रह्मवैत्ताकी गति

अथ यदु चैवास्मिञ्छव्यं कुर्वन्ति यदि च नार्चि-
पमेवाभिसंभवन्त्यर्चिपोऽहरह आपूर्यमाणपक्षमापूर्य-
माणपक्षाद्यान्पडुदङ्ङेति मासाँस्तान्मासेभ्यः संव-
त्सरँ संवत्सरादादित्यमादित्याच्चन्द्रमसं चन्द्रमसो
विद्युतं तत्पुरुषोऽमानवः स एनान्ब्रह्म गमयत्येष
देवपथो ब्रह्मपथ एतेन प्रतिपद्यमाना इमं मानवमावर्तं
नावर्तन्ते नावर्तन्ते ॥ ५ ॥

अब [श्रुति पूर्वोक्त ब्रह्मवेत्ताकी गति बतलाती है—] इसके लिये शवकर्म करें अथवा न करें, वह अर्चिरभिमानी देवताको ही प्राप्त होता है। फिर अर्चिरभिमानी देवतासे दिवसाभिमानी देवताको, दिवसाभिमानी-से शुक्लपक्षाभिमानी देवताको और शुक्लपक्षाभिमानी देवतासे उत्तरायणके छः मासोंको प्राप्त होता है। मासोंसे संवत्सरको, संवत्सरसे आदित्यको, आदित्यसे चन्द्रमाको और चन्द्रमासे विद्युत्को प्राप्त होता है। वहाँसे अमानव पुरुष इन्हें ब्रह्मको प्राप्त करा देता है। यह देवमार्ग—ब्रह्ममार्ग है। इससे जानेवाले पुरुष इस मानवमण्डलमें नहीं लौटते नहीं; लौटते ॥५॥

अथेदानीं यथोक्तब्रह्मविदो गतिरुच्यते—यद्यदि उचैवास्मिन्नेवंविदि शव्यं शवकर्म मृते कुर्वन्ति यदि च न कुर्वन्ति ऋत्विजः सर्वथाप्येवंवित्तेन शवकर्मणाकृतेनापि प्रतिबद्धो न न ब्रह्म प्राप्नोति न च कृतेन शवकर्मणास्य कश्चनाभ्यधिको लोकः। “न कर्मणा वर्धते नो कनीयान्” (बृ०उ० ४। ४।२३) इति श्रुत्यन्तरात्।

शवकर्मण्यनादरं दर्शय-

न्विद्यां स्तौति न पुनः शवकर्मैवं-

विदो न कर्तव्यमिति। अक्रिय-

अब उपयुक्त ब्रह्मवेत्ताकी गति बतलायी जाती है—इस प्रकार जाननेवाले इस उपासकके लिये उसकी मृत्यु होनेपर ऋत्विग्गण शवकर्म करें अथवा न करें उस शवकर्मके न करनेसे भी इस प्रकार जाननेवाला वह उपासक सर्वथा प्रतिबद्ध होकर ब्रह्मको प्राप्त न होता हो—ऐसा नहीं होता और न उस शवकर्मके करनेसे इसे कोई ब्रह्मसे उत्कृष्ट लोक ही प्राप्त होता है; जैसा कि “यह कर्मसे न तो बढ़ता है और न घटता ही है” इस एक अन्य श्रुतिसे प्रमाणित होता है।

शवकर्मके प्रति अनादर प्रदर्शित करता हुआ यह मन्त्र केवल विद्याकी स्तुति करता है, इस प्रकार जाननेवालेका शवकर्म नहीं करना चाहिये—यह नहीं बतलाता। इस

माणे हि शवकर्मणि कर्मणां
फलारम्भे प्रतिबन्धः कश्चिदनु-
मीयतेऽन्यत्र; यत इह विद्या
फलारम्भकाले शवकर्म स्याद्वा
न वेति विद्यावतोऽप्रतिबन्धेन
फलारम्भं दर्शयति । ये सुखा-
काशमक्षिस्थं संयद्बामो वामनी-
मामनीरित्येवंगुणमुपासते प्राण-
सहितामग्निविद्यां च, तेषामन्यद्
कर्म भवतु मा वा भूत्सर्वथापि
तैर्जचिंयमेवामिसंभवन्त्यचिरमि-
मानिनीं देवताममिसंभवन्ति
प्रतिपद्यन्त इत्यर्थः ।

अचिंपोऽचिर्देवताया अहरह-
रमिमानीनीं देवतामह्म आर्ष्य-
माणपक्षं शुक्लपक्षदेवतामार्ष्य-
माणपक्षाधान्यएमासानुदङ्कुचरां
दिशमेति सविता तान्मासानु-
चरायणदेवतां तेभ्यो मासेभ्यः ।

विद्वान्के सिवा अन्य किसीके लिये
तो शवकर्म न करनेपर उसके
कर्मफलके आरम्भमें कुछ प्रतिबन्ध
होनेका अनुमान किया जाता है;
क्योंकि यहाँ श्रुति उपासनाका फल
आरम्भ होनेके समय केवल उपा-
सकके लिये ही—उसका शवकर्म
किया जाय अथवा न किया जाय—
अप्रतिबन्धपूर्वक फलका आरम्भ
दिखलाती है । जो लोग नेत्रमें स्थित
संयद्बाम, वामनी और मामनी
इत्यादि गुणोंसे युक्त सुखाकाशकी
उपासना करते हैं तथा प्राणसहित
अग्निविद्याकी उपासना करते हैं—
उनका अन्य कर्म हो अथवा न
हो—वे सर्वथा अचिरमिमानी
देवताको ही प्राप्त होते हैं—
ऐसा इसका तात्पर्य है ।

अचिः—अचिरमिमानी देवतासे
अहः—अहरमिमानी (दिवसा-
मिमानी) देवताको, अहरमिमानी
देवतासे आर्ष्यमाण पक्ष—शुक्ल-
पक्षदेवताको, शुक्लपक्षसे पङ्कदङ्—
जिन छः महीनोंमें सूर्य उत्तर दिशामें
चलता है उन महीनोंको अर्थात्
उत्तरायण-देवताको, उन उत्तराय-
णके छः महीनोंसे संवत्सर—संवत्सरा-

संवत्सरं संवत्सरदेवतां ततः संव-

त्सरदादित्यमादित्याच्चन्द्रमसं

चन्द्रमसो विद्युतं तत्तत्रस्थांस्तान्

पुरुषः कश्चिद्ब्रह्मलोकादेत्यामा-

नवो मानव्यां सृष्टौ भवो मानवो

न मानवोऽमानवः स पुरुष

एनान्ब्रह्म सत्यलोकस्थं गमयति

गन्तुं गन्तव्यगमयितृत्वव्यपदेशे-

भ्यः । सन्मात्रब्रह्मप्राप्तौ तदनुप-

पत्तेः । ब्रह्मैव सन्ब्रह्माप्येतीति

हि तत्र वक्तुं न्याय्यम् । सर्व-

भेदनिरासेन सन्मात्रप्रतिपत्ति

वक्ष्यति । न चादृष्टो मार्गोऽग-

भिमानी देवताको प्राप्त होते हैं ।

फिर संवत्सरसे आदित्यको, आदित्य-

से चन्द्रमाको और चन्द्रमासे विद्युत्-

को प्राप्त होते हैं । वहाँ स्थित हुए

उन उपासकोंको कोई अमानव—

जो मानवी सृष्टिमें होता है उसे

‘मानव’ कहते हैं, जो मानव न

हो उसीका नाम ‘अमानव’ है;

ऐसा कोई अमानव पुरुष ब्रह्मलोक-

से आकर सत्यलोकमें स्थित ब्रह्मके

पास पहुँचा देता है । गमन करने-

वाले, गन्तव्य स्थान और गमन

करानेवालेका उल्लेख होनेके कारण

[यहाँ कार्यब्रह्म ही अभिप्रेत है]

क्योंकि सत्तामात्र ब्रह्मकी प्राप्तिमें

यह कुछ नहीं कहा जा सकता ।

वहाँ तो यही कहना न्याय्य है कि

‘वह ब्रह्मरूप हुआ ही ब्रह्मको प्राप्त

होता है’ । आगे छोटे (अध्यायमें)

श्रुति सम्पूर्ण भेदके बाधद्वारा सन्मात्र

ब्रह्मकी प्राप्तिका उल्लेख करेगी ।*

तथा बिना देखा हुआ [एकत्व-

रूप] मार्ग तो मोक्षमें उपयोगी

ही नहीं हो सकता । जैसा कि

* यहाँ यह शङ्का होती है कि जब परमार्थतः जीव ब्रह्म ही है तो ब्रह्मके उपासकका भी लोकान्तरमें जाना ठीक नहीं है । उसका भी मोक्ष ही हो जाना चाहिये । इसका समाधान करनेके लिये आगेकी बात कहते हैं ।

मनायोपतिष्ठते। "स एनमविदितो

न मुनक्ति" इति श्रुत्यन्तरात् ।

एष देवपथः, देवैरचिरादि-
भिर्गमयितृत्वेनाधिकृतैरुपलक्षितः
पन्था देवपथ उच्यते । ब्रह्म
गन्तव्यं तेन चोपलक्षित इति
ब्रह्मपथः । एतेन प्रतिपद्यमाना
गच्छन्तो ब्रह्मेमं मानयं मनुसं-
न्धिनं मनोः सृष्टिलक्षणमावर्तं
नावर्तन्त आवर्तन्तेऽस्मिञ्जनन-
मरणप्रबन्धचक्रारूढा घटीयन्त्र-
वत्युनः पुनरित्यावर्तस्तं न प्रति-
पद्यन्ते । नावर्तन्त इति द्विरुक्तिः
सफलाया विद्यायाः परिसमाप्ति-
प्रदर्शनार्था ॥ ५ ॥

"वह (परमात्मा) विदित न होनेपर
इस अधिकारोका [मुक्ति प्रदान
करके] पालन नहीं करता" इस
अन्य श्रुतिसे प्रमाणित होता है ।

यह देवमार्ग है—उपासकको
पञ्चानेके लिये अधिकारप्राप्त
देवताओंसे उपलक्षित होनेके
कारण यह मार्ग देवमार्ग कहलाता
है, तथा ब्रह्म गन्तव्य (प्राप्तव्य)
स्थान है, उससे उपलक्षित होता
है, इसलिये वह ब्रह्ममार्ग है ।
इसके—द्वारा ब्रह्मको प्राप्त हुए
अर्थात् जानेवाले उपासक इस
मानव—मनुसम्बन्धी अर्थात् मनु-
की सृष्टिरूप आवर्तमें नहीं लौटते ।
जिसमें जन्म-मरणके प्रवाहरूप
चक्रपर चढ़े हुए प्राणी घटीयन्त्रके
समान, पुनः पुनः आवर्तन करते हैं
उस इस लोकको 'आवर्त' कहते
हैं, इसे वे प्राप्त नहीं होते ।
'नावर्तन्ते नावर्तन्ते' यह द्विरुक्ति
फलके, सहित विद्याकी परिसमाप्ति
प्रदर्शित करनेके लिये है ॥ ५ ॥

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि चतुर्थाध्याये
पञ्चदशखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥१५॥

षोडश खण्ड

—:०:—

यज्ञोपासना

रहस्यप्रकरणे प्रसङ्गादारण्य-	रहस्य (उपासना) के प्रकरणमें
कत्वसामान्याञ्च यज्ञे क्षत उत्पन्ने	[मार्गोपदेशका] प्रसङ्ग होनेके कारण,
व्याहृतयः प्रायश्चित्तार्था विधा-	[पूर्वोत्तर प्रकरणोंका] आरण्यकत्वमें
तव्यास्तदभिज्ञस्य चत्विजो	सादृश्य होनेके कारण, और यज्ञमें
ब्रह्मणो मौनमित्यत इदमारभ्यते-	कोई क्षत प्राप्त होनेपर उसके प्राय-
	श्चित्तके लिये व्याहृतियोंका विधान
	करना है—तथा प्रायश्चित्तको जानने-
	वाले ऋत्विक् ब्रह्माके लिये मौनका
	विधान करना है—इसलिये यह
	प्रकरण आरम्भ किया जाता है—

एष ह वै यज्ञो योऽयं पवत एष ह यन्निदं सर्वं
पुनाति । यदेष यन्निदं सर्वं पुनाति तस्मादेष एव
यज्ञस्तस्य मनश्च वाक्च वर्तनी ॥ १ ॥

यह जो चलता है निश्चय यज्ञ ही है । यह चलता हुआ निश्चय इस सम्पूर्ण जगत्को पवित्र करता है; क्योंकि यह गमन करता हुआ इस समस्त संसारको पवित्र कर देता है इसलिये यही यज्ञ है । मन और वाक्—ये दोनों इसके मार्ग हैं ॥ १ ॥

एष ह वा एष वायुर्योऽयं पवतेऽयं यज्ञः । ह वा इति प्रसिद्धार्थावद्योतकौ निपातौ । वायुप्रतिष्ठो हि यज्ञः प्रसिद्धः

‘एष ह वै’—यह वायु जो कि चलता है, यज्ञ है । ‘ह’ और ‘वै’ ये प्रसिद्ध पदार्थके द्योतक निपात हैं । श्रुतियोंमें यह वायुरूप प्रतिष्ठा-वाला ही प्रसिद्ध है । जैसा कि

श्रुतिषु, “स्वाहा वाते धाः”

(यजु० २ । २१ तथा ८ । २१)

“अयं वै यज्ञो योज्यं पचते”

इत्यादिश्रुतिभ्यः । वात एव हि

चलनात्मकत्वात्क्रियासमवायी ।

“वात एव यज्ञस्यारम्भको वातः

प्रतिष्ठा” इति च श्रवणात् ।

एष ह यन्नाच्छंश्चलनिदं सर्वं

जगत्पुनाति पावयति शोधयति ।

न ह्यचलतः शुद्धिरस्ति । दोष-

निरसनं चलतो हि दृष्टं न

स्थिरस्य । यद्यस्माच्च यन्नेष इदं

सर्वं पुनाति तस्मादेव एव यज्ञो

यत्पुनातीति ।

तस्यास्यैवं विशिष्टस्य यज्ञस्य

वाक्च मन्त्रोच्चारणे व्यापृता,

मनश्च यथाभूतार्थज्ञाने व्यापृतम्,

ते एते वाङ्मनसे वर्तनी मार्गौ

अथ यज्ञस्य

प्रवृत्तमनः—ये दोनों अर्थात् वाणी

और मन ‘वर्तनी’—मार्ग हैं । जिन-

“यह यज्ञ आपके हाथमें सौंपता हूँ ।

आप इसे वायु देवतामें स्थापित

करे ।”, “यह निश्चय यज्ञ ही है जो

कि चलता है” इत्यादि श्रुतियोंसे

प्रमाणित होता है । चलनात्मक-

स्वरूप गुणवाला होनेके कारण

वायुका ही क्रियासे समवाय सम्बन्ध

है, जैसा कि श्रुति कहती है—

“वायु ही यज्ञका आरम्भक है और

वायु ही उसकी प्रतिष्ठा है ।”

यह चलता—गमन करता हुआ

इस सम्पूर्ण जगत्को पवित्र—शुद्ध

कर देता है । जो नहीं चलता

[अर्थात् विहित क्रियाका अनुष्ठान

नहीं करता] उसकी शुद्धि नहीं

होती । दोषनिवृत्ति गतिशीलकी

ही देखी जाती है, स्थिरकी नहीं

देखी जाती, क्योंकि यह चलता

हुआ इस सम्पूर्ण जगत्को पवित्र

कर देता है इसलिये यही यज्ञ है,

क्योंकि पवित्र करता है ।

उस इस प्रकारकी विशेषता-

वाले यज्ञके मन्त्रोच्चारणमें प्रवृत्त

वाणी और यथार्थ वस्तुके ज्ञानमें

प्रवृत्त मन—ये दोनों अर्थात् वाणी

और मन ‘वर्तनी’—मार्ग हैं । जिन-

*१. इस मन्त्रकी एक अर्घाली इस प्रकार है—‘मनसस्पत इम देव यज्ञ’
स्वाहा वाते धाः’ अर्थात् ‘हे चित्तके प्रवर्तक देव (परमेश्वर) ! मैं यह यज्ञ आपके
हाथोंमें सौंपता हूँ, आप इसे वायु देवतामें स्थापित करें ।’

याभ्यां यज्ञस्तायमानः प्रवर्तते
ते वर्तनी । “प्राणापानपरिचलन-
वत्या हि वाचश्चित्तस्य चोत्तरो-
त्तरक्रमो यद्यज्ञः” इति हि श्रुत्य-
न्तरम् । अतो वाङ्मनसाभ्यां
यज्ञो वर्तते इति वाङ्मनसे
वर्तनी उच्येते यज्ञस्य ॥ १ ॥

के द्वारा विस्तृत किया हुआ यज्ञ
प्रवृत्त होता है उन्हें ‘वर्तनी’ कहते
हैं । “प्राण और अपान इन दोनोंके
योगसे जिनका परिचलन होता है ।
उन वाणी और मनका जो पूर्वापर-
क्रम^१ है वही यज्ञ है” — ऐसी एक
दूसरी श्रुति कहती है । इस प्रकार
क्योंकि वाणी और मनसे यज्ञ प्रवृत्त
होता है, इसलिये वाणी और मन
यज्ञके मार्ग कहे गये हैं ॥ १ ॥

— : * : —

ब्रह्माके मौनभङ्गसे यज्ञकी हानि

तयोरन्यतरां मनसा संस्करोति ब्रह्मा वाचा
होताध्वर्युरुद्गातान्यतरां स यत्रोपाकृते प्रातरनुवाके पुरा
परिधानीयाया ब्रह्मा व्यववदति ॥ २ ॥ अन्यतरामेव
वर्तनीं संस्करोति हीयतेऽन्यतरा स यथैकपादव्रजन् रथो
वैकेन चक्रेण वर्तमानो रिष्यत्येवमस्य यज्ञो रिष्यति
यज्ञं रिष्यन्तं यजमानोऽनुरिष्यति स इष्ट्वा पापीयान्
भवति ॥ ३ ॥

उनमेंसे एक मार्गका ब्रह्मा मनके द्वारा संस्कार करता है तथा
होता, अध्वर्यु और उद्गाता ये वाणी द्वारा दूसरे मार्गका संस्कार करते हैं ।
यदि प्रातरनुवाकके आरम्भ हो जानेपर परिधानीया ऋचाके उच्चारणसे
पूर्व ब्रह्मा बोल उठता है तो वह केवल एक मार्गका ही संस्कार करता

१. क्योंकि मनसे चिन्तन करके वाणीसे उच्चारण करनेवाला पुरुष ही
इनके पूर्वापरभावरूप क्रमपूर्वक यज्ञ-सम्पादन करता है ।

है, दूसरा मार्ग नष्ट हो जाता है। जिस प्रकार एक पाँवसे चलनेवाला पुरुष अथवा एक पहियेसे चलनेवाला रथ नष्ट हो जाता है उसी प्रकार इसका यज्ञ भी नाशको प्राप्त हो जाता है। यज्ञके नष्ट होनेके पश्चात् यजमानका नाश होता है, इस प्रकारका यज्ञ करनेपर वह और भी अधिक पापी हो जाता है ॥ २-३ ॥

तयोर्वर्तन्योरन्यतरां वर्तनीं
मनसा विवेकज्ञानवता संस्क-
रोति ब्रह्मत्विग्वाचा वर्तन्या
होताध्वर्युरुद्रातेत्येते त्रयोऽप्यृ-
त्विजोऽन्यतरां वाग्लक्षणां वर्तनीं
वाचैव संस्कुर्वन्ति । तत्रैवं सति
वाङ्मनसे वर्तनी संस्कार्ये यज्ञे ।

अथ स ब्रह्मा यत्र यस्मिन्काल
उपाकृते प्राख्ये प्रातरनुवाके
शस्त्रे पुरा पूर्वं परिधानीयाया
ऋचो ब्रह्मैतस्मिन्नन्तरे काले
व्यववदति मौनं परित्यजति
यदि तदान्यतरामेव वाग्वर्तनीं
संस्करोति । ब्रह्मणासंस्क्रियमा-
णा मनोवर्तनी हीयते विनश्यति
छिद्नीभवत्यन्यतरा, स यज्ञो
वाग्वर्तन्यैवान्यतरया वर्तितुमश-
क्नुवन्निरप्यति । ।

उन दोनों मार्गोंमेंसे किसी एक
मार्गका ब्रह्मानामक ऋत्विक् विवेक-
ज्ञानयुक्त चित्तद्वारा संस्कार करता है
तथा होता, अध्वर्यु और उद्गाता
ये तीनों ऋत्विक् भी दूसरे वाक्-
नामक मार्गका वाणीके द्वारा ही
संस्कार करते हैं। अतः ऐसा होनेके
कारण यज्ञमें वाक् और मन दोनों ही
मार्गोंका संस्कार करना चाहिये ।

इसके बाद यह ब्रह्मा जिस कालमें
प्रातरनुवाक शतका प्रारम्भ हो गया
हो उस समयमें परिधानीया ऋचाके
उच्चारणसे पूर्व बोल उठता है—
यदि मौन छोड़ देता है तो एक
अर्थात् वाक् रूप मार्गका ही संस्कार
करता है। इस प्रकार ब्रह्माद्वारा
संस्कारशून्य हुआ एक मनरूप मार्ग
विनष्ट अर्थात् छिद्रयुक्त हो जाता है।
तब वह यज्ञ एकमात्र वाग्वर्तनीसे
ही रहनेमें असमर्थ होनेके कारण
नष्ट हो जाता है ।

कथमिव ? इत्याह—स यथैकपा-
 त्पुरुषो ब्रजन्गच्छन्नध्वानं रिष्य-
 ति, रथो वैकेन चक्रेण वर्तमानो
 गच्छन्निष्यति, एवमस्य यजमा-
 नस्य कुब्रह्मणा यज्ञो रिष्यति
 विनश्यति । यज्ञं रिष्यन्तं
 यजमानोऽनु रिष्यति; यज्ञप्राणो
 हि यजमानः, अतो युक्तो यज्ञ-
 रेपे रेपस्तस्य । स तं यज्ञमिष्ट्वा
 तादृशं पापीयान्पापतरो भवति
 ॥ २-३ ॥

किस प्रकार नष्ट हो जाता है ?
 यह श्रुति बतलाती है—जिस प्रकार
 मार्गमें एक पाँवसे चलनेवाला मनुष्य
 गिर जाता है अथवा एक पहियेसे
 चलनेवाला रथ नाशको प्राप्त होता
 है उसी प्रकार कुत्सित ब्रह्माके द्वारा
 इस यजमानका यज्ञ नष्ट हो जाता
 है । यज्ञके नष्ट होनेके पश्चात् यज-
 मानका भी नाश होता है, क्योंकि
 यजमानका तो यज्ञ ही प्राण है;
 इसलिये यज्ञके नाश होनेपर उसका
 नाश होना उचित ही है । वह इस
 प्रकारके उस यज्ञका यजन करनेपर
 पापीयात्—अधिकतर पापी होता
 है ॥ २-३ ॥

—:०:—

ब्रह्माके मीनपालनसे यज्ञकी प्रतिष्ठा

अथ यत्रोपाकृते प्रातरनुवाके न पुरा परिधानी-
 याया ब्रह्मा व्यववदत्युभे एव वर्तनी सः स्कुर्वन्ति न
 हीयतेऽन्यतरां ॥ ४ ॥ स यथोभयपादुब्रजन् रथो
 वोभाभ्यां चक्राभ्यां वर्तमानः प्रतितिष्ठत्येवमस्य यज्ञः
 प्रतितिष्ठति यज्ञं प्रतितिष्ठन्तं यजमानोऽनु प्रतितिष्ठति
 स इष्ट्वा श्रेयान् भवति ॥ ५ ॥

और यदि प्रातरनुवाकका आरम्भ होनेके अनन्तर परिधानीया
 ऋचासे पूर्व ब्रह्मा नहीं बोलता है तो [समस्त ऋत्विक् मिलकर] दोनों
 ही मार्गोंका संस्कार कर देते हैं । तब कोई भी मार्ग नष्ट नहीं होता ।
 जिस प्रकार दोनों पैरोंसे चलनेवाला पुरुष अथवा दोनों पहियोंसे चलने-

वाला रथ स्थित रहता है इसी प्रकार इसका यज्ञ स्थित रहता है, यज्ञके स्थित रहनेपर यजमान भी स्थित रहता है। वह [ऐसा] यज्ञ करके श्रेष्ठ होता है ॥ ४-५ ॥

अथ पुनर्यत्र ब्रह्मा विद्वान्मौनं
परिगृह्य वाग्विसर्गमकुर्वन्वर्तते
यावत्परिधानीयाया न व्यवव-
दति तथैव सर्वस्त्विज उमे एव
वर्तनी संस्कुर्वन्ति न हीयतेऽन्य-
तरापि । किमिव ? इत्याह पूर्वोक्त-
विपरीतौ दृष्टान्तौ । एवमस्य
यजमानस्य यज्ञः स्ववर्तनीभ्यां
वर्तमानः प्रतितिष्ठति स्वेनात्म-
नाविनश्यन्वर्तत इत्यर्थः । यज्ञं
प्रतितिष्ठन्तं यजमानोऽनुप्रतिति-
ष्ठति । स यजमान एवं मौनविज्ञान-
बद्धब्रह्मोपेतं यज्ञमिष्ट्वा श्रेयान्म-
वति श्रेष्ठो भवतीत्यर्थः ॥ ४-५ ॥

किन्तु जहाँ विद्वान् ब्रह्मा मोन
ग्रहण करनेके अनन्तर परिधानीया
ऋचापर्यन्त वाणी उच्चारण न
करता हुआ रहता है, मौन त्याग
नहीं करता, और उसीकी तरह अन्य
सब ऋत्विक् भी [नियमबद्ध] रहते
हैं, वहाँ वे सब दोनों ही मार्गोंका
संस्कार कर देते हैं । तब कोई भी मार्ग
नष्ट नहीं होता । किस प्रकार नष्ट
नहीं होना, इसमें श्रुति पहलेसे
विपरीत दृष्टान्त देनी है । तात्पर्य यह
है कि उसी प्रकार अपने दोनों मार्गों-
द्वारा स्थित हुआ इस यजमानका
यज्ञ प्रतिष्ठित होता है, अर्थात् अपने
स्वरूपसे भ्रष्ट न होता हुआ वर्तमान
रहता है । यज्ञके प्रतिष्ठित रहनेपर
यजमान भी उसीकी तरह प्रतिष्ठित
रहता है । इस प्रकारके मौन-
विज्ञानयुक्त ब्रह्मावाला वह यजमान
यज्ञ करके श्रेयावु होता है अर्थात्
श्रेष्ठ होता है ॥ ४-५ ॥

— :: —

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि चतुर्थाध्याये
षोडशतपदभाष्य सम्पूर्णम् ॥ १६ ॥

— :: —

सप्तदश खण्ड

—*—

यज्ञ-दोषके प्रायश्चित्तरूपसे व्याहृतियोंकी उपासना

<p>अत्र ब्रह्मणो मौनं विहितम्; तद्रेपे ब्रह्मत्वकर्मणि चाथान्य- स्मिंश्च हौत्रादिकर्मरेपे व्याहृति- होमः प्रायश्चित्तमिति तदर्थं व्याहृतयो विधातव्या इत्याह—</p>	<p>यहाँ ब्रह्माके मौनका विधान किया गया, उसका भंग होनेपर ब्रह्मत्व कर्मका विनाश होने अथवा अन्य किसी हौत्रादि कर्मका विनाश होनेपर व्याहृतिहोम यह प्रायश्चित्त है; उसके लिये व्याहृतियोंका विधान करना है, इसलिये श्रुति कहती है—</p>
--	---

**प्रजापतिर्लोकानभ्यतपत्तेषां तप्यमानानां रसान्
प्राबृहदग्निं पृथिव्या वायुमन्तरिक्षादादित्यं दिवः ॥१॥**

प्रजापतिने लोकोंको लक्ष्य बनाकर ध्यानरूप तप किया। उन तप किये जाते हुए लोकोंसे उसने रस निकाले। पृथिवीसे अग्नि, अन्तरिक्षसे वायु और द्युलोकसे आदित्यको उद्धृत किया ॥ १ ॥

<p>प्रजापतिर्लोकानभ्यतपल्लोका- नुद्दिश्य तत्र सारजिघृक्षया ध्यान- लक्षणं तपश्चकार। तेषां तप्य- मानानां लोकानां रसान्सार- रूपान्प्राबृहदुद्धृतवाञ्जग्राहेत्यर्थः। कान् ? अग्निं रसं पृथिव्या;</p>	<p>प्रजापतिने लोकोंको अर्थात् लोकोंको लक्ष्य बनाकर उनसे सार ग्रहण करनेकी इच्छासे ध्यानरूप तप किया। इस प्रकार तप किये जाते हुए उन लोकोंके साररूप रसोंको 'प्राबृहत्'—उद्धृत अर्थात् ग्रहण किया। किन् रसोंको ग्रहण किया ? पृथिवीसे अग्निरूप रस</p>
--	---

वायुमन्तरिक्षात्,
दिवः ॥ १ ॥

आदित्यं

अन्तरिक्षसे वायुरूप रस और द्युलोक-
से आदित्यरूप रस ग्रहण किया ॥ १ ॥

—:०:—

स एतास्तिस्त्रो देवता अभ्यतपत्तासां तप्यमानानां
रसान्प्रावृहदग्नेर्ऋचो वायोर्यजुषि सामान्यादित्यात्
॥ २ ॥

[फिर] उसने इन तीन देवताओंको लक्ष्य करके तप किया ।
उन तप किय जाते हुए देवताओंसे उसने रस निकाले । अग्निसे ऋक्,
वायुसे यजुः और आदित्यसे साम ग्रहण किये ॥ २ ॥

पुनरप्येवमेवाग्न्याद्याः स
एतास्तिस्त्रो देवता उद्दिश्याभ्य-
तपत् । ततोऽपि सारं रसं त्रयी-
विद्यां जग्राह ॥ २ ॥

फिर भी उसी प्रकार उसने
अग्नि आदि तीन देवताओंको
लक्ष्य बनाकर तप किया । उनसे
भी त्रयीविद्यारूप सार—रस ग्रहण
किया ॥ २ ॥

स एतां त्रयीं विद्यामभ्यतपत्तस्यास्तप्यमानाया
रसान्प्रावृहद्भूरित्यृगभ्यो भुवरिति यजुर्भ्यः स्वरिति
सामभ्यः ॥ ३ ॥ तद्यथृक्तो रिष्येद्भूः स्वाहेति
गार्हपत्ये जुहुयादृचामेव तद्रसेनर्चा वीर्येणर्चा यज्ञस्य
विरिष्टं संदधाति ॥ ४ ॥

[तदनन्तर] उसने इस त्रयीविद्याको लक्ष्य करके तप किया ।
उस तप की जानी हुई विद्यासे उसने रस निकाले । ऋक् श्रुतियोंसे भू,
यजुः श्रुतियोंसे भुव तथा सामश्रुतियोंसे स्व इन रसोंको ग्रहण किया ।
उस यज्ञमें यदि ऋक् श्रुतियोंके सम्बन्धसे क्षत हो तो 'भू स्वाहा' ॥
ऐसा कहकर गार्हपत्याग्निमें हवन करे । इस प्रकार वह ऋचाओंके रसमें
ऋचाओंके वीर्यद्वारा ऋक्सम्बन्धी यज्ञके क्षतकी पूर्ति करता है ॥ ३, ४ ॥

स एतां पुनरभ्यतपत्रयीं
 विद्याम् । तस्यास्तप्यमानाया रसं
 भूरिति व्याहृतिमृभ्यो जग्राह,
 भुवरिति व्याहृतिं यजुर्म्यः,
 स्वरिति व्याहृतिं सामभ्यः ।
 अतएव लोकदेववेदरसा महाव्या-
 हृतयः अतस्तत्तत्र यज्ञे यद्युक्त
 ऋक्संवन्धाद्दृग्निमित्तं रिष्येद्यज्ञः
 क्षतं प्राप्नुयाद्भुवः स्वाहेति गार्हपत्ये
 जुहुयात्, सा तत्र प्रायश्चित्तिः ।
 कथम् ? ऋचामेव, तदिति क्रिया-
 विशेषणम्, रसेनर्चा वीर्येणौज-
 सर्चा यज्ञस्य ऋक्संवन्धिनो यज्ञस्य
 विरिष्टं विच्छिन्नं क्षतरूपमुत्पन्नं
 संदधाति प्रतिसंधत्ते ॥ ३-४ ॥

फिर उसने इस त्रयीविद्याको
 लक्ष्य करके तप किया । उस तप
 की जाती हुई विद्याके रस 'भूः'
 इस व्याहृतिको ऋक्श्रुतियोंसे ग्रहण
 किया । तथा 'भुवः' इस व्याहृति-
 को यजुःश्रुतियोंसे और 'स्वः' इस
 व्याहृतिको सामश्रुतियोंसे ग्रहण
 किया । इसीसे ये महाव्याहृतियाँ
 लोक, देव और वेदकी
 सारभूत हैं । इसलिये यदि उस
 यज्ञमें ऋक्से—ऋक्के सम्बन्धसे—
 ऋक्के कारण क्षत प्राप्त हो तो
 'भूः स्वाहा' ऐसा कहकर गार्ह-
 पत्याग्निमें हवन करे । उस अव-
 स्थामें वही प्रायश्चित्त है । किस
 प्रकार ? ऋचाओंके ही रससे
 ऋचाओंके वीर्य—ओजद्वारा वह
 यज्ञके ऋक्-सम्बन्धी विरिष्ट—
 विच्छेद अर्थात् उत्पन्न हुए क्षतकी
 पूर्ति करता है । 'ऋचामेव तत्'
 इसमें 'तत्' यह क्रियाविशेषण
 है ॥ ३-४ ॥

—*~*~*

अथ यदि यजुष्टो रिष्येद्भुवः स्वाहेति दक्षिणाग्नौ
 जुहुयाद्यजुषामेव तद्रसेन यजुषां वीर्येण यजुषां
 यज्ञस्य विरिष्टं संदधाति ॥ ५ ॥

और यदि यजु श्रुतियोंके कारण क्षत हो तो 'भुवः स्वाहा' ऐसा कहकर दक्षिणाग्निमे हवन करे । इस प्रकार वह यजुओंके रससे यजुओंके वीर्यद्वारा यज्ञके यजु सम्बन्धी क्षतकी पूर्ति करता है ॥ ५ ॥

अथ यदि सामतो रिष्येत्स्वः स्वाहेत्याहवनीये जुहुयात्साम्नामेव तद्रसेन साम्नां वीर्येण साम्नां यज्ञस्य विरिष्टसंदधाति ॥ ६ ॥

और यदि सामश्रुतियोंके कारण क्षत हो तो 'स्वः स्वाहा' ऐसा कहकर आहवनीयाग्निमे हवन करे । इस प्रकार वह सामके रससे सामके वीर्य द्वारा यज्ञके सामसम्बन्धी क्षतकी पूर्ति करता है ॥ ६ ॥

<p>अथ यदि यजुष्टो यजुनिमित्तं रिष्येद्भुवः स्वाहेति दक्षिणाग्नौ जुहुयात् । तथा सामनिमित्ते रेपे स्वः स्वाहेत्याहवनीये जुहुयात् । तथा पूर्ववद्यज्ञं संदधाति । ब्रह्म-निमित्ते तु रेपे त्रिष्वग्निषु तिसृभिर्व्याहृतिभिर्जुहुयात् । त्रय्या हि विद्यायाः स रेपः । "अथ केन</p>	<p>और यदि यजुनिमित्तक क्षत हो तो 'भुवः स्वाहा' ऐसा कहकर दक्षिणाग्निमे हवन करे, तथा सामसम्बन्धी क्षत होनेपर 'स्वः स्वाहा' ऐसा कहकर आहवनीयाग्निमे हवन करे । इस प्रकार वह पूर्ववत् (ऋक्सम्बन्धी क्षतमे किये हुएके अनुसार) यज्ञक्षतकी पूर्ति कर लेता है । [ये सब प्रायश्चित्त होता, उद्गता और अध्वयुं द्वारा होनेवाले क्षतोंकी पूर्तिके लिये हैं ।] ब्रह्माके कारण यज्ञक्षत होनेपर तो तीनों अग्नियोंमें तीनों व्याहृतियोंद्वारा हवन करे; क्योंकि [उसके द्वारा होनेवाला] वह यज्ञक्षत तो त्रयीविद्याका ही क्षत</p>
---	--

ब्रह्मत्वमित्यनयैव त्रय्या विद्य-

या" इति श्रुतेः । न्यायान्तरं वा

मृग्यं ब्रह्मत्वनिमित्ते रेपे ॥५-६॥

है । जैसा कि " ज्ञात्व कিসके द्वारा सिद्ध होता है ? इस त्रयीविद्यासे ही" इस श्रुतिसे सिद्ध होता है । अथवा ब्रह्मत्वके कारण होनेवाले यज्ञक्षतके लिये कोई और न्याय ठूँढ़ना चाहिये ॥ ५-६ ॥

विद्वान् ब्रह्माकी विशिष्टता

तद्यथा लवणेन सुवर्णं संदध्यात्सुवर्णेन रजतं रजतेन त्रपु त्रपुणा सीसं सीसेन लोहं लोहेन दारु दारुचर्मणा ॥७॥ एवमेषां लोकानामासां देवतानामस्यास्त्रय्या विद्याया वीर्येण यज्ञस्य विरिष्टं संदधाति भेषजकृतो ह वा एष यज्ञो यत्रैवंविद्ब्रह्मा भवति ॥८॥

इस विषयमें [ऐसा समझना चाहिये कि] जिस प्रकार लवण (क्षार) से सुवर्णको, सुवर्णसे चाँदीको, चाँदीसे त्रपुको, त्रपुसे सीसेको, सीसेसे लोहेको, और लोहेसे काष्ठको अथवा चमड़ेसे काष्ठको जोड़ा जाता है । उसी प्रकार इन लोक, देवता और त्रयीविद्याके वीर्यसे यज्ञके क्षतका प्रतिसंधान किया जाता है । जिसमें इस प्रकार जाननेवाला ब्रह्मा होता है वह यज्ञ निश्चय ही मानों ओषधियोंद्वारा संस्कृत होता है ॥७-८॥

तद्यथा लवणेन सुवर्णं संदध्यात् चारेण टङ्कणादिना ।

खरे मृदुत्वकरं हि तत् । सुवर्णेन

रजतमशक्यसंधानं संदध्यात् ।

रजतेन तथा त्रपु, त्रपुणा सीसं

उस सम्बन्धमें [ऐसा समझना चाहिये कि] जिस प्रकार लवण-टङ्कणादि क्षारसे सुवर्णको जोड़ा जाता है, क्योंकि वह कठिन सुवर्णको मृदु करनेवाला है, सुवर्णसे चाँदीको—जिसका जुड़ना अत्यन्त कठिन है—जोड़ते हैं, इसी प्रकार चाँदीसे त्रपु (राँगा),

सीसेन लोहं लोहेन दारु
 दारु चर्मणा चर्मवन्धनेन ।
 एवमेषां लोकानामासां देवता-
 नामस्याध्व्या विद्याया वीर्येण
 रसाख्येनौजसा यज्ञस्य विरिष्टं
 संदधाति । मेपजकृतो ह वा एष
 यज्ञः, रोगार्त इव पुमांश्चिकित्स-
 केन सुशिक्षितेनैष यज्ञो भवति ।
 कोऽसौ ? यत्र यस्मिन्यज्ञ
 एवंविद्यथोक्तव्याहृतिहोमप्राय-
 श्चित्तविद्ब्रह्मत्विग्भवति स यज्ञ
 इत्यर्थः ॥ ७-८ ॥

अपुसे सीसा, सीसेने लोहा और
 लोहेमे काण्ड अथवा चर्म—चमड़ेके
 बन्धनसे काष्ठको जोड़ा जाता है,
 उसीप्रकार इन लोक, देवता और
 अयोविद्याके वीर्य—रससंज्ञक ओज-
 से यज्ञक्षतकी पूति करते हैं ।
 सुशिक्षित चिकित्सकके द्वारा
 [नीरोग किये हुए] रोगार्त पुरुषके
 समान यह यज्ञ निश्चय ही मानो
 ओषधियोद्वारा सुसंस्कृत होता
 है—कौन यज्ञ ? जहाँ अर्थात्
 जिस यज्ञमें इस प्रकार जाननेवाला
 योनी, पूर्वोक्त व्याहृतिहोमरूप
 प्रायश्चित्त जाननेवाला ब्रह्मा श्रुतिक्
 होता है वह यज्ञ—ऐसा इसका
 तात्पर्य है ॥ ७-८ ॥

—:—

किं च—

तथा—

एष ह वा उदक्प्रवणो यज्ञो यत्रैवंविद्ब्रह्मा
 भवत्येवंविद्ब्रह्म वा एषा ब्रह्माणमनुगाथा यतो यत
 आवर्तते तत्तद्ब्रह्म ॥ ६ ॥

जहाँ इस प्रकार जाननेवाला ब्रह्मा होता है वह यज्ञ उदक्प्रवण
 होता है । इस प्रकार जाननेवाले ब्रह्माके उद्देश्यमे ही यह गाथा प्रसिद्ध
 है कि “जहाँ-जहाँ कर्म आवृत्त होता है वही वह पहुँच जाता है” ॥ ६ ॥

एष ह वा उदक्प्रवण उदङ्-
 निम्नो दक्षिणोच्छ्रायो यज्ञो

जहाँ इस प्रकार जाननेवाला
 ब्रह्मा होता है वह यज्ञ उदक्प्रवण—
 उत्तरकी ओर मुखा हुआ और

भवति, उत्तरमार्गप्रतिपत्तिहेतुरित्यर्थः, यत्रैवंविद्ब्रह्मा भवति । एवंविदं ह वै ब्रह्माण्मृत्विजं प्रत्येषानुगाथा ब्रह्मणः स्तुतिपरा — यतो यत् आवर्तते कर्म प्रदेशादृत्विजां यज्ञः क्षतीभवंस्तत्तद्यज्ञस्य क्षतरूपं प्रतिसंदधत्प्रायश्चित्तेन गच्छति परिपालयतीत्येतत् ॥ ६ ॥

दक्षिण ओर उठा हुआ—अर्थात् उत्तरमार्गकी प्राप्ति हेतु होता है । इस प्रकार जाननेवाले ब्रह्मा ऋत्विक्के विषयमें ही ब्रह्माकी स्तुति करनेवाली यह अनुगाथा है—जिस-जिस प्रदेशसे कर्म आवृत्त होता है अर्थात् होता आदि ऋत्विजोंका यज्ञ क्षतयुक्त होता है उस-उस यज्ञके क्षतकी प्रायश्चित्तसे पूर्ति करता हुआ ब्रह्मा जाता है अर्थात् यज्ञकर्ताकी सब प्रकार रक्षा करता है ॥ ६ ॥

—*:*—

मानवो ब्रह्मैवैक ऋत्विक्कुरुन्श्चाभिरक्षत्येवंविद्ध वै ब्रह्मा यज्ञं यजमानः सर्वाः श्रुत्विजोऽभिरक्षति तस्मादेवंविदमेव ब्रह्माणं कुर्वीत नानेवंविदं नानेवंविदम् ॥ १० ॥

एक मानव ब्रह्मा ही ऋत्विक् है । जिस प्रकार युद्धमें घोड़ी योद्धाओंकी रक्षा करती है उसी प्रकार ऐसा जाननेवाला ब्रह्मा यज्ञ, यजमान और अन्य समस्त ऋत्विजोंकी भी सब ओरसे रक्षा करता है । अतः इस प्रकार जाननेवालेको ही ब्रह्मा बनावे, ऐसा न जाननेवालेको नहीं, ऐसा न जाननेवालेको नहीं ॥ १० ॥

मानवो ब्रह्मा मौनाचरणान्मननाद्वा ज्ञानवत्त्वात्ततो ब्रह्मैवैक ऋत्विक्कुरु रूक्कर्तन् योद्धनारूढान्श्चाभिरक्षति तस्मादेवंविदमेव ब्रह्माणं कुर्वीत नानेवंविदं नानेवंविदम् ॥ १० ॥

मौनाचरण करनेसे अथवा मनन करनेके कारण ब्रह्मा मानव है; अतः ज्ञानवान् होनेके कारण ब्रह्मा ही एक ऋत्विक् है । जिस प्रकार युद्धमें घोड़ी 'कुरुन्'—

ब्रह्मा यथाभिरक्षत्येवंविद् ह वै
 ब्रह्मा यज्ञं यजमानं सर्वांश्च ऋत्वि-
 जोऽभिरक्षति तत्कृतदोषापनय-
 नात् । यत एवं विशिष्टो ब्रह्मा
 विद्वान्, तस्मादेवंविदम् एव
 यथोक्तव्याहृत्यादिविदं ब्रह्माणं
 कुर्वीत, नानेवंविदं कदाचनेति ।
 द्विरभ्यासोऽध्यायपरिसमाप्त्यर्थः
 ॥ १० ॥

कर्ताश्रोकी यानी अपनी पीठपर चढ़े
 हुए योद्धाश्रोकी सब प्रकारसे रक्षा
 करती है उसी प्रकार ऐसा जानने-
 वाला ब्रह्मा भी यज्ञ, यजमान और
 समस्त ऋत्विजोकी, उनके किये हुए
 दोषोंकी निवृत्ति करके, सब ओरसे
 रक्षा करता है । क्योंकि विद्वान्
 ब्रह्मा ऐसा विशिष्टगुणसम्पन्न होता
 है इसलिये इस प्रकार—उपयुक्त
 व्याहृति आदिका ज्ञान रखने-
 वालेको ही ब्रह्मा बनावे; इस प्रकार
 न जाननेवालेको कभी न बनावे ।
 'नानेवविदं' नानेवंविदम्' यह
 द्विरुक्ति अध्यायकी समाप्तिके लिये
 है ॥ १० ॥

—ॐ००ॐ—

इतिच्छान्दोग्योपनिषद् चतुर्थाध्याये
 सप्तदशखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥१७॥

—ॐ००ॐ—

इति श्रीमद्रुद्रगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यस्य परमहंसपरिव्राजकाचार्यस्य
 श्रीमच्छंकरभगवतः कृतौ छान्दोग्योपनिषद्वि-
 वरणे चतुर्थोऽध्यायः समाप्तः ॥ ४ ॥



पञ्चम अध्याय

—*o*—

प्रथम खण्ड

—*o*—

सगुणब्रह्मविद्याया उत्तरा

उपक्रमः गतिरुक्ता । अथेदानीं
पञ्चमेऽध्याये पञ्चा-

त्रिविदो गृहस्थस्योर्ध्वरेतसां च
श्रद्धालूनां विद्यान्तरशीलिनां
तामेव गतिमनूयान्या दक्षिणदि-
क्संवन्धिनी केवलकर्मिणां
धूमादिलक्षणा पुनरावृत्तिरूपा,
तृतीया च ततः कष्टतरा
संसारगतिः, वैराग्यहेतोर्वक्तव्या
इत्यारभ्यते । प्राणः श्रेष्ठो वागादि-
भ्यः प्राणो वाव संवर्ग इत्यादि
च बहुशोऽस्तीति ग्रन्थे प्राणग्रहणं
कृतम्, स कथं श्रेष्ठो वागादिषु
सर्वैः संहत्यकारित्वाविशेषे, कथं

[गत अध्यायमें] सगुण ब्रह्म-
विद्याकी उत्तर (उत्तरायण मार्ग-
रूपा) गति कह दी गयी । अब
इसके अनन्तर पञ्चम अध्यायमें
पञ्चाग्निवेत्ता गृहस्थं तथा अन्य
विद्याओंमें निष्ठा रखनेवाले श्रद्धालु
ऊर्ध्वरेताओंकी उसी गतिका
अनुवाद कर केवल कर्मपरायण
पुरुषोंकी उससे भिन्न दक्षिण
दिशासे सम्बन्ध रखनेवाली धूमादि-
लक्षणा पुनरावृत्तिरूपा गति और
तीसरी उससे भी क्लिष्टतर संसार-
गतिका वैराग्यके लिये वर्णन करना
है—इसीसे आगेका ग्रन्थ आरम्भ
किया जाता है । वागादिकी अपेक्षा
प्राण श्रेष्ठ है; क्योंकि गत ग्रन्थमें
'प्राण ही संवर्ग है' इत्यादि अनेकों
प्रकारसे प्राणका ग्रहण किया
गया है । 'सबके साथ मिल-
कर कार्य करनेमें समानता
होनेपर भी वह वागादि इन्द्रियोंमें
श्रेष्ठ क्यों है ? और क्यों
उसकी उपासना करनी चाहिये ?'—

च तस्योपासनमिति तस्य श्रेष्ठ-
त्वादिगुणविधित्सयेदमनन्तरमा-
रम्भ्यते—

इस शङ्काकी निवृत्तिके लिये उसके
श्रेष्ठत्व आदि गुणोंका विधान करने-
की इच्छासे यह आगेका ग्रन्थ
आरम्भ किया जाता है—

ज्येष्ठश्रेष्ठादिगुणोपासना

यो ह वै ज्येष्ठं च श्रेष्ठं च वेद ज्येष्ठश्च ह वै
श्रेष्ठश्च भवति प्राणो वाव ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च ॥ १ ॥

जो ज्येष्ठ और श्रेष्ठको जानता है वह ज्येष्ठ और श्रेष्ठ हो जाता है ।
निश्चय ही प्राण ज्येष्ठ और श्रेष्ठ है ॥ १ ॥

यो ह वै कश्चिज्ज्येष्ठं च प्रथमं
वयसा श्रेष्ठं च गुणैरभ्यधिकं वेद,
स ज्येष्ठश्च ह वै श्रेष्ठश्च भवति ।
फलेन पुरुषं प्रलोभ्यामिषुखीकृ-
त्याह—प्राणो वाव ज्येष्ठश्च वयसा
वागादिभ्यः । गर्भस्थे हि पुरुषे
प्राणस्य वृत्तिर्वागादिभ्यः पूर्वं
लब्धात्मिका भवति, यया गर्भो
विवर्धते । चक्षुरादिस्थानावयव-
निष्पत्तौ सत्यां पश्चाद्वागादीनां
वृत्तिलाभ इति प्राणो ज्येष्ठो
वयसा भवति । श्रेष्ठत्वं तु प्रति-

जो कोई ज्येष्ठ—आयुमें प्रथम
और श्रेष्ठ—गुणोंमें अधिकको
जानता है वह निश्चय ही ज्येष्ठ और
श्रेष्ठ हो जाता है । इस प्रकार
फलके द्वारा पुरुषको प्रलोभित कर
उसे प्राणोपासनाके अभिमुख कर
श्रुति कहती है—वागादिकी अपेक्षा
प्राण ही आयुमें ज्येष्ठ है, क्योंकि
पुरुषके गर्भस्थ होनेपर वागादिकी
अपेक्षा प्राणकी वृत्ति पहले लब्ध-
स्वरूप होती है, जिससे कि गर्भ
बढ़ता है । वागादिकी वृत्तियोंका
लाभ तो चक्षुरादि गोलक और
अवयवोंके निष्पन्न हो जानेंके
अनन्तर होता है; इसलिये आयुकी
दृष्टिसे प्राण ज्येष्ठ है । तब ही उस

पादयिष्यति सुहय इत्यादिनि-

दर्शनेन । अतः प्राण एव ज्येष्ठश्च

श्रेष्ठश्चास्मिन्कार्यकरणसंघाते ॥ १ ॥

श्रेष्ठताका तो 'सुहयः' इत्यादि
दृष्टान्तद्वारा [वारह्वे मन्त्रमें]

प्रतिपादन किया जायगा । अतः
इस कार्यकरणसंघातमें प्राण ही

ज्येष्ठ और श्रेष्ठ है ॥ १ ॥

—:०:—

यो ह वै वसिष्ठं वेद वसिष्ठो ह स्वानां भवति
वाग्वाव वसिष्ठः ॥ २ ॥

जो कोई वसिष्ठको जानता है वह स्वजातियोंमें वसिष्ठ होता है;
निश्चय ही वाक् वसिष्ठ है ॥ २ ॥

यो ह वै वसिष्ठं वसितु तम-
माच्छादयितुतमं वसुमत्तमं वा
यो वेद स तथैव वसिष्ठो ह
भवति स्वानां ज्ञातीनाम् । कस्तर्हि
वसिष्ठः ? इत्याह— वाग्वाव
वसिष्ठः, वाग्मिनो हि पुरुषा
वसन्त्यभिभवन्त्यन्यान्वसुमत्त-
माश्च, अतो वाग्वसिष्ठः ॥ २ ॥

जो कोई वसिष्ठ—अत्यन्त
वसनेवाले अर्थात् आच्छादन करने-
वालेको अथवा अत्यन्त वसुमान्
(धनवान्) को जानता है वह
उसी प्रकार अपने सजातियोंमें
वसिष्ठ होता है । अच्छा तो वसिष्ठ
कौन है ? इसपर श्रुति कहती है—
निश्चय ही वाक् वसिष्ठ है; क्योंकि
वाग्मी (श्रेष्ठ वक्ता) लोग ही वसते
अर्थात् दूसरोंका पराभव करते हैं;
और अधिक धनवान् भी होते हैं;
अतः वाक् ही वसिष्ठ है ॥ २ ॥

—:०:—

यो ह वै प्रतिष्ठां वेद प्रति ह तिष्ठत्यस्मिंश्च
लोकेऽमुष्मिंश्च चक्षुर्वाव प्रतिष्ठा ॥ ३ ॥

जो कोई प्रतिष्ठाको जानता है वह इस लोक और परलोकमें
प्रतिष्ठित होता है; चक्षु ही प्रतिष्ठा है ॥ ३ ॥

यो ह वै प्रतिष्ठां वेद स
अस्मिँल्लोकेऽमुष्मिदच परे प्रति-
तिष्ठति ह । का तर्हि प्रतिष्ठा ?
इत्याह—चक्षुर्वाच प्रतिष्ठा ।
चक्षुषा हि पश्यन्समे च दुर्गे
च प्रतितिष्ठति यस्मात्, अतः
प्रतिष्ठा चक्षुः ॥ ३ ॥

जो कोई प्रतिष्ठाको जानता है
वह इस लोक और परलोकमें
प्रतिष्ठित होता है । अच्छा तो
प्रतिष्ठा क्या है ? इसपर श्रुति कहती
है—चक्षु ही प्रतिष्ठा है, क्योंकि
चक्षुसे देखकर ही पुरुष सम
और विषम प्रदेशमें स्थित होता है;
इसलिये चक्षु ही प्रतिष्ठा
है ॥ ३ ॥

—:ॐ:—

यो ह वै संपदं वेद स५हास्मै कामाः पद्यन्ते
दैवाश्च मानुषाश्च श्रोत्रं वाव संपत् ॥ ४ ॥

जो कोई सम्पदको जानता है उसे देव और मानुष काम (भोग)
सम्यक् प्रकारसे प्राप्त होते हैं । श्रोत्र ही सम्पद है ॥ ४ ॥

यो ह वै संपदं वेद तस्मा
अस्मै दैवाश्च मानुषाश्च कामाः
संपद्यन्ते ह । का तर्हि संपद् ?
इत्याह—श्रोत्रं वाव संपत् ।
यस्माच्छ्रोत्रेण वेदा गृह्यन्ते
तदर्थविज्ञानं च, ततः कर्माणि
क्रियन्ते, ततः कामसंपत् । इत्येवं
कामसंपद्वेतुत्वाच्छ्रोत्रं वा
संपत् ॥ ४ ॥

जो कोई सम्पदको जानता है
उसे देव और मानुष भोग सम्यक्
प्रकारसे प्राप्त होते हैं । अच्छा तो
संपद् क्या है ? इसपर श्रुति कहती
है—श्रोत्र ही सम्पद् है, क्योंकि
श्रोत्रसे वेद और उनके अर्थका
विशेष ज्ञान ग्रहण किये जाते हैं,
फिर कर्म किये जाते हैं और तद-
नन्तर भोगोंकी प्राप्ति होती है । इस
प्रकार भोगोंकी प्राप्तिके हेतु
होनेके कारण श्रोत्र ही सम्पद्
है ॥ ४ ॥

—: वः:—

यो ह वा आयतनं वेदायतन५ह स्वानां भवति
मनो ह वा आयतनम् ॥ ५ ॥

जो आयतनको जानता है वह स्वजातियोंका आयतन (आश्रय) होता है । निश्चय ही मन आयतन है ॥ ५ ॥

यो ह वा आयतनं वेदायतनं
ह स्वानां भवत्याश्रयो भवती-
त्यर्थः । किं तदायतनम् ? इत्याह
मनो ह वा आयतनम् । इन्द्रि-
योपहतानां विषयाणां भोक्त्र-
र्थानां प्रत्ययरूपाणां मन आय-
तनमाश्रयः; अतो मनो ह वा
आयतनमित्युक्तम् ॥ ५ ॥

जो आयतनको जानता है वह
स्वजनोंका आयतन होता है अर्थात्
उनका आश्रय बन जाता है । वह
आयतन क्या है ? इसपर श्रुति
कहती है—मन ही आयतन है ।
इन्द्रियोंद्वारा लाये हुए एवं भोक्ताके
प्रत्ययरूप विषयोंका मन ही
आयतन यानी आश्रय है; इसलिये
मन ही आयतन है—ऐसा कहा
गया है ॥ ५ ॥

—*o*—

इन्द्रियोंका विवाद

अथ ह प्राणा अहंश्रेयसि व्यूदिरेऽहं
श्रेयानस्म्यहं श्रेयानस्मीति ॥ ६ ॥

एक बार प्राण (इन्द्रियाँ) 'मैं श्रेष्ठ हूँ, मैं श्रेष्ठ हूँ' इस प्रकार
अपनी श्रेष्ठताके लिये विवाद करने लगे ॥ ६ ॥

अथ ह प्राणा एवं यथोक्त-
गुणाः सन्तः अहंश्रेयसि 'अहं
श्रेयानस्मि अहं श्रेयानस्मि' इत्ये-
तस्मिन्प्रयोजने व्यूदिरे नाना
विरुद्धं चोदिर उक्तवन्तः ॥ ६ ॥

एक बार इस प्रकार पूर्वोक्त
गुणोंसे युक्त प्राण अपनी श्रेष्ठताके
लिये 'मैं श्रेष्ठ हूँ, मैं श्रेष्ठ हूँ' इस
प्रयोजनसे विवाद करने लगे; अर्थात्
बहुत-सी विरुद्ध बातें कहने
लगे ॥ ६ ॥

—*o*—

ते ह प्राणाः प्रजापतिं पितरमेत्योचुर्भगवन्को
नः श्रेष्ठ इति तान्होवाच यस्मिन्व उत्क्रान्ते शरीरं
पापिष्ठतरमिव दृश्येत स वः श्रेष्ठ इति ॥ ७ ॥

उन प्राणोने अपने पिता प्रजापतिके पास जाकर कहा—‘भगवन् !
हममें कौन श्रेष्ठ है ?’ प्रजापतिने उनसे कहा—‘तुममेंसे जिसके
निकल जानेपर शरीर अत्यन्त पापिष्ठ-सा दिखायी देने लगे वही तुममें
श्रेष्ठ है’ ॥ ७ ॥

ते ह ते हैवं विवदमाना
आत्मनः श्रेष्ठत्वविज्ञानाय प्रजा-
पतिं पितरं जनयितारं कञ्चि-
देत्योचुरुक्तवन्तः—हे भगवन्को
नोऽस्माकं मध्ये श्रेष्ठोऽभ्यधिको
गुर्यैः ? इत्येवं पृष्ठवन्तः । तान्पि-
तोवाच ह—यस्मिन्वो युष्माकं
मध्य उत्क्रान्ते शरीरमिदं पापि-
ष्ठमिवातिशयेन जीवतोऽपि समु-
त्क्रान्तप्राणं ततोऽपि पापिष्ठतर-
मिवातिशयेन दृश्येत कुणपम-
स्पृश्यमशुचि दृश्येत, स वो
युष्माकं श्रेष्ठः, इत्यवोचत्काक्वा
तद्दुःखं परिजिहीर्षुः ॥ ७ ॥

इस प्रकार विवाद करते हुए वे
अपनी श्रेष्ठताको विशेषरूपसे
जाननेके लिये प्रजापति—अपने
पिता यानी किसी उत्पत्तिकर्ताके
पास जाकर बोले—‘हे भगवन् !
हम सबमें कौन श्रेष्ठ है ?’ अर्थात्
गुणोंके कारण कौन सबसे बड़ा-
चटा है—ऐसा पूछा । उनसे पिताने
कहा—‘तुममेंसे जिसके उत्क्रमण
करनेपर यह शरीर अतिशय पापिष्ठ-
सा अर्थात् जीवित रहते हुए भी
प्राणहीन तथा उससे भी अत्यन्त
निवृष्ट-सा दिखायी दे और शवके
समान अस्पृश्य एवं अपवित्र जान
पड़े वही तुममें श्रेष्ठ है ।’ इस प्रकार
उनके दुःखकी निवृत्ति चाहते हुए
प्रजापतिने काकुसे [अर्थात् स्वरभङ्ग-
रूप उपायविशेषसे] उत्तर दिया ॥ ७ ॥

वागिन्द्रियकी परीक्षा

तथोक्तेषु पित्रा प्राणेषु—

प्राणोंके प्रति पिताद्वारा इस प्रकार कहे जानेपर—

सा ह वागुच्चक्राम सा संवत्सरं प्रोष्य पर्येत्योवाच
कथमशक्ततर्तं मजीवितुमिति ? यथा कला अवदन्तः
प्राणन्तः प्राणेन पश्यन्तश्चक्षुषा शृण्वन्तः श्रोत्रेण
ध्यायन्तो मनसैवमिति प्रविवेश ह वाक् ॥ ८ ॥

उस वाक् इन्द्रियने उत्क्रमण किया । उसने एक वर्ष प्रवास करनेके अनन्तर फिर लौटकर पूछा 'मेरे बिना तुम कैसे जीवित रह सके ?' [उन्होंने कहा—] 'जिस प्रकार गूँगे लोग बिना बोले प्राणसे प्राणन-क्रिया करते, नेत्रसे देखते, कानसे सुनते और मनसे चिन्तन करते हुए जीवित रहते हैं उसी प्रकार [हम भी जीवित रहे] ।' ऐसा सुनकर वाक् इन्द्रियने शरीरमें प्रवेश किया ॥ ८ ॥

सा ह वागुच्चक्रामोत्क्रान्त-
वती । सा चोत्क्रम्य संवत्सर-
मात्रं प्रोष्य स्वव्यापारान्निवृत्ता
सती पुनः पर्येत्येतरान्प्राणानु-
वाच—कथं केन प्रकारेणाशक्त
शक्तवन्तो यूयं भद्रेते मां विना
जीवितुं धारयितुमात्मानमिति,
ते होचुर्यथा कला इत्यादि ।
कला मूका यथा लोकेष्वदन्तो
वाचा जीवन्ति । कथम् ?

उस वाक् इन्द्रियने उत्क्रमण किया । तथा उसने उत्क्रमण कर केवल एक वर्ष प्रवास करनेके अनन्तर—अपने व्यापारसे निवृत्त रहकर फिर लौटकर अन्य प्राणोंसे कहा—'तुमलोग मेरे बिना कैसे किस प्रकारसे जीवित रह सके ?' तब उन्होंने 'जिस प्रकार गूँगे' इत्यादि उत्तर दिया । जिस प्रकार 'कलाः'—गूँगेलोग संसारमें वाणीसे बिना बोले भी जीवित रहते हैं—किस प्रकार ?—प्राणसे प्राणन

प्राणन्तः प्राणेन पश्यन्तश्चक्षुषा
 शृण्वन्तः श्रोत्रेण ध्यायन्तो
 मनसैवं सर्वकरणचेष्टां कुर्वन्त
 इत्यर्थः; एवं वयमजीविष्मे-
 त्यर्थः । आत्मनोऽश्रेष्ठतां प्राणेषु
 बुद्ध्वा प्रविवेश ह वाक्पुनः
 स्वव्यापारे प्रवृत्ता बभूवेत्यर्थः ॥ ८ ॥

करते हुए, नेत्रसे देखते हुए, कान-
 से सुनते हुए और मनसे चिन्तन
 करते हुए, तात्पर्य यह है कि इस
 प्रकार समस्त इन्द्रियोकी चेष्टाएँ
 करते हुए जीवित रहते हैं उसी
 प्रकार हम भी जीवित रहे । तब
 प्राणोमे अपनी अश्रेष्ठता समझकर
 वाक् इन्द्रियने प्रवेश किया, अर्थात्
 वह पुनः अपने व्यापारमे प्रवृत्त
 हो गयी ॥ ८ ॥

चक्षुकी परीक्षा

चक्षुर्होच्चक्राम तत्संवत्सरं प्रोष्य पर्येत्योवाच
 कथमशक्तते मज्जीवितुमिति ? यथान्धा अपश्यन्तः
 प्राणन्तः प्राणेन वदन्तो वाचा शृण्वन्तः श्रोत्रेण
 ध्यायन्तो मनसैवमिति प्रविवेश ह चक्षुः ॥ ९ ॥

[फिर] चक्षुने उत्क्रमण किया । उसने एक वर्ष प्रवास करनेके
 अनन्तर फिर लौटकर पूछा—‘मेरे बिना तुम कैसे जीवित रह सके ?’
 [उन्होंने कहा—] ‘जिस प्रकार अन्धे लोग बिना देखे प्राणमे प्राणन
 करते, वाणीसे बोलते, कानसे सुनते और मनसे चिन्तन करते हुए
 जीवित रहते हैं उसी प्रकार [हम भी जीवित रहे] । ऐसा सुनकर
 चक्षुने प्रवेश किया ॥ ९ ॥

श्रोत्रकी परीक्षा

श्रोत्रं होच्चक्राम तत्संवत्सरं प्रोष्य पर्येत्योवाच
 कथमशक्तते मज्जीवितुमिति ? यथा वधिरा अशृण्वन्तः

प्राणान्तः प्राणेन वदन्तो वाचा पश्यन्तश्चक्षुषा ध्यायन्तो
मनसैवमिति प्रविवेश ह श्रोत्रम् ॥ १० ॥

[तदनन्तर] श्रोत्रने उत्क्रमण किया । उसने एक वर्ष प्रवास करनेके अनन्तर फिर लौटकर पूछा—‘मेरे बिना तुम कैसे जीवित रह सके ?’ [उन्होंने कहा—] जिस प्रकार वहरे मनुष्य बिना सुने प्राणसे प्राणन करते, वाणीसे बोलते, नेत्रसे देखते और मनसे चिन्तन करते हुए जीवित रहते हैं, उसी प्रकार [हम भी जीवित रहे] ।’ यह सुनकर श्रोत्रने शरीरमें प्रवेश किया ॥ १० ॥

मनकी परीक्षा

मनो होच्चक्राम तत्संवत्सरं प्रोष्य पर्येत्योवाच
कथमशक्यतर्ते मज्जीवितुमिति ? यथा वाला अमनसः
प्राणान्तः प्राणेन वदन्तो वाचा पश्यन्तश्चक्षुषा शृण्वन्तः
श्रोत्रेणैवमिति प्रविवेश ह मनः ॥ ११ ॥

[तत्पश्चात्] मनने उत्क्रमण किया । उसने एक वर्ष प्रवास कर फिर लौटकर कहा—‘मेरे बिना तुम कैसे जीवित रह सके ?’ [उन्होंने कहा—] ‘जिस प्रकार बच्चे, जिनका कि मन विकसित नहीं होता, प्राणसे प्राणनक्रिया करते, वाणीसे बोलते, नेत्रसे देखते और कानसे सुनते हुए जीवित रहते हैं उसी प्रकार [हम भी जीवित रहे] ।’ यह सुनकर मनने भी प्रवेश किया ॥ ११ ॥

समानमन्यत्,	चक्षुर्हाच्च-	चक्षुने उत्क्रमण किया, श्रोत्रने
क्राम श्रोत्रं होच्चक्राम	मनो	उत्क्रमण किया एवं मनने उत्क्रमण
होच्चक्रामेत्यादि ।	यथा	किया इत्यादि शेष समस्त श्रुतियोंका
		तात्पर्य समान है । जिस प्रकार
		बालक ‘अमना’—अप्ररूढमना

बाला अमनसोऽप्ररुद्धमनस | अर्थात् जिनका मन विकसित
नहीं हुआ है ऐसा इसका तात्पर्य
इत्यर्थः ॥ ६-११ ॥

प्राणकी परीक्षा और विजय

एवं परीक्षितेषु वागादिषु— | इस प्रकार वागादिवी परीक्षा
हो चुकनेपर—

अथ ह प्राण उच्चिक्रमिपन्स यथा सुहयः पड्वी-
शशङ्कुन्संखिदेदेवमितरान्प्राणान्समखिदत्त ५ हाभिस्समेत्यो-
चुर्भगवन्नेधि त्वं नः श्रेष्ठोऽसि मोत्क्रमोरिति ॥ १२ ॥

फिर प्राणने उत्क्रमण करनेकी इच्छा की। उसने, जिस प्रकार
अच्छा घोड़ा अपने पैर बाँधनेकी कीलोको उखाड़ डालता है उसी प्रकार
अन्य प्राणोको भी उखाड़ दिया। तब उन सबने उसके सामने जाकर
कहा 'भगवत् । आप [हमारे स्वामी] रहे, आप ही हम सबमे श्रेष्ठ
हैं, आप उत्क्रमण न करें' ॥ १२ ॥

अथानन्तरं ह स मुख्यः प्राण
उच्चिक्रमिपन्नुत्क्रमितुमिच्छन्कि-
मकरोत् ? इत्युच्यते—यथा
लोके सुहयः शोभनोऽश्वः पड्वी-
शशङ्कुन्पादवन्धनकीलान् परी-
क्षणायारुढेन कशया हतः
सन्संखिदेत्समुत्खनेत्समुत्पाटयेत्,
एवमितरान्वागादीन्प्राणान्सम-
खिदत्समुद्धृतवान् ।

अथ—इसके पश्चात् उस मुख्य
प्राणने उत्क्रमण करनेकी इच्छा
करते हुए क्या किया ? सो बतलाया
जाता है—लोकमें जिस प्रकार
अच्छा घोड़ा अपनी परीक्षाके लिये
चढ़े हुए मनुष्यद्वारा चाबुकसे मारे
जानेपर पैर बाँधनेकी कीलोको
उखाड़ डालता है उसी प्रकार
उसने वाक् आदि अन्य प्राणोको
उखाड़ दिया अर्थात् [शरीरसे]
बाहर निकाल लिया ।

ते प्राणाः संचालिताः सन्तः
स्वस्थाने स्थातुमनुत्सहमाना

[इसी प्रकार] विचलित कर
दिये जानेपर वे प्राण अपने गोलकोमें
स्थित रहनेमें असमर्थ होनेके कारण

अभिसमेत्य मुख्यं प्राणं तमृचुः—
हे भगवन्नेधि भद्र नः स्वामी,
तस्मात्त्वं नोऽस्माकं श्रेष्ठोऽसि; मा
चास्माद्देहादुत्कर्मरिति ॥ १२ ॥

मुख्यप्राणके सम्मुख जा उससे
बोले—‘हे भगवन् ! एधि’—‘आप
हमारे स्वामी हों, क्योंकि हम सबमें
आप श्रेष्ठ हैं । तथा इस शरीरसे
आप उत्कर्मण न करें’ ॥ १२ ॥

—:०:—

इन्द्रियोंद्वारा प्राणकी स्तुति

अथ हैनं वागुवाच यदहं वसिष्ठोऽस्मि त्वं
तद्वसिष्ठोऽसीत्यथ हैनं चक्षुरुवाच यदहं प्रतिष्ठास्मि त्वं
तत्प्रतिष्ठासीति ॥ १३ ॥ अथ हैनं श्रोत्रमुवाच यद-
हं संपदस्मि त्वं तत्संपदसीत्यथ हैनं मन उवाच यदह-
मायतनमस्मि त्वं तदायतनमसीति ॥ १४ ॥

फिर उससे वाक् इन्द्रियने कहा—‘मैं जो वसिष्ठ हूँ सो तुम्हीं
वसिष्ठ हो ।’ तदनन्तर उससे चक्षुने कहा—‘मैं जो प्रतिष्ठा हूँ सो
तुम्हीं प्रतिष्ठा हो’ ॥ १३ ॥ फिर उससे श्रोत्रने कहा—‘मैं जो सम्पद्
हूँ सो तुम्हीं सम्पद् हो ।’ तत्पश्चात् उससे मन बोला—‘मैं जो आयतन
हूँ सो तुम्हीं आयतन हो’ ॥ १४ ॥

अथ हैनं वागादयः प्राणस्य
श्रेष्ठत्वं कार्येणापादयन्त आहु-
र्वलिमिव हरन्तो राज्ञे विशः ।
कथम् ? वाक् तावदुवाच—यदहं
वसिष्ठोऽस्मि, यदिति क्रियाविशे-
षणम्, यद्वसिष्ठत्वगुणास्मीत्य-

तदनन्तर वैश्यलोग जिस प्रकार
राजाको भेंट समर्पण करते हैं उसी
प्रकार वागादि इन्द्रियोंने अपने
कार्यसे प्राणकी श्रेष्ठता सम्पादन
करते हुए कहा । किस प्रकार
कहा ?—पहले वाणी बोली—
मैं जो वसिष्ठ हूँ, यहाँ मूलमें
‘यत्’ शब्द क्रिया-विशेषण है,
अर्थात् ‘मैं जो वसिष्ठत्व

र्थः; त्वं तद्वसिष्ठस्तेन वसिष्ठ-
 त्वगुणेन त्वं तद्वसिष्ठोऽसि तद्गुण-
 स्त्वमित्यर्थः । अथवा तच्छब्दो-
 ऽपि क्रियाविशेषणमेव ।
 त्वत्कृतस्त्वदीयोऽसौ वसिष्ठस्त्व-
 गुणोऽज्ञानान्ममेति मयाभिमत
 इत्येतत् । तथोत्तरेषु योज्यं
 चक्षुःश्रोत्रमनःसु ॥ १३-१४ ॥

गुणवाली है सो तुम वसिष्ठ
 हो—उस वसिष्ठत्व गुणसे तद्वसिष्ठ
 हो अर्थात् तुम्हीं उस गुणवाले हो ।
 अथवा 'तत्' शब्द भी क्रियाविशेषण
 ही है । तब इसका यह तात्पर्य
 होगा कि 'तुम्हारा किया हुआ
 अर्थात् तुम्हारा जो यह वसिष्ठत्व
 गुण है वह अज्ञानसे 'मेरा है' ऐसा
 मैंने समझ लिया है ।' इसी प्रकार
 आगेके चक्षु, श्रोत्र और मनके
 विषयमे योजना कर लेनी
 चाहिये ॥ १३-१४ ॥

— • : —

श्रुतेरिदं वचो युक्तमिदं
 वागादिभिर्मुख्यं प्राणं प्रत्यभि-
 हितं यस्मात्—

वाक् आदि इन्द्रियोंद्वारा मुख्य
 प्राणके प्रति कहा हुआ जो यह
 श्रुतिका वाक्य है सो ठीक ही है,
 क्योंकि—

न वै वाचो न चक्षुःपि न श्रोत्राणि न मनाः-
 सीत्याचक्षते प्राणा इत्येवाचक्षते प्राणो ह्येवैतानि
 सर्वाणि भवति ॥ १५ ॥

[लोकमे समस्त इन्द्रियोको] न वाक्, न चक्षु, न श्रोत्र और न
 मन ही कहते हैं; परंतु 'प्राण' ऐसा कहते हैं, क्योंकि ये सब प्राण
 ही हैं ॥ १५ ॥

न वै लोके वाचो न चक्षुःपि
 न श्रोत्राणि न मनांसीति वागा-
 दीनि करणान्याचक्षते लौकिका

लोकमे इन वाक् आदि [समस्त]
 इन्द्रियोको लौकिक अथवा शास्त्रज्ञ
 मुख्य न तो वाक् कहते हैं और न

आगमज्ञा वा; किं तर्हि ? प्राणा इत्येवाचक्षते कथयन्ति । यस्मात् प्राणो ह्येवैतानि सर्वाणि वागादीनि करणजातानि भवत्यतो मुख्यं प्राणं प्रत्यनुरूपमेव वागादिभिरुक्तमिति प्रकरणार्थमुपसंजिहीर्षति ।

ननु कथमिदं युक्तं चेतनावन्त इव पुरुषा अहंश्रेष्ठतायै विवदन्तोऽन्योन्यं स्पर्धेरन् ? इति । न हि चक्षुरादीनां वाचं प्रत्याख्याय प्रत्येकं वदनं संभवति; तथापगमो देहात्पुनः प्रवेशो ब्रह्मगमनं प्राणस्तुतिर्वोपपद्यते ।

तत्राग्न्यादिचेतनावदेवताधिष्ठितत्वाद्वागादीनां चेतनावत्त्वं तावत्सिद्धमागमतः । तार्किकसमयविरोध इति चेदेह एकस्मिन्नेकचेतनावत्त्वे, न, ईश्वरस्य

चक्षु, न श्रोत्र और न मन ही कहते हैं । तो फिर क्या कहते हैं ? वस 'प्राण' ऐसा ही कहते हैं । क्योंकि प्राण ही यह समस्त वागादि इन्द्रियसमुदाय हो जाता है, अतः मुख्य प्राणके प्रति वागादि इन्द्रियोंद्वारा ठीक ही कहा गया है—इस प्रकार श्रुति इस प्रकरणके अर्थका उपसंहार करना चाहती है ।

शङ्का - किंतु यह किस प्रकार सम्भव है कि वागादि प्राणोंने चेतनायुक्त पुरुषोंके समान अपनी श्रेष्ठताके लिये विवाद करते हुए एक दूसरेसे स्पर्धा की ? क्योंकि वाक्के सिवा अन्य चक्षु आदि इन्द्रियोंमेंसे किसीका भी बोलना सम्भव नहीं है और न उनका देहसे चला जाना, उसमें पुनः प्रवेश करना, ब्रह्माके पास जाना अथवा प्राणकी स्तुति करना ही सम्भव है ।

समाधान—उसमें हमारा यह कथन है कि अग्नि आदि चेतन देवताओंसे अधिष्ठित होनेके कारण वागादि इन्द्रियोंकी चेतनता तो शास्त्रसे ही सिद्ध है । यदि कहो कि इस प्रकार एक ही देहमें अनेक चेतनावानोंके रहनेसे तार्किकोंके मतसे विरोध होगा—तो ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि

निमित्तकारणत्वाभ्युपगमात् । ये तावदीश्वरमभ्युपगच्छन्ति तार्कि-
कास्ते मनआदिकार्यकरणाना-
माध्यात्मिकानां बाह्यानां च
पृथिव्यादीनामीश्वराधिष्ठिताना-
मेव नियमेन प्रवृत्तिमिच्छन्ति
रथादिवत् । न चास्माभिरग्न्याद्या-
श्चेतनावत्योऽपि देवता अध्यात्मं
भोक्तव्योऽभ्युपगम्यन्ते; किं तहि ?
कार्यकरणवतीनां हि तासां
प्राणैकदेवताभेदानामध्यात्माधि-
भूताधिदैवभेदकोटिविकल्पाना-
मध्यक्षतामात्रेण नियन्तेऽश्वरो-
ऽभ्युपगम्यते, स ह्यकरणः ।
“अपाणिपादो जघनो ग्रहीता
पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः”
(श्वे० उ० ३।१६) इत्यादि
मन्त्रवर्णात् । “हिरण्यगर्भं पश्यत
जायमानम्” (श्वे० उ० ४।१२) ।
“हिरण्यगर्भं जनयामास पूर्वम्”
(श्वे० उ० ३।४) इत्यादि च
श्वेताश्वतरीयाः पठन्ति ।

उन्होंने ईश्वरकी निमित्तकारणता
स्वीकार की है । तार्किकलोग जो
ईश्वरको स्वीकार करते हैं तो वे
रथ आदिके समान ईश्वरसे अधिष्ठित
हुए ही मन आदि आध्यात्मिक भूत
एव इन्द्रियोकी तथा पृथिवी आदि
बाह्य पदार्थोंकी नियत प्रवृत्ति मानते
हैं । तथा हमलोग तो अग्नि आदि
चेतन देवताओंको भी अध्यात्म
(शरीरान्तर्वर्ती) भोक्ता नहीं
मानते । तो क्या मानते हैं ?—
हम तो अध्यात्म, अधिभूत और
अधिदैवभेदसे करोड़ों विकल्पोवाली
एकमात्र प्राणदेवताकी भेदस्वरूप
उन देहेन्द्रियवती देवताओंका
ईश्वरको अध्यक्षतामात्रसे नियन्ता
मानते हैं, क्योंकि वह (ईश्वर)
अकरण (इन्द्रियादिरहित) है । जैसा
कि “वह बिना हाथ-पाँवके ही वेग-
वान् और ग्रहण करनेवाला है तथा
बिना नेत्रवाला होकर भी देखता है
और कर्णहीन होनेपर भी सुनता है”
इस मन्त्रवर्णसे प्रमाणित होता है ।
इसके सिवा श्वेताश्वतर शाखावालो-
का यह भी पाठ है कि—“उत्पन्न
होते हुए हिरण्यगर्भको देखो” तथा
“पहले हिरण्यगर्भको उत्पन्न किया”
इत्यादि ।

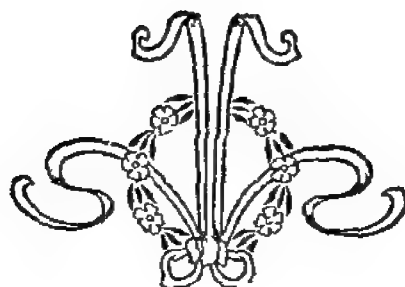
भोक्ता कर्मफलसंबन्धी देहे
 तद्विलक्षणो जीव इति वक्ष्यामः ।
 वागादीनां चेह संवादः कल्पितो
 विदुषोऽन्वयव्यतिरेकाभ्यां प्राण-
 श्रेष्ठतानिर्धारणार्थम्; यथा लोके
 पुरुषा अन्योन्यमात्सनः श्रेष्ठतायै
 विवदमानाः कश्चिद्गुणविशेषाभिज्ञं
 पृच्छन्ति का नः श्रेष्ठो गुणैः ?
 इति तेनोक्ता एकैकशयेनादः
 कार्यं साधयितुमुद्यच्छत, येनादः
 कार्यं साध्यते स वः श्रेष्ठः, इत्यु-
 क्तास्तथा एवोद्यच्छन्त आत्मनो-
 ज्यस्य वा श्रेष्ठतां निर्धारयन्ति;
 तथेमं संव्यवहारं वागादिषु
 कल्पितवती श्रुतिः, कथं नाम
 विद्वान्वागादीनामेकैकस्याभावे-
 ऽपि जीवनं दृष्टं न तु प्राणस्येति
 प्राणश्रेष्ठतां प्रतिपद्येतेति ।

[इस आरीयमें] उन ईश्वर और
 देवताओंसे विलक्षण कर्मफलसे
 सम्बन्ध रखनेवाला जीव भोक्ता
 है—ऐसा हम (आगे) कहेंगे ।
 वागादिका संवाद तो यहाँ उपासकके
 प्रति अन्वय एवं व्यतिरेकसे प्राणकी
 श्रेष्ठताका निर्णय करानेके लिये
 कल्पित किया गया है । जिस प्रकार
 लोकमें मनुष्य अपनी श्रेष्ठताके लिये
 एक-दूसरेसे विवाद करते हुए किसी
 विशेष गुणजसे पूछते हैं कि 'हममें
 गुणोंकी दृष्टिसे कौन श्रेष्ठ है ?' और
 उसके यह कहनेपर कि 'इस कार्यको
 सिद्ध करनेके लिये तुम एक-एक
 करके उद्योग करो; जिससे यह
 कार्य सिद्ध हो जाय, वही तुममें
 श्रेष्ठ है' उसी प्रकार उद्योग करके
 अपनी या किसी दूसरेकी श्रेष्ठताका
 निर्णय करते हैं—उसी प्रकार
 श्रुतिने वागादिमें इस व्यवहारकी
 कल्पना की है, जिससे कि 'वागादि-
 मेंसे एक-एकके अभावमें भी जीवन
 देखा गया है किंतु प्राणके अभावमें
 नहीं देखा गया' ऐसा देखकर
 उपासक किसी प्रकार प्राणकी
 श्रेष्ठता समझ जाय ।

तथा च श्रुतिः कौपीतकि-
नाम्; "जीवति वागपेतो मूकान्दि
पश्यामो जीवति चक्षुरपेतोऽ-
न्धान्दि पश्यामो जीवति श्रो-
त्रापेतो बधिरान्दि पश्यामो
जीवति मनोऽपेतो बालान्दि
पश्यामो जीवति बाहुच्छिन्नो
जीवत्यूरुच्छिन्नः" (कौ० ७०
३ । ३) इत्याद्या ॥ १५ ॥

ऐसी ही कौपीतकिब्राह्मणोप-
निषद्की श्रुति भी है—“मनुष्य
बिना वाणीके जीवित रहता है,
क्याकि हम गुँगोको देखते हैं, नेत्रके
बिना जीवित रहता है, क्याकि
हम अन्धोको देखते हैं, श्रोत्रके
बिना जीवित रहता है, क्योंकि हम
बहरोको देखते हैं, मनके बिना
जीवित रहता है, क्योंकि हम
बालकोको देखते हैं तथा भुजा
कट जानेपर जीवित रहता है, ऊरु
(जाँघ) कट जानेपर जीवित
रहता है” इत्यादि ॥ १५ ॥

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि पञ्चमाध्याये
प्रथमखण्डमाख्यं सम्पूर्णम् ॥ १ ॥



द्वितीय खण्ड

— ❀ —

प्राणका अन्ननिर्देश

स होवाच किं मेऽन्नं भविष्यतीति यत्किञ्चि-
दिदमा श्वभ्य आ शकुनिभ्य इति होचुस्तद्वा एतद-
नस्यान्नमनो ह वै नाम प्रत्यक्षं न ह वा एवंविदि
किञ्चनानन्नं भवतीति ॥ १ ॥

उसने कहा—‘मेरा अन्न क्या होगा?’ तब वागादिने कहा—‘कुत्तों
और पक्षियोंसे लेकर सब जीवोंका यह जो कुछ अन्न है [सब तुम्हारा अन्न
है]’, सो यह सब अन्न (प्राण) का अन्न है। ‘अन्न’ यह प्राणका प्रत्यक्ष
नाम है। इस प्रकार जाननेवालेके लिये भी कुछ अन्न (अभक्ष्य) नहीं
होता है ॥ १ ॥

स होवाच मुख्यः प्राणः किं
मेऽन्नं भविष्यतीति । मुख्यं
प्राणं प्रष्टारमिव कल्पयित्वा
वागादीन्प्रतिवक्तृनिव कल्पयन्ती
श्रुतिराह—यदिदं लोकेऽन्नजातं
प्रसिद्धमा श्वभ्यः श्वभिः सहा श-
कुनिभ्यः सह शकुनिभिः सर्वप्रा-
णिनां यदन्नं तत्तवान्नमिति
होचुर्वागादय इति । प्राणस्य सर्व-
मन्नं प्राणोऽन्ना सर्वस्यान्नस्ये-
त्येवं प्रतिपत्तये कल्पिताख्यायि-
कारूपाद्व्यावृत्त्य स्वेन श्रुतिरूपे-

उस मुख्य प्राणने कहा—‘मेरा
अन्न क्या होगा?’ [इस प्रकार]
मुख्य प्राणको मानो प्रश्नकर्ता
बनाकर वागादिको उत्तरदाता-सा
कल्पित करती हुई श्रुति कहती
है—‘इस लोकमें कुत्तोंके सहित
और पक्षियोंके सहित सम्पूर्ण
प्राणियोंका यह जो कुछ अन्न प्रसिद्ध
है वही तेरा अन्न है’ ऐसा वागादिने
कहा। इस प्रकार सब कुछ प्राणका
अन्न है और प्राण इस अन्नका भोक्ता
है—इस बातको समझानेके लिये
कल्पित आख्यायिकारूपसे निवृत्त
हो अन्य अपने श्रुतिरूपसे कहता

शाह—तद्वा एतद्यत्किञ्चिद्लोके
प्राणिभिरन्नमद्यतेऽनस्य प्राणस्य
तदन्नं प्राणेनैव तदद्यत इत्यर्थः ।
सर्वप्रकारचेष्टाव्याप्तिगुणप्रदर्शना-
र्थमन इति प्राणस्य प्रत्यक्षं नाम ।
प्राद्युपसर्गपूर्वत्वे हि विशेषगति-
रेव स्यात् । तथा च सर्वान्ना-
नामत्तुर्नामग्रहणमितीदं प्रत्यक्षं
नामान इति सर्वान्नानामत्तुः
साक्षादभिधानम् ।

न ह वा एवंविदि यथोक्तप्राण-
विदि प्राणोऽहमस्मि सर्वभूतस्थः
सर्वान्नानामत्तेति, तस्मिन्नेवंविदि
ह वै किञ्चन किञ्चिदपि प्राणि-
मिराद्यं सर्वैरन्नन्नमनाद्यं न भवति
सर्वमेवंविद्यन्नं भवतीत्यर्थः;

है—‘यह जो कुछ अन्न इस लोकमें
प्राणियोंद्वारा भक्षित होता है वह
अन्न—प्राणका ही अन्न है, अर्थात्
वह प्राणसे ही भक्षित होता है ।’
प्राणका सब प्रकारकी चेष्टामें
व्याप्तिरूप गुण प्रदर्शित करनेके
लिये उसका ‘अन’ यह प्रत्यक्ष नाम है,
क्योंकि ‘प्र’ आदि उपसर्ग पूर्वमें रहने-
पर उसकी विशेष गति ही सिद्ध होती
है ।* इस प्रकार सम्पूर्ण अन्नोको
भक्षण करनेवाले प्राणका नाम ग्रहण
किया गया है अतः उसका ‘अन’
यह प्रत्यक्ष नाम है; अर्थात् यह
सर्वान्नभक्षी प्राणका साक्षात् नाम है ।

इस प्रकार जाननेवाले—उपयुक्त
प्राणवेत्ताके लिये, अर्थात् जो यह
जानता है कि मैं सम्पूर्ण भूतोमें
स्थित सारे अन्नोका भोक्ता प्राण
है, उसके लिये कुछ भी, समस्त
प्राणियोंद्वारा भक्षित होनेवाला
कोई भी अन्न, अभक्ष्य नहीं होता ।
तात्पर्य यह है कि इस प्रकार
जाननेवालेके लिये सभी अन्न है,

* ‘अन प्राणने’ इस धातुपाठके अनुसार ‘अन’ शब्द गतिशीलका वाचक है ।
उसके पहले प्र, अप, उत् + मा, वि + मा इन उपसर्गोंके तथा ‘सम्’ शब्दके
लगनेसे क्रमशः प्राण, अपान, उदान, व्यान और समान शब्द सिद्ध होते हैं ।
इनके योगसे मुख्य प्राणका गतिभेद ही चोखिल होता है ।

प्राणभूतत्वाद्विदुषः । “प्राणाद्वा
एष उदेति प्राणोऽस्तमेति” (वृ०
१ । ५ । २३) इत्युपक्रम्य
“एवंदिदो ह वा उदेति सूर्य
एवं विद्यस्तमेति” इति श्रुत्यन्त-
रात् ॥ १ ॥

क्योंकि वह विद्वान् प्राणस्वरूप हो
जाता है; जैसा कि एक दूसरी
श्रुतिमें भी “प्राणसे ही यह सूर्य
उदित होता और प्राणमें ही
अस्त होता है” ऐसा उपक्रम कर
“इस प्रकार जाननेवालेसे ही सूर्य
उदित होता है और ऐसा जानने-
वालेमें ही अस्त हो जाता है” [ऐसा
उपसंहार किया गया है] ॥ १ ॥

—ॐ—

प्राणका वस्त्रनिर्देश

स होवाच किं मे वासो भविष्यतीत्याप इति
होचुस्तस्माद्वा एतदशिष्यन्तः पुरस्ताच्चोपरिष्ठाच्चाद्भिः
परिदधति लम्बुको ह वासो भवत्यनग्नो ह भवति ॥ २ ॥

उसने कहा—‘मेरा वस्त्र क्या होगा ?’ तब वागादि बोले—‘जल’ ।
इसीसे भोजन करनेवाले पुरुष भोजनके पूर्व और पश्चात् इसका जलसे
आच्छादन करते हैं । [ऐसा करनेसे] वह वस्त्र प्राप्त करनेवाला और
अनग्न होता है ॥ २ ॥

स होवाच पुनः प्राणः, पूर्व-
वदेव कल्पना, किं मे वासो
भविष्यति ? इति; आप इति
होचुर्वागादयः । यस्मात्प्राणस्य
वासआपः, तस्माद्वा एतदशिष्य-
न्तो भोक्ष्यमाणा भुक्तवन्तश्च
ब्रह्मिणा विद्वांस एतत्कुर्वन्ति, किम् ?
अद्विर्वासस्थानीयाभिः पुरस्ता-

उस प्राणने फिर कहा—यह
कल्पना भी पहलेहीके समान है—
‘मेरा वस्त्र क्या होगा ?’ इसपर
वागादिने कहा—‘जल’ । क्योंकि
जल प्राणका वस्त्र है इसीसे भोजन
करनेवाले विद्वान् यह करते हैं;
क्या करते हैं ? भोजनके पूर्व
और पश्चात् वे वस्त्रस्थानीय जलसे

भोजनात्पूर्वमुपरिष्ठाच्च भोजना-
दूर्ध्वं च परिदधति परिधानं
कुर्वन्ति मुख्यस्य प्राणस्य ।
लम्बुको लम्बनशीलो वासो ह
भवति, वाससो लब्धैव भवती-
त्यर्थः । अनग्नो ह भवति,
वामसो लम्बुरुत्वेनार्थसिद्धैवान-
ग्रतेत्यनग्नो ह भवतीत्युत्तरीयवान्
भवतीत्येतत् ।

मोक्ष्यमाणस्य मुक्तवतश्च य-
दाचमनं शुद्ध्यर्थं विज्ञातं तस्मिन्
प्राणस्य वास इति दर्शनमात्र-
मिह विधीयते । अग्निः परिदध-
तीति नाचमनान्तरम् । यथा
लौकिकैः प्राणिभिरद्यमानमन्नं
प्राणस्येति दर्शनमात्रम्, तद्वत् ।
किं मेज्जनं किं मे वास इत्यादि-
प्रश्नप्रतिवचनयोस्तुल्यत्वान् ।
यथाचमनमपूर्वं तादर्थ्येन कियेत

मुख्य प्राणका परिधान (आच्छादन)
करते हैं । [ऐसा करनेसे] वह
लम्बुन—वखोका लम्बनशील
अर्थात् वखोको प्राप्त करनेवाला हो
होना है और अनग्न होता है ।
वखोको प्राप्त करनेवाला होनेसे
अनग्रता अर्थात् सिद्ध ही है; अतः
अनग्र होता है । इसका अभिप्राय यह
है कि उत्तरीय वखसे युक्त होता है ।

भोजन आरम्भ करनेवाले और
भोजन कर चुकनेवालेका जो आचमन
शुद्धिके लिये विदित है उसमें 'यह
प्राणका वख है' ऐसी दृष्टिमानका
विधान किया गया है । 'जलसे
परिधान करता है' ऐसा कहकर
किसी अन्य आचमनका विधान
नहीं किया गया । जिस प्रकार
लौकिक प्राण्याद्वारा भक्षित होने-
वाला अन्न प्राणका है—यहाँ जिस
तरह केवल दृष्टिमानका विधान
किया गया है उसी तरह इसे
समझना चाहिये, क्योंकि 'मेरा अन्न
क्या है ? मेरा वख क्या है ?'
इत्यादि प्रश्न और इनके उत्तर दोनों
समान हैं । यदि [इस श्रुतिके
अनुसार] प्राणके लिये अपूर्व—
नवीन आचमनका विधान मान

तदा कृम्याद्यन्नमपि प्राणस्येति
भक्ष्यत्वेन विहितं स्यात् । तुल्य-
योर्विज्ञानार्थयोः प्रश्नप्रति-
वचनयोः प्रकरणस्य विज्ञानार्थ-
त्वाद्वर्धजरतीयो न्यायो न युक्तः
कल्पयितुम् ।

यत्तु प्रसिद्धमाचमनं प्राय-
त्यार्थं प्राणस्यानग्नतार्थं च न
भवतीत्युच्यते, न तथा वयमा-
चमनमुभयार्थं ब्रूमः; किं तर्हि ?
प्रायत्यार्थाचमनसाधनभूता आ-
पः प्राणस्य वास इति दर्शनं
चोद्यत इति ब्रूमः । तत्राचमन-
स्योभयार्थत्वप्रसङ्गदोषचोदनानु-
पपन्ना । वासोऽर्थ एवाचमने
तद्दर्शनं स्यादिति चेत् ?

लिया जाय तो कृमि आदि अन्नका भी
प्राणके भक्ष्यरूपसे विधान समझा
जायगा । इस प्रकार समानरूपसे
विज्ञानार्थक प्रश्न और उत्तरोंका यह
प्रकरण विज्ञानरूप प्रयोजनके लिये
ही होनेके कारण यहाँ अर्धजरतीय
न्यायकी* कल्पना करना उचित
नहीं है ।

तथा ऐसा जो कहा जाता है
कि 'शुद्धिके लिये किया जानेवाला
प्रसिद्ध आचमन प्राणकी नग्नताके
निवारणके लिये नहीं हो सकता'
उसके विषयमें हमें यह कहना है कि
इस प्रकार हम आचमनको दोनों
प्रयोजनोंके लिये नहीं बतलाते । तो
फिर क्या कहते हैं ?—हमारा कथन
तो यह है कि शुद्धिके लिये किये
जानेवाले आचमनका साधनभूत जल
प्राणका वस्त्र है—ऐसी दृष्टिका विधान
किया गया है । उसमें आचमनके
दो प्रयोजनोंकी सिद्धिके लिये होने-
रूप दोषकी शङ्का करना उचित नहीं
है । यदि कहो कि 'ऐसी दृष्टि
करना तो तब उचित होता जब
कि आचमन प्राणके वस्त्रके
लिये ही किया जाता'—तो

* यदि कोई अनुष्य कहे कि शरीर गाय तो जवान है शरीर आधी बूढ़ी
है तो इसे अर्धजरतीय न्याय कहते हैं । अतः ऐसी कल्पना नहीं करनी चाहिये
कि अन्नमें तो केवल दृष्टिमानका विधान है; किन्तु आचमन नवीन विहित है ।

न; वासोज्ञानार्थवाक्ये वासो-
 र्थाध्वार्चमनविधाने तत्रानग्र-
 तार्थत्वदृष्टिविधाने च वाक्य-
 भेदः । आचमनस्य तदर्थत्वम-
 न्यार्थत्वं चेति प्रमाणाभावात् ॥ २ ॥

यह ठीक नहीं; क्योंकि वस्त्रदृष्टिके
 लिये प्रवृत्त हुए वाक्यमें वस्त्रके लिये
 नवीन आचमनका विधान और उसमें
 प्राणकी नग्नताके निवारणरूप
 प्रयोजनकी दृष्टिका विधान माननेसे
 वाक्यभेदरूप दोष होगा, क्योंकि
 आचमनके वासोऽर्थत्व और किसी
 अन्यार्थत्वमें कोई प्रमाण नहीं है ॥ २ ॥

— * —

प्राणविद्याकी स्तुति

तदेतत्प्राणदर्शनं
 कथम् ?

स्तूयते :

उस इस प्राणदर्शनकी स्तुति की
 जाती है, किस प्रकार ?

तद्धेतत्सत्यकामो जाबालो गोश्रुतये वैयाघ्रपद्या-
 योक्तवोवाच यद्यप्येतच्छुष्काय स्थाणवे ब्रूयाज्जायेरन्नेवा-
 स्मिञ्छाखाः प्ररोहेयुः पलाशानीति ॥ ३ ॥

उस इस (प्राणदर्शन) को सत्यकाम जाबालने वैयाघ्रपद्य गो-
 श्रुतिके प्रति निरूपित करके कहा—‘यदि इसे शुष्क स्थाणुके प्रति कहे
 तो उसमें शाखा उत्पन्न हो जायगी और पत्ते फूट आवेंगे ॥ ३ ॥

तद्धेतत्प्राणदर्शनं सत्यकामो
 जाबालो गोश्रुतये नाम्ना वैया-
 घ्रपद्याय व्याघ्रपदोऽपत्यं वैया-
 घ्रपद्यस्तस्मै गोश्रुत्याख्यायो-
 क्तवोवाचान्यदपि वक्ष्यमाणं
 वचः । किं तदुवाच ? इत्याह—
 यद्यपि शुष्काय स्थाणवे एतद-

उस इस प्राणदर्शनको सत्यकाम
 जाबालने गोश्रुतिनामक वैयाघ्रपद्यसे
 —व्याघ्रपदके पुत्रको वैयाघ्रपद्य
 कहते हैं, उस गोश्रुति नामवालेसे
 कहकर और भी आगे कहा जानेवाला
 वचन कहा । उसने क्या कहा ? सो
 बतलाते हैं—यदि प्राणवेत्ता पुरुष
 इस दर्शनको शुष्क स्थाणुके प्रति

दर्शनं ब्रूयात्प्राणविज्ञायेरन्नुत्पद्ये- कहे तो उस स्थाणुमें शाखाएँ उत्पन्न
रन्नेवास्मिन्स्थाणौ शाखाः प्ररो- हो जायें और पत्ते निकल आवें,
हेयुश्च पलाशानि पत्राणि । किमु यदि जीवित पुरुषसे कहे तब तो
जीवते पुरुषाय ब्रूयादिति ॥३॥ कहना ही क्या है ? ॥ ३ ॥

मन्यकर्म

यथोक्तप्राणदर्शनविद इदं उपयुक्त प्राणदर्शनके ज्ञाताके
लिये इस मन्यनामक कर्मका आरम्भ
मन्थाख्यं कर्मरभ्यते— किया जाता है—

अथ यदि सहज्जिगमिषेदमावास्यायां दीक्षित्वा
पौर्णमास्याः रात्रौ सर्वौषधस्य मन्थं दधिमधुनोरुपमथ्य
ज्येष्ठाय श्रेष्ठाय स्वाहेत्यग्नावाज्यस्य हुत्वा मन्थे संपात-
सवनयेत् ॥ ४ ॥

अब यदि वह महत्त्वको प्राप्त होना चाहे तो उसे अमावास्याको
दीक्षित होकर पूर्णिमाकी रात्रिको सर्वौषधके दधि और मधुसम्बन्धी
मन्यका मन्थन कर 'ज्येष्ठाय श्रेष्ठाय स्वाहा' ऐसा कहते हुए अग्निमें घृतका
हवन कर मन्यपर उसका अवशेष डालना चाहिये ॥ ४ ॥

अथानन्तरं यदि महन्महत्त्वं अब इसके पश्चात् यदि वह
जिगमिषेदन्तुमिच्छेन्महत्त्वं प्रा- महत् यानी महत्त्वको प्राप्त होना
प्तं यदि कामयेतेत्यर्थः; तस्येदं चाहे अर्थात् महत्त्वप्राप्तिकी कामना
रखता हो तो उसके लिये इस
कर्म विधीयते । महत्त्वे हि सति कर्मका विधान किया जाता है,
श्रीरूपनमते । श्रीमतो ह्यर्थप्राप्तं क्योंकि महत्त्वं प्राप्त होनेपर ही लक्ष्मी
धनं ततः कर्मानुष्ठानं ततश्च समीप आती है, क्योंकि श्रीमान्को
धनें तो स्वतः प्राप्त होता ही है, उससे कर्मानुष्ठान होता है और उससे

देवयानं पितृयाणं वा पन्थानं
प्रतिपत्स्यत इत्येतत्प्रयोजनमुररी-
कृत्य महत्त्वप्रेप्सोरिदं कर्म न
विषयोपभोगकामस्य । तस्यायं
कालादिविधिरुच्यते—

अमावास्यायां दीक्षित्वा
दीक्षित इव भूमिशयनादि नियमं
कृत्वा तपोरूपं सत्यवचनं ब्रह्म-
चर्यमित्यादिधर्मवान्भूत्वेत्यर्थः ।
न पुनर्दक्षमेव कर्मजातं सर्वमुपा-
दत्ते, अतद्विकारत्वोन्मन्थाख्य-
स्य कर्मणः । ‘उपसद्गती’

(वृ० उ० ६ । ३ । १) इति
श्रुत्यन्तरात्पयोमात्रभक्षणं च
शुद्धिकारणं तप उपादत्ते । पौ-
र्णमास्यां रात्रौ कर्माभिमते । सर्वौ-
षधस्य ग्राम्यारण्यानामोषधीनां
यावच्छ्रुत्यल्पमल्पमुपादाय त-
द्वितुषीकृत्याममेव पिष्टं दधि
मधुनोरौदुम्बरे कंसाकारे चम-

देवयान अथवा पितृयाण मार्ग प्राप्त
होना सम्भव है—इस उद्देश्यको
लक्ष्यमे रखकर ही महत्त्वप्राप्तिकी
इच्छावालेके लिये—विषयोपभोगकी
कामनावालेके लिये नहीं—यह कर्म
आरम्भ किया जाता है । उसकी
यह कालादि विधि कही जाती है—

अमावास्याके दिन दीक्षित हो—
दीक्षित पुरुषके समान भूमिशयन
आदि नियम कर अर्थात् तपःस्वरूप-
सत्यवचन, ब्रह्मचर्य इत्यादि धर्मवाला
होकर पूर्णिमाकी रात्रिको इस कर्म
का आरम्भ करता है । [इस कर्ममें
दीक्षित होनेवाला पुरुष] दीक्षा-
सम्बन्धी [मौज्जीवन्धनादि] समस्त
कर्मोंका ग्रहण नहीं करता, क्योंकि
यह मन्थाख्य कर्म किसी अन्य
कर्मका विकार नहीं है । “उपसद्गती
भूत्वा” ऐसी अन्य श्रुति होनेके
कारण वह शुद्धिका कारणभूत
पयोभक्षणमान तप स्वीकार करता
है । सर्वौषध अर्थात् यथाशक्ति ग्राम्य
और वन्य समस्त ओषधियोंका थोड़ा-
थोड़ा भाग लेकर उन्हे तुपरहित
कर उसकी कच्ची पिट्टीकी एक अन्य
श्रुतिके अनुसार दही और मधुके
सहित कसाकार अथवा चमसाकार

साकारे वा पात्रे श्रुत्यन्तरात्प्रक्षि- गूलरके पात्रमें डालकर उसका
मन्थन कर उसे अपने आगे रख
प्योपमथ्याग्रतः स्थापयित्वा 'ज्येष्ठाय श्रेष्ठाय स्वाहा' ऐसा कहते
हुए आवासध्याग्निके आवासस्थानमें
ज्येष्ठाय श्रेष्ठाय स्वाहेत्यग्नावा- घृतकी आहुति दे और सुवमें लगे
वसथ्य आज्यस्यावासस्थाने हुए अवशिष्ट हविको मन्थमें डाल दे
हुत्वा सुवसंलग्नं मन्थे संपात- अर्थात् उस घृतकी धाराको मन्थमें
मवनयेत्संस्वमथः पातयेत् ॥४॥ गिरा दे ॥ ४ ॥

—:***:—

वसिष्ठाय स्वाहेत्यग्नावाज्यस्य हुत्वा मन्थे संपा-
तमवनयेत्प्रतिष्ठायै स्वाहेत्यग्नावाज्यस्य हुत्वा मन्थे
संपातमवनयेत्संपदे स्वाहेत्यग्नावाज्यस्य हुत्वा मन्थे
संपातमवनयेदायतनाय स्वाहेत्यग्नावाज्यस्य हुत्वा मन्थे
संपातमवनयेत् ॥ ५ ॥

[इसी प्रकार] 'वसिष्ठाय स्वाहा' इस मन्त्रसे अग्निमें घृताहुति
देकर मन्थमें घृतका नाव डाले; 'प्रतिष्ठायै स्वाहा' इस मन्त्रसे अग्निमें
घृताहुति देकर मन्थमें घृतका नाव डाले; 'संपदे स्वाहा' इस मन्त्रसे
अग्निमें घृताहुति देकर मन्थमें घृतका नाव डाले तथा 'आयतनाय स्वाहा'
इस मन्त्रसे अग्निमें घृताहुति देकर मन्थमें घृतका नाव डाले ॥ ५ ॥

समानमन्थन्, वसिष्ठाय । धेग अर्थ पूर्ववत् है; 'वसिष्ठाय,
प्रतिष्ठाय, संपदे तथा आयतनाय स्वा- स्वाहा' ऐसा कहते हुए प्रत्येक मन्त्र-
हेति प्रत्येकं तथैव संपातमवन- के अनन्तर आहुति देकर उसी
येद्धुत्वा ॥ ५ ॥ प्रकार घृतका नाव [मन्थमें]
डाले ॥ ५ ॥

अथ प्रतिसृप्याञ्जलौ मन्थमाधाय जपत्यमो
नामास्यमा हि ते सर्वमिदं स हि ज्येष्ठः श्रेष्ठो
राजाधिपतिः स मा ज्येष्ठ्यं श्रेष्ठ्यं राज्यमाधिपत्यं
गमयत्वहमेवेदं सर्वमसानीति ॥ ६ ॥

तदनन्तर अग्निसे कुछ दूर हटकर मन्थको अञ्जलिमे ले वह 'अमो
नामासि' इत्यादि मन्त्रका जप करे । [अमो नामासि आदि मन्त्रका
अर्थ—] हे मन्थ ! तू 'अम' नामवाला है, क्योंकि यह सारा जगत्
[अपने प्राणभूत] तेरे साथ अवस्थित है । वह तू ज्येष्ठ, श्रेष्ठ, राजा
(दीप्तिमान्) और सबका अधिपति है । वह तू मुझे ज्येष्ठत्व, श्रेष्ठत्व,
राज्य और अधिपत्यको प्राप्त करा । मैं ही यह सबरूप हो पाऊँ ॥ ६ ॥

अथ प्रतिसृप्याग्नेरीषदपसु-
त्याञ्जलौ मन्थमाधाय जपतीमं
मन्त्रम् अमो नामास्यमा हि
ते । अम इति प्राणस्य नाम,
अन्नेन हि प्राणः प्राणिति देह
इत्यतो मन्थद्रव्यं प्राणस्या-
वत्त्वात्प्राणत्वेन मूलात्तेजो ना-
मासीति । कुतः ? यतोऽग्रा मह
हि यन्मात्ते तव प्राणभृतस्य
सर्वं समस्तं जनदिरमतः स हि
प्राणभृतो मन्थो ज्येष्ठः श्रेष्ठश्च ।
अत एव च राजा दीप्तिमानधि-
पतिश्चाधिष्ठाय पालयिता सर्वस्य ।
स मा मामपि मन्थः प्राणो

फिर प्रतिसर्पण कर—अग्निसे
कुछ हटकर मन्थको अञ्जलिमे
रख इस मन्त्रको जपता है—'अम
नामासि अमा हि ते' इत्यादि । 'अम'
यह प्राणका नाम है, अन्नके कारण
ही प्राण शरीरमे प्राणनद्रिया करता
है, इसीसे मन्थद्रव्य प्राणका अन्न
होनेके कारण 'अमो नामासि'
इत्यादि मन्त्रद्वारा प्राणरूपमे स्तुत
होता ॥ तू तू 'अम' नामवाला
— ?—क्योंकि प्राणभूत तेरे साथ
मे यह सारा जगत् है, अतः वह
[तू] प्राणभूत मन्थ ही ज्येष्ठ और
श्रेष्ठ है । इसीसे तू राजा—दीप्तिमान्
और अधिपति—सबका अधिष्ठान
होकर पालन करनेवाला है । वह

ज्यैष्ठ्यादिगुणपूग्मात्मनो गम-
यत्वहमेवेदं सर्वं जगदसानि
भवानि प्राणवत् । इतिशब्दो
मन्त्रपरिसमाप्त्यर्थः ॥ ६ ॥

मन्थरूप प्राण मुझे भी अपने
ज्यैष्ठ्य आदि गुणसमूहको प्राप्त
करावे । प्राणके समान मैं भी यह
सम्पूर्ण जगत्स्वरूप हो जाऊँ । 'इति'
शब्द मन्त्रकी समाप्तिके लिये
है ॥ ६ ॥

—:०:—

अथ खल्वेतयर्चा पच्छ आचामति । तत्सवितु-
र्वृणीमह इत्याचामति । वयं देवस्य भोजनमित्याचा-
मति । श्रेष्ठः सर्वधातममित्याचामति । तुरं भगस्य
धीमहीति सर्वं पिबति । निर्णिज्य कः चमसं वा
पश्चादग्नेः संविशति चर्मणि वा स्थण्डिले वा वाचं-
यमोऽप्रसाहः । स यदि ह्यियं पश्येत्समृद्धं कर्मेति
विद्यात् ॥ ७ ॥

फिर वह इस ऋचासे* पादशः [उस मन्थका] भक्षण करता है ।
'तत्सवितुर्वृणीमहे' ऐसा कहकर भक्षण करता है; 'वयं देवस्य भोजनम्'
ऐसा कहकर भक्षण करता है; 'श्रेष्ठः सर्वधातमम्' ऐसा कहकर भोजन
करता है; तथा 'तुरं भगस्य धीमहि' ऐसा कहकर कंस (कटोरे) या
चमस (चम्मच) को घोंकर सारा मन्थलेप पी जाता है । तत्पश्चात्
वह अग्निके पीछे चर्म अथवा स्थण्डिल (पवित्र यज्ञभूमि) पर वाणीका
संयम कर [अनिष्ट स्वप्नदर्शनसे] अभिभूत न होता हुआ शयन करता
है । उस समय यदि वह [स्वप्नमें] स्त्रीको देखे तो वैसा समझे कि कर्म
सफल हो गया ॥ ७ ॥

अथानन्तरं खल्वेतया वक्ष्य-
माणयर्चा पच्छः पादश आचा-

इसके अनन्तर वह इस कही-
जानेवाली ऋचासे पादशः आचमन
—भक्षण करता है; अर्थात् इस

* इस ऋचाका अर्थ इस प्रकार है—'हम प्रकाशमान सविताके उस
सर्वविषयक श्रेष्ठतम भोजनकी प्रार्थना करते हैं और शीघ्र ही सविता देवताके
स्वरूपका ध्यान करते हैं ।'

मति भक्षयति मन्त्रस्यैकैकेन पादे-
 नैकैकं ग्रासं भक्षयति । तद्भोजनं
 सवितुः सर्वस्य प्रसवितुः
 प्राणमादित्यं चैकीकृत्योच्यते,
 आदित्यस्य वृणीमहे प्रार्थयेमहि
 मन्थरूपम् । येनान्नेन सावित्रेण
 भोजनेनोपशुक्तेन वयं सवितुः
 स्वरूपापन्ना भवेमेत्यभिप्रायः ।
 देवस्य सवितुरिति पूर्वेण संब-
 न्धः श्रेष्ठं प्रशस्यतमं सर्वान्नेभ्यः
 सर्वधातमं सर्वस्य जगतो धार-
 यितुतममतिशयेन विधातुतम-
 मिति वा । सर्वथा भोजनविशे-
 षणम् । तुरं त्वरं तूर्णं शीघ्रमि-
 त्येतत् । भगस्य देवस्य सवितुः
 स्वरूपमिति शेषः । धीमहि
 चिन्तयेमहि विशिष्टभोजनेन
 संस्कृताः शुद्धात्मानः सन्त
 इत्यभिप्रायः । अथवा भगस्य
 श्रियः कारणं महत्त्वं प्राप्तुं कर्म

मन्त्रके एक-एक पादसे एक-एक
 ग्रास भक्षण करता है । हम सविता
 —सबका प्रभव करनेवाले आदित्य-
 के उस मन्यरूप भोजनकी प्रार्थना
 करते हैं—यहाँ प्राण और आदित्य
 को एक मानकर ऐसा कहा गया
 है—जिस अन्न अर्थात् सविता
 देवतासे उपभोग किये हुए
 भोजनद्वारा हम सूर्यस्वरूपको
 प्राप्त होगे—ऐसा इसका अभिप्राय
 है । ‘देवस्य सवितुः’ इस प्रकार
 ‘देवस्य’ पदका पहले [सवितु
 पद] से सम्बन्ध है । श्रेष्ठ—समस्त
 अन्नोकी अपेक्षा प्रशस्यतम, ‘सर्व-
 धातमम्’—समस्त जगत्क उत्कृष्ट
 धारयिता अथवा सम्पूर्ण जगत्के
 अतिशय विधाता (उत्पत्तिकर्ता)
 [—इस प्रकार कुछ भी अर्थ किया
 जाय] यह सर्वथा भोजनका विशेषण
 है । हम तुर-त्वर-तूर्ण अर्थात् शीघ्र
 ही भग—सविता देवताके स्वरूपका
 —‘स्वरूप’ शब्द यहाँ शेष है—
 [अर्थात् यह ऊपरसे लाना पड़ता
 है] ध्यान—चिन्तन करते हैं,
 तात्पर्य यह है कि उस विशिष्ट
 भोजनसे सत्कारयुक्त और शुद्धचित्त
 होकर हम उसके स्वरूपका ध्यान
 करते हैं । अथवा भग यानी श्रीके
 कारणभूत महत्त्वको प्राप्त करनेके

कृत्वन्तो वयं तद्धीमहि चिन्त-
येमहीति सर्वं च मन्थलेपं पिवति
निर्णिज्य प्रक्षाल्य कंसं कंसाकारं
चमसं चमसाकारं वौदुस्वरं
पात्रम् ।

पीत्वाचम्य पश्चादग्नेः प्रा-
कृशिराः संविशति चर्मणि वाजिने
स्थण्डिले केवलायां वा भूमौ,
वाचंयमो वाग्यतः सन्नित्यर्थः,
अप्रसाहो न प्रसह्यने नाभिभूयते
स्त्याद्यनिष्टस्वप्नदर्शनेन यथा
तथा संयतचित्तः सन्नित्यर्थः,
स एवम्भूतो यदि स्त्रियं पश्येत्स्व-
प्नेषु तदा विद्यात्समृद्धं ममेदं
कर्मैति ॥ ७ ॥

लिये कर्म करनेवाले हम उसका ध्यान
—चिन्तन करते हैं । ऐसा कहकर
कंस—कंसाकार अथवा चमस—
चमसाकार गुलरके पात्रको धोकर
सारे मन्थलेपको पी जाता है ।

मन्थलेपको पीकर आचमन
करनेके अनन्तर अग्निके पीछे चर्म—
[मृगादिकी] खालपर, अथवा
स्थण्डिल—केवल भूमिपर ही पूर्वकी
ओर शिर करके वाचंयम अर्थात्
संयतवाक् होकर तथा अप्रसाह
यानी इस प्रकार संयतचित्त होकर
कि जिससे स्त्री आदि अनिष्ट स्वप्नके
देखनेसे विकृत न हो जाय सो जाता
है । ऐसी अवस्थामें यदि वह स्वप्नमें
स्त्रीको देखे तो यह समझे कि मेरा
यह कर्म समृद्ध हो गया । ७ ॥

—१०—

तदेष श्लोको यदा कर्मसु काम्येषु स्त्रियः स्वप्नेषु
पश्यति समृद्धिं तत्र जानीयात्तस्मिन्स्वप्ननिदर्शने
तस्मिन्स्वप्ननिदर्शने ॥ ८ ॥

इस विषयमें यह श्लोक है—जिस समय काम्यकर्मोंमें स्वप्नमें स्त्रीको
देखे तो उस स्वप्नदर्शनके होनेपर उस कर्ममें समृद्धि जाने ॥ ८ ॥

तदेतस्मिन्नर्थ एष श्लोको | उस इसी अर्थमें यह श्लोक—
यन्त्रोऽपि भवति । यदा कर्मसु मन्त्र भी है । जब कि काम्य—

काम्येषु कामार्थेषु क्षियं स्वप्नेषु कामनाग्रोके लिये किये हुए कर्मोंमे
 स्वप्नदर्शनेषु स्वप्नकालेषु वा स्वप्नमे—स्वप्नदर्शनमे अथवा स्वप्न-
 कालमे लोको देखे तो उसमे समृद्धि
 पश्यति समृद्धिं तत्र जानीयात् । समझे, अर्थात् उन कर्मोंका फल
 कर्मणां फलनिष्पत्तिर्भविष्यतीति प्राप्त होगा—ऐसा जाने । तात्पर्य
 जानीयादित्यर्थः । तस्मिन् यह है कि उस लो आदि प्रशस्त
 सत्यादिप्रशस्तस्वप्नदर्शने सती- स्वप्नदर्शनके होनेपर [कर्मकी
 त्यभिप्रायः । द्विरुक्तिः कर्म सफलता समझे] । 'तस्मिन्स्वप्न-
 समाप्त्यर्था ॥ ८ ॥ निदर्शने तस्मिन्स्वप्ननिदर्शने' यह
 द्विरुक्ति कर्मको समाप्तिके लिये है ॥८॥

—:❀:—

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि पञ्चमाध्याये
 द्वितीयखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥ २ ॥



तृतीय खण्ड

—: * :—

पञ्चालोंकी सभामें श्वेतकेतु

ब्रह्मादिस्तम्भपर्यन्तः संसार-
गतयो वक्तव्या वैराग्यहेतोर्मु-
मुक्षूणामित्यत आख्यायिका-
रभ्यते—

मुमुक्षु पुरुषोंके वैराग्यके लिये
ब्रह्मासे लेकर स्तम्भपर्यन्त संसारकी
गतियोंका वर्णन करना चाहिये—
इसीलिये यह आख्यायिका आरम्भ
की जाती है—

श्वेतकेतुर्हारुणेयः पञ्चालानां समितिमेयाय
तह प्रवाहणो जैवलिरुवाच कुमारानु त्वाशिषत्पिते-
त्यनु हि भगव इति ॥ १ ॥

आरुणिका पुत्र श्वेतकेतु पञ्चालदेशीय लोगोंकी सभामें आया ।
उससे जीवलके पुत्र प्रवाहणने कहा—‘हे कुमार ! क्या पिताने तुझे
शिक्षा दी है !’ इसपर उसने कहा—‘हाँ, भगवन् !’ ॥ १ ॥

श्वेतकेतुर्नामितः, ह इत्यै-
तिह्यार्थः, अरुणस्यापत्यमारुणि-
स्तस्यापत्यमारुणेयः पञ्चालानां
जनपदानां समितिं सभा-
मेयायाजगाम । तमागतवन्तं
ह प्रवाहणो नासतो जीव-
लस्यापत्यं जैवलिरुवाचोक्तवान् ।
हे कुमारानु त्वा त्वामशिषदन्व-
शिषत्पिता ? किमनुशिष्टस्त्वं

श्वेतकेतु नामवाला—‘ह’ यह
निपात ऐतिह्यके लिये है—अरुणके
पुत्रको आरुणि कहते हैं, उसका पुत्र
आरुणेय पञ्चाल देशके लोगोंकी
सभामें आया । उस आये हुएसे
प्रवाहण नामवाले जीवलके पुत्र
जैवलिनने कहा—‘हे कुमार ! क्या
पिताने तुझे अनुवासित (शिक्षित)
किया है ?’ अर्थात् ‘क्या पिताने
तुझे शिक्षा दी है ?’ ऐसा कहे

पित्रेत्यर्थः । इत्युक्तः स आह— जानेपर उसने कहा—“हाँ, भगवन् । मैं अनुशासित किया गया हूँ”—इस प्रकार सूचित करते हुए उसने उत्तर दिया ॥ १ ॥

— ❀ ❀ —

प्रवाहणके प्रश्न

तं होवाच—यद्यनुशिष्टोऽसि, | उसने उससे कहा— ‘यदि तुझे शिक्षा दी गयी है तो—

वेत्थ यदितोऽधि प्रजाः प्रयन्तीति ? न भगव इति । वेत्थ यथा पुनरावर्तन्त ३ इति ? न भगव इति । वेत्थ पथोदेवयानस्य पितृयाणस्य च व्यावर्तना ३ इति ? न भगव इति ॥ २ ॥

‘क्या तुझे मालूम है कि इस लोकसे [जानेपर] प्रजा कहाँ जाती है?’ [श्वेतकेतु—] ‘भगवन् । नहीं ।’ [प्रवाहण—] ‘क्या तू जानता है कि वह फिर इस लोकमें कैसे आती है?’ [श्वेतकेतु—] ‘नहीं, भगवन् ।’ [प्रवाहण—] ‘देवयान और पितृयाण—इन दोनों मार्गोंका एक दूसरेसे विलग होनेका स्थान तुझे मालूम है?’ [श्वेतकेतु—] ‘नहीं भगवन् !’ ॥ २ ॥

वेत्थ यदितोऽस्माल्लोकादधि ऊर्ध्वं यत्प्रजाः प्रयन्ति यद्गच्छन्ति, तत्किं जानीषे ? इत्यर्थः । न भगव इत्याहेतरः, न जानेज्हां तद्यत्पृच्छामि । एवं तर्हि, वेत्थ जानीषे यथा येन प्रकारेण पुनरावर्तन्त इति न भगव इति इत्याह ।

‘क्या तू जानता है कि यहाँसे—इस लोकमें परे प्रजा कहाँ जाती है ? तात्पर्य यह है कि क्या तुझे इसका पता है ?’ इसपर दूसरे (श्वेतकेतु) ने कहा—‘भगवन् । नहीं, आप जो कुछ पूछते हैं वह मैं नहीं जानता ।’ ‘अच्छा तो; जिस तरह वह इस लोकमें आती है वह क्या तुझे मालूम है ?’ इसपर उसने उत्तर दिया—‘भगवन् ! नहीं ।’ क्या

वेत्थ पथोर्मार्गयोः सहप्रयाण-
योर्देवयानस्य पितृयाणस्य च
व्यावर्तना व्यावर्तनमितरेतर-
वियोगस्थानं सह गच्छताम् ?
इत्यर्थः । न भगव इति ॥ २ ॥

तुझे साथ-साथ जानेवाले देवयान
और पितृयाण इन दोनों मार्गोंकी
व्यावर्तना—व्यावर्तन अर्थात् इनपर
साथ-साथ जानेवाले पुरुषोंके एक
दूसरेमे अलग होनेके स्थानका पता
है ? 'भगवन् ! नहीं' ॥ २ ॥

—●—●—●—

वेत्थ यथासौ लोको न संपूर्यत ३ इति न भगव
इति । वेत्थ यथा पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो
भवन्तीति ? नैव भगव इति ॥ ३ ॥

[प्रवाहण —] 'तुझे मालूम है, यह पितृलोक भरता क्यों नहीं ?'
[श्वेतकेतु —] 'भगवन् ! नहीं ।' [प्रवाहण —] 'क्या तू जानता है कि
पाँचवीं आहुतिके हवन कर दिये जानेपर आप (सोमघृतादि रस) 'पुरुष'
संज्ञाको कैसे प्राप्त होते हैं ?' [श्वेतकेतु —] नहीं, 'भगवन् ! नहीं' ॥ ३ ॥

वेत्थ यथासौ लोकः पितृ-
सम्बन्धी—यं प्राप्य पुनरावर्तन्ते,
बहुभिः प्रयद्भिरपि येन कारणेन
न सम्पूर्यत इति ? न भगव इति
प्रत्याह । वेत्थ यथा येन क्रमेण
पञ्चम्यां पञ्चसंख्याकायामाहुतौ
हुतायामाहुतिनिवृत्ता आहुति-
साधनाश्चापः पुरुषवचसः पुरुष
इत्येवं वचोऽभिधानं यासां हूय-
'क्या तू जानता है कि यह
पितृगणसम्बन्धी लोक, जिसे प्राप्त
होकर फिर लौट आते हैं, बहुतोंके
जानेपर भी किस कारणसे नहीं
भरता ?' 'भगवन् ! नहीं' ऐसा
उसने उत्तर दिया । 'क्या तुझे
मालूम है कि किस प्रकार-किस
क्रमसे पाँचवीं—पाँच संख्यावाली
आहुतिके हुत होने पर आहुतिमें
रहनेवाले आहुतिके साधनभूत आप
पुरुषवाची हो जाते हैं ? तात्पर्य
यह है कि हवन किये जानेवाले

मानानां क्रमेण पृष्ठादुत्तिभूतानां
ताः पुरुषवचसः पुरुषशब्दवाच्या
भवन्ति पुरुषाख्यां लभन्ते ?
इत्यर्थः । इत्युक्तो नैव भगव
इत्याह, नैवाहमत्र किञ्चन
जानामीत्यर्थः ॥ ३ ॥

जिन छठी आहुतिभूत द्रव्योका
'पुरुष' यही वचन यानी नाम है वे
पुरुषवाची कैसे हो जाते हैं ? अर्थात्
पुरुषसंज्ञा कैसे प्राप्त करते हैं ?
ऐसा कहे जानेपर उसने यही कहा—
'भगवन्' नहीं अर्थात् मैं इस
विषयमें कुछ भी नहीं जानता' ॥ ३ ॥

—ॐ—

प्रवाहणसे पराभूत श्वेतकेतुका अपने पिताके पास आना

अथानु किमनुशिष्टोऽवोचथा यो हीमानि न
विद्यात्कथं सोऽनुशिष्टो ब्रुवतेति । स हायस्तः पितुर-
धमेयाय तं होवाचाननुशिष्य वाव किल मा भगवान-
ब्रवीदनु त्वाशिष्यमिति ॥ ४ ॥

'तो फिर तू अपनेको 'मुझे शिक्षा दी गयी है' ऐसा क्यों बोलता
था ? जो इन बानोको नहीं जानता वह अपनेको शिक्षित कैसे कह सकता
है ?' तब वह अस्त होकर अपने पिताके स्थानपर आया और उससे
बोला—'श्रीमान्ने मुझे शिक्षा दिये बिना ही कह दिया था कि मैंने
तुझे शिक्षा दे दी है' ॥ ४ ॥

अथैवमज्ञः सन्किमनु कस्मा
त्त्वमनुशिष्टोऽस्मीत्यवोचथा उक्त
वानसि ? यो हीमानि मया
पृष्ठान्यर्थज्ञातानि न विद्यान्
विजानीयात्कथं स विद्वत्स्वनु-
शिष्टोऽस्मीति ब्रुवीत ? इत्येवं स
श्वेतकेतुं राजायस्त आयासितः

'तो फिर इस प्रकार अज्ञ होने-
पर भी तूने 'मुझे शिक्षा दी गयी है'
ऐसा कैसे कहा ? जो पुरुष
इन मेरी पूछी हुई बातोंको नहीं
जानता वह विद्वानोंमें 'मुझे शिक्षा
दी गयी है' ऐसा कैसे कह सकता
है ? इस प्रकार राजासे आयस्त-
पीडित हो वह श्वेतकेतु अपने

सन्पितुरर्थं स्थानमेयायागतवान्,
तं च पितरमुवाच—अननु-
शिष्यानुशासनमकृत्वैव मा मां
किल भगवान्प्रमावर्तनकालेऽत्र-
वीदुक्तवाननु त्वाशिषमन्वशिषं
त्वामिति ॥ ४ ॥

पिताके अर्थ—स्थानपर आया और
उस अपने पितासे बोला—‘श्रीमान्-
ने अनुशासन किये बिना ही समा-
वर्तन संस्कारके समय मुझसे कह
दिया था कि ‘मैंने तुझे शिक्षा दे
दी है’ ॥ ४ ॥

—*—

यतः—

क्योंकि—

पञ्च मा राजन्यबन्धुः प्रश्नानप्राचीत्तेषां नैकञ्चना-
शकं विवक्तुमिति स होवाच यथा मा त्वं तदैतानवदो
यथाहमेषां नैकञ्चन वेद यद्यहमिमानवेदिष्यं कथं ते
नावद्यमिति ॥ ५ ॥

‘उस क्षत्रियबन्धुने मुझसे पाँच प्रश्न पूछे थे; किंतु मैं उनमेंसे
एकका भी विवेचन नहीं कर सका ।’ उसने कहा—‘तुमने उस समय
(आते ही) जैसे ये प्रश्न मुझे सुनाये हैं उनमेंसे मैं एकको भी नहीं
जानता । यदि मैं इन्हें जानता होता तो तुम्हें क्यों न बतलाता ?’ ॥ ५ ॥

पञ्च पञ्चसंख्याकान्प्रश्नान्
राजन्यबन्धु राजन्या बन्धवो-
ऽस्येति राजन्यबन्धुः स्वयं दुर्वृत्त
इत्यर्थः । अप्राचीत्पृष्टवान्; तेषां
प्रश्नानां नैकञ्चनएकमपि नाशकं
न शक्तवानहं विवक्तुं विशेषेणा-
र्थतो निर्णेतुमित्यर्थः ।

‘राजन्यबन्धुने—राजन्य (क्षत्रिय
लोग) जिसके बन्धु हों उसे
राजन्यबन्धु कहते हैं अर्थात्
जो स्वयं दुराचारी है ऐसे उस
राजन्यबन्धुने मुझसे पाँच—गिनतीके
पाँच प्रश्न पूछे थे; किंतु मैं उन
प्रश्नोंमेंसे एकका भी विवेचन नहीं
कर सका; अर्थात् उनका विशेष-
रूप से अर्थतः निर्णय नहीं कर
सका ।’

स होवाच पिता—यथा मा
मां वत्स त्वं तदागतमात्र एवै-
तान् प्रश्नानवद उक्तवानसि—
तेषां नैकञ्चनाशकं विवक्तुमिति,
तथा मां जानीहि, त्वदीयाज्ञा-
नेन लिङ्गेन मम तद्विषयमज्ञानं
जानीहीत्यर्थः । कथम् ?
यथाहमेयां प्रश्नानामेकञ्चनै-
कमपि न वेद न जान इति;
यथा त्वमेवाङ्गैतान् प्रश्नान्
जानीषे तथाहमप्येतान्न जान
इत्यर्थः । अतो मय्यन्यथाभावो
न कर्तव्यः । कुत एतदेवम् ?
यतो न जाने; यद्यहमिमान्प्रश्ना-
नवेदिष्यं विदितवानस्मि, कथं
ते तुभ्यं प्रिणाय पुत्राय
समावर्तनकाले पुरा नावक्ष्यं
नोक्तवानस्मि ? ॥ ५ ॥

तव उस पिताने कहा—‘हे
वत्स ! तुमने उम समय आते ही
जैस ये प्रश्न मुझने कहे हैं उसमेसे
मैं एकका भी विवेचन नहीं कर
सकता । ऐसा हो तुम मुझे समझो;
अर्थात् अपने अज्ञानरूप लिङ्गसे तुम
उस विषयमे मेरा अज्ञान समझ
लो; ऐसा क्यों ? क्योंकि इन प्रश्नों-
मेसे मैं एकको भी नहीं जानता ।
तात्पर्य यह है कि हे तात ! जिस
प्रकार तुम इन प्रश्नोको नहीं जानते
उसी प्रकार मैं भी नहीं जानता ।
अन मेरे प्रति तुम्हे अन्यथाबुद्धि
नहीं करनी चाहिये । किंतु यह
बात ऐसी कैसे समझो जाय ?
क्योंकि मैं इन्हे जानता नहीं हूँ;
यदि मैं इन प्रश्नोको जानता तो
पहले समावर्तनसंस्कारके समय
अपने प्रियपुत्र तुम्हारे प्रति क्यों न
कहता ?’ ॥ ५ ॥



पिता-पुत्रका प्रवाहणके पास आना

श्लुक्त्वा—

ऐसा कहकर—

स ह गौतमो राज्ञोऽर्धमेयाय तस्मै ह प्राप्तायार्हा-
ञ्चकार स ह प्रातः सभाग उदेयाय त होवाच मानुषस्य
भगवन्गौतम वित्तस्य वरं वृणीथा इति । स होवाच तवैव

राजन्मानुषं वित्तं यासेव कुमारस्यान्ते वाचमभाषथास्ता-
मेव मे ब्रूहीति स ह कृच्छ्री बभूव ॥ ६ ॥

तत्र वह गौतम राजाके स्थानपर आया । राजाने अपने यहाँ आये हुए उसकी पूजा की । [दूसरे दिन प्रातःकाल होते ही राजाके सभामें पहुँचनेपर वह गौतम उसके पास गया । उसने उससे कहा—‘हे भगवान् गौतम ! आप मनुष्यसम्बन्धी धनका वर माँग लीजिये ।’ उसने कहा—‘राजन् ! ये मनुष्यसम्बन्धी धन आपहीके पास रहें; आपने मेरे पुत्रके प्रति जो बात [प्रश्नरूपसे] कही थी वही मुझे बतलाइये ।’ तब वह संकटमें पड़ गया ॥ ६ ॥

स ह गौतमो गोत्रतः, राज्ञो
जैवलेरर्थं स्थानमेयायागतवान् ।
तस्मै ह गौतमाय प्राप्तायार्हा-
र्हणां चकार कृतवान् । स च
गौतमः कृतातिथ्य उपित्वा
परेद्युः प्रातःकाले सयागे सयां
गते भक्ष्युदेयाय । भजनं भागः
पूजा सेवा सह आगेन वर्तमानो
वा सभागः पूजनागोर्जः
राजं गौतम उदेयाय राजान-
मुद्भूतवान् ।

तं होवाच गौतमं राजा—
साधुपश्य भगवन्गौतम मनुष्य-
सम्बन्धिनो वित्तस्य प्राप्तौ देव-
वरणीयं कामं वृणीथाः प्रार्थयेथाः ।

वह गौतम-गोत्रोत्पन्न मुनि
राजा जैवलिके स्थानपर आया ।
अपने यहाँ आये हुए उस गौतमकी
उसने अर्हा—पूजा की । इस प्रकार
आतिथ्यसत्कारसे सत्कृत वह गौतम
उस दिन निवास कर दूसरे दिन
सवेरे ही राजाके सभागत होने—
सभामें पहुँचनेपर उसके समीप
गया । अथवा [‘सभागः’ पाठ
मानकर ऐसा अर्थ हो सकता है—]
भाग-भजन अर्थात् पूजा-सेवाको
करने के जो भागसे युक्त अर्थात्
इससे मिलित था वह गौतम स्वयं
राजाके पास गया ।

उत्त गौतमसे राजाने कहा—
‘हे भगवन् ! आप मनुष्यसम्बन्धी
प्राप्तादि धनका वरण करने योग्य
वर इच्छानुसार माँग लीजिये ।’

स होवाच गौतमः—तथैव
तिष्ठतु राजन्मानुषं वित्तम्;
यामेव कुमारस्य मम पुत्रस्यान्ते
समीपे वाचं पञ्चप्रश्नलक्षणाभ-
भाषया उक्तवानसि तामेव वाचं
मे मह्यं ब्रूहि कथयेत्युक्तो गौत-
मेन राजा सह कृच्छ्री दुःखी
बभूव—कथं न्विदमिति ॥ ६ ॥

उस गौतमने कहा—‘हे राजन् !
यह मनुष्यसम्बन्धी धन तुम्हारे
ही पास रहे । तुमने कुमार
अर्थात् मेरे पुत्रके प्रति जो पचि
प्रश्नरूप बात कही थी वही
मुझसे कहो । गौतमके इस प्रकार
कहनेपर वह राजा यह कहता हुआ
कि ‘यह कैसे हो सकता है ?’ कृच्छ्री
—दुखी हो गया ॥ ६ ॥

— ❧ —

प्रवाहणका वरप्रदान

स ह कृच्छ्रीभूतोऽप्रत्याख्येयं
ब्राह्मणं मन्वानो न्यायेन विद्या
वक्तव्येति मत्वा—

इस प्रकार दुखी हुए उस
राजाने ‘ब्राह्मणका प्रत्याख्यान नहीं
करना चाहिये’ यह मानते हुए तथा
‘विद्याका नियमानुसार ही उपदेश
करना चाहिये’ यह समझते हुए—

तश्च चिरं वसेत्याज्ञापयाश्चकार तश्च होवाच यथा
मा त्वं गौतमावदो यथेयं न प्राक् त्वत्तः पुन विद्या
ब्राह्मणान्गच्छति तस्मादु सर्वेषु लोकेषु क्षत्रस्येन प्रशा-
सनमभूदिति तस्मै होवाच ॥ ७ ॥

उमे य ॥ ११२०००० ॥ जो गौतम राजा दी, ओर उससे कहा—
‘हे गौतम ! जिस प्रकार तमो ममम ॥ ११२०००० [उसने तुम यह सामो
नि] पूरागम ॥ ११२०००० ॥ विद्या ॥ ११२०००० ॥ पाम गौतम ॥
इमीन नम्पूर्ण लोकम [इन विद्या द्वारा] वि वाता हो [विद्या ॥ ११२००००]
‘तुम्हारे लोका रता है ।’ ऐसा कहकर त गौतमसे बोला— ॥ ७ ॥

तं ह गौतमं चिरं दीर्घकालं
वसेत्येवमाज्ञापयाश्चकाराज्ञा-
वान् । यत्पूर्वप्रत्याख्यातवान् राजा

उस गौतमको उसने ‘यहां
चिरकालतक रहो’ ऐसी आज्ञा दी ।
राजाने पहले जो विद्याका प्रत्या-

विद्यां यच्च पश्चाच्चिरं वसेत्याज्ञ-
प्तवान्, तन्निमित्तं ब्राह्मणं क्षमा-
पयति हेतुवचनोक्त्या ।

तं होवाच राजा सर्वविद्यो
ब्राह्मणोऽपि सन्त्यथा येन प्रका-
रेण मा मां हे गौतमावदस्त्वं
तमेव विद्यालक्षणां वाचं मे
ब्रूहीत्यज्ञानात्तेन त्वं जानीहि ।
तत्रास्ति वक्तव्यं यथा येन प्रका-
रेणोयं विद्या प्राक् त्वत्तो ब्राह्म-
णान्न गच्छति न गतवती । न
च ब्राह्मणा अनया विद्ययानुशा-
सितवन्तः । तथैतत्प्रसिद्धं लोके-
यतस्तस्मादुपुरा पूर्वं सर्वेषु लोकेषु
क्षत्रस्यैव क्षत्रजातेरेवानया
विद्यया प्रशासनं प्रशास्तृत्वं
शिष्याणामभूद्बभूव । क्षत्रियपर-
म्परयैवेयं विद्यैतावन्तं कालमा-
गता, तथाप्यहमेतां तुभ्यं
वक्ष्यामि त्वत्सम्प्रदानाद्धर्षं ब्रा-
ह्मणान्गमिष्यति । अतो मया
यदुक्तं तत्क्षन्तुमर्हसीत्युक्त्वा
तस्मै होवाच विद्यां राजा ॥७॥

ध्यान किया और फिर उसे 'चिर-
कालतक रहो' ऐसी आज्ञा दी,
उसका कारण बतलाते हुए वह
ब्राह्मणसे क्षमा कराता है ।

राजाने उससे कहा—'सर्व-
विद्यासम्पन्न ब्राह्मण होनेपर भी हे
गौतम ! तुमने जिस प्रकार मुझसे
'उस विद्यारूप वारीको ही मेरे
प्रति कहो' इस प्रकार अज्ञानपूर्वक
कहा है इससे तुम यह जानो ।
उसमें यह कारण बतलाना है कि
जिससे यह विद्या तुमसे पहले
ब्राह्मणोंमें नहीं गयी तथा इस विद्या-
द्वारा ब्राह्मणोंने उपदेश ही नहीं
किया; क्योंकि इस प्रकार यह बात
इस लोकमें प्रसिद्ध है इसीसे पूर्वकालमें
समस्त लोकोंमें क्षत्रियका ही—
क्षत्रियजातिका ही इस विद्याके
द्वारा शिष्योंका शासन—शिक्षकत्व
रहा है । अर्थात् क्षत्रियोंकी परम्परा-
से ही इतने समयतक यह विद्या
आयी है । तथापि मैं तुम्हारे प्रति
इसका उपदेश करूंगा । तुम्हें देनेके
पश्चात् यह ब्राह्मणोंके पास जायगी ।
इसलिये मैंने जो कुछ कहा है उसे
क्षमा करना । ऐसा कहकर राजाने
उसे विद्याका उपदेश किया ॥ ७ ॥

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि पञ्चमाध्याये
तृतीयखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥ ३ ॥

चतुर्थ खण्ड

— • —

पञ्चम प्रश्नका उत्तर

पञ्चम्यामाहुतावाप इत्ययं	अब 'पाँचवी आहुतिमें आप (जल) पुरुषसंज्ञक क्यों हो जाते हैं?'
प्रश्नः प्राथम्येनापाकियते । तद-	इस प्रश्नका सबसे पहले निराकरण किया जाता है, क्योंकि उसका निराकरण होनेपर अन्य प्रश्नोंका निराकरण सुगम हो जायगा ।
पाकरणमन्वितरेषामपाकरणमनु-	अग्निहोत्रकी [प्रातः कालिक और सायंकालिक] दोनों आहुतियोंका जो कार्यारम्भ है वह वाजसनेयो पनिपद्मे बतला दिया गया है ।
कूलं भवेदिति । अग्निहोत्राहुत्योः	वहाँ उस (कार्यारम्भ) के विषयमें उन दोनों आहुतियोंकी उत्क्रान्ति, गति, प्रतिष्ठा, वृद्धि, पुनरावृत्ति तथा
कार्यारम्भो यः स उक्तो वाज	लोकोंके प्रति उत्थान करना—ये छ प्रश्न हैं । वही उनका निराकरण भी इस प्रकार बतलाया गया है—
सनेयके । तं प्रति प्रश्नाः,	“वे ये आहुतियाँ हवन किये जानेपर [अपूर्वरूप होकर उत्क्रमण करते हुए यज्ञमानको आवृत कर उसके
उत्क्रान्तिराहुत्योर्गतिः प्रतिष्ठा	साय] उत्क्रमण करती हुई अन्तरिक्षलोकमें प्रवेश करती हैं, और अन्तरिक्षलोकको ही आहवनीय,
वृद्धिः पुनरावृत्तिलोकं प्रत्युत्था-	वायुको समिध तथा किरणोंको
पीति । तेषां चापाकरणमुक्तं	
तत्रैव—‘ते वा एते आहुती हुते	
उत्क्रामतस्ते अन्तरिक्षमाविशतस्ते	
अन्तरिक्षमेवाहवनीयं कुर्वन्ति वायुं	

समिधं मरीचीरेव शुक्लामाहुतिं

ते अन्तरिक्षं तर्पयतस्ते तत

उत्क्रामतः” इत्यादि; एवमेव पूर्व-

वह्निं तर्पयतस्ते तत आवर्तते ।

इमामाविश्य तर्पयित्वा पुरुष-

माविशतः । ततः स्त्रियमाविश्य

लोकं प्रत्युत्थायी भवतीति ।

तत्राग्निहोत्राहुत्योः कार्या-
रम्भमात्रमेवंप्रकारं भवतीत्युक्त-
म् । इह तु तं कार्यारम्भमग्नि-
होत्रापूर्वविपरिणामलक्षणं पञ्चधा
प्रविभज्याग्नित्वेनोपासनमुत्तर-
मार्गप्रतिपत्तिसाधनं विधित्स-
न्नाह । असौ वाव लोको गौत-
माग्निरित्यादि ।

शुक्ल आहुति बनाती है; इस प्रकार
ये अन्तरिक्षलोकको तृप्त करती हैं*
फिर वहाँसे [यजमानके उत्क्रमण
करनेपर] वे उत्क्रमण करती हैं”
इत्यादिरूपसे इसी तरह पहलेद्वीके
समान द्युलोकको [द्युलोकस्थ
यजमानको फलप्रदानद्वारा] तृप्त
करती हैं । तत्पश्चात् [प्रारब्धक्षय
होनेपर यजमानके पुनरावर्तन
करनेपर] वे वहाँसे लौट आती हैं,
तथा इस लोकमें प्रवेश कर इसे तृप्त
करनेके अनन्तर [रितःसेकमें समर्थ]
पुरुषमें प्रवेश करती हैं । फिर
स्त्रीमें प्रवेश कर वे परलोकके प्रति
[लौकिक कर्म कराती हुई] उत्थान
करनेवाली होती हैं । †

वहाँ (वाजसनेयोपनिषद्में)
तो यह बतलाया गया था कि अग्नि-
होत्रकी आहुतियोंका केवल कार्या-
रम्भमात्र इस प्रकार होता है; किंतु
यहाँ अग्निहोत्रके अपूर्वके विपरिणाम-
रूप उस कार्यारम्भको पाँच प्रकारसे
विभक्त कर उनमें उत्तरमार्गकी प्राप्ति-
के साधनभूत अग्निभावसे उपासना-
का विधान करनेकी इच्छासे श्रुति
‘असौ वाव लोको गौतमाग्निः’
इत्यादि कथन करती है ।

* अर्थात् अन्तरिक्षलोकस्थ यजमानको फलोन्मुख करती हैं ।

† अर्थात् गर्भरूपसे उत्पन्न हुए यजमानको कर्मानुष्ठानमें समर्थ देहकी प्राप्ति करा उसके द्वारा पारलौकिक कर्म कराती हुई उसका परलोकके प्रति गमन कराती हैं ।

इह सायंप्रातरग्निहोत्राहुती
हुते पयआदिसाधने श्रद्धापुरः-
सरे आहवनीयाग्निसमिद्धूमाचि-
रङ्गारविस्फुलिङ्गभाविते कर्त्रादि-
कारकभाविते चान्तरिक्षक्रमेणो-
त्क्रम्य द्युलोकं प्रविशन्त्यौ
सूक्ष्मभूते अप्समवायित्वादप्य-
ब्दवाच्ये श्रद्धाहेतुत्वाच्च श्रद्धा-
शब्दवाच्ये। तयोरधिकरणोऽग्निः,
अन्यच्च तत्संबद्धं समिदादीत्यु-
च्यते। याचासावग्न्यादिभावना-
हुत्योः सापि तथैव निर्दिश्यते।

इस लोकमें जल आदि जिनके
साधन हैं, जो श्रद्धापूर्वक निष्पन्न
की जाती हैं, जिनमें आहवनीय
अग्नि, समिध्, धूम, अर्चि, अङ्गार
और विस्फुलिङ्गकी तथा कर्ता आदि
कारककी भावना की गयी है, वे
अग्निहोत्रकी सायंकालिक एवं प्रातः-
कालिक दो आहुतियाँ अन्तरिक्ष-
क्रमसे उत्क्रमण कर द्युलोकमें प्रवेश
करती हुई सूक्ष्म एव अप्समवायिनी
(जलमयी) होनेके कारण 'अप्'
शब्दकी वाच्य हैं और श्रद्धाजनित
होनेके कारण 'श्रद्धा' शब्दकी
वाच्य हैं। यहाँ उनके आश्रयभूत
अग्नि और उससे सम्बद्ध जो समिध्
आदि हैं उनका वर्णन किया जाता
है तथा उन आहुतियोंमें जो अग्नि
आदिकी भावना है उसका भी उसी
प्रकार निर्देश किया जाता है।

लोक रूपा अग्निविद्या

असौ वाव लोको गौतमाग्निस्तस्यादित्य एव
समिद्रश्मयो धूमोऽहरर्चिश्चन्द्रमा अङ्गारा नक्षत्राणि
विस्फुलिङ्गाः ॥ १ ॥

हे गौतम ! यह प्रसिद्ध [द्यु-] लोक ही अग्नि है। उसका
आदित्य ही समिध् है, किरणें धूम हैं, दिन ज्वाला है, चन्द्रमा अङ्गार
है और नक्षत्र विस्फुलिङ्ग (चिनगारियाँ) हैं ॥ १ ॥

असौ वाव लोकोऽग्निर्ह गौतम
 यथाग्निहोत्राधिकरणमाहवनीय
 इह । तस्याग्नेर्धुलोकाख्यस्यादित्य
 एव समिध्, तेन हीद्धोऽसौ
 लोको दीप्यते अतः समिन्ध-
 नात्समिदादित्यः । रश्मयो धूम-
 स्तदुत्थानात्, समिधो हि धूम
 उत्तिष्ठति । अहरर्चिः प्रकाश-
 सामान्यात्, आदित्यकार्यत्वाच्च ।
 चन्द्रमा अङ्गाराः, अहःप्रशमे-
 ऽभिव्यक्तेः अर्चिषो हि प्रशमे-
 ऽङ्गारा अभिव्यज्यन्ते । नक्षत्राणि
 विस्फुलिङ्गाश्चन्द्रमसोऽव्यवा इव
 विप्रकीर्णत्वसामान्यात् ॥ १ ॥

हे गौतम ! जिस प्रकार इस
 लोकमें आहवनीयाग्नि अग्निहोत्रका
 अधिकरण है उसी प्रकार यह
 प्रसिद्ध लोक ही अग्नि है । उस
 धुलोकसंज्ञक अग्निका आदित्य ही
 समिध् है; उससे सम्यक्प्रकारसे दीप्त
 हुआ ही यह लोक देदीप्यमान होता
 है; अतः सम्यक् प्रकारसे इन्धन
 (दीपन) करनेके कारण आदित्य
 ही समिध् (इन्धन) है । उससे
 निकलनेके कारण किरणें धूम हैं,
 क्योंकि समिध्से ही धूम निकला
 करता है । प्रकाशमें समानता और
 आदित्यका कार्य होनेके कारण
 दिन ज्वाला है । चन्द्रमा अङ्गार
 है, क्योंकि यह दिनके शान्त होनेपर
 अभिव्यक्त होता है; लौकिक अङ्गारे
 भी ज्वालाके शान्त होनेपर ही
 प्रकट हुआ करते हैं । तथा चन्द्रमा-
 के अवयवोंके समान नक्षत्रगण
 विस्फुलिङ्ग हैं, क्योंकि इधर-उधर
 छिटके रहनेमें [विस्फुलिङ्गोंके साथ]
 उनकी समानता है ॥ १ ॥

तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः श्रद्धां जुहति तस्या
 आहुतैः सोमो राजा संभवति ॥ २ ॥

उस इस [द्युलोक रूप] अग्निमे देवगण श्रद्धाका हवन करते हैं । उस आहुतिसे सोम राजाकी उत्पत्ति होती है ॥ २ ॥

तस्मिन्नेतस्मिन्यथोक्तलक्षणे-

अनौ देवा यजमानप्राणा अग्न्या-
दिरूपा अधिदैवतम् । श्रद्धामग्नि-
होत्राहुतिपरिणामावस्थारूपाः
सूक्ष्मा आपः श्रद्धाभाविताः श्रद्धा
उच्यन्ते । पञ्चम्यामाहुतावापः
पुरुषवचसो भवन्तीत्यपां होम्य-
तया प्रदने श्रुतत्वात् । श्रद्धा वा
आपः, श्रद्धामेवारम्य प्रणीय
प्रचरन्ति, इति च विज्ञायते । तां
श्रद्धामवृषां जुहति ।

तस्या आहुतेः सोमो राजापां
श्रद्धाशब्दवाच्यानां द्युलोकानौ
हुतानां परिणामः सोमो राजा
संभवति । यथर्वेदादिपुष्परसा
ऋगादिमधुकरोपनीतास्त आदि-
त्ये यशआदिकार्यं रोहितादि-

उस इस उपयुक्त लक्षणवाले
अग्निमे देवगण—[अध्यात्मदृष्टिसे]
यजमानके प्राण तथा अधिदैवत-
रूपसे अग्नि आदि देवगण श्रद्धाका
[हवन करते हैं] । अग्निहोत्रकी
आहुतियोकी परिणामावस्थारूप
सूक्ष्म जल श्रद्धारूपसे भावित
होनेके कारण श्रद्धा कहा जाता है ।
[यहाँ 'श्रद्धा' शब्दसे जलका
उल्लेख इसलिये किया गया है]
क्योकि 'पांचवी' आहुति देनेपर
जल 'पुरुष' शब्दवाची हो जाता
है' इस प्रदने जल होम्यद्रव्य-
रूपसे सुना गया था । इसके सिवा
यह प्रसिद्ध भी है कि 'श्रद्धा ही
जल है तथा श्रद्धासे आरम्भ
करके ही लोग सामग्री जुटाकर
कर्म करते हैं' । उस जलरूपा
श्रद्धाका वे हवन करते हैं ।

उस आहुतिसे राजा सोम होता
है अर्थात् 'श्रद्धा' शब्दवाच्य जल-
का द्युलोक रूप अग्निमे हवन किये
जानेपर उसका परिणामरूप दीप्ति-
मान् चन्द्रमा होता है । जिस प्रकार
(अ० ३ ख० १ मे) यह कहा
गया है कि 'ऋग्वेदादि पुष्पके रस
ऋगादि मधुकरोद्वारा ले जाये
जानेपर आदित्यमें जिस प्रकार
रोहितादिरूप यश आदि कार्य

रूपलक्षणमारभन्त इत्युक्तं तथेमा
अग्निहोत्राहुतिसमवायिन्यः
सूक्ष्माः श्रद्धाशब्दवाच्या आपो
द्युलोकमनुप्रविश्य चान्द्रं कार्य-
मारभन्ते फलरूपमग्निहोत्राहुत्योः।

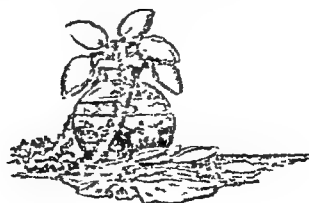
यजमानाश्च तत्कर्तार आहुति-
मया आहुतिभावना भाविता
आहुतिरूपेण कर्मणा कृष्टाः श्रद्धा-
प्तमवायिनो द्युलोकमनुप्रविश्य
सोमभूता भवन्ति । तदर्थं हि
तैरग्निहोत्रं हुतम् । अत्र त्वाहुति-
परिणाम एव पञ्चाग्निसंवन्ध-
क्रमेण प्राधान्येन विवक्षित उपा-
सनार्थं न यजमानानां गतिः ।
तां त्वविदुषां धूमादिक्रमेणोत्तरत्र
वक्ष्यति विदुषां चोत्तरां विद्या-
कृताम् ॥ २ ॥

आरम्भ करते हैं, उसी प्रकार
अग्निहोत्रकी आहुतियोंसे सम्बन्ध
ये 'श्रद्धा' शब्दवाच्य सूक्ष्म जल
द्युलोकमें प्रवेश कर अग्निहोत्रकी
आहुतियोंका फलरूप चन्द्रमासम्बन्धी
कार्य आरम्भ करते हैं ।

तथा उस हवनके करनेवाले
यजमान आहुतिमय—आहुतिकी
भावनासे भावित आहुतिरूप कर्मसे
आकर्षित हो श्रद्धारूप जलसे पूर्ण
हो द्युलोकमें प्रवेश कर चन्द्रमारूप
हो जाते हैं, क्योंकि उसीके लिये
उन्होंने अग्निहोत्र किया था; किंतु
यहाँ तो उपासनाके लिये प्रधानतया
पाँच अग्नियोंके सम्बन्धसे आहुतियों-
का परिणाम ही बतलाना अभीष्ट
है, यजमानोंकी गति नहीं; उसका
तो श्रुति आगे चलकर धूमादिक्रमसे
अविद्वानोंकी गतिका तथा विद्यासे
प्राप्त होनेवाली विद्वानोंकी उत्तर-
मार्गीय गतिका वर्णनकरेगी ॥ २ ॥

—:ॐ:—

इति छान्दोग्योपनिषदि पञ्चमाध्याये
चतुर्थखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥ ४ ॥



पञ्चम खण्ड

—:—

पर्जन्यरूपा अग्निविद्या

द्वितीयहोमपर्यायार्थमाह—

अब श्रुति द्वितीय होमके पर्यायार्थका वर्णन करती है—

पर्जन्यो वाव गौतमाग्निस्तस्य वायुरेव समिदभ्रं धूमो
विद्युदर्चिरशनिरङ्गारा ह्लादनयो विस्फुलिङ्गाः ॥ १ ॥

हैं गौतम ! पर्जन्य ही अग्नि है; उसका वायु ही समिध है, बादल धूम है, विद्युत् ज्वाला है, वज्र अङ्गार है तथा गर्जन विस्फुलिङ्ग हैं ॥ १ ॥

पर्जन्यो वाव पर्जन्य एव ।
गौतमाग्निः पर्जन्यो नाम वृष्ट्य-
पकरणाभिमानो देवताविशेषः ।
तस्य वायुरेव समित् ।
वायुना हि पर्जन्योज्ज्वलः
समिध्यते, पुरोवातादिप्रावर्त्ये
वृष्टिदर्शना । अभ्रं धूमो धूम-
कार्यत्वाद् धूमवच्च लक्ष्यमाणत्वा-
त् । विद्युदर्चिः, प्रकाशसामा-
न्यात् । अशनिरङ्गाराः, काठि-
न्याद्विद्युत्सम्बन्धाद्वा । ह्लादनयो

हे गौतम ! 'पर्जन्यो वाव'—पर्जन्य ही अग्नि है—वृष्टिके जो साधन हैं उनके अभिमानो देवताविशेषका नाम 'पर्जन्य' है । उसका वायु ही समिध है, क्योंकि पर्जन्यरूप अग्नि वायुसे ही प्रदीप्त होता है, जैसा कि पूर्वोक्त वायु आदिकी प्रचलता होनेपर वृष्टि होती देखी जानेसे सिद्ध होना है । धूमका कार्य होने तथा धूमवत् देखा जानेके कारण बादल धूम है । प्रकाशमें समानता होनेके कारण विद्युत् (विजली) ज्वाला है । कठिनताके कारण अथवा विद्युत्से सम्बन्ध रखनेके कारण वज्र अङ्गार है । ह्लादनय विस्फुलिङ्ग

विस्फुलिङ्गाः, हादनयो गर्जित-
शब्दा मेघानां विप्रकीर्णत्वसा-
मान्यात् ॥ १ ॥

है; मेघोंकी गर्जनाके शब्दोंको
'हादनि' कहते हैं; विप्रकीर्णत्व
(इधर-उधर फैले रहने) में समानता
होनेके कारण वे विस्फुलिङ्ग हैं ॥ १ ॥

—:०:—

तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः सोमं राजानं जुह्वति
तस्या आहुतेर्वर्षः संभवति ॥ २ ॥

उस अग्निमें देवगण राजा सोमका हवन करते हैं; उस आहुतिसे
वर्षा होती है ॥ २ ॥

तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः
पूर्ववत्सोमं राजानं जुह्वति । तस्या
आहुतेर्वर्षः संभवति । श्रद्धाख्या
आपः सोमाकारपरिणता द्वितीये
पर्याये पर्जन्याग्निं प्राप्य वृष्टि-
त्वेन परिणमन्ते ॥ २ ॥

उस इस अग्निमें देवगण पूर्ववत्
राजा सोमका हवन करते हैं । उस
आहुतिसे वर्षा होती है । श्रद्धा-
संज्ञक आप इस द्वितीय पर्यायमें
सोमके आकारमें परिणत हो पर्ज-
न्याग्नि को प्राप्त होकर वृष्टिरूपमें
परिणत हो जाते हैं ॥ २ ॥

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि पञ्चमाध्याये
पञ्चमखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥ ५ ॥



षष्ठ खण्ड

— * :—

पृथिवीरूपा अग्निविद्या

पृथिवी वाव गौतमाग्निस्तस्याः संवत्सर एव
समिदाकाशो धूमो रात्रिरर्चिर्दिशोऽङ्गारा अवान्तरदिशो
विस्फुलिङ्गाः ॥ १ ॥

हे गौतम ! पृथिवी ही अग्नि है। उसका संवत्सर ही समिध है, आकाश धूम है, रात्रि ज्वाला है, दिशाएँ अङ्गारे हैं तथा अवान्तर दिशाएँ विस्फुलिङ्ग हैं ॥ १ ॥

पृथिवी वाव गौतमाग्निरि-
त्यादि पूर्ववत् । तस्याः पृथि-
व्याख्यस्याग्नेः 'संवत्सर एव
समिधः संवत्सरेण हि कालेन
समिद्धा पृथिवी ग्रीह्यादिनिष्प-
त्तये भवति । आकाशो धूमः,
पृथिव्या इवोत्थित आकाशो
दृश्यते; यथाग्नेर्धूमः । रात्रि-
र्चिः, पृथिव्या ह्यप्रकाशात्मिका-
या अनुरूपा रात्रिः; तमो-
रूपत्वात्, अग्नेरिवानुरूपमर्चिः ।

'हे गौतम ! पृथिवी ही अग्नि है'
इत्यादि पूर्ववत् समझना चाहिये ।
उस पृथिवीसंज्ञक अग्निका संवत्सर
ही समिध है, क्योंकि संवत्सररूप
कालसे समिद्ध होकर अर्थात् पुष्टि
लाभ करके ही पृथिवी धान्यादिकी
निष्पत्तिमें समर्थ होती है । आकाश
धूम है, क्योंकि आकाश पृथिवीसे उठा
हुआ सा दिखायी देता है, जिस प्रकार
कि अग्निसे धुआँ उठता दिखायी देता
है । रात्रि ज्वाला है; अप्रकाशात्मिका
पृथिवीके अनुरूप ही रात्रि ज्वाला
है, क्योंकि वह तमोरूपा है;
अतः [पृथिवीरूप] अग्निके समान
यह उसके अनुरूप ज्वाला है ।

दिशोऽङ्गाराः, उपशान्तत्वसामा-
न्यात् । अवान्तरदिशो विस्फु-
लिङ्गाः, क्षुद्रत्वसामान्यात् ॥ १ ॥

उपशान्तिमें समानता होनेके
कारण दिशाएँ अङ्गारे हैं तथा
क्षुद्रत्वमें समानता होनेके कारण
अवान्तर-दिशाएँ (कोण) विस्फुलिङ्ग
हैं ॥ १ ॥

—❀:❀—

तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा वर्षं जुह्वति तस्या
आहुतेरन्नसंभवति ॥ २ ॥

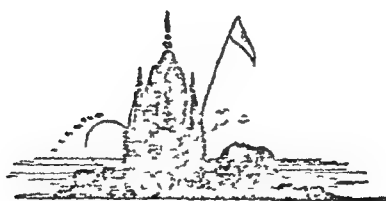
उस इस अग्निमें देवगण वर्षाका हवन करते हैं; उस आहुतिसे
अन्न होता है ॥ २ ॥

तस्मिन्नित्यादि समानम् ।
तस्या आहुतेरन्नं व्रीहियवादि
संभवति ॥ २ ॥

‘तस्मिन्नेतस्मिन्’ इत्यादि श्रुतिका
अर्थ पूर्ववत् है । उस आहुति सेव्रीहि-
यवादिरूप अन्न होता है ॥ २ ॥



इतिच्छान्दोग्योपनिषदि पञ्चमाध्याये
पष्ठखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥ ६ ॥



सप्तम खण्ड

—ॐ:ॐ—

पुरुषरूपा अग्निविद्या

पुरुषो वाव गौतमाग्निस्तस्य वागेव समित्प्राणो
धूमो जिह्वार्चिश्चक्षुरङ्गाराः श्रोत्रं विस्फुलिङ्गाः ॥ १ ॥

हे गौतम ! पुरुष ही अग्नि है । उसकी वाक् ही समिध है, प्राण धूम है, जिह्वा ज्वाला है, चक्षु अङ्गारे और श्रोत्र विस्फुलिङ्ग हैं ॥ १ ॥

पुरुषो वाव गौतमाग्निः । तस्य
वागेव समित्, वाचा हि मुखेन
समिध्यते पुरुषो न मूकः । प्राणो
धूमः, धूम इव मुखान्निर्गम-
नात् । जिह्वार्चिलोहितत्वात् ।
चक्षुरङ्गाराः, भास आश्रयत्वात् ।
श्रोत्रं विस्फुलिङ्गाः, विप्रकीर्ण-
त्वसाम्यात् ॥ १ ॥

हे गौतम ! पुरुष ही अग्नि है ।
उसकी वाक् ही समिध है, क्योंकि
वाणीरूप मुखके द्वारा ही पुरुष
सुरोमित होना है, मूक पुरुष
शोमित नहीं होना । प्राण धूम है,
क्योंकि वह धूमके समान मुखसे
निकलता है; लाल होनेके कारण
जिह्वा ज्वाला है; प्रकाशका आश्रय
होनेके कारण नेत्र अङ्गारे हैं तथा
विप्रकीर्णत्वमे समानता होनेसे
श्रोत्र विस्फुलिङ्ग हैं ॥ १ ॥

तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा अन्नं जुहति तस्या
आहुते रेतः संभवति ॥ २ ॥

उस इस अग्निमें देवगण अन्नका होम करते हैं । उस आहुतिसे वीर्य उत्पन्न होता है ॥ २ ॥

<p>समानमन्यत् । अन्नं जुहति व्रीह्यादिसंस्कृतम् । तस्या आहुते रेतः संभवति ॥ २ ॥</p>	<p>शेष अर्थ पूर्ववत् है । देवगण इसमें व्रीहि आदिसे सम्यक् प्रकारसे तैयार किये हुए अन्नका हवन करते हैं । उस आहुतिसे वीर्य उत्पन्न होता है ॥ २ ॥</p>
---	--

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि पञ्चमाध्याये
सप्तसखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥ ७ ॥



अष्टम खण्ड

— ❀ ❀ —

स्त्रीरूपा अग्निविद्या

योषा वाव गौतमाग्निस्तस्या उपस्थ एव समिध-
दुपमन्त्रयते स धूमो योनिरर्चिर्यदन्तः करोति तेऽङ्गारा
अभिनन्दा विस्फुलिङ्गाः ॥ १ ॥

हे गौतम ! स्त्री ही अग्नि है । उसका उपस्थ ही समिध है, पुरुष
जो उपमन्त्रण करता है वह धूम है, योनि ज्वाला है तथा जो
भीतरकी ओर करता है वह अङ्गारे हैं और उससे जो मुख होता है
वह विस्फुलिङ्ग हैं ॥ १ ॥

योषा वाव गौतमाग्निः । तस्या
उपस्थ एव समित्, तेन हि सा
पुत्राद्युत्पादनाय समिध्यते । य-
दुपमन्त्रयते स धूमः, स्त्रीसंभ-
वादुपमन्त्रणस्य । योनिरर्चिलो
हितत्वात् । यदन्तः करोति ते-
ऽङ्गारा अग्निसंबन्धात् । अभिन-
न्दाः सुखलवा विस्फुलिङ्गाः
क्षुद्रत्वात् ॥ १ ॥

हे गौतम ! स्त्री ही अग्नि है ।
उसका उपस्थ ही समिध है, क्योंकि
उससे वह पुत्रादि उत्पन्न करनेके
लिये समिद्ध होती है । पुरुष जो
उपमन्त्रण करता है वह धूम है,
क्योंकि उपमन्त्रणकी प्रवृत्ति स्त्रीसे
ही होती है । लोहितवर्ण होनेके
कारण योनि ज्वाला है तथा जो
भीतरकी ओर करता है वह अग्निके
सम्बन्धके कारण अङ्गारे हैं और
अभिनन्द—सुखके कणमात्र क्षुद्र
होनेके कारण विस्फुलिङ्ग
हैं ॥ १ ॥

तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा रेतो जुह्वति तस्या आहु-
तेर्गर्भः संभवति ॥ २ ॥

उस इस अग्निमें देवगण वीर्यका हवन करते हैं; उस आहुतिसे गर्भ उत्पन्न होता है ॥ २ ॥

तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा रेतो

जुह्वति, तस्या आहुतेर्गर्भः

संभवतीति; एवं श्रद्धासोमवर्षान्न-

रेतोहवनपर्यायक्रमेणाप एव

गर्भीभूतास्ताः । तत्रागमाहुति-

समवायित्वात्प्राधान्यविवक्षाः

आपः पञ्चम्यामाहुतौ पुरुषवचसो

भवन्तीति । न त्वाप एव

केवलाः सोमादिकार्यमारभन्ते,

न चापोऽत्रिवृत्कृताः सन्तीति ।

त्रिवृत्कृतत्वेऽपि विशेषसंज्ञालाभो

दृष्टः पृथिवीयमिमा आपोऽयम-

ग्निरित्यन्यतमबाहुल्यनिमित्तः ।

उस इस अग्निमें देवगण वीर्यका हवन करते हैं; उस आहुतिसे गर्भ उत्पन्न होता है—इस प्रकार श्रद्धा, सोम, वर्षा, अन्न और रेतःरूप आहुतियोंके हवनके पर्यायक्रमसे वह जल ही गर्भरूपमें परिणत होता है । उनमें आहुतियोंसे सम्बद्ध होनेके कारण श्रुतिको जलकी ही प्रधानता बतलानी अभीष्ट है, इसीसे उसने कहा है कि पाँचवीं आहुतिमें जल पुरुषवाची हो जाता है । केवल जल ही सोमादि कार्य आरम्भ कर देते हों—यह बात नहीं है, और न जल अत्रिवृत्कृत (पृथिवी, जल और तेज इन तीनोंके सम्मिश्रणसे रहित) हों—ऐसी ही बात है । त्रिवृत्कृत होनेपर भी एक-एक भूतकी बहुलताके कारण उनमेंसे प्रत्येकको 'यह पृथिवी है, यह जल है, यह अग्नि है' इस प्रकार भिन्न-भिन्न नाम प्राप्त होता देखा जाता है । अतः जलकी

तस्मात्समुदितान्येव भूतान्य-
 ब्बाहुल्यात्कर्मसमवायीनि सो-
 मादिकार्यारम्भकाण्याप इत्यु-
 च्यन्ते । दृश्यते च द्रवबाहुल्यं
 सोमवृष्ट्यन्नरेतोदेहेषु । बहुद्रव्यं
 च शरीरं यद्यपि पार्थिवम् । तत्र
 पञ्चम्यामाहुतौ हुतायां रितोरूपा
 आपो गर्भीभूताः ॥ २ ॥

बहुलता होनेके कारण कर्ममें
 सम्मिलित हुए सभी भूत सोमादि-
 कार्य आरम्भ करनेवाले 'जल' कहे
 जाते हैं । इसके सिवा सोम, वृष्टि,
 अन्न, वीर्य और देहमें द्रवत्वकी
 बहुलता भी देखी ही जाती है ।
 शरीर यद्यपि पार्थिव होता है, तो
 भी उसमें द्रवकी अधिकता होती
 है । उनमें पांचवी आहुतिके हुत
 होनेपर वीर्यरूप जल गर्भमें परिणत
 हो जाता है [अर्थात् 'पुरुष' शब्द-
 वाची हो जाता है] ॥ २ ॥

—:०:—

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि पञ्चमाध्यायेऽ-
 ष्टमखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥ ८ ॥



नवम खण्ड

—:०:—

पञ्चम आहुतिमें पुरुषत्वको प्राप्त हुए जलकी गति

इति तु पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्तीति
स उल्बावृतो गर्भो दश वा नव वा मासानन्तः
शयित्वा यावद्वाथ जायते ॥ १ ॥

इस प्रकार पाँचवीं आहुतिके दिये जानेपर आप 'पुरुष' शब्दवाची हो जाते हैं। वह जरायुसे आवृत हुआ गर्भ दस या नौ महीने अथवा जन्मतक [पूर्णाङ्ग नहीं होता तबतक माताकी कुक्षिके] भीतर ही शयन करनेके अनन्तर फिर उत्पन्न होता है ॥ १ ॥

इति त्वेवं तु पञ्चम्यामाहुता-
वापः पुरुषवचसो भवन्तीति
व्याख्यात एकः प्रश्नः यत्तु
द्युलोकादिमां प्रत्यावृत्तयोराहु-
त्योः पृथिवीं पुरुषं स्त्रियं क्रमे-
णाविश्य लोकं प्रत्युत्थायी भव-
तीति वाजसनेयक उक्तं तत्प्रा-
सङ्गिकमिहोच्यते । इह च प्रथमे
प्रश्न उक्तम् 'वेत्थ यदितोऽधि
प्रजाः प्रयन्तीति ?' तस्य चाय-
मुपक्रमः ।

इस प्रकार पाँचवीं आहुतिमें जल पुरुषवाची हो जाता है—इस एक प्रश्नकी व्याख्या हुई। तथा वाजसनेय-श्रुतिमें जो द्युलोकसे पृथिवीकी ओर आयी हुई दो आहुतियोंके विषयमें यह कहा गया है कि वे क्रमशः पृथिवी, पुरुष और स्त्रीमें प्रवेश कर परलोकके प्रति उत्थान करनेवाली होती हैं, उसका भी प्रसङ्गवश यहाँ वर्णन कर दिया जाता है। यहाँ जो पहले प्रश्नमें कहा गया है कि 'क्या तुम जानते हो कि यह प्रजा [मरनेके अनन्तर] यहाँसे कहाँ जाती है ?' उसका यह उपक्रम है।

स गर्भोऽपि पञ्चमः परिणाम-
विशेष आहुतिकर्मसमवायिनीनां
श्रद्धाशब्दवाच्यानामुल्बावृत
उल्बेन जरायुणावृतो वेष्टितो दश
वा नव वा मासानन्तर्मातुः
कुक्षौ शयित्वा यावद्वा यावता
कालेन न्यूनेनातिरिक्तेन
वाथानन्तरं जायते ।

उल्बावृत इत्यादि वैराग्यहेतो-
रिदमुच्यते । कष्टं हि मातुः
कुक्षौ मूत्रपुरीषवातपित्तश्लेष्मादि-
पूर्णं तदनुलिप्तस्य गर्भस्यो-
ल्बाशुचिपटावृतस्य लोहितरेतो-
ऽशुचिवीजस्य मातुरशितपीत-
रसानुप्रवेशेन विवर्धमानस्य नि-
रुद्धशक्तिबलवीर्यतेजःप्रज्ञाचेष्टस्य
शयनम् । ततो योनिद्वारेण
पीड्यमानस्य कष्टतरा निःसृति-
र्जन्मेति वैराग्यं ग्राहयति । मुहूर्त-
मप्यसह्यं दश वा नव वा

आहुतिकर्मसे सम्बद्ध 'श्रद्धा'
शब्दवाच्य जलका पञ्चम परिणाम-
विशेष वह गर्भ उत्त्वावृत—उल्ब
अर्थात् जरायुसंज्ञक गर्भवेष्टन चर्मसे
आवृत—वेष्टित हुआ दश या नौ
मासतक अथवा जितने भी न्यून
या अधिक समयमें पूर्णाङ्ग हो, माता-
की कुक्षिमें शयन करनेके अनन्तर
फिर उत्पन्न होता है ।

उल्बावृत इत्यादि यह सब कथन
वैराग्यके लिये है । उल्बरूप अपवित्र
वस्त्रसे लिपटे हुए, रज और वीर्यरूप
अपवित्र बीजवाले, माताके खाये-
पीये पदार्थोंके रसके प्रवेशसे बढ़ने-
वाले तथा जिसके शक्ति, बल, वीर्य,
तेज, बुद्धि और चेष्टा—ये सब निरुद्ध
(अविकसित) रहते हैं उस गर्भका
माताको मल-मूत्र-वात-पित्त एवं
कफादिसे भरी हुई कुक्षिमें शयन
करना कष्टमय ही है । उससे भी
अधिक कष्टप्रद योनिद्वारसे पीडित
हुए गर्भका बाहर निकलनारूप
जन्म है; इस प्रकार श्रुति वैराग्य-
का ग्रहण कराती है । इसके सिवा
जो एक मुहूर्तके लिये भी असह्य है
उस मातृकुक्षिमें दश या नौ मासके

मासानतिदीर्घकालमन्तः शयि- दीर्घकालपर्यन्त शयन करनेके
 त्वेति च ॥ १ ॥ अनन्तर [जन्म लेना भी वैराग्यका
 ही हेतु है] ॥ १ ॥

—❧:❧—

स जातो यावदायुषं जीवति तं प्रतं दिष्टमितो-
 ऽनय एव हरन्ति यत एवेतो यतः संभूतो भवति ॥२॥

इस प्रकार उत्पन्न होनेपर वह आयुपर्यन्त जीवित रहता है । फिर मरनेपर कर्मवश परलोकको प्रस्थित हुए उस जीवको अग्निके प्रति ही ले जाते हैं, जहाँसे कि वह आया था और जिससे उत्पन्न हुआ था ॥ २ ॥

स एवं जातो यावदायुषं पुनः
 पुनर्घटीयन्त्रवद्गमनागमनाय कर्म
 कुर्वन्कुलालचक्रवद्वा तिर्यग्भ्रम-
 णाय यावत्कर्मणोपात्तमायुस्ताव-
 जीवति । तमेनं क्षीणायुषं प्रेतं
 मृतं दिष्टं कर्मणा निर्दिष्टं पर-
 लोकं प्रति यदि चेज्जीवनवैदिके
 कर्मणि ज्ञाने वाधिकृतस्तमेनं
 मृतमितोऽस्माद् ग्रामादग्नेयैऽन्य-
 र्थमृत्विजो हरन्ति पुत्रा वान्त्य-

इस प्रकार उत्पन्न हुआ वह जवतक आयु होती है घटीयन्त्रके समान पुनः-पुनः आवागमनके लिये अथवा कुलालचक्रके समान चारों ओर चक्कर काटनेके लिये कर्म करता हुआ कर्मद्वारा जितनी आयु प्राप्त की होती है उतना जीवित रहता है । फिर जिसकी आयु क्षीण हो गयी है ऐसे इस प्रेत—मृत एवं दिष्ट—कर्मद्वारा परलोकके प्रति नियुक्त किये हुए इस जीवको— क्योंकि यदि वह जीवित रहता तो कर्म अथवा ज्ञानका अधिकारी होता अतः उस मरे हुए प्राणीको यहाँसे— इस ग्रामसे ऋत्विक् अथवा

कर्मणे । यत एवेत आगतोज्जनेः

सकाशाच्छ्रद्धाद्याहुतिक्रमेण,

यतश्च पञ्चभ्योज्जग्निभ्यः संभूत

उत्पन्नो भवति, तस्मा एवाग्नये

हरन्ति स्वामेव योनिमग्निमापा-

द्यन्तीत्यर्थः ॥ २ ॥

पुत्रगण अन्त्येष्टि कर्मके लिये अग्नि-
के प्रति ले जाते हैं, जिस अग्निसे
कि श्रद्धा आदि आहुतियोके क्रमसे
वह यहाँ आया था तथा जिन पाँच
अग्नियोसे वह उत्पन्न होता है, उस
अग्निके प्रति ही वे इसे ले जाते हैं ।
तात्पर्य यह है कि उसे अपनी योनि-
भूत अग्निको ही प्राप्त करा देते
है ॥ २ ॥

॥०:॥—

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि पञ्चमाध्याये
नवमखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥ ६ ॥



दशम खण्ड

—:ॐ:—

प्रथम प्रश्नका उत्तर

वेत्थ यदितोऽधि प्रजा प्रयन्ती-
त्ययं प्रश्नः प्रत्युपस्थितोऽपा-
कर्तव्यतया ।

अब, 'क्या तू जानता है कि
इस लोकसे परे प्रजा कहाँ जाती
है?' ऐसा यह प्रश्न निराकरणके
लिये प्रस्तुत किया जाता है ।

तथ इत्थं विदुः । ये चेमेऽरण्ये श्रद्धा तप इत्युपासते
तेऽर्चिषमभिसंभवन्त्यर्चिषोऽहरह आपूर्यमाणपक्षमापू-
र्यमाणपक्षाद्यान्पडुदङ्ङेति मासाऽस्तान् ॥ १ ॥
मासेभ्यः संवत्सरऽसंवत्सरादादित्यमादित्याच्चन्द्रमसं
चन्द्रमसो विद्युत् तत्पुरुषोऽमानवः स एनान्ब्रह्म
गमयत्येष देवयानः पन्था इति ॥ २ ॥

वे जो कि इस प्रकार जानते हैं तथा वे जो कि वनमें श्रद्धा और
तप इनकी उपासना करते हैं [प्राणप्रयाणके अनन्तर] अर्चिके अभिमानी
देवताओंको प्राप्त होते हैं; अर्चिके अभिमानी देवताओंसे दिवसाभिमानी
देवताओंको; दिवसाभिमानियोंसे शुक्लपक्षाभिमानी देवताओंको; शुक्ल-
पक्षाभिमानियोंसे जिन छः महीनोंमें सूर्य उत्तरकी ओर जाता है, उन छः
महीनोंको ॥ १ ॥ उन महीनोंसे संवत्सरको; संवत्सरसे आदित्यको;
आदित्यसे चन्द्रमाको और चन्द्रमासे विद्युत्को प्राप्त होते हैं । वहाँ एक
अमानव पुरुष है, वह उन्हें ब्रह्म (कार्यब्रह्म) को प्राप्त करा देता है । यह
देवयानमार्ग है ॥ २ ॥

तत्तत्र लोकं प्रत्युत्थितानाम-

गृहस्थेषु विदु- धिकृतानां गृहमे-
पामुत्तरमार्गं धिनां य इत्यमेवं
कर्मिणा च दक्षिण-
मार्ग इति स्थापनम् यथोक्तं पञ्चाग्नि-

दर्शनं द्युलोकाद्यग्निभ्यो वयं
क्रमेण जाता अग्निस्वरूपाः पञ्चा-
ग्न्यात्मान इत्येवं विदु-
र्जानीयुः ।

कथमवगम्यत इत्थं विदुरिति

गृहस्था एवोच्यन्ते नान्य इति ?

गृहस्थानां ये त्वनित्यं विदुः

केवलेष्टापूर्तदत्तपरास्ते धूमादिना

चन्द्रं गच्छन्तीति वक्ष्यति । ये

चारण्योपलक्षिता वैखानसाः

परिव्राजकाश्च श्रद्धा तप इत्यु-

पासते तेषां चैत्थं विद्भिः सहा-

चिरादिना गमनं वक्ष्यति पारि-

शेष्यादग्निहोत्राहुतिसंबन्धाच्च

गृहस्था एव गृह्यन्त इत्थं विदु-

रिति ।

वहाँ इस लोकके प्रति उत्थित
हुए अधिकारी गृहस्थोमे जो इस
प्रकार यानी उपयुक्त पञ्चाग्निविद्या-
को जानते हैं अर्थात् जो ऐसा
समझते हैं कि द्युलोकादि अग्नियोसे
क्रमश उत्पन्न हुए हमलोग अग्निस्व-
रूप यानी पञ्चाग्निमय हैं [वे अर्चिके
अभिमानो देवताओंको प्राप्त
होते हैं] ।

शङ्का—‘इत्थं विदुः’ इस [सामान्य
निर्देश] से यह कैसे जाना गया
कि यहाँ गृहस्थोंके विषयमें ही
कहा गया है, औरोंके लिये नहीं ?

समाधान—गृहस्थोमे जो ऐसा
जाननेवाले नहीं हैं, बल्कि केवल
इष्टापूर्त एव दत्त कर्मोंमें ही लगे
रहते हैं वे धूमादिके द्वारा चन्द्रमा-
को ही प्राप्त होते हैं—ऐसा श्रुति
आगे कहेगी, तथा जो ‘अरण्य’
पदसे उपलक्षित वानप्रस्थ एव
सन्यासी ‘श्रद्धा और तप’ इनकी
उपासना करते हैं उनका तो इस
प्रकार जाननेवालोंके साथ गमन
करना श्रुति आगे कहेगी; अतः
परिशेषसे और अग्निहोत्रकी
आहुतियोका सम्बन्ध होनेके कारण
भी ‘इत्थं विदुः’ इस कथनसे गृहस्थों-
का ही ग्रहण होता है ।

ननु ब्रह्मचारिणोऽप्यगृहीता
ग्रामश्रुत्यारण्यश्रुत्या चानुप-
लक्षिता विधन्ते कथं पारिशेष्य-
सिद्धिः ।

नैष दोषः, पुराणस्मृति-
ग्रामाण्यादूर्ध्वरेतसां नैष्ठिकब्रह्म-
चारिणामुत्तरेणार्यम्णः पन्थाः
प्रसिद्धः । अतस्तेऽप्यरण्यवासि-
भिः सह गमिष्यन्ति । उपकुर्वा-
णकास्तु स्वाध्यायग्रहणार्था इति
न विशेषनिर्देशार्हाः ।

ननूर्ध्वरेतस्त्वं चेदुत्तरमार्ग-
प्रतिपत्तिकारणं पुराणस्मृति-
ग्रामाण्यादिष्यत इत्थं वित्त्वमन-
र्थकं प्राप्तम् ।

न; गृहस्थान्प्रत्यर्थवन्वात् ।
ये गृहस्था अनित्थंविदस्तेषां
स्वभावतो दक्षिणो धूमादिः
पन्थाः प्रसिद्धस्तेषां य इत्थं
विदुः सगुणं वान्यद्ब्रह्मविदुः, “अथ

शङ्का—जिनका ग्रामश्रुति और
अरण्यश्रुति दोनोंहीसे ग्रहण नहीं
होता वे ब्रह्मचारी लोग भी तो रह
जाते हैं; फिर तुम्हारे परिशेषकी
सिद्धि कैसे हो सकती है ?

समाधान—यह कोई दोष नहीं
है, पुराण और स्मृतियोंसे ऊर्ध्व-
रेता नैष्ठिक ब्रह्मचारियोंका सूर्य-
सम्बन्धी उत्तर मार्ग प्रसिद्ध है,
अतः वे भी अरण्यवासियोंके साथ
ही जायेंगे । तथा उपकुर्वाणक
ब्रह्मचारी तो स्वाध्यायग्रहणके लिये
होते हैं; अतः वे विशेष निर्देशके
योग्य नहीं हैं ।

शङ्का—यदि पुराण और स्मृतियों-
की प्रमाणतासे उत्तरायणकी प्राप्ति
कारण ऊर्ध्वरेता होना माना जाता
है तब तो इस प्रकार पञ्चाग्निविद्याका
ज्ञान व्यर्थ सिद्ध होता है ?

समाधान—ऐसी बात नहीं है,
क्योंकि गृहस्थोंके लिये वह सार्थक
है । जो गृहस्थ ऐसा जाननेवाले
नहीं हैं उनके लिये स्वभावतः
धूमादि दक्षिण-मार्ग प्रसिद्ध है;
किंतु उनमें जो ऐसा जाननेवाले हैं
अथवा जो इनसे भिन्न सगुणब्रह्मके
उपासक हैं वे (छा० ४। १५। ५।

यद् वैवास्मिञ्शब्दं कुर्वन्ति

यदि च नाचिपमेव" इति

लिङ्गादुत्तरेण ते गच्छन्ति ।

ननुर्ध्वरेतसां गृहस्थानां च

समान आश्रमित्वे ऊर्ध्वरेतसामे-

वोत्तरेण यथा गमनं न गृहस्था-

नामिति न युक्तमग्निहोत्रादि-

वैदिककर्मग्राह्यत्वे च सति ।

नैष दोषः, अपूता हि ते ।

ऊर्ध्वरेतसा वनो- शत्रुमित्रसंयोगनि-

कसा च उत्तर- मितं हितेषां राग-

मार्ग एव द्वेषौ तथा धर्माधर्मौ

हिंसानुग्रहनिमित्तौ । हिं-

सानृतमायाब्रह्मचर्यादि च बह्व-

शुद्धिकारणमपरिहार्यं तेषाम्,

अतोऽपूताः । अपूतत्वान्नोत्तरेण

यथा गमनम् । हिंसानृतमाया

ब्रह्मचर्यादिपरिहाराच्च शुद्धात्मा-

के) "इस (सगुण ब्रह्मोपासक) के लिये प्रेतकर्म करें अथवा न करें वह अचिरादि मार्गको ही प्राप्त होता है" इस श्रुतिरूप लिङ्गके अनुसार उत्तर मार्गसे ही जाते हैं ।

शङ्का-ऊर्ध्वरेता और गृहस्थ—

ये दोनों आश्रमी होनेमें समान ही हैं । अतः उनमें केवल ऊर्ध्वरेताओंका ही उत्तरायणमार्गसे गमन होता है, गृहस्थोंका अग्निहोत्रादि वैदिक कर्मोंकी बहुलता होनेपर भी नहीं होता—यह ठीक नहीं है ।

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि वे अपवित्र होते हैं । शत्रु और मित्रोंका संयोग रहनेके कारण उनमें राग-द्वेष रहते हैं तथा हिंसा और कृपाके कारण धर्माधर्म भी रहते ही हैं । उनके लिये

हिंसा, अनृत, कपट और अन्नह्यचर्य आदि बहुतसे अशुद्धिके कारण अनिवार्य ही हैं; इसलिये वे अपवित्र हैं । अपवित्र होनेके कारण

उनका उत्तर मार्गसे गमन नहीं हो सकता । किंतु दूसरे वान-प्रस्थादि हिंसा, अनृत, माया और अन्नह्यचर्यका त्याग कर देनेके कारण शुद्धचित्त हो जाते हैं, शत्रु-

नो हीतरे शत्रुमित्ररागद्वेषादि-
परिहाराच्च विरजसस्तेषां युक्त
उत्तरः पन्थाः ।

तथा च पौराणिकाः “ये प्रजा-
मीपिरेधीरास्ते श्मशानानि
भेजिरे । ये प्रजां नेपिरे धीरा-
स्तेऽमृतत्वं हि भेजिरे” इत्याहुः ।

इत्थंविदां गृहस्थानामरण्य-
वासिनां च समानमार्गत्वेऽमृत-
त्वफले च सत्यरण्यवासिनां
विद्यानर्थक्यं प्राप्तम् । तथा च
श्रुतिविरोधः “न तत्र दक्षिणा
यन्ति नाविद्वांसस्तपस्विनः” इति
“स एनमविदितो न भुनक्ति”
इति च विरुद्धम् ।

न; आभूतसंप्लवस्थानस्यामृ-
तत्वेन विवक्षितत्वात् । तत्रैवोक्तं
पौराणिकैः—“आभूतसंप्लवं स्थान-

मित्रसम्बन्धी भाव और राग-द्वेषका
त्याग कर देनेसे वे मलहीन हो
जाते हैं; अतः उनके लिये उत्तर
मार्ग ठीक ही है ।

तथा पौराणिक लोग भी ऐसा
कहते हैं कि “जिन मन्दमति पुरुषों-
ने संतानकी इच्छा की वे श्मशान-
को ही प्राप्त हुए, किंतु जिन
बुद्धिमानोंने संतानकी इच्छा नहीं
की वे अमरत्वको ही प्राप्त हुए” ।

शङ्का—इस प्रकार जाननेवाले
गृहस्थ और वनवासियोंको समान-
मार्ग और अमृतत्वरूप फल प्राप्त
होनेपर तो वनवासियोंके ज्ञानकी
व्यर्थता सिद्ध होती है और ऐसा
होनेसे “वहाँ दक्षिणमार्गी और
अज्ञानी तपस्वी नहीं जाते” इस
श्रुतिसे विरोध आता है तथा “अपना
ज्ञान न होनेपर वह (परमात्मा)
इस जीवका [मोक्षदानद्वारा]
पालन नहीं करता” यह कथन भी
विपरीत हो जाता है ।

समाधान—नहीं, क्योंकि यहाँ
अमृतत्वसे भूतोंके प्रलयपर्यन्त रहना
ही अभिप्रेत है । इसी सम्बन्धमें
पौराणिकोंने कहा है कि “भूतोंके
प्रलयपर्यन्त रहना अमृतत्व ही

ममृतत्वं हि भाष्यते” इति ।
यच्चात्यन्तिकममृतत्वम्, तदपे-
क्षया “न तत्र दक्षिणा यन्ति”
“स एनमविदितो न मुनक्ति”
इत्याद्याः श्रुतयः, इत्यतो न
विरोधः ।

“न च पुनरावर्तन्ते” इति
“इमं मानवमावर्त नावर्तन्ते”
(छा० उ० ४ । १५ । ५)
इत्यादिश्रुतिविरोध इति चेत् ।

न; ‘इमं मानवम्’ इति विशे-
षणात् “तेषामिह न पुनरावृत्ति-
रस्ति” इति च । यदि ह्येकान्तेनैव
नावर्तेरन्निमं मानवमिहेति च
विशेषणमनर्थकं स्यात् । इममि-
हेत्याकृतिमात्रमुच्यत इति चेत्,
न; अनावृत्तिशब्देनैव नित्या-
नावृत्त्यर्थस्य प्रतीतत्वादाकृति-
कल्पनानर्थिका । अत इममिहेति

कहलाता है ।” किंतु जो आत्यन्तिक
अमृतत्व है उसकी अपेक्षासे
“वहाँ दक्षिणमार्गों नहीं जाते”
“अपना ज्ञान न होनेपर वह
(परमात्मा) इस जीवका [मोक्ष-
प्रदानद्वारा] पालन नहीं करता”
इत्यादि श्रुतियाँ हैं; अतः इससे कोई
विरोध नहीं है ।

शङ्का—किंतु [ऐसा मानें तो]
“वे फिर नहीं लौटते” “इस मानव
आवर्तमें फिर नहीं आते” इत्यादि
श्रुतिसे विरोध आता है ।

समाधान—ऐसा कहना ठीक
नहीं है; क्योंकि ‘इम मानवम्’
ऐसा विशेषण है, तथा यह भी
कहा गया है कि ‘उनकी यहाँ
पुनरावृत्ति नहीं होती’ । यदि
उनकी सर्वथा पुनरावृत्ति न होती
तो ‘इम मानवम्’ तथा ‘इह’—ये
विशेषण व्यर्थ हो जाते । यदि कहो
कि ‘इमम्’ और ‘इह’ इन शब्दोंसे
आकृतिमात्र बतलायी गयी है
[अर्थात् किसी देशकालविशेषका
नियम न करके उसके नित्य मोक्षका
प्रतिपादन किया गया है]—तो ऐसा
कहना ठीक नहीं; क्योंकि नित्य अना-
वृत्तिरूप अर्थकी प्रतीति तो ‘अना-
वृत्ति’ शब्दसे ही हो जाती है; अतः
उसमें आकृतिकी कल्पना निरर्थक ही

च विशेषणार्थवत्त्वायान्यत्रावृत्तिः

कल्पनीया ।

न च 'सदेकमेवाद्वितीयम्'
आत्मविदोऽनु- इत्येवं प्रत्ययवतां
त्क्रान्तिनिरूपणम् मूर्धन्यनाड्यार्चि-
रादिमार्गेण गमनम्, "ब्रह्मैव
सन्ब्रह्माप्येति" (वृ० उ० ४ ।
४ । ६) । "तस्मात्तत्सर्वमभवत्"
(वृ० उ० १ । ४ । १०) ।

"न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति ।
अत्रैव समवलीयन्ते" (वृ० उ० ४ ।
४ । ६) इत्यादि श्रुतिशतेभ्यः ।

ननु तस्माज्जीवाडुच्चिक्रमिणोः
प्राणा नोत्क्रामन्ति सहैव
गच्छन्तीत्ययमर्थः कल्प्यत इति
चेत् ?

न; 'अत्रैव समवलीयन्ते' इति

विशेषणार्थक्यात्, "सर्वे प्राणा
अनूत्क्रामन्ति" (वृ० उ० ४ ।

है । इसलिये 'इमम्' और 'इह' इन
विशेषणोंकी सार्थकताके लिये उसकी
अन्यत्र आवृत्ति माननी चाहिये ।*

इसके सिवा जिनका ऐसा
अनुभव है कि 'एकमात्र अद्वितीय
सत् ही है' उनका शीर्षस्थानीय
नाडीद्वारा अचिरादि मार्गसे गमन
भी नहीं होता; जैसा कि "वह
ब्रह्म ही होकर ब्रह्मको प्राप्त होता
है" "इसीसे यह सब कुछ हो गया"
"उसके प्राण उत्क्रमण नहीं करते,
यहीं लीन हो जाते हैं" इत्यादि
सैकड़ों श्रुतियोंसे प्रमाणित होता है ।

शङ्का—यदि इस श्रुतिका ऐसा
अर्थ माना जाय कि उत्क्रमण
करनेकी इच्छावाले उस जीवके पास-
से प्राण उत्क्रमण नहीं करते, बल्कि
उसके साथ ही जाते हैं, तो ?

समाधान—ऐसी बात नहीं है,
क्योंकि ऐसा माननेसे 'यहीं लीन
हो जाते हैं' यह विशेषण व्यर्थ हो
जायगा । तथा इसके सिवा "सब
प्राण उसका अनुगमन करते हैं"

* अचिमार्गसे जानेवाले पुरुषकी इस लोकमें तो आवृत्ति नहीं होती;
किंतु ब्रह्मलोकमें ही ऐसे कई लोक हैं जिनमें वह अपने तपके प्रभावसे
जाता है । महः, जनः, तपः और सत्य—ये चारों ही लोक ब्रह्मलोकके
अन्तर्गत हैं । साधक अपनी साधनाके प्रभावसे इनमेंसे किसी एक लोकमें
जाता है और फिर वहाँसे ज्ञानद्वारा उत्तरोत्तर लोकमें जाता हुआ सत्यलोकमें
पहुँचकर मुक्त हो जाता है । यह लोकान्तरगमन ही उसकी अन्यत्र आवृत्ति है ।

४।२) इति च प्राणैर्गमनस्य-
प्राप्तत्वात् । तस्मादुत्कामन्तीत्य-
नाशङ्क्यैषा ।

यदापि मोक्षस्य संसारगति-
वैलक्षण्यात्प्राणानां जीवेन सहा-
गमनमाशङ्क्य तस्मान्नोत्काम-
न्तीत्युच्यते, तदाप्यत्रैव समव-
लीयन्त इति विशेषणमनर्थकं
स्यात् । न च प्राणैर्वियुक्तस्य
गतिरुपपद्यते जीवत्वं वा । सर्व-
गतत्वात्सदात्मनो निरवयवत्वात्
प्राणसंबन्धमात्रमेव ह्यग्निविस्फु-
लिङ्गवज्जीवत्वमेदकारणमित्यत-
स्तद्वियोगे जीवत्वं गतिर्वा न
शक्या परिकल्पयितुं श्रुतयश्चे-
त्प्रमाणम् ।

न च सतोऽणुरवयवः स्फुटितो
जीवाख्यः सद्रूपं छिद्रीकुर्वन्
गच्छतीति शक्यं कल्पयितुम् ।

इस श्रुतिसे प्राणोंके सहित जीवका
गमन सिद्ध भी होता है । अतः
'प्राण उत्क्रमण करते हैं' इस विषयमें
कोई शङ्का नहीं हो सकती ।

इसके सिवा ससारगतिसे मोक्ष-
की विलक्षणता होनेके कारण जब
कि जीवके साथ प्राणोंके न जानेकी
आशङ्का करके ऐसा कहा जाता है
कि वे उससे उत्क्रमण ही नहीं
करते [अर्थात् जीव प्राणोंके बिना
ही चला जाता है] तो उस समय
भी 'वे यही लीन हो जाते हैं' यह
विशेषण व्यर्थ हो जाता है, क्योंकि
प्राणोंसे वियुक्त हुए प्राणीकी गति
अथवा जीवत्व सम्भव ही नहीं है ।
क्योंकि सदात्मा तो सर्वगत और
निरवयव है; प्राणसे सम्बन्ध होना
ही अग्निके विस्फुलिङ्गोंके समान
जीवभावरूप भेदका कारण है ।
अतः यदि श्रुतिको प्रमाण माना
जाय तो प्राणोंका वियोग हो जानेपर
चिदात्माके जीवत्व अथवा गतिकी
कल्पना नहीं की जा सकती ।

इसके सिवा ऐसी कल्पना भी
नहीं की जा सकती कि सदात्माका
उससे अलग हुआ अणुमात्र अवयव
जीवसंज्ञक है और वह सदात्माको
छिद्रयुक्त करता हुआ जाता है ।

तस्मात् “तयोर्ध्वमायन्नमृतत्व-
मेति” इति सगुणब्रह्मोपासकस्य
प्राणैः सह नाड्या गमनम्, सापे-
क्षमेव चामृतत्वम्, न साक्षान्मोक्ष
इति गम्यते; “तदपराजिता
पूस्तदैरं मदीयं सरः” इत्याद्यु-
क्त्वा “तेषामेवैष ब्रह्मलोकः” इति
विशेषणात् ।

अतः पञ्चाग्निविदो गृहस्था
ये चेमेऽरण्ये वानप्रस्थाः परि-
व्राजकाश्च सह नैष्ठिकब्रह्मचारिभिः
श्रद्धा तप इत्येवमाद्युपासते
श्रद्धाणास्तपस्विनश्चेत्यर्थः । उपा-
सनशब्दस्तात्पर्यार्थः, “इष्टापूर्ते
दत्तमित्युपासते” इति यद्वत् ।
श्रुत्यन्तराद्ये च सत्यं ब्रह्म
हिरण्यगर्भाख्यमुपासते ते सर्वे-
ऽर्चिषमर्चिरभिमानिनीं देवताम-
भिसंभवन्ति प्रतिपद्यन्ते । समा-

अतः “उस सूर्ध्वन्य नाडीसे ऊपरकी
ओर जाता हुआ वह अमरत्वको प्राप्त
होता है” इस प्रकार सगुण ब्रह्मो-
पासकका प्राणोंके साथ सूर्ध्वन्य
नाडीसे जाना सापेक्ष अमृतत्व ही
है, साक्षात् मोक्ष नहीं है—यह
जाना जाता है; क्योंकि श्रुतिने
“वह अपराजिता पुरी है, वह
हर्षोत्पादक सरोवर है” ऐसा कहकर
“उन (सगुण ब्रह्मोपासकों) को
ही यह ब्रह्मलोक मिलता है”—
ऐसा विशेषण दिया है ।

अतः पञ्चाग्निवेत्ता गृहस्थ और
जो ये वनवासी—नैष्ठिक ब्रह्म-
चारियोंके सहित वानप्रस्थ और
संन्यासी ‘श्रद्धा और तप’ इत्यादिकी
उपासना करते हैं अर्थात् श्रद्धालु
एवं तपस्वी हैं । जैसा कि ‘इष्टापूर्ते
दत्तमित्युपासते’ इस श्रुतिमें है
उसीके समान यहाँ ‘उपासन’ शब्द
तत्परताके अर्थमें है । तथा एक अन्य
श्रुतिके अनुसार जो हिरण्यगर्भसंज्ञक
सत्यब्रह्मकी उपासना करते हैं वे
सर्व अर्चि यानी अर्चिके अभिमानी
देवताको प्राप्त होते हैं । शेष सर्व
चतुर्थ अध्यायके अन्तर्गत [उप-
कोसल विद्यामें (छा० ४ । १५। ५

खण्ड १०]

नमन्यच्चतुर्थगतिव्याख्यानेन ।
 एष देवयानः पन्था व्याख्यातः
 सत्यलोकावसानः, नाण्डाद्वहिः,
 “यदन्तरा पितरं मातरं च”
 (बृ० उ० ६ । २ । २) इति
 मन्त्रवर्णात् ॥ १-२ ॥

में) बतलायी हुई] गतिकी
 व्याख्याके समान है । यह सत्यलोकमें
 समाप्त होनेवाले देवयानमार्गकी
 व्याख्या की गयी, इस मार्गकी
 ब्रह्माण्डसे बाहर गति नहीं है, जैसा
 कि जो “पिता (धुलोक) और
 माता (पृथिवी) के बीचमें है”
 इस मन्त्रसे सिद्ध होता है ॥ १-२ ॥

—*०*—

तृतीय प्रश्नका उत्तर

(देवयान और धूमयानका व्यावर्तनस्थान)

अथ य इमे ग्राम इष्टापूर्ते दत्तमित्युपासते ते धूम-
 मभिसंभवन्ति धूमाद्रात्रिः रात्रेरपरपक्षमपरपक्षाद्यान्पङ्
 दक्षिणैति मासाः स्तान्नेते संवत्सरमभिप्राप्नुवन्ति ॥ ३ ॥

तथा जो य गृहस्थलोग ग्राममें इष्ट, पूर्त और दत्त—ऐसी उपासना
 करते हैं वे धूमको प्राप्त होते हैं, धूमसे रात्रिको, रात्रिसे वृष्णपक्षको
 तथा कृष्णपक्षसे जिन छ महीनोमें सूर्य दक्षिणमार्गसे जाता है उनको
 प्राप्त होते हैं । ये लोग संवत्सरको प्राप्त नहीं होते ॥ ३ ॥

अथेत्यर्थान्तरप्रस्तावनार्थः, य
 इमे गृहस्था ग्रामे, ग्राम इति
 गृहस्थानामसाधारणं विशेषण-
 मरण्यवासिभ्यो व्यावृत्त्यर्थम्,
 यथा; वानप्रस्थपरिव्राजकानाम-
 रण्यं विशेषणं गृहस्थेभ्यो व्या-
 ‘अथ’ यह शब्द दूसरे विषयकी
 प्रस्तावनाके लिये है, जो ये गृहस्थ-
 गण ग्राममें—जिस प्रकार ‘अरण्यम्’
 यह वानप्रस्थ और परिव्राजकाका
 गृहस्थोसे व्यावृत्ति करनेके लिये
 असाधारण विशेषण था, उमी
 प्रकार ‘ग्रामे’ यह वनवासियोमें
 व्यावृत्ति करनेके लिये गृहस्थोंका

चृत्यर्थम्, तद्वत्; इष्टापूर्ते इष्टमग्नि-
 होत्रादि वैदिकं कर्म, पूर्तं वापी-
 कूपतडागारामादिकरणम्; दत्तं
 वहिर्वेदि यथाशक्त्यर्हेभ्यो द्रव्य-
 संविभागो दत्तम्; इत्येवंविधं
 परिचरणपरित्राणाद्युपासते, इति-
 शब्दस्य प्रकारदर्शनार्थत्वात् ।
 ते दर्शनवजितत्वाद्धूमं धूमा-
 भिमानीं देवतामभिसंभवन्ति
 प्रतिपद्यन्ते ।

तयातिवाहिता धूमाद्रात्रि
 रात्रिदेवतां रात्रेरपरपक्षदेवता-
 मेव कृष्णपक्षाभिमानीनीमपर-
 पक्षाद्यान्पण्मासान्दक्षिणादक्षिणां
 दिशमेति सविता, तान्मासान्दक्षि-
 णायनपण्मासाभिमानीनीर्देवताः
 प्रतिपद्यन्त इत्यर्थः । संघचारिण्यो

असाधारण विशेषण है । 'इष्टापूर्ते'—
 अग्निहोत्र आदि वैदिक कर्मको
 'इष्ट' कहते हैं तथा वापी, कूप,
 तडाग एवं बगीचे आदि लगवानेका
 नाम पूर्त है; और वेदीसे बाहर
 दानपात्र व्यक्तियोंको यथाशक्ति धन
 देना 'दत्त' कहलाता है । इस
 प्रकार जो परिचर्या (गुरुबुश्रूपा)
 एवं परित्राण (धर्मरक्षा) आदिका
 तत्परतापूर्वक सेवन करते हैं—
 क्योंकि यहाँ 'इति' शब्द अनुष्ठानका
 प्रकार प्रदर्शित करनेके लिये है—
 वे उपासनाशून्य होनेके कारण
 धूम—धूमाभिमानी देवताको प्राप्त
 होते हैं ।

उस धूमाभिमानी देवतासे
 अतिवाहित (आगे ले जाये जाते)
 हुए वे धूमसे रात्रिको—रात्रिदेवता-
 को, रात्रिसे अपरपक्ष यानी कृष्ण-
 पक्षसे जिन छः महीनोंमें सूर्य दक्षिण
 दिशाकी ओर होकर चलता है उन
 महीनोंको अर्थात् दक्षिणायनके
 छः महीनोंके अभिमानी देवताको
 प्राप्त होते हैं—ऐसा इसका तात्पर्य
 है । ये पण्मासाभिमानी देवता एक

हि परमासदेवता इति मासा-
निति बहुवचनप्रयोगस्तासु ।
नैते कर्मिणः प्रकृता संव-
त्सरं संवत्सरामिमानिनीं
देवतामभिप्राप्नुवन्ति ।

कुतः पुनः संवत्सरप्राप्ति-
प्रसङ्गो यतः प्रतिपिष्यते ?

अस्ति हि प्रसङ्गः ; संवत्सरस्य
लोकस्वावयवभूते दक्षिणोत्तरा-
यणे, तत्राचिरादिमार्गप्रवृत्ताना-
मुदगधनमासेभ्योऽवयविनः संव-
त्सरस्य प्राप्तिरुक्ता । अतः
इहापि तदवयवभूतानां दक्षिणा-
यनमासानां प्राप्तिं श्रुत्वा
तदवयविनः संवत्सरस्यापि पूर्व-
वत्प्राप्तिरापन्नाः ; इत्यतस्तत्प्राप्तिः
प्रतिपिष्यते नैते संवत्सरमभि-
प्राप्नुवन्तीति ॥ ३ ॥

संघर्षे रहनेवाले हैं; इसलिये उनके
लिये 'मासान्' ऐसा बहुवचनका
प्रयोग किया गया है । यहाँ
जिनका प्रकरण है, वे ये कर्म-
काण्डी संवत्सरको-संवत्सरामिमानि
देवताको प्राप्त नहीं होते ।

शङ्का—किंतु यहाँ संवत्सरप्राप्ति-
का प्रसङ्ग ही कहाँ था जो प्रतिपेक्ष
किया गया ?

समाधान—हाँ, प्रसङ्ग है;
दक्षिणायन और उत्तरायण—ये एक
ही संवत्सरके दो अवयव हैं, उनमें
अचिर आदि मार्गसे जानेवाले पुरुषों-
की उत्तरायणके महीनोंसे अपने
अवयवों संवत्सरकी प्राप्ति बतलायी
गयी थी । इसलिये यहाँ भी उससे
अवयवभूत दक्षिणायनसे महीनोंकी
प्राप्ति सुनकर पूर्ववत् उनके अवयवों
संवत्सरकी भी प्राप्ति हो जाती है,
इसीसे 'वे संवत्सरको प्राप्त नहीं होते'
—ऐसा कहकर उसकी प्राप्ति का
प्रतिपेक्ष किया जाता है ॥ ३ ॥

—❖—

मासेभ्यः पितृलोकं पितृलोकादाकाशमाकाशा-
च्चन्द्रमसमेव सोमो राजा तद्देवानामन्नं तं देवा
भक्षयन्ति ॥ ४ ॥

दक्षिणायनके महीनोंसे पितृलोकको, पितृलोकसे आकाशको और आकाशसे चन्द्रमाको प्राप्त होते हैं। यह चन्द्रमा राजा सोम है। वह देवताओंका अन्न है, देवतालोग उसका भक्षण करते हैं ॥ ४ ॥

मासेभ्यः पितृलोकं पितृ-
लोकादाकाशमाकाशाच्चन्द्रमसम् ।
कोऽसौ यस्तैः प्राप्यते चन्द्रमाः ?
य एष दृश्यतेऽन्तरिक्षे सोमो
राजा ब्राह्मणानाम्, तदन्नं
देवानाम्, तं चन्द्रमसमन्नं देवा
इन्द्रादयो भक्षयन्ति । अतस्ते
भूमादिना गत्वा चन्द्रभूताः
कर्मिणो देवैर्भक्ष्यन्ते ।

नन्वनर्थायेष्टादिकरणं यद्यन्न-
भूता देवैर्भक्ष्येरन् ।

नैष दोषः—अन्नमित्युपकर-
णमात्रस्य विवक्षितत्वात्; न हि
ते क्वलोत्क्षेपेण देवैर्भक्ष्यन्ते, किं
तर्हि? उपकरणमात्रं देवानां भवन्ति
ते स्त्रीपशुभृत्यादिवत् । दृष्टश्चान्न-

वे दक्षिणायनके महीनोंसे पितृ-
लोकको, पितृलोकसे आकाशको
और आकाशसे चन्द्रमाको प्राप्त
होते हैं। उनके द्वारा जो प्राप्त
किया जाता है वह यह चन्द्रमा
कौन है? यह जो आकाशमें
दिखायी देता है तथा जो सोम
ब्राह्मणोंका राजा है, वह देवताओंका
अन्न है; उस चन्द्रमारूप अन्नको
इन्द्रादि देवता भक्षण करते हैं।
अतः धूमादि मार्गसे जाकर चन्द्रमा-
रूप हुए वे कर्मी देवताओंसे भक्षित
होते हैं।

शङ्का—यदि वे अन्नरूप होकर
देवताओंद्वारा भक्षित होते हैं तो
इष्टादि कर्मोंका करना अनर्थके ही
लिये है?

समाधान—यह दोष नहीं है,
क्योंकि 'अन्न' इस शब्दसे केवल
उपभोगकी सामग्री ही विवक्षित
है। वे देवताओंद्वारा खासकी
तरह उठाकर नहीं खाये जाते, तो
फिर क्या होता है? वे स्त्री, पशु
एवं सेवकादिके समान देवताओंके
केवल उपकरणमात्र होते हैं। 'अन्न'

शब्द उपकरणेषु स्त्रियोऽन्नं
पशवोऽन्नं विशोऽन्नं राज्ञामित्या-
दि । न च तेषां स्यादीनां
पुरुषोपभोग्यत्वेऽप्युपभोगो
नास्ति । तस्मात्कर्मिणो देवाना-
मुपभोग्या अपि मन्तः सुखिनो
देवैः क्रीडन्ति । शरीरं च तेषां
सुखोपभोगयोग्यं चन्द्रमण्डल
आप्यमारभ्यते । तदुक्तं पुरस्ता-
त्-श्रद्धाशब्दा आपो धुलोकान्नौ
हुताः सोमो राजा संभवतीति ।

ता आपः कर्मसमवायिन्य
इतरैश्च भूतैरनुगता धुलोकं
प्राप्य चन्द्रत्वमापन्नाः शरीरा-
धारम्भिका इष्टाद्युपासकानां
भवन्ति । अन्त्यायां च शरीरा-
हुतावग्नौ हुतायामग्निना दह्यमाने
शरीरे तदुत्था आपो धूमेन सहो-
र्ध्वं यजमानमावेष्ट्य चन्द्रमण्डलं
प्राप्य कुशमृत्तिकास्थानीया वा-

शब्दका उपकरणोंमें भी प्रयोग
देखा ही जाता है, जैसे 'राजाओंका
स्त्रियाँ अन्न हैं, पशु अन्न हैं, वैश्य
अन्न हैं' इत्यादि । पुरुषके उपभोग्य
होनेपर भी उन स्त्री आदिको उप-
भोग प्राप्त न होते हों-ऐसी बात
नहीं है । अतः कर्मों लोग देवताओंके
उपभोग्य होनेपर भी सुखी होकर
देवताओंके साथ क्रीडा करते हैं ।
तथा उनका सुखोपभोगयोग्य जलीय
शरीर चन्द्रमण्डलमें आरम्भ होता है ।
पहले यह बात कही भी जा चुकी
है कि 'श्रद्धा' शब्दवाच्य जलका
धूलोकरूप अग्निमें हवन किये जाने-
पर सोम राजाकी उत्पत्ति होती है ।

वह कर्मसम्बन्धी जल अन्य
भूतोंसे अनुगत हो धुलोकमें पहुँच-
कर चन्द्रभावको प्राप्त हो इष्टादि
कर्मोंकी उपासना करनेवाले पुरुषोंके
शरीरादिका आरम्भ करनेवाला
होता है । फिर शरीररूप अन्तिम
आहुतिके हुत होनेपर जब अग्निद्वारा
शरीर दग्ध होने लगता है तो उससे
उत्पन्न होनेवाला जल धूमके साथ
यजमानको आच्छादित कर ऊपर
चन्द्रमण्डलमें पहुँचकर कुश एवं

ह्यशरीरारम्भिका भवन्ति ।
तदारब्धेन च शरीरेणैष्टादिफल-
मुपभुञ्जाना आस्ते ॥ ४ ॥

मृत्तिकास्थानीय बाह्य शरीरका
आरम्भ करनेवाला होता है । उससे
आरम्भ हुए शरीरसे ही वे इष्टादि
कर्मोंका फल भोगते हुए वहाँ रहते
हैं ॥ ४ ॥

—: * —

द्वितीय प्रश्नका उत्तर

(पुनरावर्तनका क्रम)

तस्मिन् यावत्संपातमुषित्वाथैतमेवाध्वानं पुनर्निवर्त-
न्ते यथेतमाकाशमाकाशाद्वायुं वायुर्भूत्वा धूमो भवति
धूमो भूत्वा अत्र भवति ॥ ५ ॥

वहाँ कर्मोंका क्षय होनेतक रहकर वे फिर इसी मार्गसे जिस
प्रकार गये थे उसी प्रकार लौटते हैं । [वे पहले] आकाशको प्राप्त होते
हैं और आकाशसे वायुको, वायु होकर वे धूम होते हैं और धूम होकर
अत्र होते हैं ॥ ५ ॥

यावत्तदुपभोगनिमित्तस्य
कर्मणः क्षयः, संपतन्ति येनेति
संपातः कर्मणः क्षयो यावत्संपातं
यावत्कर्मणः क्षय इत्यर्थः; ताव-
त्तस्मिन् चन्द्रमण्डल उषित्वाथान-
न्तरमेतमेव वक्ष्यमाणमध्वानं मार्गं
पुनर्निवर्तन्ते । पुनर्निवर्तन्त इति
प्रयोगात्पूर्वमप्यसकृच्चन्द्रमण्डलं

जवतक उस चन्द्रलोकके उप-
भोगोंके निमित्तभूत कर्मका क्षय
होता है—जिसके द्वारा सम्पतन
होता है उसे सम्पात अर्थात् कर्मका
क्षय कहते हैं, यावत्सम्पात अर्थात्
जवतक कर्मका क्षय होता है तवतक
उस चन्द्रमण्डलमें निवासकर उसके
पश्चात् इस आगे कहे जानेवाले
मार्गमें ही फिर लौट आते हैं ।
'पुनर्निवर्तन्ते' (फिर लौट आते हैं)
ऐसा प्रयोग होनेसे यह जाना जाता
है कि पहले भी कई बार चन्द्र-

गता निवृत्ताश्वासन्निति गम्यते ।
 तस्मादिह लोकं इष्टादिकर्मोप-
 चित्य चन्द्रं गच्छन्ति, तत्त्वये
 चावर्तन्ते; क्षणमाश्रमपि तत्र
 स्थातुं न लभ्यते, स्थितिनिमित्त-
 कर्मदयात्, स्नेहक्षयादिव
 प्रदीपस्य ।

तत्र किं येन कर्मणा चन्द्र-
 कर्मक्षयस्य मण्डलमारुढस्तस्य
 सावशेषत्व सर्वस्य क्षये तस्मा-
 निरवशेषत्व वा ? दवरोहति किं वा
 सावशेष इति ।

किं ततः ?

यदि सर्वस्यैव क्षयः कर्मणा-
 चन्द्रमण्डलस्थस्यैव मोक्षः
 प्राप्नोति, तिष्ठतु तावत्तत्रैव मोक्षः
 स्यान्न वेति, तत आगतस्येहं
 शरीरोपभोगादि न संभवति ।

मण्डलको प्राप्त होकर लौट चुके हैं;
 अतः वे इस लोकमें इष्टादिकर्म
 करके चन्द्रमण्डलको प्राप्त होते हैं;
 तथा उनका क्षय होनेपर फिर लौट
 आते हैं । उस समय वहाँकी
 स्थितिके निमित्तभूत कर्मोंका
 क्षय हो जानेके कारण उस स्थानपर
 उनका एक क्षण भी ठहरना नहीं
 हो सकता, जिस प्रकार कि तैलका
 क्षय हो जानेपर दीपक नहीं ठहर
 सकता ।

पूर्व०—जिस कर्मके द्वारा वह
 चन्द्रमण्डलपर आरुढ होता है क्या
 उस सबका क्षय होनेपर वह उससे
 उतरता है अथवा कुछ शेष रह
 जानेपर ही उतर आता है ?

सिद्धान्ती—इससे तुम्हें क्या
 लेना है ?

पूर्व०—यदि सारे ही कर्मका
 क्षय हो जाता है तो चन्द्रमण्डलमें
 रहते हुए ही उसका मोक्ष सिद्ध
 हो जाता है, और 'वहाँ रहते
 हुए ही मोक्ष होता है या नहीं
 होता' इस विचारको रहने भी
 दिया जाय तो भी वहाँसे आनेपर
 इस लोकमें उसके शरीरोपभोग
 आदि सम्भव नहीं हो सकते तथा

ततः शेषेणेत्यादिस्मृतिविरोधश्च
स्यात् ।

नन्विष्टापूर्तदत्तव्यतिरेकेणापि
मनुष्यलोके शरीरोपभोगनिमि-
त्तानि कर्माण्यनेकानि संभवन्ति,
न च तेषां चन्द्रमण्डल उप-
भोगः, अतोऽक्षीणानि तानि ।
यन्निमित्तं चन्द्रमण्डलमारूढस्ता-
न्येव क्षीणानीत्यविरोधः । शेष-
शब्दश्च सर्वेषां कर्मत्वसामान्या-
दविरुद्धः ।

अत एव च तत्रैव मोक्षः
स्यादिति दोषाभावः; विरुद्धा-
नेकयोन्युपभोगफलानां च कर्म-
णामेकैकस्य जन्तोरोरम्भकत्व-
संभवात् । न चैकस्मिञ्जन्मनि
सर्वकर्मणां क्षय उपपद्यते, ब्रह्म-
हत्यादेश्चैकैकस्य कर्मणोऽनेक-
जन्मारम्भकत्वस्मरणात् । स्थाव-

‘ततः शेषेण’ (भुक्तावशेष कर्मोंसे
जन्म लेता है) इत्यादि स्मृतिसे भी
विरोध होता है ।

सिद्धान्ती—इस मनुष्यलोकमें
इष्ट, पूर्त और दत्त—इन कर्मोंसे
भिन्न और भी अनेकों शरीरोप-
भोगके निमित्तभूत कर्म हो सकते हैं;
उनका चन्द्रमण्डलमें फलोपभोग भी
नहीं होता, इसलिये वे अक्षीण ही
रहते हैं । जिन कर्मोंके कारण वह
चन्द्रमण्डलपर आरूढ़ होता है
उन्हींका वहाँ क्षय भी होता है—
इस प्रकार इसमें कोई विरोध नहीं
है । सब कर्मोंका कर्मत्व समान
होनेके कारण [उपर्युक्त स्मृतिमें]
‘शेष’ शब्दका प्रयोग किया गया है ।
इसलिये वह भी अविरुद्ध ही है ।

इत्तिलिये ‘उसका वहीं मोक्ष हो
जाना चाहिये’ ऐसा भी दोष नहीं
आ सकता, क्योंकि एक-एक जीवके
ऐसे कर्मोंका आरम्भकत्व सम्भव हो
ही सकता है जिनके फल अनेकों
विरुद्ध योनियोंमें भोगे जायँ । एक
ही जन्ममें समस्त कर्मोंका क्षय हो
जाना सम्भव भी नहीं है, क्योंकि
स्मृतियोंमें ‘ब्रह्महत्या आदि एक-
एक कर्म अनेक जन्मोंके आरम्भक
हैं’ ऐसा बतलाया गया है । तथा

रादिप्राप्तानां चात्यन्तमृदानामु-
त्कर्षहेतोः कर्मण आरम्भकत्वा-
संभवात् । गर्भभूतानां च
संसमानानां कर्मासंभवे संसारा-
नुपपत्तिः । तस्मान्नैकस्मिञ्जन्मनि
सर्वेषां कर्मणामुपभोगः ।

यत्तु कैश्चिदुच्यते सर्वकर्मा-
श्रयोपमर्देन प्रायेण कर्मणां
जन्मारम्भकत्वम् । तत्र कानि-
चित्कर्माण्यनारम्भकत्वेनैव तिष्ठ-
न्ति कानिचिज्जन्मारभन्त इति
नोपपद्यते; मरणस्य सर्वकर्मा-
भिव्यञ्जकत्वात्स्वगोचराभि-
व्यञ्जकप्रदीपवदिति । तदसत्
सर्वस्य सर्वात्मकत्वाभ्युपगमात् ।

जो स्थावरादि योनियोंको प्राप्त हुए
अत्यन्त मूढ जीव हैं उनके उत्कर्षके
हेतुभूत कर्मोंका आरम्भकत्व तो
असम्भव ही है । [इसके सिवा
कोई कोई ऐसा भी समझने लगेंगे
कि] गर्भरूप होकर क्षीण हुए
जीवोंके कोई कर्म न होनेके कारण
उन्हे संसारकी प्राप्ति होना ही
असम्भव है । अतः एक ही जन्ममे
समस्त कर्मोंका उपभोग नहीं हो
सकता ।

कुछ लोगोंका जो ऐसा कथन
है कि '[सचित-] कर्म प्रायः
सम्पूर्ण [प्रारब्ध] कर्मोंके आश्रय
[शरीर] का नाश करके
जन्मके आरम्भक होते हैं; उस
अवस्थामे कुछ कर्म तो जन्मके
अनारम्भकल्पसे ही स्थित रहते
हैं और कुछ जन्मका आरम्भ
करते हैं—यह बात सम्भव नहीं
है, क्योंकि मरण तो अपने विषयके
अभिव्यञ्जक दीपकके समान सारे
ही कर्मोंका अभिव्यञ्जक है ?—
सो उनका यह कथन ठीक नहीं;
क्योंकि [मधुव्राह्मणमे] सबका
सर्वात्मकत्व स्वीकार किया गया

न हि सर्वस्य सर्वात्मकत्वे देश-

कालनिमित्ताचरुद्धत्वात्सर्वात्म-

नोपसर्दः कस्यचित्क्वचिदभि-

व्यक्तिर्वा सर्वात्मनोपपद्यते । तथा

कर्मणामपि साश्रयाणां भवेत् ।

यथा च पूर्वानुभूतमनुष्यम-

यूरमर्कटादिजन्माभिसंस्कृता वि-

रुद्धानेकवासना मर्कटत्वप्रापकेन

कर्मणा मर्कटजन्मारभमाणेन

नोपमृद्यन्ते तथा कर्माण्यप्यन्य-

जन्मप्राप्तिनिमित्तानि नोपमृद्यन्त

इति युक्तम् । यदि हि सर्वाः

पूर्वजन्मानुभववासना उपमृद्येर-

न्मर्कटजन्मनिमित्तेन कर्मणा

मर्कटजन्मन्यारब्धे मर्कटस्य जात-

है* । अतः सर्वका सर्वात्मकत्व होनेपर देश, काल और निमित्तसे अवरुद्ध होनेके कारण किसी पदार्थका सर्वथा नाश अथवा सर्वथा अभिव्यक्ति कभी नहीं हो सकती । ऐसा ही कर्म और उनके आश्रयके विषयमें भी होगा [अर्थात् उनका भी सर्वथा नाश अथवा सर्वथा आविर्भाव नहीं हो सकता] ।

जिस प्रकार पहले अनुभव किये हुए मनुष्य, मयूर एवं वानर आदि जन्मोंमें सम्पादित की हुई अनेकों विरुद्ध वासनाएँ वानरत्वकी प्राप्ति करानेवाले वानरजन्मके आरम्भक कर्मसे क्षीण नहीं होतीं उसी प्रकार अन्य जन्मोंकी प्राप्तिके निमित्तभूत कर्म भी क्षीण नहीं होते— यह ठीक ही है । यदि वानरजन्मके निमित्तभूत कर्मसे पूर्वजन्मोंके अनुभवकी समस्त वासनाएँ क्षीण हो जातीं तो वानरजन्मका आरम्भ होनेपर तत्काल उत्पन्न हुए वानरको माताके

* इसका तात्पर्य यह है कि समस्त पदार्थोंमें न्यूनाधिकरूपसे सभीकी सत्ता रहती है । प्रत्येक पदार्थकी अभिव्यक्ति और विनाशके कारण भी भिन्न भिन्न हैं । अतः एक व्यक्तिकी मृत्यु किन्हीं-किन्हीं संचित कर्मोंकी अभिव्यञ्जक होनेपर भी सबकी अभिव्यक्ति नहीं कर सकती । इसलिये शेष कर्म अपने-उपयुक्त अभिव्यञ्जक निमित्तकी प्राप्तितक फलानुमुख नहीं होते और न वे आगामी जन्मके आरम्भक ही होते हैं ।

मात्रस्य मातुः शाखायाः
 शाखान्तरगमने मातुरुदरसंल-
 ग्न्त्वादिकौशलं न आप्नोति,
 इह जन्मन्यनभ्यस्तत्वात्; न
 चातीतानन्तरजन्मनि भर्कटत्व-
 मेवासीत्तस्येति शक्यं वक्तुम्,
 “तं विद्याकर्मणी समन्वारमेते
 पूर्वप्रज्ञा च” (वृ० उ० ४ ।
 ४ । २) इति श्रुतेः । तस्माद्वा-
 सनावन्नाशेषकर्मोपमर्द इति शेष-
 कर्मसंभवः । यत एवं तस्मा-
 द्छेपेणोपश्रुक्तात्कर्मणः संसार
 उपपद्यत इति न कश्चिद्विरोधः ।

कोऽसावध्वा यं प्रति निवर्तन्ते?
 इत्युच्यते—यद्येतं यथागतं नि-
 वर्तन्ते ।

ननु मासेभ्यः पितृलोकं
 गमनागमन- पितृलोकादाकाश-
 क्रमयोर्मेद आक्षेपः

माकाशाच्चन्द्रमस-

एक शाखासे दूसरी शाखापर जाते
 समय उसके पेटसे चिपकै रहने
 आदिकी कुशलता प्राप्त न होती;
 क्योंकि इस जन्ममे तो उसका
 अभ्यास हुआ नहीं और ऐसा भी
 कहा नहीं जा सकता कि इसके
 पूर्ववर्ती जन्ममे भी उसे वानरत्व
 ही प्राप्त था । “विद्या और कर्म
 उसका अनुगमन करते हैं तथा
 पूर्वजन्मकी वासना भी” इस श्रुतिसे
 भी यही सिद्ध होता है । अतः
 वासनाके समान समस्त कर्मोंका
 भी क्षय नहीं हो सकता, इसलिये
 शेष कर्मोंका रहना सम्भव है ।
 क्योंकि ऐसी बात है इसलिये
 उपश्रुक्त हुए कर्मोंसे बचे हुए कर्म-
 द्वारा संसारकी प्राप्ति होना उचित
 ही है—इस प्रकार कोई विरोध
 नहीं आता ।

वह कौन मार्ग है जिसके प्रति
 ये लौटते हैं ? इसपर श्रुति यह
 कहती है कि जिस मार्गसे गये थे
 उसीसे लौटते हैं ।

शङ्का—गमनका क्रम तो इस
 प्रकार बतलाया गया था कि मासेसे
 पितृलोकको, पितृलोकसे आकाशको
 और आकाशसे चन्द्रमाको प्राप्त
 होता है, किन्तु निवृत्ति इस प्रकार

मिति वसतस्तथ उक्तो न तु धा

निवृत्तिः। किं तर्हि? आकाशाद्वायु-

मित्यादि, कथं यथेतमित्युच्यते?

नैष दोषः, आकाशप्राप्ते-

स्तुल्यत्वात्पृथिवी-

तत्परिहारः प्राप्तेश्च । न चात्र

यथेतमेवेति नियमोऽनेन विधमपि

निवर्तन्ते पुनर्निवर्तन्त इति तु

नियमः । अत उपलक्षणार्थमेत-

द्यथेतमिति अतो भौतिकमा-

काशं तावत्प्रतिपद्यन्ते ।

यास्तेषां नन्द्यग्रहले शरीर-

रम्भिका आप आसस्तास्तेषां

तत्रोपनैतानि मित्तानां कर्मणां

क्षये विलीयन्ते, घृतसंस्थानमि-

वाग्निसंयोगे। ता विलीना अन्त-

रिक्तस्था आकाशभूता इव सूक्ष्मा

नहीं वतलायी जाती । तो कैसे वतलायी जाती है?—आकाशसे वायुको प्राप्त होता है इत्यादि रूपसे वतलायी जाती है; फिर 'जिस मार्गसे गये थे उसीसे लौटते हैं'— ऐसा कैसे कहा जाता है?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि आकाशकी प्राप्ति और पृथिवीकी प्राप्ति ये दोनों दशाओंमें समान है । इसके सिवा इसमें ऐसा नियम भी नहीं है कि जिस मार्गसे गये थे उसीसे लौटें, किसी अन्य प्रकार भी लौट ही सकते हैं । नियम तो केवल इतना ही है कि वे फिर लौटते हैं । अतः 'जिस मार्गसे गये थे' इत्यादि कथन केवल उपलक्षणमात्र है । अतः भौतिक आकाशको तो वे प्राप्त होते ही हैं ।

चन्द्रमण्डलमें जो उनके शरीरका आरम्भ करनेवाला जल होता है वह वहाँके उपभोगके निमित्त भूत कर्मोंका क्षय होनेपर विलीन हो जाता है, जिस प्रकार कि अग्निका संयोग होनेपर घृतका पिण्ड विलीन हो जाता है । वह अन्तरिक्षस्थ जल विलीन होकर आकाशभूतके समान सूक्ष्म

भवन्ति । ता अन्तरिक्षाद्वायुर्भवन्ति । वायुप्रतिष्ठा वायुभूता इतश्चासुतश्चोद्यमानास्तामिः सह क्षीणकर्मा वायुभूतो भवति । वायुर्भूत्वा तामिः सहैव धूमो भवति । धूमो भूत्वाभ्रम् अभ्र-
रणमात्ररूपो भवति ॥ ५ ॥

हो जाता है । अन्तरिक्षसे वायुरूप हो जाता है । वह वायुमें स्थित होकर वायुरूप हुआ इधर-उधर ले जाया जाता है तथा उसके ही साथ, जिसके कर्म क्षीण हो गये हैं यह जीव वायुरूप हो जाता है । वायु होकर वह उस जलके सहित हो धूम हो जाता है तथा धूम होकर अभ्र-जलभरणमात्ररूप हो जाता है ॥ ५ ॥

—*०*—

अभ्रं भूत्वा मेघो भवति मेघो भूत्वा प्रवर्षति त इह व्रीहियवा ओषधिवनस्पतयस्तिलमाषा इति जायन्तेऽतो वै खलु दुर्निष्प्रपतरं यो यो ह्यन्नमत्ति यो रेतः सिञ्चति तद्रूप एव भवति ॥ ६ ॥

वह अभ्र होकर मेघ होता है, मेघ होकर बरसता है । तब वे जीव इस लोकमें धान, जौ, ओषधि, वनस्पति, तिल और उडद आदि होकर उत्पन्न होते हैं । इस प्रकार यह निष्कमण निश्चय ही अन्यन्त कष्टप्रद है । उस अन्नको जो-जो भक्षण करता है और जो-जो वीर्यसेचन करता है, तद्रूप ही वह जीव हो जाता है ॥ ६ ॥

अभ्रं भूत्वा ततः सेचनसमर्थो मेघो भवति; मेघो भूत्वोन्नतेषु प्रदेशेष्वथ प्रवर्षति; वर्षधारारूपेण शेषकर्मा पततीत्यर्थः । त इह व्रीहियवा ओषधिवनस्पतयस्तिल-

अभ्र होकर उसके पश्चात् वह वर्षा करनेमें समर्थ मेघ होता है । फिर मेघ होकर ऊँचे स्थानोंमें वृष्टि करता है अर्थात् कर्मोंके शेष रहने-के कारण वर्षाकी धाराओंके रूपमें गिर जाता है । वे जीव इस लोकमें धान, जौ, ओषधि, वनस्पति, तिल

माया इत्येवंप्रकारा जायन्ते ।

क्षीणकर्मणामनेकत्वाद्वहुवचन-

निर्देशः । मेघादिषु पूर्वेष्वेक-

रूपत्वादेकवचननिर्देशः ।

और उड़द इत्यादि प्रकारसे उत्पन्न होते हैं । क्षीणकर्मा जीवोंकी अनेकता होनेके कारण यहाँ ['ते जायन्ते' इत्यादि रूपसे] बहुवचनका निर्देश किया गया है; इससे पहले मेघ आदिमें एकरूप होनेके कारण एकवचनका निर्देश हुआ है ।

यस्माद्गिरितटदुर्गनदीसमुद्रा-
रण्यमरुदेशादिसंनिवेशसहस्राणि
वर्षधाराभिः पतितानाम्, अत-
स्तस्माद्धेतोर्वै खलु दुर्निष्प्रपतरं
दुर्निष्करणं दुर्निःसरणम् । यतो
गिरितटादुदकस्रोतसोद्यमाना
नदीः प्राप्नुवन्ति, ततः समुद्रं ततो
मकरादिभिर्भक्ष्यन्ते; तेऽप्यन्येन;
तत्रैव च सह मकरेण समुद्रे
विलीनाः समुद्राम्भोभिर्जलधरै-
राकृष्टाः पुनर्वर्षधाराभिर्मरुदेशे
शिलातटे वागम्ये पतितास्तिष्ठ-
न्ति, कदाचिद्व्यालमृगादिपीता

क्योंकि वर्षाकी धाराओंद्वारा
गिरे हुए जीवोंके पर्वततट, दुर्ग, नदी,
समुद्र, वन एवं मरुस्थल आदि
सहस्रों स्थान हैं; अतः इन सब
कारणोंसे उनका यह दुर्निष्प्रपतर-
दुर्निष्करण अर्थात् कष्टमय निःसरण
है; क्योंकि जलके प्रवाहद्वारा गिरितट-
से ले जाये जाते हुए वे (जीव)
नदीको प्राप्त होते हैं और उससे
समुद्रको; तथा उसके पश्चात्
मकरादिसे खाये जाते हैं और वे भी
दूसरोंसे भक्षित होते हैं । तथा वहाँ
समुद्रमें ही यदि मकरके साथ लीन
हो गये तो समुद्रके जलके साथ
मेघोंसे आकर्षित होकर फिर वर्षाकी
धाराओंद्वारा मरुभूमि, शिलातट
अथवा अगम्य स्थानोंमें गिरकर पड़े
रहते हैं; कभी सर्प एवं मृगादिसे
पी लिये जाते हैं अथवा अन्य

भक्षिताश्चान्यैः; तेऽप्यन्यैरित्येवं-
प्रकाराः परिवर्तैरन्; कदाचिद-
भक्ष्येषु जातास्तत्रैव शुष्येरन्;
भक्ष्येष्वपि स्थावरेषु जातानां
रेतःसिग्देहसंबन्धो दुर्लभ एव,
बहुत्वात्स्थावराणाम् इत्यतो
दुर्निष्क्रमणत्वम् ।

अथवातोऽस्माद्व्रीहियवादिभा-
वाद्दुर्निष्प्रपतरं दुर्निर्गमतरम् ।
दुर्निष्प्रपतरमिति तकार एको
लुप्तो द्रष्टव्यः। व्रीहियवादिभावो
दुर्निष्प्रपतस्तस्मादपि दुर्निष्प्र-
पताद्रेतःसिग्देहसंबन्धो दुर्निष्प्र-
पततर इत्यर्थः; यस्मादूर्ध्वरेतो-
भिर्बालैः पुंस्त्वरहितः स्थविरैर्वा
भक्षिता अन्तराले शीर्यन्ते,
अनेकत्वादन्नादानाम् । कदा-
चित्काकतालीयवृत्त्या रेतःसिग्भि-

जीवोद्वारा भक्षित होते हैं और वे
भी किन्हीं अन्य जीवोद्वारा खा
लिये जाते हैं [इस प्रकार वे
अनुगयी जीव परिवर्तित होते रहते
हैं] । कभी अभक्ष्योमे उत्पन्न होने-
पर वे वही सूख जाते हैं ।* भक्ष्योमे
भी स्थावरोमे उत्पन्न हुए जीवोंको
वीर्यसेचन करनेवाले शरीरका
सम्बन्ध प्राप्त होना तो कठिन ही
है, क्योंकि स्थावरोंकी संख्या बहुत
है । इसलिये अनुगयी जीवका
निष्क्रमण दुःखमय ही है ।

अथवा यो समझो कि इस व्रीहि-
यवादिभावसे जीवका छुटकारा होना
बहुत कठिन है । 'दुर्निष्प्रपतरम्'
इस पदमें एक तकार लुप्त समझना
चाहिये । अतः तात्पर्य यह है कि
व्रीहियवादिभाव दुर्निष्प्रपत है और
उस दुर्निष्प्रपतसे भी वीर्यसेचन करने-
वाले शरीरका सम्बन्ध दुर्निष्प्रपततर
है, क्योंकि अन्न भक्षण करनेवाले
अनेको होनेके कारण ऊर्ध्वरेता,
बालक, नपुंसक अथवा वृद्ध पुरुषों-
द्वारा खाये जानेपर वे पेटके भीतर ही
नष्ट हो जाते हैं ।* जिस समय काक-
तालीयन्यायसे वे कभी वीर्यसेचन
करनेवाले पुरुषोंद्वारा भक्षित किये

* इन दोनों स्थानोंपर जो जीवके मूलने और नष्ट होनेकी बात कही
है, वह वैराग्यवृद्धिके उद्देश्यसे स्वर्गावरोहणकी । अतिसय दुःखरूपता प्रदर्शित
करनेके लिये है ।

भक्ष्यन्ते यदा, तदा रेतःसिंभात्
गतां कर्मणा वृत्तिलाभः ।

कथम् ? यो यो ह्यन्नमत्पुश-
यिभिः संश्लिष्टं रेतःसिक्, यश्च
रेतः सिञ्चत्युत्काले योषिति
तद्भूय एव तदाकृतिरेव भवति;
तदवयवाकृतिभूयस्त्वं भूय इत्यु-
च्यते, रेतोरूपेण योषितो गर्भाश-
येऽन्तःप्रविष्टोऽनुशयी रेतसो
रेतःसिंभाकृतिभाषितत्वात्, “सर्व-
भ्योऽङ्गैर्यस्तेजः संभूतम्”
(ऐ० उ० ४ । १) इति हि
श्रुत्यन्तरात् । अतो रेतःसिंभा-
कृतिरेव भवतीत्यर्थः । तथा
हि—पुरुषात्पुरुषो जायते गोर्गवा-
कृतिरेव न जात्यन्तराकृतिः,
तस्माद्युक्तं तद्भूय एव भवतीति ।

जाते हैं उसी समय वीर्यसेचक-
रूपताको प्राप्त हुए उन जीवोंको
कर्मोंकी वृत्तिका लाभ होता है ।

किस प्रकार वृत्तिलाभ होता
है ?—जो-जो वीर्यसेचक अनुशयी
जीवोंसे युक्त अन्न भक्षण करता है
और फिर ऋतुकालमें स्त्रीमें वीर्य-
सेचन करता है वह जीव ‘तद्भूय’
अर्थात् उसीके आकारका हो जाता
है । उसके अवयवोंकी आकृतिकी
अधिकता होना ‘भूय’ ऐसा कहा
जाता है । इस प्रकार वीर्यरूपसे
स्त्रीके गर्भाशयमें प्रविष्ट हुआ जीव
‘तद्भूय’ हो जाता है’ क्योंकि
वीर्य वीर्यसेचन करनेवालेकी
आकृतिसे भाषित होता है, जैसा कि
“वीर्य पुरुषके सम्पूर्ण अङ्गोंसे
उत्पन्न हुआ तेज होता है” इस
अन्य श्रुतिसे प्रमाणित होता है । इस
लिये तात्पर्य यह है कि वह वीर्य
सेचन करनेवालेकी ही आकृतिका
हो जाता है । इसीसे पुरुषसे पुरुष
और बैलसे बैलके आकारवाला ही
प्राणी होता है, अन्य जातिकी
आकृतिवाला नहीं होता । अतः
वह ‘तद्भूय’ ही होता है—यह
कथन ठीक ही है ।

ये त्वन्येऽनुशयिभ्यश्चन्द्र-
मण्डलमनारुह्येहैव पापकर्मभिर्धो-
रैर्ब्रौह्मिवादिभावं प्रतिपद्यन्ते, न
पुनर्मनुष्यादिभावम्, तेषां नानु-
शयिनामिव दुर्निष्प्रपत्तरम् । क-
स्मात् ? कर्मणाहि तैर्ब्रौह्मिवा-
दिदेह उपात्त इति तदुपभोग-
निमित्तत्वे ब्रौह्मादिस्तम्बदेहवि-
नाशे यथाकर्माजितं देहान्तरं
नवं नवं जल्लकावत्संक्रमन्ते
सविज्ञाना एव; “सविज्ञानो
भवति सविज्ञानमेवान्ववकामति”
(वृ० उ० ४ । ४ । २) इति
श्रुत्यन्तरात् । यद्यप्युपसंहृतक-
रणाः सन्तो देहान्तरं गच्छन्ति
तथापि स्वप्नवदेहान्तरप्राप्ति-
निमित्तकर्मोद्भावितासनाज्ञानेन
सविज्ञाना एव देहान्तरं गच्छ-
न्ति, श्रुतिप्रामाण्यात् ।

किंतु जो अनुशयी जीवोंसे भिन्न
प्राणी अपने घोर पापकर्मोंके कारण
चन्द्रमण्डलपर आरुढ़ हुए बिना ही
ब्रौहि-यवादि भावको प्राप्त होते हैं,
मनुष्यादि भावको प्राप्त नहीं होते,
उनका ब्रौहि-यवादि भावसे निष्क्रमण
होना बहुत कष्टप्रद नहीं है ।
क्यों नहीं है ? क्योंकि उन्होंने
कर्मके कारण ही ब्रौहि-यवादि देह
प्राप्त किया है, अतः उस उपभोगके
निमित्तका क्षय होनेपर ब्रौहि आदि
स्तम्बदेहका नाश हो जानेके कारण
वे जान-बूझकर एक तिनकेसे दूसरे
तिनकेपर जानेवाली जोड़के समान
अपने कर्मानुसार उपाजित अन्य
नवीन-नवीन शरीरमें विज्ञानयुक्त रह-
कर ही सन्मरण करते हैं, जैसा कि
“वह सविज्ञान होता है और सविज्ञान
रहता हुआ ही अन्य शरीरमें सन्मरण
करता है” इस अन्य श्रुतिसे भी सिद्ध
होता है । यद्यपि जीव इन्द्रियोका उप-
संहार (हृदयमें लय) हो जानेपर ही
देहान्तरमें जाते हैं, तथापि इस श्रुति-
प्रमाणसे वे स्वप्नके समान देहान्तरकी
प्राप्तिके निमित्तभूत कर्मसे उत्पन्न की
हुई वासनाके विज्ञानसे सविज्ञान हुए
ही देहान्तरको प्राप्त होते हैं ।

तथाचिरादिना धूमादिना
 च गमनं स्वप्न इवोद्भूतवि-
 ज्ञानेन, लब्धवृत्तिकर्मनिमि-
 त्तत्वाद्गमनस्य । न तथानुश-
 यिनां ब्रीह्यादिभावेन जातानां
 सविज्ञानमेव रेतःसिग्योपिदेह-
 संबन्ध उपपद्यते, न हि ब्रीह्या-
 दिलवनकण्डनपेषणादौ च सवि-
 ज्ञानानां स्थितिरस्ति ।

ननु चन्द्रमण्डलादप्यवरोहतां
 इष्टापूर्तादि- देहान्तरगमनस्य तु-
 लब्धगतेर्दुःस्वरूप-
 त्वाच्छास्त्रानर्थ- ल्यत्वाज्जल्कावत्स-
 व्यमित्याक्षेपः विज्ञानतैव युक्ता,
 तथा सति घोरो नरकानुभव
 इष्टापूर्तादिकारिणां चन्द्रमण्ड-
 लादारभ्य प्राप्तो यावद्ब्राह्मणा-
 दिजन्म; तथा च सत्यनर्थयै-
 वेष्टापूर्ताद्युपासनं विहितं स्यात्;
 श्रुतेश्चाप्रामाण्यं प्राप्तम्, वैदिकानां
 कर्मणामनर्थानुबन्धित्वात् ।

इसी प्रकार उपासकोंका अर्चि आदि
 मार्गसे और सकाम कर्मियोंका धूम
 आदि मार्गसे जो गमन होता है वह भी
 स्वप्नके समान उद्भूत वासनात्मक विज्ञान
 से सविज्ञान हुए जीवोंका ही होता है;
 क्योंकि वह गमन लब्धवृत्ति (अपना
 फल देनेके लिये उन्मुख) कर्मके कारण
 होता है । किंतु ब्रीहि यवादिरूपसे
 उत्पन्न हुए अनुशयी जीवोंका जो
 वीर्यका आधान करनेवाले पुरुष अथवा
 सीके देहोंसे सम्बन्ध होता है वह उनके
 सविज्ञान रहते हुए ही हो, यह सम्भव
 नहीं है; क्योंकि ब्रीहि आदिके काटने,
 कूटने अथवा पीसनेमें सविज्ञान
 जीवोंकी स्थिति नहीं रह सकती ।

शङ्का—चन्द्रमण्डलसे उतरनेवाले
 जीवोंका देहान्तरगमन भी वैसा ही
 होनेके कारण उनकी भी जोकके
 समान सविज्ञानता ही माननी
 उचित है । ऐसा होनेपर इष्ट-पूर्त
 आदि कर्म करनेवालोंको चन्द्र-
 मण्डलसे लेकर जबतक ब्राह्मणादि-
 जन्मकी प्राप्ति होगी तबतक घोर
 नरकका अनुभव होना सिद्ध होगा ।
 ऐसी अवस्थामें इष्ट-पूर्त आदि
 उपासना अनर्थके लिये ही विहित
 मानी जायगी और इस प्रकार
 वैदिक कर्मके अनर्थकारी होनेके
 कारण श्रुतिकी अप्रामाणिकता सिद्ध
 होगी ।

न, वृक्षारोहणपतनवद्विशेष-

संभवात् । देहादेहा-

आक्षेप-
परिहार-
न्तरं प्रतिपित्सोः

कर्मणो लब्धवृत्तित्वा-

त्कर्मणोद्भाविनेन विज्ञानेन

सविज्ञानत्वं युक्तम् । वृक्षाग्रमा-

रोहत इव फलं जिघृक्षोः, तथा-

चिरादिना गच्छतां सविज्ञानत्वं

भवेत्; धूमादिना च चन्द्रमण्ड-

लमारुरुक्षताम् । न तथा चन्द्र-

मण्डलादवरुरुक्षतां वृक्षाग्रादिव

पततां सचेतनत्वम् ।

यथा च मुद्गराद्यभिहतानां

तदभिघातवेदनानिमित्तसंभृच्छि-

तप्रतिबद्धकरणानां स्वदेहेनैव

देशादेशान्तरं नीयमानानां

विज्ञानशून्यता दृष्टा, तथा चन्द्र-

मण्डलान्मानुषादिदेहान्तरं प्रत्य-

समाधान-ऐसी बात नहीं है,

क्योंकि वृक्षपर चढ़ने और उससे

गिरनेके समान इन अवस्थाओंमें

अन्तर रहना सम्भव है । एक देहसे

दूसरे देहको प्राप्त करानेकी इच्छा-

वाले कर्म लब्धवृत्ति होनेके कारण

उन कर्मोंद्वारा उत्पन्न किये हुए

विज्ञानसे उस जीवका सविज्ञान

रहना उचित है । फल लेनेकी इच्छा-

से वृक्षपर चढ़नेवाले मनुष्यकी

जिस प्रकार सविज्ञानता सम्भव

है, इसी प्रकार अचिरादि मार्गसे

जानेवाले तथा धूमादि मार्गसे

चन्द्रमण्डलपर आरोह होनेवाले

जीवोंकी भी सविज्ञानता सम्भव है ।

किंतु इसी तरह वृक्षाग्रसे गिरनेवाले

पुरुषोंके समान चन्द्रमण्डलसे गिरने-

वालोंकी सचेतनता सम्भव नहीं है ।

जिस प्रकार कि मुद्गरादिसे आहत

पुरुष जिनकी सम्पूर्ण इन्द्रियां उनके

आघातोंकी वेदनाके कारण क्षीण

अथवा प्रतिबद्ध (कुण्ठित) हो गयी हैं,

अपने देहसे ही एक स्थानसे दूसरे स्थान-

पर ले जाते समय विज्ञानशून्य (अचेत)

देखे गये हैं, उसी प्रकार स्वर्गभोगके

निमित्तभूत कर्मोंका क्षय हो जानेसे

जिनके जलोप शरीर नष्ट हो गये

वरुक्षतां स्वर्गभोगनिमित्तकर्म-
क्षयान्मृदिताब्देहानां प्रतिवद्ध-
करणानाम् । अतस्तेऽपरित्यक्त-
देहबीजभूताभिरद्भिर्मूर्छिता
इवाकाशादिक्रमेणोमामवरुक्ष
कर्मनिमित्तजातिस्थावरदेहैः
संश्लिष्यन्ते । प्रतिवद्धकरणतया-
नुद्भूतविज्ञाना एव ।

तथा लवनकण्डनपेयण-
संस्कारभक्षणरसादिपरिणामरेतः-
सेककालेषु मूर्छितवदेव, देहा-
न्तरारम्भकस्य कर्मणोऽलब्धवृ-
त्तित्वात् । देहबीजभूताप्संवन्धा-
परित्यागेनैव सर्वास्ववस्थासु
वर्तन्त इति जलकावच्चेतनावत्त्वं-
न विरुध्यते । अन्तराले त्ववि-
ज्ञानं मूर्छितवदेवेत्यदोषः ।

हैं तथा सम्पूर्ण इन्द्रियां अवरुद्ध हो
गयी हैं उन चन्द्रमण्डलसे मनुष्यादि
देहान्तरोके प्रति गिरनेवाले अनुशयी
जीवोंकी [विज्ञानशून्यता उचित
ही है] । अतः देहके बीजभूत
जलके परित्यक्त न होनेसे वे उसके
सहित ही मूर्च्छित हुएके समान
आकाशादिक्रमसे इस पृथिवीपर
उतरकर अपने कर्मानुसार जातिवाले
स्थावरशरीरोंमें मिल जाते हैं और
इन्द्रियोंके प्रतिवद्ध रहनेके कारण
अनुद्भूतविज्ञान (अचेत) ही
रहते हैं ।

इसी प्रकार वे काटने, कूटने,
पीसने, पकाने, खाने, रसादिरूपमें
परिणत होने और वीर्यसेचनके
समय भी मूर्च्छितसे ही रहते हैं,
क्योंकि उनका देहान्तरका आरम्भ
करनेवाला कर्म अलब्धवृत्ति रहता
है । वे समस्त अवस्थाओंमें देहके
बीजभूत जलका सम्बन्ध न छोड़ते
हुए ही विद्यमान रहते हैं, अतः
जोंके समान उनके चेतनायुक्त
होनेमें भी कोई विरोध नहीं आता ।
बीजमें जो विज्ञानशून्य दशा रहती
है वह मूर्च्छितके समान है; इसलिये
उसमें कोई दोष नहीं है ।

न च वैदिकानां कर्मणां हिंसायुक्तत्वेनोभयहेतुत्वं शक्य-
मनुमातुम्, हिंसायाः शास्त्रचोदितत्वात् “अहिंसन्तर्जभूतान्यन्यत्र
तीर्थेभ्यः” इति श्रुतेः शास्त्रचोदिताया हिंसाया नाधर्महेतुत्वमभ्यु-
पगम्यते । अभ्युपगतेऽप्यधर्महेतुत्वे मन्त्रैर्विषादिवत्तदपनयोपपत्तेर्न
दुःखकार्यारम्भकत्वोपपत्तिर्वैदिकानां कर्मणां मन्त्रेणैव विषमज्ञा-
स्येति ॥ ६ ॥

—: • :—

अनुशयी जीवोकी कर्मानुरूप गति

तथ इह रमणीयचरणा अभ्याशो ह यत्ते रमणीयां
योनिमापद्ये रन्ब्राह्मणयोनिं वा क्षत्रिययोनिं वा वैश्ययोनिं
वाथ य इह कपूयचरणा अभ्याशो ह यत्त कपूयां
योनिमापद्ये रन्श्वयोनिं वा सूकरयोनिं वा चण्डाल-
योनिं वा ॥ ७ ॥

उन (अनुशयी जीवो) मे जो अच्छे आचरणवाले होते हैं वे शीघ्र
ही उत्तम योनिको प्राप्त होते हैं । वे ब्राह्मणयोनि, क्षत्रिययोनि अथवा
वैश्ययोनि प्राप्त करते हैं तथा जो अशुभ आचरणवाले होते हैं वे
तत्काल अशुभ योनिको प्राप्त होते हैं । वे कुत्तेकी योनि, सूकरयोनि,
अथवा चाण्डालयोनि प्राप्त करते हैं ॥ ७ ॥

तत्तत्र तेष्वनुशयिनां य इह लोके रमणीयं शोभनं चरणं शीलं येषां ते रमणीयचरणा रमणीय-चरणेनोपलक्षितः शोभनोऽनुशयः पुण्यं कर्म येषां ते रमणीयचरणा उच्यन्ते । क्रौर्यान्तृतामायावजि-तानां हि शक्य उपलक्षयितुं शुभानुशयसद्भावः । तेनानुशयेन पुण्येन कर्मणा चन्द्रमण्डले भुक्तशेषेणाभ्याशो ह क्षिप्रमेव, यदितिक्रियाविशेषणम्, ते रमणी-यां क्रौर्यादिवर्जितां योनिमापद्ये-रन्प्राप्नुयुर्ब्राह्मणयोनिं वा क्षत्रिय-योनिं वा वैश्ययोनिं वा स्व-कर्मानुरूपेण ।

अथ पुनर्ये तद्विपरीताः कपू-यचरणोपलक्षितकर्माणोऽशुभानु-शया अभ्याशो ह यत्त कपूयां यथाकर्म योनिमापद्येरन्कपूयामेव धर्मसंबन्धवर्जितां जुगुप्सितां योनिमापद्येरन्ध्वयोनिं वा

तत्—वहाँ उन अनुशयी जीवोंमें जिनका इस लोकमें रमणीय—शुभ चरण—शील होता है वे शुद्धाचारी जीव—जिनका रमणीयचरणसे उपलक्षित शुभ अनुशय यानी पुण्य-कर्म होता है—वे रमणीयचरण कहलाते हैं । जो लोग क्रूरता, असत्य और कपटसे रहित हैं उन्हींमें शुभानुशयकी सत्ता देखी जा सकती है । चन्द्रमण्डलके भोगसे बचे हुए उस पुण्य अनुशय यानी कर्मसे वे अभ्यास—शीघ्र ही रमणीय—क्रूरता आदिसे रहित योनिको प्राप्त होते हैं । यहाँ 'यत्' शब्द क्रियाविशेषण है । अपने कर्मोंके अनुसार वे ब्राह्मणयोनि, क्षत्रिययोनि अथवा वैश्ययोनिको प्राप्त करते हैं ।

किंतु उनसे विपरीत जो कपूय-चरणसे उपलक्षित कर्मवाले अर्थात् अशुभ अनुशयवाले होते हैं वे शीघ्र ही अपने कर्मानुसार कपूययोनिको प्राप्त होते हैं । कपूय—धर्मसम्बन्ध-से रहित अर्थात् निन्दनीय योनिको ही प्राप्त होते हैं । वे भी अपने

सूकरयोनिं वा चाण्डालयोनिं । कर्मोक्ती ही अनुसार कुत्तकी योनि,
सूकरयोनि अथवा चाण्डालयोनि
वा स्वकर्मनुरूपेणैव ॥ ७ ॥ प्राप्त करते हैं ॥ ७ ॥

—:०:—

चतुर्थ प्रश्नका उत्तर

(अशास्त्रीय प्रवृत्तिवालोंकी गति)

ये तु रमणीयचरणा द्विजाः । किंतु जो शुभाचरणशील
द्विजाति हैं वे यदि अपने कर्मोंमें
'तयस्ते स्वकर्मस्थाश्चेदिष्टादिका- स्थित रहकर इष्टादि कर्म करनेवाले
रिणस्ते भूमादिगत्या गच्छन्त्या- होते हैं तो घटीयन्त्रके समान
गच्छन्ति च पुनः पुनर्घटीयन्त्र- घूमादि मार्गसे पुनः-पुनः आते-जाते
वत् । विद्यां चेत्प्राप्नुयुस्तदाचि- रहते हैं और यदि उन्हें [उपासना-
रादिना गच्छन्ति । यदा तु न त्मक] विद्याकी प्राप्ति हो जाती
विद्यासेविनो नापीष्टादिकर्म है तो अचि आदि मार्गसे जाते
सेवन्ते तदा— हैं । और जिस समय वे न
तो उपासना करनेवाले होते हैं
और न इष्टादि कर्मोंका ही सेवन
करते हैं, उस समय—

अथेतयोः पथोर्न कतरेण च न तानीमानि क्षुद्रा-
ण्यसकृदावर्तीनि भूतानि भवन्ति जायस्व म्रियस्वेत्ये-
तत्तृतीयः स्थानं तेनासौ लोको न सम्पूर्यते तस्माज्जु-
गुप्सेत तदेष श्लोकाः ॥ ८ ॥

इनमेंसे किसी मार्गद्वारा नहीं जाते । वे घे क्षुद्र और बारम्बार
आने-जानेवाले प्राणी होते हैं । 'उत्पन्न होओ और मरो' यही उनका
तृतीय स्थान होता है । इसी कारण यह परलोक नहीं भरता । अतः
[इस संसारगतिसे] घृणा करनी चाहिये । इस विषयमें यह मन्त्र है—॥८॥

अथैतयोः पथोर्यथोक्तयोरर्चि-
धूमादिलक्षणयोर्न कतरेण
अन्यतरेण च नापियन्ति । तानी-
मानि भूतानि क्षुद्राणि दंशमश-
ककीटादीन्यसकृदावर्तीनि भव-
न्ति । अत उभयमार्गपरिभ्रष्टा
ह्यसकृज्जायन्ते म्रियन्ते चेत्यर्थः ।
तेषां जननमरणसन्ततेरनुकरण-
मिदमुच्यते । जायस्व म्रियस्वे-
तीश्वरनिमित्तचेष्टोच्यते । जनन-
मरणक्षणेनैव कालयापना भव-
ति, न तु क्रियासु शोभनेषु
भोगेषु वा कालोऽस्तीत्यर्थः ।

एतत्क्षुद्रजन्तुलक्षणं तृतीयं
पूर्वोक्तौ पन्थानावपेक्ष्य स्थानं
संसरताम्, येनैवं दक्षिणमार्गगा
अपि पुनरागच्छन्ति, अनधि-
कृतानां ज्ञानकर्मणोरगमनमेव
दक्षिणेन पथेति, तेनासौ लोको
न सम्पूर्यते ।

वे इन पूर्वोक्त अर्चि आदि और
धूमादि मार्गोंमेंसे किसी भी एकके
द्वारा नहीं जाते । वे ये क्षुद्र प्राणी
डाँस, मच्छर और कीड़े आदि
वारम्बार आने-जानेवाले जीव होते
हैं । अतः तात्पर्य यह है कि वे इन
दोनों ही मार्गोंसे परिभ्रष्ट होकर
वारम्बार जन्मते-मरते रहते हैं । यह
उनके जन्म-मरणकी अविच्छिन्न
परम्पराका अनुकरण कहा जाता है;
'जन्म लो और मरो' यह
ईश्वरसम्बन्धी चेष्टा बतलायी जाती
है* । अर्थात् उनका समय जन्म
लेने और मरनेमें ही जाता है, कर्म
करने अथवा सुन्दर भोग भोगनेके
लिये उन्हें अवकाश ही नहीं मिलता ।

जन्म-मरण-परम्परामें पड़े हुए
जीवोंका पहले दो मार्गोंकी अपेक्षा
यह क्षुद्र जीवरूप तीसरा स्थान है ।
क्योंकि इस प्रकार दक्षिणमार्गगामी
भी लौट आते हैं तथा ज्ञान और
कर्मके अनधिकारियोंका तो दक्षिण-
मार्गसे वहाँ जाना भी नहीं होता,
इसलिये यह परलोक नहीं भरता ।

* तात्पर्य यह है कि उन जीवोंको दोनों मार्गोंसे पतित हुए देखकर
मानो ईश्वर ही कहता है कि 'तुम जन्म लो और मरो ।'

पञ्चमस्तु प्रश्नः पञ्चाग्नि-
विद्यया व्याख्यातः । प्रथमो
दक्षिणोत्तरमार्गाभ्यामपाकृतः ।
दक्षिणोत्तरयोः पथोव्यावर्तनापि—
भूतानामग्नौ प्रक्षेपः समानः, ततो
व्यावर्तना, अन्येऽर्चिरादिना यन्ति,
अन्ये धूमादिना, पुनरुत्तरदक्षिणा-
यने पश्मासान्प्राप्नुवन्तः संयुज्य
पुनर्व्यावर्तन्ते, अन्ये संवत्सर-
मन्ये मासेभ्यः पितृलोकम्—इति
व्याख्याता । पुनरावृत्तिरपि क्षी-
णानुशयानां चन्द्रमण्डलादाका-
शादिक्रमेणोक्ता । अमुष्य लोक-
स्यापूरणं स्वशब्देनैवोक्तम्,
तेनासौ लोको न सम्पूर्यत इति ।

यस्मादेवं कष्टा संसारगति-
स्तस्माज्जगुप्सेत । यस्माच्च

[उपयुक्त प्रश्नोभित्ते] पांचवें
प्रश्नकी व्याख्या पञ्चाग्निविद्याद्वारा
की गयी; प्रथम प्रश्नका अपाकरण
दक्षिण एवं उत्तरमार्गके वर्णनसे
किया गया । तथा—मरे हुए उपासक
और कर्मठ इनको अग्निमें डालना
एक समान होता है, वहाँसे आगे
उनका वियोग होता है, उनमेंसे
एक अचि आदि मार्गसे जाते हैं और
दूसरे धूमादि मार्गसे; फिर उत्तरा-
यण और दक्षिणायन—इन छः-छः
मासोंको प्राप्त होकर वे एक बार
मिलकर फिर बिछुड़ जाते हैं ।
उनमेंसे एक तो संवत्सरको प्राप्त
होते हैं और दूसरे मासाभिमानी
देवताओंसे पितृलोकको जाते हैं—
इस प्रकार दक्षिण और उत्तर
मार्गोंकी व्यावर्तना—व्यावृत्तिकी भी
व्याख्या की गयी । जिनका अनुशय
(कर्म) क्षीण हो गया है, उन जीवों-
की चन्द्रमण्डलसे आकाशादि क्रमसे
पुनरावृत्ति भी बतला दी गयी । इस
परलोककी अपूर्तिका तो 'तेनासौ
लोको न सम्पूर्यते' ऐसे प्रत्यक्ष शब्दों-
से ही उल्लेख कर दिया गया ।

क्योंकि इस प्रकार संसारगति
अत्यन्त कष्टमयी है, इसलिये उससे
वृणा करनी चाहिये । क्योंकि

जन्ममरणजनितवेदनानुभवकृत-
क्षणाः क्षुद्रजन्तवो ध्वान्ते च
घोरे दुस्तरे प्रवेशिताः सागर
इवागाधेऽप्लवे निराशाश्चोत्तरणं
प्रति; तस्माच्चैवंविधां संसारगतिं
जुगुप्सेत वीभत्सेत घृणी भवेत्,
मा भूदेवंविधे संसारमहोदधौ
घोरे पात इति । तदेतस्मिन्नर्थ
एष श्लोकः पञ्चाग्निविद्या-
स्तुतये ॥ ८ ॥

जन्म-मरणसे होनेवाली वेदनाके
अनुभवमें ही जिनका समय जाता
है वे क्षुद्र जीव नौकाहीन अगाध
सागरके समान, जिसे पार करनेमें
वे निराश रहते हैं, अति दुस्तर
घोर अज्ञानान्धकारमें प्रविष्ट कर
दिये जाते हैं; इसलिये इस प्रकारकी
संसारगतिमें जुगुप्सा—वीभत्सा
अर्थात् घृणा करनी चाहिये कि
इस प्रकारके घोर संसार महा-
सागरमें हमारा पतन न हो । उसी
अर्थमें पञ्चाग्निविद्याकी स्तुतिके लिये
यह मन्त्र है ॥ ८ ॥

—❀—

पाँच पतित

स्तेनो हिरण्यस्य सुरां पिब५श्च गुरोस्तल्पमावसन्ब्र-
ह्महा चैते पतन्ति चत्वारः पञ्चमश्चाचर५स्तैरिति ॥ ९ ॥

सुवर्णका चोर, मद्य पीनेवाला, गुरुस्त्रीगामी, ब्रह्महत्यारा ये चारों
पतित होते हैं और पाँचवाँ उनके साथ संसर्ग करनेवाला भी ॥ ९ ॥

स्तेनो हिरण्यस्य ब्राह्मणसु-
वर्णस्य हर्ता । सुरां पिबन्ब्राह्मणः
सन् । गुरोश्च तल्पं दारानाव-
सन् । ब्रह्महा ब्राह्मणस्य हन्ता
चेत्येते पतन्ति चत्वारः पञ्चमश्च
तैः सहाचरन्निति ॥ ९ ॥

सुवर्णका चोर अर्थात् ब्राह्मणका
सोना चुरानेवाला, ब्राह्मण होकर
मदिरा पीनेवाला, गुरुके तल्प यानी
पत्नीसे सहवास करनेवाला और
ब्रह्महा—ब्राह्मणकी हत्या करनेवाला
—ये चार पतित होते हैं और
पाँचवाँ उनके साथ आचरण
(व्यवहार) करनेवाला ॥ ९ ॥

—❀—

अथ ह य एतानेवं पञ्चाग्नीन्वेद न सह तैर-
प्याचरन्पाप्मना लिप्यते शुद्धः पूतः पुण्यलोको भवति
य एवं वेद य एवं वेद ॥१०॥

किन्तु जो इस प्रकार इन पञ्चाग्नियोंको जानता है वह उनके साथ
आचरण (संसर्ग) करता हुआ भी पापसे लिप्त नहीं होता । वह शुद्ध
पवित्र और पुण्यलोकका भागी होता है, जो इस प्रकार जानता है, जो
इस प्रकार जानता है ॥१०॥

अथ ह पुनर्यो यथोक्तान्प-
ञ्चाग्नीन्वेद, स तैरप्याचरन्महा-
पातकिमिः सह न पाप्मना
लिप्यते, शुद्ध एव । तेन पञ्चा-
ग्निदर्शनेन पावित्रो यस्मात्पूतः,
पुण्यो लोकः प्राजापत्यादिर्यस्य
सोऽयं पुण्यलोको भवति ।
य एवं वेद यथोक्तं समस्तं
पञ्चमिः प्रश्नैः पृष्टमर्थजातं वेद ।
द्विरुक्तिः समस्तप्रश्ननिर्णयप्रदर्श-
नार्था ॥१०॥

किन्तु जो उपयुक्त पञ्चाग्नियोंको
जानता है वह उन महापापियोंके
साथ आचरण (व्यवहार) करता
हुआ भी पापसे लिप्त नहीं होता,
शुद्ध ही रहता है; क्योंकि उस
पञ्चाग्निविद्यासे वह पवित्र हो जाता है
इनलिये पुण्यलोक—जिसे ब्रह्मलोक
भादि पवित्र लोककी प्राप्ति होती है
ऐसा पुण्यलोक हो जाता है; जो
कि इस प्रकार जानता है अर्थात्
पाँच प्रश्नोंद्वारा पूछे हुए उपयुक्त
समस्त विषयको जानता है ।
द्विरुक्ति समस्त प्रश्नोंका निर्णय
प्रदर्शित करनेके लिये है ॥१०॥



इति च्छान्दोग्योपनिषदि पञ्चमाध्याये
दशमखण्डमाख्यं सम्पूर्णम् ॥ १० ॥



एकादश खण्ड

—: * :—

दक्षिणेन पथा गच्छतामन्नभाव
उक्तः—‘तद्देवानामन्नम्’ ‘तं देवा
भक्षयन्ति’ इति; क्षुद्रजन्तुलक्षणा
च कष्टा संसारगतिरुक्ता । तदु-
भयदोषपरिजिहीर्षया वैश्वानरा-
न्नभावप्रतिपत्त्यर्थमुत्तरो ग्रन्थ
आरभ्यते, ‘अत्स्यन्नं पश्यसि
प्रियम्’ इत्यादिलिङ्गात् । आख्या-
यिका तु सुखावगोधार्या विद्या-
संप्रदानन्यायप्रदर्शनार्था च ।

‘वह देवताओंका अन्न है’ ‘देव-
गण उसका भक्षण करते हैं’—ऐसा
कहकर दक्षिणमार्गसे जानेवालोंके
अन्नभावका प्रतिपादन किया गया
तथा क्षुद्रजन्तुरूप संसारकी कष्टमयी
गति भी बतलायी गयी । उन दोनों
दोषोंको त्यागनेकी इच्छासे वैश्वानर
संज्ञक भोक्तृत्वकी प्राप्तिके लिये
आगेका ग्रन्थ आरम्भ किया जाता
है—जैसा कि ‘तू अन्न भक्षण करता
है, प्रियको देखता है’ इत्यादि लिङ्गोंसे
जाना जाता है । यहाँ जो आख्यायिका
है वह सरलतासे समझानेके लिये
और विद्याप्रदानकी उचित विधि
प्रदर्शित करनेके लिये है ।

औपमन्यव आदिका आत्ममीमांसाविषयक प्रस्ताव

प्राचीनशाल औपमन्यवः सत्ययज्ञः पौलुषिरिन्द्र-
द्युम्नो भाल्लवेयो जनः शार्कराक्ष्यो बुडिल आश्वतरा-
श्विस्ते हैते महाशाला महाश्रोत्रियाः समेत्य मीमांसा-
अक्रुः को न आत्मा किं ब्रह्मेति ॥ १ ॥

उपमन्युका पुत्र प्राचीनशाल, पुलुषका पुत्र सत्ययज्ञ, भल्लविके
पुत्रका पुत्र इन्द्रद्युम्न, शर्कराक्षका पुत्र जन और अश्वतराश्वका पुत्र

बुडिल—ये महागृहस्थ और परम श्रोत्रिय एकत्रित होकर परस्पर विचार करने लगे कि हमारा आत्मा कौन है और ब्रह्म क्या है ? ॥ १ ॥

प्राचीनशाल इति नामत उप-
मन्योरपत्यमौपमन्यवः । सत्य-
यज्ञो नामतः पुलुपस्यापत्यं पौलु-
पिः । तथेन्द्रद्युम्नो नामतो भल्ल-
वेरपत्यं भाल्लविस्तस्यापत्यं भाल्ल-
वेयः । जन इति नामतः शर्करा-
क्षस्यापत्यं शार्कराक्ष्यः । बुडिलो
नामतोऽश्वतराश्वस्यापत्यमाश्वत-
राश्विः । पञ्चापि ते हैते महा-
शाला महागृहस्था विस्तीर्णाभिः
शालामिर्पुक्ताः संपन्ना इत्यर्थः ।
महाश्रोत्रियाः श्रुताग्न्ययनवृत्तसं-
पन्ना इत्यर्थः । त एवम्भूताः सन्तः
समेत्य संभूय क्वचिन्मीमांसां
विचारणां चक्रुः कृतवन्त इत्यर्थः ।

कथम् ? को नोऽस्माकमात्मा ?

किं ब्रह्म ? इत्यात्मब्रह्मशब्दयो-
रितरेतरविशेषणविशेष्यत्वम् ।
ब्रह्मेत्यध्यात्मपरिच्छिन्नमात्मानं
निवर्तयत्यात्मेति चात्मव्यति-
रिक्तस्यादित्यादिब्रह्मण उपास्यत्वं
निवर्तयति । अमेदेनात्मैव ब्रह्म

जो नामसे प्राचीनशाल या वह
उपमन्युका पुत्र औपमन्यव, पुलुप-
का पुत्र पौलुपि जो नामसे सत्ययज्ञ
या, भल्लविके पुत्रको भाल्लवि कहते
हैं, उसका पुत्र भाल्लवेय जो नामसे
इन्द्रद्युम्न या, जन ऐसे नामवाला
शर्कराक्षका पुत्र शार्कराक्ष्य तथा
बुडिल नामक अश्वतराश्वका पुत्र
आश्वतराश्वि—ये पाँचों ही महा-
शाल—बड़े कुटुम्बी अर्थात् विस्तृत
शालाओंसे युक्त तथा महाश्रोत्रिय
अर्थात् श्रुत यानी शास्त्राध्ययन और
सदाचारसे सम्पन्न थे । इस प्रकार-
के वे सब किसी समय आपसमें
मिलकर मीमांसा अर्थात् विचार
करने लगे ।

किस प्रकार विचार करने
लगे ?—'हमारा आत्मा कौन है ?
ब्रह्म क्या है ?' यहाँ 'आत्मा' और
'ब्रह्म' शब्दोंका परस्पर विशेषण-
विशेष्यभाव है । 'ब्रह्म' इस शब्दसे
श्रुति देह-परिच्छिन्न आत्माके ग्रहणका
निवारण करती है तथा 'आत्मा' इस
शब्दसे आत्मासे भिन्न आदित्यादि
ब्रह्मके उपास्यत्वकी निवृत्ति करती
है । अतः दोनोंका अभेद होनेके

ब्रह्मैवात्मेत्येवं सर्वात्मा वैश्वानरो
ब्रह्म स आत्मेत्येतत्सिद्धं भवति ।
“मूर्धा तेव्यपतिष्यत्” (छा० उ०
५ । १२ । २) “अन्धोऽभवि-
ष्यः” (५ । १३ । २) इत्यादि-
लिङ्गात् ॥ १ ॥

कारण आत्मा ही ब्रह्म है और ब्रह्म
ही आत्मा है; अतः सर्वात्मा वैश्वानर
ब्रह्म है और वही आत्मा है—यह
सिद्ध होता है। यह बात [खण्ड १२
से १७ तक आये हुए] “तेरा मस्तक
गिर जाता” “तू अन्धा हो जाता”
इत्यादि लिङ्गोंसे जानी जाती है* ॥ १ ॥

—:ॐ:—

श्रीपमन्यवादिका उद्दालकके पास आना

ते ह संपादयाश्चक्रुर्दालको वै भगवन्तोऽयमारुणिः
संप्रतीममात्मानं वैश्वानरमध्येति तः हन्ताभ्यागच्छा-
मेति तः हाभ्याजग्मुः ॥ २ ॥

* आगे यह दिखलाया गया है कि आरुणिके सहित श्रीपमन्यवादि पाँचों
मुनि राजा अश्वपतिके पास गये और उससे वैश्वानर आत्माका उपदेश करनेके
लिये प्रार्थना की। तब अश्वपतिने उनमेंसे प्रत्येकसे अलग-प्रलग यह प्रश्न किया
कि तुम किसे वैश्वानर (विराट् पुरुष) समझकर उपासना करते हो ? इसपर
श्रीपमन्यवने कहा कि मैं धूलोकको वैश्वानर समझता हूँ। तब अश्वपति बोला—
‘यह वैश्वानर आत्माका मस्तक है। इसकी तुम समस्त वैश्वानर-बुद्धिसे उपासना
करते हो इसलिये यद्यपि तुम्हारे यज्ञ-यागादि-सम्बन्धी सामग्रीकी बहुलता है तथापि
यदि मेरे पास न आते तो इस अन्यथाग्रहणके दोषसे तुम्हारा मस्तक गिर जाता।’
इसके पश्चात् उसने सत्ययज्ञसे पूछा तो वह बोला—‘मैं आदित्यको वैश्वानर
समझकर उपासना करता हूँ।’ इसपर अश्वपतिने कहा—‘यह उसका केवल नेत्र
है; इसकी समस्त बुद्धिसे उपासना करनेके कारण यद्यपि तुम्हारे पास अनेक
प्रकारकी सम्पत्ति दिखायी देती है तथापि यदि तुम मेरे पास न आते तो अन्धे
हो जाते।’ इसी प्रकार अन्य मुनियोंसे भी पूछा गया और यह देखकर कि उनमेंसे
प्रत्येक ही वैश्वानर आत्माके किसी-न-किसी अङ्गकी ही उपासना करता है उसने
उनकी व्यस्तोपासनाके परिणाममें उनके उन्हीं-उन्हीं अङ्गोंके भंग होनेका भय
दिखलाते हुए अन्तमें अठारहवें खण्डमें वैश्वानरके स्वरूपका उपदेश किया है। यहाँ
दो श्रुतियोंके प्रतीक देकर यह दिखलाया है कि भेदोपासनामें श्रुति भय प्रदर्शित
करती है; इसलिये उसे आत्मा और ब्रह्मका अभेद ही अभिमत है।

उन पूजनीयोंने स्थिर किया कि यह अरुणका पुत्र उद्दालक इस समय इस वैश्वानर आत्माको जानता है; अतः हम उसके पास चले । ऐसा निश्चय कर वे उसके पास आये ॥ २ ॥

ते ह मीमांसन्तोऽपि निश्चय-
मलममानाः संपादयाञ्चकुः मं-
पादितवन्त आत्मन उपदेशारम् ।
उद्दालको वै प्रसिद्धो नामतो
मगवन्तः पूजावन्तोऽयमारुणि-
ररुणस्यापत्यं संप्रति सम्यगि-
ममात्मानं वैश्वानरमस्मदभिप्रेत-
मध्येति स्मरति । तं हन्तेदानी-
मभ्यागच्छामेत्येवं निश्चित्य तं
हाम्याजगुर्गतवन्तस्तमारुणिम् । २

विचार करनेपर भी कोई निश्चय
न होने पर उन पूजावानोंने
सम्पादन किया—अपना उपदेशक
स्थिर किया । [वे बोले—] 'इस
समय उद्दालक नामसे प्रसिद्ध यह
अरुणका पुत्र आरुणि इस हमारे अभि-
प्रेत वैश्वानर आत्माको 'अध्येति'—
स्मरण रखता यानी जानता है ।
अच्छा तो, अब उसके पास चलें ।'
इस प्रकार निश्चयकर वे उस
आरुणिके पास आये ॥ २ ॥

उद्दालकका औपमन्यवादिके सहित अश्वपतिके पास आना

स ह संपादयाञ्चकार प्रक्षयन्ति मामिमे महा-
शाला महाश्रोत्रियास्तेभ्यो न सर्वमिव प्रतिपत्स्ये
हन्ताहमन्यमभ्यनुशासानीति ॥ ३ ॥

उसने निश्चय किया যে परम श्रोत्रिय महागृहस्थ मुझमें प्रश्न
करेंगे, किंतु मैं इन्हे पूरी तरहसे नहीं बतला सकूंगा अतः मैं उन्हें
दूसरा उपदेष्टा बतला दूँ ॥ ३ ॥

स ह तान्दृष्ट्वैव तेषामागमन-
प्रयोजनं बुद्ध्वा संपादया-
ञ्चकार; कथम् ? प्रक्षयन्ति मां
वैश्वानरमिमे महाशाला महा-

उन्हे देखते ही उसने उनके आने-
का प्रयोजन समझकर [चित्तमें] स्थिर
किया । किस प्रकार स्थिर किया ?
ये महागृहस्थ और परम श्रोत्रिय
मुझमें वैश्वानरके विषयमें पूछेंगे ।

श्रोत्रियास्तोभ्योऽहं न सर्वमिव
 पृष्टं प्रतिपत्स्ये वक्तुं नोत्सहे ।
 अतो हन्ताहमिदानीमन्यमेपाम-
 भ्यनुशासानि वक्ष्याम्युपदेष्टार-
 मिति ॥ ३ ॥

किंतु मैं इन्हें इनकी पूछी हुई बात
 पूरी तरह नहीं बतला सकूंगा ।
 अतः मैं इस समय इन्हें एक दूसरे
 उपदेशों के लिये अनुशासन करता
 हूँ अर्थात् इन्हें दूसरा उपदेशक
 बतलाये देता हूँ ॥ ३ ॥

एवं संपाद्य—

| ऐसा निश्चय कर—

तान्होवाचाश्वपतिर्वै भगवन्तोऽयं कैकेयः संप्रतो-
 ममात्मानं वैश्वानरमध्येति त५हन्ताभ्यागच्छामेति त५-
 हाभ्याजग्मुः ॥ ४ ॥

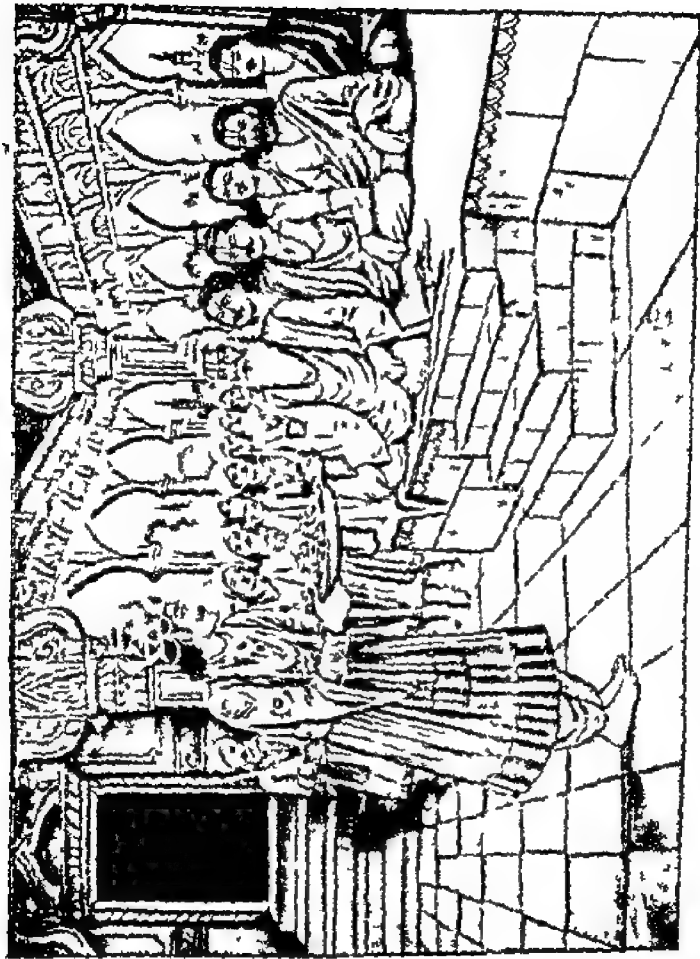
उसने उनसे कहा—‘हे पूजनीयगण ! इस समय कैकयकुमार
 अश्वपति इस वैश्वानरसंज्ञक आत्माको अच्छी तरह जानता है । आइये, हम
 उसीके पास चलें ।’ ऐसा कहकर वे उसके पास चले गये ॥ ४ ॥

तान्होवाच—अश्वपतिर्वै ना-
 मतो भगवन्तोऽयं कैकेयस्याप-
 त्यं कैकेयः संप्रति सम्यगिममा-
 त्मानं वैश्वानरमध्येतीत्यादि स-
 मानम् ॥ ४ ॥

उसने उनसे कहा—‘हे
 भगवन् ! इस समय कैकयका पुत्र
 अश्वपति नामवाला कैकेय इस वैश्वा-
 नर आत्माको अच्छी तरह समझता
 है’ इत्यादि अर्थ पूर्ववत् है ॥ ४ ॥

अश्वपतिद्वारा मुनियोंका स्वागत

तेभ्यो ह प्राप्तेभ्यः पृथगर्हाणि कारयाश्चकार स
 ह प्रातः संजिहान उवाच न मे स्तेनो जनपदे न
 कदर्यो न मथपो नानाहिताग्निर्नाविद्वान्न स्वैरी स्वैरिणी
 कुतो यक्षमाणो वै भगवन्तोऽहमस्मि यावदेकैकस्मा



राजा अथर्वानि के गवसमे उद्दालक

[पृष्ठ ५२०]

ऋत्विजे धनं दास्यामि तावद्भगवद्भयो दास्यामि
वसन्तु भगवन्त इति ॥ ५ ॥

अपने पास आये हुए उन ऋषियोंका राजाने अलग-अलग सत्कार कराया । [दूसरे दिन] सवेरे उठते ही उसने कहा—‘मेरे राज्यमें कोई चोर नहीं है तथा न अदाता, न मद्यप, न अनाहिताग्नि, न अविद्वान् और न परस्त्रीगामी ही है; फिर कुलटा सी तो आयी ही कहाँसे ? हे पूज्यगण ! मैं भी यज्ञ करनेवाला हूँ । मैं एक-एक ऋत्विक्को जितना धन दूँगा उतना ही आपको भी दूँगा; अतः आपलोग यही ठहरिये’ ॥ ५ ॥

तैम्प्यो ह राजा प्राप्तेभ्यः
पृथक्पृथक्गर्हाण्यर्हणानि पुरोहि-
तैर्भृत्यैश्च कारयाञ्चकार कारित-
वान् । स हान्येधू राजा प्रातः
संजिहान उवाच विनयेनोषग-
म्यैतद्धनं मत्त उपादध्वमिति ।
तैः प्रत्याख्यातो मयि दोषं
पश्यन्ति नूनं यतो न प्रतिगृ-
ह्णन्ति मत्तो धनमिति मन्वान
आत्मनः सद्वृत्ततां प्रतिपिपाद-
यिषन्नाह—न मे मम जनपदे
स्तेनः परस्वहर्ता विद्यते । न
कदर्योऽदाता सति विभवे । न
मद्यपो द्विजोत्तमः सन् । नाना-
हिताग्निः शतगुः । नाविद्वानधि-

अपने पास आये हुए उन ऋषियोंका राजाने पुरोहित और सेवकोंसे अलग-अलग सत्कार कराया । दूसरे दिन राजाने प्रातः-काल उठते ही उनके पास जाकर विनयपूर्वक कहा—आपलोग मुझमें यह धन ग्रहण कीजिये । तब उनके निषेध करनेपर यह सोचकर कि निश्चय ही मे मुझमें दोष देखते हैं, क्योंकि मुझसे धन नहीं लेते, अपने सदाचारका प्रतिपादन करनेकी इच्छासे उसने कहा—‘मेरे राज्यमें कोई चोर—दूसरेका धन हरण करनेवाला नहीं है, न कोई कदमं—सम्पत्ति रहते हुए दान न करनेवाला है, न कोई द्विजश्रेष्ठ मद्यपान करनेवाला है, न सौ गौश्रोवाला होकर अनाहिताग्नि है, न अपने अधिकारके अनुरूप कोई

कारानुरूपम् । न स्वैरी परदा-
रेषु गन्ता । अत एव स्वैरिणी
कुतो दुष्टचारिणी न संभव-
तीत्यर्थः ।

तैश्च न वयं धनेनाथिन
इत्युक्त आहाल्पं मत्वैते धनं न
गृह्णन्तीति । यक्ष्यमाणो वै कति-
भिरहोभिरहं हे भगवन्तोऽस्मि,
तदर्थं क्लृप्तं धनं मया यावदे-
कैकस्मै यथोक्तमृत्विजे धनं
दास्यामि तावत्प्रत्येकं भगव-
द्भ्योऽपि दास्यामि । वसन्तु
भगवन्तः पश्यन्तु च मम
प्रागम् ॥ ५ ॥

अविद्वान् है और न कोई स्वैरी—
परस्त्रियोंके प्रति गमन करनेवाला
है; अतः स्वैरिणी भी कैसे हो
सकती है ? अर्थात् कोई दुराचारिणी
खी होनी भी सम्भव नहीं है ।

फिर उनके यह कहनेपर कि
'हम धनके अर्थी नहीं हैं' यह
समझकर कि ये लोग थोड़ा मान-
कर धन नहीं लेते, उसने कहा—'हे
पूज्यगण ! कुछ दिनोंमें मैं यज्ञा-
नुष्ठान करनेवाला हूँ, उसके लिये
मैंने धनका संकल्प कर दिया है ।
उस समय शास्त्रानुसार मैं जितना-
जितना धन एक-एक ऋत्विक्को
दूँगा । उतना ही आपमेंसे प्रत्येकको
भी दूँगा । अतः आपलोग यहीं ठह-
रिये और मेरा यज्ञ देखिये' ॥ ५ ॥



अश्वपतिके प्रति मुनियोंकी प्रार्थना

इत्युक्ताः—

। इस प्रकार कहे जानेपर—

ते होचुर्येन हैवार्थेन पुरुषश्चरेत् हैव वदेदात्मान-
मेवेमं वैश्वानरं संप्रत्यध्येषि तमेव नो ब्रूहीति ॥ ६ ॥

वे बोले—'जिस प्रयोजनसे कोई पुरुष कहीं जाता है उसे चाहिये
कि अपने उसी प्रयोजनको कहे । इस समय आप वैश्वानर आत्माको
जानते हैं, उसीका आप हमारे प्रति वर्णन कीजिये' ॥ ६ ॥

ते होचुः—येन हैवार्थेन
प्रयोजनेन यं प्रति चरेद्दृष्टेत्पुरु-
रुषस्तं हैवार्थं वदेत्, इदमेव
प्रयोजनमागमनस्येत्ययं न्यायः
सताम् । वयं च वैश्वानरज्ञाना-
थिनः । आत्मानमेवेमं वैश्वानरं
संप्रत्यध्वेपि सम्पजानासि ।
अतस्तमेव नोऽस्मभ्यं ब्रूहि ॥६॥

वे बोले—जिस अर्थ यानी
प्रयोजनसे कोई पुरुष किसीके पास
जाय उसे अपना वह प्रयोजन
बतला देना चाहिये कि 'मेरे अग्ने-
का केवल यही प्रयोजन है।'
सत्पुरुषोका ऐसा ही नियम है ।
हमलोग भी वैश्वानरको जाननेकी
इच्छावाले हैं । इस समय आप इस
वैश्वानर आत्माको अच्छी तरह
जानते हे; अतः हमारे प्रति उसीका
वर्णन कीजिये ॥ ६ ॥

—❀❀—

राजाके प्रति मुनियोकी उपसत्ति

इत्युक्तः—

इस प्रकार कहे जानेपर—

तान्होवाच प्रातर्वः प्रतिवक्तास्मीति ते ह समित्पा-
णयः पूर्वाह्णे प्रतिचक्रमिरे तान्हानुपनीयैवैतदुवाच ॥७॥

वह उनसे बोला—'अच्छा, मैं प्रातःकाल आपलोगोको इसका उत्तर
दूंगा।' तब दूसरे दिन वे पूर्वाह्णमें हाथमें समिधाएँ लेकर राजाके पास
गये । उनका उपनयन न करके ही राजाने उस विद्याका उपदेश
किया ॥ ७ ॥

तान्होवाच —प्रातर्वो युष्मभ्यं
प्रतिवक्तास्मि प्रतिवाक्यं दाता-
स्मीत्युक्तास्ते ह राज्ञोऽभिप्राय-
ज्ञाः समित्पाणयः समिद्भारहस्ता
अपरेद्युः पूर्वाह्णे राजानं प्रति-
चक्रमिरे गतवन्तः ।

वह उनसे बोला—'मैं आप
लोगोको इसका उत्तर प्रातःकाल
दूंगा।' इस प्रकार कहे जानेपर
राजाके अभिप्रायको जाननेवाले
वे मुनिगण दूसरे दिन पूर्वाह्णमें
समित्पाणि—हाथोंमें समिधाएँ लिये
राजाके पास आये ।

यत एवं महाशाला महाश्रो-
त्रिया ब्राह्मणाः सन्तो महाशाल-
त्वाद्यभिमानं हित्वा समिद्धार-
हस्ता जातितो हीनं राजानं
विद्यार्थिनो विनयेनोपजग्मुः,
तथान्यैर्विद्योपादित्सुभिर्भवित-
व्यम् । तेभ्यश्चादाद्विद्यामनुप-
नीयैवोपनयनमकृतैव । तान्यथा
योग्येभ्यो विद्यामदात्तथान्येनापि
विद्या दातव्येत्याख्यायिकार्थः ।
एतद्वैश्वानरविज्ञानमुवाचेति
वक्ष्यमाणेन संबन्धः ॥ ७ ॥

क्योंकि इस प्रकार महागृहस्थ
और परमश्रोत्रिय ब्राह्मण होनेपर
भी वे महागृहस्थत्व आदिके अभि-
मानको छोड़कर हाथोंमें समिधाएँ
ले विद्यार्थी बन अपनेसे हीन जाति-
वाले राजाके पास विनयपूर्वक गये
थे इसलिये विद्योपार्जनकी इच्छावाले
अन्य पुरुषोंको भी ऐसा ही होना
चाहिये । तब राजाने उनका उप-
नयन न करके ही उन्हें विद्या दे
दी । अतः इस आख्यायिकाका यही
तात्पर्य है कि जिस प्रकार उन योग्य
विद्यार्थियोंको राजाने विद्या दी थी
उसी प्रकार दूसरोंको भी विद्यादान
करना चाहिये । [मूलके 'एतत्'
शब्दका] 'एतद् वैश्वानरविज्ञानम्
उवाच' इस प्रकार आगे कहे जाने-
वाले वैश्वानरविज्ञानसे सम्बन्ध
है ॥ ७ ॥

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि पञ्चमाध्याये
एकादशखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥ ११॥



द्वादश खण्ड

—॥०॥—

अश्वपति और औपमन्यवका संवाद

स कथमुवाच ? इत्याह — | उमने किस प्रकार उपदेश दिया ? सो बतलाते हैं—

औपमन्यव कं त्वमात्मानमुपास्स इति । दिवमेव भगवो राजन्निति होवाचैष वे सुतेजा आत्मा वैश्वानरो यं त्वमात्मानमुपास्से तस्मात्तव सुतं प्रसुतमासुतं कुले दृश्यते ॥ १ ॥

[राजा—] 'हे उपमन्युकुमार ! तुम किस आत्माकी उपासना करते हो ?' 'हे पूज्य राजन् ! मैं सुलोक की ही उपासना करता हूँ' ऐसा उसने उत्तर दिया । [राजा—] 'तुम जिस आत्माकी उपासना करते हो यह निश्चय ही, 'सुतेजा' नामसे प्रसिद्ध वैश्वानर आत्मा है, इसीसे तुम्हारे कुलमें सुत, प्रसुत और आसुत दिखायी देते हैं' ॥ १ ॥

औपमन्यव हे कमात्मानं वै | 'हे औपमन्यव ! तुम किस वैश्वानर आत्माकी उपासना करते हो ?' ऐसा राजाने पूछा ।

नन्वयमन्याय आचार्यः स- | शङ्का-कितु आचार्य होकर भी शिष्यसे पूछता है—यह तो अनुचित है ।

विशष्यं पृच्छतीति ।

नैष दोषः; 'यद्वेत्य तेन | समाधान—यह कोई दोष नहीं है; क्योंकि 'जो कुछ तू जानता है उसे बतलाकर तू मेरे प्रति उपसन्न हो; तब उससे आगे मैं

भोपसीद ततस्त ऊर्ध्वं वक्ष्यामि'

इति न्यायदर्शनात् । अन्यत्राप्या-
चार्यस्याप्रतिभानवति शिष्ये प्रति-
भोत्पादनार्थः प्रश्नो दृष्टोऽजात-
शत्रोः, 'कैप तदाभूत्कुत एत-
दागात्' इति ।

दिवमेव द्युलोकमेव वैश्वानर-
मुपासे भगवो राजन्निति होवाच ।
एष वै सुतेजाः शोभनं तेजो यस्य
सौज्यं सुतेजा इति प्रसिद्धो वैश्वा-
नर आत्मा, आत्मनोऽवयवभूत-
त्वात् । यं त्वमात्मानमात्मैकदेश-
मुपास्ते तस्मात्सुतेजसो वैश्वानर-
स्योपासनात्तव सुतमभिपुतं सो-
मरूपं कर्मणि प्रसुतं प्रकर्षेण च
सुतमासुतं चाहर्गणादिषु तव

तुझे वतलाऊंगा' ऐसा न्याय देखा
जाता है* । इसके सिवा अन्यत्र भी
आचार्य अजातशत्रुका अपने प्रतिभा-
शून्य शिष्यमें प्रतिभा उत्पन्न
करनेके लिये 'तो फिर यह कहाँ
उत्पन्न हुआ, और कहाँसे आया ?'
ऐसा प्रश्न करना देखा जाता है ।

'हे पूज्य राजन् ! मैं द्युलोककी
ही अर्थात् द्युलोकरूप वैश्वानरकी
ही उपासना करता हूँ' ऐसा उसने
उत्तर दिया । [तब राजाने कहा—]
'यह निश्चय ही 'सुतेजा'—जिनका
तेज शोभन है ऐसा यह 'सुतेजा'
नामसे प्रसिद्ध वैश्वानर आत्मा है ।
क्योंकि आत्माका अवयवभूत है;
जिस आत्मा अर्थात् आत्माके एक
देशकी तुम उपासना करते हो
उसी सुतेजा वैश्वानरकी उपासना
करनेसे यहाँ—तुम्हारे कुलमें
अहर्गण (एकाहादिरूप ज्योतिष्टोम)
आदिमें 'सुत'—अभिपुत (निकाला
हुआ) सोमरूप लताद्रव्य, [अहीन]
कर्ममें प्रसुत—विशेषरूपसे निकाला
हुआ द्रव्य तथा [सन्तमें] 'आसुत'

* यह न्याय छा० ७ । १ । ७ में सनत्कुमारकी उक्तिसे जाना जाता है ।

कुले दृश्यतेऽतीव कर्मिणस्त्व-

(सर्वतोभावेन निकाला हुआ) सोमरस अधिक देखा जाता है। तात्पर्य यह है कि तुम्हारे कुटुम्बी वडे ही कर्म-निष्ठ हैं ॥ १ ॥

त्कुलीना इत्यर्थः ॥ १ ॥



अत्स्यन्नं पश्यसि प्रियमत्त्यन्नं पश्यति प्रियं भवत्यस्य ब्रह्मवर्चसं कुले य एतमेवमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते मूर्धा त्वेप आत्मन इति होवाच मूर्धा ते व्यपतिष्यथन्मां नागमिष्य इति ॥ २ ॥

‘तुम अन्न भक्षण करते हो और प्रियका दर्शन करते हो। जो इस वैश्वानर आत्माकी इस प्रकार उपासना करता है वह अन्न भक्षण करता है, प्रियका दर्शन करता है और उसके कुलमे ब्रह्मतेज होता है। यह वैश्वानर आत्माका मस्तक है।’ ऐसा राजाने कहा, और यह भी कहा कि—‘यदि तुम मेरे पास न आते तो तुम्हारा मस्तक गिर जाता’ ॥ २ ॥

अत्स्यन्नं दीप्ताग्निः सन्पश्यसि च पुत्रपौत्रादि प्रियमिष्टम्। अन्योऽप्यत्त्यन्नं पश्यति च प्रियं भवत्यस्य सुतं प्रसुतमासुतमित्यादि कर्मित्वं ब्रह्मवर्चसं कुले यः कश्चिदेतं यथोक्तमेवं वैश्वानरमुपास्ते। मूर्धा त्वात्मनो वैश्वानरस्यैव न समस्तो वैश्वानरः।

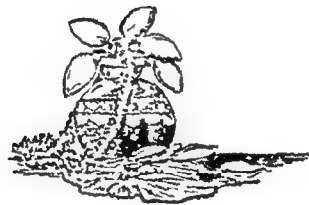
‘तुम दीप्ताग्नि होकर अन्न भक्षण करते हो। तथा पुत्र पौत्रादिरूप प्रिय-इष्टका दर्शन करते हो। और भी जो कोई इस उपयुक्त वैश्वानरकी इस प्रकार उपासना करता है वह भी अन्न भक्षण करता है, प्रियका दर्शन करता है और उसके कुलमे सुत, प्रसुत एवं आसुत इत्यादि कर्मित्वरूप ब्रह्मतेज होता है। किन्तु यह वैश्वानर आत्माका मस्तक ही है, सम्पूर्ण वैश्वानर नहीं है; अतः इस-

अतः समस्तबुद्ध्या वैश्वानरस्यो-
पासनान्मूर्धा शिरस्ते विपरीत-
ग्राहिणो व्यपतिष्यद्विपतितम-
भविष्यत्, यद्यदि मां नागमि-
ष्यो नागतोऽभविष्यः । साध्व-
कार्पार्यन्मासागतोऽसीत्यभिप्रायः
॥ २ ॥

की समस्त बुद्धिसे उपासना करनेके
कारण विपरीत ग्रहण करनेवाले
तुम्हारा मस्तक गिर जाता, यदि
तुम मेरे पास न आते अर्थात् मेरे
पास आगमन न करते । तात्पर्य
यह है कि तुम मेरे पास चले आये
यह अच्छा ही किया' ॥ २ ॥

—:ॐ:—

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि पञ्चसाध्याये
द्वादशखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥ १२ ॥



त्रयोदश खण्ड

— ❁ ❁ —

अश्वपति और सत्ययज्ञका संवाद

अथ होवाच सत्ययज्ञं पौलुपि प्राचीनयोग्यं कं
त्वमात्मानमुपास्ते इत्यादित्यमेव भगवो राजन्निति
होवाचैष वै विश्वरूप आत्मा वैश्वानरो यं त्वमात्मान-
मुपास्ते तस्मात्तव बहु विश्वरूपं कुले दृश्यते ॥ १ ॥

फिर उसने पुलुपके पुत्र सत्ययज्ञसे कहा—‘हे प्राचीनयोग्य !
तुम किस आत्माकी उपासना करते हो ?’ वह बोला—‘हे पूज्य
राजन् ! मैं आदित्यकी ही उपासना करता हूँ ।’ [राजाने कहा—]
‘यह निश्चय ही विश्वरूप वैश्वानर आत्मा है, जिस आत्माकी तुम
उपासना करते हो; इसीसे तुम्हारे कुलमें बहुत-सा विश्वरूप साधन
दिलायी देता है’ ॥ १ ॥

अथ होवाच सत्ययज्ञं पौलु-
पि हे प्राचीनयोग्यं कं त्वमा-
त्मानमुपास्ते ? इत्यादित्यमेव
भगवो राजन्निति होवाच ।
शुक्लनीलादिरूपत्वाद्विश्वरूपत्व-
मादित्यस्य, सर्वरूपत्वाद्वा, स-
र्वाणि रूपाणि हि त्वाद्याणि
यतोऽतो वा विश्वरूप आदित्यः;

फिर उसने पुलुपके पुत्र सत्ययज्ञ-
से कहा—‘हे प्राचीनयोग्य ! तुम किस
आत्माकी उपासना करते हो ?’ तब
उसने ‘हे पूज्य राजन् ! मैं आदित्य-
की ही उपासना करता हूँ’ ऐसा
उत्तर दिया । शुक्लनीलादिरूप
होनेके कारण आदित्यकी विश्वरूपता
है, अथवा सर्वरूप होनेके कारण;
या सारे रूप त्वष्टाके ही हैं, इस
लिये आदित्य विश्वरूप है । उसकी

तदुपासनात्तव बहु विश्वरूपमि-
हामुन्नार्थमुपकरणं दृश्यते कुले
॥ १ ॥

उपासनाके कारण तुम्हारे कुलमें
बहुत-सा विश्वरूप ऐहिक और
पारलौकिक साधन दिखायी देता
है ॥ १ ॥

—❀:❀—

किं च त्वामनु—

। तथा तुम्हारे पीछे—

प्रवृत्तोऽश्वतरीरथो दासीनिष्कोऽस्त्यन्नं पश्यसि
प्रियमस्त्यन्नं पश्यति प्रियं भवत्यस्य ब्रह्मवर्चसं कुले य
एतमेवमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते चक्षुष्ट्वे तदात्मन इति
होवाचान्योऽभविष्यो यन्मां नागमिष्य इति ॥ २ ॥

‘खच्चरियोंसे जुता हुआ रथ और दासियोंके सहित हार प्रवृत्त है ।
तुम अन्न भक्षण करते हो और प्रियका दर्शन करते हो । जो इस प्रकार
इस वैश्वानर आत्माकी उपासना करता है वह अन्न भक्षण करता है,
प्रियका दर्शन करता है और उसके कुलमें ब्रह्मतेज होता है । किंतु यह
आत्माका नेत्र ही है ।’ ऐसा राजाने कहा और यह भी कहा—‘यदि
तुम मेरे पास न आते तो अंधे हो जाते’ ॥ २ ॥

प्रवृत्तोऽश्वतरीरथा युक्तो रथा-
ऽश्वतरीरथो दासीनिष्को दासी-
भिर्युक्तो निष्को हारो दासी-
निष्कः । अस्त्यन्नमित्यादि
समानम् । चक्षुर्वैश्वानरस्य तु
सविता । तस्य समस्तबुद्धयोपा-
सनादन्योऽभविष्यश्चक्षुर्हीनोऽभ-
विष्यो यन्मां नागमिष्य इति
पूर्ववत् ॥ २ ॥

‘अश्वतरीरथ—दो खच्चरियोंसे
युक्त रथ और दासीनिष्क—दासियोंसे
युक्त निष्क यानी हार प्रवृत्त है ।
‘अस्त्यन्नम्’ इत्यादिका तात्पर्य
पूर्ववत् है । किंतु सूर्य वैश्वानरका
नेत्र ही है । उसकी समस्त बुद्धिसे
उपासना करनेके कारण, यदि तुम
मेरे पास न आते तो अंधे हो
जाते’—ऐसा पूर्ववत् जानना
चाहिये ॥ २ ॥

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि पञ्चमाध्याये
त्रयोदशखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥ १३ ॥

चतुर्दश खण्ड

—:८:—

अश्वपति और इन्द्रद्युम्नका संवाद

अथ होवाचेन्द्रद्युम्नं भाल्लवेयं वैयाघ्रपद्य कं त्व-
मात्मानमुपास्स इति वायुमेव भगवो राजन्निति होवाचैष
वै पृथग्वर्त्मात्मावैश्वानरो यं त्वमात्मानमुपास्से तस्मात्त्वां
पृथग्वलय आयन्ति पृथग्रथश्रेणयोऽनुयन्ति ॥ १ ॥

तदनन्तर राजाने भाल्लवेय इन्द्रद्युम्नसे कहा—‘हे वैयाघ्रपद्य ! तुम
किस आत्माकी उपासना करते हो ?’ वह बोला—‘हे पूज्य राजन् !
मैं वायुकी ही उपासना करता हूँ ।’ [राजाने कहा—] ‘जिस आत्माकी
तुम उपासना करते हो वह निश्चय ही पृथग्वर्त्मा वैश्वानर आत्मा है, इसीसे
तुम्हारे प्रति पृथक्-पृथक् उपहार आते हैं और तुम्हारे पीछे पृथक्-पृथक्
रथकी पङ्क्तियाँ चलती हैं’ ॥ १ ॥

अथ होवाचेन्द्रद्युम्नं भाल्लवेयं
वैयाघ्रपद्य कं त्वमात्मानमुपास्से
इत्यादि समानम् । पृथग्वर्त्मा
नाना वर्त्मानि यस्य वायोराव-
होद्वहादिभिर्मेदैर्वर्तमानस्य सोऽयं
पृथग्वर्त्मा वायुः । तस्मात्पृथग्व-
र्त्मात्मनो वैश्वानरस्योपासनात्पृ-

तदनन्तर राजाने भाल्लवेय इन्द्र-
द्युम्नसे कहा—‘हे वैयाघ्रपद्य ! तुम
किस आत्माकी उपासना करते हो ?’
इत्यादि पूर्ववत् समभना चाहिये ।
पृथग्वर्त्मा—प्रावह, उद्वह आदि
भेदोंसे विद्यमान जिस वायुके अनेको
मार्ग हैं वह वायु पृथग्वर्त्मा है । अतः
पृथग्वर्त्मावैश्वानर आत्माकी उपासना
करनेके कारण तुम्हारे पास पृथक्

थङ्गानादिकास्त्वां वलयो वस्त्रा-
न्नादिलक्षणा वलय आयन्त्या-
गच्छन्ति । पृथग्रथश्रेणयो रथ-
पङ्क्तयोऽपि त्वासनुयन्ति ॥ १ ॥

—नाना दिशाओंसे वस्त्र एवं
अन्नादिरूप उपहार आते हैं; तथा
पृथक्-पृथक् रथश्रेणियाँ—रथकी
पङ्क्तियाँ भी तुम्हारे पीछे चलती हैं' १

— : * : —

अत्स्यन्नं पश्यसि प्रियमन्त्यन्नं पश्यति प्रियं
भवत्यस्य ब्रह्मवर्चसं कुले य एतमेवमात्मानं वैश्वानर-
मुपास्ते प्राणस्त्वेष्ट आत्मन इति होवाच प्राणस्त
उदक्रमिष्यद्यन्मां नागमिष्य इति ॥ २ ॥

‘तुम अन्न भक्षण करते हो और प्रियका दर्शन करते हो । जो कोई
इस प्रकार इस वैश्वानर आत्माकी उपासना करता है वह अन्न भक्षण करता
है, प्रियका दर्शन करता है और उसके कुलमें ब्रह्मतेज होता है । किंतु
यह आत्माका प्राण ही है’—ऐसा राजाने कहा और यह भी कहा कि
‘यदि तुम मेरे पास न आते तो तुम्हारा प्राण उत्क्रमण कर जाता’ ॥ २ ॥

अत्स्यन्नमित्यादि समानम् ।
प्राणस्त्वेष्ट आत्मन इति होवाच
प्राणस्ते तवोदक्रमिष्यदुत्क्रान्तो-
ऽभविष्यद्यन्मां नागमिष्य इति
॥ २ ॥

‘अत्स्यन्नम्’ इत्यादि वाक्यका
अर्थ पूर्ववत् है । ‘किंतु यह
आत्माका प्राण ही है’ ऐसा राजाने
कहा और यह भी कहा कि ‘यदि
तुम मेरे पास न आते तो तुम्हारा
प्राण उत्क्रमण कर जाता अर्थात्
उत्क्रान्त हो जाता’ ॥ २ ॥

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि पञ्चसाध्याये
चतुर्दशखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥ १४ ॥

पञ्चदश खण्ड

— ० —

अश्वमेधि और जनका सवाद्य

अथ होवाच जनः शार्कराक्ष्यं कं त्वमात्मानमु-
पास्ते इत्याकाशमेव भगवो राजन्निति होवाचैष वै
बहुल आत्मा वैश्वानरो यं त्वमात्मानमुपास्ते
तस्मात्त्वं बहुलोऽसि प्रजया च धनेन च ॥ १ ॥

तदनन्तर राजाने जनसे कहा—‘हे शार्कराक्ष्य ! तुम किस आत्माकी
उपासना करते हो ?’ उसने कहा—‘हे पूज्य राजन् ! मैं आकाशकी ही
उपासना करता हूँ ।’ [राजा बोला—] ‘यह निश्चय ही बहुलसंज्ञक
वैश्वानर आत्मा है जिसकी कि तुम उपासना करते हो । इसीसे तुम
प्रजा और धनके कारण बहुल हो’ ॥ १ ॥

अथ होवाच जनमित्यादि स-
मानम् । एष वै बहुल आत्मा
वैश्वानरः । बहुलत्वमाकाशस्य
सर्वगतत्वाद्बहुलगुणोपासनाच्च ।
त्वं बहुलोऽसि प्रजया च पुत्र-
पौत्रादिलक्षण्या धनेन च हि-
रण्यादिना ॥ १ ॥

‘फिर उसने जनसे कहा’
इत्यादि अर्थ पूर्ववत् है । यह निश्चय
ही बहुलसंज्ञक वैश्वानर आत्मा है ।
सर्वगत होनेके कारण तथा बहुल-
गुणरूपसे उपासित होनेके कारण
आकाशका बहुलत्व (पूर्णत्व) है ।
इसीसे तुम पुत्र पौत्रादिरूप प्रजा
और सुवर्णादि धनसे बहुल
(परिपूर्ण) हो ॥ १ ॥

अत्स्यन्नं पश्यसि प्रियमत्स्यन्नं पश्यति प्रियं
भवत्यस्य ब्रह्मवर्चसं कुले य एतमेवमात्मानं वैश्वानर-

मुपास्ते संदेहस्त्वेष आत्मन इति होवाच संदेहस्ते
व्यशीर्यन्मां नागमिष्य इति ॥ २ ॥

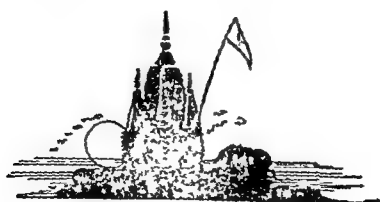
‘तुम अन्न भक्षण करते हो और प्रियका दर्शन करते हो। जो इस प्रकार इस वैश्वानर आत्माकी उपासना करता है वह अन्न भक्षण करता है, प्रियका दर्शन करता है और उसके कुलमें ब्रह्मतेज होता है। किंतु यह आत्माका संदेह (शरीरका मध्यभाग) ही है।’ ऐसा राजाने कहा और यह भी कहा कि ‘यदि तुम मेरे पास न आते तो तुम्हारा संदेह (शरीरका मध्यभाग) नष्ट हो जाता’ ॥ २ ॥

संदेहस्त्वेष संदेहो मध्यमं
शरीरं वैश्वानरस्य । दिहेरुपच-
यार्थत्वान्मांसरुधिरास्थ्यादिभि-
श्च बहुलं शरीरं तत्संदेहः, ते तव
शरीरं व्यशीर्यच्छार्णमभविष्य-
द्यन्मां नागमिष्य इति ॥ २ ॥

किंतु यह वैश्वानरका संदेह ही है। शरीरके मध्यभागको संदेह कहते हैं। क्योंकि ‘दिह्’ धातु उपचय (वृद्धि) अर्थवाला है और शरीर मांस, रुधिर एवं अस्थि आदिसे बहुल (उपचित) है इसलिये वह संदेह है, तुम्हारा वह संदेह अर्थात् शरीर नष्ट हो जाता, यदि तुम मेरे पास न आते ॥ २ ॥

—:०:—

इतिछान्दोग्योपनिषदि पञ्चसाध्याये
पञ्चदशखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥ १५ ॥



षोडश खण्ड

—:—

भद्रवर्षति श्रीर बुडिलका सवाद

अथ होवाच बुडिलमाश्वतराश्वि वैयाघ्रपथ कं
त्वमात्मानमुपास्स इत्यप एव भगवो राजन्निति
होवाचैप वै रयिरात्मा वैश्वानरो यं त्वमात्मानमुपास्से
तस्मात्त्वं रयिमान्पुष्टिमानसि ॥ १ ॥

फिर उसने अश्वतराश्वके पुत्र बुडिलसे कहा —‘हे वैयाघ्रपथ ! तुम
किस आत्माकी उपासना करते हो ?’ उसने कहा—‘हे पूज्य राजन् !
मैं तो जलकी ही उपासना करता हूँ ।’ [राजा बोला—] ‘जिसकी
तुम उपासना करते हो वह निश्चय ही रयिसजक वैश्वानर आत्मा है,
इसीसे तुम रयिमान् (धनवान्) और पुष्टिमान् हो’ ॥ १ ॥

अथ होवाच बुडिलमाश्व-
तराश्वमित्यादि समानम् । एष
वै रयिरात्मा वैश्वानरो धनरूपः,
अद्भ्योऽन्नं ततो धनमिति ।
तस्माद्रयिमान् धनवांस्त्वं
पुष्टिमांश्च शरीरेण, पुष्टेश्चा-
ननिमित्तत्वात् ॥ १ ॥

‘तदनन्तर राजाने अश्वतराश्वके
पुत्र बुडिलसे कहा’—इत्यादि अर्थ
पूर्ववत् है । यह निश्चय ही धनरूप
रयिसजक वैश्वानर आत्मा है,
क्योंकि जलसे अन्न होता है और
अन्नसे धन । इसीसे तुम रयिमान्
यानो धनवान् हो तथा शरीरसे
पुष्टिमान् हो, क्योंकि पुष्टि अन्नके
कारण हुआ करती है ॥ १ ॥

—:—

अत्स्यन्नं पश्यसि प्रियमत्यन्नं पश्यति प्रियं
भवत्यस्य ब्रह्मवर्चसं कुले य एतमेवमात्मानं वैश्वानर-

मुपास्ते वस्तिस्त्वेष आत्मन इति होवाच वस्तिस्ते
व्यभेत्स्यद्यन्मां नागमिष्य इति ॥ २ ॥

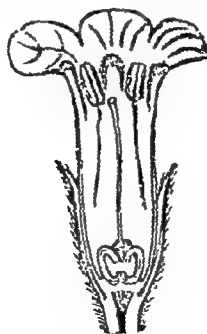
‘तुम अन्न भक्षण करते हो और प्रियका दर्शन करते हो। जो पुरुष इस वैश्वानर आत्माकी इस प्रकार उपासना करता है वह अन्न भक्षण करता है, प्रियका दर्शन करता है और उसके कुलमें ब्रह्मतेज होता है। किंतु यह आत्माका वस्ति ही है’—ऐसा राजाने कहा और यह भी कहा कि ‘यदि तुम मेरे पास न आते तो तुम्हारा वस्तिस्थान फट जाता’ ॥ २ ॥

वस्तिस्त्वेष आत्मनो वैश्वा-
नरस्य स्तिर्मूर्त्र संग्रहस्थानं वस्ति-
स्ते व्यभेत्स्यद्विन्नोऽभविष्यद्य-
न्मां नागमिष्य इति ॥ २ ॥

‘यह वैश्वानर आत्माका वस्ति है; वस्ति सूत्रसंग्रहके स्थानको कहते हैं। ‘यदि तुम मेरे पास न आते तो तुम्हारा वस्ति भिन्न—विदीर्ण हो जाता’—ऐसा राजाने कहा ॥ २ ॥

—*:*—

इति छान्दोग्योपनिषदि पञ्चमाध्याये
षोडशखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥ १६ ॥



सप्तदश खण्ड

अद्वयति और उद्दालकका संवाद

अथ होवाचोद्दालकमारुणिं गौतम कं त्वमात्मान-
मुपास्स इति पृथिवीमेव भगवो राजन्निति होवाचैष वै
प्रतिष्ठात्मा वैश्वानरो यं त्वमात्मानमुपास्से तस्मात्त्वं
प्रतिष्ठितोऽसि प्रजया च पशुभिश्च ॥ १ ॥

तत्पश्चात् राजाने अरुणके पुत्र उद्दालकसे कहा—‘ह गौतम ! तुम
किस आत्माकी उपासना करते हो ?’ उसने कहा—‘हे पूज्य राजन् !
मैं तो पृथिवीकी ही उपासना करता हूँ ।’ [राजा बोला—] ‘जिसकी
तुम उपासना करते हो यह निश्चय ही प्रतिष्ठासज्ञक वैश्वानर आत्मा है ।
इसीसे तुम प्रजा और पशुओंके कारण प्रतिष्ठित हो’ ॥ १ ॥

अत्स्यन्नं पश्यसि प्रियमत्स्यन्नं पश्यति प्रियं
भवत्यस्य ब्रह्मवर्चसं कुले य एतमेवमात्मानं वैश्वानर-
मुपास्ते पादौ त्वेतावात्मन इति होवाच पादौ ते व्यस्ला-
स्येतां यन्मां नागमिष्य इति ॥ २ ॥

‘तुम अन्न भक्षण करते हो और प्रियका दर्शन करते हो । जो
कोई इस वैश्वानर आत्माकी इस प्रकार उपासना करता है वह अन्न
भक्षण करता है, प्रियका दर्शन करता है और उसके कुलमें अमृतान्न
होता है । किंतु यह आत्माके चरण ही हैं’ ऐसा उसने कहा और
यह भी कहा कि ‘यदि तुम मेरे पास न आते तो तुम्हारे चरण शिथिल
हो जाते’ ॥ २ ॥

अथ होवाचोद्दालकमित्यादि
समानम् । पृथिवीमेव भगवो
राजन्निति होवाच । एष वै
प्रतिष्ठा पादौ वैश्वानरस्य । पादौ
ते व्यम्लास्येतां विम्लानावभ-
विष्यतां श्लथीभूतौ यन्मां
नागमिष्य इति ॥ १-२ ॥

‘फिर उद्दालकसे कहा’ इत्यादि
अर्थ पूर्ववत् है । [उद्दालकने कहा—]
‘हे पूज्य राजन् ! मैं पृथिवीकी ही
उपासना करता हूँ ।’ [राजा
बोला—] ‘यह निश्चय ही वैश्वानर
आत्माकी प्रतिष्ठा यानी उसके चरण
हैं । यदि तुम मेरे पास न आते तो
तुम्हारे चरण विशेषरूपसे म्लान
अर्थात् शिथिल हो जाते’ ॥ १-२ ॥

—:ॐ:—

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि पञ्चमाध्याये
सप्तदशखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥ १७ ॥



अष्टादश खण्ड

—❀❀❀—

अश्वपतिका उपदेश—वैश्वानरकी समस्तोपासनाका फल

तान्होवाचैते वै खलु यूयं पृथगिवेममात्मानं
वैश्वानरं विद्वांसोऽन्नमत्थ यस्त्वेतमेवं प्रादेशमात्रम-
भिविमानमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते स सर्वेषु लोकेषु
सर्वेषु भूतेषु सर्वज्वात्मस्वन्नमत्ति ॥ १ ॥

राजाने उनमे कहा—‘तुम ये सब लोग इस वैश्वानर आत्माको
अलग-सा जानकर अन्न भक्षण करते हो। जो कोई ‘यही मैं हूँ’ इस
प्रकार अभिमानका विषय होनेवाले इस प्रादेशमात्र वैश्वानर आत्माकी
उपासना करता है वह समस्त लोकोंमें, समस्त प्राणियोंमें और समस्त
आत्माओंमें अन्न भक्षण करता है’ ॥ १ ॥

तान्यथोक्तवैश्वानरदर्शनवतो
होवाच—एते यूयम्, वै खल्वित्य-
नर्थकौ, यूयं पृथगिवापृथक्सन्त-
मिममेकं वैश्वानरमात्मानं विद्वांसोऽ-
न्नमत्थ, परिच्छिन्नात्मबुद्धये-
त्येतत्—हस्तिदर्शन इव जात्यन्धाः॥

यहाँ ‘वै’ और ‘खलु’ ये दो
निपात अर्थशून्य हैं। उन उपयुक्त
वैश्वानर दृष्टिवालोंसे राजाने कहा—
ये तुमलोग अपनेसे अभिन्न होनेपर
भी इस वैश्वानर आत्माको पृथक्-
सा जानकर अन्न भक्षण करते हो।
तात्पर्य यह है कि जन्मान्ध पुरुषों-
के हस्तिदर्शनके समान*तुम परि-
च्छिन्न आत्मबुद्धिसे उसे जानते हो।

* अर्थात् जिस प्रकार कुछ जन्मान्ध, जिन्होंने हाथीको कभी नहीं देखा,
उसके आकारका अनुमान करने लगे तो उनमेंसे जा पुरुष हाथीके सूँड, शिर,
वान अथवा टाँग आदि जिस अवयवका स्पर्श करता है वह उसे ही हाथीका
समग्र रूप समझने लगता है, उसी प्रकार तुम सबकी भी वैश्वानरके अवयवोंमें
समग्र वैश्वानरबुद्धि हो रही है।

यस्त्वेतमेवं यथोक्तावयवैर्द्युमूर्धा-
दिभिः पृथिवीपादान्तैर्विशिष्ट-
मेकं प्रादेशमात्रम्, प्रादेशैर्द्युमूर्धा-
दिभिः पृथिवीपादान्तैरध्यात्मं
मीयते ज्ञायत इति प्रादेशमात्रम् ।
सुखादिषु वा करणेष्वत्तत्त्वेन
मीयत इति प्रादेशमात्रः । द्युलो-
कादिपृथिव्यन्तप्रदेशपरिमाणो वा
प्रादेशमात्रः । प्रकर्षेण शास्त्रेणा-
दिश्यन्त इति प्रादेशा द्युलोका-
दय एव तावत्परिमाणः प्रादेश-
मात्रः ।

शाखान्तरे तु मूर्धादिश्चिबुक-
प्रतिष्ठ इति प्रादेशमात्रं कल्प-
यन्ति, इह तु न तथाभिप्रेतः,
'तस्य ह वा एतस्यात्मनः' इत्या-
द्युपसंहारात् ।

प्रत्यगात्मतयामिविमीयतेऽह-
मिति ज्ञायत इत्यभिविमानस्तमेत-

किंतु जो कोई द्युलोकरूप मस्तकसे
लेकर पृथिवीरूप पादपर्यन्त इन
पूर्वोक्त अवयवोंसे युक्त एक प्रादेश-
मात्र—जो प्रत्यगात्मा में ही द्युमूर्धासे
लेकर पृथिवीपादपर्यन्त प्रादेशोंद्वारा
मित होता है अर्थात् जाना जाता
है, उस प्रादेशमात्र आत्मा की
[उपासना करता है] । अथवा मुख
आदि करणों में भोक्ता रूपसे मित
होता है इसलिये प्रादेशमात्र है ।
या द्युलोकसे लेकर पृथिवीपर्यन्त
प्रदेश ही उसका परिमाण है इस-
लिये प्रादेशमात्र है । अथवा शास्त्र-
द्वारा प्रकर्षसे आदिष्ट होते हैं इस-
लिये द्युलोक आदि प्रादेश हैं उतने
ही परिमाणवाला होनेसे प्रादेश-
मात्र है ।

अन्य शाखा में तो मूर्धासे लेकर
चिबुकपर्यन्त प्रतिष्ठित है इसलिये
उसे प्रादेशमात्र कल्पित करते हैं,
किंतु यहाँ वही इस प्रकार
अभिप्रेत नहीं है, क्योंकि 'उस इस
आत्मा का [द्युलोक ही मूर्धा है]'
इत्यादि [सार्वार्थ्य-] रूपसे उप-
संहार किया गया है ।

वह प्रत्यगात्मरूपसे अभिविमान
किया जाता है अर्थात् 'मैं' इस
प्रकार जाना जाता है; इसलिये
अभिविमान है, उस इस वक्षानर

‘मात्मानं वैश्वानरम्—विश्वान्नरान्न-
यति पुण्यपापानुरूपां गतिं सर्वा-
त्मैष ईश्वरो वैश्वानरो विश्वो नर
एव वा सर्वात्मत्वाद्, विश्वैर्वा
नरैः प्रत्यगात्मतया प्रविभज्य
नीयत इति वैश्वानरस्तमेवमुपा-
स्ते यः, सोऽद्भन्नादीः सर्वेषु लो-
केषु द्युलोकादिषु सर्वेषु भूतेषु
चराचरेषु सर्वेष्व्वात्मसु शरीरे
न्द्रियमनोबुद्धिषु तेषु ह्यात्मक-
ल्पनाव्यपदेशः प्राणिनाम्, अन्न-
मत्ति, वैश्वानरवित्सर्वात्मा सन्न-
न्नमत्ति, न यथाज्ञः पिण्डमा-
त्राभिमानः सन्नित्यर्थः ॥ १ ॥

आत्माकी—यह सर्वात्मा ईश्वर
सम्पूर्ण नरोको पुण्य-पापानुरूप
गतिको ले जाता है इसलिये, अथवा
सर्वात्मा होनेके कारण विश्व (सर्व)
नरस्वरूप है इसलिये ‘वैश्वानर’ है,
या समस्त नरोंद्वारा अपने प्रत्यगात्म-
रूपसे विभक्त करके ले जाया जाता
है इसलिये ‘वैश्वानर’ है—उसकी जो
इस प्रकार उपासना करता है वह अन्न
भक्षण करता हुआ अन्नादी (अन्न
खानेवाला) होता है, द्युलोकादि समस्त
लोकोमें, सम्पूर्ण चराचर भूतोंमें तथा
शरीर, इन्द्रिय, मन और बुद्धिरूप
समस्त आत्माओंमें—क्योंकि इन्हींमें
प्राणियोंकी आत्मकल्पनाका निर्देश
किया जाता है—अन्न भक्षण करता
है। तात्पर्य यह है कि वैश्वानरवेत्ता
सर्वात्मा होकर अन्न भक्षण करता
है अज्ञानियोंके समान पिण्डमात्रमें
अभिमान करके अन्न नहीं खाता। १।

—❀ ❀—

वैश्वानरका माङ्गोपाङ्ग स्वरूप

कस्मादेवम् ? यस्मात्— | ऐसा क्यों है ? क्योंकि—

तस्य ह वा एतस्यात्मनो वैश्वानरस्य मूर्ध्व सुते-
जाश्चक्षुर्विश्वरूपः प्राणः पृथग्वत्मात्मा संदेहो बहुलो
वस्तिरेव रयिः पृथिव्येव पादावुर एव वेदिर्लोमानि वह्नि-
हृदयं गार्हपत्यो मनोऽन्वाहार्यपचन आस्यमाहवनीयः ॥ २ ॥

उस इस वैश्वानर आत्माका मस्तक ही सुतेजा (द्युलोक) है, चक्षु विश्वरूप (सूर्य) है, प्राण पृथग्वर्त्मा (वायु) है, देहका मध्यभाग बहुल (आकाश) है, वस्ति ही रयि (जल) है, पृथिवी ही दोनों चरण है, वक्षःस्थल वेदी है, लोम दर्भ है, हृदय गार्हपत्याग्नि है, मन अन्वाहार्यपचन है और मुख आहवनीय है ॥ २ ॥

तस्य ह वै प्रकृतस्यैवैतस्या-
त्मनो वैश्वानरस्य मूर्धैव सुतेजा-
श्चक्षुर्विश्वरूपः प्राणः पृथग्वर्त्मात्मा
संदेहो बहुलो वस्तिरेव रयिः
पृथिव्येव पादौ । अथवा विध्य-
र्थमेतद्वचनमेवमुपास्य इति ।

अथेदानीं वैश्वानरविदो भो-
जनेऽग्निहोत्रं संपिपादयिसन्नाह-
एतस्य वैश्वानरस्य भोक्तुर एव
वेदिराकारसामान्यात् । लोमानि
वह्निर्वेद्यामिवोरसि लोमान्यास्ती-
र्णानि दृश्यन्ते । हृदयं गार्हपत्यो
हृदयाद्धि मनः प्रणीतमिवानन्त-
रीभवत्यतोऽन्वाहार्यपचनोऽग्निर्म-
नः । आस्यं मुखमाहवनीय
इवाहवनीयो हूयतेऽस्मिन्नन्त-
मिति ॥ २ ॥

उस इस प्रकृत वैश्वानर आत्मा-
का मस्तक ही सुतेजा है, चक्षु
विश्वरूप है, प्राण पृथग्वर्त्मारूप
वायु है, शरीरका मध्यभाग बहुल
है, वस्ति ही रयि है और पृथिवी
ही चरण हैं । अथवा यह वाक्य
विधिके लिये है; अर्थात् इस प्रकार
उसकी उपासना करनी चाहिये ।

अब इससे आगे वैश्वानरवेत्ताके
भोजनमें अग्निहोत्रका निश्चय करने-
की इच्छासे राजा कहता है—इस
वैश्वानर यानी भोक्ताका वक्षःस्थल
ही आकारमें समान होनेके कारण
वेदी है, लोम कुशाएँ हैं क्योंकि
वेदीमें बिछे हुए कुशोंके समान वे
वक्षःस्थलपर बिछे हुए दिखायी देते
हैं, हृदय गार्हपत्याग्नि है क्योंकि
मन हृदयसे ही उत्पन्न-सा होकर
उसका अन्तर्वर्ती होता है, इसीलिये
मन अन्वाहार्यपचन अग्नि है तथा
आस्य—मुख आहवनीयाग्निके
समान आहवनीय है क्योंकि इसमें
अन्नका हवन होता है ॥ २ ॥

—:०:—

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि पञ्चमाध्याये
अष्टादशखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥ १८ ॥

—:ॐ:—

एकोनविंश खण्ड

—०:—

भोजनकी अग्निहोत्रत्वसिद्धिके लिये 'प्राणाय स्वाहा' इस

पहली आहुतिका वर्णन

तद्यज्ञं प्रथममागच्छेत्तद्धोमीयं स यां प्रथमा-
माहुतिं जुहुयात्तां जुहुयात्प्राणाय स्वाहेति प्राणस्तृ-
प्यति ॥ १ ॥

अतः जो अन्न पहले आवे, उसका हवन करना चाहिये, उस
समय वह भोक्ता जो पहली आहुति दे उसे 'प्राणाय स्वाहा' ऐसा कहकर
दे। इस प्रकार प्राण तृप्त होता है ॥ १ ॥

तत्तत्रैवं सति यद्वक्तं भोजन-
काल आगच्छेद्भोजनार्थम्, तद्धो-
मीयं तद्धोतव्यम्, अग्निहोत्रसंपन्मा-
त्रस्य विवक्षितत्वान्नाग्निहोत्राङ्गे-
तिकर्तव्यताप्राप्तिरिह; स भोक्ता
यां प्रथमामाहुतिं जुहुयात्तां कथं
जुहुयात्? इत्याह—प्राणाय स्वाहे-
त्यनेन मन्त्रेणाहुतिशब्दादवदा-
नप्रमाणमन्नं प्रक्षिपेदित्यर्थः।
तेन प्राणस्तृप्यति ॥ १ ॥

अतः ऐसा होनेके कारण
भोजनके समय जो भात (अन्न)
आवे उससे हवन करना चाहिये।
यहाँ अग्निहोत्रकी कल्पनामात्र
विवक्षित है इसलिये अग्निहोत्रकी
अङ्गभूत इतिकर्तव्यता (सहकारी
साधनो) की प्राप्ति नहीं है। वह
भोक्ता जो पहली आहुति दे उसे
किस प्रकार दे ? सो श्रुति
बतलाती है—'प्राणाय स्वाहा'
इस मन्त्रसे, यहाँ 'आहुति' शब्द
होनेके कारण अवदानप्रमाण
(मिलना कि आहुतिमें विहित है
उतना) अन्न [मुखमें] डाले—ऐसा
इसका तात्पर्य है। उससे प्राण
तृप्त होता है ॥ १ ॥

प्राणे तृप्यति चक्षुस्तृप्यति चक्षुषि तृप्यत्यादित्य-
स्तृप्यत्यादित्ये तृप्यति द्यौस्तृप्यति दिवि तृप्यन्त्यां
यत्किं च द्यौश्चादित्यश्चाधितिष्ठतस्तृप्यति तस्यानु
तृप्तिं तृप्यति प्रजया पशुभिरन्नाद्येन तेजसा ब्रह्मवर्च-
सेनेति ॥ २ ॥

प्राणके तृप्त होनेपर नेत्रेन्द्रिय तृप्त होती है, नेत्रेन्द्रियके तृप्त होनेपर सूर्य तृप्त होता है, सूर्यके तृप्त होनेपर द्युलोक तृप्त होता है तथा द्युलोक-
के तृप्त होनेपर जिस किसीपर द्युलोक और आदित्य (स्वामिभावसे)
अधिष्ठित हैं वह तृप्त होता है और उसकी तृप्ति होनेपर स्वयं भोक्ता
प्रजा, पशु, अन्नाद्य, तेज और ब्रह्मतेजके द्वारा तृप्त होता है ॥ २ ॥

प्राणे तृप्यति चक्षुस्तृप्यति,
चक्षुरादित्यो द्यौश्चेत्यादि तृप्यति
यच्चान्यद्द्यौश्चादित्यश्च स्वामि-
त्वेनाधितिष्ठतस्तच्च तृप्यति, तस्य
तृप्तिमनु स्वयं भुञ्जानस्तृप्यत्येवं
प्रत्यक्षम् । किञ्च प्रजादिभिश्च ।
तेजः शरीरस्था दीप्तिः, उज्ज्व-
लत्वं प्रागल्भ्यं वा; ब्रह्मवर्चसं
वृत्तस्वाध्यायनिमित्तं तेजः ॥२॥

प्राणके तृप्त होनेपर नेत्रेन्द्रिय
तृप्त होती है, इस प्रकार नेत्रेन्द्रिय,
आदित्य, द्युलोक इत्यादि तृप्त होते
हैं तथा और भी जिस किसीपर
द्युलोक और आदित्य स्वामिभावसे
अधिष्ठित हैं वह सब तृप्त होता है ।
तथा उसकी तृप्तिके पश्चात् स्वयं
भोजन करनेवाला भी तृप्त होता
है—यह तो प्रत्यक्ष ही है । यही
नहीं, भोक्ता प्रजादिके द्वारा भी
तृप्त होता है । शरीरस्थ दीप्ति,
उज्ज्वलता अथवा प्रगल्भताका
नाम 'तेज' है तथा सदाचार और
स्वाध्यायके कारण होनेवाला तेज
'ब्रह्मतेज' है ॥ २ ॥

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि

पञ्चमाध्याये

एकोनविंशखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥ १८ ॥

विंश खण्ड

—❀❀—

‘व्यानाय स्वाहा’ इस दूसरी आहुतिका वर्णन

अथ यां द्वितीयां जुहुयाद्व्यानाय स्वाहेति
व्यानस्तृप्यति ॥ १ ॥ व्याने तृप्यति श्रोत्रं तृप्यति
श्रोत्रे तृप्यति चन्द्रमास्तृप्यति चन्द्रमसि तृप्यति
दिशस्तृप्यन्ति दिक्षु तृप्यन्तीषु यत्किं च दिशश्च
चन्द्रमाश्चाधितिष्ठन्ति तत्तृप्यति तस्यानु तृप्तिं तृप्यति
प्रजया पशुभिरन्नाद्येन तेजसा ब्रह्मवर्चसेनेति ॥ २ ॥

तत्पश्चात् जो दूसरी आहुति दे उसे ‘व्यानाय स्वाहा’ ऐसा
कहकर देना चाहिये । इसमें व्यान तृप्त होता है ॥ १ ॥ व्यानके तृप्त
होनेपर श्रोत्रेन्द्रिय तृप्त होती है, श्रोत्रके तृप्त होनेपर चन्द्रमा तृप्त होता
है, चन्द्रमाके तृप्त होनेपर दिशाएं तृप्त होती हैं तथा दिशाओंके तृप्त
होनेपर जिस किसीपर चन्द्रमा और दिशाएं [स्वामिभावसे]
अधिष्ठित हैं वह तृप्त होता है । उसकी तृप्तिके पश्चात् वह भोक्ता प्रजा
पशु, अन्नाद्य, तेज और ब्रह्मतेजके द्वारा तृप्त होता है ॥ २ ॥

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि पञ्चमाध्याये
विंशखण्डः सम्पूर्णः ॥ २० ॥

—❀❀—

एकविंश खण्ड

—❀—

‘अपानाय स्वाहा’ इस तीसरी आहुतिका वर्णन

अथ यां तृतीयां जुहुयात्तां जुहुयादपानाय स्वा-
हेत्यपानस्तृप्यति ॥ १ ॥ अपाने तृप्यति वाक्तृप्यति
वाचि तृप्यन्त्यामग्निस्तृप्यत्यग्नौ तृप्यति पृथिवी तृप्यति
पृथिव्यां तृप्यन्त्यां यत्किं च पृथिवी चाग्निश्चाधितिष्ठ-
तस्तृप्यति तस्यानु तृप्तिं तृप्यति प्रजया पशुभिरन्ना-
द्येन तेजसा ब्रह्मवर्चसेनेति ॥ २ ॥

फिर जो तीसरी आहुति दे उसे ‘अपानाय स्वाहा’ ऐसा कहकर देना चाहिये; इससे अपान तृप्त होता है ॥ १ ॥ अपानके तृप्त होनेपर वागिन्द्रिय तृप्त होती है, वाक्के तृप्त होनेपर अग्नि तृप्त होता है, अग्निके तृप्त होनेपर पृथिवी तृप्त होती है तथा पृथिवीके तृप्त होनेपर जिस किसीपर पृथिवी और अग्नि [स्वामिभावसे] अविच्छिन्न हैं वह तृप्त होता है, एवं उसकी तृप्तिके पश्चात् भोक्ता प्रजा, पशु, अन्नाद्य, तेज और ब्रह्मतेजके द्वारा तृप्त होता है ॥ २ ॥

—❀❀—

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि पञ्चमाध्याये
एकविंशखण्डः सम्पूर्णः ॥ २१ ॥

—❀—

द्वाविंश खण्ड

— . * : —

‘समानाय स्वाहा’ इस चौथी आहुतिका वर्णन

अथ यां चतुर्थीं जुहुयात्तां जुहुयात्समानाय स्वा-
हेति समानस्तृप्यति ॥ १ ॥ समाने तृप्यति मनस्तृप्यति
मनसि तृप्यति पर्जन्यस्तृप्यति पर्जन्ये तृप्यति विष्णु तृ-
प्यति विष्णुति तृप्यन्त्यां यत्किं च विष्णुच्च पर्जन्य-
श्चाधितिष्ठतस्तृप्यति तस्यानु तृप्तिं तृप्यति प्रजया
पशुभिरन्नाद्येन तेजसा ब्रह्मवर्चसेनेति ॥ २ ॥

तदनन्तर जो चौथी आहुति दे उसे ‘समानाय स्वाहा’ ऐसा कहकर
देना चाहिये, इससे समान तृप्त होता है ॥ १ ॥ समानके तृप्त होनेपर
मन तृप्त होता है, मनके तृप्त होनेपर पर्जन्य तृप्त होता है, पर्जन्यके
तृप्त होनेपर विष्णु तृप्त होती है तथा विष्णुके तृप्त होनेपर जिस किसी-
के ऊपर विष्णु और पर्जन्य अधिष्ठित हैं वह तृप्त होता है, एवं उसकी
तृप्तिके अनन्तर भोक्ता प्रजा, पशु, अन्नाद्य, तेज और ब्रह्मतेजके द्वारा
तृप्त होता है ॥ २ ॥

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि पञ्चमाध्याये
द्वाविंशखण्डः सम्पूर्णः ॥ २२ ॥

त्रयोविंश खण्ड

ॐ:०:ॐ

‘उदानाय स्वाहा’ इस पाँचवीं आहुतिका वर्णन

अथ यां पञ्चमीं जुहुयात्तां जुहुयादुदानाय स्वाहे-
त्युदानस्तृप्यति ॥१॥ उदाने तृप्यति त्वक्तृप्यति
त्वचि तृप्यन्त्यां वायुस्तृप्यति वायौ तृप्यत्याकाशस्तृ-
प्यत्याकाशे तृप्यति यत्किं च वायुश्चाकाशश्चाधितिष्ठ-
तस्तत्तृप्यति तस्यानु तृप्तिं तृप्यति प्रजया पशुभिर-
न्नाथेन तेजसा ब्रह्मवर्चसेनेति ॥ २ ॥

फिर जो पाँचवीं आहुति दे उसे ‘उदानाय स्वाहा’ ऐसा कहकर देना चाहिये, इससे उदान तृप्त होता है ॥१॥ उदानके तृप्त होनेपर त्वचा तृप्त होती है, त्वचाके तृप्त होनेपर वायु तृप्त होता है, वायुके तृप्त होनेपर आकाश तृप्त होता है तथा आकाशके तृप्त होनेपर जिस किसीपर वायु और आकाश [स्वामिभावसे] अधिष्ठित हैं वह तृप्त होता है, और उसकी तृप्तिके पश्चात् स्वयं भोक्ता प्रजा, पशु, अन्नाद्य, तेज और ब्रह्मतेजके द्वारा तृप्त होता है ॥ २ ॥

अथ यां द्वितीयां तृतीयां | ‘अथ यां द्वितीयां तृतीयां चतुर्थीं
चतुर्थीं पञ्चमीमिति समानम् | पञ्चमीम्’ इत्यादि श्रुतियोंका अर्थ
॥५॥ २०—५ । २३॥ : समान है ॥ ५। २०—५ । २३ ॥

— ० —

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि पञ्चसाध्याये
त्रयोविंशखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥ २३ ॥

— ० —

चतुर्विंश खण्ड

अविद्वान्के हवनका स्वल्प

स य इदमविद्वानग्निहोत्रं जुहोति यथाङ्गारानपोह्य
भस्मनि जुहुयात्तादृक्तस्स्यात् ॥ १ ॥

वह जो कि इस वैश्वानरविद्याको न जानकर हवन करता है
उसका वह हवन ऐसा है, जैसे अङ्गारोंको हटाकर भस्ममें
हवन करे ॥ १ ॥

स यः कथिदिदं वैश्वानर-
दर्शनं यथोक्तमविद्वान्सन्नग्निहोत्रं
प्रसिद्धं जुहोति, यथाङ्गारानाहुति-
योग्यानपोह्यानाहुतिस्थाने भस्मनि
जुहुयात्, तादृक् तत्तुल्यं तस्य
तदग्निहोत्रहवनं स्याद्वैश्वानर-
विदोऽग्निहोत्रमपेक्ष्येति प्रसिद्धा-
ग्निहोत्रनिन्दया वैश्वानरविदोऽ-
ग्निहोत्रं स्तूयते ॥ १ ॥

वह, जो कोई कि इस उपयुक्त
वैश्वानर-विद्याको न जाननेवाला
होकर ही लोकप्रसिद्ध अग्निहोत्र
करता है उसका वह हवन वैश्वानरो-
पासकके अग्निहोत्रकी अपेक्षा ऐसा
है अर्थात् इसके सदृश है जैसे कि
आहुतियोग्य अङ्गारोंको हटाकर
कोई आहुति न देनेयोग्य स्थान—
भस्ममें आहुति दे। इस प्रकार प्रसिद्ध
अग्निहोत्रको निन्दाद्वारा वैश्वानरो-
पासकके अग्निहोत्रकी स्तुति की
जाती है ॥ १ ॥

— ❧ —

विद्वान्के हवनका फल

अतश्चैतद्विशिष्टमग्निहोत्रम् ।
कथम् ?

इसलिये भी यह विशिष्ट अग्नि-
होत्र है; किसलिये—

अथ य एतदेवं विद्वानग्निहोत्रं जुहोति तस्य सर्वेषु
लोकेषु सर्वेषु भूतेषु सर्वेष्व्वात्मसु हुतं भवति ॥ २ ॥

क्योंकि जो इस (वैश्वानर) को इस प्रकार जाननेवाला पुरुष
अग्निहोत्र करता है उसका समस्त लोक, सारे भूत और सम्पूर्ण
आत्माओंमें हवन हो जाता है ॥ २ ॥

अथ य एतदेवं विद्वानग्निहोत्रं
जुहोति तस्य यथोक्तवैश्वानर-
विज्ञानवतः सर्वेषु लोकेष्वित्याद्यु-
क्तार्थम् । हुतमन्नमन्तीत्यनयोरे-
कार्थत्वात् ॥ २ ॥

क्योंकि जो इसे इस प्रकार
जाननेवाला पुरुष अग्निहोत्र करता
है उस उपर्युक्त वैश्वानर विद्यावान्-
का 'सर्वेषु लोकेषु' इत्यादि शब्दोंका
अर्थ पहले (छा० ५ । १८ । १ के
भाष्यमें) कहा जा चुका है, क्योंकि
यहाँके 'हुतम्' और वहाँके 'अन्नम्
अग्नि' इन दोनों पदोंका एक ही
अर्थ है ॥ २ ॥

—: * :—

किं च—

तथा—

तद्यथेषीकातूलमग्नौ प्रोतं प्रदूयेतैव ५ हास्य सर्वे
पाप्मानः प्रदूयन्ते य एतदेवं विद्वानग्निहोत्रं जुहोति ॥ ३ ॥

इस विषयमें यह दृष्टान्त भी है—जिस प्रकार सींकका अग्रभाग
अग्निमें घुसा देनेसे तत्काल जल जाता है उसी प्रकार जो इस प्रकार
जाननेवाला होकर अग्निहोत्र करता है उसके समस्त पाप भस्म
हो जाते हैं ॥ ३ ॥

तद्यथेषीकायास्तूलमग्रमग्नौ
प्रोतं प्रक्षिप्तं प्रदूयेत प्रदह्येत

इस विषयमें यह दृष्टान्त है—जिस
प्रकार सींकका तूल—अग्रभाग अग्नि-

क्षिप्रमेवं हास्य विदुषः सर्वात्म- मे डालनेपर तुरन्त ही जल जाता
 भृतस्य सर्वाज्ञानामत्तुः सर्वे निर- है उसी प्रकार सबके अन्तरात्मभूत
 वशिष्टाः पाप्मानो धर्माधर्माख्या और समस्त अज्ञोंके भोक्ता इस
 अनेकजन्मसञ्चिता इह च विद्वान्के अनेको जन्मोमे सचित
 प्राग्ज्ञानोत्पत्तेर्ज्ञानसहभाविनश्च हुए तथा इस जन्ममे ज्ञानोत्पत्तिसे
 प्रदूयन्ते प्रदहोरन्वर्तमानशरीरा- पूर्व और ज्ञानके साथ-साथ होने-
 रम्भकपाप्मवर्जम्; लक्ष्यं प्रति वाले धर्माधर्मसंज्ञक समस्त—
 मुक्तेष्वत्प्रवृत्तफलत्वात्तस्य न निःशेष पाप दग्ध हो जाते हैं,
 दाहः । य एतदेवं विद्वानग्निहोत्रं केवल वर्तमान शरीरका आरम्भ
 जुहोति जुहुक्ते ॥ ३ ॥ करनेवाले पाप रह जाते हैं, क्योंकि
 लक्ष्यके प्रति छोड़े हुए बाणके
 समान फल देनेमे प्रवृत्त हो जानेके
 कारण उनका दाह नहीं हो
 सकता । जो इस (वैश्वानरदर्शन)
 को इस प्रकार जाननेवाला होकर
 हवन करता यात्री भोजन करता
 है [उसे उपर्युक्त फल मिलता
 है] ॥ ३ ॥

—:—

तस्मादु हैवंविद्यद्यपि चण्डालाद्योच्छिष्टं प्रयच्छे-
 दात्मनि हैवास्य तद्वैश्वानरे हुतस्यादिति तदेव
 श्लोकः ॥ ४ ॥

अतः वह इस प्रकार जाननेवाला यदि चाण्डालको उच्छिष्ट भी दे
 तो भी उसका वह अन्न वैश्वानर आत्मामे ही हुत होगा । इस विषयमे
 यह मन्त्र है ॥ ४ ॥

स यद्यपि चण्डालाद्योच्छिष्टा- वह यद्यपि उच्छिष्टदानके
 नर्हापोच्छिष्टं प्रयच्छेदुच्छिष्टं अयोग्य चाण्डालको उच्छिष्ट भी दे
 दद्यात्प्रतिपिद्वमुच्छिष्टदानं यद्यपि अर्थात् प्रतिपिद्व उच्छिष्टदान भी

कुर्यादात्मनि हैवास्य च-
 एडालदेहस्थे वैश्वानरे तद्धृतं
 स्यान्नाधर्मनिमित्तमिति विद्यामेव
 स्तौति । तदेतस्मिन्स्तुत्यर्थे श्लोको
 मन्त्रोऽप्येष भवति ॥ ४ ॥

करे तो भी वह चाण्डालके देहमें
 स्थित वैश्वानर आत्मामें ही हुत
 होगा, अधर्मका हेतु नहीं होगा—
 ऐसा कहकर श्रुति विद्याकी ही स्तुति
 करती है । उस इस स्तुतिके विषयमें
 यह श्लोक यानी मन्त्र भी है ॥४॥

—::—

यथेह क्षुधिता बाला मातरं पर्युपासत एव५ सर्वाणि
 भूतान्यग्निहोत्रमुपासत इत्यग्निहोत्रमुपासत इति ॥ ५ ॥

जिस प्रकार इस लोकमें भूखे बालक सब प्रकार माताकी उपासना
 करते हैं उसी प्रकार सम्पूर्ण प्राणी इस जानीके भोजनरूप अग्निहोत्रकी
 उपासना करते हैं, अग्निहोत्रकी उपासना करते हैं ॥ ५ ॥

यथेह लोके क्षुधिता बुभुक्षि-
 ता बाला मातरं पर्युपासते कदा
 नो मातान्नं प्रयच्छतीति, एवं सर्वा-
 णि भूतान्यन्नादान्येवंविदोऽग्नि-
 होत्रं भोजनमुपासते कदा न्वमौ
 भोक्ष्यत इति; जगत्सर्वं विद्वद्भो-
 जनेन तृप्तं भवतीत्यर्थः । द्विरु-
 क्तिरध्यायपरिसमाप्त्यर्था ॥ ५ ॥

जिस प्रकार इस लोकमें
 क्षुधित—भूखे बालक सब प्रकार
 माताकी उपासना (प्रतीक्षा) करते
 हैं कि माता हमें कब अन्न देगी ?
 उसी प्रकार अन्न भक्षण करनेवाले
 समस्त प्राणी इस प्रकार जानने-
 वालेके अग्निहोत्र अर्थात् भोजनकी
 उपासना करते हैं कि यह कब
 भोजन करेगा, क्योंकि विद्वान्के
 भोजन करनेसे सारा जगत् तृप्त
 होता है—यह इसका तात्पर्य है ।
 यहाँ जो द्विरुक्ति है वह अध्यायकी
 समाप्तिके लिये है ॥ ५ ॥

—ॐ—

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि पञ्चमाध्याये

चतुर्विंशखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥ २४ ॥

इति श्रीमद्गोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यस्य परमहंसपरिव्राजकाचार्यस्य
 श्रीमच्छंकरभगवतः कृतौ छान्दोग्योपनिषद्भि-
 वरणो पञ्चमोऽध्यायः समाप्तः ॥ ५ ॥

षष्ठ अध्याय

—**—

प्रथम खण्ड

—*o*—

भारुणिका अपने पुत्र श्वेतकेतुके प्रति उपदेश

श्वेतकेतुर्हारीण्य आसेत्याद्य-

ध्यायसंबन्धः—‘सर्वं

पूर्वतः सम्बन्ध-

प्रदर्शनम्

खल्विदं ब्रह्म त-

ज्जलान्’ इत्युक्तम्, कथं तस्माज्ज

गदिदं जायते तस्मिन्नेव च

लीयतेऽनिति च तेनैवेत्येतद्वक्त-

व्यम् । अनन्तरं चैकस्मिन्मुखते

विदुषि सर्वं जगत्तप्तं भवतीत्यु-

क्तम्, तदेकत्वे सत्यात्मनः

सर्वभूतस्थस्य उपपद्यते नात्म-

भेदे । कथं च तदेकत्वमिति

तदर्थोऽयं षष्ठोऽध्याय आरम्भ्यते ।

पिताभुत्रारुणायिका विद्यायाः

सारिष्ठत्वप्रदर्शनार्था ।

‘श्वेतकेतुर्हारीण्य आस’ इत्यादि मन्त्रसे आरम्भ होनेवाले अध्यायका सम्बन्ध इस प्रकार है—ऊपर यह कहा जा चुका है कि ‘यह सब निश्चय ब्रह्म ही है तथा उसीसे उत्पन्न हुआ है, उसीमें लीन होने-वाला है और उसीमें चेष्टा कर रहा है’ । अब यह बतलाना है कि यह जगत् किस प्रकार उससे उत्पन्न होता है, कैसे उसीमें लीन होता है और किस तरह उसीके द्वारा चेष्टा कर रहा है ? अभी-अभी यह बतलाया गया है कि एक विद्वान्को भोजन करनेपर सारा ससार तृप्त हो जाता है । ऐसा सम्पूर्ण भूतोमें स्थित आत्माका एकत्व होनेपर ही हो सकता है, आत्माका भेद होनेपर नहीं हो सकता । उसका एकत्व किस प्रकार है ? इसीके लिये यह छठा अध्याय आरम्भ किया जाता है । यहाँ जो पिता और पुत्रकी आख्यायिका है वह इस विद्याका सारतमत्व प्रदर्शित करनेके लिये है ।

श्वेतकेतुर्हारुण्येय आस त५ह पितोवाच श्वेत-
केतो वस ब्रह्मचर्यम् । न वै सोम्यास्मत्कुलीनोऽननूच्य
ब्रह्मबन्धुरिव भवतीति ॥ १ ॥

अरुणका सुप्रसिद्ध पौत्र श्वेतकेतु था, उससे पिपाने कहा—‘हे श्वेतकेतो ! तू ब्रह्मचर्यवास कर; क्योंकि ‘हे सोम्य ! हमारे कुलमें उत्पन्न हुआ कोई पुरुष अध्ययन न करके ब्रह्मबन्धु-सा नहीं होता’ ॥ १ ॥

श्वेतकेतुरिति नामतो हेत्यैति-
ह्यार्थः आरुणेयोररुणस्य पौत्र
आस बभूव । तं पुत्रं हारुणिः
पिता योग्यं विद्याभाजनं मन्वा-
नस्तस्योपनयनकालात्ययं च
पश्यन्तुवाच—हे श्वेतकेतोऽनुरूपं
गुरुं कुलस्य नो गत्वा वस ब्रह्म-
चर्यम् । न चैतद्युक्तं यदस्मत्कु-
लीनो हे सोम्या ननूच्यानधीत्य
ब्रह्मबन्धुरिव भवतीति ब्राह्मणान्
बन्धून्व्यपदिशति न स्वयं
ब्राह्मणवृत्त इति ॥ १ ॥

‘श्वेतकेतु’ ऐसे नामवाला, ‘ह’
यह निपात ऐतिह्यका द्योतक है;
आरुणेय—अरुणका पौत्र था । उस
पुत्रसे पिता आरुणिने, उसे योग्य—
विद्याका पात्र जानकर और उसके
उपनयनसंस्कारके समयका अति-
क्रम होता देखकर, कहा—‘हे
श्वेतकेतो ! तू हमारे कुलके अनुरूप
गुरुके पास जाकर ब्रह्मचर्यवास
कर । हे सोम्य ! यह उचित नहीं
है कि हमारे कुलमें उत्पन्न होकर
कोई अध्ययन न करके ब्रह्मबन्धु-
सा हो जाय । जो ब्राह्मणोंको
अपना बन्धु बतलाया है किन्तु स्वयं
ब्राह्मणोंका आचरण नहीं करता
उसे ब्रह्मबन्धु कहते हैं ॥ १ ॥

तस्यातः प्रवासोऽनुमीयते
पितुः । येन स्वयं गुणवान्सन्पुत्रं
नोपनेष्यति ।

इस प्रसंगसे ऐसा अनुमान होता
है कि उसका पिता घरसे बाहर
जानेवाला है, इसीसे गुणवान्
होनेपर भी वह स्वयं पुत्रका
उपनयन नहीं करेगा ।

स ह द्वादशवर्ष उपेत्य चतुर्विंशतिवर्षः सर्वान्
वेदानधीत्य महामना अनूचानमानी स्तब्ध एयाय । तं ह
पितोवाच श्वेतकेतो यन्तु सोम्येदं महामना अनूचान-
मानी स्तब्धोऽस्युत तमादेशमप्राच्यः ॥ २ ॥

वह श्वेतकेतु बारह वर्षकी अवस्थामे उपनयन कराकर चौबीस वर्षका
होनेपर सम्पूर्ण वेदोंका अध्ययन कर अपनेको बड़ा बुद्धिमान् और
व्याख्या करनेवाला मानते हुए उद्दण्डभावसे घर लौटा । उससे पिताने
कहा—‘ह सोम्य । तू जो ऐसा महामना, पण्डितम्मन्य और अविनीत
है सो क्या तूने वह आदेश पूछा है ?’ ॥ २ ॥

स पित्रोक्तः श्वेतकेतुर्ह द्वाद-
शवर्षः सन्तुपेत्याचार्यावचतु-
र्विंशतिवर्षो बभूव, तावत्सर्वान्
वेदांश्चतुरोऽप्यधीत्य तदर्थं च
बुद्ध्वा महामना महद्गम्भीरं
मनो यस्यासममात्मानमन्यैर्य-
न्यमानं मनो यस्य सोऽयं महा-
मना अनूचानमान्यनूचानमा-
त्मानं मन्यत इत्येवंशीलो यः
सोऽनूचानमानी स्तब्धोऽप्रणत-
स्वभाव एयाय गृहम् ।

पिताके कहनेपर वह श्वेतकेतु
बारह वर्षकी अवस्थामे गुरुके समीप
जाकर जबतक कि चौबीस वर्षका
हुआ तबतक सम्पूर्ण वेदोंका अध्ययन
कर और उनका अर्थ समझकर
महामना—जिसका मन महान्
अर्थात् गम्भीर हो यानी जिसका मन
अपनेको दूसरोंके समान न समझने-
वाला हो उसे महामना कहते हैं,
अनूचानमानी—अपनेको बड़ा
प्रवक्ता माननेवाला अर्थात् जो ऐसे
स्वभाववाला हो उसे अनूचानमानी
कहते हैं, और स्तब्ध—अविनीत-
स्वभाव होकर घर लौटा ।

तमेवंभूतं हात्मनोजनुरूप-
शीलं स्तब्धं मानिनं पुत्रं दृष्ट्वा
पितोवाच सद्धर्मावितारचिकी-
र्षया । श्वेतकेतो यन्निवदं महा-
मना अनूचानमानी स्तब्धश्चासि
कस्तेऽतिशयः प्राप्त उपाध्या-
यात् ? उतापि तमादेशमादिश्यत
इत्यादेशः केवलशास्त्राचार्योप-
देशगम्यमित्येतत्, येन वा परं
ब्रह्मादिश्यते स आदेशस्तमप्रा-
क्ष्यः पृष्टवानस्याचार्यम् ॥ २ ॥

उस अपने पुत्रको इस प्रकारका
अर्थात् अपनेसे विपरीत स्वभाववाला,
उद्वण्ड और अभिमानी हुआ देखकर
उसमें सद्धर्मकी प्रवृत्ति करनेकी
इच्छासे पिताने कहा—‘हे श्वेत-
केतो ! तू जो ऐसा महामना,
अनूचानमानी और स्तब्ध हो रहा है
सो तुझे अपने उपाध्यायसे ऐसी क्या
विशेषता प्राप्त हो गयी है ? क्या
तूने वह आदेश पूछा है—जिसका
उपदेश किया जाता है उसे आदेश
कहते हैं; इससे यह सिद्ध होता है
कि ब्रह्म केवल शास्त्र और गुरुके
उपदेशसे ही ज्ञेय है । अथवा
जिसके द्वारा परब्रह्मका उपदेश
किया जाय उसे आदेश कहते हैं—
सो क्या तूने वह आचार्यसे
पूछा है—॥ २ ॥

—*—

तमादेशं विशिनष्टि—

उस आदेशके लिये श्रुति विशेषण
देती है—

येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातमिति ।
कथं नु भगवः स आदेशो भवतीति ॥ ३ ॥

‘जिसके द्वारा अश्रुत श्रुत हो जाता है, अमत मत हो जाता है और
अविज्ञात विशेषरूपसे ज्ञात हो जाता है ।’ [यह सुनकर श्वेतकेतुने
पूछा—] ‘भगवन् ! वह आदेश कैसा है ?’ ॥ ३ ॥



आरुणि ओर श्वेतकेतु

[पृष्ठ ५७६]

येनादेशेन श्रुतेनाश्रुतमप्यन्य-
च्छ्रुतं भवत्यमतं मतमतर्कितं
तर्कितं भवत्यविज्ञातं विज्ञातम-
निश्चितं निश्चितं भवतीति । स-
र्वानपि वेदानधीत्य सर्वं चान्य-
द्वेद्यमधिगम्याप्यकृतार्थ एव
भवति यावदात्मतत्त्वं न जाना-
तीत्याख्यायिकातोऽवगम्यते ।
तदेतदच्छ्रुतं श्रुत्वाह कथं न्वेतद-
प्रसिद्धमन्यविज्ञानेनान्यद्विज्ञातं
भवतीत्येवं मन्वानः पृच्छति कथं
तु केन प्रकारेण हे भगवः स
आदेशो भवतीति ॥ ३ ॥

‘जिस आदेशके द्वारा अन्य
बिना सुना हुआ भी सुना हुआ हो
जाता है, अमत अर्थात् बिना
विचार किया हुआ मत—विचारा
हुआ हो जाता है और अविज्ञात—
अनिश्चित विज्ञात—निश्चित हो
जाता है ।’ इस आख्यायिकासे
यह जाना जाता है कि समस्त
वेदोंका अध्ययन और अन्य सम्पूर्ण
ज्ञेय पदार्थोंका ज्ञान प्राप्त करने-
पर भी जबतक पुरुष आत्मतत्त्व-
को नहीं जानता, तबतक अकृतार्थ
ही रहता है । इस विचित्र
प्रश्नको सुनकर श्वेतकेतुने यह
सोचते हुए कि यह अप्रसिद्ध बात
कैसे हो सकती है कि अन्य वस्तुके
ज्ञानसे अन्य समस्त पदार्थोंका भी
ज्ञान हो जाय, कहा—‘हे भगवन् !
वह आदेश कैसा— किस प्रकारका
है ?’ ॥ ३ ॥

—:०:—

यथा स आदेशो भवति
तच्छृणु—

पिता—वह आदेश जिस प्रकार
है सो सुन—

यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं
स्याद्वाचारम्भणं विकारोनामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम् ॥ ४ ॥

हे सोम्य ! जिस प्रकार एक मृत्तिकाके पिण्डके द्वारा सम्पूर्ण मृन्मय पदार्थोंका ज्ञान हो जाता है कि विकार केवल वाणीके आश्रयभूत नाममात्र हैं, सत्य तो केवल मृत्तिका ही है ॥ ४ ॥

हे सोम्य यथा लोक एकेन
मृत्पिण्डेन करककुम्भादिकारण-
भूतेन विज्ञातेन सर्वमन्यत्तद्वि-
कारजातं मृन्मयं मृद्विकारजातं
विज्ञातं स्यात् ।

कथं मृत्पिण्डे कारणे विज्ञाते

कार्यमन्यद्विज्ञातं स्यात् ?

नैष दोषः कारणेनानन्य-

त्वात्कार्यस्य । यन्मन्यसे-

ऽन्यस्मिन्विज्ञातेऽन्यन्न ज्ञायत

इति, सत्यमेवं स्यात्, यद्यन्य-

त्कारणात्कार्यं स्यान्न त्वेवमन्य-

त्कारणात्कार्यम् ।

कथं तर्हीदं लोक इदं कारण-

मयमस्य विकार इति ?

शृणु; वाचारम्भणं वागा-

हे सोम्य ! लोकमें जिस प्रकार कमण्डलु और घट आदिके कारण-भूत एक मृत्पिण्डके ज्ञान लिये जानेपर ही उसका विकारजात सम्पूर्ण मृन्मय अर्थात् मृत्तिकाका कार्यसमूह ज्ञान लिया जाता है ।

शङ्का—मृत्तिकाके पिण्डरूप कारणका ज्ञान होनेपर अन्य कार्य-वर्गका ज्ञान कैसे हो सकता है ?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि कार्य अपने कारणसे अभिन्न होता है । तुम जो ऐसा मानते हो कि अन्यका ज्ञान होनेपर अन्य नहीं जाना जा सकता, सो यह बात उस समय तो ठीक होती जब कि कारणसे कार्य भिन्न होता, किंतु इस प्रकार कार्य अपने कारणसे भिन्न है नहीं ।

शङ्का—तो फिर लोकमें ऐसा क्यों कहा जाता है कि यह कारण है और यह इसका विकार है ?

समाधान—सुनो, यह वाचा-रम्भण—वागारम्भण अर्थात् वाणी-

रम्भणं वागालम्बनमित्येतत् । परही अवलम्बित है । कौन ? नाम-
 कोऽसौ ? विकारो नामधेयं स्वार्थे धेय विकार—‘नामधेय’ पदमें नाम
 धेयप्रत्ययः । वागालम्बनमात्रं शब्दसे स्वार्थमें ‘धेय’ प्रत्यय हुआ है ।
 नामैव केवलं न विकारो नाम वस्तुतः विकार नामकी कोई वस्तु
 वस्त्वस्ति परमार्थतो मृत्तिकेत्येव नहीं है, यह तो केवल वाणीपर
 मृत्तिकैव तु सत्यं वस्त्वस्ति ॥ ४ ॥ अवलम्बित नाममात्र ही है । सत्य
 वस्तु तो एकमात्र मृत्तिका ही है ॥४॥

यथा सोम्यैकेन लोहमणिना सर्वं लोहमयं विज्ञा-
 तस्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं लोहमित्येव
 सत्यम् ॥ ५ ॥

हे सोम्य ! जिस प्रकार एक लोहमणिका ज्ञान होनेपर सम्पूर्ण
 लोहमय (सुवर्णमय) पदार्थ जान लिये जाते हैं, क्योंकि विकार वाणीपर
 अवलम्बित नाममात्र है, सत्य केवल सुवर्ण ही है ॥ ५ ॥

यथा सोम्यैकेन लोहमणिना हे सोम्य ! जिस प्रकार एक
 सुवर्णपिण्डेन सर्वमन्यद्विकार- लोहमणि—सुवर्णपिण्डके द्वारा
 जातं कटकमुकुटकेयूरादि विज्ञातं अन्य कटक, मुकुट एव केयूरादि
 स्यात् । वाचारम्भणमित्यादि सारा विकारजात जान लिया जाता
 है ‘वाचारम्भणम्’ इत्यादि शब्दोंका
 समानम् ॥ ५ ॥ अर्थ पूर्ववत् है ॥ ५ ॥

यथा सोम्यैकेन नखनिकृन्तनेन सर्वं काष्णायसं
 विज्ञातस्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं कृष्णायसमि-
 त्येव सत्यमवसोम्य स आदेशो भवतीति ॥ ६ ॥

हे सोम्य ! जिस प्रकार एक नखकृन्तन (नहन्ना) के ज्ञानसे सम्पूर्ण लोहेके पदार्थ जान लिये जाते हैं, क्योंकि विकार वाणीपर अवलम्बित केवल नाममात्र है, सत्य केवल लोहा ही है; हे सोम्य ! ऐसा ही वह आदेश भी है ॥ ६ ॥

यथा सोम्यैकेन नखनिकृन्त-
नेनोपलक्षितेन कृष्णायसपिण्डे-
नेत्यर्थः, सर्वं काष्णायसं कृ-
ष्णायसविकारजातं विज्ञातं
स्यात्; समानमन्यत् । अनेक-
दृष्टान्तोपादानं दार्ष्टान्तिकानेक-
भेदानुगमार्थं दृढप्रतीत्यर्थं च,
एवं सोम्य स आदेशो यो
मयोक्तो भवति ॥ ६ ॥

‘हे सोम्य ! जिस प्रकार एक
नखकृन्तनसे अर्थात् उससे उपलक्षित
लोहपिण्डसे सम्पूर्ण काष्णायस—
लोहेका विकारसमूह जान लिया
जाता है । शेष सब पूर्ववत् है । यहाँ
जो अनेक दृष्टान्त लिये गये हैं वे
दार्ष्टान्तिके अनेक भेदोंका बोध और
दृढ प्रतीति करानेके लिये हैं—हे
सोम्य ! ऐसा ही वह आदेश है जो
कि मैंने कहा है’ ॥ ६ ॥

—*o*—

इत्युक्तवति पितर्याहेतरः —

पिताके इस प्रकार कहनेपर
दूसरा (श्वेतकेतु) बोला—

न वै नूनं भगवन्तस्त एतदवेदिषुर्यद्व्यथेतदवेदि-
ष्यन् कथं मे नावद्यन्निति भगवाऽस्त्वेव मे
तद्ब्रवीत्विति तथा सोम्येति होवाच ॥ ७ ॥

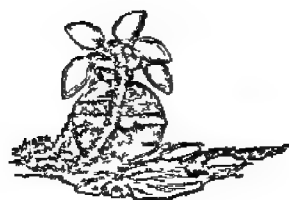
‘निश्चय ही वे मेरे पूज्य गुरुदेव इसे नहीं जानते थे । यदि वे जानते
तो मुझसे क्यों न कहते । अब आप ही मुझे वह बतलाइये ।’ तब
पिताने कहा—‘अच्छा, सोम्य ! बतलाता हूँ’ ॥ ७ ॥

न वै नूनं भगवन्तः पूजा-
वन्तो गुरवो मम ये त एतद्वद्भ-
वदुक्तं वस्तु नावेदिपुर्न विज्ञात-
वन्तो नूनम् । यद्यदि ह्यवेदि-
ष्यन्विदितवन्त एतद्वस्तु कथं मे
गुणवते भक्तायानुगताय नाव-
क्ष्यन्नोक्तवन्तस्तेनाहं मन्ये न
विदितवन्त इति । अवाच्यमपि
गुरोर्न्यग्भावमवादीत्युनर्गुरुकुलं
प्रति प्रेषणमयात् । अतो भगवां-
स्त्वेव मे मह्यं तद्वस्तु येन सर्व-
ज्ञत्वं ज्ञातेन मे स्यात्तद्वशीतु
कथयत्वित्युक्तः पितोवाच तथा-
स्तु सोम्येति ॥ ७ ॥

निश्चय ही, मेरे जो पूज्य गुरुदेव
ये, वे आपकी कही हुई इस बातको
नहीं जानते थे । यदि वे जानते
अर्थात् उन्हें इस बातका पता होता
तो मुझ गुणवान् भक्त एवं अपने
अनुगत शिष्यके प्रति क्यों न
कहते । इससे मैं समझता हूँ उन्हें
इसका पता नहीं था । कहने
योग्य न होनेपर भी उसने फिर
गुरुकुलको भेजे जानेके भयसे गुरुका
लघुत्व कह डाला । अतः अब
आप ही मेरे प्रति उस वस्तुका
वर्णन कीजिये जिसका ज्ञान होनेपर
मुझे सर्वज्ञत्व प्राप्त हो जाय । इस
प्रकार कहे जानेपर पिताने कहा—
'सोम्य ! अच्छा, ऐसा ही हो' ॥७॥



इतिच्छान्दोग्योपनिषदि पट्टाध्याये
प्रथमखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥ १ ॥



द्वितीय खण्ड

—:ॐ:—

अन्य पक्षके खण्डनपूर्वक जगत्की सद्रूपताका समर्थन

सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम् । तद्वैक
आहुरसदेवेदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयं तस्मादसतः
सज्जायत ॥ १ ॥

हे सोम्य ! आरम्भमें यह एकमात्र अद्वितीय सत् ही था । उसीके विषयमें किन्हींने ऐसा भी कहा कि आरम्भमें यह एकमात्र अद्वितीय असत् ही था । उस असत्से सत्की उत्पत्ति होती है ॥ १ ॥

सदेव सदित्यस्तितामात्रं वस्तु
सूक्ष्मं निर्विशेषं सर्वगतमेकं निरञ्जनं
निरवयवं विज्ञानं यदवगम्यते
सर्ववेदान्तेभ्यः । एवमशब्दो-
ज्वधारणार्थः । किं तदवधियत
इत्याह—इदं जगन्नामरूपक्रिया-
वद्विकृतमुपलभ्यते यत्तत्सदेवा-
सीदित्यासीच्छब्देन संबध्यते ।

कदा सदेवेदमासीदित्युच्यते ?

‘सदेव’—‘सत्’ यह अस्तित्व-
मात्र वस्तुका बोधक है, जो कि
सम्पूर्ण वेदान्तोंसे सूक्ष्म, निर्विशेष,
सर्वगत, एक, निरञ्जन, निरवयव
और विज्ञानस्वरूप जानी जाती है ।
‘एव’ शब्द निश्चयार्थक है । इससे
किस वस्तुका निश्चय किया जाता
है—यह [आरुणि] बतलाता है—
यह जो नामरूप एवं क्रियावान्
विकारी जगत् दिखायी देता है
‘सत्’ ही था—इस प्रकार ‘आसीत्’
(था) शब्दसे ‘सत्’ शब्दका
सम्बन्ध है ।

शङ्का—यह किस समय सत् ही
था—ऐसा कहा जाता है ?

अग्रे जगतः प्रागुत्पत्तेः ।

किं नेदानीमिदं सद्येनाग्र

आसीदिति विशेष्यते ?

न ।

कथं तर्हि विशेषणम् ?

इदानीमपीदं सदेव किं तु

नामरूपविशेषणव-

जगत सदैव

सन्मात्रत्वे सहेतु दिदंशब्दबुद्धि-

दृष्टान्तप्रदर्शनम्

विषयं चेतीदं च

भवति । प्रागुत्पत्तेस्त्वग्रे केवल-

सच्छब्दबुद्धिमात्रगम्यमेवेति

सदेवेदमग्र आसीदित्यवधार्यते ।

न हि प्रागुत्पत्तेर्नामवद्रूपवद्वेद-

मिति ग्रहीतुं शक्यं वस्तु सुप्त-

काल इव । यथा सुपुष्टादुत्थितः

सत्त्वमात्रमवगच्छति सुपुष्टे स-

न्मात्रमेव केवलं वस्त्विति तथा

प्रागुत्पत्तेरित्यभिप्रायः ।

समाधान—आगे अर्थात् जगत्की उत्पत्तिके पूर्व ।

शङ्का—तो क्या इस समय यह सत् नहीं है जो 'आरम्भमे था' इस प्रकार विशेषण दिया गया है ?

समाधान—नहीं, ऐसी बात नहीं है ।

शङ्का—तो फिर यह विशेषण क्यों दिया गया है ?

समाधान—इस समय भी यह सत् ही है, किंतु नामरूप विशेषण-युक्त तथा इदं शब्द और इदं बुद्धि-का विषय होनेके कारण 'इदम्' (यह) इस प्रकार भी निर्देश किया जाता है । किन्तु उत्पत्तिके पूर्व आरम्भमे केवल सत् शब्द और सद्बुद्धिका ही विषय होनेके कारण 'यह पहले सत् ही था' इस प्रकार निश्चय किया जाता है । सुपुष्टकाल-

के समान उत्पत्तिसे पूर्व यह नाम-युक्त अथवा रूपयुक्त है इस प्रकार वस्तुका ग्रहण नहीं किया जा सकता । जिस प्रकार सोनेसे उठा हुआ पुरुष वस्तुकी सत्तामात्रवा अनुभव करता है अर्थात् केवल इतना जानता है कि सुपुष्टिमे केवल सन्मान वस्तु थी, उसी प्रकार उत्पत्तिसे पूर्व जगत् था—ऐसा इसका अभिप्राय है ।

यथेदमुच्यते लोके पूर्वाह्णे
 घटादि सिसृक्षणा कुलालेन
 मृत्पिण्डं प्रसारितमुपलभ्य
 ग्रामान्तरं गत्वा प्रत्यागतोऽपराह्णे
 तत्रैव घटशरावाद्यनेकभेदभिन्नं
 कार्यमुपलभ्य सृदेवेदं घटशरा-
 वादि केवलं पूर्वाह्ण आसीदिति
 तथेहाप्युच्यते सदेवेदमग्र आसी-
 दिति । एकमेवेति, स्वकार्य-
 पतितमन्यन्नास्तीत्येकमेवेत्युच्य-
 ते । अद्वितीयमिति, मृद्व्यतिरे-
 केण; मृदो यथान्यद्घटाद्याका-
 रेण परिणमयितृकुलालादिनिमि-
 त्तकारणं दृष्टं तथा सद्व्यतिरेकेण
 सतः सहकारिकारणं द्वितीयं
 वस्त्वन्तरं प्राप्तं प्रतिषिध्यतेऽद्वि-
 तीयमिति, नास्य द्वितीयं वस्त्व-
 न्तरं विद्यत इत्यद्वितीयम् ।

जिस प्रकार लोकमें घटादि
 बनानेकी इच्छावाले कुम्हारद्वारा
 पूर्वाह्णमें मृत्तिकाके पिण्डको फैलाया
 हुआ देखकर कोई पुरुष किसी अन्य
 ग्राममें जाकर मध्याह्नोत्तरकालमें
 लौटनेपर उसी स्थानमें घट-शराव
 आदि अनेकों भेदोंवाले मृत्तिकाके
 कार्यको देखकर यह कहता है
 कि पूर्वाह्णमें ये घट-शरावादि केवल
 मृत्तिका ही थे उसी प्रकार यहाँ भी
 'यह आरम्भमें केवल सत् ही था'
 ऐसा कहा जाता है । यह एक ही
 था; अर्थात् अपने कार्यवर्गमें पतित
 कोई दूसरा नहीं था, इसलिये 'एक
 ही था' ऐसा कहा जाता है ।
 और अद्वितीय था; मृत्तिकासे
 अतिरिक्त [दूसरी वस्तु नहीं थी]
 जिस प्रकार मृत्तिकाको घटादि
 आकारमें परिणत करनेवाला कुलाल
 आदि निमित्तकारण देखा जाता है
 उसी प्रकार सत्से भिन्न सत्का
 सहकारी कारणरूप कोई अन्य
 पदार्थ प्राप्त होता है, उसका
 'अद्वितीय था' ऐसा कहकर प्रतिषेध
 किया जाता है । अर्थात् इससे
 भिन्न कोई दूसरी वस्तु नहीं थी,
 इसलिये यह अद्वितीय था ।

ननु वैशेषिकपक्षेऽपि सत्ता-
मानाधिकरणं सर्वस्योपपद्यते,
द्रव्यगुणादप्य सच्छब्दबुद्ध्यनु-
वृत्तेः; सद्द्रव्यं सन्गुणः सत्क-
र्मेत्यादिदर्शनात् ।

सत्यमेवं स्यादिदानाम्, प्रा-
वैशेषिककल्पितात् गुत्पत्तेस्तु नैवेदं
सतोऽत्र भेद- कार्यं सदेवासी-
प्रदर्शनम् दित्यभ्युपगम्यते
वैशेषिकैः; प्रागुत्पत्तेः कार्यस्या-
सत्त्वाभ्युपगमात् । न चैकमेवं
सद्वितीयं प्रागुत्पत्तेरिच्छन्ति ।
तस्माद्वैशेषिकपरिकल्पितात्सतो-
ऽन्यत्कारणमिदं सदुच्यते मृदा-
दिदृष्टान्तेभ्यः ।

तत्र हैतस्मिन्प्रागुत्पत्तेर्वस्तु-
वैना शक्यमतम् निरूपण एके वैना-
शिका आहुर्वस्तु
निरूपयन्तोऽसत्सदभावमात्रं प्रा-
गुत्पत्तेरिदं जगदेकमेवाग्रेऽद्विती-
यमासीदिति । सदभावमात्रं हि
प्रागुत्पत्तेस्तत्त्वं कल्पयन्ति

शङ्का-किन्तु सत्के साथ सबका
सामानाधिकरण्य तो वैशेषिक मतमे
भी सम्भव है; क्योंकि द्रव्य एवं
गुण आदिमें सत् शब्द और सद्-
बुद्धिकी अनुवृत्ति होती है; जैसा
कि 'सद् द्रव्यम्' 'सद् गुणः' एवं 'सत्
कर्म' इत्यादि प्रयोगोंमें देखा जाता है।

समाधान-ठीक है, वर्तमान
कालमें तो ऐसा ही है, किन्तु
उत्पत्तिसे पूर्व यह कार्य सत् ही
था—ऐसा वैशेषिक मतावलम्बियों-
को मान्य नहीं है, क्योंकि उत्पत्तिसे
पूर्व वे कार्यका असत्त्व स्वीकार
करते हैं । उत्पत्तिसे पूर्व एकमात्र
अद्वितीय सत् ही था—ऐसा मानना
उन्हे अभीष्ट नहीं है । अतः मृत्तिका
आदिके दृष्टान्तोंसे यह वैशेषिकोंद्वारा
परिकल्पित सत्की अपेक्षा अन्य
सत् कारण बतलाया जाता है ।

इस विषयमें अर्थात् उत्पत्तिसे
पूर्व वस्तुका निरूपण करनेमें एक
यानी वैनाशिक (बौद्ध) वस्तुका
निरूपण करते हुए कहते हैं—
'उत्पत्तिसे पूर्व आरम्भमें यह जगत्
एक अद्वितीय असत् अर्थात् सत्का
अभावमात्र ही था । बौद्ध लोग
उत्पत्तिसे पूर्व सत्के अभावमात्रको

बौद्धाः। न तु सत्प्रतिद्वन्द्वि वस्त्व-
न्तरमिच्छन्ति; यथा सच्चास-
दिति गृह्यमाणं यथाभूतं तद्विप-
रीतं तत्त्वं भवतीति नैयायिकाः।

न तु सदभावमात्रं प्रागुत्पत्ते-
वैनाशिकमत- इचेदभिप्रेतं वैना-
समीक्षणम् शिर्कैः, कथं प्रागु-
त्पत्तेरिदमासीदसदेकमेवाद्वितीयं
चेति कालसंवन्धः संख्यासंव-
न्धोऽद्वितीयत्वं चोच्यते तैः।

वाढं न युक्तं तेषां भावाभाव-
मात्रमभ्युपगच्छताम्। असत्त्व-
मात्रमभ्युपगमोऽप्ययुक्त एव,
अभ्युपगन्तुरनभ्युपगमानुपपत्तेः।
इदानीमभ्युपगन्ताभ्युपगम्यते न
प्रागुत्पत्तेरिति चेत् ? न; प्रागु-
त्पत्तेः सदभावस्य प्रमाणाभा-
वात्। प्रागुत्पत्तेरसदेवेति कल्प-
नानुपपत्तिः।

ही तत्त्व मानते हैं। वे सत्की
विरोधिनी कोई अन्य वस्तु नहीं
मानते; जैसा कि नैयायिकोंका मत
है कि गृहीत होनेवाली यथाभूत
वस्तु और उससे विपरीत तत्त्व ये
क्रमशः 'सत्' और 'असत्' हैं।

शङ्का—यदि वैनाशिक उत्पत्तिसे
पूर्व सत्का अभावमात्र ही मानते
हैं तो 'उत्पत्तिसे पूर्व यह एकमात्र
अद्वितीय असत् ही था' ऐसा कह-
कर वे उसका कालसम्बन्ध, संख्या-
सम्बन्ध और अद्वितीयत्व कैसे
निरूपण करते हैं ?

समाधान—ठीक है, सत्की
असत्तामात्र माननेवाले उन लोगोंका
ऐसा कहना उचित नहीं है। इसके
सिवा उनका असत्तामात्र मानना
भी अनुचित ही है; क्योंकि जो [ऐसा]
माननेवाला है उसका न मानना
सम्भव नहीं है। यदि कहो कि इस
समय तो माननेवाला माना ही जाता
है उत्पत्तिसे पूर्व ही नहीं माना जाता,
तो ऐसा कहना ठीक नहीं; क्योंकि
इस प्रकार उत्पत्तिसे पूर्व सत्के
अभावंको सिद्ध करनेवाला कोई
प्रमाण नहीं रहता, और फिर
'उत्पत्तिसे पूर्व असत् ही था' ऐसी
कल्पनाका होना सम्भव नहीं होता।

ननु कथं वस्तुवाक्यतोः शब्दार्थ-
त्वेऽसदेकमेवाद्वितीयमितिपदार्थ-
वाक्यार्थोपपत्तिः, तदनुपपत्तौ
चेदं वाक्यमप्रमाणं असज्येतेति
चेत् ?

नैष दोषः, सदग्रहणनिवृत्ति-
मीमांसकोद्भाविता परत्वाद्वाक्यस्य ।
दोषनिराकरणम् सदित्ययं तावच्छ्र-
ब्दः सदाकृतिवाचकः । एकमे-
वाद्वितीयमित्येतौ च सच्छ्रब्देन
समानाधिकरणाः, तथेदमासी-
दिति च । तत्र नञ् सद्वाक्ये प्रयुक्तः
सद्वाक्यमेवावलम्ब्य सद्वाक्यार्थ-
विषयां बुद्धिं सदेकमेवाद्वितीयमि-
दमासीदित्येवंलक्षणां ततः सद्वा-
क्यार्थानिवर्तयत्यश्वासुड इवाद्या-
लम्बनोऽर्थं तदभिमुखविषयान्नि-
वर्तयति तद्वत् । न तु पुनः सद-

मीमांसक-मितु शब्दका अर्थ
तो वस्तुकी आकृति हो होती है,
ऐसी अवस्थामे एकमात्र अद्वितीय
असत् ही था, इन पदोंका अथवा
इस वाक्यका अर्थ कैसे ठीक हो
सकता है ? और ठीक न हो सकने-
पर तो यह [श्रुतिका] वाक्य ही
अप्रामाणिक सिद्ध होगा ।

सिद्धान्ती-यहाँ यह दोष नहीं
आता, क्योंकि यह वाक्य केवल
नतको ग्रहण करनेकी निवृत्ति करने
मात्रमेही तात्पर्य रखता है । 'सत्' यह
शब्द तो सत्की आकृतिका वाचक
है ही । 'एकमात्र अद्वितीय' ये दोनों
शब्द 'सत्' शब्दके साथ समानाधि-
करणरूपसे प्रयुक्त हैं । इसी प्रकार
'इदम्' और 'मासीत्' शब्द भी
समानाधिकरण हैं । ऐसी अवस्थामे
सद्-वाक्यमे प्रयोग किया हुआ
'नञ्' १ सद्-वाक्यको ही आलम्बन
करके 'एकमात्र अद्वितीय सत् ही
था' ऐसी सद्-वाक्यार्थसम्बन्धिनी
बुद्धिको, जिस प्रकार कि घोड़ेपर
बढ़ा हुआ पुरुष घोड़ेका ही आश्रय
लेकर उसे उसके अभिमुख विषयोंसे
केर देता है उसी प्रकार, सद्-वाक्यके
अर्थसे निवृत्त कर देता है । वह

१. 'असत्' शब्दमे 'जो 'अ' है उसीका 'नञ्' कहा गया है ।

भावमेवाभिधत्ते । अतः पुरुषस्य
विपरीतग्रहणनिवृत्त्यर्थपरमिदम-
संदेवेत्यादि वाक्यं प्रयुज्यते ।
दर्शयित्वा हि विपरीतग्रहणं
ततो निवर्तयितुं शक्यत इत्यर्थ-
वत्त्वादसदादिवाक्यस्य श्रौतत्वं
प्राप्ताख्यं च सिद्धमित्यदोषः ।
तस्मादसतः सर्वाभावरूपात्सद्वि-
द्यमानं जायत समुत्पन्नम् ।
अदभावश्छान्दसः ॥ १ ॥

सत्के अभावका ही निरूपण नहीं करता अतः पुरुषके विपरीत ग्रहणकी निवृत्तिके लिये ही 'यह असत् ही था' इत्यादि वाक्यका प्रयोग किया गया है । विपरीत-ग्रहणको दिखलाकर ही उससे निवृत्त करना सम्भव है । इस प्रकार असत् आदि वाक्य सार्थक होनेके कारण उसका श्रौतत्व और प्रामाण्य सिद्ध ही है । अतः इसमें कोई दोष नहीं है । उस सर्वाभावरूप असत्-से सत् अर्थात् विद्यमान कार्यजात उत्पन्न हुआ । [मूलमें 'सज्जायत' के स्थानमें 'सत् अजायत' ऐसा होना चाहिये था, सो 'जायत' इस क्रियापदमें] अट्का अभाव वैदिक है ॥ १ ॥

—:—

तदेतद्विपरीतग्रहणं महावैना-
शिकपन्नं दर्शयित्वा प्रतिषेधति—

इस प्रकार यह विपरीतग्रहणरूप महावैनाशिका पक्ष दिखलाकर अव [आरुणि] उसका प्रतिषेध करता है—

कुतस्तु खलु सोम्यैवस्यादिति होवाच कथम-
सतः सज्जायेतेति । सत्त्वेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवा-
द्वितीयम् ॥ २ ॥

'किंतु हे सोम्य ! ऐसा कैसे हो सकता है, भला असत्से सत्की उत्पत्ति कैसे हो सकती है ? अतः हे सोम्य ! आरम्भमें यह एकमात्र अद्वितीय सत् ही था' ऐसा [आरुणिने] कहा ॥ २ ॥

कुलस्तु प्रमाणात्सलु हे सो-
 वैनाशिकमत मयैवं स्यात्, असतः
 खण्डनम् सज्जायेतेत्येवं कुतो
 भवेत् ? न कुतश्चित्प्रमाणादेवं
 संभवतीत्यर्थः । यदपि बीजोप-
 मदंङ्कुरो जायमानो दृष्टोऽभावा-
 देवेति, तदप्यभ्युपगमविरुद्धं
 तेषाम् । कथम् ? ये तावद्बी-
 जावयवा बीजसंस्थानविशिष्टास्ते-
 ङ्कुरेऽप्यनुवर्तन्ते एव, न
 तेषामुपमदोऽङ्कुरजन्मनि । यत्पु-
 नर्बीजाकारसंस्थानम्, तद्बीजा-
 वयवव्यतिरेकेण वस्तुभूतं न
 वैनाशिकैरभ्युपगम्यते, यदङ्कुरज-
 न्मन्युपमृद्येत । अथ तदस्त्यवयव-
 व्यतिरिक्तं वस्तुभूतम्, तथा
 च सत्यभ्युपगमविरोधः ।

अथ संवृत्याभ्युपगतं बीज-
 संस्थानरूपमुपमृद्यत इति चेत् ?

किंतु हे सोम्य ! ऐसा किस
 प्रमाणसे हो सकता है ? अर्थात्
 असत्से सत् उत्पन्न हो—ऐसा कैसे
 हो सकता है ? तात्पर्य यह है कि
 ऐसा होना किसी भी प्रमाणसे
 सम्भव नहीं है तथा वे लोग जो
 यह मानते हैं कि बीजका नाश
 होनेपर अभावहीसे अङ्कुर उत्पन्न
 होता देखा गया है वह भी उनके
 ही सिद्धान्तके विरुद्ध है । किस
 प्रकार विरुद्ध है ? बीजके
 आकारसे युक्त जो बीजके अवयव
 हैं उनकी अनुवृत्ति अङ्कुरमें भी
 होती ही है; अङ्कुरके उत्पन्न होने-
 पर उनका नाश नहीं हो जाता ।
 तथा जो बीजाकारका संस्थान है
 उसे तो वैनाशिक भी बीजके अव-
 यवोंसे भिन्न कोई वस्तु नहीं मानते;
 जिसका कि अङ्कुरकी उत्पत्ति होने-
 पर नाश हो । यदि कहो कि बीजा-
 वयवोंसे व्यतिरिक्त वह वास्तविक
 स्वरूपमें है तो यह उनकी ही
 मान्यताके विरुद्ध होगा ।

यदि कहो कि संवृति (लौकिक
 व्यवहार) द्वारा माना गया बीज-
 संस्थानका रूप नष्ट होता है तो यह
 बातलाओ कि यह संवृति क्या

केयं संवृतिर्नाम—किमसावभाव
उत भाव इति ? यद्यभावः, दृष्टा-
न्ताभावः । अथ भावः, तथापि
नाभावादङ्कुरोत्पत्तिः; बीजावयवे-
भ्यो ह्यङ्कुरोत्पत्तिः ।

अवयवा अप्युपमृद्यन्त इति
चेत् ? न; तदवयवेषु तुल्य-
त्वात् । यथा वैनाशिकानां
बीजसंस्थारूपोऽवयवी नास्ति,
तथावयवा अपीति तेषामत्युप-
मर्दानुपपत्तिः । बीजावयवाना-
मपि सूक्ष्मावयवास्तदवयवाना-
मप्यन्ये सूक्ष्मतरावयवा इत्येवं
प्रसङ्गस्यानिवृत्तेः सर्वत्रोपमर्दानु-
पपत्तिः । सद्बुद्धयनुवृत्तेः स-
त्त्वानिवृत्तिश्चेति तद्वादिनां सत

बीज है । यह भाव है या अभाव ?
यदि अभाव है तो [अभावसे भावकी
उत्पत्ति होनेमें] कोई दृष्टान्त नहीं
है । [अतः अभावरूपा संवृति
बीजकी सत्ताकी साधिका नहीं हो
सकती] और यदि भाव है तो भी
अभावसे अङ्कुरकी उत्पत्ति होना
सिद्ध नहीं होता, क्योंकि अङ्कुरकी
उत्पत्ति तो बीजके अवयवोंसे ही
होती है ।

और यदि ऐसा मानें कि
अवयवोंका भी नाश हो जाता है
तो ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि
यह दोष अवयवोंके समान ही
उसके अवयवोंमें भी है । जिस
प्रकार वैनाशिकोंके मतमें बीज-
संस्थानरूप अवयवी नहीं है उसी
प्रकार अवयव भी नहीं है; अतः
उनका नाश होना सम्भव नहीं है ।
बीजावयवोंके भी सूक्ष्म अवयव होने
चाहिये और उन अवयवोंके भी
दूसरे सूक्ष्मतर अवयव होने चाहिये —
इस प्रकार प्रसङ्गकी अनिवृत्ति
(अनवस्था दोष) होनेके कारण
सर्वत्र नाश होना सम्भव नहीं है ।
तथा सर्वत्र सद्बुद्धिकी अनुवृत्ति
होनेके कारण सत्त्वकी निवृत्ति नहीं
होगी । इस प्रकार सद्वादियोंकी
मानी हुई सत्से सत्की उत्पत्ति

एव सदुत्पत्तिः सेत्स्यति । न
त्वसद्वादिनां दृष्टान्तोऽस्त्यसतः
सदुत्पत्तेः । मृत्पिण्डाद्घटोत्पत्ति-
र्दृश्यते सद्वादिनां तद्भावे भावा-
त्तदभावे चाभावात् ।

यद्यभावादेव घट उत्पद्येत
घटार्थिना मृत्पिण्डो नोपादी-
येत । अभावशब्दबुद्धयनुवृत्तिश्च
घटादौ प्रसज्येत न त्वेतदस्त्यतो
नासतः सदुत्पत्तिः ।

यदप्याहुर्मृद्बुद्धिर्घटबुद्धेर्नि-
मित्तमिति मृद्बुद्धिर्घटबुद्धेः
कारणमुच्यते, न तु परमार्थतः
एव मृद्घटो वास्तीति; तदपि
मृद्बुद्धिर्विद्यमाना विद्यमानाया
एव घटबुद्धेः कारणमिति नासतः
सदुत्पत्तिः ।

ही सिद्ध होगी । असत्से सत्की
उत्पत्ति होनेमे असद्वादियोंके पास
कोई दृष्टान्त भी नहीं है । सद्वा-
दियोंके मतमे मृत्तिकाके पिण्डसे
घटकी उत्पत्ति होती देखी गयी है,
क्योंकि उसकी सत्ताके रहते हुए
घटकी भी सत्ता है और उसका
अभाव होनेपर घटका भी अभाव
हो जाता है ।

यदि अभावसे ही घटकी उत्पत्ति
होती तो घट बनानेकी इच्छावाले-
को मृत्तिकाका पिण्ड लेनेकी आव-
श्यकता न होती तथा घटादिमें
'अभाव' शब्द और अभाव-बुद्धिकी
अनुवृत्तिका भी प्रसंग उपस्थित
होता । किंतु ऐसा है नहीं । इसलिये
असत्से सत्की उत्पत्ति नहीं हो
सकती ।

इसके सिवा वे लोग जो ऐसा
कहते हैं कि 'मृत्तिकाबुद्धि घटबुद्धि-
का निमित्त है; अतः मृद्बुद्धि ही
घटबुद्धिका कारण कही जाती है,
वस्तुतः मृत्तिका अथवा घट कुछ
भी नहीं है' इसके अनुसार भी
विद्यमान मृद्बुद्धि ही विद्यमान घट-
बुद्धिका कारण है, अतः असत्से
सत्की उत्पत्ति सिद्ध नहीं होगी ।

मृद्वधटबुद्धयोनिमित्तनैमित्ति-
कतयानन्तर्यमात्रं न तु कार्य-
कारणत्वमिति चेत् ? न;
बुद्धीनां नैरन्तर्यं गम्यमाने
वैनाशिकानां बहिर्दृष्टान्ताभा-
वात् ।

अतः कुतस्तु खलु सोम्यैवं
स्यादिति होवाच कथं केन
प्रकारेणासतः सज्जायेतेति ।
असतः सदुत्पत्तौ न कश्चिदपि
दृष्टान्तप्रकारोऽस्तीत्यभिप्रायः ।
एवमसद्वादिपक्षमुन्मथ्योपसंह-
रति सत्त्वेव सोम्येदमग्र आसी-
दिति स्वपक्षसिद्धिम् ।

ननु सद्वादिनोऽपि सतः
सदुत्पद्यत इति नैव दृष्टान्तो-
ऽस्ति । घटाद्वद्वदान्तरोत्पत्त्यदर्श-
नात् ।

यदि कहो कि मृद्वबुद्धि तथा घट-
बुद्धिका निमित्त और नैमित्तिकरूप-
से आनन्तर्यमात्र है; कार्य कारण
भाव नहीं है तो ऐसा कहना भी
ठीक नहीं; क्योंकि इन बुद्धियोंकी
निरन्तरताका ज्ञान करानेमें वैना-
शिकोंके पास कोई बाह्य दृष्टान्त
नहीं है ।*

‘अतः हे सोम्य ! ऐसा कैसे हो
सकता है ?’ ऐसा आरुणिने कहा ।
अर्थात् असत्से सत्की उत्पत्ति
कैसे—किस प्रकार हो सकती है ।
तात्पर्य यह है कि असत्से सत्की
उत्पत्ति होनेमें कोई भी दृष्टान्तका
प्रकार नहीं है । इस तरह
असद्वादीके पक्षका उन्मथन
(निरसन) कर आरुणि ‘हे
सोम्य ! आरम्भमें यह सत् ही था’
इस प्रकार अपने पक्षकी सिद्धिका
उपसंहार करता है ।

शङ्का—किंतु सद्वादीके मतानुसार
सत्से सत्की उत्पत्ति होती है
इसमें भी तो कोई दृष्टान्त नहीं
है, क्योंकि एक घटसे दूसरे घटकी
उत्पत्ति होती नहीं देखी जाती ।

१. अर्थात् पहले मृद्वबुद्धि होती है उसके बाद घटबुद्धि—यही सूचित
करना है ।

* बौद्धमतानुसार वाह्य पदार्थोंकी सत्ता नहीं मानते; अतः उनके सिद्धान्तानुसार मृद्वबुद्धि, घटबुद्धि आदि भी असत् ही है । इसलिये इनका नैरन्तर्य अथवा निमित्त-नैमित्तिकत्व बतलाना भी असंगत ही है ।

सत्यमेवं न सतः सदनन्तर-
मुत्पद्यते किं तर्हि ? सदेव संस्था-
नान्तरेणावतिष्ठते । यथा सर्पः
कुण्डलीभवति । यथा च मृच्चूर्ण-
पिण्डघटकपालादिप्रभेदैः ।

यद्येवं सदेव सर्वप्रकारावस्थं
कथं प्रागुत्पत्तेरिदमासीदित्यु-
च्यते ।

ननु न ध्रुतं त्वया सदेवेत्य-
वधारणमिदंशब्दवाच्यस्य ?

प्राप्तं तर्हि प्रागुत्पत्तेरसदेवा-
सीन्नेदंशब्दवाच्यमिदानीमिदं
जातमिति ।

न; सत एवेदंशब्दबुद्धि-
विषयतयावस्थानाद्यथा मृदेव
पिण्डघटादिशब्दबुद्धिविषयत्वेना-
वतिष्ठते तद्वत् ।

ननु यथा मृदस्त्वेवं पिण्ड-

छा० उ० ३८—

समाधान—यह ठीक है, एक
सत्से दूसरे सत्की उत्पत्ति नहीं
होती । तो फिर क्या होता है ?—
सत् ही एक दूसरे आकारमे स्थित
हो जाता है, जिस प्रकार कि सर्प ही
कुण्डली हो जाता है और जैसे
मृत्तिका ही घूर्ण, पिण्ड, घट, कपालादि
भेदोंसे स्थित हो जाती है ।

शङ्का—यदि ऐसी बात है तो
सम्पूर्ण प्रकारोंमे स्थित सत् ही है
फिर यह क्यों कहा जाता है कि यह
उत्पत्तिसे पूर्व था ?

समाधान—अरे ! क्या तूने नहीं
सुना कि 'सदेव' यह पद इदंशब्द-
वाच्यका निश्चय करानेके लिये है ।

शङ्का—तब तो यह सिद्ध होता
है कि उत्पत्तिसे पूर्व असत् ही था,
इदंशब्दवाच्य नहीं था, यह असौ
उत्पन्न हुआ है ।

समाधान—ऐसी बात नहीं है,
क्योंकि जिस प्रकार मृत्तिका ही
पिण्ड एवं घटादि शब्द और बुद्धि-
का विषय होकर सिद्ध होती है उसी
प्रकार सत् ही इदंशब्द और इद-
बुद्धिके विषयरूपसे स्थित होता है ।

शङ्का—किन्तु जिस प्रकार

घटाद्यपि तद्वत्सद्बुद्धेरन्यबुद्धि-
विषयत्वात्कार्यस्य सतोऽन्यद्व-
स्त्वन्तरं स्यात्कार्यजातं यथा-
श्वाद्गौः ।

न; पिण्डघटादीनामितरे-
तरव्यभिचारेऽपि मृत्वाव्यभि-
चारात् । यद्यपि घटः पिण्डं
व्यभिचरति पिण्डश्च घटं तथा-
पि पिण्डघटौ मृत्त्वं न व्यभि-
चरतस्तस्मान्मृत्मात्रं पिण्डघटौ ।
व्यभिचरति त्वत्त्वं गौरश्वो वा
गाम् । तस्मान्मृदादिसंस्थानमात्रं
घटादयः । एवं सत्संस्थानमात्र-
मिदं सर्वमिति युक्तं प्रागुत्पत्तेः
सदेवेति; वाचारम्भणमात्रत्वा-
द्विकारसंस्थानस्य ।

ननु निरवयवं सत्, “निष्कलं
निष्क्रियं शान्तं निरवयवं निर-
ञ्जनम्” (श्वेता० उ० ६।१६)

मृत्तिका वस्तु है उसी प्रकार पिण्ड
और घटादि भी हैं । जूँहीके समान
सत्का कार्यं सद्बुद्धिसे अन्यबुद्धि-
का विषय होनेके कारण वह सत्की
अपेक्षा कोई अन्य वस्तु होना
चाहिये, जिस प्रकार कि अश्वसे गौ ।

समाधान—ऐसी बात नहीं है,
क्योंकि पिण्ड और घटादिका परस्पर
व्यभिचार होनेपर भी उनमें मृत्ति-
कात्वका व्यभिचार नहीं है । यद्यपि
घट पिण्डसे पृथक् रहता है और
पिण्ड घटसे, तो भी पिण्ड और
घट दोनों ही मृत्तिकात्वसे कभी
पृथक् नहीं होते । अतः पिण्ड और
घट आदि तो मृत्तिकामात्र ही है ।
किंतु अश्व गौको और गौ
अश्वको पृथक् करते हैं; इसलिये
घटादि केवल मृत्तिकादिके
संस्थान (आकार) मात्र हैं । इस
प्रकार यह सारा जगत् सत्का
संस्थानमात्र है । अतः उत्पत्तिसे पूर्व
सत् ही था—यह कथन ठीक ही
है, क्योंकि विकारसंस्थान तो केवल
वाणीके ही आश्रित है ।

शङ्का—किंतु “पुरुष निष्कल,
निष्क्रिय, शान्त, निमल, निर्लेप है”
तथा “दिव्य, अमूर्त, बाहर-भीतर वर्त-

“दिव्यो ह्यमृतः पुरुषः सन्नाह्या-
भ्यन्तरो ह्यजः” (मु० उ० २।१।२)
इत्यादिश्रुतिभ्यो निरवयवस्य सत्-
कथं विकारसंस्थानमुपपद्यते ।

नैष दोषः, रज्ज्वाद्यवयवेष्वेभ्यः
सर्पादिसंस्थानवद्वबुद्धिपरिकल्पि-
तेभ्यः सदवयवेष्वेभ्यो विकार-
संस्थानोपपत्तेः “वाचारम्भाणं
विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव
सत्यम्” (छा० उ० ६।१।४)
एवम् ‘सदेव सत्यम्’ इति श्रुतेः ।
एकमेवाद्वितीयं परमार्थत इदं-
बुद्धिकालेऽपि ॥ ३ ॥

मान और अजन्मा है” इत्यादि-
श्रुतियोंके अनुसार सत् निरवयव है ।
उस निरवयव सत्का विकारसंस्थान
होना कैसे सम्भव है ?

समाधान—इसमें कोई दोष नहीं
है, क्योंकि रज्जु आदिके अवयवोंसे
सर्पादि आकारकी प्रतीतिके समान
बुद्धिसे कल्पना किये हुए सत्के
अवयवोंसे विकारसंस्थानका प्रतीत
होना सम्भव है; जैसा कि कहा है—
“विकार वाणीके आश्रित केवल
नाममात्र है, मृत्तिका ही सत्य है” ।
इसी प्रकार ‘सत् ही सत्य है’ इस
श्रुतिसे प्रमाणित होता है । वस्तुतः
इदंबुद्धिके समय भी वह एकमात्र
अद्वितीय ही है ॥ २ ॥

तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति तत्तेजोऽवृजत ।
तत्तेज ऐक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति तदपोऽवृजत ।
तस्माद्यत्र क्व च शोचति स्वेदते वा पुरुषस्तेजस एव
तदध्यापो जायन्ते ॥ ३ ॥

उस (सत्) ने ईक्षण किया ‘मैं बहुत हो जाऊँ—अनेक प्रकारसे
उत्पन्न होऊँ’ । इस प्रकार [ईक्षण कर] उसने तेज उत्पन्न किया ।
उस तेजने ईक्षण किया ‘मैं बहुत हो जाऊँ—नाना प्रकारसे उत्पन्न
होऊँ’ । इस प्रकार [ईक्षण कर] उसने जलकी रचना की । इसीसे
जहाँ कहीं पुरुष शोक (सत्ताप) करता है उसे पसीने आ जाते हैं ।
उस समय वह तेजसे ही जलकी उत्पत्ति होती है ॥ ३ ॥

तत्सदैक्षतेषां दर्शनं कृतवत् ।

अतश्च न प्रधानं सांख्यपरि-
कल्पितं जगत्कारणम्; प्रधान-
स्याचेतनत्वाभ्युपगमात्, इदं तु
सच्चेतनमीक्षितृत्वात् । तत्कथमै-
क्षत ? इत्याह—बहु प्रभूतं स्यां
भवेयं प्रजायेय प्रकर्षेणोत्पद्येय ।
यथा मृद्वटाद्याकारेण, यथा वा
रज्ज्वादि सर्पाद्याकारेण बुद्धि-
परिकल्पितेन ।

असदेव तर्हि सर्वं यद्गृह्यते

रज्जुरिव सर्पाद्याकारेण ।

न; सत् एव द्वैतभेदेनान्य-

थागृह्यमाणत्वान्नासत्त्वं कस्यचि-

त्कचिदिति ब्रूमः । यथा सतो-

ज्यद्वस्त्वन्तरं परिकल्प्य पुनस्त-

स्यैव प्रागुत्पत्तेः प्रध्वंसाच्चोर्ध्व-

मसत्त्वं ब्रुवते तार्किका न तथा-

उस सत्त्वे ईक्षण किया, ईक्षण
अर्थात् दर्शन किया । इससे सिद्ध
होता है कि सांख्यका कल्पना
किया हुआ प्रधान जगत्का कारण
नहीं है, क्योंकि प्रधान अचेतन
माना गया है और यह सत् ईक्षण
करनेके कारण चेतन है । उसने
किस प्रकार ईक्षण किया सो श्रुति
बतलाती है—मैं बहुत—अधिक हो
जाऊँ 'प्रजायेय'—प्रकर्षसे उत्पन्न
होऊँ, जिस प्रकार कि घटादि
आकारसे मृत्तिका अथवा बुद्धिसे
कल्पना किये हुए सर्पादि आकारसे
रज्जु उत्पन्न होती है ।

शङ्का—तब तो रज्जु जिस प्रकार
सर्पादि आकारसे ग्रहण की जाती
है उसी प्रकार जो कुछ ग्रहण किया
जाता है वह असत् ही है ।

समाधान—नहीं, हमारा तो यह
कथन है कि द्वैतभेदसे सत् ही
अन्यथारूपसे गृहीत होनेके कारण
कभी किसी पदार्थकी असत्ता नहीं
है । [अब इसी बातको और
अधिक स्पष्ट करते हैं—] जिस
प्रकार तार्किक लोग सत्से भिन्न
किसी अन्य पदार्थकी कल्पना कर
फिर उत्पत्तिसे पूर्व और नाशके
पश्चात् उसकी असत्ता बतलाते हैं

स्माभिः कदाचित्कचिदपि स-
तोऽन्यदभिधानमभिधेयं वा वस्तु
परिकल्प्यते । सदेव तु सर्व-
मभिधानमभिधीयते च यदन्य-
बुद्ध्या । यथा रज्जुरेव सर्प-
बुद्ध्या सर्प इत्यभिधीयते यथा
वा पिण्डघटादि मृदोऽन्यबुद्ध्या
पिण्डघटादिशब्देन अभिधीयते
लोके । रज्जुविवेकदर्शनां तु
सर्पमभिधानबुद्धी निवर्तते यथा च
मृद्विवेकदर्शनां घटादिशब्द-
बुद्धौ तद्वत्सद्विवेकदर्शनामन्य-
विकारशब्दबुद्धी निवर्तते ।
“यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य
मनसा सह” (तै० उ० २।४)
इति । “अनिरुक्तेऽनिलयने”
(तै० उ० २।६।१) इत्यादि
श्रुतिभ्यः ।

उसी प्रकार हमारे द्वारा कभी कभी
भी सतसे भिन्न किसी नाम अथवा
नामकी विषयभूत वस्तुकी कल्पना
नहीं की जाती । सारे नाम और
जो अन्यबुद्धिसे कहे जाते हैं वे
सारे पदार्थ सत् ही हैं, जिस प्रकार
कि लोकमें रज्जु ही सर्पबुद्धिसे
'सर्प' इस प्रकार कही जाती है
अथवा जिस प्रकार मूर्तिकासे अन्य-
बुद्धिके कारण पिण्ड और घटादिको
पिण्ड एव घट आदि शब्दोंसे पुकारा
जाता है । जिस प्रकार रज्जुका
विवेक करके देखनेवालोंकी दृष्टिमें
'सर्प' शब्द और सर्पबुद्धि निवृत्त हो
जाते हैं तथा मूर्तिकाका विवेक
करके देखनेवालोंकी दृष्टिमें घटादि-
शब्द और तत्सम्बन्धी बुद्धिका
निरास हो जाता है, उसी प्रकार
सत्का विवेक करके देखनेवालोंके
लिये अन्य विकारसम्बन्धी शब्द
और बुद्धि निवृत्त हो जाते हैं, जसा
कि “जहांसे मनके सहित वाणी
न पहुँचकर लोट आती है” “जो
वाणीका अविषय और अनाश्र
उसमें” इत्यादि श्रुतियोंसे प्रमाणित
होता है ।

एवमीक्षित्वा तत्तेजोऽसृजत
तेजः सृष्टवत् ।

ननु “तस्माद्वा एतस्मादात्मन
आकाशः संभूतः” (तै० उ० १)

इति श्रुतिमिह कथं प्राथम्येन
तस्मादेव तेजः सृज्यते तत एव
चाकाशमिति विरुद्धम् ।

नैष दोषः; आकाशवायु-
सर्गानन्तरं तत्सत्तेजोऽसृजतेति-
कल्पनोपपत्तेः । अथ वाविवक्षित-
इह सृष्टिक्रमः । सत्कार्यमिदं सर्व-
मतः सदेकमेवाद्वितीयमित्येतद्वि-
वक्षितम्, मृदादिदृष्टान्तात् ।
अथवा त्रिवृत्करणस्य विवक्षित-
त्वात्तेजोऽन्नानामेव सृष्टिमाचष्टे
तेज इति प्रसिद्धं लोके दग्धं पक्व
प्रकाशकं रोहितं चेति ।

इस प्रकार ईक्षण कर उसने
तेजकी रचना की ।

शङ्का—किंतु “उस इस आत्मासे
आकाश उत्पन्न हुआ [तथा
आकाशसे वायु और वायुसे तेज
हुआ]” ऐसी भी श्रुति है । फिर
उसीसे सबसे पहले तेज रचा गया
और उसीसे आकाश—यह विरुद्ध
कथन क्यों किया जाता है ?

समाधान—यह कोई दोष नहीं
है, क्योंकि यहाँ ऐसी कल्पना भी
की जा सकती है कि आकाश और
वायुकी रचनाके अनन्तर उस
सत्तेज तेजकी रचना की । अथवा
यह भी सम्भव है कि यहाँ सृष्टि-
क्रम बतलाना इष्ट न हो । यह
सारा जगत् सत्का कार्य है,
इसलिये एकमात्र अद्वितीय सत् ही
है—यही बतलाना इष्ट हो, क्यों-
कि यहाँ मृत्तिका आदिका दृष्टान्त
दिया गया है । अथवा त्रिवृत्करण
विवक्षित होनेके कारण श्रुति तेज,
अप् और अन्नकी ही सृष्टिका
निरूपण करती है । तेज—यह
दग्ध करनेवाला, पकानेवाला,
प्रकाशक और कुछ लाल रंगका
लोकमें प्रसिद्ध है ।

तत्सत्सृष्टं तेज ऐक्षत तेजारूप-
संस्थितं सदैक्षतेत्यर्थः । बहु
स्यां प्रजायेयेति पूर्ववत् । तद-
पोऽसृजत । आपो द्रवाः स्निग्धाः
स्यन्दिन्यः शुक्लाश्चेति प्रसिद्धा
लोके । यस्मात्तेजसः कार्यभूता
आपस्तस्माद्यत्र क्व च देशे काले
वा शोचति संतप्यते स्वेदते
प्रस्विद्यते वा पुरुषस्तेजस एव
तत्तदापोऽधिजायन्ते ॥ ३ ॥

सत्के रचे हुए उस तेजने
ईक्षण किया; अर्थात् तेजके रूपमें
स्थित सत्ने 'मैं बहुत हो जाऊँ—
अनेक प्रकारसे उत्पन्न होऊँ' इस
प्रकार पूर्ववत् ईक्षण किया । उसने
जलकी रचना की । जल द्रवरूप,
स्निग्ध, बहनेवाला और शुक्ल वर्ण
इस प्रकार लोकमें प्रसिद्ध है ।
क्योंकि जल तेजका कार्यभूत है,
इसलिये जब कहीं किसी देश या
कालमें पुरुष शोक—सताप करता है
तो पसीनेसे युक्त हो जाता है । उस
समय तेजसे ही जलकी उत्पत्ति
होता है ॥ ३ ॥

—*—

ता आप ऐक्षन्त बह्वयः स्याम प्रजायेमहीति
ता अन्नमसृजन्त । तस्माद्यत्र क्व च वर्षति तदेव भूयि-
ष्टमन्नं भवत्यन्नस्य एव तदध्यन्नाद्यं जायते ॥ ४ ॥

उस जलने ईक्षण किया 'हम बहुत हो जायें—अनेक रूपसे उत्पन्न
हों । उसने अन्नकी रचना की । इसीसे जहाँ कहीं वर्षा होती है वही
बहुत-सा अन्न होता है । वह अन्नाद्य जलसे ही उत्पन्न होता है ॥ ४ ॥

ता आप ऐक्षन्त पूर्ववदेवावा-
कारसंस्थितं सदैक्षतेत्यर्थः ।
बह्वयः प्रभूताः स्याम भवेम
प्रजायेमद्यत्पद्येमहीति । ता अन्न-

उस जलने ईक्षण किया, अर्थात्
पहलेहीके समान जलरूपमें स्थित
सत्ने ईक्षण किया । 'हम बहुत—
अधिक हो जायें, प्रकर्षसे उत्पन्न
हों ।' उसने पृथिवीरूप अन्नकी

मसृजन्त पृथिवीलक्षणम् ।
 पार्थिवं ह्यन्नं तस्माद्यत्र क्व च
 वर्षति देशे तत्तत्रैव भूयिष्ठं
 प्रभूतमन्नं भवति । अतोऽद्भ्य
 एव तदन्नामद्यधिजायते । ता
 अन्नमसृजन्तेति पृथिव्युक्ता
 पूर्वमिह तु दृष्टान्तेऽन्नं च
 तदाद्यं चेति विशेषणाद्ब्रीहिय-
 वाद्या उच्यन्ते । अन्नं च गुरु
 स्थिरं धारणं कृष्णं च रूपतः
 प्रसिद्धम् ।

ननु तेजःप्रभृतिष्वीक्षणं न
 गम्यते हिंसादिप्रतिषेधाभावा-
 त्त्रासादिकार्यानुपलम्भाच्च । तत्र
 कथं तत्तेज ऐक्षतेत्यादि ।

नैष दोषः, ईक्षितृकारणपरि-
 णामत्वात्तेजः प्रभृतीनां सत्
 एवेक्षितुर्नियतक्रमविशिष्टकार्यो-
 त्पादकत्वाच्च तेजःप्रभृतीक्षत
 इवेक्षत इत्युच्यते भूतम् ।

रचना की । अन्न पृथिवीका विकार
 है, इसलिये जहाँ कहीं वर्षा होती
 है वहीं बहुत-सा अन्न हो जाता
 है । अतः वह अन्नाद्य जलसे ही
 उत्पन्न होता है । 'उसने अन्नकी
 रचना की' ऐसा कहकर पहले तो
 श्रुतिने 'अन्न' शब्दसे पृथिवी कही
 है और अब दृष्टान्तमें 'वह अन्न
 और आद्य' ऐसा विशेषण देनेके
 कारण [आद्य शब्दसे] घान,
 जौ आदि कहे हैं । अन्न भारी,
 स्थिर, धारण करनेवाला और
 रूपसे कृष्णवर्ण होता है—ऐसा
 प्रसिद्ध है !

शङ्का—किन्तु तेज आदिमें तो
 ईक्षण होना समझमें नहीं आता;
 क्योंकि उनमें हिंसादिके प्रतिषेधका
 अभाव है और त्रास आदि कार्य भी
 नहीं देखे जाते । फिर श्रुतिने
 'तेजने ईक्षण किया' इत्यादि कथन
 कैसे किया ?

समाधान—यह कोई दोष नहीं
 है, क्योंकि तेज आदि भूत ईक्षण
 करनेवाले कारणके परिणाम हैं ।
 ईक्षण करनेवाला सत् ही नियत-
 क्रमविशिष्ट होकर कार्यका उत्पन्न
 करनेवाला होनेसे तेज आदि भूतोंने
 'मानो ईक्षण किया' ऐसे अर्थमें
 'ईक्षण किया' ऐसा कहा जाता है ।

ननु सतोऽप्युपचरितमेवेक्षित-
वृत्तम् ।

न; सदीक्षणस्य केवलशब्द-
गम्यत्वान्न शक्यमुपचरितं कल्प-
यितुम् । तेजःप्रभृतीनां त्वनु-
मीयते मुख्येक्षणाभाव इति
युक्तमुपचरितं कल्पयितुम् ।

ननु सतोऽपि मृद्वत्कारणत्वा-
दचेतनत्वं शक्यमनुमातुम् ।
अतः प्रधानस्यैवाचेतनस्य सतश्चे-
तनार्थत्वान्नियतकालक्रमविशिष्ट-
कार्योत्पादकत्वाच्चैततेयैततेति
शक्यमनुमातुमुपचरितमेवेक्षणम् ।
दृष्टश्च लोकेऽचेतने चेतनवदुप-
चारः । यथा कूलं पिपतिपतीति
तद्वत्सतोऽपि स्यात् ।

न; तत्सत्यं स आत्मेति
तस्मिन्नात्मोपदेशात् ।

शङ्का—किंतु सत्का ईक्षण भी
तो उपचारसे ही ?

समाधान—नही, सत्का ईक्षण
केवल शब्दगम्य है; इसलिये वह
उपचारसे है—ऐसी कल्पना नहीं
की जा सकती । तेज आदिके
मुख्य ईक्षणका अभाव तो अनुमान-
से सिद्ध है; इसलिये उसे उपचरित
मानना ठीक है ।

शङ्का—परंतु मृत्तिकाके समान
कारण होनेसे सत्के अचेतनत्वका
भी अनुमान किया जा सकता है ।
अतः अचेतन प्रधानरूप जो सत् है
वह चेतनके प्रयोजनके लिये है और
नियतकालक्रमसे विशिष्ट कार्यका
उत्पादक है, इस कारण उसीने ईक्षण
करनेके समान ईक्षण किया—इस
प्रकार उसका ईक्षण उपचरित ही है,
ऐसा अनुमान किया ही जा सकता है ।
लोकमें अचेतनमें चेतनके समान
उपचार होता देखा ही जाता है,
जिस प्रकार 'किनारा गिरना चाहता
है' ऐसा कहा जाता है उसी प्रकार
सत्का ईक्षण भी औपचारिक हो
सकता है ।

समाधान—ऐसा नहीं हो सकता,
क्योंकि 'वह सत्य है' वह आत्मा
है, ऐसा कहकर उसीमें आत्माका
उपदेश किया गया है ।

आत्मोपदेशोऽप्युपचरित इति
चेद्यथा समात्मा भद्रसेन इति
सर्वार्थकारिण्यनात्मन्यात्मोपचा-
रस्तद्वत् ।

न; तदस्मीति सत्सत्याभि-
संधस्य 'तस्य तावदेव चिरम्'
इति मोक्षोपदेशात् ।

सोऽप्युपचार इति चेत्,
प्रधानात्माभिसंधस्य मोक्षसा-
मीप्यं वर्तत इति मोक्षोपदेशो-
ऽप्युपचरित एव; यथा लोके
ग्रामं गन्तुं प्रस्थितः प्राप्तवानहं
ग्राममिति ब्रूयाच्चरापेक्षया तद्वत् ।

न; येन विज्ञातेनाविज्ञातं
विज्ञातं भवतीत्युपक्रमात् । स-
त्येकस्मिन्विज्ञाते सर्वं विज्ञातं
भवति तदनन्यत्वात्सर्वस्याद्वि-
तीयवचनाच्च । न चान्यद्विज्ञा-

शङ्का—यदि 'भद्रसेन मेरा आत्मा
है' इस वाक्यमें जिस प्रकार आत्माके
सम्पूर्ण कार्य करनेवाले अनात्मामें
आत्माका उपचार किया गया है
उसी प्रकार यह आत्मोपदेश भी
उपचारसे ही है ऐसा मानें तो ?

समाधान—ऐसा कहना ठीक
नहीं, क्योंकि 'वह सत् मैं हूँ'
इस प्रकार सत्में दृढ़ अभिनिवेश
करनेवालेके लिये 'उसके मोक्षमें
तभीतक देरी है [जवतक कि
शरीरपात नहीं होता]' इस प्रकार
मोक्षका उपदेश किया गया है ।

शङ्का—यदि यह भी उपचार ही
हो तो ? जिस प्रकार लोकमें गाँव
की ओर जानेवाला पुरुष अपनी
शीघ्रताकी अपेक्षासे कह देता है
कि 'मैं तो गाँवमें पहुँच गया' उसी
प्रकार प्रधानमें आत्मबुद्धि करने-
वालेके लिये मोक्षकी समीपता
होनेके कारण यह मोक्षका उपदेश
भी उपचारसे ही हो तो ?

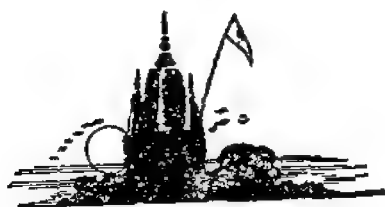
समाधान—नहीं, क्योंकि जिसे
जान लेनेपर बिना जाना हुआ भी
जान लिया जाता है—ऐसा उपक्रम
किया गया है । एक सत्के जान
लेनेपर ही सब कुछ जान लिया
जाता है, क्योंकि सब उससे अभिन्न
है और उसे अद्वितीय भी बतलाया

तव्यमवशिष्टं श्रावितं श्रुत्यानु-
मेयं वा लिङ्गतोऽस्ति येन मोक्षो-
पदेश उपचरितः स्यात् । सर्वस्य
च प्रपाठकार्थस्योपचरितत्वपरि-
कल्पनायां वृथा श्रमः परिकल्प-
यितुः स्यात्पुरुषार्थसाधनविज्ञा-
नस्य तर्केणैवाधिगतत्वात्तस्य ।
तस्माद्वेदप्रामाण्यान्न युक्तः श्रुता-
र्थपरित्यागः । अतश्चेतनावत्का-
रणं जगत इति सिद्धम् ॥ ४ ॥

गया है । उसके सिवा कोई और
विज्ञातव्य न तो श्रुतिसे सुना गया
है और न किसी लिङ्गसे ही
अनुमान किया जा सकता है,
जिसके कारण इस मोक्षोपदेशको
उपचरित माना जाय । तथा सारे
प्रपाठकका उपचरितत्व माननेमे तो
इस प्रकारकी कल्पना करनेवालेका
श्रम व्यर्थ ही होगा, क्योंकि उसके
सिद्धान्तानुसार पुरुषार्थका साधन-
भूत विज्ञान तो तर्कसे ही सिद्ध हो
जाता है । अतः वेदकी प्रमाणता
होनेके कारण इस श्रुत (प्रसिद्ध)
अर्थका त्याग करना उचित नहीं है ।
इसलिये यह सिद्ध हुआ कि संसारका
चेतन कारण है ॥ ४ ॥

—10:—

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि पष्ठाध्याये
द्वितीयखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥ २ ॥



तृतीय खण्ड

—०:—

सृष्टिका क्रम

तेषां खल्वेषां भूतानां त्रीण्येव बीजानि भवन्त्या-
खण्डजं जीवजमुद्भिज्जमिति ॥ १ ॥

उन इन [पक्षी आदि] प्रसिद्ध प्राणियोंके तीन ही बीज होते हैं—आण्डज, जीवज और उद्भिज्ज ॥ १ ॥

तेषां जीवाविष्टानां खल्वेषां
पक्ष्यादीनां भूतानाम्, एषामिति
प्रत्यक्षनिर्देशान्न तु तेजःप्रभृ-
तीनां तेषां त्रिवृत्करणस्य वक्ष्य-
माणत्वादसति त्रिवृत्करणे प्रत्यक्ष-
निर्देशानुपपत्तिः । देवताशब्द-
प्रयोगाच्च तेजःप्रभृतिष्विमास्ति-
सो देवता इति । तस्मात्तेषां खल्वेषां
भूतानां पक्षिपशुस्थावरादीनां
त्रीण्येव नातिरिक्तानि बीजानि
कारणानि भवन्ति ।

जीवोंद्वारा आविष्ट उन इन पक्षी
आदि प्राणियोंके—यहाँ 'एषाम्'
ऐसा प्रत्यक्ष निर्देश होनेके कारण
['इन पक्षी आदि भूतोंके' ऐसा
अर्थ करना चाहिये] 'उन तेजः-
प्रभृति भूतोंके' ऐसा अर्थ करना
ठीक नहीं, क्योंकि आगे त्रिवृत्करण-
का वर्णन किया जानेवाला है और
त्रिवृत्करणके हुए बिना ही प्रत्यक्ष
निर्देश बन नहीं सकता । इसके
सिवा तेजःप्रभृतिके लिये 'इमाः
तिस्रो देवताः' इस प्रकार 'देवता'
शब्दका प्रयोग होनेसे भी [यहाँ
'भूत' शब्दसे पक्षी आदि ही
विवक्षित हैं]—अतः उन इन
पक्षी, पशु एवं स्थावर आदि प्रसिद्ध
भूतोंके तीन ही बीज हैं, इससे
अधिक बीज—कारण नहीं हैं ।

कानि तानि? इत्युच्यन्ते, आ-
 एडजमएडाज्जातमएडजम्, अ-
 एडजमेवाएडजं पक्ष्यादि । पक्षि-
 सर्पादिभ्यो हि पक्षिसर्पादयो जाय-
 माना दृश्यन्ते । तेन पक्षी पक्षिणां
 बीजं सर्पः सर्पाणां तथान्यदप्य-
 एडाज्जातं तज्जातीयानां बीज-
 मित्यर्थः ।

नन्वएडाज्जातमएडजमुच्यते-
 ज्ञोऽएडमेव बीजमिति युक्तं
 कथमएडजं बीजमुच्यते ।

सत्यमेवं स्यात्, यदि त्वदि-
 च्छातन्त्रा श्रुतिः स्यात्; स्वतन्त्रा
 तु श्रुतिः, यत आहाएडजाद्येव बीजं
 नाएडादीति । दृश्यते चाएडजा-
 द्यभावे तज्जातीयसन्तत्यभावो
 नाएडाद्यभावे । अतोऽएडजादी-
 न्येव बीजान्यएडजादीनाम् ।

वे कौन-से हैं? सो बतलाये
 जाते हैं—आण्डज—अण्डसे उत्पन्न
 हुएको अण्डज कहते हैं, अण्डज
 ही आण्डज हैं, अर्थात् पक्षी
 आदि; क्योंकि पक्षी एवं सर्पादिसे
 पक्षी और सर्पादि उत्पन्न होते देखे
 गये हैं; अतः पक्षियोंके बीज पक्षी
 हैं और सर्पोंके सर्प । इसी प्रकार
 अण्डसे उत्पन्न हुए अन्य जीव भी
 अपनी-अपनी जातिके बीज हैं—
 ऐसा इसका तात्पर्य है ।

शङ्का—किंतु अण्डसे उत्पन्न
 हुएको अण्डज कहते हैं; इसलिये
 अण्डों ही बीज है—ऐसा कहना
 उचित है; फिर अण्डजको बीज
 क्यों कहा जाता है ?

समाधान—यदि श्रुति तुम्हारी
 इच्छाके अधीन होती तो सचमुच
 ऐसा ही होता; किंतु श्रुति स्वतन्त्र
 है, क्योंकि उसने अण्डज आदिको
 बीज बतलाया है, अण्डे आदिको नहीं
 बतलाया । यही बात देखी भी जाती
 है कि अण्डज आदिका अभाव होने-
 पर ही उस जातिकी संततिका
 अभाव होता है, अण्डे आदिका
 अभाव होनेपर नहीं । अतः
 अण्डजादिके बीज अण्डजादि
 ही हैं ।

तथा जीवाज्जातं जीवजं
जरायुजमित्येतत्पुरुषपश्चादि ।
उद्भिज्जमुद्भिन्नत्तीत्युद्भित्स्थावरं
ततो जातमुद्भिज्जं धाना वो-
द्भित्ततो जायत इत्युद्भिज्जं
स्थावरवीजं स्थावराणां वीज-
मित्यर्थः । स्वेदजसंशोकजयो-
रण्डजोद्भिज्जयोरेव यथासंभव-
मन्तर्भावः । एवं ह्यवधारणं त्रीण्येव
बीजानीत्युपपन्नं भवति ॥ १ ॥

इसी प्रकार जीवसे उत्पन्न हुआ
जीवज यानी जरायुज पुरुष एवं पशु
आदि तथा उद्भिज्ज—जो पृथिवी-
को ऊपरकी ओर भेदन करता है
उसे उद्भिद् यानी स्थावर कहते हैं,
उससे उत्पन्न हुआ नाम उद्भिज्ज
है; अथवा धाना (वीज) उद्भिद्
है उससे उत्पन्न हुआ उद्भिज्ज
स्थावरवीज अर्थात् स्थावरोंका वीज
है । स्वेदज और संशोकज (ऊष्मा-
से उत्पन्न होनेवाले) जीवोंका
यथासम्भव अण्डज और उद्भिज्जोंमें
ही अन्तर्भाव होगा, क्योंकि ऐसा
माननेपर ही 'तीन ही वीज है'
यह निश्चय उत्पन्न हो सकता
है ॥ १ ॥

—❀❀—

सेयं देवतैक्षत हन्ताहमिमास्तिस्रो देवता अनेन
जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणीति ॥ २ ॥

उस इस ['सत्' नामक] देवताने ईक्षण किया, 'मैं इस जीवात्म-
रूपसे' इन तीनों देवताओंमें अनुप्रवेश कर नाम और रूपकी अभिव्यक्ति
करूँ ॥ २ ॥

सेयं प्रकृता सदाख्या तेजो-
ज्वन्नयोनिर्देवतोक्तैक्षतेक्षितवती
यथापूर्वं बहु स्थामिति । तदेव

उस इस सत् नामक तेज जल
और अन्नके योनिभूत उपयुक्त
देवताने, जैसा कि पहले ईक्षण
किया था कि 'मैं बहुत हो जाऊँ'
उसी प्रकार, ईक्षण किया । वह

बहुभवनं प्रयोजनं नाद्यापि नि-
वृत्तमित्यत ईक्षां पुनः कृतवती
बहुभवनमेव प्रयोजनपुरीकृत्य ।

कथम् ? हन्तेदानीमहमिमा
यथोक्तास्तेजआद्यास्तिस्रो देवता
अनेन जीवेनेति स्वबुद्धिस्थं पूर्व-
सृष्ट्यनुभूतप्राणाधारणमात्मान-
मेव स्मरन्त्याहानेन जीवेनात्म-
नेति । प्राणधारणकर्त्रात्मनेति
वचनात्स्वात्मनोऽव्यतिरिक्तेन
चैतन्यस्वरूपतया विशिष्टेनेत्ये-
तदर्शयति । अनुप्रविश्य तेजोऽ-
न्नभूतमात्रासंसर्गेण लब्धविशे-
षविज्ञाना सती नाम च रूपं च
नामरूपे व्याकरवाणि विस्पष्ट-
माकरवाण्यसौ नामायमिदंरूप
इति व्याकुर्यामित्यर्थः ।

ननु न युक्तमिदमसंसारिण्याः
सर्वज्ञाया देवताया बुद्धि-
पूर्वकमनेकशतसहस्रानर्थाश्रयं

बहुत होनारूप प्रयोजन अभीतक
समाप्त नहीं हुआ था, इसलिये
बहुत होनारूप प्रयोजनको ही मनमें
रखकर उसने फिर ईक्षण किया ।

किस प्रकार ईक्षण किया ? 'अब
मैं इन उपर्युक्त तेज आदि
तीन देवताओंमें इस जीवरूपसे—
ऐसा कहकर श्रुति पूर्वसृष्टिमें
अनुभूत प्राणधारी आत्माका स्मरण
करती हुई ही कहती है कि
इस जीवात्मरूपसे—प्राण धारण
करनेवाले आत्माके द्वारा—इस
कथनसे श्रुति यह दिखलाती है कि
अपने आत्मासे अभिन्न अर्थात्
चैतन्यस्वरूपतया आत्मासे अविशिष्ट
जीवरूपसे अनुप्रवेश कर अर्थात्
तेज, अप् और अन्न इन भूत-
मात्राओंके संसर्गसे, जिसने विशेष
विज्ञान प्राप्त किया है, ऐसा होकर
मैं नामरूप—नाम और रूपोंका
व्याकरण—व्यक्तीकरण करूँ;
अर्थात् यह इस नामवाला है और इस
रूपका है—ऐसा अभिव्यक्त करूँ ।'

शङ्का—किंतु स्वतन्त्रता रहते
हुए भी असंख्य सर्वज्ञ देवताका
बुद्धिपूर्वक ऐसा संकल्प करना
कि, सैकड़ों-हजारों अनर्थोंके

देहमनुप्रविश्य दुःखमनुभवि-
ष्यामीति संकल्पनमनुप्रवेशश्च
स्वातन्त्र्ये सति ।

सत्यमेवं न युक्तं स्याद्यदि
स्वेनैवाविकृतेन रूपेणानुप्रविशेयं
दुःखमनुभवेयमिति च संकल्पि-
तवती, न त्वेनम्; कथं तर्हि ?
अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्येति
वचनात् ।

जीवो हि नाम देवताया आ-
भासमात्रम् । बुद्ध्यादिभूतमात्रा-
संसर्गजनित आदर्श इव प्रविष्टः
पुरुषप्रतिबिम्बो जलादिष्विव च
सूर्यादीनाम् । अचिन्त्यानन्त-
शक्तिमत्या देवताया बुद्ध्यादि-
संबन्धश्चैतन्याभासो देवतास्वरू-
पविवेकाग्रहणनिमित्तः सुखी
दुःखी मूढ इत्याद्यनेकविकल्प-
प्रत्ययहेतुः ।

आश्रयभूत शरीरमें अनुप्रवेश करके
दुःखका अनुभव करूँ, और फिर
उसमें अनुप्रवेश करना सम्भव
नहीं है ।

समाधान—ठीक है, यदि वह
ऐसा संकल्प करता कि अपने
अविकृतरूपसे ही अनुप्रवेश करूँ
और दुःखका अनुभव 'करूँ' तब
तो ऐसा करना ठीक नहीं था,
किंतु ऐसी बात है नहीं । तो
फिर क्या है ?—'इस जीवात्मारूप-
से अनुप्रवेश करूँ' ऐसा वचन
होनेके कारण [उसका साक्षात्
प्रवेश सिद्ध नहीं होता] ।

जीव तो उस देवताका आभास-
मात्र है, जो दर्पणमें प्रविष्ट हुए
पुरुषके प्रतिबिम्बके समान तथा
जल आदिमें प्रविष्ट हुए सूर्यके
आभासके समान बुद्धि आदिभूत-
मात्राओंके संसर्गसे उत्पन्न हुआ है ।
अचिन्त्य एवं अनन्त शक्तिसे युक्त
उस देवताका बुद्धि आदिसे सम्बन्ध-
रूप जो चैतन्याभास है वही उस
देवताके स्वरूपका विवेक ग्रहण न
करनेके कारण सुखी, दुःखी, मूढ
इत्यादि अनेकों विकल्पोंकी प्रतीति-
का कारण होता है ।

छायामात्रेण जीवरूपेणानु-
प्रविष्टत्वादेवता न दैहिकैः स्वतः
सुखदुःखादिभिः संवध्यते ।
यथा पुरुषादित्यादय आदर्शोद-
कादिपुच्छायामात्रेणानुप्रविष्टा
आदर्शोदकादिदोषैर्न संवध्यन्ते
तद्वद्देवतापि । “सूर्यो यथा सर्व-
लोकस्य चक्षुर्न लिप्यते चाक्षु-
र्षैर्वाह्यदोषैः । एकस्तथा सर्व-
भूतान्तरात्मा न लिप्यते लोक-
दुःखेन बाह्यः” (क० उ० २ ।
२ । १२) । “आकाशवत्सर्वग-
तश्च नित्यः” इति हि काठके ।
“ध्यायतीव लेलायतीव” (बृह०
उ० ४ । ३ । ७) इति च वा-
जसनेयके ।

ननुच्छायामात्रश्चेज्जीवो मृ-
पैव प्राप्तस्तथा परलोकेहलोकादि
च तस्य ।

नैव दोषः; सदात्मना सत्य-
त्वाभ्युपगमात् । सर्वं च नाम-

छायामात्र जीवरूपसे अनुप्रविष्ट
होनेके कारण वह देवता स्वयं देहके
सुख-दुःखादिसे सम्बद्ध नहीं होता ।
जिस प्रकार दर्पण और जल
आदिमें छायामात्रसे अनुप्रविष्ट
हुए मनुष्य और सूर्य आदि दर्पण
और जल आदिके दोषोंसे लिप्त
नहीं होते उसी प्रकार वह देवता
भी निर्लिप्त रहता है । “जिस
प्रकार सम्पूर्ण लोकका चक्षुरूप
सूर्य चक्षुसम्बन्धी बाह्य दोषोंसे
लिप्त नहीं होता उसी प्रकार समस्त
प्राणियोंका एक ही अन्तरात्मा
लौकिक दुःखोंसे लिप्त नहीं होता
बल्कि उनसे बाहर रहता है”
“तथा वह आकाशके समान सर्वत्र
व्याप्त एव नित्य है” इस प्रकार
कठोपनिषद्में तथा “मानो ध्यान
करता है, मानो चेष्टा करता है”
इस प्रकार बृहदारण्यकोपनिषद्में
भी कहा है ।

शङ्का—यदि जीव छायामात्र ही
है तो वह मिथ्या ही सिद्ध होता है
तथा उसके परलोक, इहलोक आदि
भी मिथ्या ही ठहरते हैं ?

समाधान—ऐसा दोष नहीं है,
क्योंकि सत्स्वरूपसे उसका सत्यत्व
स्वीकार किया गया है । सारा

रूपादि सदात्मनैव सत्यं विकारजातं स्वतस्त्वनृतमेव । 'वाचरम्भणं विकारो नामधेयम्' इत्युक्तत्वात् । तथा जीवोऽपीति । यच्चानुरूपो हि बलिरिति न्यायप्रसिद्धिः । अतः सदात्मना सर्वव्यवहाराणां सर्वविकाराणां च सत्यत्वं सतोऽन्यत्वे चानृतत्वमिति न कश्चिदोपस्ताकिंकैरिहानुपपन्नं शक्यः । यथेतेतरविरुद्धद्वैतवादाः स्वबुद्धिविकल्पमात्रा अतत्त्वनिष्ठा इति शक्यं वक्तुम् ॥ २ ॥

नाम-रूपादि विकारजात सत्स्वरूपसे ही सत्य है, स्वयं तो वह मिथ्या ही है, क्योंकि 'विकार तो केवल कहनेके लिये नाममात्र है' ऐसा कहा जा चुका है ऐसा ही जीव भी है । 'जैसा यक्ष वैसी ही बलि' यह न्याय प्रसिद्ध ही है । अतः सत्स्वरूपसे सम्पूर्ण व्यवहार और सारे विकारोंकी सत्यता है तथा सत्से पृथक् माननेपर उनका मिथ्यात्व है—इस प्रकार तार्किकों-द्वारा इस विषयमें किसी दोषका प्रसङ्ग नहीं उपस्थित किया जा सकता, जैसा कि हम कह सकते हैं कि एक दूसरेसे विरुद्ध द्वैतवाद अपनी ही बुद्धिके विकल्पमात्र और अतत्त्वनिष्ठ हैं ॥ २ ॥

—:०:—

सैवं तिस्रो देवता अनुप्रविश्य स्वात्मावस्थे वीजभूते अव्याकृते नामरूपे व्याकरवाणीतीक्ष्णित्वा-

इस प्रकार उसने उन तीनों देवताओंमें अनुप्रवेश कर और इस प्रकार ईक्षण कर कि 'मैं अपने स्वरूपमें स्थित अव्याकृत नाम रूपोंका व्याकरण करूँ'—

तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकां करवाणीति सेयं देवतेमास्तिस्त्रो देवता अनेनैव जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरोत् ॥ ३ ॥

‘और उनमेसे एक-एक देवताको त्रिवृत्-त्रिवृत् करूँ’ ऐसा विचार कर उस इस देवताने इस जीवात्मरूपसे ही उन तीन देवताओमे अनुप्रवेश कर नामरूपका व्याकरण किया ॥ ३ ॥

तासां च तिसृणां देवताना-
मेकैकां त्रिवृतं त्रिवृतं करवाणि ।
एकैकस्याः प्राधान्यं द्वयोर्द्वयो-
र्गुणभावोऽन्यथा हि रज्ज्वा
इवैकमेव त्रिवृत्करणं स्यात्, न
तु तिसृणां पृथक्पृथक्त्रिवृत्करण-
मिति । एवं हि तेजोऽन्नानां
पृथङ्नामप्रत्ययलाभः स्यात्तेज
इदमिमा आपोऽन्नमिदमिति च
सति च पृथङ्नामप्रत्ययलाभे
देवतानां—सम्यग्व्यवहारस्य
प्रसिद्धिः प्रयोजनं स्यात् ।

एवमीक्षित्वा सेयं देवतेमा-
स्तिस्रो देवता अनेनैव यथोक्ते-
नैव जीवेन सूर्यविम्बवदन्तः-
प्रविश्य वैराजं पिण्डं प्रथमं
देवादीनां च पिण्डाननुप्रविश्य

‘और उन तीनो देवताओमेसे एक एकको त्रिवृत् त्रिवृत् करूँ ।’ एक एक देवताके त्रिवृत्करणमे एक-एककी प्रधानता और दो दोकी गौणता रहती है, नही तो तीन [लडवाली] रस्सीके समान एक ही त्रिवृत्करण होता । तीनो देवताओ का पृथक् पृथक् त्रिवृत्करण नही होता । इस प्रकार ही तेज, अप् और अन्नको ‘यह तेज है, यह जल है, यह अन्न है’ ऐसे पृथक् पृथक् नाम और प्रतीतिकी प्राप्ति हो सकती है, और पृथक् पृथक् नाम तथा प्रतीतिकी प्राप्ति होनेपर ही देवताओके सम्यक् व्यवहारकी सिद्धिरूप प्रयोजनकी पूर्ति हो सकती है ।

इस प्रकार ईक्षण कर उस देवता-ने इन तीनों देवताओमे इस उपर्युक्त जीवरूपसे ही सूर्यविम्बके समान भीतर प्रवेश कर अर्थात् पहले विराट् पिण्डमे और उसके पश्चात् देवादि पिण्डोमें अनुप्रवेश कर अपने सकल्प-के अनुसार ही नाम-रूपोका

यथासंकरूपमेव नामरूपे व्या-
करोदसौ नामायमिदंरूप
इति ॥ ३ ॥

व्याकरण किया । अर्थात् यह
पदार्थ इस नामवाला और इस
रूपवाला है—इस प्रकार पदार्थोंका
व्यक्तीकरण किया ॥ ३ ॥



तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकामकरोयथा तु खलु सो-
म्येमास्तिस्त्रो देवतास्त्रिवृत्त्रिवृदेकैका भवति तन्मे
विजानीहीति ॥ ४ ॥

उस देवताने उनमेंसे प्रत्येकको त्रिवृत्-त्रिवृत् किया । हे सोम्य !
जिस प्रकार ये तीनों देवता एक-एक करके प्रत्येक त्रिवृत्-त्रिवृत् हैं वह
मेरेद्वारा जान ॥ ४ ॥

तासां च देवतानां गुणप्रधान-
भावेन त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकाम-
करोत्कृतवती देवता । तिष्ठतु
तावद्देवतापिण्डानां नामरूपा-
भ्यां व्याकृतानां तेजोऽन्नस्य-
त्वेन त्रिधात्वं यथा तु बहिरिमाः
पिण्डेभ्यस्तिस्त्रो देवतास्त्रिवृत्त्रि-
वृदेकैका भवति तन्मे मम
निगदतो विजानीहि विस्पष्टमव-
धारयोदाहरणतः ॥ ४ ॥

उस देवताने उन देवताओंमेंसे
एक-एकको गुण-प्रधानभावसे
त्रिवृत्-त्रिवृत् किया । अभी, नाम-
रूपसे व्यक्त हुए देवता आदि
पिण्डोंके तेज, अप् और अन्नरूपसे
त्रिविधत्वकी बात अलग रहे, इन
पिण्डोंसे बाहर भी ये तीनों देवता
एक-एक करके किस प्रकार त्रिवृत्-
त्रिवृत् हैं सो मेरे कथनद्वारा जान
अर्थात् उदाहरणद्वारा अच्छी तरह
समझ ले ॥ ४ ॥

—*—

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि पञ्चाध्याये
तृतीयखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥ ३ ॥

—*—

चतुर्थ खण्ड

—❀—

एकके ज्ञानसे सबका ज्ञान

यत्तद्देवतानां त्रिवृत्करणमुक्तं । उन देवताओंका जो त्रिवृत्करण
तस्यैवोदाहरणमुच्यते, उदाहरणं दिया जाता है । उदाहरण उसे
नामैकदेशप्रसिद्ध्याशेषप्रसिद्धय- द्वारा सम्पूर्ण देशकी प्रसिद्धिके लिये
र्थमुदाहिपत इति । तदेतदाह— रण देती है—

यदग्ने रोहितः रूपं तेजसस्तद्रूपं यच्छुक्लं तदपां
यत्कृष्णं तदन्नस्यापागादग्नेरग्नित्वं वाचारम्भणं
विकारो नामधेयं त्रीणि रूपाणीत्येव सत्यम् ॥ १ ॥

अग्निका जो रोहित (लाल) रूप है वह तेजका ही रूप है, जो
शुक्ल रूप है वह जलका है और जो कृष्ण है वह अन्नका है । इस प्रकार
अग्निसे अग्नित्व निवृत्त हो गया, क्योंकि [अग्निरूप] विकार वाणीसे
कहनेके लिये नाममात्र है, केवल तीन रूप हैं—इतना ही सत्य है ॥ १ ॥

यदग्नेस्त्रिवृत्कृतस्य रोहितं रूपं लोकमे त्रिवृत्कृत (तीन तत्त्वोंसे
प्रसिद्धं लोके तदत्रिवृत्कृतस्य मिश्रित) अग्निका जो रोहित रूप
तेजसो रूपमिति विद्धि । तथा प्रसिद्ध है वह अत्रिवृत्कृत (केवल)
यच्छुक्लं रूपमग्नेरेव तदपामत्रिवृत्कृत रूप है—ऐसा जानो । तथा
वृत्कृतानां यत्कृष्णं तस्यैवाग्ने उस अग्निका ही जो शुक्ल रूप है
रूपं तदन्नस्य पृथिव्या अत्रिवृत्कृत रूप है वह अन्नका—अत्रिवृत्कृत
कृताया इति विद्धि । पृथिवीका रूप है—ऐसा जानो ।

तत्रैवं सति रूपत्रयव्यतिरेके-
 णाग्निरिति यन्मन्यसे त्वं तस्या-
 ग्नेरग्नित्वमिदानीमपागादपगतम् ।
 प्राग्रूपत्रयविवेकविज्ञानाद्यग्नि-
 बुद्धिरासीत्ते साग्नibुद्धिरपग-
 ताग्निशब्दश्चेत्यर्थः । यथा दृश्य-
 मानरक्तोपधानसंयुक्तः स्फटिको
 गृह्यमाणः पद्मरागोऽयमिति-
 शब्दबुद्धयोः प्रयोजको भवति
 प्राग्रूपधानस्फटिकयोर्विवेकविज्ञा-
 नात्तद्विवेकविज्ञाने तु पद्मराग-
 शब्दबुद्धी निवर्तते तद्विवेक-
 विज्ञातुस्तद्वत् ।

ननु किमत्र बुद्धिशब्दकल्प-
 नया क्रियते प्राग्रूपत्रयविवेक-
 करणादग्निरेवासीत्तदग्नेरग्नित्वं

ऐसा होनेपर, तू जो समझता
 था कि अग्नि इन तीनों रूपोंसे
 अलग भी कोई वस्तु है सो उस
 अग्निका अग्नित्व अब चला गया ।
 तात्पर्य यह है कि इन तीनों रूपोंका
 विशेष ज्ञान होनेसे पूर्व तेरी जो
 अग्निबुद्धि थी वह अग्निबुद्धि और
 'अग्नि' शब्द अब निवृत्त हो गये ।
 जिस प्रकार दिखायी देते हुए लाल
 रंगके उपधान (समीपवर्ती पदार्थ) से
 मिला हुआ स्फटिक प्राप्त होनेपर
 उपधान और स्फटिकका पार्थक्य
 ज्ञात होनेसे पूर्व 'यह पद्मराग है'
 इस प्रकारके शब्द और बुद्धिका
 प्रयोजक होता है, किंतु उनका
 पार्थक्य ज्ञात होनेपर उसमें उस
 पार्थक्यज्ञानीके पद्मराग शब्द और
 पद्मराग-बुद्धि दोनों निवृत्त हो जाते
 हैं उसी प्रकार [रूपत्रयका विवेक
 होनेपर अग्निका अग्नित्व निवृत्त
 हो जाता है] ।

शङ्का—किंतु यहाँ (इस अग्निके
 सम्बन्धमें) अग्निबुद्धि और अग्नि-
 शब्द ऐसी अधिक कल्पना करके
 क्या लेना है ? रूपत्रयका विवेक
 करनेसे पूर्व अग्नि ही था । वह

रोहितादिरूपविवेककरणादपा-

गादिति युक्तम्; यथा तन्त्वपक-

र्षणे पटाभावः ।

नैवं बुद्धिशब्दमात्रमेव ह्यग्नि-
र्यत आह वाचारम्भणमग्निर्नाम
विकारो नामधेयं नाममात्रमि-
त्यर्थः । अतोऽग्निबुद्धिरपि सृपैव
किं तर्हि तत्र सत्यम् ? त्रीणि रूपा-
णीत्येव सत्यम्, नाणुमात्रमपि
रूपत्रयव्यतिरेकेण सत्यमस्तीत्य-
वधारणार्थः ॥ १ ॥

अग्निका अग्नित्व रोहितादि रूपोंका
विवेक करनेसे निवृत्त हो गया—
इतना ही कहना उचित है, जिस
प्रकार कि तन्तुओंको निकाल लेने-
पर पटका अभाव हो जाता है ।

समाधान—ऐसी बात नहीं है,
क्योंकि अग्नि तो अग्निबुद्धि और
अग्निशब्दमात्र ही है, कारण श्रुति
कहती है 'अग्निरूप जो विकार है
वह वाणीपर अवलम्बित नामधेय
अर्थात् नाममात्र ही है ।' इसलिये
अग्निबुद्धि भी मिथ्या ही है । तो
फिर उसमें सत्य क्या है ? बस, तीन
रूप ही सत्य है—यह कथन इस
बातको निश्चित करनेके लिये है
कि तीन रूपोंके अतिरिक्त और
कुछ अणुमात्र भी सत्य नहीं है ॥ १ ॥

—०:—

तथा —

। इसी प्रकार—

यदादित्यस्य रोहितरूपं तेजसस्तद्रूपं यच्छुक्लं
तदपां यत्कृष्णं तदन्नस्यापागादादित्यादादित्यत्वं वा-
चारम्भणं विकारो नामधेयं त्रीणि रूपाणीत्येव सत्यम् ।
॥ २ ॥ यच्चन्द्रमसो रोहितरूपं तेजसस्तद्रूपं यच्छुक्लं
तदपां यत्कृष्णं तदन्नस्यापागाच्चन्द्राच्चन्द्रत्वं वाचार-
म्भणं विकारो नामधेयं त्रीणि रूपाणीत्येव सत्यम् ॥ ३ ॥

यद्विद्युतो रोहितरूपं तेजसस्तद्रूपं यच्छुक्लं तदपां
यत्कृष्णं तदन्नस्यापागाद्विद्युतो विद्युत्त्वं वाचारम्भणं
विकारो नामधेयं त्रीणि रूपाणीत्येव सत्यम् ॥४॥

आदित्यका जो रोहित रूप है वह तेजका रूप है, जो शुक्ल रूप है वह जलका है और जो कृष्णरूप है वह अन्नका है । इस प्रकार आदित्य-से आदित्यत्व निवृत्त हो गया, क्योंकि [आदित्यरूप] विकार वाणीपर अवलम्बित नाममात्र है, तीन रूप हैं—इतना ही सत्य है ॥२॥ चन्द्रमाका जो रोहित रूप है वह तेजका रूप है, जो शुक्ल रूप है वह जलका है और जो कृष्ण रूप है वह अन्नका है । इस प्रकार चन्द्रमासे चन्द्रत्व निवृत्त हो गया, क्योंकि [चन्द्रमारूप] विकार वाणीपर अव-लम्बित नाममात्र है, तीन रूप हैं—इतना ही सत्य है ॥३॥ विद्युत्का जो रोहित रूप है वह तेजका रूप है, जो शुक्ल रूप है वह जलका है और जो कृष्ण रूप है वह अन्नका है । इस प्रकार विद्युत्से विद्युत्त्वकी निवृत्ति हो गयी, क्योंकि [विद्युत् रूप] विकार वाणीपर अवलम्बित नाममात्र है, तीन रूप हैं—इतना ही सत्य है ॥ ४ ॥

यदादित्यस्य यच्चन्द्रमसो

• यद्विद्युत इत्यादि समानम् ।

ननु यथा तु खलु सोम्येमा-
स्तिस्रो देवतास्त्रिवृत्त्रिवृदेकैका
भवति तन्मे विजानीहीत्युक्त्वा
तेजस एव चतुर्भिरप्युदाहरणैर-
ग्न्यादिभिस्त्रिवृत्करणं दर्शितं
नावन्नयोरुदाहरणं दर्शितं
त्रिवृत्करणे ।

जो आदित्यका, जो चन्द्रमाका,
जो विद्युत्का इत्यादि अर्थ पूर्ववत्
समझना चाहिये ।

शङ्का—किंतु 'हे सोम्य ! जिस प्रकार ये तीनों देवता एक-एक करके प्रत्येक त्रिवृत्-त्रिवृत् हैं वह मेरेद्वारा जान' ऐसा कहकर अग्नि आदि चारों उदाहरणोंसे तेजका ही त्रिवृत्करण दिखलाया गया है, त्रिवृत्करणमें जल और अन्नका तो उदाहरण प्रदर्शित किया ही नहीं गया ।

नैव दोषः; अन्नविषयाण्य-
 प्युदाहरणान्येवमेव च द्रष्टव्या-
 नीति मन्यते श्रुतिः, तेजस
 उदाहरणमुपलक्षणार्थम् । रूपव-
 त्वात्स्पष्टार्थत्वोपपत्तेश्च । गन्ध-
 रसयोरनुदाहरणं त्रयाणामसंभ-
 वात्; न हि गन्धरसौ तेजसि
 स्तः । स्पर्शशब्दयोरनुदाहरणं
 विभागेन दर्शयितुमशक्यत्वात् ।

यदि सर्वं जगत्त्रिवृत्कृतमि-
 त्यग्न्यादिवत्त्रीणि रूपाणीत्येव
 सत्यमग्नेरग्नित्ववदपागाज्जगतो
 जगत्त्वम् । तथान्नस्याप्यप्शुङ्ग-
 त्वादाप इत्येव सत्यं वाचारम्भ-
 णमात्रमन्नम् । तथापामपि तेजः-
 शुद्धत्वाद्वाचारम्भणत्वं तेज इत्येव
 सत्यम् । तेजसोऽपि सच्छुद्धत्वा-
 द्वाचारम्भणत्वं सदित्येव सत्य-
 मित्येवोऽथ । विवक्षितः ।

समाधान—यह कोई दोष नहीं
 है । श्रुति ऐसा मानती है कि जल
 और अन्नविषयक उदाहरणोको भी
 इसी प्रकार जानना चाहिये । तेज-
 का उदाहरण उनका उपलक्षण
 करानेके लिये है । इसके सिवा,
 रूपवान् होनेके कारण उसके
 द्वारा स्पष्टार्थता भी सम्भव है ।
 गन्ध और रसका उदाहरण इसलिये
 नहीं दिया गया कि इन तीनोंमें
 उनका होना असम्भव है, तेजमे
 गन्ध और रस हैं ही नहीं । तथा
 [त्रिविध] स्पर्श और [त्रिविध]
 शब्दको अलग करके नहीं दिखाया
 जा सकता इसलिये उनका
 भी उदाहरण नहीं दिया ।

यदि सारा ही जगत् त्रिवृत्कृत
 है और अग्नि आदिके समान केवल
 तीन ही रूप सत्य हैं तो अग्निके
 अग्नित्वके समान ससारका ससारत्व
 भी निवृत्त हो गया । तथा अन्न
 जलका कार्य है, इसलिये जल ही
 सत्य है, अन्न केवल वाचारम्भणमान
 है, तथा तेजका कार्य होनेके कारण
 जल भी वाचारम्भणमान ही है,
 तेज ही सत्य है और तेज भी सत्का
 कार्य है इसलिये वह भी वाचारम्भण
 ही है, केवल सत् ही सत्य है ।
 इस प्रकार इससे यही अर्थ बतलाना
 अभीष्ट है ।

ननु वाय्वन्तरिक्षे त्वन्निवृ-
त्कृते तेजःप्रभृतिष्वनन्तर्भूतत्वाद्-
वशिष्येते । एवं गन्धरसशब्द-
स्पर्शाश्चावशिष्टा इति कथं सता
विज्ञातेन सर्वमन्यदविज्ञातं वि-
ज्ञातं भवेत् ? तद्विज्ञाने वा प्रकारा-
न्तरं वाच्यम् ।

नैष दोषः; रूपवद्द्रव्ये सर्व-
स्य दर्शनात् । कथम् ? तेजसि
तावद्रूपवति शब्दस्पर्शयोः स्फुप-
लम्भाद्वाय्वन्तरिक्षयोस्तत्र स्पर्श-
शब्दगुणवतोः सद्भावोऽनुनीय-
ते । तथाचन्नयो रूपवतो रस-
गन्धान्तर्भाव इति । रूपवतां
त्रयाणां तेजोऽवन्नानां निवृत्करण-
प्रदर्शनेन सर्वं तदन्तर्भूतं
सद्विकारत्वात्प्रीत्येव रूपाणि
विज्ञातं मन्यते श्रुतिः । न हि

शङ्का—किंतु वायु और अन्त-
रिक्ष तो तेज आदिके अन्तर्गत न
होनेके कारण अन्निवृत्कृत ही रह
जाते हैं । इसी प्रकार गन्ध, रस,
शब्द और स्पर्श भी वच रहते हैं;
फिर एकमात्र सत्को जान लेनेपर
ही और सब अज्ञात पदार्थोंका ज्ञान
किस प्रकार हो सकता है । अथवा
उनका ज्ञान होनेके लिये श्रुतिको
कोई दूसरा प्रकार बतलाना
चाहिये ।

समाधान—यह कोई दोष नहीं
है, क्योंकि रूपवान् द्रव्यमें सब
गुण देखे जा सकते हैं । किस
प्रकार ? [सो बतलाते हैं—]
रूपवान् तेजमें शब्द और स्पर्शकी
भी उपलब्धि होनेके कारण उसमें
स्पर्श और शब्द गुणवाले वायु और
आकाशके सद्भावका भी अनुमान
किया जाता है । तथा रूपवान्
जल और अन्नमें रस एवं गन्धका
अन्तर्भाव हो जाता है । इस प्रकार
तेज, जल और अन्न—इन तीन
रूपवानोंका निवृत्करण प्रदर्शित
करनेसे श्रुति ऐसा मानती है कि
उनके अन्तर्गत साराका सारा
सत्का ही कार्य होनेके कारण
तीन रूप ही सत्य जाने गये हैं;

मूर्त रूपवद्द्रव्यं प्रत्याख्याय
वाय्वाकाशयोस्तद्गुणयोग्धरस-
योर्वा ग्रहणमस्ति ।

अथवा रूपवतामपि त्रिवृत्क-
रणं प्रदर्शनार्थमेव मन्यते श्रुतिः ।
पथा तु त्रिवृत्कृते त्रीणि रूपा-
ण्येत्येव सत्यम्, तथा पञ्चीकरणे-
ऽपि समानो न्याय इत्यतः सर्वस्य
सद्विकारत्वात्सता विज्ञातेन स-
र्वमिदं विज्ञातं स्यात्सदेकमेवा-
द्वितीयं सत्यमिति सिद्धमेव
भवति । तदेकस्मिन्सति विज्ञाते
सर्वमिदं विज्ञातं भवतीति
सूक्तम् ॥ २-४ ॥

क्योकि रूपवान् मूर्त पदार्थोको
छोडकर वायु और आकाशका तथा
उनके गुण एव गन्ध और रसका
ग्रहण हो नहीं हो सकता ।

अथवा इन रूपवान् पदार्थोके
त्रिवृत्करणको भी श्रुति प्रदर्शनके
ही लिये मानती है । जिस प्रकार
त्रिवृत्करणमे तीन रूप ही सत्य हैं
उसी प्रकार पञ्चीकरणमे भी समान
नियम ही समझना चाहिये । इस
प्रकार सब कुछ सत्का ही विकार
होनेके कारण सत्के ज्ञानसे यह
साराका सारा जान लिया जाता
है । अत एकमान अद्वितीय सत्
ही सत्य है—यह सिद्ध ही है ।
इसलिये यह ठीक ही कहा है कि
उस एकको जान लेनेपर यह सब
जान लिया जाता है ॥ २-४ ॥

—••—

एतद्ध स्म वै तद्विद्वांस आहुः पूर्वं महाशाला
महाश्रोत्रिया न नोऽद्वय कश्चनाश्रुतममतमविज्ञातमुदा-
हरिष्यतीति ह्येभ्यो विदाश्चक्रुः ॥ ५ ॥

इस (त्रिवृत्करण) को जाननेवाले पूर्ववर्ती महागृहस्थ और महा-
श्रोत्रियोने यह कहा था कि इस समय हमारे कुलमे कोई बात अश्रुत,
प्रमत अथवा अविज्ञात है—ऐसा कोई नहीं कह सकेगा, क्योकि इन
अग्नि आदिके दृष्टान्तद्वारा वे सब कुछ जानते थे ॥ ५ ॥

एतद्विद्वांसो विदितवन्तः पूर्वे-
ऽतिक्रान्ता महाशाला महा-
श्रोत्रिया आहुर्ह स्म वै किल ।
किमुक्तवन्तः ? इत्याह—न नो-
ऽस्माकं कुलेऽप्येदानीं यथोक्त-
विज्ञानवतां कश्चन कश्चिदप्य-
श्रुतमसतमविज्ञातमुदाहरिष्यति
नोदाहरिष्यति, सर्वं विज्ञातमेवा-
स्मत्कुलीनानां सद्विज्ञानवत्त्वादि-
त्यभिप्रायः ।

ते पुनः कथं सर्वं विज्ञात-
वन्तः ? इत्याह—एभ्यस्त्रिभ्यो
रोहितादिरूपेभ्यस्त्रिवृत्कृतेभ्यो
विज्ञातेभ्यः सर्वमप्यन्यच्छ्रुष्टमेव-
मेवेति विदाश्चक्रुर्विज्ञातवन्तो य-
स्मात्तस्मात्सर्वज्ञा एव सद्विज्ञा-
नात्त आसुरित्यर्थः । अथवैभ्यो
विदाश्चक्रुरित्यग्न्यादिभ्यो दृष्टा-
न्तेभ्यो विज्ञातेभ्यः सर्वमन्यद्वि-
दाश्चक्रुरित्येतत् ॥ ५ ॥

इस (त्रिवृत्करण) को जानने-
वाले पूर्ववर्ती अर्थात् अतीतकालीन
महागृहस्थ और महाश्रोत्रियों ने कहा
था । क्या कहा था ? सो बतलाते
हैं—‘उपर्युक्त विज्ञानको जाननेवाले
हमलोगोंके कुलमें आज—इस
समय कुछ भी अश्रुत, अमत अथवा
अविज्ञात हो, ऐसा कोई भी नहीं
बता सकेगा । तात्पर्य यह है कि
सत्के विज्ञानसे युक्त होनेके कारण
हमारे कुटुम्बियोंको सब कुछ ज्ञान
ही है ।’

किंतु उन्होंने किस प्रकार सब
कुछ जाना है, सो श्रुति बतलाती
है—‘क्योंकि इन तीन अर्थात्
[इस प्रकार] जाने हुए त्रिवृत्कृत
रोहितादि रूपोंद्वारा, अन्य अवशिष्ट
पदार्थ भी ऐसे ही हैं—इस प्रकार वे
जानते हैं, अतः सत्के विज्ञानके
कारण वे सब सर्वज्ञ ही हो गये
हैं’—ऐसा इसका तात्पर्य है ।
अथवा ‘एभ्यः विदाश्चक्रुः’ इसका
यह भी तात्पर्य हो सकता है कि
विज्ञात हुए इन अग्नि आदि
दृष्टान्तोंद्वारा वे और सबको भी
जान गये हैं ॥ ५ ॥

कथम् ?

। किस प्रकार जान गये हैं ?

यदु रोहितमिवाभूदिति तेजसस्तद्रूपमिति तद्विदा-
 श्चक्रुर्यदु शुक्लमिवाभूदित्यपां रूपमिति तद्विदाश्चक्रुर्यदु
 कृष्णमिवाभूदित्यन्नस्य रूपमिति तद्विदाश्चक्रुः ॥ ६ ॥
 यद्विज्ञातमिवाभूदित्येतासामेव देवतानां समास इति
 तद्विदाश्चक्रुर्यथा नु खलु सोम्येमास्तिस्त्रो देवताः
 पुरुषं प्राप्य त्रिवृत्त्रिवृदेकैका भवति तन्मे विजानी-
 हाति ॥ ७ ॥

जो कुछ रोहित-सा है वह तेजका रूप है—ऐसा उन्होंने जाना है; जो शुक्ल-सा है वह जलका रूप है—ऐसा उन्होंने जाना है तथा जो कृष्ण-सा है वह अन्नका रूप है—ऐसा उन्होंने जाना है ॥ ६ ॥
 तथा जो कुछ विज्ञात-सा है वह इन देवताओंका ही समुदाय है—ऐसा उन्होंने जाना है । हे सोम्य ! अब तू मेरेद्वारा यह जान कि किस प्रकार ये तीनों देवता पुरुषको प्राप्त होकर उनमेंसे प्रत्येक त्रिवृत्-त्रिवृत् हो जाता है ॥ ७ ॥

यदन्यद्रूपेण संदिह्यमाने क-
 पोतादिरूपे रोहितमिव यद्गृह्य-
 माणमभूत्तेषां पूर्वेणां ब्रह्मविदाम्,
 तच्चेजसो रूपमिति विदाश्चक्रुः ।
 तथा यच्छुक्लमिवाभूद्गृह्यमाणं
 तदपां रूपम्, यत्कृष्णमिव गृह्यमाणं
 तदन्नस्येति विदाश्चक्रुः । एवमेवा-

[अग्नि आदिकी अपेक्षा]
 अन्य रूपसे संदेह किये जाते हुए
 कपोतादिरूपमे जो उन पूर्ववर्ती
 ब्रह्मवेत्ताओंद्वारा रोहित-सा ग्रहण
 किया जाता था वह तेजका रूप
 है—ऐसा उन्होंने जाना । तथा जो
 शुक्ल-सा ग्रहण किया जाता था
 वह जलका रूप है और जो कृष्ण-
 सा ग्रहण किया जाता था वह
 अन्नका रूप है—ऐसा उन्होंने
 जाना । इसी प्रकार जो अत्यन्त

त्यन्तदुर्लक्ष्यं यदु अप्यविज्ञातमिव
विशेषतोऽगृह्यमाणमभूत्तदप्येतासा-
मेव तिसृणां देवतानां समा-
सः समुदाय इति विदाश्चक्रुः ।

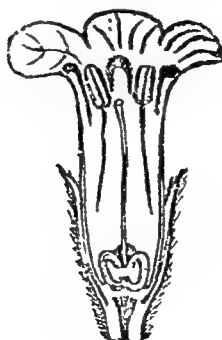
एवं तावद्ब्राह्मं वस्त्वग्न्यादि-
वद्विज्ञातम्, तथेदानीं यथा नु खलु
हे सोम्येमा यथोक्तास्तिस्त्रो
देवताः पुरुषं शिरःपाण्यादि-
लक्षणं कार्यकरणसंवातं प्राप्य
पुरुषेणोपयुज्यमानास्त्रिवृत्त्रिवृदे-
कैका भवति, तन्मे विजानीहि
निगदत इत्युक्त्वाह ॥ ६-७ ॥

दुर्लक्ष्य और अविज्ञात-सा अर्थात्
विशेषरूपसे ग्रहण नहीं किया जा
सकता था वह भी इन तीन
देवताओंका ही समूह है—ऐसा
उन्होंने जाना था ।

इस प्रकार तो बाह्य वस्तुएँ
अग्नि आदिके समान जानी गयीं ।
अब, हे सोम्य ! जिस प्रकार वे
उपयुक्त तीनों देवता मस्तक और
हाथ आदि अङ्गोंवाले शरीर एवं
इन्द्रियोंके संवातरूप पुरुषको प्राप्त
होकर पुरुषसे उपयोग की जाती
हुई प्रत्येक त्रिवृत्-त्रिवृत् हो जाती
है वह मेरे द्वारा—मेरे कथन
करनेपर तू जान । ऐसा कहकर
वह कहने लगा ॥ ६-७ ॥

—*:*—

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि षष्ठाध्याये
चतुर्थखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥ ४ ॥



पञ्चम खण्ड

—❀:❀—

अन्न आदिके त्रिविध परिणाम

अन्नमशितं त्रेधा विधीयते तस्य यः स्थविष्ठो
धातुस्तत्पुरीषं भवति यो मध्यमस्तन्मांसं योऽणि-
ष्ठस्तन्मनः ॥ १ ॥

खाया हुआ अन्न तीन प्रकारका हो जाता है । उसका जो अत्यन्त स्थूल भाग होता है, वह मल हो जाता है, जो मध्यम भाग है वह मांस हो जाता है और जो अत्यन्त सूक्ष्म होता है वह मन हो जाता है ॥ १ ॥

अन्नमशितं मुक्तं त्रेधा विधी-
यते जाठरेणाग्निना पच्यमानं
त्रिधा विभज्यते । कथम् ? तस्या-
न्नस्य त्रिधा विधीयमानस्य
यः स्थविष्ठः स्थूलतमो धातुः
स्थूलतमं वस्तु विभक्तस्य
स्थूलोऽंशः, तत्पुरीषं भवति;
यो मध्यमोऽंशो धातुस्त्वनस्य,
तद्रसादिक्रमेण परिणम्य
मांसं भवति; योऽणिष्ठोऽणुतमो
धातुः, स ऊर्ध्वं हृदयं प्राप्य
सूक्ष्मासु हिताख्यासु नाडीष्व-
नुप्रविश्य वागादिकरणसंधातस्य

खाया हुआ अन्न तीन प्रकारका
हो जाता है अर्थात् जठराग्निद्वारा
पचाये जानेपर वह तीन भागोंमें
विभक्त हो जाता है । सो किस
प्रकार ?—तीन भागोंमें विभक्त
होते हुए उस अन्नका जो स्थविष्ठ-
स्थूलतम धातु—सबसे स्थूल वस्तु
यानी विभक्त हुए अन्नका जो स्थूल
अंश होता है वह मल हो जाता है ।
तथा जो अन्नका मध्यम अंश यानी
मध्यम धातु होता है वह रसादि
क्रमसे परिणत होकर मांस हो जाता
है और जो अणिष्ठ—अणुतम
धातु होता है वह ऊपरकी ओर
हृदयमें पहुँचकर हिता नामकी
सूक्ष्म नाड़ीमें प्रवेश कर वायु आदि

स्थितिमुत्पादयन्मनो भवति ।
मनोरूपेण विपरिणमन्मनस
उपचयं करोति ।

ततश्चान्नोपचितत्वान्मनसो
भौतिकत्वमेव; न वैशेषिकतन्त्रो-
क्तलक्षणं नित्यं निरवयवं चेति
गृह्यते । यदपि 'मनोऽस्य दैवं
चक्षुः' इति वक्ष्यति तदपि न नि-
त्यत्वापेक्षया; किं तर्हि? सूक्ष्मव्य-
वहितविप्रकृष्टादिसर्वेन्द्रियविषय-
व्यापकत्वापेक्षया । यच्चान्येन्द्रि-
यविषयापेक्षयानित्यत्वम्, तदप्या-
पेक्षिकमेवेति वक्ष्यामः । "सत्
एकमेवाद्वितीयम्" (छा० उ०
६।२।१) इति श्रुतेः ॥ १ ॥

इन्द्रियसमूहकी स्थिति उत्पन्न करता
हुआ मन हो जाता है । वह मनरूपसे
विपरिणाम (विकार) को प्राप्त होता
हुआ मनका उपचय करता है ।

इस कारण भौतिक होना ही
सिद्ध होनेसे मनका भौतिक होना ही
सिद्ध होता है । वह वैशेषिक दर्शन-
के कहे हुए लक्षणवाला नित्य और
निरवयव है—ऐसा नहीं स्वीकार
किया जाता । आगे (छा० ८।१२।
५ में) जो कहा जायगा कि 'मन
इसका दैव चक्षुः है' वह भी मनके
नित्यत्वकी अपेक्षासे नहीं है । तो
फिर किस दृष्टिसे है? वह कथन
सूक्ष्म, व्यवहित और दूरवर्ती
इत्यादि सभी प्रकारके इन्द्रियोंके
विषयोंमें व्यापक होनेकी अपेक्षासे
है । तथा जो अन्य इन्द्रियोंकी अपे-
क्षासे उसका नित्यत्व है वह भी
आपेक्षिक ही है—ऐसा हम आगे
चलकर कहेंगे, क्योंकि "सत् एक-
मात्र और अद्वितीय है" ऐसी श्रुति
है [अतः उसके सिवा और कोई
परमार्थ-सत्य नहीं हो सकता] ॥ १ ॥

तथा—

इसी प्रकार—

आपः पीतास्त्रेधा विधीयन्ते तासां यः स्थविष्ठो
धातुस्तन्मूत्रं भवति यो मध्यस्तल्लोहितं योऽणिष्ठः स
प्राणः ॥ २ ॥

पीया हुग्रा जल तीन प्रकारका हो जाता है । उसका जो स्थूलतम भाग होता है वह सूत्र हो जाता है, जो मध्यभाग है वह रक्त हो जाता है और जो सूक्ष्मतम भाग है वह प्राण हो जाता है ॥ २ ॥

आपः पीतास्त्रेधा विधीयन्ते । पीया हुग्रा जल तीन प्रकारका हो जाता है । उसका जो स्थूलतम भाग होता है वह सूत्र हो जाता है, जो मध्यम भाग है वह रक्त हो जाता है और जो सूक्ष्मतम भाग है वह प्राण हो जाता है ।
 तासां यः स्थविष्ठो धातुः, तन्मूत्रं भवति । यो मध्यमः, तत्त्वलोहितं भवति । योऽणिष्ठः, स प्राणो भवति । वक्ष्यति हि 'आपोमयः प्राणा न पिबतो विच्छेत्स्यते' इति ॥ २ ॥

आगे श्रुति यह कहेगी भी कि 'प्राण जलमय है, जलपान करते हुए तेरा प्राण विच्छिन्न नहीं होगा' ॥ २ ॥

—**—

तथा—

। ऐसे ही—

तेजोऽशितं त्रेधा विधीयते तस्य यः स्थविष्ठो धातुस्तदस्थि भवति यो मध्यमः स मज्जा योऽणिष्ठः सा वाक् ॥ ३ ॥

खाया हुग्रा [घृतादि] तेज तीन प्रकारका हो जाता है । उसका जो स्थूलतम भाग होता है वह हड्डी हो जाता है, जो मध्यम भाग है वह मज्जा हो जाता है और जो सूक्ष्मतम भाग है वह वाक् हो जाता है ॥ ३ ॥

तेजोऽशितं तैलघृतादि भक्षितं त्रेधा विधीयते । तस्य यः स्थविष्ठो धातुः, तदस्थि भवति । खाया हुग्रा तेज अर्थात् भक्षण किया हुग्रा तैल-घृत आदि तीन प्रकारका हो जाता है । उसका जो स्थूलतम अंग होता है वह हड्डी हो

यो मध्यमः, स मज्जास्थ्यन्तर्गतः स्नेहः । योऽणिष्ठः, सा वाक् । तैलघृतादिभक्षणाद्धि वाग्विशदा भाषणे समर्था भवतीति प्रसिद्धं लोके ॥ ३ ॥

जाता है, जो मध्यम भाग है वह मज्जा—हड्डीके भीतर रहनेवाला स्निग्ध पदार्थ हो जाता है और जो सूक्ष्मतम अंश है वह वाक् हो जाता है । तैल-घृत आदिके भक्षणसे ही वाणी विशद अर्थात् भाषणमें समर्थ होती है—ऐसा लोकमें प्रसिद्ध ही है ॥ ३ ॥

—❀:❀—

यत एवम्—

। क्योंकि ऐसा है—

अन्नमयः हि सोम्य मन आपोमयः प्राणस्तेजो-
मयी वागिति भूय एव सा भगवान्विज्ञापयत्विति तथा
सोम्येति होवाच ॥ ४ ॥

[इसलिये] हे सोम्य ! मन अन्नमय है, प्राण जलमय है और वाक् तेजोमयी है । ऐसा कहे जानेपर श्वेतकेतु बोला—‘भगवन् ! आप मुझे फिर समझाइये ।’ तब आरुणिने ‘अच्छा सोम्य !’ ऐसा कहा ॥ ४ ॥

अन्नमयं हि सोम्य मन आपो-
मयः प्राणस्तेजोमयी वाक् ।

[इसलिये] हे सोम्य ! मन अन्नमय है, प्राण जलमय है और वाक् तेजोमयी है ।

ननु केवलान्नभक्षिण आगु-
प्रभृतयो वाग्मिनः प्राणवन्तश्च
तथावमात्रभक्ष्याः सामुद्रा
मीनमकरप्रभृतयो मनस्विनो
वाग्मिनश्च, तथास्नेहपानामपि

शङ्का—किंतु केवल अन्न भक्षण करनेवाले चूहे आदि वाक्युक्त और प्राणवान् देखे जाते हैं तथा समुद्रमें रहनेवाले केवल जलमात्र भक्षण करनेवाले मत्स्य एवं मकर आदि मन और वाणीसे युक्त होते हैं; इसी प्रकार घृतादि न खाने-

प्राणवत्त्वं मनस्वित्वं चानुमेयम्;
यदि सन्ति, तत्र कथमन्नमयं हि
सोम्य मन इत्याद्युच्यते ?

नैष दोषः, सर्वस्य त्रिवृत्कृत-
त्वात्पर्वत्र सर्वोपपत्तेः, न ह्यत्रि-
वृत्कृतमन्नमश्नाति कश्चित्, आपो
वात्रिवृत्कृताः पीयन्ते, तेजो
वात्रिवृत्कृतमश्नाति कश्चिदित्य-
न्नादानामालुप्रभृतीनां वाग्मित्वं
प्राणवत्त्वं चेत्याद्यविरुद्धम् ।

इत्येवं प्रत्यापितः श्वेतकेतुराह
भूय एव पुनरेव मा मां भगवान-
न्नमयं हि सोम्य मन इत्यादि
विज्ञापयतु दृष्टान्तेनावगमयतु ।
नाद्यापि ममास्मिन्नर्थे सम्पङ्-
निश्चयो जातः । यस्मात्तेजोऽन्न-
मयत्वेनाविशिष्टे देह एकस्मिन्पु-
ण्यमानान्यन्नाप्तेऽज्ञातान्य-

वालोका भी प्राणवत्त्व और मन-
स्वित्व अनुमान किया जा सकता है ।
जब ऐसे भी जीव हैं तो 'हे सोम्य !
मन अन्नमय है, इत्यादि कथन कैसे
किया जाता है ?

समाधान—यह कोई दोष नहीं
है, क्योंकि सब कुछ त्रिवृत्कृत
होनेके कारण सबका सब वस्तुओंमें
होना सम्भव है । कोई भी जीव
अत्रिवृत्कृत अन्न भक्षण नहीं करता,
न अत्रिवृत्कृत जल ही पीया जाता
है और न कोई अत्रिवृत्कृत तेज-
हीको खाता है । इसीसे अन्नादि
भक्षण करनेवाले घूहे आदिका
वाक्युक्त और प्राणयुक्त होना आदि
विरुद्ध नहीं है ।

इस प्रकार प्रतीति कराये हुए
श्वेतकेतुने कहा—'हे भगवन् !
'अन्नमय हि सोम्य मन' इत्यादि
कथनकी आप मुझे फिर समझाइय-
इसे दृष्टान्त देकर मुझे फिर
हृदयङ्गम कराइये । इस विषयमें
अमीनक मेरा ठीक निश्चय नहीं
हुआ ।' क्योंकि तेज, जल और
अन्नमयरूपसे एक देहमें कोई
विशेषता न होनेपर भी एक ही
देहमें उपयोग किये हुए अन्न, जल

शिष्टधातुरूपेण मनःप्राणवाच
उपचिन्वन्ति स्वजात्यनतिक्रमे-
णेति दुर्विज्ञेयमित्यभिप्रायः; अतो
भूय एवेत्याद्याह ।

तमेवमुक्तवन्तं तथास्तु सो-
म्येति होवाच पिता— शृण्वन्न
दृष्टान्तं यथैतदुपपद्यते यत्पृच्छसि
॥ ४ ॥

और स्नेह आदि अपनी जातिका
अतिक्रम न करते हुए सूक्ष्मतम-
स्वसे मन, प्राण और वाक्का
पोषण करते हैं—यह जानना
बहुत कठिन है—ऐसा उसका
अभिप्राय है । इसीसे उसने 'भूय
एव' इत्यादि कहा है ।

इस प्रकार कहनेवाले उस
(श्वेतकेतु) से पिताने कहा—
'हे सोम्य ! अच्छा, जो कुछ तू
पूछता है वह जिस प्रकार उपपन्न
हो सकता है इस विषयमें दृष्टान्त
श्रवण कर' ॥ ४ ॥

—:४:—

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि पष्ठाध्याये
पञ्चमखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥ ५ ॥



षष्ठ खण्ड

—:०:—

अन्न आदिका सूक्ष्म भाग ही मन आदि होता है

दध्नः सोम्य मथ्यमानस्य योऽणिमा स ऊर्ध्वः
समुदोपति तत्सर्पिर्भवति ॥ १ ॥

हे सोम्य ! मथे जाते हुए दहीका जो सूक्ष्म भाग होता है वह ऊपर इकट्ठा हो जाता है; वह घृत होता है ॥ १ ॥

दध्नः सोम्य मथ्यमानस्य
योऽणिमाणुभावः स ऊर्ध्वः समु-
दोपति संभूयोर्ध्वं नवनीतमावेन
गच्छति तत्सर्पिर्भवति ॥ १ ॥

हे सोम्य ! मथे जाते हुए दही-
का जो अणिमा—सूक्ष्मांश होता है
वह 'ऊर्ध्वं. समुदोपति'—इकट्ठा
होकर नवनीतरूपसे ऊपर आ जाता
है। वह घृत होता है ॥ १ ॥

—:०:—

यथायं दृष्टान्तः—

| जैसा कि यह दृष्टान्त है—

एवमेव खलु सोम्यान्नस्याश्वमानस्य योऽणिमा
स ऊर्ध्वः समुदोपति तन्मनो भवति ॥ २ ॥

उसी प्रकार हे सोम्य ! खाये हुए अन्नका जो सूक्ष्म अंश होता है वह सम्यक् प्रकारसे ऊपर आ जाता है, वह मन होता है ॥ २ ॥

एवमेव खलु सोम्यान्नस्यौद-
नादेरश्वमानस्य भुज्यमानस्यौ-
दर्येणाग्निना वायुमहितेन खजेनेव
मथ्यमानस्य योऽणिमा स ऊर्ध्वः
समुदोपति; तन्मनो भवति, मनो-

उसी प्रकार हे सोम्य ! अश्वमान
अर्थात् भक्षण किये जाते हुए गात
आदि अन्नका जो सूक्ष्म भाग
होता है वह मथानीके समान
वायुमहित जठरान्निद्वारा मथे
जानेपर ऊपर आ जाना है, वह

अवयवैः सह संभूय मन उपचि- | मन होता है, अर्थात् मनके
नोतीत्येतत् ॥ २ ॥ | अवयवोंके साथ मिलकर मनकी
पुष्टि करता है ॥ २ ॥

—❀:❀—

तथा—

| तथा—

अपां सोम्य पीयमानानां योऽणिमा स ऊर्ध्वः
समुदीषति स प्राणो भवति ॥ ३ ॥

हे सोम्य ! पीये हुए जलका जो सूक्ष्म भाग होता है वह इकट्ठा
होकर ऊपर आ जाता है, वह प्राण होता है ॥ ३ ॥

अपां सोम्य पीयमानानां | हे सोम्य ! पीये हुए जलका जो
सूक्ष्म भाग होता है वह इकट्ठा
योऽणिमा स ऊर्ध्वः समुदीषति | होकर ऊपर आ जाता है; वह
प्राण होता है—ऐसा [आरुणिने
स प्राणो भवतीति ॥ ३ ॥ | कहा] ॥ ३ ॥

—❀❀—

एवमेव खलु—

| ठीक इसी प्रकार—

तेजसः सोम्याश्रयमानस्य योऽणिमा स ऊर्ध्वः
समुदीषति सा वाग्भवति ॥ ४ ॥

हे सोम्य ! भक्षण किये हुए तेजका जो सूक्ष्म भाग होता है वह
इकट्ठा होकर ऊपर आ जाता है और वह वाणी होता है ॥ ४ ॥

सोम्य तेजसोऽश्रयमानस्य | हे सोम्य ! भक्षण किये हुए
तेजका जो सूक्ष्म अंश होता है
योऽणिमा स ऊर्ध्वः समुदीषति | वह इकट्ठा होकर ऊपर आ जाता
सा वाग्भवति ॥ ४ ॥ | है और वह वाणी होता है ॥ ४ ॥

—❀❀❀—

अन्नमयः हि सोम्य मन आपोमयः प्राणस्तेजो-
मयी वागिति भूय एव मा भगवान्विज्ञापयत्विति तथा
सोम्येति होवाच ॥ ५ ॥

[इस प्रकार] हे सोम्य ! मन अन्नमय है, प्राण जलमय है और
वाणी तेजोमयी है—ऐसा [आशुनिने कहा] । [तब श्वेतकेतु बोला—]
'भगवन् ! मुझे फिर समझाइये' इसपर आशुनिने कहा—'सोम्य !
अच्छा' ॥ ५ ॥

अन्नमयं हि सोम्य मन आपो-
मयः प्राणस्तेजोमयी वागिति ।
युक्तमेव मयोक्तमित्यभिप्रायः ।
अतोऽप्तेजसोरस्त्वेतत्सर्वमेवम्,
मनस्त्वन्नमयमित्यत्र नैकान्तेन
मम निश्चयो जातः । अतोभूय
एव मा भगवान्मनसोऽन्नमयत्वं
दृष्टान्तेन विज्ञापयत्विति । तथा
सोम्येति होवाच पिता ॥ ५ ॥

हे सोम्य ! मन अन्नमय है,
प्राण जलमय है और वाक तेजोमयी
है—इस प्रकार मेरा यह कथन
ठीक ही है—ऐसा इसका अभिप्राय
है [इसपर श्वेतकेतु बोला—]
आपके कथनानुसार जल और
तेजके विषयमें तो भले ही सब कुछ
ऐसा ही हो; किंतु अभीतक मुझे
इस बातका पूरा निश्चय नहीं हुआ
कि मन अन्नमय है । अतः हे
भगवन् ! मुझे मनका अन्नमयत्व
फिर दृष्टान्तद्वारा समझाइये । तब
पिताने कहा—'सोम्य ! अच्छा' ॥ ५ ॥

—❧—

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि पष्ठाध्याये
पष्ठखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥ ६ ॥



सप्तम खण्ड

—*०*—

षोडशकलाविशिष्ट पुरुषका उपदेश

अन्नस्य भुक्तस्य योऽणिष्ठो
धातुः, स मनसि शक्तिमधात् ।
सान्नोपचिता मनसः शक्तिः
षोडशधा प्रविभज्य पुरुषस्य
कलात्वेन निर्दिदिक्षिता । तथा
मनस्यन्नोपचितया शक्त्या षोड-
शधा प्रविभक्तया संयुक्तस्त-
द्वाङ्कार्यकरणसंघातलक्षणो जीव
विशिष्टः पुरुषः षोडशकल उच्यते;
यस्यां सत्यां द्रष्टा श्रोता मन्ता
बोद्धा कर्ता विज्ञाता सर्वक्रिया-
समर्थः पुरुषो भवति; हीयमानायां
च यस्यां सामर्थ्यहानिः । वक्ष्यति
च—“अथान्नस्यायै द्रष्टा” (छा०
उ० ७ । ६ । १) इत्यादि ।
सर्वस्य कार्यकरणस्य सामर्थ्य
मनःकृतमेव । मानसेन हि बलेन

खाये हुए अन्नका जो सूक्ष्मतम
अंग था उसने मनमें शक्तिका
संचार किया । अन्नद्वारा सम्पन्न
हुई उस मनकी शक्तिका सोलह
प्रकारसे विभाग कर पुरुषकी कला-
रूपसे निर्देश करना इष्ट है । मनमें
अन्नके द्वारा उपचित तथा सोलह
भागोंमें विभक्त हुई उस शक्तिसे
संयुक्त उस शक्तिवाला देह और
इन्द्रियोंका संघातरूप जीवविशिष्ट
पुरुष षोडशकल (सोलह कलाओं-
वाला) कहा जाता है; जिस
शक्तिके रहनेपर ही पुरुष द्रष्टा,
श्रोता, मन्ता, बोद्धा, कर्ता, विज्ञाता
तथा समस्त क्रियाओंमें समर्थ होता
है और जिसके क्षीण होनेपर
उसकी शक्तिका ह्रास हो जाता है ।
आगे चलकर श्रुति यह कहेगी भी
कि “जिसको अन्नकी प्राप्ति होती
है वही पुरुष [शक्ति सम्पन्न
होनेसे] द्रष्टा है” सम्पूर्ण भूत
और इन्द्रियोंकी शक्ति मनके ही
द्वारा है । लोकमें मनोबलसे सम्पन्न

संपन्ना बलिनो दृश्यन्ते लोके
ध्यानाहाराश्च केचित्, अन्नस्य
सर्वात्मकत्वात्, अतोऽन्नकृतं
मानसं वीर्यम् ।

पुरुष बलवान् देखे जाते हैं तथा
कोई-कोई केवल ध्यानाहारी भी
देखे जाते हैं, क्योंकि अन्न
सर्वरूप है; अतः मानसिक बल
अन्नसे ही होता है ।

षोडशकलः सोम्य पुरुषः पञ्चदशाहानि माशोः
काममपः पिवापोमयः प्राणो न पिवतो विच्छेत्स्यत
इति ॥ १ ॥

हे सोम्य । पुरुष सोलह कलाग्रोवाला है । तू पंद्रह दिन भोजन
मत कर, केवल यथेच्छ जलपान कर । प्राण जलमय है, इसलिये जल
पीते रहनेसे उसका नाश नहीं होगा ॥ १ ॥

षोडश कला यस्य पुरुषस्य सोऽयं
षोडशकलः पुरुषः; एतच्चेत्प्रत्यक्षी
कर्तुमिच्छसि पञ्चदशसंख्याका-
न्यहानि माशोरशनं मा कार्षीः,
काममिच्छातोऽपः पिव; यस्मान्न
पिवतोऽपस्ते प्राणो विच्छेत्स्यते
विच्छेदमापत्स्यते यस्मादापो-
मयोऽव्विकारः प्राण इत्यवो-
चाम । न हि कार्यं स्वकारणोप
ष्टम्भमन्तरेणाविभ्रंशमानं स्थातु
मुत्सहते ॥ १ ॥

सोलह कलाएं जिस पुरुषकी
हैं वह पुरुष सोलह कलाग्रो-
वाला है । यदि तू इस बातको
प्रत्यक्ष करना चाहता हो तो
पंद्रह दिनतक भोजन मत कर,
केवल यथेच्छ जलपान कर, क्योंकि
जल पीते रहनेसे तेरा प्राण विच्छिन्न
नहीं होगा अर्थात् नाशको प्राप्त
नहीं होगा, कारण पहले हम कह
चुके हैं कि प्राण जलमय यानी
जलका विकार है, और कोई भी
कार्य अपने कारणक आश्रय बिना
अविनष्टरूपसे स्थित नहीं रह
सकता ॥ १ ॥

स ह पञ्चदशाहानि नाशाथ हैनमुपससाद किं
ब्रवीमि भो इत्यृचः सोम्य यजूंषि सामानीति स
होवाच न वै मा प्रतिभान्ति भो इति ॥ २ ॥

उसने पंद्रह दिन भोजन नहीं किया। तत्पश्चात् वह उस
(आरुणि) के पास आया [और बोला—] ‘भगवन् ! क्या बोलूँ ?’
[पिताने कहा—] हे सोम्य ! ऋक्, यजुः और सामका पाठ करो—
तब उसने कहा—‘भगवन् ! मुझे उनका प्रतिभान (स्फुरण) नहीं
होता’ ॥ २ ॥

स हैवं श्रुत्वा मनसोज्ज्वलयत्वं
प्रत्यक्षीकर्तुमिच्छन्पञ्चदशाहानि
नाशाशनं न कृतवान् । अथ
पोडशेऽहनि हैनं पितरमुपससा-
दोपगतवानुपगम्य चोवाच—किं
ब्रवीमि भो इति । इतर आह—
ऋचः सोम्य यजूंषि सामान्यधी-
ष्वेति । एवमुक्तः पित्राह—न वै
मा मामृगादीनि प्रतिभान्ति मम
मनसि न दृश्यन्त इत्यर्थो हे भो
भगवन्निति ॥ २ ॥

उसने ऐसा सुनकर मनकी
अन्नमयताको प्रत्यक्ष करनेकी इच्छा-
से पंद्रह दिन भोजन नहीं किया ।
फिर सोलहवें दिन वह अपने
पिताके पास आया और आकर
बोला—‘पिताजी ! क्या बोलूँ ?’
इसपर पिताने कहा—‘हे सोम्य !
ऋक्, यजुः तथा सामवेदके मन्त्रों-
का पाठ करो ।’ पिताके इस प्रकार
कहनेपर वह बोला—‘हे भगवन् !
मुझे ऋगादिका प्रतिभान नहीं होता;
तात्पर्य यह है कि मेरे मनमें उनकी
प्रतीति नहीं होती’ ॥ २ ॥

एवमुक्तवन्तं पित्राह—शृणु
तत्र कारणं येन ते तान्यृगादीनि
न प्रतिभान्तीति ।

इस प्रकार कहते हुए उस
पुत्रसे पिताने कहा—‘इस सम्बन्धमें
तू कारण सुन, जिससे कि तुझे उन
ऋगादिका प्रतिभान नहीं होता ।’

तं होवाच यथा सोम्य महतोऽभ्याहितस्यैकोऽङ्गारः
खद्योतमात्रः परिशिष्टः स्यात्तेन ततोऽपि न बहु दहे-
देवः सोम्य तेषोडशानां कलानामेका कलातिशिष्टा स्या-
त्तयैतर्हि वेदान्नानुभवस्य शानाथ मे विज्ञास्यसीति ॥३॥

वह उससे बोला—‘हे सोम्य ! जिस प्रकार बहुत से ईंधनसे प्रज्वलित हुए अग्निका एक जुगनूके बराबर अङ्गारा रह जाय तो वह उससे अधिक दाह नहीं कर सकता, उसी प्रकार हे सोम्य ! तेरी सोलह कलाओंमेंसे केवल एक कला रह गयी है । उसके द्वारा इस समय तू वेदका अनुभव नहीं कर सकता । अच्छा, अब भोजन कर; तब तू मेरी बात समझ जायगा’ ॥ ३ ॥

तं होवाच यथा लोके हे
सोम्य महतो महत्परिमाणस्या-
भ्याहितस्योपचितस्येनैरग्नेरे-
कोऽङ्गारः खद्योतमात्रः खद्योत-
परिमाणः शान्तस्य परिशिष्टोऽव-
शिष्टः स्याद्भवेत्, तेनाङ्गारेण ततो-
ऽपि तत्परिमाणादीपदपि न बहु
दहेत्; एवमेव खलु सोम्य ते तवा-
न्योपचितानां षोडशानां कलाना-
मेका कलाव्यवोत्तिशिष्टावशिष्टा
स्यात्, तथा त्वं खद्योतमात्राङ्गार-
तुल्ययैतर्हीदानीं वेदान्नानुभवमि-
न प्रतिपद्यसे श्रुत्वा च मे मम

उससे आरुणिने वह—‘हे
सोम्य ! लोकमें जिस प्रकार ईंधनसे
आधान किये हुए—बढ़ाये हुए बहुत
बड़े परिमाणवाले अग्निका, उसके
शान्त हो जानेपर कोई खद्योतमात्र—
खद्योतके बराबर परिमाणवाला
अगारा रह जायगा तो उस अगारेके
द्वारा उससे—उसके परिमाणसे
थोड़ा-सा भी अधिक दाह नहीं किया
जा सकता, उसी प्रकार हे सोम्य !
तेरी अन्नसे उपचित हुई सोलह
कलाओंमेंसे केवल एक कला—एक
भाग रह गयी है । उस खद्योतमात्र
अगारके समान एक कलासे तू इस
समय वेदका अनुभव नहीं कर
सकता—इस समय तुझे उनका ज्ञान

वाचमथाशेषं विज्ञास्यस्यशान

न हो सकेगा । अब पहले तू भोजन कर तब मेरा वचन सुनकर तू सब जान जायगा ॥ ३ ॥

शुङ्क्ष्व तावत् ॥ ३ ॥

—:❀:—

स हाशाथ हैनमुपससाद त५ह यत्किं च पप्रच्छ
सर्व५ह प्रतिपेदे ॥ ४ ॥

उसने भोजन किया और फिर उसके (आरुणिके) पास आया । तब उसने जो कुछ पूछा वह सब उसे उपस्थित हो गया ॥ ४ ॥

स ह तथैवाश शुक्तवान् ।

अथानन्तरं हैनं पितरं शुश्रूषुरु-
पससाद । तं होपगतं पुत्रं यत्किं
चर्गादिषु पप्रच्छ ग्रन्थरूपमर्थ-
जातं वा पिता, स श्वेतकेतुः
सर्वं ह तत्प्रतिपेद ऋगाद्यर्थतो
ग्रन्थतश्च ॥ ४ ॥

उसने उसी प्रकार (पिताके कथनानुसार) भोजन किया । उसके पश्चात् वह सुननेकी इच्छासे उस अपने पिताके समीप आया । उसने पास आये हुए उस पुत्रसे पिताने ऋगादिमें जो कुछ ग्रन्थरूप अथवा अर्थसमूह पूछा वह सब ऋगादि श्वेतकेतुने ग्रन्थतः तथा अर्थतः जान लिया ॥ ४ ॥

—:❀:—

त५होवाच यथा सोम्य महतोऽभ्याहितस्यैकमङ्गारं
खद्योतमात्रं परिशिष्टं तं तृणैरुपसमाधाय प्राज्वलयेत्तेन
ततोऽपि बहु दहेत् ॥ ५ ॥

उससे [आरुणिके] कहा—हे सोम्य ! जिस प्रकार बहुत-से ईंधनसे बड़े हुए अग्निका एक खद्योतमात्र अङ्गारा रह जाय और उसे तृणसे सम्पन्न कर प्रज्वलित कर दिया जाय तो वह उसकी (अपने पूर्व परिमाणकी) अपेक्षा भी अधिक दाह कर सकता है' ॥ ५ ॥

तं होवाच पुनः पिता यथा
 सोम्य महतोभ्याहितस्येत्यादि
 समानम्, एकमङ्गारं शान्तस्याग्नेः
 खद्योतमात्रं परिशिष्टं तं तृणैश्चूर्णै-
 श्रोपसमाधाय प्राज्वलयेद्धर्षयेत् ।
 तेनेद्धेनाङ्गारेण ततोऽपि पूर्वपरि-
 माणाद्बहु दहेत् ॥ ५ ॥

फिर उससे पिताने कहा—‘हे
 सोम्य ! जिस प्रकार—‘महानो-
 भ्याहितस्य इत्यादि पदोका अर्थ
 पूर्ववत् समझना चाहिये—शान्त
 हुए अग्निका एक खद्योतमात्र अगारा
 रह जाय और उसे तृण तथा
 [लकड़ियोंके] धूरेसे सम्पन्न करके
 प्रज्वलित किया जाय अर्थात् बढ़ाया
 जाय तो वह उस दीप्त हुए अगारे-
 से उस अपने पूर्व परिमाणकी
 अपेक्षा भी अधिक दाह कर
 सकता है’ ॥ ५ ॥

—❀ ❀—

एव५ सोम्य ते षोडशानां कलानामेका कलाति-
 शिष्टाभूत्सान्नेनोपसमाहिता प्राज्वाली तयैतर्हि वेदानु-
 भवस्यन्नमय५ हि सोम्य मन आपोमयः प्राणस्तेजोमयी
 वागिति तद्धास्य विजज्ञाविति विजज्ञाविति ॥ ६ ॥

‘इसी प्रकार हे सोम्य ! तेरी सोलह कलाओंमेंसे एक कला अवशिष्ट
 रह गयी थी । वह अन्नद्वारा, वृद्धिको प्राप्त अर्थात् प्रज्वलित कर दी
 गयी । अब उसीमें तू वेदोका अनुभव कर रहा है । अतः हे सोम्य !
 मन अन्नमय है, प्राण जलमय है और वाक् तेजोमयी है ।’ इस प्रकार
 [इवेतकेतु] उसके इस कथनको विशेषरूपसे समझ गया, समझ
 गया ॥ ६ ॥

एवं सोम्य ते षोडशानामन्न- | इसी प्रकार हे सोम्य !
 कलानां सामर्थ्यरूपाणामेका | तेरी सामर्थ्यरूपा अन्नकी सोलह

कलातिशिष्टाभूदतिशिष्टासीत्

पञ्चदशाहान्यभुक्तवत् एकैके

नाह्नैकैका कला चन्द्रमस इवा-

परपक्षे क्षीणा, सातिशिष्टा कला

तवान्नेन भुक्तेनोपसमाहिता

वर्धितोपचिता प्राज्वाली, दैर्घ्यं

छान्दसम्, प्रज्वलिता वर्धितेत्यर्थः।

प्राज्वालीदिति वा पाठान्तरम्, तदा

तेनोपसमाहिता स्वयं प्रज्वलित-

वतीत्यर्थः। तथा वर्धितयैतर्हीदानीं

वेदानुभवस्युपलभसे ।

एवं व्यावृत्त्यनुवृत्तिभ्यामन्न-

मयत्वं मनसः सिद्धमित्युप-

संहरति—अन्नमयं हि सोम्य मन

इत्यादि । यथैतन्मनसोऽन्नमयत्वं

तव सिद्धं तथापोमयः प्राण-

स्तेजोमयी वागित्येतदपि सिद्ध-

मे वेत्यभिप्रायः । तदेतद्धास्य

कलाओंमेंसे केवल एक कला अव-
शिष्ट रह गयी थी । पंद्रह दिन
भोजन न करनेसे कृष्णपक्षके
चन्द्रमाके समान एक-एक दिनमें
तेरी एक-एक कला क्षीण हो गयी
थी । वह बची हुई कला तेरे भक्षण
किये हुए अन्नद्वारा उपसमाहित—
वर्धित, पुष्ट अर्थात् प्रज्वलित कर
दी गयी । 'प्राज्वाली' इस पदमें
दीर्घ ईकार छान्दस है अथवा
'प्राज्वालीत्' ऐसा पाठान्तर समझना
चाहिये । उस अवस्थामें इसका ऐसा
अर्थ होगा कि उसके द्वारा आधान हो
जानेपर वह स्वयं प्रज्वलित हो गयी ।
उस वृद्धिको प्राप्त की हुई कलासे ही
तू इस समय वेदोंका अनुभव करता
है अर्थात् तुझे उनकी उपलब्धि
होती है ।

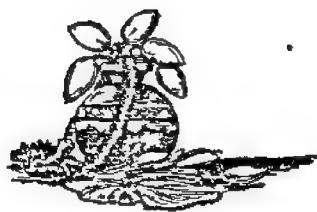
इस प्रकार व्यावृत्ति और अनु-
वृत्ति दोनोंहीके द्वारा मनकी
अन्नमयता सिद्ध है । इसीसे 'अन्न-
मयं हि सोम्य मनः' इत्यादि वाक्यसे
श्रुति इसका उपसंहार करती है ।
जिस प्रकार तुझे यह मनकी अन्न-
मयता सिद्ध हुई है उसी प्रकार
प्राण जलमय है और वाक् तेजोमयी
है—यह भी सिद्ध ही है—ऐसा

पितुरुक्तं मनआदीनामन्नादि-
मयत्वं विजज्ञौ विज्ञातवाञ्श्वेत-
केतुः । द्विरभ्यासत्रिवृत्करणप्र-
करणसमाप्त्यर्थः ॥ ६ ॥

इसका तात्पर्य है । इस प्रकार पिताके कहे हुए इस मन आदिके अन्नादिमयत्वको श्वेतकेतु विशेष-रूपसे समझ गया । 'विजज्ञौ इति' इन पदोंकी द्विरुक्ति त्रिवृत्करणके प्रकरणकी समाप्तिके लिये है ॥ ६ ॥

—❀:❀—

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि पष्ठाध्याये
सप्तमखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥ ७ ॥



अष्टम खण्ड

—४—

सुपुष्टिनालमें जीवको स्थितिका उपदेश

यस्मिन्मनसि जीवेनात्म-
नानुप्रविष्टा परा देवता—
आदर्श इव पुरुषः प्रतिविम्बेन
जलादिष्विव च सूर्यादयः प्रति-
विम्बैः, तन्मनोऽन्नमयंतेजोऽम्म-
याभ्यां वाक्प्राणाभ्यां संगत-
मधिगतम् । यन्मयो यत्स्थश्च
जीवो मननदर्शनश्रवणादिव्यव-
हाराय कल्पते तदुपरमे च स्वं
देवतारूपमेव प्रतिपद्यते ।

तदुक्तं श्रुत्यन्तरे—“ध्याय-
तीव लेलायतीव सधीः स्वप्नो
भूत्वेमं लोकमतिक्रामति” (वृ०
उ० ४।३।७) “स वा अथ-
मात्मा ब्रह्म विज्ञानमयो मनो-
मयः” (वृ० उ० ४।४।५)
इत्यादि “स्वप्नेन शारीरम्”
(वृ० उ० ४।३।११)

दर्पणमें प्रतिविम्बरूपसे प्रविष्ट
हुए पुरुष और जलादिकमें
आभासरूपसे प्रविष्ट हुए सूर्यादिकके
समान जिस मनमें परदेवता
जीवात्मरूपसे अनुप्रविष्ट हुआ है और
जिसमें स्थित हुआ तथा जिससे
तादात्म्यको प्राप्त हुआ जीव मनन,
दर्शन एवं श्रवणादि व्यापारमें समर्थ
होता है तथा जिसके निवृत्त होनेपर
वह अपने परदेवतारूपको ही प्राप्त
हो जाता है वह मन अन्नमय है और
तेजोमयी वाक् एवं जलमय प्राणके
साथ सम्बद्ध है—ऐसा ज्ञात हुआ ।

इस विषयमें अन्य (वाजसनेय)
श्रुतिमें भी ऐसा कहा है—“[मन
और प्राणसे सम्बद्ध हुआ यह
आत्मा] मानो ध्यान-सा करता है,
चेष्टा-सी करता है, वह वासनायुक्त
हुआ स्वप्नरूप होकर इस लोकका
अतिक्रमण कर जाता है” “वह
यह आत्मा ब्रह्म विज्ञानमय और
मनोमय है” इत्यादि, तथा “स्वप्नसे
शरीरको [निश्चेष्ट कर]” इत्यादि

इत्यादि “प्राणन्नेव प्राणो नाम
भवति” (बृ० उ० १।४।७)
इत्यादि च ।

एव “वह आत्मा प्राणनक्रिया करनेमें
प्राण नामवाला हो जाता है”
इत्यादि भी कहा है ।

तस्यास्य मनःस्थस्य मनआख्यां
गतस्य मनउपशमद्वारेणोन्द्रिय-
विषयेभ्यो निवृत्तस्य यस्यां परस्यां
देवतायां स्वात्मभूतायां यदव-
स्थानं तत्पुत्रायाचिख्यातुः—

उस इस मनःस्थित-मनसजाको
प्राप्त हुए तथा मनकी निवृत्तिके
द्वारा इन्द्रियोंके विषयोसे निवृत्त
हुए जीवका जो अपने स्वरूपभूत
परदेवतामें स्थित होना है, उसका
अपने पुत्रके प्रति वर्णन करनेकी
इच्छावाने—

उद्दालको हारुणिः श्वेतकेतुं पुत्रमुवाच स्वमान्तं
मे सोम्य विजानीहीति यत्रैतत्पुरुषः स्वपिति नाम सता
सोम्य तदा सम्पन्नो भवति स्वमपीतो भवति तस्मादेन
स्वपित्तात्याचक्षते स्वह्यपीतो भवति ॥ १ ॥

उद्दालकके नामसे प्रसिद्ध अरुणके पुत्रने अपने पुत्र श्वेतकेतुसे कहा—
‘हे सोम्य । तू मेरेद्वारा स्वमान्त (भुगुप्ति अथवा स्वप्नके स्वरूप) को
विशेषरूपसे समझ ले, जिस प्रास्थामे यह पुरुष ‘सोता है’ ऐसा कहा
जाता है, उस समय है सोम्य । यह सत्से सम्पन्न हो जाता है—यह
अपने स्वरूपको प्राप्त हो जाता है । इसीसे इसे ‘स्वपिति’ ऐसा कहते हैं;
क्योंकि उस समय यह स्व—अग्नेको ही अपीत—प्राप्त हो जाता है ॥१॥

उद्दालको ह किलारुणिः
श्वेतकेतुं पुत्रमुवाचोक्तवान्—
स्वमान्तं स्वप्नमध्यम्, स्वप्न इति
दर्शनवृत्तेः स्वप्नस्याख्या, तस्य

उद्दालक नामसे प्रसिद्ध अरुणके
पुत्रने अपने पुत्र श्वेतकेतुसे कहा—
स्वमान्त—स्वप्नका मध्य, ‘स्वप्न’
यह दर्शनवृत्ति [अर्थात् जिसमें
वासनारूप विषयोंके दर्शनकी वृत्ति

मध्यं स्वप्नान्तं सुषुप्तमित्येतत् ।

अथवा स्वप्नान्तं स्वप्नसतत्त्व-

मित्यर्थः । तत्राप्यर्थात्सुषुप्तमेव

भवति; स्वमपीतो भवतीति वच-

नात् । न ह्यन्यत्र सुषुप्तात्स्वम-

पीतिं जीवस्येच्छन्ति ब्रह्मविदः ।

तत्र ह्यादर्शापिनयने पुरुषप्रति-

विम्ब आदर्शगतो यथा स्वमेव

पुरुषमपीतो भवत्येवं मनआद्यु-

परमे चैतन्यप्रतिविम्बरूपेण जीवे-

नात्मना मनसि प्रविष्टा नाम-

रूपव्याकरणाय परा देवता सा

स्वमेवात्मानं प्रतिपद्यते जीव-

रूपतां मनआख्यां हित्वा । अतः

रहती है उस] स्वप्नका नाम है; उसके मध्यको स्वप्नान्त अर्थात् सुषुप्त कहते हैं । अथवा 'स्वप्नान्त' इस शब्दका तात्पर्य 'स्वप्नका तत्त्व' ऐसा भी हो सकता है । ऐसा माननेपर भी अर्थतः सुषुप्त ही सिद्ध होता है; क्योंकि 'स्वमपीतो भवति' (अपने स्वरूपको प्राप्त हो जाता है) ऐसा श्रुतिका वाक्य है; ब्रह्मवेत्तालोग सुषुप्तावस्थाको छोड़कर और किसी दशामें जोवकी स्वरूपप्राप्ति स्वीकार नहीं करते ।

जिस प्रकार दर्पणको हटा लेनेपर दर्पणमें स्थित पुरुषका प्रतिविम्ब स्वयं पुरुषको ही प्राप्त हो जाता है उसी प्रकार उस सुषुप्तावस्थामें ही मन आदिकी निवृत्ति हो जानेपर चैतन्यके प्रतिविम्बरूपसे जीवात्मभावसे नामरूपकी अभिव्यक्ति करनेके लिये मनमें प्रविष्ट हुआ वह परदेवता मनसंज्ञक जीवरूपताको त्यागकर स्वयं अपने स्वरूपको ही प्राप्त हो जाता है । अतः इससे यह विदित होता है कि 'स्वप्नान्त' शब्दका वाच्य 'सुषुप्त' ही है ।

किंतु जिस अवस्थामें सोया हुआ पुरुष स्वप्न देखता है वह स्वाप्नदर्शन सुख-दुःखसे युक्त होता

मिति पुण्यापुण्यकार्यम् । पुण्या-
पुण्ययोर्हि सुखदुःखारम्भकत्वं
प्रसिद्धम् । पुण्यापुण्ययोश्चाविद्या-
कामीपटम्भेनैव सुखदुःखतद्दर्शन-
कार्यारम्भकत्वमुपपद्यते नान्य-
थेन्यविद्याकामकर्मभिः संसार-
हेतुभिः संयुक्त एव स्वप्न इति
न स्वमपीतो भवति "अनन्वागतं
पुण्येनानन्वागतं पापेन तीर्णो हि
तदा सर्वाञ्छोकान्हृदयस्य
भवति" (बृ० उ० ४।३।२२)
"तद्वा अस्यैतदतिच्छन्दाः"
(बृ० उ० ४।३।२१) "एष
परम आनन्दः" (बृ० उ० ४।
३।३३) इत्यादिश्रुतिभ्यः ।
सुषुप्त एव स्वं देवतारूपं जीवस्व-
विनिर्मुक्तं दर्शयिष्यामीत्याह—
स्वप्नान्तं मे मम निगदतो हे
सोम्य विजानीहि विस्पष्टमव-
धारयेत्यर्थः ।

है; इसलिये वह पुण्य पापका कार्य
है, क्योंकि पुण्य-पाप ही क्रमशः
सुख दुःखके आरम्भक रूपमें प्रसिद्ध
हैं । किंतु पुण्य-पापका जो मुख,
दुःख और उनके दर्शनरूप कार्यका
आरम्भकत्व है वह अविद्या और
कामनाके आश्रयसे ही सम्भव
है, और किसी प्रकार नहीं,
इसलिये स्वप्न संसारके हेतुभूत
अविद्या, कामना और कर्म इनसे
संयुक्त ही है; अतः उस अवस्थामें
जीव अपने स्वरूपको प्राप्त नहीं
होता; जैसा कि "[उस अवस्थामें]
वह पुण्यसे असम्बद्ध, पापसे असम्बद्ध
तथा हृदयके सम्पूर्ण शोकको पार
किये होता है" "इसका वह यह
रूप अतिच्छन्दा (काम, धर्माधर्म तथा
अविद्यासे रहित) है" "यह परम
आनन्द है" इत्यादि श्रुतियोंसे सिद्ध
होता है । अतः 'मैं सुषुप्तिमें ही
जीवभावसे रहित अपने देवतारूप-
को दिखलाऊंगा' ऐसा आर्शगाने
कहा । हे सोम्य ! मेरे कथन बरने-
से तू स्वप्नान्त (सुषुप्तावस्था) का
विशेषरूपसे जान ले अर्थात् स्पष्ट-
तया समझ ले ।

कदा स्वप्नान्तो भवति ? इत्युच्यते—यत्र यस्मिन्काल एतन्नाम भवति पुरुषस्य स्वप्स्यतः प्रसिद्धं हि लोके स्वपितीति । गौणं चेदं नामेत्याह—यदा स्वपितीत्युच्यते पुरुषः, तदा तस्मिन्काले सता सच्छब्दवाच्या प्रकृतया देवतया सम्पन्नो भवति सङ्गत एकीभूतो भवति । मनसि प्रविष्टं मनआदिसंसर्गकृतं जीवरूपं परित्यज्य स्वं सद्रूपं यत्परमार्थसत्यमपीतोऽपिगतो भवति । अतस्तस्मात्स्वपितीत्येनमाचक्षते लौकिकाः । स्वमात्मानं हि यस्मादपीतो भवति । गुणनाशप्रसिद्धितोऽपि स्वात्मप्राप्तिर्गम्यत इत्यभिप्रायः ।

कथं पुनर्लौकिकानां प्रसिद्धा स्वात्मसम्पत्तिः ? जाग्रच्छ्रूमिमित्तोद्भवत्वात्स्वापस्येत्याहुः । जागरिते हि पुण्यापुण्यनिमित्तमुख-

स्वप्नान्त होता कब है ? सो बतलाते हैं जिस समय सोनेवाले पुरुषका 'स्वपिति' ऐसा नाम होता है । लोकमें स्वपिति (सोता है) ऐसा व्यवहार प्रसिद्ध है । तथा यह नाम गौण (गुणसम्बन्धी) है—इस आशयसे कहते हैं—जिस समय यह पुरुष 'स्वपिति' ऐसा कहा जाता है उस समय यह सत्से—प्रकरण प्राप्त 'सत्' शब्दवाच्य देवतासे सम्पन्न—संगत अर्थात् एकीभूत हो जाता है । यह मनमें प्रविष्ट हुआ मन आदिके संसर्गसे प्राप्त हुए जीवरूपको त्यागकर अपने सद्रूपको, जो कि परमार्थ सत्य है, प्राप्त हो जाता है । इसीसे लौकिक पुरुष इसे 'स्वपिति' ऐसा कहकर पुकारते हैं; क्योंकि यह 'स्वम्'—आत्माको 'अपीतः'—प्राप्त हो जाता है । तात्पर्य यह है कि इस गौण नामकी प्रसिद्धिसे भी अपने आत्माकी प्राप्ति ज्ञात होती है ।

किंतु लौकिक पुरुषोंको स्वात्माकी प्राप्ति कैसे प्रसिद्ध हुई ? [ऐसा प्रश्न होनेपर] आचार्यों ने कहा है—'क्योंकि सुषुप्ति जाग्रत् अवस्थाके श्रमके कारण होती है [इसलिये उसे लोकमें स्वात्मप्राप्ति कहते हैं] । जाग्रत् अवस्थामें पुरुष पुण्य-पापके

दुःखाद्यनेकायासानुभवच्छ्रान्तो
 भवति; ततश्चायस्तानां करणा-
 नामनेकव्यापारनिमित्तग्लानानां
 स्वव्यापारेभ्य उपरमो भवति ।
 श्रुतेश्च “श्राम्यत्येव वाक् श्रा-
 म्यति चक्षुः” (वृ० उ० १ ।
 ५ । २१) इत्येवमादि । तथा
 च “गृहीता वाग् गृहीतं चक्षु-
 र्गृहीतं श्रोत्रं गृहीतं मनः” (वृ०
 उ० २ । १ । १७) इत्येवमादी-
 नि करणानि प्राणग्रस्तानि; प्राण
 एकोऽश्रान्तो देहे कृत्वाये यो
 जागति, तदा जीवः श्रमापनुत्तये
 स्थं देवतारूपमात्मानं प्रतिपद्यते ।
 नान्यत्र स्वरूपावस्थानाच्छ्रमाप-
 नोदः स्यादिति युक्ता प्रसिद्धि-
 लौकिकानां स्वद्वयीती भवतीति ।

कारण होनेवाले सुख दुःख आदि
 अनेक प्रकारका श्रम अनुभव करनेसे
 थक जाता है । उसके कारण
 पीड़ित अर्थात् अनेक प्रकारके
 व्यापाररूप निमित्तसे शिथिल हुई
 इन्द्रियो की अपने व्यापारोंसे निवृत्ति
 हो जाती है । “वाक् भी थक
 जाती है और चक्षु भी थक जाती
 है” इत्यादि श्रुतिसे भी यही सिद्ध
 होता है । इसी प्रकार “[सुषुप्तिमें
 विज्ञानमय आत्माद्वारा] वाक् गृहीत
 हो जाती है, चक्षु गृहीत हो जाती
 है, श्रोत्र गृहीत हो जाते हैं और
 मन गृहीत हो जाता है” इस प्रकार
 ये सब इन्द्रियाँ प्राणमें गृहीत हो
 जाती हैं, एक प्राण ही अश्रान्त
 रहता है जो कि देहरूप धरमे
 जागता रहता है । उस समय जीव
 श्रमकी निवृत्तिके लिये अपने
 स्वामाविक देवतारूपको प्राप्त हो
 जाता है, क्योंकि स्वरूपमें स्थित
 होनेके बिना और कहीं श्रमकी
 निवृत्ति नहीं हो सकती—इसलिये
 उस समय वह अपने स्वरूपको
 प्राप्त हो जाता है, ऐसी लौकिक
 पुरुषोंकी प्रसिद्धि ठीक ही है ।

दृश्यते हि लोके ज्वरादि-
रोगग्रस्तानां तद्विनिर्मोके स्वा-
त्मस्थानां विश्रमणं तद्वदिहापि
स्यादिति युक्तम् । “तद्यथा
श्येनो वा सुपर्णो वा विपरिपत्य
श्रान्तः” (बृ० उ० ४।३।१६)
इत्यादिश्रुतेश्च ॥ १ ॥

लोकमें ज्वरादि रोगोंसे ग्रस्त हुए
पुरुषोंको उनसे छुटकारा मिलनेपर
स्वस्थ होकर विश्राम करते देखा भी
जाता ही है; उसी प्रकार यहाँ भी
हो सकता है, अतः यह प्रसिद्धि
ठीक ही है। यही बात “जिस
प्रकार बाज अथवा कोई दूसरा पक्षी
सब ओर उड़कर थक जानेपर”
इत्यादि श्रुतिसे भी सिद्ध होती है ॥१॥

तत्रायं दृष्टान्तो यथोक्तेऽर्थे—

उस उपयुक्त अर्थमें यह दृष्टान्त

है—

स यथा शकुनिः सूत्रेण प्रबद्धो दिशं दिशं पति-
त्वान्यत्रायतनमलब्ध्वा बन्धनमेवोपश्रयत एवमेव खलु
सोम्य तन्मनो दिशं दिशं पतित्वान्यत्रायतनमलब्ध्वा
प्राणमेवोपश्रयते प्राणबन्धनं हि सोम्य मन इति ॥ २ ॥

जिस प्रकार डोरीमें बंधा हुआ पक्षी दिशा-विदिशाओंमें उड़कर
अन्यत्र स्थान न मिलनेपर अपने बन्धनस्थानका ही आश्रय लेता है इसी
प्रकार निश्चय ही हे सोम्य ! यह मन दिशा-विदिशाओंमें उड़कर अन्यत्र
स्थान न मिलनेसे प्राणका ही आश्रय लेता है, क्योंकि हे सोम्य ! मन
प्राणरूप बन्धनवाला ही है ॥ २ ॥

स यथा शकुनिः पक्षी शकुनि-
घातकस्य हस्तगतेन सूत्रेण
प्रबद्धः पाशितो दिशं दिशं

जिस प्रकार चिड़ीमारके हाथमें
पकड़ी हुई डोरीसे बंधा हुआ—
उसमें फँसाया हुआ पक्षी उस
बन्धनसे मुक्त होनेकी इच्छासे

बन्धनमोक्षार्थी सन्प्रतिदिशं पति-
त्वान्यत्र बन्धनादायतनमा-
श्रयं विश्रमण्यालब्ध्वाप्राप्य
बन्धनमेवोपश्रयते । एवमेव
यथायं दृष्टान्तः—खलु हे सोम्य
तन्मनस्तत्प्रकृतं षोडशकलमन्नो-
पचितं मनो निर्धारितम्, त-
त्प्रविष्टस्तत्स्थस्तदुपलक्षितो जीव-
स्तन्मन इति निदिश्यते । मञ्चा-
क्रोशनवत्स मनश्चाख्योपाधिर्जी-
वोऽविधाकामकर्मोपदिष्टां दिशं
दिशं सुखदुःखादिलक्षणां जाग्र-
त्स्वप्नयोः पतित्वा गत्वानुभूये-
त्यर्थः, अन्यत्र सदाख्यात्स्वा-
त्मन आयतनं विश्रमणस्थानम-
लब्ध्वा प्राणमेव, प्राणेन सर्व-
कार्यकरणाश्रयेणोपलक्षिता प्राण
इत्युच्यते सदाख्या परा देवता,

दिशा विदिशाग्रोमे उडकर विश्राम
करनेके लिये बन्धनके सिवा कोई
और आयतन—आश्रय न पानेपर
बन्धनस्थानका ही अवलम्ब लेता
है; उसी प्रकार, जैसा कि यह
दृष्टान्त है, हे सोम्य । निश्चय ही
वह मन—वह सोलह कलाओवाला
प्रकृत मन जो कि अन्नसे उपचित
हुआ निश्चय किया गया है, उसमें
प्रवृष्ट होकर उसीमें स्थित हो, उसके
ही द्वारा उपलक्षित होनेवाले जीव-
का ही वहाँ 'तन्मन' (वह मन)
इस कथनके द्वारा निर्देश किया
गया है । मञ्चके आलोच (बोलने)
की भाँति वह मनसजक उपाधि-
वाला जीव जाग्रत् और स्वप्नके
समय अविद्या, कामना और कर्म-
द्वारा उपदिष्ट सुख दुःखादिरूप
दिशा-विदिशामें उडकर—जाकर
अर्थात् उन्हें अनुभव कर अपने सत्
सज्जक स्वात्मासे अतिरिक्त और कहीं
आश्रय—विश्रामस्थान न पाकर
प्राणको ही सम्पूर्ण कार्य और करण-
क आश्रयभूत प्राणद्वारा उपलक्षित
हुआ सत्-सज्जक परादेवता यहाँ

* जिस प्रकार 'मञ्चाः श्रोतन्ति' मञ्च बोलते हैं) इस वाक्यमें 'मञ्च'
शब्दसे उत्तरर बैठ हुए लोगका ग्रहण होता है उसी प्रकार यहाँ 'मन' शब्दसे
मनमें स्थित—मनरूप उपाधिवाला जीव उपलक्षित होता है ।

“प्राणस्य प्राणम्” (चृ० उ० ४।

४। १८) “प्राणशरीरो भा-

रूपः” (छा० उ० ३। १४।

२) इत्यादिश्रुतेः । अतस्तां देवतां प्राणं प्राणाख्यामेवोप-
श्रयते । प्राणो बन्धनं यस्य
मनसस्तत्प्राणबन्धनं हि यस्मा-
त्सोम्य मनः प्राणोपलक्षितदेव-
ताश्रयम्, मन इति तदुपलक्षितो
जीव इति ॥ २ ॥

‘प्राण’ कहा गया है, जैसा कि
“उस प्राणके प्राणको [जो जानते
हैं]” “वह प्राणशरीर और
प्रकाशस्वरूप है” इत्यादि श्रुतिसे
सिद्ध होता है; अतः उस प्राण
अर्थात् प्राणाख्य देवताको ही
आश्रय करता है; क्योंकि हे
सोम्य ! प्राण जिसका बन्धन है
वह मन प्राणबन्धन है; तात्पर्य
यह है कि मन यानी उससे
उपलक्षित होनेवाला जीव प्राणोप-
लक्षित देवताके ही आश्रित है ॥२॥

—:०:—

एवं स्वपितिनामप्रसिद्धिद्वारेण
यज्जीवस्य सत्यस्वरूपं जगतो
मूलम्, तत्पुत्रस्य दर्शयित्वाहोन्ना-
दिकार्यकारणपरम्परयापि जगतो
मूलं सद्विदर्शयिषुः—

इस प्रकार ‘स्वपिति’ इस
नामकी प्रसिद्धिद्वारा जीवका जो
सत्यस्वरूप जगत्का मूल है उसे
पुत्रको दिखलाकर अन्नादि कार्य-
कारण-परम्परासे भी जगत्के मूल-
भूत तत्को दिखानेकी इच्छासे
आरुणिने कहा—

अश्नापिपासे मे सोम्य विजानीहीति यत्रैतत्पुरुषो-
ऽशिशिषति नामाप एव तदक्षितं नयन्ते तद्यथा गो-
नायोऽश्वनायः पुरुषनाय इत्येवं तदप आचक्षतेऽश्ना-
येति तत्रैतच्छुद्धमुत्पतितः सोम्य विजानीहि नेदममूलं
भविष्यतीति ॥ ३ ॥

‘हे सोम्य ! तू मेरेद्वारा अशना (भूख) और पिपासा (प्यास) को जान । जिस समय यह पुरुष ‘अशिशिपति’ (खाना चाहता है) ऐसे नामवाला होता है, उस समय जल ही इसके भक्षण किये हुए अन्नको ले जाता है । जिस प्रकार लोकमें [गौ ले जानेवालेको] गौनाय, [अश्व ले जानेवालेको] अश्वनाय और [पुरुषोंको ले जानेवाले राजा या सेनापतिको] पुरुषनाय कहते हैं । उसी प्रकार जलको ‘अशनाय’ ऐसा कहकर पुकारते हैं । हे सोम्य ! उस जलमें ही तू इस [नरीररूप] शुद्ध (अङ्कुर) को उत्पन्न हुआ समझ, क्योंकि यह निर्मल (कारण रहित) नहीं हो सकता ॥ ३ ॥

अशनापिपासे अशितुमिच्छा-
शना, यालोपेन; पातुमिच्छा
पिपासा ते अशनापिपासे अश-
नापिपासयोः सतत्त्वं विजानी-
हीत्येतत् । यत्र यस्मिन्काल
एतन्नाम पुरुषो भवति, किं
तत् ? अशिशिपत्यशितुमिच्छतीति
तदा तस्य पुरुषस्य किंनिमित्तं
नाम भवति ? इत्याह—यत्तत्पुरुषे-
णाशितमन्नं कठिनं पीता आपो
नयन्ते द्रवीकृत्य रसादिभावेन
विपरिणमयन्ते, तदा भुक्तमन्नं

अशनापिपासे—अशन (भक्षण)
की इच्छाको ‘अशना’ कहते
हैं, ‘या’ का लोप करनेसे अशना
शब्द बनता है [वस्तुतः यह
‘अशनाया’ शब्द है] और पीनेकी
इच्छा ‘पिपासा’ कहलाती है । ये
ही अशना पिपासा हैं, इन अशना-
पिपासाका तत्त्व तू जान ले—ऐसा
इमका तात्पर्य है । जब अर्थात्
जिस समय यह पुरुष इस नामवाला
होता है, किस नामवाला ?—
‘अशिशिपति’ अर्थात् खाना चाहता
है, उस समय पुरुषका यह नाम
किम कारणसे होना है ? सो
बतलाते हैं—उस पुरुषद्वारा खाया
हुआ जो कठिन अन्न होता है उसे
उसका पीया हुआ जल द्रवीभूत
करके ले जाता है अर्थात् रसादि-
रूपसे परिणत कर देता है । तभी

जीर्यति । अथ च भवत्यस्य
नामाशिशिषतीति गौणम् । जीर्णे
ह्यन्नेऽशितुमिच्छति सर्वो हि
जन्तुः ।

तत्रापामशितनेतृत्वादशनाया
इति नाम प्रसिद्धमित्येतस्मिन्नर्थे ।

यथा गोनायो गां नयतीति
गोनाय इत्युच्यते गोपालः,

तथाश्वानयतीत्यश्वनायोऽश्वपाल
इत्युच्यते, पुरुषनायः पुरुषान्न-

यतीति राजा सेनापतिर्वा, एवं
तत्तदाप आचक्षते लौकिका

अशनायोऽत विसर्जनीयलोपेन ।

तत्रैवं सत्यङ्गी रसादिभावेन
नीतेनाशितेनान्नेन निष्पादित-
मिदं शरीरं वंटकणिकायामिव

उसका भक्षण किया हुआ अन्न
पचता है । तत्पश्चात् उसका
'अशिशिपति' ऐसा गौण नाम होता
है, क्योंकि सभी जीव अन्नके जीर्ण
हो जानेपर ही भोजन करनेकी
इच्छा करते हैं ।

अशित (भक्षित अन्न) का
नेता (ले जानेवाला) होनेके
कारण जलका 'अशनाया' ऐसा
नाम प्रसिद्ध है । [इस विषयमें यह
दृष्टान्त है—] जिस प्रकार 'गोनायः'
गौको ले जाता है इसलिये ग्वाला
'गोनायः' कहा जाता है, तथा
अश्वोंको ले जाता है इसलिये
अश्वपाल 'अश्वनायः' ऐसा कहा
जाता है और पुरुषोंको ले जाता
है इसलिये राजा या सेनापति
'पुरुषनायः' कहलाता है । इसी
प्रकार उस समय [अशितको ले
जानेके कारण] लौकिक पुरुष
जलको 'अशनाय' ऐसा विसर्गका
लोप करके कहते हैं [अर्थात्
'अशनायः' इस पदके विसर्गका लोप
करके 'अशनाय' ऐसा कहते हैं] ।

ऐसा होनेपर ही जलद्वारा
रसादिभावको प्राप्त हुए अन्नद्वारा
निष्पन्न हुआ यह शरीररूप अङ्कुर
वटके बीजसे उत्पन्न होनेवाले अङ्कुर-

शुद्धोद्भूत उत्पत्ति उद्भूतः;
तमिमं शुद्धं कार्यं शरीराख्यं
वटादिशुद्धवदुत्पत्तिं हे सोम्य
विजानीहि । किं तत्र विज्ञेयम् ?
इत्युच्यते—शृण्वदं शुद्धवत्कार्य-
त्वाच्छरीरं नामूलं मूलरहितं
भविष्यति ॥ ३ ॥

के समान उत्पन्न हुआ है । हे
सोम्य ! वटादिके अङ्कुरके समान
उत्पन्न हुए उस इस शरीरसंज्ञक
शुद्ध—कार्यको तू जान । उसमें
क्या विज्ञेय है ? सो बतलाया जाता
है—सुन, अङ्कुरके समान कार्यरूप
होनेके कारण यह शरीर अमूल—
कारणरहित नहीं हो सकता ॥३॥

—:c:—

इत्युक्त आह श्वेतकेतुः—यद्येवं
समूलमिदं शरीरं वटादिशुद्ध-
वत्तस्यास्य शरीरस्य क मूलं
स्याद्भवेदित्येवं पृष्ट आह पिता—

[आश्रयिद्वारा इस प्रकार
कहे जानेपर श्वेतकेतु बोला 'यदि
इस प्रकार वटादिके अङ्कुरके समान
यह शरीर समूल है तो इसका मूल
कहाँ हो सकता है ? इस प्रकार
पूछे जानेपर पिताने कहा —

तस्य क्व मूलं स्यादन्यत्रानादेवमेव खलु
सोम्यान्नेन शुद्धेनापो मूलमन्विच्छाद्भिः सोम्य
शुद्धेन तेजो मूलमन्विच्छ तेजसा सोम्य शुद्धेन
सन्मूलमन्विच्छ सन्मूलाः सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः
सदायतनाः सत्यप्रतिष्ठाः ॥ ४ ॥

अन्नको छोड़कर इसका मूल और कहाँ हो सकता है ? इसी प्रकार
हे सोम्य ! तू अन्नरूप शुद्धके द्वारा जलरूप मूलको खोज और हे सोम्य !
जलरूप शुद्धके द्वारा तेजोरूप मूलको खोज तथा तेजोरूप शुद्धके द्वारा
सद्मरूप मूलका अनुसन्धान कर । हे सोम्य ! इस प्रकार यह सारी प्रजा
सन्मूलक है तथा सत् ही इसका आश्रय है और सत् ही प्रतिष्ठा है ॥४॥

तस्य क मूलं स्यादन्यत्राश्वा-
 दन्नं मूलमित्यभिप्रायः। कथम्?
 अशिं ह्यन्नमद्भिर्द्रवीकृतं जाठ-
 रेणाग्निना पच्यमानं रसभावेन
 परिणमते। रसाच्छोणितं शो-
 णितान्मांसं मांसान्मेदो मेद-
 सोऽस्थीन्यस्थिभ्यो मज्जा मज्जा-
 याः शुक्रम्। तथा योषिद्रुक्तं
 चान्नं रसादिक्रमेणैवं परिणतं
 लोहितं भवति। ताभ्यां शुक्र-
 शोणिताभ्यामन्नकार्याभ्यां संयु-
 क्ताभ्यामन्नेनैवं प्रत्यहं भुज्य-
 मानेनापूर्यमाणाभ्यां कुड्यमिव
 मृत्पिण्डैः प्रत्यहमुपचीयमानोऽ-
 न्नमूलो देहशुद्धः परिनिष्पन्न
 इत्यर्थः।

यत्तु देहशुद्धस्य मूलमन्नं
 निर्दिष्टं तदपि देहवद्विनाशोत्प-
 त्तिमत्त्वात्कस्माच्चिन्मूलादुत्पत्ति-
 तं शुद्ध एवेति कृत्वाह—यथा

अन्नको छोड़कर इसका मूल
 और कहाँ हो सकता है? तात्पर्य
 यह है कि अन्न ही इसका मूल है
 किस प्रकार? क्योंकि खाया
 हुआ अन्न ही जलके द्वारा द्रवीभूत
 होकर जठराग्निद्वारा पचाया जाने-
 पर रसरूपमें परिणत हो जाता है।
 वह रससे रक्त, रक्तसे मांस, मांससे
 मेद, मेदसे अस्थि, अस्थिसे मज्जा
 और मज्जासे वीर्यरूपमें परिणत
 होता है। इसी प्रकार खीद्वारा
 खाया हुआ अन्न रसादिके क्रमसे
 परिणत होकर रज बनता है। उस
 परस्पर मिले हुए अन्नके कार्य तथा
 प्रतिदिन खाये जानेवाले अन्नसे
 पुष्ट हुए वीर्य और रजसे मृत्तिकाके
 पिण्डसे भीतके समान प्रतिदिन
 पुष्ट होनेवाला यह अन्नमूलक
 देहरूप अङ्कुर निष्पन्न हुआ है—
 ऐसा इसका तात्पर्य है।

इस प्रकार जो देहरूप अङ्कुरका
 मूल अन्न बतलाया गया है वह भी
 देहके समान उत्पत्ति-नाशवाला
 होनेके कारण किसी मूलसे उत्पन्न
 हुआ अङ्कुर ही है—ऐसा मानकर
 आरुणि कहता है—‘हे सोम्य !

देहशुद्धोऽन्नमूल एवमेव खलु
सोम्यान्नेन शुद्धेन कार्यभूतेनापो
मूलमन्नस्य शुद्धस्यान्विच्छ प्रति-
पद्यस्व । अपामपि विनाशोत्प-
त्तिमत्त्वाच्छुद्धत्वमेवेति, अद्भिः
सोम्य शुद्धेन कार्येण कारणं
तेजो मूलमन्विच्छ । तेजसोऽपि
विनाशोत्पत्तिमत्त्वाच्छुद्धत्वमिति,
तेजसा सोम्य शुद्धेन सन्मूल-
मेकमेवाद्वितीयं परमार्थसत्यम् ।

यस्मिन्मर्बमिदं वाचारम्भणं
विकारो नामधेयमनृतं रज्ज्वा-
मिव सर्पादिविकल्पजातमध्यस्त-
मविद्यया तदस्य जगतो मूलमतः
सन्मूलाः सत्कारणा हे सोम्येमाः
स्थावरजङ्गमलक्षणाः सर्वाः प्रजा
न केवलं सन्मूला एवेदानीमपि
स्थितिकाले सदायतना सदाश्रया
एव । न हि मृदमनाश्रित्य
घटादेः सत्त्वं स्थितिर्वास्ति । अतो
मृदसन्मूलत्वात्प्रजानां सदाय-

जिस प्रकार देहरूप अङ्कुर अन्न-
मूलक है उसी प्रकार कार्यभूत
अन्नरूप अङ्कुरके द्वारा तू अन्नरूप
अङ्कुरके मूल जलको खोज—प्राप्त
कर । जल भी उत्पत्ति नाशवान्
होनेके कारण अङ्कुररूप ही है;
अतः हे सोम्य ! जलरूप शुभ्र
यानी कार्यके द्वारा तू उसके
मूल कारण तेजको खोज । नाशो-
त्पत्तिमान् होनेके कारण तेजका
भी शुभ्रत्व ही है, अतः हे सोम्य !
तेजरूप शुभ्रके द्वारा तू एकमात्र
अद्वितीय परमार्थ सत्य सद्रूप
मूलको शोध कर ।

जिस सद्रूप मूलमे यही वाणी-
रूप आश्रयवाला नाममात्र विकार
रज्जुमे सर्पके समान अविद्यासे
अव्यस्त है वही इस जगत्का मूल
है । अतः हे सोम्य ! यह स्थावर-
जगमरूप सम्पूर्ण प्रजा सन्मूलक
तथा सद्रूप कारणवाली है । यह
सन्मूलक ही नहीं, इस समय
स्थितिकालमे भी सदायतना अर्थात्
सद्रूप आश्रयवाली ही है, क्योंकि
मृत्तिकाकी आश्रय किये बिना
घटादिकी सत्ता अथवा स्थिति
है ही नहीं । अतः मृत्तिकाके
समान सन्मूलक होनेके कारण

तनं यासां ताः सदायतनाः
प्रजाः, अन्ते च सत्प्रतिष्ठाः
सदेव प्रतिष्ठा लयः समाप्तिरव-
सानं परिशेषो यासां ताः
सत्प्रतिष्ठाः ॥ ४ ॥

जिस प्रजाका सत् ही आयतन
(आश्रय) है वह प्रजा सदायतना
है तथा अन्तमें सत्प्रतिष्ठा है—सत्
ही जिसकी प्रतिष्ठा—लयस्थान—
समाप्ति—अवसान अर्थात् परिशेष
है ऐसी वह प्रजा सत्प्रतिष्ठा है ॥ ४ ॥



अथ यत्रैतत्पुरुषः पिपासति नाम तेज एव तत्पीतं
नयते तद्यथा गोनायोऽश्वनायः पुरुषनाय इत्येवं तत्तेज
आचष्ट उदन्येति तत्रैतदेव शुद्धमुत्पतितं सोम्य विजा-
नीहि नेदममूलं भविष्यतीति ॥ ५ ॥

अब; जिस समय वह पुरुष 'पिपासति' (पीना चाहता है) ऐसे
नामवाला होता है तो उसके पीये हुए जलको तेज ही ले जाता है।
अनः जिस प्रकार गोनाय, अश्वनाय एवं पुरुषनाय कहलाते हैं उसी प्रकार
उस तेजको 'उदन्या' ऐसा कहकर पुकारते हैं। हे सोम्य ! उस (जल-
रूप मूल) से यह शरीररूप अङ्कुर उत्पन्न हुआ है—ऐसा जान, क्योंकि
यह मूलरहित नहीं हो सकता ॥ ५ ॥

यथेदानीमप्शुङ्गद्वारेण स-
तो मूलस्थानुगमः कार्य इत्याह—
यत्र यस्मिन्काल एतन्नाम पिपा-
सति पातुमिच्छतीति पुरुषो
भवति। अशिशिपतीतिवदिदमपि
गौणमेव नाम भवति। द्रवी-
कृतस्याशितस्यान्नस्य नेत्र्य आपो-

अब—इस समय जलरूप अङ्कुर-
के द्वारा सद्रूप मूलका ज्ञान कराना
है, इस अभिप्रायसे आरुणि कहता
है—'जिस समय यह पुरुष
'पिपासति'—पीना चाहता है ऐसे
नामवाला होता है। 'अशिशिपति'
इस नामके समान यह भी उसका
गौण नाम ही है। भक्षण किये
हुए द्रवीकृत अन्नको ले जानेवाला

अनशुद्धं देहं क्लेदयन्त्यः शिथि-
लीकुर्युरब्जाहुल्याद्यदि तेजसा
न शोष्यन्ते । नितरां च तेजसा
शोष्यमाणास्वप्सु देहभावेन परि-
णममानासु पातुमिच्छा पुरुषस्य
जायते । तदा पुरुषः पिपासति
नाम ।

जल, यदि उसे तेजके द्वारा शोषित
न किया जाता तो अपनी बहुल-
ताके कारण अन्नके अङ्कुरभूत
देहको आर्द्र करके शिथिल कर
देता । देहभावमे परिणत होते
हुए जलके तेजद्वारा सर्वथा शोषित
किये जानेपर ही पुरुषको जल
पीनेकी इच्छा होती है । उसी समय
पुरुष 'पिपासति' इस नामवाला
होता है ।

तदेतदाह—तेज एव तत्तदा
पीतमवादि शोषयद्देहगतलोहित-
प्राणभावेन नयते परिणमयति ।
तद्यथा गोनाय इत्यादि समान-
मेवं तत्तेज आचष्टे लोक उदन्ये-
त्युदकं नयतीत्युदन्यम् । उदन्ये-
तिच्छान्दसं तत्रापि पूर्ववत्
अपामप्येतदेव शरीराख्यं शुद्धं
नान्यदित्येवमादि समान-
मन्यत् ॥ ५ ॥

उसी बातको श्रुति इस प्रकार
कहती है—'उस समय पीये हुए
जल आदिको तेज ही सुखाकर
देहगत रक्त एव प्राणभावको ले
जाता है अर्थात् उसे रक्त एव
प्राणरूपमे परिणत कर देता है ।
उसे जिस प्रकार कि 'गोनाय'
आदि शब्द हैं उसी प्रकार लोक उस
तेजको 'उदन्या' उदकको ले जानेके
कारण 'उदन्य' कहते हैं । तेजके अर्थ-
मे भी 'उदन्या' यह प्रयोग पूर्ववत्
(जलके अर्थमे 'अशनाया'के समान)
छान्दस है । जलका भी यह शरीर
नामक अङ्कुर ही है—उससे भिन्न
नहीं है—इत्यादि शेष अर्थ पूर्ववत्
हैं ॥ ५ ॥

तस्य क मूलस्यादन्यत्राद्भ्योऽद्भुभिः सोम्य शुद्धेन तेजो मूलमन्विच्छ तेजसा सोम्य शुद्धेन सन्मूलमन्विच्छ सन्मूलाः सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठा यथा नु खलु सोम्येमास्तिस्रो देवताः पुरुषं प्राप्य त्रिवृत्त्रिवृदेकैका भवति तदुक्तं पुरस्तादेद्भवत्यस्य सोम्य पुरुषस्य प्रयतो वाङ्मनसि सम्पद्यते मनः प्राणे प्राणस्तेजसि तेजः परस्यां देवतायाम् ॥ ६ ॥

हे सोम्य ! उस (जलके परिणामभूत शरीर) का जलके सिवा और कहाँ ढल हो सकता है ? हे प्रियदर्शन ! जलरूप अङ्कुरक द्वारा तू तेजोरूप मूलकी खोज कर और हे सोम्य ! तेजोरूप अङ्कुरके द्वारा सद्रूप मूलकी शोध कर । हे सोम्य ! यह सम्पूर्ण प्रजा सन्मूलके तथा सद्रूप आयतन और सद्रूप प्रतिष्ठा (लयस्थान) वाली है । हे सोम्य ! जिस प्रकार ये तीनों देवता पुरुषको प्राप्त होकर उनमेंसे प्रत्येक त्रिवृत्-त्रिवृत् हो जाता है वह मैंने पहले ही कह दिया । हे सोम्य मरुजको प्राप्त होते हुए इस पुरुषकी वाक् मनमें लीन हो जाती है तथा मन प्राणमें, प्राण तेजमें और तेज परदेवतामें लीन हो जाता है ॥ ६ ॥

सामर्थ्यात्तेजसोऽप्येतदेव शरीराख्यं शुद्धम् । अतोऽप्युद्धेन देहेनापो मूलं गम्यते । अद्भिः शुद्धेन तेजो मूलं गम्यते । तेजसा शुद्धेन सन्मूलं गम्यते पूर्ववत् । एवं हि तेजोऽन्नमयस्य

त्रिवृत्करणके सामर्थ्यसे यह जात होता है कि तेजका भी यही शरीर-संज्ञक शुद्ध (कार्य) है । अतः जलके कार्यभूत देहद्वारा उसके मूल जलका ज्ञान होता है, जलरूप कार्यसे उसके मूल तेजका पता लगता है तथा तेजोरूप कार्यसे उसके मूल सत्का ज्ञान होता है—ऐसा पूर्ववत् समझना चाहिये । इस प्रकार तेज, जल और अन्नके

देहशुद्धस्य वाचारम्भणमात्रस्या-
 न्नादिपरम्परया परमार्थसत्यं
 सन्मूलमभयमसंत्रासं निरायासं
 सन्मूलमन्विच्छेति पुत्रं गमयि-
 त्वाशिशिपति पिपासतीति नाम्-
 प्रसिद्धिद्वारेण यद्वन्दिहास्मिन्प्र-
 करणे तेजोऽन्नानां पुरुषेणोप-
 युज्यमानानां कार्यकरणमंघातस्य
 देहशुद्धस्य स्वजात्यमाङ्गणोप-
 चयकरत्वं वक्तव्यं प्राप्तं तदि-
 होक्तमेव द्रष्टव्यमिति पूर्वाक्तं
 व्यपदिशति ।

यथा तु खनु येन प्रकारेण-
 मास्तेजोऽन्नानां स्तिष्ठो देवताः
 पुरुषं प्राप्य त्रिवृत्त्रिवृदेकैका
 भवति तदुक्तं पुरस्तादेव भवत्यन्न-
 मशितं त्रेधा विधीयत इत्यादि
 तत्रैवोक्तम् । अन्नादीनामशितानां
 ये मध्यमा घातवस्ते साप्तधातुकं

विकार वाचारम्भणमात्र देहत्प
 कार्यके परमार्थ सत्य निर्भय निखास
 और निरायाम सद्रूप मूलको
 अन्नादि परम्परासे जान—ऐसा
 पुत्रको समझाकर और इसके सिवा
 'अशिशिपति' और 'पिपासति' इन
 नामोंकी प्रसिद्धिके द्वारा इस
 प्रकरणमें जो पुरुषद्वारा उपभोगमें
 लाये जानेवाले तेज, जल और
 अन्नका अपनी जातिका साकार्य न
 करते हुए भूत और इन्द्रियोंके
 सघातभूत इस शरीरका पोषकत्व
 बनलाना प्राप्त होना था वह भी
 ऊपर बनना ही दिया गया है—
 ऐसा जानना चाहिये—यह
 बनलानेके लिये आरंभ पहले कहे
 हुए प्रसंगका ही निर्देश करता है ।

हे सोम्य ! जिस प्रकार ये
 तेज, जल और अन्नसज्ञक तीनों
 देवता पुरुषको प्राप्त होकर इनमेंसे
 प्रत्येक त्रिवृत्-त्रिवृत् हो जाता है
 वह पहले ही कहा जा चुका है ।
 'लाया हुआ अन्न तीन प्रकारका हो
 जाता है' यह बात वही कही गयी
 है । वही यह भी बतलाया गया है—
 कि भक्षण किये हुए अन्नादिका जो

शरीरमुपचिन्वन्तीत्युक्तम् । मांसं
भवति लोहितं भवति मज्जा
भवत्यस्थि भवतीति । ये त्वणिष्ठा
धातवो मनः प्राणं वाचं देहस्या-
न्तःकरणसंघातमुपचिन्वन्तीति
चोक्तम्—तन्मनो भवति स प्राणो
भवति सा वाग्भवतीति ।

सोऽयं प्राणकरणसंघातो देहे
विशीर्णे देहान्तरं जीवाधिष्ठितो
येन क्रमेण पूर्वदेहात्प्रच्युतो
गच्छति तदाहास्य हे सोम्य
पुरुषस्य प्रयतो म्रियमाणस्य
वाङ्मनसि सम्पद्यते मनस्युप-
संहियते । अथ तदाहुर्ज्ञातियो न
वदतीति । मनःपूर्वको हि वा-
ग्व्यापारः, “यद्वै मनसा ध्यायति

मध्यम भाग होता है वह सात
धातुओंवाले*शरीरका पोषण करता
है; यथा—‘मांस होता है’, ‘लोहित
होता है’, ‘मज्जा होता है’, ‘अस्थि
होता है’ इत्यादि । तथा यह भी
बतलाया गया है कि उनका जो
सूक्ष्मतम भाग होता है वह मन,
प्राण और वाक् इस देहके अन्तः-
करणसंघातका पोषण करता है ।
यथा—‘वह मन होता है’, ‘वह
प्राण होता है’ ‘वह वाक् होती है’
इत्यादि ।

वह यह प्राण और इन्द्रियोंका
संघात देहके नष्ट होनेपर जीवसे
अधिष्ठित हुआ जिस क्रमसे पूर्व
देहसे च्युत होकर अन्य देहको
प्राप्त होता है उसका वर्णन आरुणि
करता है—‘हे सोम्य ! इस पुरुष-
के मरते समय वाणी मनको प्राप्त
हो जाती है अर्थात् वाणीका मनमें
उपसंहार हो जाता है । उस समय
जातिवाले कहा करते हैं कि ‘यह
नहीं बोलता’ क्योंकि वाणीका
व्यापार तो मनःपूर्वक ही होता है;
जैसा कि “जो बात मनसे सोचता

* शरीरके आधारभूत सात धातु ये हैं—त्वचा, रक्त, मांस, मेद, मज्जा,
अस्थि और वीर्य ।

तदप्यौण्यलिङ्गं तेज उपसं-
ह्रियते तदा तत्तेजः परस्यां
देवतायां प्रशाम्यति ।

तदैवं क्रमेशोपसंहृते स्वमूलं
प्राप्ते च मनसि तत्स्थो जीवोऽपि
सुपुप्तकालवन्निमित्तोपसंहारादुप-
संहियमाणः सन्सत्याभिसन्धि-
पूर्वकं चेदुपसंहियते सदेव सम्पद्यते
न पुनर्देहान्तराय सुपुप्तादिवो-
त्तिष्ठति । यथा लोके सभये देशे
वर्तमानः कथञ्चिदिवाभयं देशं
प्राप्तस्तद्वत् । इतरस्त्वनात्मज्ञस्त-
स्मादेव मूलात्सुपुप्तादिवोत्थाय
मृत्वा पुनर्देहजालमाविशति
यस्मान्मूलादुत्थाय देहमाविशति
जीवः ॥ ६ ॥

उपगता ही जिसका लिङ्ग है वह
तेज भी उपसंहृत हो जाता है तब
वह तेज परदेवतामें प्रशान्त
होता है ।

तब इस प्रकार क्रमशः उपसंहृत
होकर मनके अपने मूलभूत पर
देवताको प्राप्त होनेपर उसमें स्थिर
जीव भी सुपुप्तकालके समान अपने
निमित्त [मन] का उपसंहार हो
जानेके कारण उपसंहृत होता हुआ
यदि सत्य नुसंधानपूर्वक उपसंहृत
होना है तो सत्को ही प्राप्त हो
जाता है; सोनेसे जगे हुए पुरुषके
समान फिर देहान्तरको प्राप्त नहीं
होता; जिस प्रकार कि लोकमें
भयपूर्ण देशमें रहनेवाला कोई प्राणी
किसी प्रकार अभय देशमें पहुँच
जानेपर [फिर उससे नहीं लौटता]
उसी प्रकार [यह भी नहीं लौटता] ।
किंतु अन्य जो अनात्मज्ञ है वह
सोनेसे जगे हुए पुरुषके समान
मरनेके अनन्तर उस अपने मूलसे,
जिस मूलसे कि जीव उठकर देहमें
प्रवेश करता है, उठकर फिर
देहपाशमें प्रवेश करता है ॥ ६ ॥

स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स
आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति भूय एव मा भगवा-
न्विज्ञापयत्विति तथा सोम्येति होवाच ॥ ७ ॥

— वह जो यह अणिमा है एतद्रूप ही यह सब है । वह सत्य है, वह आत्मा है और हे श्वेतकेतो ! वही तू है [आरुणिके इस प्रकार कहने-पर श्वेतकेतु बोला—] ‘भगवन् ! मुझे फिर समझाइये ।’ [तब आरुणिने] ‘अच्छा, सोम्य !’ ऐसा कहा ॥ ७ ॥

स यः सदाख्य एष उक्तो-
ऽणिमाणुभावो जगतो मूलमैत-
दात्म्यमेतत्सदात्मा यस्य
सर्वस्य तदेतदात्म तस्य भाव
ऐतदात्म्यम् । एतेन सदाख्ये-
नात्मनात्मवत्सर्वमिदं जगत् ।
नान्योऽस्त्यस्यात्मा संसारी,
“नान्यदतोऽस्ति द्रष्टुं नान्यदतो-
ऽस्ति श्रोतुं” (बृ० उ० ३ । ८ ।
११) इत्यादिश्रुत्यन्तरात् ।

येन चात्मनात्मवत्सर्वमिदं
जगत्तदेव सदाख्यं कारणं
सत्यं परमार्थसत् । अतः स
एवात्मा जगतः प्रत्यक्स्वरूपं
सतत्त्वं याथात्म्यम् । आत्म-
शब्दस्य निरुपपदस्य प्रत्यगा-

यह जो सत्संज्ञक अणिमा—
अणुता जगत्का मूल बतलायी
गयी है ‘ऐतदात्म्य’ यह सब है—
जिस सबकी एतत् (यह) सत्
आत्मा है उसे ‘ऐतदात्म’ कहते हैं
उसका भाव ‘ऐतदात्म्य’ है; अर्थात्
इस सत्संज्ञक आत्मासे यह सारा
जगत् आत्मवान् है । इसका आत्मा
कोई और संसारी नहीं है; जैसा कि
“इससे अन्य कोई द्रष्टा नहीं है,
इससे अन्य कोई श्रोता नहीं है”
इस अन्य श्रुतिसे प्रमाणित होता है ।

जिस आत्मासे यह सारा जगत्
आत्मवान् है वही सत्संज्ञक कारण
सत्य अर्थात् परमार्थ सत् है । अतः
वह आत्मा ही जगत्का प्रत्यक्
स्वरूप—सतत्त्वं अर्थात् याथात्म्य
है, क्योंकि जिस प्रकार गो आदि
शब्द बैल, गाय आदि अर्थमें रहते

त्मनि गवादिशब्दवन्निरूढत्वात्।

अतस्तत्सन्धमसीति हे श्वेतकेतो।

इत्थेवं प्रत्यायितः पुत्र आह

भूय एव मा भगवान्विज्ञापयतु

यद्भवदुक्तं तत्संदिग्धं ममाहन्य-

हनि सर्वाः प्रजाः सुपुप्ते सत्सं-

पद्यन्त इत्येतद्येन सत्सम्पद्य न

विदुः सत्सम्पन्ना वयमिति।

अतो दृष्टान्तेन मां प्रत्याय-

त्वित्यर्थः०। एवमुक्तस्तथास्तु

सोम्येति होवाच पिता ॥ ७ ॥

हैं उसी प्रकार उपपत्तिरहित 'आत्मा' शब्द प्रत्यगात्मामें रूढ है। अतः हे श्वेतकेतो ! वह सन् तू है।

इस प्रकार प्रतीति कराये हुए पुत्रने फिर कहा—'भगवन् ! आप मुझे फिर समझाइये। आपने जो कहा है उससे अभी मुझे संदेह ही है—सम्पूर्ण प्रजा रोज-रोज सुपुप्तिमें सत्को प्राप्त होती है; अतः इस विषयमें मुझे संदेह ही है कि वह यह कैसे नहीं जानती कि हम सत्को प्राप्त हो गये हैं। इसलिये तात्पर्य यह है कि आप मुझे दृष्टान्त देकर समझाइये' इस प्रकार कहे जानेपर पिताने 'सोम्य ! अच्छा' ऐसा कहा ॥ ७ ॥

—*—

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि पष्ठाध्याये

अष्टमखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥ ८ ॥



नवम खण्ड

—:०:—

मुमुक्षुर्वै 'सत्'को प्राप्तिका जान न होनेमें मधुमक्खियोंका दृष्टान्त

यत्पृच्छस्यहन्यहनि सःसम्पद्य न विदुः सःसम्पन्नाः स्म इति तत्कस्मादित्यत्र शृणु दृष्टान्तम्—

इ जो पूछता है कि प्रजा जो प्रतिदिन सत्को प्राप्त होकर भी यह नहीं जानती कि हम सत्को प्राप्त हो गये हैं, सो उसका यह अज्ञान किस कारणसे है ?—इस विषयमें दृष्टान्त श्रवण कर—

यथा सोम्य मधु मधुकृतो निस्तिष्ठन्ति नानात्ययानां वृक्षाणां रसान्समवहारमेकतां रसं गमयन्ति ॥ १ ॥

हे सोम्य ! जिस प्रकार मधुमक्खियां मधु निष्पन्न (तैयार) करती हैं तो नाना दिशाओंके वृक्षोंका रस लाकर एकताको प्राप्त करा देती हैं ॥ १ ॥

यथा लोके हे सोम्य मधुकृतो मधु कुर्वन्तीति मधुकृतो मधुकर-मक्षिका मधु निस्तिष्ठन्ति मधु निष्पादयन्ति तत्पराः सन्तः । कथम् ? नानात्ययानां नाना-गतीनां नानादिकानां वृक्षाणां रसान्समवहारं समाहृत्यैकतामे-कभावं मधुत्वेन रसान्गमयन्ति मधुत्वमापोदयन्ति ॥ १ ॥

हे सोम्य ! जिस प्रकार लोकमें मधुकृत—मधु करती हैं इसलिये जो मधुकृत कहो जाती हैं । वे मधु-मक्खियां तत्पर होकर मधु तैयार करती हैं । किस प्रकार तैयार करती हैं ? नानात्यय नाना गतियों-वाले (नाना प्रकारके) विविध दिशाओंमें स्थित वृक्षोंके रस लाकर उन रसोंको मधुरूपसे एकताको प्राप्त करा देती हैं अर्थात् मधुत्वको प्राप्त करा देती हैं ॥ १ ॥

ते तथा तत्र न विवेकं लभन्तेऽमुष्याहं वृक्षस्य रसो
ऽस्म्यमुष्याहं वृक्षस्य रसोऽस्मीत्येव खलु सोम्येमाः
सर्वाः प्रजाः सति सम्पद्य न विदुः सति सम्पद्यामह
इति ॥ २ ॥

वे रस जिस प्रकार उस मधुमें इस प्रकारका विवेक प्राप्त नहीं कर सकते कि 'मैं इस वृक्षका रस हूँ और मैं इस वृक्षका रस हूँ' हे सोम्य ! ठीक इसी प्रकार यह सम्पूर्ण प्रजा सत्को प्राप्त होकर यह नहीं जानती कि हम सत्को प्राप्त हो गये ॥ २ ॥

ते रसा यथा मधुत्वेनैकतां
गतास्तत्र मधुनि विवेकं न
लभन्ते । कथममुष्याहमात्रस्य
पनसस्य वा वृक्षस्य रसोऽस्मीति
यथा हि लोके बहूनां चेतनावतां
समेतानां प्राणिनां विवेकलाभो
भवत्यमुष्याहं पुत्रोऽमुष्याहं
नप्तास्मीति । ते च लब्धविवेकाः
सन्तो न संकीर्तयन्ते न तथे-
हानेकप्रकारवृक्षरसानामपि मधु-
राम्लतिक्तकडुकादीनां मधुत्वे-
नैकतां गतानां मधुरादिभावेन
विवेको गृह्यत इत्यभिप्रायः ।

यथायं दृष्टान्त इत्येवमेव
खलु सोम्येमाः सर्वाः प्रजा

मधुरूपसे एकताको प्राप्त हुए
वे रस जिस प्रकार उस मधुमें
[इस प्रकारका] विवेक प्राप्त नहीं
करते—किस प्रकारका ?—कि मैं
इस आम अथवा कटहलके वृक्षका
रस हूँ, जिस प्रकार कि लोकमें
बहुत-से चेतन प्राणियोंके एकत्रित
होनेपर इस प्रकार विवेक हुआ
करता है कि 'मैं इसका पुत्र हूँ,
इसका नाती हूँ' इत्यादि और इस
प्रकार विवेक रखनेके कारण वे
आपसमें नहीं मिलते, उसी प्रकार
यहाँ मधुरूपसे एकताको प्राप्त हुए
अनेकों वृक्षोंके मीठे, खट्टे, तीखे
अथवा कड़वे रसोंका मधुर आदि
रूपसे विवेक ग्रहण नहीं किया
जाता—ऐसा इसका अभिप्राय है ।

जैसा कि यह दृष्टान्त है ठीक इसी
प्रकार हे सोम्य ! यह सम्पूर्ण प्रजा

अहन्यहनि सति सम्पद्य सुषुप्ति-
काले मरणप्रलययोश्च न विदुर्न
विजानीयुः—सति सम्पद्यामह
इति सम्पन्ना इति वा ॥ २ ॥

नित्य प्रति सुषुप्ति, मृत्यु तथा प्रलय-
कालमें सत्को प्राप्त होकर यह नहीं
जानती कि हम सत्को प्राप्त हो
रहे हैं अथवा हो गये हैं ॥ २ ॥

यस्माच्चैवमात्मनः सद्रूपताम-
ज्ञात्वैव सत्सम्पद्यते, अतः—

क्योंकि इस प्रकार वे अपनी
सद्रूपताको बिना जाने ही सत्को
प्राप्त होते हैं; इसलिये—

त इह व्याघ्रो वा सिंहो वा वृको वा वराहो वा
कीटो वा पतङ्गो वा दंशो वा मशको यद्यद्भवन्ति
तदाभवन्ति ॥ ३ ॥

वे इस लोकमें व्याघ्र, सिंह, भेड़िया, भूकर, कीट, पतङ्ग, डाँस
अथवा मच्छर जो-जो भी [सुषुप्ति आदिसे पूर्व] होते हैं वे ही पुनः
हो जाते हैं ॥ ३ ॥

त इह लोके यत्कर्मनिमित्तां
यां यां जातिं प्रतिपन्ना आसु-
व्याघ्रादीनां व्याघ्रोऽहं सिंहोऽहं-
मित्येवं ते तत्कर्मज्ञानवासना-
ङ्किताः सन्तः सत्प्रविष्टा अपि
तद्भावेनैव पुनराभवन्ति पुनः
सत आगत्य व्याघ्रो वा सिंहो
वा वृको वा वराहो वा कीटो वा
पतङ्गो वा दंशो वा मशको वा

वे इस लोकमें जिस-जिस कर्मके
कारण व्याघ्रादिमेंसे जिस-जिस
जातिको 'मैं व्याघ्र हूँ, मैं सिंह हूँ'
इस प्रकारके अभिनिवेगसे प्राप्त
हुए थे उस कर्म और ज्ञानकी
वासनासे आङ्कित हुए वे सत्में
प्रविष्ट होनेपर भी उसी भावसे फिर
उत्पन्न हो जाते हैं; अर्थात् सत्से
पुनः लौटकर व्याघ्र, सिंह, वृक,
वराह, कीट, पतङ्ग, डाँस अथवा
मच्छर जो कुछ वे पहले इस लोकमें

यद्यत्पूर्वमिह लोके भवन्ति वभू-
 वुरित्यर्थः, तदेव पुनरागत्य
 भवन्ति युगमहसकोट्यन्तरितापि
 संसारिणो जन्तोर्या पुरा भाविता
 वासना सा न नश्यतीत्यर्थः ।
 “यथाप्रज्ञं हि सम्भवाः” इति
 श्रुत्यन्तरात् ॥ ३ ॥

थे वही फिर लौटकर हो जाते हैं ।
 तात्पर्य यह है कि सहस्रों कोटि
 युगोंका अन्तर पड़ जानेपर भी
 संसारी जीवोंकी जो पूर्वभावित
 वासना होती है वह नष्ट नहीं
 होती । “जन्म पूर्व वासनाके अनुसार
 ही होते हैं” ऐसी एक दूसरी
 श्रुतिसे भी यही सिद्ध होता है ॥ ३ ॥

—०—

ताः प्रजा यस्मिन्प्रविश्य पुन-
 राविर्भवति ये त्वितोज्ये
 सत्सत्यात्माभिसन्धा यमणुभावं
 सदात्मानं प्रविश्य नावर्तन्ते

जिसमें प्रवेश करके वह प्रजा
 पुनः आविर्भूत होती है, तथा उनसे
 अन्य जो सद्रूप सत्यात्मा में
 अभिनिवेश रखनेवाले हैं वे जिस
 अणुभाव अर्थात् सत्यात्मा में प्रवेश
 करके फिर नहीं लौटते—

स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स
 आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति भूय एव सा भगवा-
 न्विज्ञापयत्विति तथा सोम्येति होवाच ॥ ४ ॥

वह जो यह अणिमा है एतद्रूप ही यह सब है । वह सत्य है, वह ह
 आत्मा है और हे श्वेतकेतो ! वही तू है । [आरुणिके इस प्रकार
 कहनेपर श्वेतकेतु बोला—] ‘भगवन् ! मुझे फिर समझाइये ।’ [तब
 आरुणिने] ‘अच्छा, सोम्य !’ ऐसा कहा ॥ ४ ॥

स य एषोऽणिमेत्यादि व्या-
 ख्यातम् । तथा लोके स्वकीये
 गृहे सुप्त उत्थाय ग्रामान्तरं गतो

‘स य एषोऽणिमा’ इत्यादि
 मन्त्रकी व्याख्या पहले की जा चुकी
 है । [श्वेतकेतु बोला —] जिस
 प्रकार लोकमें अपने घरमें सोया
 हुआ पुरुष उठकर ग्रामान्तरमें

जानाति स्वगृहादागतोऽस्मीत्येवं
 सत आगतोऽस्मीति च जन्तूनां
 कस्माद्विज्ञानं न भवतीति भूय
 एव मा भगवान्विज्ञापयत्वित्यु-
 क्तस्तथा सोम्येति होवाच पिता
 ॥ ४ ॥

जानेपर यह जानता है कि मैं अपने
 घरसे आया हूँ, इसी प्रकार जीवोंको
 ऐसा ज्ञान क्यों नहीं होता कि मैं
 सन् के पाससे आया हूँ, अतः हे
 भगवन् ! मुझे फिर समझाइये ।
 इस प्रसंग पर वह जानेपर पिताने
 कहा—‘सोम्य ! अच्छा’ ॥ ४ ॥



इतिच्छान्दोग्यं पतिपदि पट्टाध्याये
 नवमखण्डभाष्यं सन्मृणम् ॥ ६ ॥



दशम खण्ड

ॐ:०:ॐ

नदीके दृष्टान्तद्वारा उपदेश

शृणु तत्र दृष्टान्तं यथा— | इस विषयमें दृष्टान्त श्रवण कर ।
| जिस प्रकार —

इमाः सोम्य नद्यः पुरस्तात्प्राच्यः स्यन्दन्ते पश्चा-
त्प्रतीच्यस्ताः समुद्रात्समुद्रमेवापियन्ति स समुद्र एव भव-
ति ता यथा तत्र न विदुरियमहमस्मीयमहमस्मीति ॥ १ ॥

हे सोम्य ! ये नदियाँ पूर्ववाहिनी होकर पूर्वकी ओर बहती हैं तथा पश्चिमवाहिनी होकर पश्चिमकी ओर । वे समुद्रसे निकलकर फिर समुद्रमें ही मिल जाती हैं और वह समुद्र ही हो जाता है । वे सब जिस प्रकार वहाँ (समुद्रमें) यह नहीं जानतीं कि 'यह मैं हूँ, यह मैं हूँ' ॥ १ ॥

सोम्येमा नद्यो गङ्गाद्याः पुर-
स्तात्पूर्वा दिशं प्रति प्राच्यः
प्रागञ्चनाः स्यन्दन्ते स्रवन्ति ।
पश्चात्प्रतीचीं दिशं प्रति सिन्धुवा-
द्याः प्रतीचीमञ्चन्ति गच्छन्तीति
प्रतीच्यस्ताः समुद्रादम्भोनिधे-
र्जलधरैराक्षिताः पुनर्वृष्टिरूपेण
पतिता गङ्गादिनदीरूपिण्यः
पुनः समुद्रमम्भोनिधिमेवापियन्ति
स समुद्र एव भवति । ता नद्यो
यथा तत्र समुद्रे समुद्रात्मनैकतां

हे सोम्य ! ये गङ्गा आदि नदियाँ प्राच्य पूर्ववाहिनी होकर पुरस्तात् पूर्व दिशाकी ही ओर बहती हैं तथा सिन्धु आदि, जो पश्चिमकी ओर जाती हैं अतः प्रतीच्य (पश्चिमवाहिनी) हैं, पश्चिम दिशाके प्रति बहती हैं । वे समुद्र—जलनिधिसे मेघोंद्वारा आकृष्ट होकर वृष्टिरूपसे बरसकर गङ्गादिरूपमें फिर समुद्रमें ही मिल जाती हैं और वह समुद्र ही हो जाता है । जिस प्रकार समुद्रमें समुद्ररूपसे एकताको प्राप्त हुई वे

गता न विदुर्न जानन्तीयं गङ्गा-
हमस्मीयं यमुनाहमस्मीति
च ॥ १ ॥

नदियाँ यह नहीं जानतीं कि 'यह
मैं गङ्गा हूँ; यह मैं यमुना हूँ'
इत्यादि ।' १ ॥

—❀—

एवमेव खलु सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सत
आगम्य न विदुः सत आगच्छामह इति त इह व्याघ्रो
वा सिं०हो वा वराहो वा कीटो वा पतङ्गो वा दं०शो
वा मश०को वा यण्ड०भवन्ति तदाभवन्ति ॥ २ ॥ स
य एषोऽणिमैतदात्स्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा
तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति भूय एव सा भगवान्विज्ञा-
पयत्विति तथा सोम्येति होवाच ॥ ३ ॥

ठीक इसी प्रकार हे सोम्य ! ये सम्पूर्ण प्रजाएँ सतसे आनेपर यह नहीं
जानतीं कि हम नत्के पाससे आयी हैं । इस लोकमें वे व्याघ्र, सिंह,
शूकर, कीट, पतङ्ग, दाँत अथवा मच्छर जो-जो भी होते हैं वे ही फिर हो
जाते हैं ॥ २ ॥ वह जो यह अणिमा है, एतद्रूप ही यह सब है । वह सत्य
है, वह आत्मा है और हे श्वेतकेतो ! वही तू है । [आरुणिके इस प्रकार
कहनेपर श्वेतकेतु बोला—] 'भगवन् ! मुझे फिर समझाइये ।' [तब
आरुणिने] 'अच्छा, सोम्य !' ऐसा कहा ॥ ३ ॥

एवमेव खलु सोम्येमाः सर्वाः प्रजा यस्मात्सति सम्पद्य न विदुः
स्तस्मात्सत आगम्य न विदुः सत

ठीक इसी प्रकार हे सोम्य !
ये सम्पूर्ण प्रजाएँ क्योंकि सत्में
लीन होकर [अपना पायंक्वज्ञान
नहीं रहता, इसलिये] उस सत्से

आगच्छामह आगता इति वा । त इह व्याघ्र इत्यादि समान-
मन्यत् । दृष्टं लोके जले वीचि तरङ्गफेनबुद्बुदादय उत्थिताः
पुनस्तद्भावं गता विनष्टा इति । जीवास्तु तत्कारणभावं प्रत्यहं
गच्छन्तोऽपि सुषुप्ते मरणप्रलय-
योश्च न विनश्यन्तीत्येतत् । भूय
एव मा भगवान्विज्ञापयतु
दृष्टान्तेन । तथा सोम्येति
होवाच पिता ॥ २-३ ॥

लौटनेपर यह नहीं जानतीं कि हम सत्के पास आयी हैं । 'ते इह व्याघ्रः' इत्यादि शेष वाक्यका अर्थ पूर्ववत् है । [श्वेतकेतु बोला—] लोकमें यह देखा गया है कि जलमें उठे हुए भँवर, तरंग, फेन एवं बुद्बुद आदि पुनः जलरूप हो जानेपर नष्ट हो जाते हैं; किंतु जीव तो प्रतिदिन सुषुप्तावस्थामें तथा मरण और प्रलयके समय अपने कारणभावको प्राप्त होकर भी नष्ट नहीं होते—सो हे भगवन् ! इस बातको मुझे दृष्टान्तद्वारा फिर समझाइये । तब पिताने कहा—
'सोम्य ! अच्छा' ॥ २-३ ॥



इतिच्छान्दोग्योपनिषदि षष्ठाध्याये
दशमखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥ १० ॥



एकादश खण्ड

—:ॐ:—

वृक्षके वृष्टान्तद्वारा उपदेश

शृणु दृष्टान्तमस्य—

[इस विषयमें] एक दृष्टान्त
नृनो—

अस्य सोम्य महतो वृक्षस्य यो मूलेऽभ्याहन्या-
ज्जीवन्स्त्रवेद्यो मध्येऽभ्याहन्याजीवन्स्त्रवेद्योऽग्रेऽभ्याह-
न्याज्जीवन्स्त्रवेत्स एष जीवेनात्मनानुप्रभूतः पेपीयमानो
मोदमानस्तिष्ठति ॥ १ ॥

हे सोम्य ! यदि कोई इस महान् वृक्षके मूलमें आघात करे तो यह जीवित रहते हुए ही केवल रसन्नाव करेगा, यदि मध्यमें आघात करे तो भी यह जीवित रहते हुए केवल रसन्नाव करेगा और यदि इसके अग्रभागमें आघात करे तो भी यह जीवित रहते हुए ही रसन्नाव करेगा । यह वृक्ष जीव—आत्मासे ओतप्रोत है और जलपान करता हुआ आनन्दपूर्वक स्थित है ॥ १ ॥

हे सोम्य महतोऽनेकशाखा-
दियुक्तस्य वृक्षस्यास्येत्यग्रतः
स्थितं वृक्षं दर्शयन्नाह—यदि यः
कश्चिदस्य मूलेऽभ्याहन्यान्पर-
श्वादिना सङ्क्रुद्धातमात्रेण न
शुण्यतीति जीवन्नेव भवति तदा
तस्य रसः स्रवेत् । तथा यो

हे सोम्य ! [इस प्रकार सम्बोधित करके] सामने स्थित वृक्षको दिखाते हुए कहते हैं—इस महान्—अनेक शाखादिसे युक्त वृक्षके मूलमें यदि कोई कुल्हाड़ी आदिसे आघात करे तो एक ही आघातसे यह मूल्य नहीं जाता, बल्कि जीवित ही रहता है; उस समय केवल इसका कुछ रस निकल जाता है । तथा यदि कोई मध्यमें आघात करे तो भी यह

मऽध्येभ्याहन्याज्जीवन्सवेत्तथा
 योऽग्नेभ्याहन्याज्जीवन्सवेत्स एष
 वृक्ष इदानीं जीवेनात्मनानु-
 प्रभूतोऽनुव्याहः पेपीयसानोऽत्यर्थं
 पिवन्नुदकं भौमांश्च रसाःसूलै-
 र्गृह्णन्मोदमानो हर्षं प्राप्नुवं-
 स्तिष्ठति ॥ १ ॥

जीवित रहते हुए ही रसस्त्राव कर
 देता है और यदि अन्नभागमें आघात
 करे तो भी यह जीवित रहते हुए
 ही रसस्त्राव करता है । इस समय
 यह वृक्ष जीव-आत्मासे अनुप्रभूत-
 पूर्णतः व्याप्त है और अत्यन्त
 जलपान करता हुआ तथा अपनी
 जड़द्वारा पृथिवीके रसोंको ग्रहण
 करता हुआ—मोदमान होता—
 हर्षं पाता हुआ स्थित है ॥ १ ॥

—:०:-

अस्य यदेकां शाखां जीवो जहात्यथ सा शुष्यति
 द्वितीयां जहात्यथ सा शुष्यति तृतीयां जहात्यथ सा
 शुष्यति सर्वं जहाति सर्वः शुष्यति ॥ २ ॥

यदि इस वृक्षकी एक शाखाको जीव छोड़ देता है तो वह सूख जाती
 है; यदि दूसरीको छोड़ देता है तो वह सूख जाती है और तीसरीको
 छोड़ देता है तो वह भी सूख जाती है, इसी प्रकार यदि सारे वृक्षको
 छोड़ देता है तो सारा वृक्ष सूख जाता है ॥ २ ॥

तस्यास्य यदेकां शाखां
 रोगग्रस्तामाहतां वा जीवो जहा-
 त्युपसंहरति शाखायां विप्रसृत-
 मात्मांशम्, अथ सा शुष्यति ।
 वाङ्मनःप्राणकरणग्रामानुप्रविष्टो

उस इस वृक्षकी यदि एक
 रोगग्रस्त अथवा आहत शाखाको
 जीव छोड़ देता है—उस शाखामें
 व्याप्त जीवांश उपसंहृत हो जाता
 है तो वह सूख जाती है; क्योंकि
 वाणी, मन, प्राण तथा इन्द्रिय-
 ग्राममें जीव अनुप्रविष्ट है इसलिये

हि जीव इति तदुपसंहार उपसं-
 ह्रियते । जीवेन च प्राणयुक्तेनाशितं
 पीतं च रसतां गतं जीववच्छरीरं
 वृक्षं च वर्धयद्रसरूपेण जीवस्य
 सद्भावे लिङ्गं भवति । अशित-
 पीताभ्यां हि देहे जीवस्तिष्ठति
 ते चाशितपीते जीवकर्मानुसा-
 रिणी इति । तस्यैकाङ्ग्यैकल्य-
 निमित्तं कर्म यदोपस्थितं भवति
 तदा जीव एकां शाखां जहाति
 शाखाया आत्मानमुपसंहरति ।
 अथ तदा सा शाखा शुष्यति ।

जीवस्थितिनिमित्ता रसो
 जीवकर्माक्षिप्तो जीवोपसंहारे न
 तिष्ठति । रसापगमे च शाखा
 शोषमुपैति तथा सर्वं वृक्षमेव
 यदायं जहाति तदा सर्वोऽपि
 वृक्षः शुष्यति । वृक्षस्य रसस्रवण-
 शोषणादिलिङ्गाज्जीववत्त्वं दृष्टा-

उनका उपसंहार होनेपर वह भी
 उपसंहृत हो जाता है । प्राणयुक्त
 जीवके द्वारा भी भक्षण तथा पान
 किया हुआ अन्न-जल रसभावको
 प्राप्त होता है; वह रसरूपसे
 जीवयुक्त शरीर तथा सजीव वृक्षकी
 वृद्धि करता हुआ जीवके सद्भावमें
 लिङ्ग है । खाये-पीये हुए अन्न-जलसे
 ही जीव देहमें रहता है । वे रान-
 पान जीवके कर्मानुसार होते हैं ।
 जिस समय उसके एक अङ्गकी विक-
 लताका निमित्तभूत कर्म उपस्थित
 होता है उस समय जीव एक
 शाखाको छोड़ देता है—उस एक
 शाखासे अपना उपसंहार कर लेता
 है । इसके पश्चात् तब वह शाखा
 सूख जाती है ।

जीवके कर्मानुसार प्राप्त हुआ
 तथा जीव ही स्थितिके कारण रहने-
 वाला रस जीवका उपसंहार होनेपर
 नहीं रहता; और रसके निगल
 जानेपर शाखा सूख जाती है ।
 इसी प्रकार जब यह सारे वृक्षको
 छोड़ देता है तो सारा ही वृक्ष
 सूख जाता है । वृक्षके रसस्राव एवं
 शोषण आदि लिङ्गसे उसकी
 सजीवता सिद्ध होती है तथा ['स
 एष वृक्षः जीवेन आत्मना अनु-

न्तश्रुतेश्च चेतनावन्तः स्थावरा
इति बौद्धकाणादमतमचेतनाः
स्थावरा इत्येतदसारमिति दर्शितं
भवति ॥ २ ॥

प्रभूतः'] इस दृष्टान्तश्रुतिसे यह निश्चित होता है कि स्थावर चेतनायुक्त होते हैं और इससे यह भी प्रदर्शित हो जाता है कि स्थावर चेतनागून्य होते हैं' ऐसा बौद्ध और काणादमत सारहीन है ॥ २ ॥

—:०:—

यथास्मिन्वृक्षदृष्टान्ते दर्शितं
जीवेन युक्तो वृक्षोऽशुष्को रस-
पानादियुक्तो जीवतीत्युच्यते
तदपेतश्च म्रियत इत्युच्यते—

जिस प्रकार कि इस वृक्षके दृष्टान्तमें यह दिखलाया गया है कि जीवसे युक्त वृक्ष अशुष्क और रसपानादिसे युक्त रहता है; इसलिये 'वह जीवित है'—ऐसा कहा जाता है तथा उस (जीव) से रहित हो जानेपर 'मर जाता है' ऐसा कहा जाता है—

एवमेव खलु सोम्य विद्धीति होवाच जीवापेतं
वाव किलेदं म्रियते न जीवो म्रियत इति स य एषो-
ऽणिमैतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि
श्वेतकेतो इति भूय एव सा भगवान्विज्ञापयत्विति
तथा सोम्येति होवाच ॥ ३ ॥

'हे सोम्य ! ठीक इसी प्रकार तू जान कि जीवसे रहित होनेपर यह शरीर मर जाता है, जीव नहीं मरता'—ऐसा [आरुणिने] कहा, 'वह जो यह अणिमा है एतद्रूप ही यह सब है । वह सत्य है, वह आत्मा है और हे श्वेतकेतो ! वही तू है।' [आरुणिके इस प्रकार कहनेपर श्वेतकेतु बोला—] 'भगवन् ! मुझे फिर समझाइये ।' [तब आरुणिने] 'अच्छा, सोम्य !' ऐसा कहा ॥ ३ ॥

एवमेव खलु सोम्य विद्धीति
 होवाच । जीवापेतं जीववियुक्तं
 वाव किलेदं शरीरं म्रियते न
 जीवो म्रियत इति । कार्यशेषे च
 सुप्रोत्थितस्य समेदं कार्यशेषम-
 परिसमाप्तमिति स्मृत्वा समापन-
 दर्शनात् । जातमात्राणां च
 जन्तूनां स्तन्याभिलाषभयादि-
 दर्शनाच्चातीतजन्मान्तरानुभूत-
 स्तनपानदुःखानुभवम्मृतिर्गम्यते ।
 अग्निहोत्रादीनां च वैदिकानां
 कर्मणामर्थवत्त्वाच्च जीवो म्रियत
 इति । स य एषोऽणिमेत्यादि
 समानम् ।

कथं पुनरिदमत्यन्तस्थूलं
 पृथिव्यादि नामरूपवज्जगदत्य-
 न्तसूक्ष्मात्सद्रूपान्नामरूपरहितात्
 सतो जायत इत्येतद्दृष्टान्तेन
 भूय एव मा भगवान्विज्ञापय-
 त्विति । तथा सोम्येति होवाच
 पिता ॥ ३ ॥

‘हे सोम्य ! ठीक इसी प्रकार
 न जान कि जीवापेत—जीवसे
 वियुक्त हुआ यह शरीर ही मरता
 है जीव नहीं मरता’ ऐसा [आरुणि-
 ने] कहा, क्योंकि कार्य शेष
 रहनेपर ही सोकर उठे हुए पुरुषको
 ‘मेरा यह काम शेष रह गया था’
 ऐसा स्मरण करके उसे समाप्त
 करते देखा जाता है । तथा तत्काल
 उत्पन्न हुए जीवोंको स्तनपानकी
 अभिलाषा और भय आदि होते देखे
 जानेसे पूर्वजन्मोंमें अनुभव किये
 हुए स्तनपान तथा दुःखानुभवकी
 स्मृतिका जान होता है । इसके
 सिवा अग्निहोत्र आदि वैदिक कर्मोंकी
 सार्थकता होनेके कारण भी जीव
 नहीं मरता । ‘स य एषोऽणिमा’
 इत्यादि वाक्यका अर्थ पूर्ववत् है ।

‘किंतु यह अत्यन्त स्थूल ‘पृथिवी’
 आदि नाम और रूपोंवाला संसार
 अत्यन्त सूक्ष्म, सद्रूप, नामरूपरहित
 सत्से किस प्रकार उत्पन्न होता
 है ? इस बातको हे भगवन् ! मुझे
 दृष्टान्तद्वारा फिर समझाइये’—ऐसा
 श्वेतकेतुने कहा । तब पिताने
 कहा—‘सोम्य ! अच्छा’ ॥ ३ ॥

— ० —

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि षष्ठाध्याये

एकादशखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥ ११ ॥

द्वादश खण्ड

—::०::—

न्यग्रोधफलके दृष्टान्तद्वारा उपदेश

यद्येतत्प्रत्यक्षीकर्तुमिच्छसि— | यदि तू इस बातको प्रत्यक्ष
करना चाहता है तो—

न्यग्रोधफलमत आहरेतीदं भगव इति भिन्द्यीति
भिन्नं भगव इति किमत्र पश्यसीत्यण्व्य इवेमा धाना
भगव इत्यासामङ्गैकां भिन्द्यीति भिन्ना भगव इति
किमत्र पश्यसीति न किञ्चन भगव इति ॥ १ ॥

इस (सामनेवाले वटवृक्ष) से एक बड़का फल ले आ। [श्वेतकेतु—]
'भगवन् ! यह ले आया ।' [आरुणि—] 'इसे फोड़' [श्वेत०—]
'भगवन् ! फोड़ दिया ।' [आरुणि—] 'इसमें क्या देखता है ?'
[श्वेत०—] 'भगवन् ! इसमें ये अणुके समान दाने हैं ।' [आरुणि—]
'अच्छा वत्स ! इनमेंसे एकको फोड़ ।' [श्वेत०—] 'फोड़ दिया भगवन् !'
[आरुणि—] 'इसमें क्या देखता है ?' [श्वेत०—] 'कुछ नहीं
भगवन् !' ॥ १ ॥

अतोऽस्मान्महतो न्यग्रोधात्
फलमेकमाहरेत्युक्तस्तथा चकार
स इदं भगव उपहतं फलमिति
दशितवन्तं प्रत्याह फलं भिन्द्यी-
ति भिन्नमित्याहेतरः । तमाह
पिता किमत्र पश्यसीत्युक्त आ-

इस महान् वटवृक्षसे एक फल
ले आ । ऐसा कहे जानेपर उसने
वैसा ही किया [और बोला—]
'भगवन् ! मैं यह फल ले आया'
इस प्रकार फल दिखलानेवाले उससे
[आरुणिने] कहा—'इस फलको
फोड़ !' इसपर श्वेतकेतु बोला—
'फोड़ दिया ।' उससे पिताने कहा—
'इसमें तू क्या देखता है ? इस
प्रकार कहे जानेपर श्वेतकेतु बोला—

हाएव्योऽणुतरा इवेमा धाना
बीजानि पश्यामि भगव इति ।
आसां धानानामेकां धानामङ्ग
हे वत्स भिन्द्धीत्युक्त आह
भिन्ना भगव इति । यदि भिन्ना
धाना तस्यां भिन्नायां किं
पश्यसीत्युक्त आह न किञ्चन
पश्यामि भगव इति ॥ १ ॥

‘भगवन् ! मैं इसमें ये अणु-अणुतर
अत्यन्त छोटे दाने—बीज देखता
हूँ ।’ [आरुणि—] ‘हे वत्स !
इन धानोंमेंसे तू एक धानेको
फोड़ ।’ इस प्रकार कहे जानेपर
वह बोला—‘भगवन् ! फोड़
दिया ।’ [आरुणि—] ‘अच्छा,
यदि तूने धाना फोड़ दिया तो उस
फूटे हुए धानेमें तू क्या देखता
है ?’ ऐसा कहे जानेपर वह
बोला—‘भगवन् ! मैं कुछ नहीं
देखता’ ॥ १ ॥

—:०:—

तद्वाच यं वै सोम्यैतमणिमानं न निभालयस
एतस्य वै सोम्यैषोऽणिम एव महान्यग्रोधस्तिष्ठति
श्रद्धत्स्व सोम्येति ॥ २ ॥

तब उससे [आरुणिने] कहा—‘हे सोम्य ! इस बटबीजकी जिस
अणिमाको तू नहीं देखता हे सोम्य ! उस अणिमाका ही यह इतना बड़ा
बटवृक्ष खड़ा हुआ है । हे सोम्य ! तू [इस कथनमें] श्रद्धा कर’ ॥ २ ॥

तं पुत्रं होवाच वटधानायां
भिन्नायां यं वटबीजाणिमानं हे
सोम्यैतं न निभालयसे न
पश्यसि । तथाप्येतस्य वै किल
सोम्यैष महान्यग्रोधो बीजस्या-

उस पुत्रसे [आरुणिने] कहा—
‘हे सोम्य ! बटके दानेके टूटनेपर
जिस बटबीजकी अणिमाको तू नहीं
देखता, तथापि हे सोम्य ! देख,
निश्चय उसी बीजकी दिखायी न
देनेवाली सूक्ष्म अणिमाका कार्यभूत

शिम्नः सूक्ष्मस्यादृश्यमानस्य
कार्यभूतः स्थूलशाखास्कन्धफल-
पलाशवांस्तिष्ठत्युत्पन्नः सन्तु-
त्तिष्ठतीति वोच्छब्दोऽध्याहार्यः ।
अतः श्रद्धत्स्व सोम्य सत एवा-
शिम्नः स्थूलं नामरूपादिमत्कार्यं
जगदुत्पन्नमिति ।

यद्यपि न्यायागमाभ्यां निर्धा-
रितोऽर्थस्तथैवेत्यवगम्यते तथा-
प्यत्यन्तसूक्ष्मेष्वर्थेषु बाह्यविषया-
सक्तमनसः स्वभावप्रवृत्तस्यासत्यां
गुरुतरायां श्रद्धायां दुरवगमत्वं
स्यादित्याह—श्रद्धत्स्वेति । श्रद्धायां
तु सत्यां मनसः समाधानं बुभु-
त्सितेऽर्थे भवेत्ततश्च तदर्थविगतिः
“अन्यत्रमना अभूवम्” (बृ०
उ० १।५।३) इत्यादिश्रुतेः ॥ २ ॥

यह मोटी-मोटी शाखा, स्कन्ध, फल
और पत्तोंवाला महान् वटवृक्ष
स्थित है—उत्पन्न होकर खड़ा
हुआ है इस प्रकार यहाँ ‘तिष्ठति’
क्रियाके पूर्व ‘उत्’ शब्दका अध्याहार
करना चाहिये । इसलिये हे सोम्य !
विश्वास कर कि नाम-रूपादिमान्
स्थूल जगत् अत्यन्त सूक्ष्म सत्से ही
उत्पन्न हुआ है ।

यद्यपि युक्ति और शालं—इन
दोनोंसे निश्चित हुआ अर्थ ऐसा ही
है; तथापि गुरुतर श्रद्धाके न होने-
पर बाह्य विषयोंमें आसक्तचित्त
स्वभावसे ही प्रवृत्तिशील पुरुषका
[ऐसे] अत्यन्त सूक्ष्म विषयोंमें
प्रवेश होना बड़ा ही कठिन है—
ऐसा समझकर आरुणिने कहा—
‘श्रद्धा कर ।’ क्योंकि श्रद्धाके होने-
पर ही जिज्ञासित विषयमें मनका
समाधान हो सकता है और तभी
उस विषयका ज्ञान होना सम्भव
है; जैसा कि ‘मेरा मन दूसरी ओर
था [इसलिये मैं नहीं देख सका]’
इत्यादि श्रुतिसे प्रमाणित होता
है ॥ २ ॥

स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स
आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति भूय एव मा भग-
वान् विज्ञापयत्विति तथा सोम्येति होवाच ॥ ३ ॥

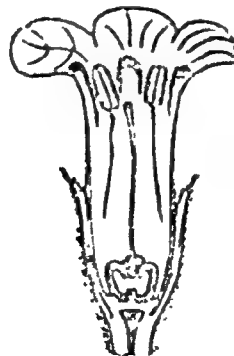
वह जो यह अणिमा है एतद्रूप ही यह सब है । वह सत्य है वह
आत्मा है और हे श्वेतकेतो ! वही तू है । [आरुणिके इस प्रकार
कहनेपर श्वेतकेतु बोला—] 'भगवन् ! मुझे फिर समझाइये ।'
[तब आरुणिने] 'अच्छा, सोम्य !' ऐसा कहा ॥ ३ ॥

स य इत्याद्युक्तार्थम् । यदि
तत्सज्जगतो मूलं कस्मान्नोपलभ्यत
इत्येतद्दृष्टान्तेन मा भगवान्भूय
एव विज्ञापयत्विति । तथा
सोम्येति होवाच पिता ॥ ३ ॥

'स यः' इत्यादि श्रुतिका अर्थ
पहले कहा जा चुका है । 'यदि वह
सत् जगत् का कारण है तो उपलब्ध
क्यों नहीं होता ? हे भगवन् ! इस
वातको आप दृष्टान्तद्वारा मुझे फिर
समझाइये' ऐसा [श्वेतकेतुने कहा] ।
तब पिताने 'सोम्य ! अच्छा' ऐसा
उत्तर दिया ॥ ३ ॥

—: * —

इति षष्ठ्यान्दोग्योपनिषदि षष्ठाध्याये
द्वादशखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥ १२ ॥



त्रयोदश खण्ड

— ❀ —

लवणके दृष्टान्तद्वारा उपदेश

विद्यमानमपि वस्तु नोप-
लभ्यते प्रकारान्तरेण तूपलभ्यत
इति श्रुण्वत्र दृष्टान्तम् । यदि
चेममर्थं प्रत्यक्षीकर्तुमिच्छसि—

विद्यमान होनेपर भी [कोई-
कोई] वस्तु उपलब्ध नहीं होती ।
हां, प्रकारान्तरसे उसकी उपलब्धि
हो सकती है । इस विषयमें दृष्टान्त
श्रवण कर, यदि तू इस बातको
प्रत्यक्ष करना चाहता हो तो—

लवणमेतदुदकेऽवधायाथ मा प्रातरुपसीदथा इति
सह तथा चकार तद्दोषा लवणमुदकेऽवधा
अङ्ग तदाहरेति तद्धावमृश्य न विवेद ॥ १ ॥

इस नमकको जलमें डालकर कल प्रातःकाल मेरे पास आना ।
आरुणिके इस प्रकार कहनेपर श्वेतकेतुने वैसा ही किया । तब आरुणिने
उससे कहा—‘वत्स ! रात तुमने जो नमक जलमें डाला था उसे ले
आओ ।’ किंतु उसने ढूँढ़नेपर उसे उसमें न पाया ॥ १ ॥

पिण्डरूपं लवणमेतदुदकादा-
वुदकेऽवधाय प्रक्षिप्याथ मा मां
श्वः प्रातरुपसीदथा उपगच्छेथा
इति । स ह पित्रोक्तमर्थं प्रत्यक्षी-
कर्तुमिच्छंस्तथा चकार । तं
होवाच परेद्युः प्रातर्यल्लवणं दोषा
रात्रावुदकेऽवधा निक्षिप्तवान-
स्यङ्ग हे वत्स तदाहरेत्युक्तस्त-

इस पिण्डरूप नमकको घड़े
आदिमें जलमें डालकर कल प्रातःकाल
मेरे पास आना । श्वेतकेतुने पिता-
की कही हुई बातको प्रत्यक्ष करनेकी
इच्छासे वैसा ही किया । दूसरे
दिन सबेरे ही आरुणिने उससे
कहा—‘हे वत्स ! रात तुमने जो
नमक पानीमें डाला था उसे ले
आओ ।’ इस प्रकार कहे जानेपर

लवणमाजिहीर्षुर्ह किलावमृश्यो- उसने उस नमकको ले आनेकी
दके न विवेद न विज्ञातवान्; यथा इच्छासे जलमें टटोला, किन्तु
उसे न पाया, क्योंकि वह नमक
तल्लवणं विद्यमानमेव सदप्सु वहां मौजूद होनेपर भी जलमें नीन
लीनं संश्लिष्टमभूत् ॥ १ ॥ हो गया था अर्थात् जलमें ही मिल
गया था ॥ १ ॥

—:६६:—

यथा विलीनमेवाङ्गास्यान्तादाचामेति कथमिति
लवणमिति मध्यादाचामेति कथमिति लवणमित्यन्ता-
दाचामेति कथमिति लवणमित्यभिप्रास्येतदथ मोपसी-
दथा इति तद्ध तथा चकार तच्छ्वत्संवर्तते तः होवा-
चात्र वाव किल सत्सोम्य न निभालयसेऽत्रैव
किलेति ॥ २ ॥

[आरुणि—] 'जिस प्रकार वह नमक इसीमें विलीन हो गया है
[इसलिये तू उसे नेत्रसे नहीं देख सकता, उसे यदि जानना चाहता है
तो] इस जलको ऊपरसे आचमन कर ।' [उसके आचमन करनेपर
आरुणिने पूछा—] 'कैसा है ?' [श्वेत०—] 'नमकीन है ।' [आरुणि—]
'बीचमेंसे आचमन कर' 'अब कैसा है ?' [श्वेत०—] 'नमकीन है ।'
[आरुणि—] 'नीचेसे आचमन कर' 'अब कैसा है ?' [श्वेत०—]
'नमकीन है ।' [आरुणि—] 'अच्छा, अब इस जलको फेंककर मेरे पास
आ ।' उसने वैसा ही किया, [और बोला—] 'उस जलमें नमक सदा
ही विद्यमान था ।' तब उससे पित्ताने कहा— 'हे सोम्य ! [इसी प्रकार]
वह सत् भी निश्चय यहीं विद्यमान है, तू उसे देखता नहीं है; परंतु वह
निश्चय यहीं विद्यमान है' ॥ २ ॥

यथा विलीनं लवणं न वेत्थ | जिस प्रकार वह नमक विलीन
तथापि तच्चक्षुषा स्पर्शनेन च हो गया है इसलिये तू उसे नहीं जान
पिण्डरूपं लवणमगृह्यमाणं विद्यत | सकता । तथापि वह पिण्डरूप लवण
दिज्ञायी न देनेपर भी है जलमें ही,

एवाप्सु, उपलभ्यते चोपायान्तरे-
ण-इत्येतत्पुत्रं प्रत्याययितुमिच्छ-
न्नाहाङ्गास्योदकस्यान्तादुपरिगृही-
त्वाचामेत्युक्त्वा पुत्रं तथा कृतव-
न्तमुवाच-कथमिति; इतर आह
लवणं स्वादुत इति । तथा मध्या-
दुदकस्य गृहीत्वाचामेति, कथमि-
ति, लवणमिति । तथान्तादधोदे-
शाद्गृहीत्वाचामेति, कथमिति,
लवणमिति ।

यद्येवम्, अभिप्रास्य परित्यज्यै-
तदुदकमाचम्याथ मोपसीदथा
इति । तद्ध तथा चकार । लवणं
परित्यज्य पितृसमीपमाजगामे-
त्यर्थः, इदं वचनं ब्रुवन्-तल्ल-
वणं तस्मिन्नेवोदके यन्मया रात्रौ
क्षिप्तं शश्वन्नित्यं संवर्तते विद्य-
मानमेव सत्सम्यग्वर्तते ।

इत्येवमुक्तवन्तं तं होवाच

और एक दूसरे उपायसे उसकी
उपलब्धि भी हो सकती है-इस
वातकी पुत्रको प्रतीति करानेकी
इच्छासे आरुणिने कहा—‘हे वत्स !
इस जलके अन्त—ऊपरी भागसे
लेकर आचमन कर ।’ ऐसा कहकर
पुत्रके उसी प्रकार करनेपर वह
बोला—‘कैसा है ?’ [पुत्र—]
‘स्वादमें नमकीन है ।’ [पिता—]
‘और जलके मध्यभागसे भी लेकर
आचमन कर’ ‘कैसा है ?’ [पुत्र—]
‘नमकीन है ।’ [पिता —] ‘अच्छा,
अन्त—नीचेके भागसे भी लेकर
आचमन कर’ ‘कैसा है ?’
[पुत्र—] ‘नमकीन है ।’

[पिता—] ‘यदि ऐसा है तो
इस जलको फेंककर आचमन करने-
के अनन्तर मेरे पास आ ।’ उसने
वैसा ही किया, अर्थात् उस
नमकीन जलको फेंककर वह इस
प्रकार कहता हुआ पिताके पास
आया कि रात मैंने जो नमक उस
जलमें डाला था वह उसमें शश्वत्—
नित्य वर्तमान है अर्थात् उसमें
विद्यमान हुआ ही सम्यक्प्रकारसे
वर्तमान है ।

इस प्रकार कहते हुए उस पुत्रसे

पिता—यथेदं लवणं दर्शनस्पर्श-
 नाभ्यां पूर्वं गृहीतं पुनरुदके
 विलीनं ताभ्यामगृह्यमाणमपि
 विद्यत एवोपायान्तरेण जिह-
 योपलभ्यमानत्वात् । एवमेवात्रै-
 वास्मिन्नेव तेजोऽन्ननादिकार्ये
 शुद्धे देहे, वाव किलेत्याचार्यो-
 पदेशस्मरणप्रदर्शनार्थी, सत्तेजो-
 अन्नादिशुद्धकारणं वद्व्याजाणि-
 मवद्विद्यमानमेवेन्द्रियैर्नोपलभ्यसे
 न निभालयसे । यथात्रैवोदके
 दर्शनस्पर्शनाभ्यामनुपलभ्यमानं
 लवणं विद्यमानमेव जिहयोपल-
 ब्धवानसि, एवमेवात्रैव किल
 विद्यमानं सज्जगन्मूलमुपायान्त-
 रेण लवणाणिमवदुपलप्स्यस
 इति वाक्यशेषः ॥ २ ॥

पिताने कहा—‘जिस प्रकार यह
 नमक पहले दर्शन और स्पर्शनसे
 गृहीत होता हुआ भी फिर जलमें
 विलीन होनेपर उससे गृहीत न
 होनेपर भी उसमें विद्यमान है ही,
 क्योंकि उपायान्तरसे अर्थात् जिह्वा-
 द्वारा उसकी उपलब्धि होती है;
 उसी प्रकार यहाँ—तेज, अप् और
 अन्नके कारणभूत इन त्रयीरूप
 गुणों—यहाँ ‘वाव’ और ‘किल’
 ये दो निपात आचार्योंपदेशना
 स्मरण प्रदर्शन करनेके लिये हैं—
 तेज, जल और अन्नादि गुणोंके
 कारणभूत सत्को तू वद्व्याजकी
 अणिमाके समान विद्यमान रहते
 हुए भी इन्द्रियोंसे उपलब्ध नहीं
 करता—तुझे वह दिखायी नहीं
 देता । जिस प्रकार कि यहाँ जलमें
 दर्शन और स्पर्शनसे उपलब्ध न
 होनेवाले विद्यमान नमकको तूने
 जिह्वासे उपलब्ध किया है उसी
 प्रकार निश्चय यहीं विद्यमान
 जगत्के मूलभूत सत्को तू लवणकी
 अणिमाके समान अन्य उपायसे
 उपलब्ध कर सकता है—यह
 वाक्यशेष है ॥ २ ॥

स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स
आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति भूय एव मा भग-
वान्विज्ञापयत्विति तथा सोम्येति होवाच ॥ ३ ॥

वह जो यह अणिमा है एतद्रूप ही यह सब है। वह सत्य है, वह आत्मा है और हे श्वेतकेतो ! वही तू है। [आरुणिके इस प्रकार कहने-पर श्वेतकेतु बोला—] ‘भगवन् ! मुझे फिर समझाइये।’ [तब आरुणिने] ‘अच्छा, सोम्य !’ ऐसा कहा ॥ ३ ॥

स य इत्यादि समानम् । ‘स यः’ इत्यादि श्रुतिका अर्थ पूर्ववत् है। ‘यदि’ इस प्रकार लवणकी अणिमाके समान इन्द्रियोंसे उपलब्ध होनेवाला न होनेपर भी वह जगत्का मूलभूत सत् किसी दूसरे उपायसे उपलब्ध हो सकता है, जिसकी उपलब्धिसे कि मैं कृतार्थ हो सकता हूँ और जिसे उपलब्ध न करनेसे अकृतार्थ ही रहूँगा, तो उसकी उपलब्धिके लिये क्या उपाय है—इस बातको हे भगवन् ! आप दृष्टान्तद्वारा मुझे फिर भी समझाइये।’ [तब आरुणिने] ‘सोम्य ! अच्छा’ ऐसा कहा ॥ ३ ॥



इतिछान्दोग्योपनिषदि षष्ठाध्याये
त्रयोदशखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥ १३ ॥

चतुर्दश खण्ड

—ॐ—

मन्वन्तरे लाये हुए पुरुषके पृथग्विज्ञान रा उपदेश

यथा सोम्य पुरुषं गन्धारेभ्योऽभिनद्धाक्षमानीय
तं ततोऽतिजने विस्तृजेत्स यथा तत्र प्राङ्बोदङ्वाध-
राङ्वा प्रत्यङ्वा प्रध्मायीताभिनद्धाक्ष आनीतोऽभि-
नद्धाक्षो विस्तृष्टः ॥ १ ॥

हे सोम्य ! जिस प्रकार [कोई चोर] जिसकी आँखें बाँधी हुई हों
ऐसे किसी पुरुषको गान्धार देशसे लाकर जनमूल्य स्थानमें छोड़ दे ।
उस जगह जिस प्रकार वह पूर्व, उत्तर, दक्षिण अथवा पश्चिमकी ओर
मुख करके चिल्लावे कि 'मुझे आँखें बाँधकर यहाँ लाया गया है और
आँखें बाँधे हुए ही छोड़ दिया गया है' ॥ १ ॥

यथा लोके हे सोम्य पुरुषं यं
कश्चिद्गन्धारेभ्यो जनपदेभ्योऽभि-
नद्धाक्षं बद्धचक्षुषमानीय द्रव्य-
हर्ता तस्करस्तमभिनद्धाक्षमेव
बद्धहस्तमरण्ये तपोऽप्यतिजनेऽति-
गतजनेऽत्यन्तविगतजने देशे वि-
स्तृजेत्स तत्र दिग्भ्रमोपेतो यथा
प्राङ्वा प्रागञ्चनः प्राङ्मुखो
वेत्यर्थः । तथोदङ्वाधराङ्वा
प्रत्यङ्वा प्रध्मायीत शब्दं कुर्या-

हे सोम्य ! लोकमें जिस प्रकार
कोई द्रव्य हरण करनेवाला चोर
किसी पुरुषको जो अभिनद्धाक्ष हो
अर्थात् जिसकी आँखें बाँध दी गयी
हों, गान्धार देशसे लाकर वनमें
और उसमें भी जो अतिजन—
प्रतिगतजन अर्थात् अत्यन्त जन-
शून्य हो ऐसे देशमें आँखें और
हाथ बाँधे हुए ही छोड़ दे तो उस
जगह वह दिग्भ्रमसे युक्त हुआ
'प्राङ्वा'—पूर्वकी ओर जाता हुआ
अर्थात् पूर्वाभिमुख हुआ तथा उत्तर,
दक्षिण अथवा पश्चिमकी ओर मुख

द्विक्रोशेत्, अभिनद्धाक्षोऽहं | करके इस प्रकार शब्द कहे अर्थात्
 गन्धारेभ्यस्तस्करेणानीतोऽभिन- | चित्तावे कि मुझे गान्धार देशसे
 द्धाक्ष एव विसृष्ट इति ॥ १ ॥ | आखें बाँधकर यहाँ चोर ले आया
 है और आखें बाँधे हुए ही छोड़
 दिया है' ॥ १ ॥

—:०:—

एवं विक्रोशतः —

| इस प्रकार चिल्लानेवाले—

तस्य यथाभिनहनं प्रमुच्य प्रब्रूयादेतां दिशं
 गन्धारा एतां दिशं व्रजेति स ग्रामाद्ग्रामं पृच्छन्प-
 ण्डितो मेधावी गन्धारानेवोपसम्पद्ये तैवमेवेहाचार्यवा-
 न्पुरुषो वेद तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ
 सम्पत्स्य इति ॥ २ ॥

उस पुरुषके बन्धनको खोलकर जैसे कोई कहे कि 'गान्धार देश
 इस दिशामें है, अतः इसी दिशाको जा,' तो वह बुद्धिमान् और
 समझदार पुरुष एक ग्रामसे दूसरा ग्राम पूछता हुआ गान्धारमें ही पहुँच
 जाता है, इसी प्रकार इस लोकमें आचार्यवान् पुरुष ही [सत्को] जानता-
 है; उसके लिये [मोक्ष होनेमें] उतना ही विलम्ब है जबतक कि वह
 [देहबन्धनसे] मुक्त नहीं होता । उसके पड़चात् तो वह सत्सम्पन्न
 (ब्रह्मको प्राप्त) हो जाता है ॥ २ ॥

तस्य यथाभिनहनं यथा बन्धनं

उस पुरुषके अभिनहन—

प्रमुच्य मुक्त्वा कारुणिकः

बन्धनको खोलकर जिस प्रकार

कश्चिदेतां दिशमुत्तरतो गन्धारा

कोई कृपालु पुरुष कहे कि इस

एतां दिशं व्रजेति प्रब्रूयात्स एवं

दिशामें उत्तरकी ओर गान्धार

कारुणिकेन बन्धनान्मोक्षितो

देश है; अतः इस दिशाकी ओर

ग्रामाद्ग्रामान्तरं पृच्छन्पण्डित

जा तो इस प्रकार उस कृपालु

पुरुषद्वारा बन्धनसे छुड़ाया हुआ

उपदेशवान्मेधावी परोपदिष्ट-

ग्रामप्रवेश मार्गविधारणसमर्थः

सन्गन्धारानेवोपसम्पद्येत, नेतरो

मृदमतिदेशान्तरदर्शनवृद्ध्वा ।

यथायं दृष्टान्तो वर्णितः,

स्वविषयेभ्यो गन्धारेभ्यः पुरुष-

स्तस्करैरभिनद्धाक्षोजविवेको दि-

ड्मूढोऽशानायापिपासादिमान्व्या-

घ्रतस्कराद्यनेकभयानर्थव्रातयुत-

मरणं प्रवेशितो दुःखार्तो विक्रो-

शन्यन्धनेभ्यो मुमुक्षुस्तिष्ठति स

कथञ्चिदेव कारुणिकेन केनचि-

न्मोक्षितः स्वदेशान्गन्धारानेवा-

पन्नो निवृत्तः सुख्यभूतः—

एवमेव सतो जगदात्मस्वरू-

पात्तेजोऽग्न्यादिमयं देहारण्यं

वातपित्तकफरुधिरमेदोमांसास्थि-

वह पण्डित—उपदेशवान् और मेधावी—दूनरोके मतलाये हुए ग्राम-में प्रवेश करनेके मार्ग ही ठीक-ठीक समझनेमें समर्थ पुरुष एक गांवसे दूसरे गांवको पूछता हुआ गान्धार देशमें ही पं न जाता है—दूसरा मृदमति प्रववा देशान्तर देशनेकी कृपावाला नहीं प न पाता ।

जिस प्रकार यह दृष्टान्त वर्णन किया गया है अर्थात् अपने देश गान्धारसे चोरोंद्वारा ग्रामों बांधकर लाया जानेके कारण विवेकमूढ दिग्मूढ तथा भूगन्धाससे युक्त होकर व्याघ्र-तस्कर आदि अनेकों भय और अनर्थसमूहसे सम्पन्न वनमें प्रवेशित किया हुआ पुरुष दुःखार्त होकर चिल्लाता हुआ दन्धनोंसे मुक्त होनेके लिये उत्तुक था और वह किसी कृपानुद्वारा उन दन्धनोंसे छुड़ा दिये जानेपर किसी प्रकार अपने देश गान्धारमें पहुँचकर ही कृतार्थ यानी सुखी हुआ ।

ठीक इसी प्रकार संसारके प्रात्मस्वरूप सत्त्वे तेज, जल और अग्नादिमय देहरूप वनमें जो कि वात, पित्त, कफ, रुधिर, मेद, मांस, अस्थि, मज्जा, शुक्र, कृमि

मज्जाशुक्लकृमिमूत्रपुरीषवच्छीतो-
 ण्णाद्यनेकद्वन्द्वसुखदुःखवच्चेदंमो-
 हपटाभिनद्धाक्षो भार्यापुत्रमित्र-
 पशुवन्ध्वादिदृष्टानेकविषयतृष्णा-
 पाशितः पुण्यापुण्यादितस्करैः
 प्रवेशितः 'अहममुष्य पुत्रो ममैते
 बान्धवाः सुख्यहं दुःखी मूढः
 पण्डितो धार्मिको बन्धुमाञ्जातो
 मृतो जीर्णः पापी पुत्रो मे मृतो
 धनं मे नष्टं हा हतोऽस्मि कथं
 जीविष्यामि का मे गतिः किं मे
 त्राणम् ?' इत्येवमनेकशतसहस्रा-
 नर्थजालवान्विकोशन्कथश्चिदेव
 पुण्यातिशयात्परमकारुणिकं क-
 श्चित्सद्ब्रह्मात्मविदं विमुक्तबन्धनं
 ब्रह्मिष्ठं यदासादयति । तेन च
 ब्रह्मविदा कारुण्यादृशितसंसार-
 विषयदोषदर्शनमार्गो विरक्तः
 संसारविषयेभ्यः 'नासि त्वं
 संसार्यमुष्य पुत्रत्वादिधर्म-
 वान्' किं तर्हि ? 'सद्
 यत्तत्त्वमसि' इत्यविद्यामोहप-
 टाभिनहनान्मोक्षितो गन्धारपुरुष-

और मल-मूत्रसे पूर्ण तथा शीतोष्णादि
 अनेकों द्वन्द्व और सुख-दुःखसे युक्त
 है, यह जीव मोहरूप वस्त्रसे बंधे हुए
 नेत्रवाला होकर तथा स्त्री, पुत्र, मित्र,
 पशु और बन्धु आदि दृष्ट तथा अदृष्ट
 अनेकों विषयतृष्णाओंसे जकड़ा जाकर
 पुण्य-पापरूप चोरोंद्वारा प्रवेशित
 कर दिये जानेपर 'मैं इसका पुत्र हूँ,
 ये मेरे बान्धव हैं, मैं सुखी, दुखी,
 मूढ, पण्डित, धार्मिक अथवा बन्धु-
 मान् हूँ, मैं उत्पन्न हुआ हूँ, मरता
 हूँ, जराग्रस्त हूँ, पापी हूँ, मेरा पुत्र
 मर गया है, धन नष्ट हो गया है,
 हा ! मैं मारा गया, अब कैसे जीवित
 रहूँगा ? मेरी क्या गति होगी ?
 अब मेरा रक्षक कौन है ?' इसी
 प्रकारके अनेकों सैकड़ों अनर्थजालोंसे
 युक्त होकर रोता हुआ जब पुण्यकी
 अधिकता होनेसे किसी प्रकार किसी
 परम कृपालु सद्ब्रह्मात्मज्ञ बन्ध-
 नमुक्त ब्रह्मनिष्ठ महापुरुषको प्राप्त
 होता है और उस ब्रह्मवेत्ताद्वारा
 दयावश सांसारिक विषयोंके दोष-
 दर्शनका मार्ग दिखाये जानेपर
 सांसारिक विषयोंसे विरक्त हो जाता
 है तथा 'तू संसारी नहीं है और न
 इसके पुत्रत्वादि धर्मवाला ही है,'
 तो कौन है ?—'जो सत् तत्त्व है
 वही तू है' इस प्रकारके उपदेशसे
 अविद्यामय मोहरूप वस्त्रके बन्धनसे
 छुड़ाया जाकर गन्धारदेशीय पुरुष

वच्च स्वं सदात्मानमुपसंपद्य सुखां
निवृत्तः स्यादित्येतमेवार्थमाहा-
चार्यवान् पुरुषो वेदेति ।

तस्यास्यैवमाचार्यवतो मुक्ता-
विद्याभिनहनस्य तावदेव तावा-
नेव कालधिरं क्षेपः सदात्मस्व-
रूपसम्पत्तेरिति वाक्यशेषः । कि-
यान्कालधिरम् ? इत्युच्यते—
यावन्न विमोक्ष्ये न विमोक्ष्यत
इत्येतत् पुरुषव्यत्ययेन, सामर्थ्यात्;
येन कर्मणा शरीरमारब्धं
तस्योपभोगेन त्वादेहपातो
यावदित्यर्थः । अथ तदैव सत्स-
म्पत्स्ये सम्पत्स्यत इति पूर्ववत् ।
न हि देहमोक्षस्य सत्सम्पत्तेश्च
कालभेदोऽस्ति, येनाथशब्द
आनन्तर्यार्थः स्यात् ।

के समान अपने सदात्माको प्राप्त
होकर सुखी और शान्त हो जाता
है—इसी बातको [आरुणिने]
'आचार्यवान्पुरुषो वेद' इस वाक्यसे
कहा है ।

इस प्रकार आचार्यवान् तथा
अविद्यारूप बन्धनसे मुक्त हुए उस
पुरुषके लिये सदात्मस्वरूपकी
प्राप्तिमें—इतना वाक्यशेष जोड़ना
चाहिये—उतने ही समयतक देर
अर्थात् कालक्षेप करना है—कितने
समयतक देर है ? सो बतलाया
जाता है—जबतक कि वह [देह-
बन्धनसे] मुक्त न हो जाय । यहाँ
प्रसंगके सामर्थ्यसे 'विमोक्ष्ये' को
'विमोक्ष्यते' इस प्रकार प्रथम
पुरुषमें बदलकर अर्थ करना
चाहिये । तात्पर्य यह है कि जिस
कर्मसे उसके देहका आरम्भ हुआ
या उसका उपभोगद्वारा क्षय होकर
जबतक देहपात होगा [तभीतक
देर है] । देहपात होनेपर तो वह
उसी समय सत्को प्राप्त हो जायगा ।
'सम्पत्स्ये' के स्थानमें 'सम्पत्स्यते'
ऐसा पूर्ववत् पुरुषपरिवर्तन कर
लेना चाहिये । देहपात और सत्की
प्राप्तिमें कालका अन्तर नहीं है,
जिससे कि 'अथ' शब्द आनन्तर्य
अर्थवाची हो* ।

* अथ शब्दका मुख्य अर्थ 'अनन्तर' है, इसलिये 'अथ सम्पत्स्ये' का
यह अर्थ हो सकता है कि देहपात होनेके अनन्तर (बाद) वह 'सत्' को प्राप्त
होगा । परन्तु भाष्यकार यह कहते हैं कि यहाँ 'अथ' शब्दका अर्थ 'उसी समय'

ननु यथा सद्विज्ञानानन्तरमेव
ज्ञानानर्थक्यो- देहपातः सत्सम्प-
द्भावनम् त्तिश्च न भवति
कर्मशेषवशात्, यथाप्रवृत्तफलानि
प्राग्ज्ञानोत्पत्तेर्जन्मान्तरसञ्चिता-
न्यपि कर्माणि सन्तीति तत्फलो-
पभोगार्थं पतितेऽस्मिञ्शरीरान्तर-
मारब्धव्यम् । उत्पन्ने च ज्ञाने
यावज्जीवं विहितानि प्रतिषिद्धानि
वा कर्माणि करोत्येवेति तत्फ-
लोपभोगार्थं चावश्यं शरीरान्तर-
मारब्धव्यम्; ततश्च कर्माणि
ततः शरीरान्तरमिति ज्ञानानर्थ-
क्यं कर्मणां फलवत्त्वात् ।

अथ ज्ञानवतः क्षीयन्ते कर्मा-
ज्ञानात्कर्मक्षयाङ्गी- णि तदा ज्ञान-
कारेऽनुपपत्ति- प्राप्तिरसमकालमेव
प्रदर्शनम् ज्ञानस्य सत्सम्प-
त्तिहेतुत्वान्मोक्षः स्यादिति
शरीरपातः स्यात् । तथा
चाचार्याभाव इत्याचार्यवान्पुरुषो

पूर्व-किंतु जिस प्रकार प्रारब्ध-
कर्म अवशिष्ट रहनेके कारण सत्का
ज्ञान होनेके बाद ही देहपात और
सत्की प्राप्ति नहीं होती उसी प्रकार
ज्ञानोत्पत्तिसे पूर्व तथा जन्मान्तरोंमें
किये हुए और भी ऐसे संचित कर्म
हैं ही जो अभी फल देनेमें प्रवृत्त
नहीं हुए । अतः उनका फल भोगने-
के लिये इस शरीरका पतन होनेपर
दूसरे शरीरका प्राप्त होना आव-
श्यक है । ज्ञान उत्पन्न हो जानेपर
भी पुरुष जीवनपर्यन्त विहित अथवा
प्रतिषिद्ध कर्म करता ही है, अतः
उनका फल भोगनेके लिये भी देहा-
न्तरकी प्राप्ति अवश्य होनी चाहिये,
उस समय फिर कर्म होंगे और
उनसे फिर देहान्तरकी प्राप्ति होगी ।
इस प्रकार कर्मोंके फलयुक्त होनेके
कारण ज्ञानकी व्यर्थता सिद्ध
होती है ।

और यदि यह मानो कि ज्ञानीके
कर्म क्षीण हो जाते हैं तो ज्ञान
सत्सम्पत्तिका हेतु होनेके कारण
ज्ञानप्राप्तिके समय ही मोक्ष हो
जायगा, अतः उसी समय देहपात
हो जाना चाहिये । ऐसा होनेपर
आचार्यका अभाव हो जायगा; अतः
'आचार्यवान् पुरुषको ज्ञान होता है'
यह वाक्य अनुपपन्न होगा तथा

है अर्थात् देहपात होनेके ही समय वह सत्को प्राप्त हो जायगा । यदि देहपात
और सत्की प्राप्तिमें कुछ वालका अन्तर होता तो 'अथ' का अनन्तर अर्थ किया
जाता, पर ऐसा है नहीं अतः यहाँ 'अनन्तर' अर्थ ठीक नहीं है ।

वेदेत्यनुपपत्तिर्ज्ञानान्मोक्षाभावप्र-
सङ्गश्च । देशान्तरप्राप्त्युपाय-
ज्ञानवदनैकान्तिकफलत्वं वा
ज्ञानस्य ।

न; कर्मणां प्रवृत्ताप्रवृत्तफ-
लपूर्वोक्तदोष- लत्वविशेषोपपत्तेः ।

परिहारः यदुक्तमप्रवृत्तफला-
नां कर्मणां ध्रुवफलवत्त्वाद्ब्रह्मविदः
शरीरे पतिते शरीरान्तरमारब्ध-
व्यमप्रवृत्तकर्मफलोपभोगार्थमिति,
एतदसत्; विदुषः “तस्य तावदेव
चिरम्” इति श्रुतेः प्रामाण्यात् ।

ननु “पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा
भवति” (वृ० उ० ३।२।१३)
इत्यादि श्रुतेरपि प्रामाण्यमेव ।

सत्यमेवम्, तथापि प्रवृत्त-
फलानामप्रवृत्तफलानां च कर्मणां

ज्ञानसे मोक्षप्राप्तिके अभावका प्रसङ्ग
उपस्थित होगा । अथवा देशान्तरकी
प्राप्तिके साधनोंके ज्ञानके समान
ज्ञानका व्यभिचारिकलपुक्त होना
सिद्ध होगा ।*

सिद्धान्ती—ऐसा कहना ठीक
नहीं; क्योंकि कर्मोंमें प्रवृत्तफलत्व
और अप्रवृत्तफलत्व यह विशेषता
होनी सम्भव है । अतः तुमने जो
कहा कि अप्रवृत्तफल कर्म भी
निश्चय फल देनेवाले हैं, इसलिये
देहपात ह नेके पश्चात् उन
अप्रवृत्तफल कर्मोंका फल भोगनेके
लिये देहान्तरका प्राप्त होना
प्रवश्यम्भावी है—सो ठीक नहीं;
क्योंकि “उस विद्वान्के मोक्षमें तो
उतना (देहपात होनेतकका) ही
विलम्ब है”—यह श्रुति प्रमाण है ।

पूर्व—किंतु “पुण्यकर्मसे पुरुष
पुण्यवान् होता है” यह श्रुति भी तो
प्रामाणिक ही है ।

सिद्धान्ती—सचमुच ऐसा ही
है । तो भी प्रवृत्तफल और अप्रवृत्त-

* अर्थात् जिस प्रकार देशान्तरकी प्राप्ति के साधन घोड़े आदि कोई विशेष
विघ्न न होनेपर ही अपने गन्तव्य स्थानपर पहुँचते हैं उसी प्रकार जिनके कर्म
क्षीण हो गये हैं उन्हीं ज्ञानियोंका मोक्ष हो सकेगा—सबका नहीं ।

विशेषोऽस्त । कथम् ? यानि प्रवृत्तफलानि कर्माणि यैर्विद्वच्छरीरमारब्धम्, तेषामुपभोगेनैव क्षयः । यथारब्धवेगस्य लक्ष्य-मुक्तेष्वदेवेंगक्ष्यादेव स्थितिर्न तु लक्ष्यवेगसमकालमेव प्रयोजनं नास्तीति तद्वत् । अन्यानि त्व-प्रवृत्तफलानीह प्राग्ज्ञानोत्पत्तेरुर्ध्वं च कृतानि वा क्रियमाणानि वातीतजन्मान्तरकृतानि वाप्रवृत्तफलानि ज्ञानेन दह्यन्ते प्रायश्चित्तेनैव । “ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुसते तथा” (गीता ४।३७) इति स्मृतेश्च । “क्षीयन्ते चास्य कर्माणि” इति चार्थवर्णे ।

अतो ब्रह्मविदो जीवनादि-प्रयोजनाभावेऽपि प्रवृत्तफलानां

फलकर्मोंमें कुछ विशेषता है । किस प्रकार ?—जो प्रवृत्तफलकर्म हैं; जिनसे कि विद्वान्के शरीरका आरम्भ हुआ है उनका क्षय फलोपभोगके द्वारा ही हो सकता है; जिस प्रकार जिसका वेग आरम्भ हो गया है उस लक्ष्यकी ओर छोड़े हुए बालकी स्थिति उसके वेगका क्षय होनेपर ही हो सकती है; लक्ष्यदेख करते ही उसे [आगे जानेका] कोई प्रयोजन नहीं रहता—ऐसी बात नहीं है; उसी प्रकार यहाँ समझना चाहिये । ज्ञानीके जो अन्य अप्रवृत्तफलकर्म ज्ञानोत्पत्तिसे पूर्व किये हुए अथवा उसके पश्चात् किये जानेवाले होते हैं अथवा जो पूर्व जन्मोंमें किये हुए अप्रवृत्तफलकर्म होते हैं वे प्रायश्चित्तसे पापोंके समान ज्ञानसे दग्ध हो जाते हैं । “तथा ज्ञानाग्निः तत्स्यूर्णं कर्मोको भस्मीभूतं करे देता है” इस स्मृतिसे यही प्रमाणित होता है, और “इसके कर्म क्षीण हो जाते हैं” ऐसा अथर्वण-श्रुतिमें भी कहा है ।

अतः ब्रह्मवेत्ताको जीवनादिका प्रयोजन न होनेपर भी प्रवृत्तफल-

कर्मणामवश्यमेव फलोपभोगः
 स्यादिति मुक्तेषुवत् 'तस्य
 तावदेव चिरम्' इति युक्तमेवो-
 क्तमिति यथोक्तदोषचोदनानु-
 पपत्तिः । ज्ञानोत्पत्तेरुर्ध्वं च
 ब्रह्मविदः कर्माभावमवोचाम
 'ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति' इत्यत्र
 तच्च स्मर्तुमर्हसि ॥ २ ॥

कर्मोंका फलोपभोग अवश्य होना
 है इसलिये छोड़े हुए वारणके समान
 'उत्ते [सत्की प्राप्तिमें] तभीतक
 विलम्ब है जबतक कि वह
 देहबन्धनसे नहीं छूटता' ऐसा
 ठीक ही कहा है, अतः उप-
 युक्त दोषकी शङ्का करना ठीक
 नहीं । 'ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति' इस
 वाक्यकी व्याख्याके समय ज्ञानो-
 त्पत्तिके पश्चात् तो हमने ब्रह्मवेत्ताके
 कर्मका अभाव प्रतिपादन किया है,
 उत्ते इस समय स्मरण करना
 चाहिये ॥ २ ॥

—६—

स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स
 आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति भूय एव मा भग-
 वान् विज्ञापयत्विति तथा सोम्येति होवाच ॥ ३ ॥

वह जो यह अणिमा है एतद्रूप ही यह सब है । वह सत्य है,
 वह आत्मा है और हे श्वेतकेतो ! वही तू है । [आरुणिके इस प्रकार
 कहनेपर श्वेतकेतु बोला—] 'भगवन् ! मुझे फिर समझाइये ।' [तब
 आरुणिने] 'अच्छा, सोम्य !' ऐसा कहा ॥ ३ ॥

स य इत्याद्युक्तार्थम् । आ-
 चार्यवान्विद्वान्येन क्रमेण सत्स-
 म्पद्यते तं क्रमं दृष्टान्तेन भूय
 एव मा भगवान्विज्ञापयत्विति ।
 तथा सोम्येति होवाच ॥ ३ ॥
 इतिच्छान्दोग्योपनिषदि पठ्ठाध्याये चतुर्दशखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥ १४ ॥

'स यः' इत्यादि मन्त्रका अर्थ
 पहले कहा जा चुका है । 'हे
 भगवन् ! आचार्यवान् विद्वान् जिस
 क्रमसे सत्की प्राप्त होता है वह क्रम
 मुझे दृष्टान्तद्वारा फिर समझाइये'
 ऐसा श्वेतकेतुने कहा । तब आरु-
 णिने कहा 'सोम्य ! अच्छा' ॥ ३ ॥

पञ्चदश खण्ड

—*o*—

मुमूर्षु पुरुषके दृष्टान्तद्वारा उपदेश

पुरुषः सोम्योतोपतापिनं ज्ञातयः पर्युपासते
जानासि मां जानासि मामिति । तस्य यावन्न वाङ्-
मनसि सम्पद्यते मनः प्राणो प्राणस्तेजसि तेजः परस्यां
देवतायां तावज्जानाति ॥ १ ॥

हे सोम्य ! [ज्वरादिसे] संतप्त [मुमूर्षु] पुरुषको चारों ओरसे घेरकर उसके बान्धवगण पूछा करते हैं—‘क्या तू मुझे जानता है ? क्या तू मुझे पहचानता है ?’ जबतक उसकी वाणी मनमें लीन नहीं होती तथा मन प्राणमें, प्राण तेजमें और तेज परदेवतामें लीन नहीं होता तबतक वह पहचान लेता है ॥ १ ॥

पुरुषं हे सोम्योतोपतापिनं
ज्वराद्युपतापवन्तं ज्ञातयो वा-
न्धवाः परिवार्योपासते मुमूर्षुम्-
जानासि मां तव पितरं पुत्रं
भ्रातरं वा—इति पृच्छन्तः ।
तस्य मुमूर्षोर्यावन्न वाङ्मनसि
सम्पद्यते मनः प्राणो प्राणस्तेजसि
तेजः परस्यां देवतायामित्येतदु-
क्तार्थम् ॥ १ ॥

हे सोम्य ! उपतापो—ज्वरादि-
से अत्यन्त संतप्त हुए पुरुषको
ज्ञातिजन—बान्धवगण घेरकर उस
मुमूर्षु पुरुषसे ‘क्या तू मुझ अपने
पिता, पुत्र श्रयवा भाईको पहचानता
है ?’ इस प्रकार पूछते हुए उसके
चारों ओर बैठ जाते हैं । उस
मुमूर्षु की जबतक वाणी मनमें लीन
नहीं होती तथा मन प्राणमें, प्राण
तेजमें और तेज परदेवतामें लीन
नहीं होता इत्यादि वाक्यका अर्थ
पहले कहा जा चुका है ॥ १ ॥

—*o*—

संसारिणो यो मरणक्रमः स
एवायं विदुषोऽपि सत्सम्पत्तिक्रम
इत्येतदाह—

संसारी जीवका जो मरणक्रम
है वही विद्वान्की सत्सम्पत्तिका क्रम
है—इसी बातको आरुणि बतलाता
है—

अथ यदास्य वाङ् मनसि सम्पद्यते मनः प्राणो प्राण-
स्तेजसि तेजः परस्यां देवतायामथ न जानाति ॥ २ ॥

फिर जिस समय उसकी वाणी मनमें लीन हो जाती है तथा मन
प्राणमें, प्राण तेजमें और तेज परदेवतामें लीन हो जाता है तब वह नहीं
पहचानता ॥ २ ॥

परस्यां देवतायां तेजसि सम्प-
न्नेऽथ न जानाति ।

सत्सम्पत्तिक्रमः

अविद्वांस्तु सत
उत्थाय प्राग्भावितं व्याघ्रादि-
भावं देवमनुष्यादिभावं वा
विशति । विद्वांस्तु शास्त्राचार्यो-
पदेशजनितज्ञानदीपप्रकाशितं स-
द्ब्रह्मात्मानं प्रविश्य नावर्तत
इत्येष सत्सम्पत्तिक्रमः ।

अन्ये तु मूर्धन्यया नाड्यो-

त्क्रम्यादित्यादि-

मतान्तरनिरासः

द्वारेण सद्ब्रह्म-
न्तीत्याहुः, तदसत्, देशकाल-

परदेवतामें तेजके लीन हो
जानेपर फिर यह नहीं पहचानता ।
किंतु जो अविद्वान् होता है वह
तो सत्से उत्थित होकर पहले
भावना किये हुए व्याघ्रादि भाव
और देव-मनुष्यादि भावमें प्रवेश
करता है; किंतु विद्वान् शास्त्र और
आचार्यके उपदेशजनित ज्ञान-
दीपकसे प्रकाशित सद्ब्रह्मरूप
आत्मामें प्रवेशकर फिर नहीं
लौटता—यही सत्प्राप्तिका क्रम है ।

कुछ अन्य मतावलम्बियोंने जो
कहा है कि 'मूर्धन्य नाडीसे उत्क्रमण
कर आदित्यादिद्वारा सत्को प्राप्त
होता है, वह ठीक नहीं है; क्योंकि
इस प्रकारका गमन तो देश, काल,
निमित्त और फलके अभिनिवेश-

निमित्तफलाभिसंधानेन गमन-
दर्शनात् । न हि सदात्मैकत्व-
दर्शिनः सत्यामिसन्धस्य देशकाल-
निमित्तफलाधनृताभिसंधिरूप-
पद्यते, विरोधात् । अविद्याकाल-
कर्मणां च गमननिमित्तानां
सद्विज्ञानहुताशनविष्णुष्टत्वाद्गम-
नानुपपत्तिरेव, “पर्याप्तिकासस्य
कृतात्मनस्त्विह सर्वे प्रविलीय-
न्ति कामाः” इत्याद्याधर्वणे ।
नदीसमुद्रदृष्टान्तश्रुतेः ॥ २ ॥

पूर्वक देखा जाता है और सदात्मा-
का एकत्व देखनेवाले सत्यनिष्ठ
विद्यार्थी देश, काल, निमित्त और
फल आदि असद्वस्तुओंका अनिनिवेद्य
होना सम्भव नहीं है, क्योंकि
इसका उक्त (सत्यनिष्ठा) से विरोध
है । गमनके निमित्तभूत अविद्या,
कालता और कर्मोंके सद्विज्ञानरूप
अधिले भस्म हो जानेके कारण
उसके गमनकी अनुपपत्ति ही है ।
“पूर्णज्ञान कृतकृत्य पुष्टकी सम्पूर्ण
कान्ताएँ यहीं लीन हो जाती हैं”
ऐसा अथर्वण श्रुतिमें कहा है; और
इसके सिवा नदी-समुद्र-दृष्टान्तकी
श्रुति भी है * ॥ २ ॥

—ॐ—

स य एषोऽग्निमैतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स
आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति भूय एव सा भगवा-
न्विज्ञापयत्विति तथा सोम्येति होवाच ॥ ३ ॥

वह जो यह अग्निना है एतद्रूप हो यह सब है । वह सत्य है, वह
आत्मा है और हे श्वेतकेतो ! वही तू है । [आरुणिके इस प्रकार
कहनेपर श्वेतकेतु बोला—] ‘भगवन् ! तुझे फिर समझाइये ।’ [तब
आरुणिने] ‘अच्छा, सोम्य !’ ऐसा कहा ॥ ३ ॥

स य इत्यादि 'समानम् ।
 यदि मरिष्यतां मुमुक्षुतश्च तुल्या
 सत्सम्पत्तिस्तत्र विद्वान्सत्सम्पन्नो
 नावर्तत आवर्तते त्वविद्वानि-
 त्यत्र कारणं दृष्टान्तेन श्रूय एव
 मा भगवान्विज्ञापयत्विति । तथा
 सोम्येति होवाच ॥ ३ ॥

'स यः' इत्यादि श्रुतिका अर्थ
 पूर्ववत् है । 'यदि मरनेवाले और
 मुमुक्षुकी सत्सम्पत्ति एक-जैसी है
 तो विद्वान् तो सत्को प्राप्त होकर
 नहीं लौटता और अविद्वान् लौटता
 है—इसमें जो कारण है उसे हे
 भगवन् ! दृष्टान्तद्वारा मुझे फिर
 समझाइये' [—ऐसा श्वेतकेतुने
 कहा] । तव आरुणिने कहा—
 'सोम्य ! अच्छा' ॥ ३ ॥

—:०:—

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि षष्ठाध्याये
 पञ्चदशखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥ १५ ॥



षोडश खण्ड

—:०:—

चोरके तप्त परशुग्रहणके दृष्टान्तद्वारा उपदेश

शृणु यथा—

| सुन, जिस प्रकार—

पुरुषः सोम्योत हस्तगृहीतमानयन्त्यपहार्षीस्तेय-
मकार्षीत्परशुमस्मै तपतेति स यदि तस्य कर्ता भवति
तत एवानृतमात्मानं कुरुते सोऽनृताभिसन्धोऽनृते-
नात्मानमन्तर्धाय परशुं तप्तं प्रतिगृह्णाति स दह्यतेऽथ
हन्यते ॥ १ ॥

हे सोम्य ! [राजकर्मचारी] किसी पुरुषको हाथ बांधकर लाते हैं [और कहते हैं--] 'इसने धनका अपहरण किया है, चोरी की है इसके लिये परशु तपाओ ।' वह यदि उसका (चोरीका) करनेवाला होता है तो अपनेको मिथ्यावादी प्रमाणित करता है । वह मिथ्याभिनिवेशवाला पुरुष अपनेको मिथ्यासे छिपाता हुआ तपे हुए परशुको ग्रहण करता है; किंतु वह उससे दग्ध होता है और मारा जाता है ॥ १ ॥

सोम्य पुरुषं चौर्यकर्मणि सं-
दिह्यमानं निग्रहाय परीक्षणाय
बोतापि हस्तगृहीतं बद्धहस्तमा-
नयन्ति राजपुरुषाः । किं कृत-
वानयमिति पृष्टाश्चाहुरपहार्षी-
द्धनमस्यायम् । ते चाहुः कि-
मपहरणमात्रेण बन्धनमर्हति ?

हे सोम्य ! जिस पुरुषके विषयमें चोरी करनेका संदेह होता है उसे राजकर्मचारी दण्ड देने अथवा उसकी परीक्षा करनेके लिये 'हस्त-गृहीत'—हाथ बांधकर लाते हैं । 'इसने क्या किया है ?' इस प्रकार पूछे जानेपर वे कहते हैं कि 'इसने इस पुरुषका धन लिया है ।' तब वे (न्यायाधीश) कहते हैं 'क्या धन लेनेमात्रसे यह बन्धनके योग्य हो गया; तब तो अन्य किसी प्रकार

अन्यथा दत्तेऽपि धने वन्धनप्रस-

ङ्गात्; इत्युक्ताः पुनराहुः—स्तेयम-

कार्षीर्चौर्येण धनमपहार्षीदिति ।

तेष्वेवं वदत्स्वितरोऽपह्नुते

नाहं तत्कर्तेति ।

ते चाहुः संदिह्यमानं स्ते-
यमकार्षीस्त्वमस्य धनस्येति ।

तस्मिंश्चापह्नुवान् आहुः परशु-

मस्मै तपतेति शोधयत्वात्मान-

मिति । स यदि तस्य स्तैन्यस्य

कर्ता भवति वहिश्चापह्नुते स

एवं भूतस्तत एवानृतमन्यथाभूतं

सन्तमन्यथात्मानं कुरुते । स

तथानृताभिसन्धोऽनृतेनात्मानम-

न्तर्धाय व्यवहितं कृत्वा परशुं

तप्तं मोहात्प्रतिगृह्णाति स दह्यते-

ऽथ हन्यते राजपुरुषैः स्वकृते-

नानृताभिसन्धिदोषेण ॥ १ ॥

धन देनेपर भी उसे लेनेवालेको वन्धनका प्रसंग उपस्थित होता है ।’ इस प्रकार कहे जानेपर वे फिर कहते हैं—‘इसने चोरी की है अर्थात् चोरीसे धन लिया है ।’ उनके इस प्रकार कहनेपर वह पुरुष ‘मैं चोरी करनेवाला नहीं हूँ’ ऐसा कहकर अपने कर्मको छिपाता है ।

तब वे संदेह किये जानेवाले पुरुषसे कहते हैं—‘तूने इसके धनकी चोरी अवश्य की है ।’ फिर भी उसके छिपानेपर वे कहते हैं—‘इसके लिये परशु तपाओ—इस प्रकार यह अपनेको निर्दोष सिद्ध करे ।’ यदि वह उस चोरीका करनेवाला होता है और ऊपरसे छिपाता है तो ऐसा होनेपर वह अपनेको अनृत अर्थात् अन्यथा (चोर) होनेपर अपनेको अन्यथा (साह) प्रदर्शित करता है । इस प्रकार मिथ्याभिनिवेशवाला होकर वह अपनेको मिथ्यासे अन्तर्हित करता—छिपाता हुआ मोहवश तपे हुए परशुको ग्रहण करता और जल जाता है । तब अपने किये हुए मिथ्याभिनिवेशरूप दोषसे वह राज-पुरुषोंद्वारा मारा जाता है ॥ १ ॥

अथ यदि तस्याकर्ता भवति तत एव सत्य-
मात्मानं कुरुते स सत्याभिसन्धः सत्येनात्मानमन्तर्धा
परशुं तप्तं प्रतिगृह्णाति स न दह्यतेऽथ मुच्यते ॥ २ ॥

और यदि वह उस (चोरी) का करनेवाला नहीं होता तो उसीसे वह अपनेको सत्य प्रमाणित करता है । वह सत्याभिसन्ध अपनेको सत्यसे आवृत कर उस तपे हुए परशुको पकड़ लेता है । वह उससे नहीं जलता और तत्काल छोड़ दिया जाता है ॥ २ ॥

अथ यदि तस्य कर्मणोऽकर्ता
भवति, तत एव सत्यमात्मानं
कुरुते । स सत्येन तया स्तैन्याक-
र्तृयात्मानमन्तर्धा परशं तप्तं
प्रतिगृह्णाति । स सत्याभिसन्धः
सन्न दह्यते सत्यव्यवधानात्,
अथ मुच्यते च मृषाभियोक्तृभ्यः ।
तप्तपरशुहस्ततलसंयोगस्य तु-
ल्यत्वेऽपि स्तेयकत्रकत्रोरनुता-
भिसन्धो दह्यते न तु सत्याभि-
सन्धः ॥ २ ॥

और यदि वह उस कर्मका करनेवाला नहीं होता तो उस (चोरीके अकर्तृत्व) के ही द्वारा वह अपनेको सत्य प्रमाणित करता है । वह उस चोरीकी अकर्तृत्वरूप सत्यसे अपनेको अन्तर्हित कर उस तपे हुए परशुको ग्रहण करता है और सत्याभिसन्ध होनेके कारण सत्यका व्यवधान हो जानेसे वह उससे नहीं जलता । तब मिथ्या अभियोग लगानेवाले उसे तत्काल छोड़ देते हैं । इस प्रकार तप्त परशु और हथेलीके संयोगमें समानता होनेपर भी चोरी करने और न करनेवालोंमें मिथ्याभिसन्ध करने-वाला जल जाता है और सत्याभिसन्ध नहीं जलता ॥ २ ॥

स यथा तत्र नादाह्य तैत्तिरीयसिद्धं सर्वं तत्सत्यं
स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति तद्वास्य विजज्ञा-
विति विजज्ञाविति ॥ ३ ॥

वह जिस प्रकार उस [परीक्षाके] समय नहीं जलता [उसी
प्रकार विद्वान्का पुनरावर्तन नहीं होता और अविद्वान्का होता है] ।
यह सब एतद्रूप ही है, वह सत्य है, वह आत्मा है और हे श्वेतकेतो !
वही तू है । तब वह (श्वेतकेतु) उसे जान गया—उसे जान गया ॥ ३ ॥

स यथा सत्याभिसन्धस्तप्त-
परशुग्रहणकर्मणि सत्यव्यवहित-
हस्ततलत्वाद्भादाद्येत न दह्ये-
तेत्येतदेवं सद्ब्रह्मसत्याभिसन्धी-
तरयोः शरीरपातकाले च तुल्या-
यां सत्सम्पत्तौ विद्वान्सत्सम्पद्य
न पुनर्व्याघ्रदेवादिदेहग्रहणाया-
वर्तते । अविद्वान्स्तु विकारानृता-
भिसन्धः पुनर्व्याघ्रादिभावं देव-
तादिभावं वा यथाकर्म यथाश्रुतं
प्रतिपद्यते ।

वह सत्याभिसन्ध पुरुष जिस
प्रकार उस तप्त परशुको ग्रहण
करनेके कर्ममें हथेलीके सत्यसे
व्यवहित रहनेके कारण नहीं जलता
उसी प्रकार देहपातके समय सद्ब्रह्म-
रूप सत्यमें निष्ठा रखनेवाले और
उससे भिन्न असन्निविष्ट पुरुषकी
सत्सम्पत्तिमें समानता होनेपर भी
जो विद्वान् है वह व्याघ्र अथवा
देवादि शरीरोंको ग्रहण करनेके
लिये नहीं लौटता, किंतु अविद्वान्
विकाररूप अनृतमें अभिनिविष्ट
होनेके कारण अपने कर्म और
ज्ञानके अनुसार पुनः व्याघ्रादिभाव
अथवा देवादिभावको प्राप्त हो
जाता है ।

यदात्माभिसन्ध्यनभिसन्धि-
कृते मोक्षबन्धने यच्च मूलं जगतो

जिस आत्माकी अभिसन्धि और
अनभिसन्धिके कारण मोक्ष और
बन्धन होते हैं, जो संसारका मूल

यदायतना यत्प्रतिष्ठाश्च सर्वाः
प्रजा यदात्मकं च सर्वं यच्चाज-
समृतमभयं शिवमद्वितीयं तत्स-
त्यं स आत्मा तवातस्तत्त्वमसि
हे श्वेतकेतो इत्युक्तार्थमसकृद्वा-
क्यम् ।

कः पुनरसौ श्वेतकेतुस्त्वं
शब्दार्थः । योऽहं श्वेतकेतुरुद्दाल-
कस्य पुत्र इति वेदात्मानमादेशं
श्रत्वा मत्वा विज्ञाय चाश्रुतम-
मतमविज्ञातं विज्ञातुं पितरं
पप्रच्छ कथं नु भगवः स आदेशो
भवतीति । स एषोऽधिकृतः श्रोता
मन्ता विज्ञाता तेजोऽन्नमयं
कार्यकरणसङ्घातं प्रविष्टा परैव
देवता नामरूपव्याकरणाया-
दर्श इव पुरुषः सूर्यादिरिव
जलादौ प्रातर्विम्बरूपेण स आ-
त्मानं कार्यकरणेभ्यः प्रविभक्तं
सद्रूपं सर्वात्मानं प्राक् पितुः

है, सम्पूर्ण प्रजा जिसके आश्रित
और जिसमें प्रतिष्ठित है, सारा
संसार जिस स्वरूपवाला है तथा
जो अजन्मा, अमृत, अभय, शिव
और अद्वितीय है वही सत्य है और
वही तेरा आत्मा है; अतः हे
श्वेतकेतो ! तू वह है । इस प्रकार
इस वाक्यका अर्थ कई बार कहा
जा चुका है ।

[अब यहाँ प्रश्न होता है कि]
त्वं शब्दका वाच्य यह श्वेतकेतु
कौन है ? [उत्तर—] जो 'मैं
श्वेतकेतु उद्दालकका पुत्र हूँ' ऐसा
अपनेको जानता था तथा जिसने
[अपने पिताके] उस आदेशका श्रवण,
मनन और ज्ञान प्राप्त करके अश्रुत,
अमत और अविज्ञातको जाननेके
लिये पितासे पूछा था कि 'भगवन् !
वह आदेश किस प्रकार है ?'
वह यह अधिकारी श्रोता, मन्ता
और विज्ञाता दर्पणमें प्रतिफलित
हुए पुरुष और जलादिमें प्रतिबिम्ब-
रूपसे प्रविष्ट हुए सूर्यादिके समान
तेज-जल अन्नमय देहेन्द्रियसंघातमें
नाम-रूपकी अभिव्यक्ति करनेके
लिये प्रविष्ट हुई परदेवता ही है ।
वह पिताका उपदेश सुननेसे पूर्व

श्रवणान्न विजज्ञौ । अथेदानीं
पित्रा प्रातबोधितस्तत्त्वमसीति-
दृष्टान्तैर्हेतुभिश्च तत्पितुरस्य ह
किलोक्तं सदेवाहमस्मीति विजज्ञौ
विज्ञातवान् । द्विर्वचनमध्याय-
परिसमाप्त्यर्थम् ।

किं पुनरत्र षष्ठे वाक्यप्रमाणे-
न जनितं फलमात्मनि ?

कर्तृत्वभोक्तृत्वयोरधिकृतत्व-
षष्ठाध्यायवाक्य- विज्ञाननिवृत्तिस्तस्य
प्रमाणजन्य- फलं यमवोचाम
फलदर्शनम् त्वंशब्दवाच्यमर्थं
श्रोतं मन्तं चाधिकृतत्वम-
विज्ञातविज्ञानफलार्थम् । प्राक्चै-
तस्माद्विज्ञानादहमेवंकरिष्याम्य-
ग्निहोत्रादीनि कर्माण्यहमत्राधि-
कृतः, एषां च कर्मणां फल-
मिहामुत्र च भोक्ष्ये कृतेषु
वा कर्मसु कृतकर्तव्यः स्यामि-
त्येवं कर्तृत्वभोक्तृत्वयोरधिकृ-

अपनेको देह और इन्द्रियोंसे भिन्न
सद्रूप सर्वात्मा नहीं जानता था ।
अब 'तू वह है' इस प्रकार दृष्टान्त
और हेतुपूर्वक पिताद्वारा समझाये
जानेपर वह पिताके इस कथनको
कि 'मैं सत् ही हूँ' समझ गया है ।
'विजज्ञौ इति' इस पदकी द्विरुक्ति
अध्यायकी समाप्ति सूचित करनेके
लिये है ।

पूर्व०—किंतु इस छठे अध्यायमें
वाक्यप्रमाणसे आत्मामें क्या फल
हुआ ?

सिद्धान्ती—हमने अविज्ञातके
विज्ञानरूप फलके लिये श्रवण और
मनन करनेमें अधिकृत जिस 'त्वम्'
शब्दवाच्य अर्थका वर्णन किया है
उसके अपनेमें [आरोपित] कर्तृत्व
भोक्तृत्वके अधिकृतत्व-विज्ञानकी
निवृत्ति ही इसका फल है । इस
विज्ञानसे पूर्व 'मैं इस प्रकार
अग्निहोत्रादि कर्म करूँगा, मैं इसका
अधिकारी हूँ, तथा इन कर्मोंका
फल मैं इस लोक और परलोकमें
भोगूँगा और इन कर्मोंके करनेपर
मैं कृतकृत्य हो जाऊँगा' इस प्रकार
मैं कर्तृत्व और भोक्तृत्वका अधिकारी
हूँ—ऐसा जो उसे आत्मामें विज्ञान

तोऽस्मीत्यात्मनि यद्विज्ञानमभू-
त्तस्य, यत्सज्जगतो मूलमेकमेवा-
द्वितीयं तत्त्वमसीत्यनेन वाक्येन
प्रतिबुद्धस्य निवर्तते, विरोधात् ।
न ह्येकस्मिन्नद्वितीय आत्मन्यय-
महमस्मीति विज्ञाते ममेदमन्यद-
नेन कर्तव्यमिदं कृत्वास्य फलं
भोक्ष्य इति वा मेदविज्ञानमुप-
पद्यते । तस्मात्सत्सत्याद्वितीया-
त्मविज्ञाने विकारानृतजीवात्म-
विज्ञानं निवर्तत इति युक्तम् ।

ननु तत्त्वमसीत्यत्र त्वंशब्द-
सद्बुद्धेरारोप्यमा- वाक्येऽर्थे सद्बुद्धि-
रात्वच्चङ्कनम् रादिश्यते यथा-
दित्यमनआदिषु ब्रह्मादि-
बुद्धिः । यथा च लोके प्रतिमा-
दिषु विष्णवादिबुद्धिस्तद्वन्न तु
सदेव त्वमिति । यदि सदेव
श्वेतकेतुः स्यात्कथमात्मानं न
विजानीयाद्येन तस्मै तत्त्वमसी-
त्युपदिश्यते ।

था, वह—जो एकमात्र अद्वितीय
सत् जगत्का मूल है वही तू है—
इस वाक्यद्वारा जग उठनेपर निवृत्त
हो जाता है, क्योंकि [पूर्व मिथ्या
ज्ञानसे] इसका विरोध है । कारण,
एकमात्र अद्वितीय आत्माके विषयमें
'यह मैं हूँ'—ऐसा ज्ञान हो जानेपर
'मुझे अपना यह अन्य कर्तव्य इस
साधनसे करना चाहिये, इसे करने-
पर मैं इसका फल भोगूँगा ।' इस
प्रकारकी भेदबुद्धि होनी सम्भव
नहीं है । अतः सद्रूप सत्य
और अद्वितीय आत्माका ज्ञान
होनेपर विकाररूप मिथ्या जीवात्म-
बुद्धिकी निवृत्ति हो जाती है—यह
कथन ठीक ही है ।

पूर्व०—किंतु जिस प्रकार
आदित्य और मन आदिमें ब्रह्मादि-
बुद्धिका तथा लोकमें प्रतिमा आदिमें
विष्णुबुद्धिका आरोप किया जाता है
उसी प्रकार 'तत्त्वमसि' इस वाक्यके
द्वारा 'त्वम्' शब्दके वाच्यार्थमें तो
सद्बुद्धिका आरोप ही किया जाता
है । वस्तुतः त्वमर्थ सत् ही नहीं है ।
यदि श्वेतकेतु सत् ही होता तो
अपनेको क्यों न जानता, जिससे कि
उसे 'तू वह है' इस प्रकार उपदेश
किया गया ।

न; आदित्यादिवाक्यवैल-

क्षण्यात् । आदि-

तत्परिहारः

त्यो ब्रह्मेत्यादा-

वितिशब्दव्यवधानान्न साक्षा-

द्ब्रह्मत्वं गम्यते । रूपादिमन्वा-

द्यादित्यादीनामाकाशमनसोश्चे-

तिशब्दव्यवधानादेवाब्रह्मत्वम् ।

इह तु सत् एवेह प्रवेशं दर्श-

यित्वा तत्त्वमसीति निरङ्कुशं

सदात्मभावमुपदिशति ।

ननु पराक्रमादिगुणः सिंहो-

ऽसि त्वमितिवत्तत्त्वमसीति

स्थात् ।

न; मृदादिवत्सदेकमेवाद्वि-

तीयं सत्यमित्युपदेशात् । न

चोपचारविज्ञानात्तस्य तावदेव

चिरमिति सत्सम्पत्तिरुपदिश्येत ।

सिद्धान्ती—ऐसी बात नहीं है, क्योंकि 'आदित्यो ब्रह्मेत्युपासीत' इत्यादि वाक्योंसे इस वाक्यमें विलक्षणता है । 'आदित्यो ब्रह्मेत्युपासीत' आदि वाक्योंमें 'इति' शब्दका व्यवधान रहनेके कारण उनका साक्षात् ब्रह्मत्व ज्ञात नहीं होता । इसके सिवा आदित्यादि रूपदत्त होनेके कारण तथा आकाश और मनके 'इति' शब्दसे व्यवधान होनेके कारण वे ब्रह्म नहीं हो सकते । किंतु इस मसङ्गमें तो [आशुनि] सत्का ही इस (तेजोऽवन्नमय-संघात) में प्रवेश दिखलाकर 'तू वह है' इस प्रकार निरङ्कुश सदात्मभावका उपदेश करता है ।

पूर्व०—जिस प्रकार पराक्रमादि गुणवाला 'तू सिंह है' ऐसा कहा जाता है उसी प्रकार 'तू वह है' यह वाक्य भी तो हो सकता है ?

सिद्धान्ती—नहीं, क्योंकि 'मृत्तिकादिके समान एकमात्र अद्वितीय सत् ही सत्य है' ऐसा उपदेश किया गया है । औपचारिक विज्ञानके द्वारा उसे तभीतक विलम्ब है' इस प्रकार सत्की प्राप्तिका उपदेश नहीं किया जा

सप्तात्वादुपचारविज्ञानस्य त्वमि-

न्द्रो यम इतिवत् ।

नापि स्तुतिरनुपास्यत्वाच्छ्वे-

उपदेशस्य स्तुत्यर्थ- तर्केतोः । नापि

त्वनिरासः सच्छ्वेतकेतुत्वोप-

देशेन स्तूयेत । न हि राजा

दासस्त्वमिति स्तुत्यः स्यात् ।

नापि सतः सर्वात्मन एकदेश-

विरोधो युक्तस्तत्त्वमसीति देशा-

धिपतैरिव ग्रामाध्यक्षस्त्वमिति ।

न चान्या गतिरिह सदात्मत्वो-

पदेशादर्थान्तरभूता सम्भवति ।

ननु सदस्मीति बुद्धिसात्रसिंह

बुद्धिसात्रकर्त- कर्तव्यतया चोद्यते

व्यतानिरासः न त्वज्ञातं सद-

सीति ज्ञाप्यत इति चेत् ।

नन्वस्मिन्पक्षेऽप्यश्रुतं श्रुतं

भवतीत्याद्यनुपपन्नम् ।

सकता था, क्योंकि 'तू इन्द्र है'
'तू यम है' इत्यादि विज्ञानोंके
समान औपचारिक विज्ञान तो
मिथ्या ही हुआ करता है ।

इसके सिवा यह स्तुति भी नहीं
हो सकती, क्योंकि श्वेतकेतु उपास्य
नहीं है । न श्वेतकेतुरूपसे उपदेश
देकर सत्की ही स्तुति की जा
सकती है, क्योंकि 'तू दास है'
ऐसा कहकर राजाकी स्तुति नहीं
की जाती । इसके सिवा
देशाधिपतिकी 'तू ग्रामाध्यक्ष है'
ऐसा कहनेके समान सर्वात्मक
सत्को 'तू वह है' ऐसा कहकर
[श्वेतकेतुरूप] एक देशमें निरुद्ध
करना भी उचित नहीं है । इनसे
अतिरिक्त सत्के आत्मत्वोपदेशसे
अर्थान्तरभूत कोई और गति इस
वाक्यमें सम्भव ही नहीं है ।

पूर्व०—यदि ऐसा मानें कि यहाँ
'मैं सत् हूँ' ऐसी बुद्धिका ही कर्तव्य-
रूपसे उपदेश किया गया है 'तू
सत् है' ऐसा कहकर अज्ञातका
ज्ञान नहीं कराया गया—तो ?

सिद्धान्ती—किंतु इस पक्षको मान-
नेपर भी 'अश्रुत श्रुत हो जाता है'
इत्यादि कथन तो अनुपपन्न हीरहे गा

न; सदस्मीतिबुद्धिविधेः
स्तुत्यर्थत्वात् ।

न; आचार्यवान्पुरुषां वेद
तस्य तावदेव चिरमित्युपदेशात् ।
यदि हि सदस्मीति बुद्धिमात्रं
कर्तव्यतया विधीयते न तु त्वं-
शब्दवाच्यस्य सद्रूपत्वमेव तदा
नाचार्यवान्वेदेति ज्ञानोपायो-
पदेशो वाच्यः स्यात् । यथाग्नि-
होत्रं जुहुयादित्येवमादिव्यर्थ-
प्राप्तमेवाचार्यवत्त्वमिति तद्वत् ।
तस्य तावदेव चिरमिति च क्षेप-
करणं न युक्तं स्यात् । सदात्म-
तत्त्वैवविज्ञातेगपि सकृद्बुद्धि-
मात्रकरणे मोक्षप्रसङ्गात् ।

न च तत्त्वमसीत्युक्ते नाहं
सदितिप्रमाणवाक्यजनिता बुद्धि-

पूर्व०-नहीं; यह कथन 'मैं सत्
हूँ' इस प्रकारकी बुद्धिरूप विधिकी
स्तुतिके लिये हो सकता है ।

सिद्धान्ती-ऐसी बात नहीं है;
क्योंकि यहाँ 'आचार्यवान् पुरुषको
ज्ञान होता है; उसे तभीतक विलम्ब
है' इत्यादि उपदेश किया गया है ।
यदि यहाँ 'मैं सत् हूँ' इस प्रकार-
की बुद्धिमात्रका ही कर्तव्यरूपसे
विधान किया गया होता 'त्वम्'
शब्दवाच्य जीवकी सद्रूपताका
उपदेश न होता तो 'आचार्यवान्
पुरुषको ज्ञान होता है' इस प्रकार
ज्ञानके उपायका उपदेश न किया
जाता । जिस प्रकार 'अग्निहोत्र करे'
इत्यादि विधियोंमें आचार्यवत्त्व
अर्थतः प्राप्त है, उसी प्रकार यहाँ
भी समझ लिया जाता । और न
'उसे तभीतक विलम्ब है' ऐसा
कहकर कालक्षेप करना ही उचित
हो सकता है; क्योंकि सदात्म-
तत्त्वका ज्ञान न होनेपर भी एक
बार सद्बुद्धि करनेसे ही उसके
मोक्षका प्रसंग उपस्थित हो जाता ।

इसके सिवा जिस प्रकार
अग्निहोत्रादि-विधिजनित अग्नि-

निर्वर्तयितुं शक्या नोत्पन्नेति
वा शक्यं वक्तुम्, सर्वोपनिष-
द्वाक्यानां तत्परतयैवोपक्षयात् ।
यथाग्निहोत्रादिर्विधिजनिताग्नि-
होत्रादिकर्तव्यताबुद्धीनामतथा-
र्थत्वमनुत्पन्नत्वं वा न शक्यते
वक्तुं तद्वत् ।

यत्तूक्तं सदात्मा सन्नात्मानं
देहादिष्वात्मबुद्धि- कथं न जानीया-
त्त्वात् सदात्म- दिति, नासौ
विज्ञानम् दोषः; कार्यकर-
णसङ्घातव्यतिरिक्तोऽहं जीवः
कर्ता भोक्तेत्यपि स्वभावतः
प्राणिनां विज्ञानादर्शनात्किमु
तस्य सदात्मविज्ञानम् । कथमेवं
सदात्मविज्ञानम् ? कथमेवं व्य-
तिरिक्तविज्ञानेऽसति तेषां कर्तृ-
त्वादिविज्ञानं सम्भवति ? दृश्यते

होत्रादिकर्तव्यता बुद्धिका अतथार्थत्व
(अग्निहोत्रपरक न होना) अथवा
अनुत्पन्नत्व (उत्पन्न ही न होना)
नहीं कहा जा सकता, उसी प्रकार
'तू वह है' इस प्रकार कहे जानेपर
'मैं सत् हूँ' ऐसी प्रमाणवाक्यजनित
बुद्धि निवृत्त नहीं की जा सकती
और न यही कहा जा सकता है
कि वह उत्पन्न ही नहीं हुई,
क्योंकि सम्पूर्ण उपनिषद्वाक्योंका
पर्यवसान इसी अर्थमें हुआ है ।

और ऐसा जो कहा कि 'सत्स्वरूप
होनेपर भी वह अपनेको [सद्रूप]
क्यों न जानता' सो यह दोष भी
नहीं आ सकता; क्योंकि स्वभावतः
तो प्राणियोंकी ऐसी बुद्धि भी नहीं
देखी जाती कि मैं देह और
इन्द्रियोंके संघातसे भिन्न कर्ता-
भोक्ता जीव हूँ, फिर उन्हें सदात्म-
बुद्धि न हो तो आश्चर्य ही क्या
है ? ऐसी अवस्थामें उन्हें सदात्म-
बुद्धि होगी भी कैसे ? इस प्रकार
जबतक उन्हें देहेन्द्रियादिसे
व्यतिरिक्त बुद्धि न हो तबतक
कर्तृत्वादिविज्ञानात् बुद्धिका होना भी कैसे

च । तद्वत्तस्यापि देहादिष्वात्म-
बुद्धित्वान्न स्यात्सदात्मविज्ञा-
नम् । तस्माद्विकारानृताधिकृत-
जीवात्मविज्ञाननिवर्तकमेवेदं वा-
क्यं तत्त्वमसीति सिद्धमिति ॥ ३ ॥

सम्भव हो सकता है और यही बात
देखी भी जाती है । इसी प्रकार उसे
देहादिमें आत्मबुद्धि होनेके कारण
सदात्मबुद्धि नहीं होती । अतः यह
सिद्ध हुआ कि 'तत्त्वमसि' यह वाक्य
विकाररूप मिथ्या देहादिमें अधिकृत
जीवात्मभावकी निवृत्ति करनेवाला
ही है ॥ ३ ॥

—:—

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि षष्ठाध्याये
षोडशखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥ १६ ॥

—**—

इति श्रीगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यस्य परमहंसपरिव्राजकाचार्यस्य
श्रीशंकरभगवतः कृतौ छान्दोग्योपनिषद्विवरणे
षष्ठोऽध्यायः सम्पूर्णः ॥ ६ ॥



सप्तम अध्याय

—:०:—

प्रथम खण्ड

—:ॐ:—

नारदके प्रति सनत्कुमारका उपदेश

परमार्थतत्त्वोपदेशप्रधानपरः

वक्ष्यमाणग्रन्था- षष्ठोऽध्यायः सदा-

रम्भप्रयोजनम् त्सैकत्वनिर्णयपर-

तयैवोपयुक्तः, न सतोऽर्वाग्विकार-

लक्षणानि तत्त्वानि निर्दिष्टानी-

त्यतस्तानि नामादीनि क्रमेण

निर्दिश्य तद्द्वारेणापि भूमाख्यं

निरतिशयं तत्त्वं निर्देक्ष्यामीति

शाखाचन्द्रदर्शनवदितीमं सप्तमं

प्रपाठकमारभते । अनिर्दिष्टेषु हि

सतोऽर्वाक्तत्त्वेषु सन्मात्रे च नि-

र्दिष्टेऽन्यदप्यविज्ञातं स्यादित्या-

शङ्का कस्यचित्स्यात्सा मा भूदि-

ति वा तानि निर्दिदिक्षति ।

प्रधानतया परमार्थतत्त्वका

उपदेश करनेवाला छठा अध्याय

सत् (ब्रह्म) और आत्माका एकत्व

निर्णय करनेके कारण ही उपयोगी

है । उसमें सत्से निम्नतर विकार-

रूप तत्त्वोंका निर्देश नहीं किया

गया । अतः उन नामादि तत्त्वोंका

क्रमशः निरूपण कर उनके द्वारा

भी शाखाचन्द्र दर्शनके समान भूमा-

संज्ञक निरतिशय तत्त्वका निर्देश

करूँगी—इस अभिप्रायसे श्रुति यह

सातवाँ प्रपाठक आरम्भ करती

है । अथवा सत्से निम्नतर तत्त्वोंका

निर्देश न होनेपर और केवल

सन्मात्रका ही निरूपण किया जानेपर

किसीको ऐसी आशङ्का हो सकती

है कि अभी कुछ और भी अविज्ञात

है, वह आशङ्का न हो—इस

आशयसे श्रुति उनका निर्देश करना

चाहती है ।

अथवा सोपानारोहणवत्स्थूला-
दारभ्य सूक्ष्मं सूक्ष्मतरं च बुद्धि-
विषयं ज्ञापयित्वा तदतिरिक्ते
स्वाराज्येऽभिषेक्षामीति नामा-
दीनि निर्दिद्वन्ति ।

अथवा नामाद्यत्तरोत्तरविशि-
ष्टानि तत्त्वान्यतितरां च तेषामु-
त्कृष्टतमं भूमाख्यं तत्त्वमिति
तत्स्तुत्यर्थं नामादीनां क्रमेणो-
पन्यासः ।

आख्यायिका तु परविद्या-
स्तुत्यर्था । कथम् ? नारदो
आख्यायिका- देवर्षिः कृतकर्तव्य-
प्रयोजनम् सर्वविद्योऽपि स-
न्ननात्मज्ञत्वाच्छुशौचैव किमु
वक्तव्यमन्योऽल्पविज्ञन्तुरकृत-
पुण्यातिशयोक्त्यर्थ इति ।

अथवा नान्यदात्मज्ञानान्नि-
रतिशयश्रेयःसाधनमस्तीत्येतत्प्र-
दर्शनार्थं सनत्कुमारनारदाख्या-

अथवा सीढ़ियोंपर चढ़नेके समान
स्थूलसे आरम्भ करके बुद्धिके सूक्ष्म
और सूक्ष्मतर विषयका ज्ञान
कराकर अधिकारीको उससे अति-
रिक्त स्वाराज्यपर अभिषिक्त
करूँगी—इस अभिप्रायसे वह
नामादिका निर्देश करना चाहती है ।

अथवा नामादि उत्तरोत्तर विशिष्ट
तत्त्व हैं; उन सबकी अपेक्षा
भूमासंज्ञक तत्त्व अत्यन्त उत्कृष्ट
है—इस प्रकार उसकी स्तुतिके
लिये नामादिका क्रमशः उल्लेख
किया गया है ।

यहाँ जो आख्यायिका है वह तो
परा विद्याकी स्तुतिके लिये है ।
किस प्रकार ? जो अपने सारे
कर्तव्य पूर्ण कर चुके थे और सर्व-
विद्यासम्पन्न थे उन देवर्षि नारदको
भी अनात्मज्ञ होनेके कारण शोक
हुआ ही, फिर जिसने अत्यन्त
पुण्यसम्पादन नहीं किया और जो
अकृतार्थ है ऐसे किसी अन्य अल्पज्ञ
जीवकी तो बात ही क्या है ?

अथवा आत्मज्ञानसे बढ़कर और
कोई कल्याणका साधन नहीं है—
यह प्रदर्शित करनेके लिये
सनत्कुमार - नारद - आख्यायिकाका

यिकारभ्यते, येन सर्वविज्ञान-
साधनशक्तिसम्पन्नस्यापि नार-
दस्य देवर्षेः श्रेयो न बभूव येनो-
त्तमाभिजनविद्यावृत्तसाधनशक्ति-
सम्पत्तिनिमित्ताभिमानं हित्वा
प्राकृतपुरुषवत्सनत्कुमारमुपससाद
श्रेयःसाधनप्राप्तयेस्तः प्रख्यापितं
भवति निरतिशयप्राप्तिसाधन-
त्वमात्मविद्याया इति ।

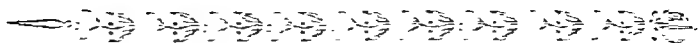
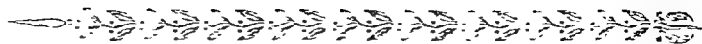
आरम्भ किया जाता है, जिससे कि
सम्पूर्ण विज्ञानरूप साधनोंकी
शक्तिसे सम्पन्न होनेपर भी देवर्षि
नारदका कल्याण नहीं हुआ, इसीसे
वे उत्तम कुल, विद्या, आचार और
नाना प्रकारके साधनोंकी सामर्थ्य-
रूप सम्पत्तिसे होनेवाले अभिमान-
को त्यागकर श्रेयःसाधनकी प्राप्तिके
लिये एक साधारण पुरुषके समान
सनत्कुमारजीके समीप गये । इससे
श्रेयःप्राप्तिमें आत्मविद्याका निरतिशय
साधनत्व सूचित होता है ।

ॐ अधीहि भगव इति होपससाद सनत्कुमारं
नारदस्तु होवाच यद्वत्थ तेन नोपसीद ततस्त ऊर्ध्वं
वक्ष्यामीति स होवाच ॥ १ ॥

‘हे भगवन् ! मुझे उपदेश कीजिये’ ऐसा कहते हुए नारदजी
सनत्कुमारजीके पास गये । उनसे सनत्कुमारजीने कहा—‘तुम जो कुछ
जानते हो उसे बतलाते हुए मेरे पास उपदेश लेनेके लिये आओ; तब मैं
तुम्हें उससे आगे बतलाऊँगा’ तब नारदने कहा—॥ १ ॥

अधीहिधीष्व भगवो भगवन्नि-
ति ह किलोपससाद । अधीहि
भगव इति मन्त्रः । सनत्कुमारं
योगीश्वरं ब्रह्मिष्ठं नारद उपस-
न्नवान् । तं न्यायत उपसन्नं

‘हे भगवन् ! मुझे अध्ययन
कराइये’ ऐसा कहते हुए नारदजी
ब्रह्मनिष्ठ योगीश्वर सनत्कुमारके प्रति
उपसन्न हुए अर्थात् [शिष्यरूपसे]
उनके समीप गये । ‘अधीहि भगवः’
यह उपसत्तिका मन्त्र है । अपने
प्रति नियमानुसार उपसन्न हुए उन



होवाच यदात्मविषये किञ्चिद्वेत्थ
तेन तत्प्रख्यापनेन मामुपसीदे-
दमहं जान इति, ततोऽहं भवतो
विज्ञानात्ते तुभ्यमूर्ध्वं वक्ष्यामि, इ-
त्युक्तवति स होवाच नारदः ॥१॥

नारदजीसे सनत्कुमारजीने कहा—
'तुम आत्माके विषयमें जो कुछ
जानते हो उसे बतलाते हुए अर्थात्
ऐसा प्रकट करते हुए मेरे पास
उपदेश लेनेके लिये आओ; मैं यह
जानता हूँ' तब मैं तुम्हें तुम्हारे
ज्ञानसे आगे उपदेश करूँगा।'
सनत्कुमारजीके ऐसा कहनेपर

नारदजी बोले ॥१॥

—❀:❀—

ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणं
चतुर्थमितिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदं पित्र्यं राशिं
दैवं निधिं वाकोवाक्यमेकायनं देवविद्यां ब्रह्मविद्यां
भूतविद्यां क्षत्रविद्यां नक्षत्रविद्यां सर्पदेवजनविद्यामेत-
द्भगवोऽध्येमि ॥ २ ॥

‘भगवन् ! मुझे ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और चौथा अथर्ववेद
याद है, [इनके सिवा] इतिहास-पुराणरूप पाँचवाँ वेद, वेदोंका वेद
(व्याकरण), श्राद्धकल्प, गणित, उत्पातज्ञान, निधिशास्त्र, तर्कशास्त्र,
नीति, देवविद्या, ब्रह्मविद्या, भूतविद्या, क्षत्रविद्या, नक्षत्रविद्या, सर्पविद्या
(गारुड मन्त्र) और देवजनविद्या-नृत्य-संगीत आदि—हे भगवन् !
यह सब मैं जानता हूँ ॥ २ ॥

ऋग्वेदं भगवांऽध्येमि स्मरामि
यद्वेत्थेति विज्ञानस्य पृष्टत्वात् ।
तथा यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणं
चतुर्थं वेदं वेदशब्दस्य प्रकृतत्वा-

हे भगवन् ! मैं ऋग्वेदका अध्ययन
कर चुका हूँ अर्थात् मुझे ऋग्वेद
स्मरण है [यहाँ अध्ययनवाचक
पदका स्मरण अर्थ क्यों किया गया ?
उत्तर—] क्योंकि ‘यद्वेत्थ’ ऐसा
कहकर विज्ञानके विषयमें प्रश्न
किया गया है । तथा यजुर्वेद

दितिहासपुराणं पञ्चमं वेदं
 वेदानां भारतपञ्चमानां वेदं
 व्याकरणमित्यर्थः। व्याकरणेन हि
 पदादिविभागश्च ऋग्वेदादयो
 ज्ञायन्ते; पित्र्यं श्राद्धकल्पम्;
 राशिं गणितम्; दैवमुत्पात-
 ज्ञानम्; निधिं महाकालादिनि-
 धिशास्त्रम्; वाकोवाक्यं तर्क-
 शास्त्रम्; एकायनं नीतिशास्त्रम्;
 देवविद्यां निरुक्तम्; ब्रह्मण
 ऋग्यजुःसामाख्यस्य विद्यां ब्रह्म-
 विद्यां शिक्षाकल्पच्छन्दश्चितयः;
 भूतविद्यां भूततन्त्रम्; क्षत्रविद्यां
 धनुर्वेदम्; नक्षत्रविद्यां ज्यौति-
 षम्; सर्पदेवजनविद्यां सर्पविद्यां
 गारुडं देवजनविद्यां गन्धयुक्तिनृ-
 त्यगीतवाद्यशिल्पादिविज्ञानानि।
 एतत्सर्वं हे भगवोऽध्येसि ॥ २ ॥

सामवेद और चौथा आथर्वण वेद
 जानता हूँ, 'वेद' शब्द प्रसंगतः
 प्राप्त होनेके कारण इतिहास-
 पुराणरूप पाँचवाँ वेद, महाभारत-
 सहित पाँचों वेदोंका वेद अर्थात्
 व्याकरण—क्योंकि व्याकरणके
 द्वारा ही पदादिके विभागपूर्वक
 ऋग्वेदादिका ज्ञान होता है,
 पित्र्य—श्राद्धकल्प, राशि—गणित,
 दैव—उत्पातज्ञान, निधि—महा-
 कालादि निधिशास्त्र, वाकोवाक्य—
 तर्कशास्त्र, एकायन—नीतिशास्त्र,
 देवविद्या—निरुक्त, ब्रह्मविद्या—
 ब्रह्म अर्थात् ऋग्यजुःसामसंज्ञक
 वेदोंकी विद्या यानी शिक्षा, कल्प,
 छन्द और चिति, भूतविद्या—
 भूतशास्त्र, क्षत्रविद्या—धनुर्वेद,
 नक्षत्रविद्या—ज्यौतिष, सर्पदेव-
 जनविद्या अर्थात् सर्पविद्या—
 गारुड और देवजनविद्या—गन्धयुक्ति
 तथा नृत्य, गान, वाद्य और शिल्पादि-
 विज्ञान—ये सब हे भगवन् ! मैं
 जानता हूँ ॥ २ ॥

—❀❀—

सोऽहं भगवो मन्त्रविदेवास्मि नात्मविच्छ्रुतं
 ह्येव से भगवद्दृष्टेभ्यस्तरति शोकमात्मविदिति सोऽहं

भगवः शोचासि तं सा भगवाञ्छोकस्य पारं तारयत्विति
त० होवाच यद्वै किञ्चैतदध्यगीष्टा नामैवैतत् ॥ ३ ॥

हे भगवन् ! वह मैं केवल मन्त्रवेत्ता ही हूँ, आत्मवेत्ता नहीं हूँ ।
मैंने आ-जैसोंसे सुना है कि आत्मवेत्ता शोकको पार कर लेता है, और
हे भगवन् ! मैं शोक करता हूँ; ऐसे मुझको हे भगवन् ! शोकसे पार कर
दीजिये । तब सनत्कुमारने उनसे कहा—‘तुम यह जो कुछ जानते हो
वह नाम ही है’ ॥ ३ ॥

सोऽहं भगव एतत्सर्वं जान-
न्नपि मन्त्रविदेवास्मि शब्दार्थ-
मात्रविज्ञानवानेवास्मीत्यर्थः ।
सर्वो हि शब्दोऽभिधानमात्रमभि-
धानं च सर्वं मन्त्रेष्वन्तर्भवति ।
मन्त्रविदेवास्मि मन्त्रवित्कर्मवि-
दित्यर्थः । ‘मन्त्रेषु कर्माणि’ इति
हि वक्ष्यति; नात्मानं वेत्ति ।

नन्वात्मापि मन्त्रैः प्रकाश्यत
एवेति कथं मन्त्रविच्चेन्नात्म-
वित् ।

न; अभिधानाभिधेयभेदस्य
विकारत्वात् । न च विकार आ-

हे भगवन् ! वह मैं यह सब
जानते हुए भी केवल मन्त्रवेत्ता ही
हूँ अर्थात् केवल शब्दार्थमात्र जानने-
वाला हूँ, क्योंकि सारे शब्द
अभिधानमात्र हैं और सम्पूर्ण
अभिधान मन्त्रोंके अन्तर्गत है । मैं
मन्त्रवित् ही हूँ, मन्त्रवित् अर्थात्
कर्मवित्, क्योंकि ‘मन्त्रोंमें कर्म
[एकरूप होते हैं]’ ऐसा आगे
(खं० ४ मं० १ में) कहेंगे । मैं
आत्माको नहीं जानता ।

शङ्का—किंतु आत्मा भी तो
मन्त्रोंद्वारा प्रकाशित होता ही है;
फिर नारदजी मन्त्रवित् होनेपर भी
आत्मवेत्ता क्यों नहीं हैं ?

समाधान—ऐसी बात नहीं है,
क्योंकि नाम-नामीरूप जो भेद है,
वह तो विकार है और विकार

त्सेष्यते । नन्वात्माप्यात्मशब्दे-
नाभिधीयते; न, “यतो वाचा
निवर्तन्ते” (तै० उ० २ ।
४ । १) । “यत्र नान्यत्पश्यति”
(छा० उ० ७ । २४ । १)
इत्यादिश्रुतेः ।

कथं तर्ह्यात्मैवाधस्तात्स आत्मे-
त्यादिशब्दा आत्मानं प्रत्या-
ययन्ति ।

नैष दोषः; देहवति प्रत्यगा-
अनात्मबाधाद् तमनि भेदविषये
सदात्मप्रत्ययः प्रयुज्यमानः शब्दो
देहादीनामात्मत्वे प्रत्याख्याय-
माने यत्परिशिष्टं सदवाच्यमपि
प्रत्याययति । यथा सराजिकायां
दृश्यमानायां सेनायां छत्रध्वज-
पताकादिव्यवहितेऽदृश्यमानेऽपि
राजन्येष राजा दृश्यत इति भवति
शब्दप्रयोगस्तत्र कोऽसौ राजेति

आत्मा माना नहीं जाता । यदि
कहो कि आत्मा भी तो ‘आत्मा’
शब्दसे कहा ही जाता है तो ऐसा
कहना ठीक नहीं, क्योंकि “जहाँसे
वाणी लौट आती है” “जहाँ कोई
और नहीं देखता” इत्यादि श्रुतिसे
[उसका शब्दवाच्य न होना ही
सिद्ध होता है] ।

शङ्का—तो फिर “आत्मा ही
नीचे है” “वह आत्मा है” इत्यादि
शब्द किस प्रकार आत्माकी प्रतीति
कराते हैं ?

समाधान—यह कोई दोष नहीं
है । भेदके विषयभूत देहधारी
प्रत्यगात्मामें प्रयोग किया हुआ
[‘आत्मा’—यह] शब्द, देहादि-
का आत्मत्व निरस्त हो जानेपर
जो सन्मात्र अवशिष्ट रहता है
उसे—यद्यपि वह [मुख्यवृत्तिसे
किसी शब्दका] वाच्य नहीं है तो
भी—[लक्षणासे] उसकी प्रतीति
करा देता है, जिस प्रकार कि राजाके
सहित दिखायी देती हुई सेनामें
छत्र, ध्वजा और पताका आदिकी
ओटमे राजाके दिखायी न देनेपर
भी ‘ये राजा दिखायी देते हैं’ ऐसा
प्रयोग होता है, फिर ऐसा प्रश्न होने-
पर कि ‘इनमें राजा कौन है ?’ राजा

राजविशेषनिरूपणायां दृश्यमाने-
तरप्रत्याख्यातेऽन्यस्मिन्नदृश्यमा-
नेऽपि राजनि राजप्रतीतिर्भवे-
त्तद्वत् ।

तस्मात्सोऽहं मन्त्रवित्कर्मवि-
देवास्मि कर्मकार्यं च सर्वं विकार
इति विकारज्ञ एवास्मि नात्म-
विज्ञात्मप्रकृतिस्वरूपज्ञ इत्यर्थः ।
अत एवोक्तम् “आचार्य-
वान्पुरुषो वेद” (छा० उ० ६ ।
१४ । २) इति । “यतो वाचो
निवर्तन्ते” (तै० उ० २ । ४ ।
१) इत्यादिश्रुतिभ्यश्च ।

श्रुतमागमज्ञानमस्त्येव हि
यस्मान्मे मम भगवद्दृशेभ्यो
युष्मत्सदृशेभ्यस्तरत्यतिक्रामति
शोकं मनस्तापमकतार्थबुद्धिता-
मात्मविदित्यतः सोऽहमनात्म-
वित्त्वाद्धे भगवः शोचाम्यकतार्थ-

कहलानेवाले विशेष व्यक्तिका
निरूपण करनेपर अन्य दृश्यमान
पुरुषोंका प्रत्याख्यान करके उनसे
भिन्न राजाके साक्षात् दिखलायी न
देनेपर भी राजाकी प्रतीति हो
जाती है उसी प्रकार [अनात्माका
बाध करके आत्माकी प्रतीति
होती है] ।

अतः [नारदजी कहते हैं—]
वह मैं मन्त्रवेत्ता अर्थात् कर्मवेत्ता
ही हूँ, कर्मका कार्य ही सारा
विकार है; अतः मैं विकारज्ञ ही
हूँ—आत्मज्ञ अर्थात् आत्मारूप
प्रकृति (कारण) के स्वरूपको
जाननेवाला नहीं हूँ । इसीसे कहा
है कि “आचार्यवान् पुरुष
[आत्माको] जानता है” और
यही बात “जहाँसे वाणी लौट
आती है” इत्यादि श्रुतियोंसे भी
प्रमाणित होती है ।

क्योंकि मैंने आप-जैसोंसे सुना
है—मुझे ऐसा शास्त्रीय ज्ञान है कि
‘आत्मवेत्ता शोक—मानसिक ताप
अर्थात् अकृतार्थताबुद्धिको तर जाता
है—पार कर लेता है’ और हे
भगवन् ! मैं अनात्मज्ञ होनेके कारण
शोक करता हूँ अर्थात् अकृतार्थ-

बुद्धयः तस्यै सर्वदा तं मा मां
शोकसागरस्य पारमन्तं भगवां-
स्तारयत्वात्मज्ञानोदुपेन कृतार्थ-
बुद्धिमापादयत्वभयं गमयत्व-
त्यर्थः ।

तमेवमुक्तवन्तं होवाच यद्वै
किञ्चैतदध्यगीष्ठा अधीतवानसि,
अध्ययनेन तदर्थज्ञानमुपलक्ष्यते,
ज्ञानवानसीत्येतन्नामैवैतत् ।
“वाचारम्भणं विकारां नाम-
धेयम्” (छा० उ० ६।१।४)
इति श्रुतेः ॥ ३ ॥

बुद्धिसे सर्वदा संतप्त रहता हूँ ।
उस मुझको हे भगवन् ! आत्मज्ञान-
रूपी नौकाके द्वारा शोकसागरके
पार—परे पहुँचा दो—मुझे
कृतार्थबुद्धि प्राप्त करा दो अर्थात्
अभयको प्राप्त करा दो ।

इस प्रकार कहते हुए उन
(नारदजी) से सनत्कुमारजीने
कहा—‘तुमने यह जो कुछ
अध्ययन किया है—अध्ययनसे
उसके अर्थका ज्ञान भी उपलक्षित
होता है—[अतः तात्पर्य यह है
कि] तुम जो कुछ जानते हो वह
सब नाम ही है; क्योंकि “विकार
वाणीपर अवलम्बित केवल नाम-
मात्र है” ऐसी श्रुति है ॥ ३ ॥



नाम वा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेद आथर्वण-
श्चतुर्थ इतिहासपुराणः पञ्चमो वेदानां वेदः पित्र्यो
राशिर्देवो निधिर्वाकोवाक्यमेकाग्रनं देवविद्या ब्रह्मविद्या
भूतविद्या क्षत्रविद्या नक्षत्रविद्यया सर्पदेवजनविद्यया
नामैवैतन्नामोपास्वेति ॥ ४ ॥

ऋग्वेद नाम है तथा यजुर्वेद, सामवेद, चौथा आथर्वण वेद,
पाँचवां वेद इतिहास-पुराण, वेदोंका वेद (व्याकरण), श्राद्धकल्प,
गणित, उत्पातज्ञान, निधिज्ञान, तर्कशास्त्र, नीतिशास्त्र, निरुक्त, वेदविद्या,

भूतविद्या, घनुर्वेद, ज्यौतिष, गारुड, संगीतादिकला और शिल्पविद्या—
ये सब भी नाम ही तुम नामकी उपासना करो ॥ ४ ॥

नाम वा ऋग्वेदो यजुर्वेद इत्यादि नामैवैतत् । नामोपास्व ब्रह्मेति ब्रह्मबुद्ध्या । यथा प्रतिमां विष्णुबुद्ध्यापास्ते तद्वत् ॥ ४ ॥	ऋग्वेद नाम ही है, तथा यजुर्वेद इत्यादि ये सब भी नाम ही हैं । अतः जिस प्रकार विष्णु- बुद्धिसे प्रतिमाकी उपासना करते हैं उसी प्रकार तुम नामकी 'यह ब्रह्म है' ऐसी ब्रह्मबुद्धिसे उपासना करो ॥ ४ ॥
--	--

—:०:—

स यो नाम ब्रह्मेत्युपास्ते यावन्नाम्नो गतं तत्रास्य
यथा कामचारो भवति यो नाम ब्रह्मत्युपास्तेऽस्ति
भगवो नाम्नो भूय इति नाम्नो वाव भूयोऽस्तीति तन्मे
भगवान्ब्रवीत्विति ॥ ५ ॥

वह जो कि नामकी 'यह ब्रह्म है' ऐसी उपासना करता है उसकी
जहाँतक नामकी गति होती है वहाँतक यथेच्छ गति हो जाती है, जो
कि नामकी 'यह ब्रह्म है' ऐसी उपासना करता है । [नारद—]
'भगवन् ! क्या नामसे भी अधिक कुछ है ?' [सनत्कुमार—] 'नामसे
भी अधिक है ।' [नारद—] 'तो भगवन् ! मुझे वही बतलावें' ॥ ५ ॥

स यस्तु नाम ब्रह्मेत्युपास्ते तस्य यत्फलं भवति तच्छृणु—या-	वह जो कि 'नाम ब्रह्म है' ऐसी उपासना करता है उसे जो फल मिलता है वह सुनो—जहाँतक
---	---

वन्नाम्नो गतं नाम्नो गोचरं तत्र
 तस्मिन्नामविषयेऽस्य यथाकाम-
 चारः कामचरणं राज्ञ इव
 स्वविषये भवति । यो नाम ब्रह्मे-
 त्युपास्त इत्युपसंहारः । किमस्ति
 भगवो नाम्नो भूयोऽधिकतरं यद्-
 ब्रह्मदृष्ट्यर्हमन्यदित्यभिप्रायः ।
 सनत्कुमार आह नाम्नो वाव
 भूयोऽस्त्येवेत्युक्त आह यद्यस्ति
 तन्मे भगवान्ब्रवीत्विति ॥ ५ ॥

नामकी गति अर्थात् नामका विषय
 होता है वहाँतक उस नामके
 विषयमें इसका कामचार—
 स्वेच्छाचरण हो जाता है, जैसा कि
 राजाके अपने विषय (अधिकृत
 देश) में, जो 'नाम ब्रह्म है' ऐसी
 उपासना करता है—यह उपसंहार
 है । [नारद—] 'भगवन् ! क्या
 नामसे बढ़कर भी कुछ है ? अर्थात्
 जो ब्रह्मदृष्टिके योग्य हो ऐसी कोई
 और वस्तु भी है—ऐसा इसका
 अभिप्राय है ?' सनत्कुमारने
 कहा—'नामसे बढ़कर भी है ही ।'
 इस प्रकार कहे जानेपर नारदने
 कहा—'यदि है तो भगवन् ! मुझे
 वही बतलावें' ॥ ५ ॥

—: * :—

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि सप्तमाध्याये
 प्रथमखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥ १ ॥



द्वितीय खण्ड



नामकी अपेक्षा वाक्की महत्ता

वाग्वाव नाम्नो भूयसी वाग्वा ऋग्वेदं विज्ञापयति
यजुर्वेदः सामवेदमाथर्वणं चतुर्थमितिहासपुराणं पञ्चमं
वेदानां वेदं पित्र्यं राशिं दैवं निधिं वाकोवाक्यमेकायनं
देवविद्यां ब्रह्मविद्यां भूतविद्यां क्षत्रविद्यां नक्षत्रविद्यां स-
र्पदेवजनविद्यां दिवं च पृथिवीं च वायुं चाकाशं चापश्च
तेजश्च देवांश्च मनुष्यांश्च पशून्श्च वयांसि च
तृणवनस्पतीञ्श्चापदान्याकीटपतङ्गपिपीलिकंधर्मं चाधर्मं
च सत्यं चानृतं च साधु चासाधु च हृदयज्ञं चाहृदयज्ञं
च यद्वै वाङ्नामविष्यन्न धर्मो नाधर्मो व्यज्ञापयिष्यन्न
सत्यं नानृतं न साधु नासाधु न हृदयज्ञो नाहृदयज्ञो
वागेवैतत्सर्वं विज्ञापयति वाचमुपास्वेति ॥ १ ॥

वाक् ही नामसे बढ़कर है; वाक् ही ऋग्वेदको विज्ञापित करती
है तथा यजुर्वेद, सामवेद, चतुर्थ आथर्वण वेद, पञ्चम वेद इतिहास
पुराण, वेदोंके वेद व्याकरण, श्राद्धकल्प, गणित, उत्पातशास्त्र, निधिज्ञान,
तर्कशास्त्र, नीति, निरुक्त, वेदविद्या, भूतविद्या, घनुर्वेद, ज्योतिष, गारुड,
संगीतशास्त्र, द्युलोक, पृथिवी, वायु, आकाश, जल, तेज, देव, मनुष्य,
पशु, पक्षी, तृण-वनस्पति, श्वापद (हिंस्र जन्तु), कीट-पतंग,
पिपीलिकापर्यन्त प्राणी, धर्म और अधर्म, सत्य और असत्य, साधु और
असाधु, मनोज्ञ और अमनोज्ञ जो कुछ भी है [उसे वाक् ही विज्ञापित
करती है] । यदि वाणी न होती तो न धर्मका और न अधर्मका ही
ज्ञान होता; तथा न सत्य, न असत्य, न साधु, न असाधु, न मनोज्ञ

और न अमनोज्ञका ही ज्ञान हो सकता। वाणी ही इन सबका ज्ञान कराती है; अतः तुम वाक्की उपासना करो ॥ १ ॥

वाग्वाव । वागितीन्द्रियं जिह्वा-
मूलादिष्वष्टसु स्थानेषु स्थितं
वर्णानामभिव्यञ्जकम् । वर्णाश्च
नामेति नाम्नो वाग्भूयसीत्यु-
च्यते । कार्याद्धि कारणं दृष्टं
लोके यथा पुत्रात्पिता तद्वत् ।

कथं च वाङ्नाम्नो भूयसी ?
इत्याह—वाग्वा ऋग्वेदं विज्ञाप-
यत्ययमृग्वेद इति । तथा यजुर्वे-
दमित्यादि समानम् । हृदयज्ञं
हृदयप्रियम् । तद्विपरीतमहृदय-
ज्ञम् । यद्यदि वाङ्नामविष्यद्ध-
र्मादि न व्यज्ञापयिष्यद्वागभावे-
ऽध्ययनाभावोऽध्ययनाभावे तदर्थ-
श्रवणाभावस्तच्छ्रवणाभावे धर्मादि

‘वाग्वाव’—वाक् यह जिह्वामूल
आदिष्वष्ट आठ स्थानोंमें स्थित वर्णों-
को अभिव्यक्त करनेवाली इन्द्रिय
है। वर्ण ही नाम हैं, इसीसे यह
कहा जाता है कि नामसे वाक्
उत्कृष्ट है। जिस प्रकार पुत्रसे
पिता उत्कृष्ट होता है उसी प्रकार
लोकमें कार्यसे ही कारणकी
उत्कृष्टता देखी जाती है।

नामकी अपेक्षा वाक् क्यों उत्कृष्ट
है सो बतलाते हैं—वाक् ही
ऋग्वेदकी ‘यह ऋग्वेद है’ इस प्रकार
विज्ञापित करती है। इसी प्रकार
यजुर्वेद इत्यादिको भी—ये सब
पूर्ववत् समझते चाहिये। तथा
हृदयज्ञ—हृदयको प्रिय और उससे
विपरीत अहृदयज्ञको भी [वाक् ही
विज्ञापित करती है]। यदि वाक्
न होती तो धर्मादि विज्ञापित न
होते। वाक्के अभावमें अध्ययनका
अभाव हो जाता, अध्ययनके
अभावमें उसके अर्थश्रवणका
अभाव होता और उसके श्रवणके
अभावमें धर्मादिका विज्ञान न

* आदि शब्दसे यहाँ वक्षःस्थल, कण्ठ, मूर्धा, दन्त, ओष्ठ, नासिका और
तालु—इन सात स्थानोंका ग्रहण होता है।

न व्यज्ञापयिष्यन्न तमभविष्यदित्यर्थः । तस्माद्वागे- वैतच्छब्दोच्चारणेन सर्वं विज्ञाप- यत्यतो भूयसी वाङ्मनास्तस्मा- द्वाचं ब्रह्मेत्युपास्व ॥ १ ॥	विज्ञा- होता अर्थात् धर्मादि विज्ञात न होते । अतः शब्दोच्चारणके द्वारा वाक् ही इन सबको विज्ञापित करती है । अतः वाक् नामसे उत्कृष्ट है, अतः तुम वाणीकी 'यह ब्रह्म है' इस प्रकार उपासना करो ॥ १ ॥
--	--

—:ॐ:—

स यो वाचं ब्रह्मेत्युपास्ते यावद्वाचो गतं तत्रास्य
 यथाकामचारो भवति यो वाचं ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति
 भगवो वाचो भूय इति वाचो वाच भूयोऽस्तीति तन्म
 भगवान्ब्रवीत्विति ॥ २ ॥

वह जो वाणीकी 'यह ब्रह्म है' इस प्रकार उपासना करता है
 उसकी जहाँतक वाणीकी गति है वहाँतक स्वेच्छागति हो जाती है, जो
 कि वाणीकी 'यह ब्रह्म है' इस प्रकार उपासना करता है । [नारद—]
 'भगवन् ! क्या वाणीसे भी बढ़कर कुछ है ?' [सनत्कुमार—] 'वाणीसे
 भी बढ़कर है ही ।' [नारद—] 'भगवन् ! वह मुझे बतलाइये' ॥ २ ॥

समानमन्यत् ॥ २ ॥ | शेष व्याख्या पूर्ववत् है ॥ २ ॥

—:ॐ:—

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि सप्तमाध्याये
 द्वितीयखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥ २ ॥



तृतीय खण्ड

—:०:—

वाक्की अपेक्षा मनकी श्रेष्ठता

मनो वाव वाचो भूयो यथा वै द्व वामलके द्वे
वा कोले द्वौ वाचौ मुष्टिरनुभवत्येवं वाचं च नाम च
मनोऽनुभवति स यदा मनसा मनस्यति मन्त्रानधीयीये-
त्यथाधीते कर्माणि कुर्वीयेत्यथ कुरुते पुत्रांश्च पशून्श्चे-
च्छेयेत्यथेच्छत इमं च लोकममुं चेच्छेयेत्यथेच्छते मनो
ह्यात्मा मनो हि लोको मनो हि ब्रह्म मन उपास्वेति॥ १॥

मन ही वाणीसे उत्कृष्ट है। जिस प्रकार दो आँवले, दो बेर अथवा दो बहेड़े मुट्टीमें आ जाते हैं उसी प्रकार वाक् और नामका मनमें अन्तर्भाव हो जाता है। यह पुरुष जिस समय मनसे विचार करता है कि 'मन्त्रोंका पाठ करूँ' तभी पाठ करता है, जिस समय सोचता है 'काम करूँ' तभी काम करता है, जब विचारता है 'पुत्र और पशुओंकी इच्छा करूँ' तभी उनकी इच्छा करता है और जब ऐसा संकल्प करता है कि 'इस लोक और परलोककी कामना करूँ' तभी उनकी कामना करता है। मन ही आत्मा है, मन ही लोक है और मन ही ब्रह्म है; तुम मनकी उपासना करो ॥ १ ॥

मनो मनस्यनविशिष्टमन्तः-
करणं वाचो भूयः। तद्धि मन-
स्यनव्यापारवद्वाचं वक्तव्ये प्रेर-
यति। तेन वाङ्मनस्यन्तर्भवति।
यच्च यस्मिन्नन्तर्भवति तत्तस्य

मन—मननशक्तिविशिष्ट अन्तः-
करण वाणीसे उत्कृष्ट है। वह
मननव्यापारयुक्त मन ही वाणीको
वक्तव्य विषयमें प्रेरित करता है।
अतः वाक् मनके अन्तर्गत है, और
जो जिसके अन्तर्गत होता है,

व्यापकत्वात्ततो भूयो भवति ।
 यथा वै लोके द्वे वामलके
 फले द्वे वा कोले बदरफले द्वौ
 वाक्षौ विभीतकफले मुष्टिरनु-
 भवति मुष्टिस्ते फले व्याप्नोति
 मुष्टौ हि ते अन्तर्भवतः । एवं
 वाचं च नाम चामलकादिव-
 न्मनोऽनुभवति ।

स यदा पुरुषो यस्मिन्काले
 मनसान्तःकरणेन मनस्यति
 मनस्यनं विवक्षाबुद्धिः कथम् ?
 मन्त्रानधीयीयोच्चारयेयमित्येवं
 विवक्षां कृत्वाथाधीते तथा
 कर्माणि कुर्वीयेति चिकीर्षाबुद्धि-
 कृत्वाथ कुरुते पुत्रांश्च पशून्चे-
 न्छेयेति प्राप्तीच्छां कृत्वा तत्प्रा-
 प्त्युपायानुष्ठानेनाथेच्छते पुत्रा-
 दीन्प्राप्नोतीत्यर्थः । तथेमं च
 लोकममं चोपायेनेच्छेयेति

उसकी अपेक्षा वह व्यापक होनेके
 कारण, बड़ा होता है । लोकमें
 जिस प्रकार दो आँवलों, दो
 कोलों—बेरों अथवा दो अक्षों—
 बहेड़ेके फलोंको मुट्ठी अनुभव
 करती है—उन फलोंको मुट्ठी व्याप्त
 कर लेती है अर्थात् वे मुट्ठीके
 अन्तर्गत हो जाते हैं, उसी प्रकार
 उन आँवले आदिके समान वाणी
 और नाम—इन दोनोंको मन
 अनुभव करता है ।

वह (यह) पुरुष जब—जिस समय
 मन—अन्तःकरणसे मनस्यन (कुछ
 कहनेकी इच्छा) करता है, मनस्यन-
 का अर्थ है विवक्षा-बुद्धि (कुछ कहनेकी
 इच्छा या विचार) किस प्रकार ?
 यह बताते हैं—‘मैं मन्त्रोंका पाठ—
 उच्चारण करूँ;’ इस प्रकार बोलने-
 की इच्छा करके वह पाठ करता है;
 ‘मैं कर्म करूँ’ ऐसी चिकीर्षाबुद्धि
 करके कर्म करता है; तथा ‘मैं पुत्र
 और पशुओंकी इच्छा करूँ’ इस प्रकार
 उनकी प्राप्ति की इच्छा करके उनकी
 प्राप्ति के उपायका अनुष्ठान कर उनकी
 इच्छा करता है अर्थात् उन पुत्रा-
 दिको प्राप्त कर लेता है । इसी
 प्रकार ‘मैं इस लोक और परलोक-
 को उपायद्वारा [प्राप्त करना]

तत्प्राप्त्युपायानुष्ठानेनाथेच्छते

प्राप्नोति ।

मनो ह्यात्मात्मनः कर्तृत्वं

भोक्तृत्वं च सति मनसि नान्य-

थेति मनो ह्यात्मेत्युच्यते । मनो

हि लोकः सत्येव हि मनसि

लोको भवति तत्प्राप्त्युपायानु-

ष्ठानं चेति मनो हि लोको यस्मा-

त्तस्मान्मनो हि ब्रह्म । यत एवं

तस्मान्मन उपास्वेति ॥ १ ॥

चाहें" ऐसे संकल्पपूर्वक उनकी प्राप्तिके उपायद्वारा उन्हें चाहता अर्थात् प्राप्त कर लेता है ।

मन ही आत्मा है; क्योंकि मनके रहनेपर ही आत्माका कर्तृत्व-भोक्तृत्व सिद्ध होता है, अन्यथा नहीं; इसीसे 'मन ही आत्मा है' ऐसा कहा जाता है । मन ही लोक है; क्योंकि मनके रहनेपर ही लोक और उसकी प्राप्तिके उपायका अनुष्ठान होता है । इस प्रकार क्योंकि मन ही लोक है, इसलिये मन ही ब्रह्म है । क्योंकि ऐसा है इसलिये मनकी उपासना करो ॥१॥

स यो मनो ब्रह्मेत्युपास्ते यावन्मनसो गतं तत्रास्य
यथाकामचारो भवति यो मनो ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति
भगवो मनसो भूय इति मनसो वाव भूयोऽस्तीति तन्मे
भगवान् ब्रवीत्विति ॥ २ ॥

वह जो कि मनकी 'यह ब्रह्म है' इस प्रकार उपासना करता है उसकी जहाँतक मनकी गति है वहाँतक स्वेच्छागति हो जाती है, जो कि मनकी 'यह ब्रह्म है' ऐसी उपासना करता है । [नारद—] 'भगवन् ! क्या मनसे भी बढ़कर कोई है ?' [सनत्कुमार—] 'मनसे बढ़कर भी है ही ।' [नारद—] 'भगवन् ! मेरे प्रति उसीका वर्णन करें' ॥ २ ॥

स यो मन इत्यादि स-
मानम् ॥ २ ॥

'स यो मनः' इत्यादि मन्त्रका
अर्थ पूर्ववत् है ॥ २ ॥

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि सप्तमाध्याये
तृतीयखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥ ३ ॥

चतुर्थ खण्ड

—:०:—

मनसे संकल्पकी श्रेष्ठता

संकल्पो वाव मनसो भूयान्यदा वै संकल्पयतेऽथ
मनस्येत्यथ वाचमीरयति तामु नाम्नीरयति नाम्नि
मन्त्रा एकं भवन्ति मन्त्रेषु कर्माणि ॥ १ ॥

संकल्प ही मनसे बढ़कर है । जिस समय पुरुष संकल्प करता है तभी वह मनस्यन (बोलनेकी इच्छा) करता है और फिर वाणीको प्रेरित करता है । वह उसे नामके प्रति प्रवृत्त करता है; नाममें सब मन्त्र एकरूप हो जाते हैं और मन्त्रोंमें कर्मोंका अन्तर्भाव हो जाता है ॥१॥

संकल्पो वाव मनसो भूयान् ।

संकल्पोऽपि मनस्यनवदन्तःकर-

णवृत्तिः, कर्तव्याकर्तव्यविषयवि-

भागेन समर्थनम् । विभागेन हि

समर्थिते विषये चिकीर्षाबुद्धिर्म-

नस्यनं भवति । कथम् ? यदा

वै संकल्पयते कर्तव्यादिविषयान् ।

विभजत इदं कर्तुं युक्तमिति ।

अथ मनस्यति मन्त्रानधीयीये-

त्यादि । अथानन्तरं वाचमीरयति

संकल्प ही मनसे बढ़कर है ।

मनस्यनके समान संकल्प भी

अन्तःकरणकी वृत्ति ही है, यानी

कर्तव्य और अकर्तव्य विषयोंका

विभागपूर्वक समर्थन ही संकल्प है ।

इस प्रकार विषयका विभागपूर्वक

समर्थन होनेपर ही चिकीर्षाबुद्धि

यानी मनस्यन होता है । सो किस

प्रकार ?—जिस समय पुरुष

संकल्प करता है अर्थात् 'यह

करना चाहिये' इस प्रकार

कर्तव्यादि विषयोंका विभाग करता

है तभी वह सोचता है 'मैं मन्त्रोंका

पाठ करूँ' इत्यादि । इसके पश्चात्

वह मन्त्रादिका उच्चारण करनेमें

मन्त्राद्युच्चारणे । तां च वाचसु
नाम्नि नामोच्चारणनिमित्तं
विवक्षां कृत्वेष्यति नाम्नि नाम-
सामान्ये मन्त्राः शब्दविशेषाः
सन्त एकं भवन्त्यन्तर्भवन्तीत्यर्थः ।
सामान्ये हि विशेषोऽन्तर्भवति ।

मन्त्रेषु कर्माण्येकं भवन्ति,
मन्त्रप्रकाशितानि कर्माणि
क्रियन्ते नामन्त्रकमस्ति कर्म ।
यद्धि मन्त्रप्रकाशनेन लब्ध-
सत्ताकं सत्कर्म ब्राह्मणेनेदं
कर्तव्यमस्मै फलायेति विधी-
यते । याप्युत्पत्तिर्ब्राह्मणेषु कर्मणां
दृश्यते सापि मन्त्रेषु लब्ध-
सत्ताकानामेव कर्मणां स्पष्टीक-
रणम् । न हि मन्त्राप्रकाशितं
कर्म किञ्चिद्ब्राह्मणे उत्पन्नं
दृश्यते । त्रयीविहितं कर्मेति

वाणीको प्रेरित करता है । और
उस वाणीको नाममें अर्थात्
नामोच्चारणनिमित्तक विवक्षा करके
नाममें प्रेरित करता है तथा
नामरूप सामान्यमें मन्त्र, जो
शब्दविशेष ही हैं, एक होते हैं
अर्थात् उसके अन्तर्भूत होते हैं;
क्योंकि सामान्यमें विशेषका अन्त-
र्भाव होता है ।

मन्त्रोंमें कर्म एकरूप हो जाते हैं ।
मन्त्रोंसे प्रकाशित कर्म ही किये
जाते हैं, मन्त्रहीन कोई भी कर्म
नहीं है । [यदि कहो कि कर्मोंका
विधान तो ब्राह्मणभागमें भी है,
फिर ऐसा कैसे माना जा सकता है
कि कर्म मन्त्रप्रकाशित ही हैं तो ऐसा
कहना ठीक नहीं, क्योंकि] जिस
सत्कर्मको मन्त्रोंके प्रकाशित करनेसे
सत्ता प्राप्त हुई है ब्राह्मणोंने
उसीका 'इसे अमुक फलके लिये
करना चाहिये' इस प्रकार विधान
किया है । इसके सिवा ब्राह्मणोंमें
जो कर्मोंकी उत्पत्ति देखी जाती है
वह भी मन्त्रोंमें सत्ता प्राप्त किये हुए
कर्मोंका ही स्पष्टीकरण है; मन्त्रोंसे
अप्रकाशित कोई भी कर्म ब्राह्मण-
भागमें उत्पन्न हुआ नहीं देखा

प्रसिद्धं लोके । त्रयीशब्दश्च
ऋग्यजुःसामसंख्या । “मन्त्रेषु
कर्माणि कवयो यान्यपश्यन्”
(मु० उ० १ । २ । १) इति
चाथर्वणे । तस्माद्युक्तं मन्त्रेषु
कर्माण्येकं भवन्तीति ॥ १ ॥

जाता । लोकमें यह बात प्रसिद्ध ही
है कि ‘कर्म त्रयीविहित है’ और
‘त्रयी’ शब्द ऋक्-यजुः-सामका ही
नाम है । “विद्वानोने जिन कर्मोंको
मन्त्रोंमें देखा” ऐसा आथर्वणो-
पनिषद्में कहा भी है । अतः यह
कहना कि ‘मन्त्रोंमें सब कर्म एकरूप
हो जाते हैं, ठीक ही है ॥ १ ॥

—०—

तानि ह वा एतानि संकल्पैकायनानि संकल्पात्म-
कानि संकल्पे प्रतिष्ठितानि समस्तुपतां द्यावापृथिवी
समकल्पेतां वायुश्चाकाशं च समकल्पन्तापश्च तेजश्च
तेषां संकल्प्यै वर्षं संकल्पते वर्षस्य संकल्प्यै
अन्नं संकल्पतेऽन्नस्य संकल्प्यै प्राणाः संकल्पन्ते
प्राणानां संकल्प्यै मन्त्राः संकल्पन्ते मन्त्राणां
संकल्प्यै कर्माणि संकल्पन्ते कर्मणां संकल्प्यै लोकः
संकल्पते लोकस्य संकल्प्यै सर्वं संकल्पते स एष
संकल्पः संकल्पमुपास्वेति ॥ २ ॥

वे ये (मन आदि) एकमात्र संकल्परूप लयस्थानवाले, संकल्पमय
और संकल्पमें ही प्रतिष्ठित हैं । द्युलोक और पृथिवीने मानो संकल्प किया
है । वायु और आकाशने संकल्प किया है; जल और तेजने संकल्प किया
है । उनके संकल्पके लिये वृष्टि समर्थ होती है [अर्थात् उन द्युलोकादिके
संकल्पसे वृष्टि होती है], वृष्टिके संकल्पके लिये अन्न समर्थ होता है, अन्नके
संकल्पके लिये प्राण समर्थ होते हैं, प्राणोंके संकल्पके लिये मन्त्र समर्थ

होते हैं, मन्त्रोंके संकल्पके लिये कर्म समर्थ होते हैं, कर्मोंके संकल्पके लिये लोक (फल) समर्थ होता है और लोकोंके संकल्पके लिये सब समर्थ होते हैं। वह (ऐसा) यह संकल्प है; तुम संकल्पकी उपासना करो ॥ २ ॥

तानि ह वा एतानि मन-
आदीनि संकल्पैकायनानि
संकल्प एकोऽयनं गमनं प्रलयो
येषां तानि संकल्पैकायनानि ।
संकल्पात्मकान्युत्पत्तौ संकल्पे
प्रतिष्ठितानि स्थितौ समकल्पतां ।
संकल्पं कृतवत्याविव हि द्यौश्च
पृथिवी च द्यावापृथिवी द्यावा-
पृथिव्यौ निश्चले लक्ष्येते । तथा
समकल्पेतां वायुश्चाकाशं चैता-
वपि संकल्पं कृतवन्तानिव ।
तथा समकल्पन्तापश्च तेजश्च
स्वेन रूपेण निश्चलानि लक्ष्यन्ते
यतः ।

तेषां द्यावापृथिव्यादीनां सं-
कल्प्यै संकल्पनिमित्तं वर्षं संक-
ल्पते समर्थीभवति । तथा वर्षस्य
संकल्प्यै संकल्पनिमित्तमन्नं
संकल्पते । वृष्टेर्ह्यन्नं भवत्यन्नस्य
संकल्प्यै प्राणाः संकल्पन्ते ।

वे ये मन आदि संकल्पैकायन
हैं—संकल्प ही है एक अयन—
गमन अर्थात् प्रलयस्थान जिनका
ऐसे संकल्पैकायन हैं । वे उत्पत्तिके
समय संकल्पमय हैं तथा स्थितिके
समय संकल्पमें प्रतिष्ठित हैं । द्युलोक
और पृथिवीने मानो संकल्प किया है,
क्योंकि ये द्यावापृथिवी— द्यौ और
पृथिवी निश्चल दिखायी देते हैं ।
तथा वायु और आकाश इन दोनोंने
भी मानो संकल्प किया है ।
इसी प्रकार जल और तेजने भी
संकल्प किया है, क्योंकि ये भी अपने
स्वरूपसे निश्चल दिखायी देते हैं ।

उन द्युलोक और पृथिवी आदिकी
संकल्पिणी यानी संकल्पके लिये वर्षा
संकल्पित होती अर्थात् समर्थ होती
है । तथा वर्षाकी संकल्पिणी—
संकल्पके लिये अन्न समर्थ होता
है, क्योंकि वृष्टिसे ही अन्न होता
है । अन्नकी संकल्पिणीके लिये प्राण
समर्थ होते हैं, क्योंकि प्राण अन्नमय

अन्नमया हि प्राणा अन्नोपष्ट-
म्मकाः । “अन्नं दाम” (वृ० उ०
२ । २ । १) इति हि श्रुतिः ।

तेषां संकल्प्यै मन्त्राः
संकल्पन्ते । प्राणवान् हि मन्त्रा-
नधीते नावलः । मन्त्राणां हि
संकल्प्यै कर्माण्यग्निहोत्रादीनि
संकल्पन्तेऽनुष्ठीयमानानि मन्त्र-
प्रकाशितानि समर्थीभवन्ति
फलाय । ततो लोकः फलं
संकल्पते कर्मकर्तृसमवायितया
समर्थीभवतीत्यर्थः । लोकस्य
संकल्प्यै सर्वं जगत्संकल्पते
स्वरूपावैकल्याय । एतद्धीदं सर्वं
जगद्यत्फलावसानं तत्सर्वं संक-
ल्पमूलम् । अतो विशिष्टः स एव
संकल्पः । अतः संकल्पमुपा-
स्वेत्युक्त्वा फलमाह तदुपास-
कस्य ॥ २ ॥

हैं और अन्नके ही आश्रय रहनेवाले
हैं । श्रुति कहती है “[प्राणरूप
शिशुके लिये] अन्न डोरी है” ।

उन प्राणोंके संकल्पके लिये
मन्त्र समर्थ होते हैं, क्योंकि
प्राणवान् (बलवान्) ही मन्त्रोंको
पढ़ सकता है, बलहीन नहीं ।
मन्त्रोंके संकल्पके लिये अग्निहोत्र
आदि कर्म समर्थ होते हैं, क्योंकि
मन्त्रोंद्वारा प्रकाशित कर्म अनुष्ठान
किये जानेपर फलप्रदानमें समर्थ
होते हैं । उनसे लोक अर्थात् फल
संकल्प होता है, अर्थात् कर्म और
कर्तृके समवायीरूपसे समर्थ होता
है । लोक (फल) के संकल्पके
लिये सम्पूर्ण जगत् अपने स्वरूपकी
अविकलतामें समर्थ होता है ।
इस प्रकार फलपर्यन्त जो सारा
जगत् है वह सब-का-सब संकल्प-
मूलक ही है । अतः वह संकल्प ही
विशिष्ट है, इसलिये तुम संकल्प-
की उपासना करो । ऐसा कहकर
सनत्कुमारजी उसके उपासकके लिये
फल बतलाते हैं—॥ २ ॥

स यः संकल्पं ब्रह्मेत्युपास्ते क्लृप्तान् वै स
 लोकान्ध्रुवान्ध्रुवः प्रतिष्ठितान् प्रतिष्ठितोऽव्यथमानान-
 व्यथमानोऽभिसिध्यति । यावत्संकल्पस्य गतं तत्रास्य
 यथाकामचारो भवति यः संकल्पं ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति
 भगवः संकल्पाद्भूय इति संकल्पाद्वाव भूयोऽस्तीति
 तन्मे भगवान् ब्रवीत्विति ॥ ३ ॥

वह जो कि संकल्पकी 'यह ब्रह्म है' इस प्रकार उपासना करता है [विधाताके] रचे हुए ध्रुवलोकोंको स्वयं ध्रुव होकर, प्रतिष्ठित लोकोंको स्वयं प्रतिष्ठित होकर तथा व्यथा न पानेवाले लोकोंको स्वयं व्यथा न पाता हुआ सब प्रकार प्राप्त करता है । जहाँतक संकल्पकी गति है वहाँतक उसकी स्वेच्छागति हो जाती है, जो कि संकल्पकी 'यह ब्रह्म है' इस प्रकार उपासना करता है । [नारद—] 'भगवन् ! क्या संकल्पसे भी बढ़कर कुछ है ?' [सनत्कुमार—] 'संकल्पसे बढ़कर भी है ही ।' [नारद—] 'भगवान् मुझे उसीका उपदेश करें' ॥ ३ ॥

स यः संकल्पं ब्रह्मेति ब्रह्म-
 बुद्धयोपास्ते क्लृप्तान् वै धात्रा-
 स्येमे लोकाः फलमिति क्लृप्तान्
 समर्थितान् संकल्पितान्स विद्वा-
 न्ध्रुवान् नित्यानत्यन्ताध्रुवापे-
 क्षया ध्रुवश्च स्वयम् । लोकिनो
 ह्यध्रुवत्वे लोके ध्रुवक्लृप्तिर्व्यर्थेति
 ध्रुवः सन् प्रतिष्ठितानुपकरण-

वह जो कि संकल्पकी 'ब्रह्म' इस प्रकार अर्थात् ब्रह्मबुद्धिसे उपासना करता है, क्लृप्त— विधाताद्वारा 'इसे ये लोक यानी फल प्राप्त हों' इस प्रकार समर्थित—संकल्पित ध्रुव अर्थात् नित्य लोकोंको, जो अन्य अध्रुव लोकोंकी अपेक्षा ध्रुव हैं, स्वयं ध्रुव होकर, क्योंकि लोकवान् भोक्ताके अध्रुव होनेपर लोकोंमें ध्रुवताकी कल्पना करना व्यर्थ है, अतः ध्रुव होकर; प्रतिष्ठित अर्थात् सामग्री-

सम्पन्नानित्यर्थः । पशुपुत्रादिभिः
 प्रतितिष्ठतीति दर्शनात्स्वयं च प्रति-
 ष्ठित आत्मीयोपकरणसम्पन्नो-
 ऽव्यथमानानमित्रादित्रासरहिता-
 नव्यथमानश्च स्वयमभिसिध्यत्य-
 भिप्राप्नोतीत्यर्थः । यावत्संक-
 ल्पस्य गतं संकल्पगोचरस्तत्रास्य
 यथाकामचारो भवति आत्मनः
 संकल्पस्य न तु सर्वेषां संकल्प-
 स्येति । उत्तरफलविरोधात् ।
 यः संकल्पं ब्रह्मेत्युपास्त इत्यादि
 पूर्ववत् ॥ ३ ॥

सम्पन्न [लोकोंको]; क्योंकि वह पशु-
 पुत्रादिसे प्रतिष्ठित होता है—ऐसा
 देखा गया है, स्वयं भी प्रतिष्ठित—
 अपनी सामग्रीसे सम्पन्न होकर
 तथा अव्यथमान—शत्रु आदिके
 भयसे रहित लोकोंको स्वयं भी
 अव्यथमान—व्यथित न होता हुआ
 'अभिसिध्यति'—सब प्रकारसे प्राप्त
 करता है—ऐसा इसका तात्पर्य
 है । जहाँतक संकल्पकी गति है
 अर्थात् संकल्पका विषय है वहाँतक
 इसकी स्वेच्छागति हो जाती है;
 जहाँतक उसके संकल्पकी गति
 होती है वहींतक, न कि सबके
 संकल्पकी गतितक, क्योंकि [ऐसा
 न माननेसे] आगे बतलाये हुए
 फलोंसे विरोध आवेगा । 'यः संकल्पं
 ब्रह्मेत्युपास्ते' इत्यादि मन्त्रका अर्थ
 पूर्ववत् है ॥ ३ ॥

—*—

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि सप्तमाध्याये
 चतुर्थखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥ ४ ॥

पञ्चम खण्ड

—:❀:—

संकल्पका अपेक्षा चित्तको प्रधानता

चित्तं वाव संकल्पाद्भूयो यदा वै चेतयतेऽथ
संकल्पयतेऽथ मनस्यत्यथ वाचसीरयति तामु नासीरयति
नास्त्रि मन्त्रा एकं भवन्ति मन्त्रेषु कर्माणि ॥ १ ॥

चित्त ही संकल्पसे उत्कृष्ट है। जिस समय पुरुष चेतनावात् होता है तभी वह सङ्कल्प करता है, फिर मनन करता है, तत्पश्चात् वाणीको प्रेरित करता है, उसे नाममें प्रवृत्त करता है। नाममें मन्त्र एकरूप होते हैं और मन्त्रोंमें कर्म ॥ १ ॥

चित्तं वाव संकल्पाद्भूयः,
चित्तं चेतयितृत्वं प्राप्तकालानु-
रूपबोधवत्त्वमतीतानागतविषय-
प्रयोजननिरूपणसामर्थ्यं च तत्
संकल्पादपि भूयः। कथम् ?
यदा वै प्राप्तं वस्तिवदमेवं प्राप्त-
मिति चेतयते तदादानाय
वापोहाय वाथ संकल्पयतेऽथ
मनस्यतीत्यादि पूर्ववत् ॥ १ ॥

चित्त ही सङ्कल्पसे उत्कृष्ट है।
चित्त यानी चेतयितृत्व—प्राप्त
कालके अनुरूप बोधयुक्त होना
तथा भूत और भविष्यत् विषयोंके
प्रयोजनका निरूपण करनेमें समर्थ
होना—यह सङ्कल्पकी अपेक्षा भी
बढ़कर है। यह कैसे ? [सो
वतलाते हैं—] जिस समय पुरुष
प्राप्त हुई वस्तुको 'यह इस प्रकार-
की वस्तु प्राप्त हुई है' इस प्रकार
चेतित करता है, तभी वह उसे
ग्रहण करने अथवा त्यागनेके लिये
सङ्कल्प करता है। फिर मनस्यन
करता है—इत्यादि शेष अर्थ
पूर्ववत् है ॥ १ ॥

तानि ह वा एतानि चित्तैकायनानि चित्तात्मानि
चित्त प्रतिष्ठितानि तस्माद्यद्यपि बहुविदचित्तो भवति
नायमस्तीत्येवैनमाहुयदयं वेद यद्वा अयं विद्वान्नेत्यम-
चित्तः स्यादित्यथ यद्यल्पविच्चित्तवान्भवति तस्मा
एवोत शुश्रूषन्ते चित्तं ह्येवैषामेकायनं चित्तमात्मा
चित्तं प्रतिष्ठा चित्तमुपास्वेति ॥ २ ॥

वे ये [संकल्पादि] एकमात्र चित्तरूप लयस्थानवाले, चित्तमय
तथा चित्तमें ही प्रतिष्ठित हैं । इसीसे यद्यपि कोई मनुष्य बहुज्ञ भी हो तो
भी यदि वह अचित्त होता है तो लोग कहने लगते हैं कि 'यह तो कुछ
भी नहीं है, यदि यह कुछ जानता अथवा विद्वान् होता तो ऐसा अचित्त
न होता ।' और यदि कोई अल्पज्ञ होनेपर भी चित्तवान् हो तो उसीसे
वे सब श्रवण करना चाहते हैं । अतः चित्त ही इनका एकमात्र आश्रय
है, चित्त ही आत्मा है और चित्त ही प्रतिष्ठा है, तुम चित्तकी उपासना
करो ॥ २ ॥

तानि संकल्पादीनि कर्मफ-
लान्तानि चित्तैकायनानि चित्ता-
त्मानि चित्तोत्पत्तीनि चित्ते
प्रतिष्ठितानि चित्तस्थितानीत्यपि
पूर्ववत् । किञ्च चित्तस्य माहा-
त्म्यम् । यस्माच्चित्तं संकल्पादि-
मूलं तस्माद्यद्यपि बहुविद्बहु-
शास्त्रादिपरिज्ञानवान्सन्नचित्तो

संकल्पसे लेकर कर्मफलपर्यन्त वे
सब एकमात्र चित्तरूप लयस्थान-
वाले, चित्तमय—चित्तसे उत्पन्न
होनेवाले और चित्तसे प्रतिष्ठित
अर्थात् चित्तमें ही स्थित रहनेवाले
हैं—इस प्रकार पूर्ववत् ही समझना
चाहिये । इसके सिवा चित्तकी
महिमा इस प्रकार है; क्योंकि
चित्त संकल्पादिका मूल है इसलिये
यदि कोई पुरुष बहुज्ञ—बहुत-से
शास्त्रादिका परिज्ञान रखनेवाला

भवति प्राप्तादिचेतयितृत्वसाम-
र्थ्यविरहितो भवति तं निपुणा
लौकिका नायमस्ति विद्यमानो-
ऽप्यसत्सम एवेत्येनमाहुः ।

यच्चायं किञ्चिच्छास्त्रादि वेद
श्रुतवांस्तदप्यस्य वृथैवेति कथ-
यन्ति । कस्मात् ? यद्ययं
विद्वान् स्यादित्थमेवमचित्तो न
स्यात्तस्मादस्य श्रुतमप्यश्रुतमेवे-
त्याहुरित्यर्थः । अथाल्पविदपि
यदि चित्तवान्भवति तस्मा
एतस्मै तदुक्तार्थग्रहणायैवोतापि
शुश्रूषन्ते श्रोतुमिच्छन्ति । तस्माच्च
चित्तं ह्येवैषां संकल्पादीनामेका-
यनमित्यादि पूर्ववत् ॥ २ ॥

होकर भी अचित्त अर्थात् प्राप्त
विषयादिके यथार्थ स्वरूपको जानने-
की सामर्थ्यसे रहित हो तो निपुण
लौकिक पुरुष उसके विषयमें 'यह
कुछ नहीं है—विद्यमान होते हुए
भी असद्रूप ही हैं' ऐसा कहने
लगेते हैं ।

वे यह भी कहते हैं कि 'इसने
जो कुछ शास्त्रादि जाने अथवा सुने
हैं वे भी इसके लिये व्यर्थ ही हैं ।
क्यों व्यर्थ हैं ? यदि यह विद्वान्
होता तो ऐसा अचित्त (मूढ़) न
होता; अतः तात्पर्य यह है कि
इसका श्रवण किया हुआ भी अश्रुत
ही है' ऐसा वे कहते हैं । और
यदि अल्पवित् होनेपर भी वह
चित्तवान् होता है तो उससे उसकी
कही हुई बातको ग्रहण करनेके
लिये ही वे सुननेकी इच्छा करते
हैं । अतः चित्त ही इन संकल्पादि-
का एकायन है इत्यादि पूर्ववत्
समझना चाहिये ॥ २ ॥

— ❀ —

स यश्चित्तं ब्रह्मो त्युपास्ते चित्तान्वै स लोकान् ध्रुवा-
न्ध्रुवः प्रतिष्ठितान्प्रतिष्ठितोऽव्यथमानानव्यथमानोऽभिसि-
ध्यति । यावच्चित्तस्य गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति

यश्चित्तं ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवश्चित्ताद्भूय इति
चित्ताद्वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान्ब्रवीत्विति ॥ ३ ॥

वह जो कि चित्तकी 'यह ब्रह्म है' इस प्रकार उपासना करता है
[अपने लिये] उपचित हुए ध्रुवलोकोंको स्वयं ध्रुव होकर, प्रतिष्ठित
लोकोंको स्वयं प्रतिष्ठित होकर तथा व्यथा न पानेवाले लोकोंको स्वयं
व्यथा न पाता हुआ सब प्रकार प्राप्त करता है। जहाँतक चित्तकी गति
है वहाँतक उसकी स्वेच्छागति हो जाती है, जो कि चित्तकी 'यह ब्रह्म
है' ऐसी उपासना करता है। [नारद—] 'भगवन् ! क्या चित्तासे
बढ़कर भी कुछ है ?' [सनत्कुमार—] 'चित्तसे बढ़कर भी है ही।
[नारद—] 'भगवान् मुझे उसीका उपदेश करें' ॥ ३ ॥

चित्तानुपचितान्बुद्धिमद्गुणैः
स चित्तोपासको ध्रुवानित्यादि
चोक्तार्थम् ॥ ३ ॥

चित्त अर्थात् बुद्धियुक्त गुणोंसे
उपचित ध्रुवलोकोंको वह चित्तो-
पासक ध्रुव होकर—इत्यादि अर्थ
पहले कहे हुएके समान है ॥ ३ ॥

—**—

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि सप्तमाध्याये
पञ्चमखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥ ५ ॥



षष्ठ खण्ड

—:०:—

चित्तकी अपेक्षा ध्यानका महत्त्व

ध्यानं वाव चित्ताद्भूयो ध्यायतीव पृथिवी ध्यायती-
वान्तरिक्षं ध्यायतीव व्योर्ध्यायन्तीवापो ध्यायन्तीव पर्वता
ध्यायन्तीव देवमनुष्यास्तस्माद्य इह मनुष्याणां महत्तां
प्राप्नुवन्ति ध्यानापादांशा इवैव ते भवन्त्यथ येऽल्पाः
कलहिनः पिशुना उपवादिनस्तेऽथ ये प्रभवो ध्याना-
पादांशा इवैव ते भवन्ति ध्यानसुपास्वेति ॥ १ ॥

ध्यान ही चित्तसे बढ़कर है। पृथिवी मानो ध्यान करती है,
अन्तरिक्ष मानो ध्यान करता है, द्युलोक मानो ध्यान करता है, जल
मानो ध्यान करते हैं, पर्वत मानो ध्यान करते हैं तथा देवता और मनुष्य
भी मानो ध्यान करते हैं। अतः जो लोग यहाँ मनुष्योंमें महत्त्व प्राप्त
करते हैं वे मानो ध्यानके लाभका ही अंश पाते हैं; किंतु जो क्षुब्ध होते
हैं वे कलहप्रिय, चुगलखोर और दूसरोंके मुँहपर ही उनकी निन्दा
करनेवाले होते हैं। तथा जो सामर्थ्यवान् हैं वे भी ध्यानके लाभका ही
अंश प्राप्त करनेवाले हैं। अतः तुम ध्यानकी उपासना करो ॥ १ ॥

ध्यानं वाव चित्ताद्भूयः ।	ध्यान ही चित्तसे बढ़कर है ।
ध्यानं नाम शास्त्रोक्तदेवताद्या-	देवता आदि शास्त्रोक्त आलम्बनमें
लम्बनेष्वचलो भिन्नजातीयैरनन्त-	विजातीय वृत्तियोंसे अविच्छिन्न
रितः प्रत्ययसन्तानः, एकाग्रतेति	एक ही वृत्तिके प्रवाहका नाम
	‘ध्यान’ है, जिसे ‘एकाग्रता’ ऐसा

यमाहुः । दृश्यते च ध्यानस्य
साहाय्यं फलतः, कथम् ? यथा
योगी ध्यायन्निश्चलो भवति ध्यान-
फललाभे । एवं ध्यायतीव निश्चला
दृश्यते पृथिवी ध्यायतीवान्तरिक्ष-
मित्यादि समानमन्यत् । देवाश्च
मनुष्याश्च देवमनुष्या मनुष्या
एव वा देवसमा देवमनुष्याः
शमादिगुणसम्पन्ना मनुष्या देव-
स्वरूपं न जहतीत्यर्थः ।

यस्मादेवं विशिष्टं ध्यानं तस्माद्य
इह लोके मनुष्याणामेव धनै-
र्विद्यया गुणैर्वा महत्तां महत्त्वं
प्राप्नुवन्ति धनादिमहत्त्वहेतुं
लभन्त इत्यर्थः । ध्यानापादांश
इव ध्यानस्यापादनमापादो
ध्यानफललाभ इत्येतत्, तस्यांशो-
ऽवयवः कला काचिद्ध्यानफल-
लाभकलावन्त इवैवेत्यर्थः; ते

भी कहते हैं । फलसे भी ध्यानका
साहाय्य देखा ही जाता है । किस
प्रकार ?—जिस प्रकार ध्यान
करता हुआ योगी ध्यानका फल
प्राप्त होनेपर निश्चल हो जाता है
इसी प्रकार पृथिवी ध्यान करती
हुई-सी निश्चल दिखलायी देती है ,
तथा अन्तरिक्ष ध्यान करता-सा
जान पड़ता है इत्यादि । शेष
अर्थ इसी प्रकार समझना चाहिये ।
देव और मनुष्य देवमनुष्य कहे गये
हैं अथवा देवतुल्य मनुष्य ही देव-
मनुष्य हैं । तात्पर्य यह है कि
शमादि गुणोंसे सम्पन्न पुरुष देव-
भावका कभी त्याग नहीं करते ।

क्योंकि इस प्रकार ध्यान विशिष्ट
है, इसलिये मनुष्योंमें भी जो लोग
इस लोकमें धन, विद्या अथवा
गुणोंके कारण महत्ता—महत्त्व
प्राप्त करते हैं अर्थात् महत्त्वके
हेतुभूत धनादि प्राप्त करते हैं वे
ध्यानापादांशके समान हैं । ध्यानके
आपादनका नाम है 'ध्यानापाद'
अर्थात् ध्यानके फलकी प्राप्ति उसके
एक अंश—अवयव यानी कलासे
युक्त होते हैं; तात्पर्य यह है कि वे
मानो ध्यानफलके आंशिक लाभसे

भवन्ति । निश्चला इव लक्ष्यन्ते
न क्षुद्रा इव ।

अथ ये पुनरल्पाः क्षुद्राः
किञ्चिदपि धनादिमहत्त्वैकदेश-
मप्राप्तास्ते पूर्वोक्तविपरीताः
कलहिनः कलहशीलाः पिशुनाः
परदोषोद्भासका उपवादिनः पर-
दोषं सामीप्ययुक्तमेव वदितुं
शीलं येषां त उपवादिनश्च
भवन्ति ।

अथ ये महत्त्वं प्राप्ता धनादि-
निमित्तं तेऽन्यान् प्रति प्रभवन्तीति
प्रभवो विद्याचार्यराजेश्वरादयो
ध्यानापादांशा इवेत्याद्युक्तार्थम् ।
अतो दृश्यते ध्यानस्य महत्त्वं
फलतोऽतो भूयश्चित्तादतस्तदुपा-
स्स्वेत्याद्युक्तार्थम् ॥ १ ॥

सम्पन्न होते हैं। तथा वे निश्चल-
से दिखलायी देते हैं—क्षुद्र पुरुषों-
के समान नहीं देखे जाते ।

और जो अल्प—क्षुद्र अर्थात्
धनादि महत्त्वके एक अंशको भी
प्राप्त नहीं हैं वे उपयुक्त
मनुष्योंसे विपरीत कलही—कलह
करनेवाले, पिशुन—दूसरोंके
दोषोंको प्रकट करनेवाले और
उपवादी—जिनका दूसरोंके दोषोंको
उनके समीप ही कहनेका स्वभाव
होता है—ऐसे होते हैं !

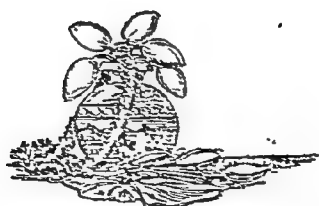
और जो लोग धनादिके कारण
महत्त्वको प्राप्त हुए हैं तथा जो
दूसरेके प्रति प्रभु होते हैं; प्रभु अर्थात्
विद्याचार्य या राजेश्वरादि होते हैं
वे मानो ध्यानफलका अंश प्राप्त
करनेवाले हैं—ऐसा [ध्यानापादांश-
का] अर्थ पहले कहा जा चुका
है। अतः फलसे भी ध्यानका
महत्त्व प्रतीत होता है। इसलिये
यह चित्तसे बढ़कर है; अतः तुम
इसीकी उपासना करो—ऐसा
पूर्ववत् अर्थ समझना चाहिये ॥ १ ॥

स यो ध्यानं ब्रह्मेत्युपास्ते यावद्ध्यानस्य गतं
तत्रास्य यथाकामचारो भवति यो ध्यानं ब्रह्मेत्युपास्ते-
ऽस्ति भगवो ध्यानाद्भूय इति ध्यानाद्वाव भूयोऽस्तीति
तन्मे भगवान्ब्रवीत्विति ॥ २ ॥

वह जो कि ध्यानकी 'यह ब्रह्म है' ऐसी उपासना करता है, जहाँ-
तक ध्यानकी गति है वहाँतक उसकी स्वेच्छागति हो जाती है, जो कि
ध्यानकी 'यह ब्रह्म है' ऐसी उपासना करता है । [नारद—] 'भगवन् !
क्या ध्यानसे भी उत्कृष्ट कुछ है ?' [सनत्कुमार—] 'ध्यानसे भी उत्कृष्ट
है ही ।' [नारद—] 'भगवान् मुझे उसीका उपदेश करें' ॥ २ ॥

—:❀:❀:—

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि सप्तमाध्याये
षष्ठखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥ ६ ॥



सप्तम खण्ड

— ❀ —

ध्यानसे विज्ञानकी महत्ता

विज्ञानं वाव ध्यानाद्भूयो विज्ञानेन वा ऋग्वेदं
विजानाति यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणं चतुर्थमितिहास-
पुराणं पञ्चमं वेदानां वेदं पित्र्यं राशिं दैवं निधिं
वाकोवाक्यमेकायनं देवविद्यां ब्रह्मविद्यां भूतविद्यां
क्षत्रविद्यां नक्षत्रविद्यां सर्पदेवजनविद्यां दिवं च पृथिवीं
च वायुं चाकाशं चापश्च तेजश्च देवाश्च मनुष्याश्च
पशूश्च वयांसि च तृणवनस्पतीञ्छ्वापदान्या-
कीटपतङ्गपिपीलिकं धर्मं चाधर्मं च सत्यं चानृतं च
साधु चासाधु च हृदयज्ञं चाहृदयज्ञं चान्नं च रसं
चेभं च लोकमसुं च विज्ञानेनैव विजानाति विज्ञान-
मुपास्वेति ॥ १ ॥

विज्ञान ही ध्यानसे श्रेष्ठ है। विज्ञानसे ही पुरुष ऋग्वेद समभक्ता है; तथा विज्ञानसे ही वह यजुर्वेद, सामवेद, चौथे आथर्वण वेद, वेदोंमें पाँचवें वेद इतिहास-पुराण, व्याकरण, श्राद्धकल्प, गणित, उत्पातज्ञान, निधिज्ञान, तर्कशास्त्र, नीति, देवविद्या (निरुक्त), ब्रह्मविद्या, भूतविद्या, धनुर्वेद, ज्योतिष, गारुड और शिल्पविद्या, द्युलोक, पृथिवी, वायु, आकाश, जल, तेज, देव, मनुष्य, पशु, पक्षी, तृण, वनस्पति, श्वापद, कीट-पतंग, पिपीलिका-पर्यन्त सम्पूर्ण जीव, धर्म, अधर्म, सत्य, असत्य, साधु, असाधु, मनोज्ञ, अमनोज्ञ, अन्न, रस तथा इहलोक और परलोकको जानता है। तुम विज्ञानकी उपासना करो ॥ १ ॥

विज्ञानं वाव ध्यानाद्भूयः ।
 विज्ञानं शास्त्रार्थविषयं ज्ञानं तस्य
 ध्यानकारणत्वाद्ध्यानाद्भूय-
 स्त्वम् । कथं च तस्य भूयस्त्वमि-
 त्याह । विज्ञानेन वा ऋग्वेदं
 विजानात्ययमृग्वेद इति प्रमाण-
 तथा यस्यार्थज्ञानं ध्यानकारणम् ।
 तथा यजुर्वेदमित्यादि समानम् ।
 किञ्च पश्वादींश्च धर्माधर्मौ शास्त्र-
 सिद्धौ साध्वसाधुनी लोकतः
 स्मार्ते वादृष्टविषयं च सर्वं
 विज्ञानेनैव विजानातीत्यर्थः ।
 तस्माद्युक्तं ध्यानाद्विज्ञानस्य
 भूयस्त्वम् । अतो विज्ञानमु-
 पास्वेति ॥ १ ॥

विज्ञान ही ध्यानसे श्रेष्ठ है ।
 विज्ञान शास्त्रार्थविषयक ज्ञानको
 कहते हैं; ध्यानका कारण होनेके
 कारण ध्यानकी अपेक्षा उसकी
 श्रेष्ठता है । उसकी श्रेष्ठता किस
 प्रकार है ? यह बतलाते हैं—
 विज्ञानसे ही पुरुष ऋग्वेदको 'यह
 ऋग्वेद है' इस प्रकार प्रमाणरूपसे
 जानता है, जिसका अर्थज्ञान
 ध्यानका कारण है । तथा यजुर्वेद
 इत्यादि शेष अर्थ भी इसी प्रकार
 समझना चाहिये । यही नहीं, पशु
 आदिको, शास्त्रसिद्ध धर्म और अधर्म-
 को, लोकदृष्टिसे अथवा स्मृतियोंद्वारा
 निर्णीत शुभ और अशुभको एवं
 सम्पूर्ण अदृष्ट विषयको भी वह
 विज्ञानसे ही जानता है—ऐसा
 इसका तात्पर्य है । अतः ध्यानसे
 विज्ञानकी श्रेष्ठता ठीक ही है ।
 इसलिये तुम विज्ञानकी उपासना
 करो ॥ १ ॥

—: * :—

स यो विज्ञानं ब्रह्मेत्युपास्ते विज्ञानवतो वै स
 लोकाः । ज्ञानवतोऽभिसिध्यति यावद्विज्ञानस्य गतं
 तत्रास्य यथाकामचारो भवति यो विज्ञानं ब्रह्म त्युपास्ते-
 ऽस्ति भगवो विज्ञानाद्भूय इति विज्ञानाद्वाव भूयोऽ-
 स्तीति तन्मे भगवान्ब्रवीत्विति ॥ २ ॥

वह जो विज्ञानकी 'यह ब्रह्म है' ऐसी उपासना करता है उसे विज्ञानवान् एवं ज्ञानवान् लोकोंकी प्राप्ति होती है। जहाँतक विज्ञानकी गति है वहाँतक उसकी स्वेच्छागति हो जाती है जो कि विज्ञानकी 'यह ब्रह्म है' ऐसी उपासना करता है। [नारद—] 'भगवन् ! क्या विज्ञानसे भी श्रेष्ठ कुछ है ?' [सनत्कुमार—] 'विज्ञानसे श्रेष्ठ भी है ही ।' [नारद —] 'भगवान् मुझे वही बतलावें' ॥ २ ॥

श्रृणूपासनफलं विज्ञानवतो
विज्ञानं येषु लोकेषु तान्विज्ञान-
वतो लोकाञ्ज्ञानवतश्चाभिसिध्य-
त्यभिप्राप्नोति। विज्ञानं शास्त्रा-
र्थविषयं ज्ञानमन्यविषयं नैपुण्यं
तद्वद्भिर्युक्ताँल्लोकान् प्राप्नोती-
त्यर्थः। यावद्विज्ञानस्येत्यादि
पूर्ववत् ॥ २ ॥

इस उपासनाका फल श्रवण
करो—विज्ञानवान् अर्थात् जिन
लोकोंमें विज्ञान है उन्हें तथा
ज्ञानवान् लोकोंको अभिसिद्ध—
प्राप्त कर लेता है। विज्ञान
शास्त्रार्थविषयक तथा अन्य विषय-
सम्बन्धी निपुणताका नाम है,
उनसे सम्पन्न पुरुषोंसे युक्त लोकोंको
प्राप्त कर लेता है—ऐसा इसका
तात्पर्य है। 'यावद्विज्ञानस्य गतम्'
इत्यादि शेष वाक्यका अर्थ पूर्ववत्
है ॥ २ ॥

—:०:—

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि सप्तमाध्याये
सप्तमखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥ ७ ॥



अष्टम खण्ड

—:०:—

विज्ञानसे बलकी श्रेष्ठता

बलं वाव विज्ञानाद्भूयोऽपि ह शतं विज्ञानवतामेको
बलवानाकम्पयते । स यदा बली भवत्यथोत्थाता भवत्यु-
त्तिष्ठन् परिचरिता भवति परिचरन्नुपसत्ता भवत्युपसी-
दन् द्रष्टा भवति श्रोता भवति मन्ता भवति बोद्धा
भवति कर्ता भवति विज्ञाता भवति । बलेन वै पृथिवी
तिष्ठति बलेनान्तरिक्षं बलेन द्यौर्बलेन पर्वता बलेन
देवमनुष्या बलेन पशवश्च वयांसि च तृणवनस्पतयः
श्वापदान्याकीटपतङ्गपिपीलिकं बलेन लोकस्तिष्ठति
बलमुपास्वेति ॥ १ ॥

बल ही विज्ञानकी अपेक्षा उत्कृष्ट है । सौ विज्ञानवानोंको भी एक
बलवान् हिला देता है । जिस समय यह पुरुष बलवान् होता है तभी
उठनेवाला भी होता है, उठकर [अर्थात् उठनेवाला होनेपर] ही
परिचर्या करनेवाला होता है तथा परिचर्या करनेवाला होनेपर ही
उपसदन (समीप गमन) करनेवाला होता है; और उपसदन करनेपर
ही दर्शन करनेवाला होता है, श्रवण करनेवाला होता है, मनन करने-
वाला होता है, बोधवान् होता है, कर्ता होता है एवं विज्ञाता होता है ।
बलसे ही पृथिवी स्थित है; बलसे ही अन्तरिक्ष, बलसे ही द्युलोक, बलसे
ही पर्वत, बलसे ही देवता और मनुष्य, बलसे ही पशु, पक्षी, तृण,
वनस्पति, श्वापद और कीट-पतंग एवं पिपीलिकापर्यन्त समस्त प्राणी
स्थित हैं तथा बलसे ही लोक स्थित है । तुम बलकी उपासना करो ॥१॥

बलं वाव विज्ञानाद्भूयः ।
 बलमित्यन्नोपयोगजनितं मनसो
 विज्ञेये प्रतिभानसामर्थ्यम् ।
 अनशनात् “ऋगादीनि न वै मा
 प्रतिभान्ति भोः” (छा० उ०
 ६।७।२) इति श्रुतेः । शरीरे-
 ऽपि तदेवोत्थानादि सामर्थ्यं
 यस्माद्विज्ञानवतां शतमप्येकः
 प्राणी बलवानाकम्पयते यथा
 हस्ती मत्तो मनुष्याणां शतं समु-
 दितमपि ।

बल ही विज्ञानसे उत्कृष्ट है ।
 अन्नके उपयोगसे प्राप्त हुई मनकी
 विज्ञेय पदार्थके प्रतिभानकी शक्तिका
 नाम ‘बल’ है; क्योंकि अनशन करनेके
 कारण “भगवन् ! मुझे ऋगादिका
 प्रतिभान नहीं होता” ऐसी [छठे
 अध्यायमें श्वेतकेतुका वाक्यरूप]
 श्रुति है । शरीरमें भी वह बल
 ही उठने आदिका सामर्थ्य है,
 क्योंकि सौ विज्ञानवानोंको भी एक
 ही बलवान् प्राणी इस प्रकार
 कम्पायमान कर देता है जैसे
 एकत्रित हुए सौ मनुष्योंको एक
 मत्त हाथी ।

यस्मादेवमन्नाद्युपयोगनिमित्तं
 बलं तस्मात्स पुरुषो यदा बली
 बलेन तद्वान्भवत्यथोत्थातोत्था-
 नस्य कर्तोत्तिष्ठंश्च गुरुणामाचा-
 र्यस्य च परिचरिता परिचरणस्य
 शुश्रूषायाः कर्ता भवति परिचर-
 न्नुपसत्ता तेषां समीपगोऽन्तरङ्गः
 प्रियो भवतीत्यर्थः ।

क्योंकि अन्नादिके उपयोगके
 कारण होनेवाला बल ऐसा है
 इसलिये यह पुरुष जिस समय
 बली अर्थात् बलसे बलयुक्त होता
 है तो वह उत्थाता अर्थात् उत्थान
 करनेवाला होता है । उत्थान
 करनेवाला होकर वह गुरुजन और
 आचार्यका परिचारक—परिचर्या
 यानी शुश्रूषा करनेवाला होता है ।
 परिचर्या करनेपर उपसत्ति करने-
 वाला—उनके समीप पहुँचनेवाला—
 उनका अन्तरङ्ग अर्थात् प्रिय
 होता है ।

उपसीदंश्च सामीप्यं गच्छन्ने-
 काप्रतयाचार्यस्यान्यस्य चोप-
 देष्टुर्गुरोर्द्रष्टा भवति । ततस्तदु-
 क्तस्य श्रोता भवति । तत इदमे-
 भिरुक्तमेवमुपपद्यत इत्युपपत्तितो
 मन्ता भवति मन्वानश्च बोद्धा
 भवत्येवमेवेदमिति । तत एवं
 निश्चित्य तदुक्तार्थस्य कर्तानु-
 ष्ठाता भवति विज्ञातानुष्ठान-
 फलस्यानुभविता भवतीत्यर्थः ।
 किञ्च बलस्य माहात्म्यं बलेन
 वै पृथिवी तिष्ठतीत्याद्यु-
 ज्वर्थम् ॥ १ ॥

उपसन्न होने अर्थात् समीप जाने-
 पर वह एकाग्रभावसे आचार्य अथवा
 किसी अन्य उपदेश करनेवाले गुरुका
 दर्शन करनेवाला होता है । फिर
 वह उनके कथनको श्रवण करने-
 वाला होता है । तत्पश्चात् 'इनका
 यह कथन इस प्रकार उपपन्न है'
 इस प्रकार युक्तिपूर्वक मनन करने-
 वाला होता है । तथा मनन
 करनेपर 'यह बात ऐसी ही है'
 इस प्रकार उसे जाननेवाला होता
 है । फिर इस प्रकार निश्चय कर
 वह उनकी कही हुई बातका
 कर्ता—अनुष्ठान करनेवाला होता
 है, तथा विज्ञाता यानी अनुष्ठानके
 फलका अनुभव करनेवाला होता
 है—ऐसा इसका तात्पर्य है । इसके
 सिवा बलकी महिमा इस प्रकार
 है—बलसे पृथिवी स्थित है—
 इत्यादि शेष अर्थ सरल है ॥ १ ॥

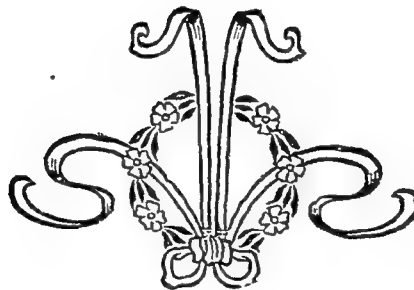


स यो बलं ब्रह्मेत्युपास्ते यावद्बलस्य गतं तत्रास्य
 यथाकासचारो भवति यो बलं ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवो
 बलाद्भूय इति बलाद्वाव भूयोऽस्तीति तन्मे श्वगवान्
 ब्रवीत्विति ॥ २ ॥

वह जो कि बलकी 'यह ब्रह्म है' ऐसी उपासना करता है, उसकी जहाँतक बलकी गति है, स्वेच्छागति हो जाती है, जो कि बलकी 'यह ब्रह्म है' इस प्रकार उपासना करता है । [नारद—] 'भगवन् ! क्या बलसे भी उत्कृष्ट कुछ है ?' [सनत्कुमार—] 'बलसे उत्कृष्ट भी है ही ।' [नारद—] 'भगवान् मेरे प्रति उसीका वर्णन करें' ॥ २ ॥

—ॐ:०:ॐ—

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि सप्तमाध्याये-
ऽष्टमखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥ ८ ॥



नवम खण्ड

—ॐ:ॐ—

बलकी अपेक्षा अन्नकी प्रधानता

अन्नं वाव बलाद्भूयस्तस्माद्यद्यपि दशरात्रीर्नाश्नी-
याद्यद्यु ह जीवेदथवाद्रष्टाश्रोतामन्ताबोद्धाकर्ताविज्ञाता
भवत्यथान्नस्यायै द्रष्टा भवति श्रोता भवति मन्ता
भवति बोद्धा भवति कर्ता भवति विज्ञाता भवत्यन्नमु-
पास्वेति ॥ १ ॥

अन्न ही बलसे उत्कृष्ट है। इसीसे यदि दश दिन भोजन न करे और
जीवित भी रह जाय तो भी वह अद्रष्टा, अश्रोता, अमन्ता, अबोद्धा, अकर्ता
और अविज्ञाता हो ही जाता है। फिर अन्नकी प्राप्ति होनेपर ही वह द्रष्टा
होता है, श्रोता होता है, मनन करनेवाला होता है, बोद्धा होता है
कर्ता होता है और विज्ञाता होता है। तुम अन्नकी उपासना करो ॥१॥

अन्नं वाव बलाद्भूयः; बलहे-

तुत्वात्। कथमन्नस्य बलहेतुत्वम्?

इत्युच्यते—यस्माद्बलकारणमन्नं

तस्माद्यद्यपि कश्चिद्दशरात्रीर्ना-

श्नीयात्सोऽन्नोपयोगनिमित्तस्य

बलस्य हान्या म्रियते न चेन्मि-

अन्न ही बलसे उत्कृष्ट है,
क्योंकि यह बलका कारण है।

अन्न बलका कारण किस प्रकार
है? यह बतलाते हैं—क्योंकि

अन्न बलका कारण है इसलिये यदि
कोई पुरुष दश राततक भोजन न

करे तो वह अन्नके उपयोगसे
होनेवाले बलके क्षीण हो जानेके

कारण मर जाता है; और यदि न

यते यद्यु ह जीवेत् । दृश्यन्ते हि
 सासमप्यनश्नन्तो जीवन्तोऽथवा
 स जीवन्नप्यद्रष्टा भवति गुरोरपि
 तत एवाश्रोतेत्यादि पूर्वविपरीतं
 सर्वं भवति ।

अथ यदा बहून्यहान्यनश्नितो
 दर्शनादिक्रियास्वसमर्थः सन्नन्न-
 स्यायी । आगमनमायोऽन्नस्य
 प्राप्तिरित्यर्थः सा यस्य विद्यते
 सोऽन्नस्यायी । 'आयै' इत्येतद्वर्ण-
 व्यत्ययेन । अथान्नस्याया
 इत्यपि पाठ एवमेवार्थः । द्रष्टे-
 त्यादिकार्यश्रवणात् । दृश्यते
 ह्यन्नोपयोगे दर्शनादिसामर्थ्यं न
 तदप्राप्तावतोऽन्नमुपास्वेति ॥ १ ॥

मरे—जीवित रह जाय, क्योंकि
 महीनेभर न खानेवाले भी जीवित
 रहते देखे जाते हैं, तो [ऐसी
 अवस्थामें] जीवित रहनेपर वह
 गुरुका भी दर्शन न करनेवाला हो
 जाता है तथा उनसे श्रवण करनेवाला
 भी नहीं रहता—इत्यादि सब
 बात पहलेमे विपरीत हो जाती है ।

फिर जब बहुत दिन भोजन न
 करनेपर दर्शनादि क्रियाओंमें
 असमर्थ रहनेपर अन्नका आयी—
 आगमनका नाम 'आय' अर्थात्
 'अन्नकी प्राप्ति' है, वह जिसे होती है
 उसे 'अन्नका आयी' कहते हैं ।
 श्रुतिमें जो 'आयै' ऐसा पाठ है वह
 'आयी' का वर्णव्यत्यय करके है
 तथा 'अन्नस्याया' ऐसा पाठ भी इसी
 अर्थमें समझना चाहिये, क्योंकि
 श्रुति द्रष्टा-श्रोता आदि कार्यका
 प्रतिपादन करती है । अन्नका
 उपयोग करनेपर ही दर्शनादिकी
 शक्ति देखी जाती है—उसकी
 अप्राप्ति होनेपर नहीं । अतः तुम
 अन्नकी उपासना करो ॥ १ ॥

स योऽन्नं ब्रह्मेत्युपास्तेऽन्नवतो वै स लोकान्पान-
वतोऽभिसिध्यति यावदन्नस्य गतं तत्रास्य यथाकामचारो
भवति योऽन्नं ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवोऽन्नाद्भूय
इत्यन्नाद्वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान्ब्रवीत्विति ॥ २ ॥

वह जो कि अन्नकी 'यह ब्रह्म है' ऐसी उपासना करता है उसे
अन्नवान् और पानवान् लोकोंकी प्राप्ति होती है । जहाँतक अन्नकी गति
है वहाँतक उसकी स्वेच्छागति हो जाती है, जो कि अन्नकी 'यह ब्रह्म
है' ऐसी उपासना करता है । [नारद—] 'भगवन् ! क्या अन्नसे बढ़कर
भी कुछ है ?' [सनत्कुमार—] 'अन्नसे बढ़कर भी है ही ।' [नारद—]
'भगवान् मुझे उसीका उपदेश करें' ॥ २ ॥

फलं चान्नवतः प्रभूतान्नान्वै
स लोकान्पानवतः प्रभूतोदकां-
श्चान्नपानयोर्नित्यसम्बन्धाल्लोका-
नभिसिध्यति । समानमन्यत्
॥ २ ॥

(उसे प्राप्त होनेवाला) फल—
वह अन्नवान्—अधिक अन्नवाले
और पानवान्—बहुत जलवाले
लोकोंको, क्योंकि अन्न और जलका
नित्य सम्बन्ध है, प्राप्त होता है ।
शेष पूर्ववत् है ॥ २ ॥

—❀:❀—

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि सप्तमाध्याये
नवमखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥ ६ ॥



दशम खण्ड

—::०::—

इ प्रकी अपेक्षा जलका महत्त्व

आपो वावान्नाद्भूयस्यस्तस्माद्यदा सुवृष्टिर्न
भवति व्याधीयन्ते प्राणा अन्नं कनीयो भविष्यतीत्यथ
यदा सुवृष्टिर्भवत्यानन्दिनः प्राणा भवन्त्यन्नं बहु
भविष्यतीत्याप एवेमा मूर्ता येयं पृथिवी यदन्तरिक्षं
यद्दुर्गैर्यत्पर्वता यद्देवमनुष्या यत्पशवश्च वयांसि च
तृणवनस्पतयः श्वापदान्याकीटपतङ्गपिपीलिकमाप
एवेमा मूर्ता अप उपास्वेति ॥ १ ॥

जल ही अन्नकी अपेक्षा उत्कृष्ट है । इसीसे जब सुवृष्टि नहीं होती तो प्राण [इसलिये] दुखी हो जाते हैं कि अन्न थोड़ा होगा । और जब सुवृष्टि होती है तो यह सोचकर कि खूब अन्न होगा प्राण प्रसन्न हो जाते हैं । यह जो पृथिवी है मूर्तिमान् जल ही है तथा जो अन्तरिक्ष, जो द्युलोक, जो पर्वत, जो देव-मनुष्य, जो पशु और पक्षी तथा जो तृण, वनस्पति, श्वापद और कीट-पतंग-पिपीलिकापर्यन्त प्राणी हैं वे भी मूर्तिमान् जल ही हैं । अतः तुम जलकी उपासना करो ॥ १ ॥

आपो वावान्नाद्भूयस्योज्ज्वल-
कारणत्वात् । यस्मादेवं तस्माद्यदा
यस्मिन्काले सुवृष्टिः सस्यहिता
शोभना वृष्टिर्न भवति तदा

अन्नका कारण होनेसे जल ही
अन्नकी अपेक्षा उत्कृष्ट है । क्योंकि
ऐसा है, इसीलिये जिस समय
सुवृष्टि—प्रन्नके लिये हितावह
सुन्दर वृष्टि नहीं होती उस समय

व्याधीयन्ते प्राणा दुःखिनो भवन्ति । किन्निमित्तम् ? इत्याह—
अन्नमस्मिन् संवत्सरे नः कनीयो-
ऽल्पतरं भविष्यतीति ।

अथ पुनर्यदा सुवृष्टिर्भवति
तदानन्दिनः सुखिनो हृष्टाः
प्राणाः प्राणिनो भवन्त्यन्नं बहु
प्रभूतं भविष्यतीति । अप्सम्भव-
त्वान्मूर्तस्यान्नस्याप एवेमा
मूर्ता मूर्तभेदाकारपरिणता इति
मूर्ता येयं पृथिवी यदन्तरिक्ष-
मित्यादि, आप एवेमा मूर्ता
अतोऽप उपास्वेति ॥ १ ॥

प्राण व्यथित—दुःखी होते हैं ।
किसलिये दुःखी होते हैं ? यह श्रुति
बतलाती है—इस वर्ष हमारे लिये
थोड़ा अन्न होगा—इसलिये ।

और फिर जिस समय सुवृष्टि
होती है उस समय प्राण अर्थात्
प्राणी सुखी—हर्षित होते हैं कि
[इस बार] बहुत-सा यानी खूब
अन्न होगा । क्योंकि मूर्त अन्न
जलसे उत्पन्न हुआ है इसलिये
यह मूर्त अर्थात् मूर्तिमान् भेदके
आकारमें परिणत हो जानेके कारण
जो मूर्तिमती है वह यह पृथिवी
और अन्तरिक्ष इत्यादि मूर्तिमान्
जल ही है । अतः तुम जलकी
उपासना करो ॥ १ ॥

—:०:—

स योऽपो ब्रह्मैत्युपास्त आप्नोति सर्वान्कामाः
स्तृप्तिमान् भवति यावदपां गतं तत्रास्य यथाकामचारो
भवति योऽपो ब्रह्मैत्युपास्तेऽस्ति भगवोऽद्भ्यो भूय इत्य-
द्भ्यो वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान् ब्रवीत्विति ॥ २ ॥

वह जो कि जलकी 'यह ब्रह्म है' ऐसी उपासना करता है, सम्पूर्ण
कामनाओंको प्राप्त कर लेता है और तृप्तिमान् होता है । जहाँतक
जलकी गति है वहाँतक उसकी स्वेच्छागति हो जाती है, जो कि जलकी

‘यह ब्रह्म है’ ऐसी उपासना करता है । [नारद—] ‘भगवन् ! क्या जलसे भी श्रेष्ठ कुछ है ?’ [सनत्कुमार—] ‘जलसे श्रेष्ठ भी है ही ।’ [नारद—] ‘भगवान् मुझे उसीका उपदेश करें ॥ २ ॥

फलं स योऽप्यो ब्रह्मेत्युपास्त । [इस उपासनाका] फल—वह जो कि ‘जल ब्रह्म है’ ऐसी उपासना करता है सम्पूर्ण कामनाओंको—काम्य वस्तुओंको अर्थात् मूर्तिमान् विषयोंको प्राप्त कर लेता है । तथा तृप्ति भी जलजनित होनेके कारण जलकी उपासना करनेसे वह तृप्तिमान् मांश्च भवति । समानमन्यत् ॥ २ ॥ होता है । शेष सब पूर्ववत् है ॥ २ ॥

—:०:—

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि सप्तमाध्याये
दशमखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥ १० ॥



एकादश खण्ड

—❀—

जलकी अपेक्षा तेजकी प्रधानता

तेजो वावाद्भ्यो भूयस्तद्वा एतद्वायुमागृह्याकाश-
मभितपति तदाहुर्निशोचति नितपति वर्षिष्यति वा
इति तेज एव तत्पूर्वं दर्शयित्वाथापः सृजते तदेतदूर्ध्वा-
भिश्च तिरश्चीभिश्च विद्युदुभिराह्लादाश्चरन्ति तस्मा-
दाहुर्विद्युद्योतते स्तनयति वर्षिष्यति वा इति तेज एव
तत्पूर्वं दर्शयित्वाथापः सृजते तेज उपास्वेति ॥ १ ॥

तेज ही जलकी अपेक्षा उत्कृष्टतर है। वह यह तेज जिस समय वायुको निश्चल कर आकाशको सब ओरसे तप्त करता है उस समय लोग कहते हैं—‘गर्मी हो रही है, बड़ा ताप है, वर्षा होगी।’ इस प्रकार तेज ही पहले अपनेको उद्भुत हुआ दिखलाकर फिर जलकी उत्पत्ति करता है। वह यह तेज ही वर्षाका हेतु है। जब ऊर्ध्वगामी और तिर्यग्गामी विद्युत्के सहित गड़गड़ाहटके शब्द फैल जाते हैं, तब उससे प्रभावित होकर लोग कहते हैं—‘विजली चमकती है, बादल गर्जता है, वर्षा होगी।’ इस प्रकार तेज ही पहले अपनेको प्रदर्शित कर फिर जलको उत्पन्न करता है। अतः तेजकी उपासना करो ॥ १ ॥

तेजो वावाद्भ्यो भूयः, तेज-
सोऽङ्कारणत्वात् । कथमङ्कार-
णत्वम् ? इत्याह—यस्मादव्योनि-
स्तेजस्तस्मात्तद्वा एतत्तेजो वायुमा-

तेज ही जलकी अपेक्षा उत्कृष्टतर है, क्योंकि तेज जलका कारण है। वह जलका कारण किस प्रकार है? यह बतलाते हैं—क्योंकि तेज जलका कारण है इसलिये वह यह

गृह्यावष्टस्य स्वात्मना निश्चली-
कृत्य वायुमाकाशमभितपत्या-
काशमभिव्याप्तवत्तपति यदा
तदाहुलौकिका निशोचति
सन्तपति सामान्येन जगन्नितपति
देहानतो वर्षिष्यति वा इति ।
प्रसिद्धं हि लोके कारणमभ्युद्यतं
दृष्टवतः कार्यं भविष्यतीति
विज्ञानम् । तेज एव
तत्पूर्वमात्मानमुद्भूतं दर्शयित्वा-
थानन्तरमपःसृजतेऽतोऽऽसृष्टत्वा-
द्भूयोऽद्भ्यस्तेजः ।

किञ्चान्यत्तदेतत्तेज एव स्तन-
यित्पुरुषेण वर्षहेतुर्भवति । कथम् ?
ऊर्ध्वाभिश्चोर्ध्वगामिर्विद्युद्भिस्ति-
रश्नीभिश्च तिर्यग्गताभिश्च सहा-
हादाः स्तनयनशब्दाश्चरन्ति ।
तस्मात्तद्दर्शनादाहुलौकिका
विद्योतते स्तनयति वर्षिष्यति वा

तेज जिस समय वायुको अंगृहीत—
आश्रित कर अर्थात् अपनेद्वारा
वायुको निश्चल कर आकाशको
अभितप्त करता है—आकाशको
सब ओरसे व्याप्त करके संतप्त
करता है उस समय लौकिक पुरुष
कहते हैं—‘जगत् सामान्यरूपसे
संतप्त हो रहा है, देहोंमें अत्यन्त
ताप है; अतः वर्षा होगी । कारण-
को अभ्युदित हुआ देखनेवालोंको
ऐसी बुद्धि होना कि ‘कार्य’ होगा’
लोकमें प्रसिद्ध ही है । [इस प्रकार]
तेज ही पहले अपनेको उद्भूत हुआ
दिखलाकर फिर उसके पश्चात् जल
उत्पन्न कर देता है । इस प्रकार
जलका स्रष्टा होनेके कारण जलकी
अपेक्षा तेज उत्कृष्टतर है ।

इसके सिवा [दूसरे प्रकारसे
भी] तेज ही बिजलीके रूपमें
वर्षाका हेतु होता है । किस
प्रकार—ऊर्ध्वा—ऊर्ध्वगामिनी और
तिरश्ची—तिर्यग्गामिनी बिजलियोंके
सहित ‘आह्लाद’—गड़गड़ाहट-
के शब्द फैल जाते हैं; अतः
ऐसा देखकर लौकिक पुरुष कहते
हैं—‘बिजली चमकती है, बादल
गर्जता है, वर्षा होगी’ इत्यादि

इत्याद्युक्तार्थम् । अतस्तेजः वाक्यका अर्थ ऊपर कहा जा चुका है । अतः तुम तेजकी उपासना उपास्वेति ॥ १ ॥ करो ॥ १ ॥

—:०:—

स यस्तेजो ब्रह्मे त्युपास्ते तेजस्वी वै स तेजस्वतो लोकान्भास्वतोऽपहततमस्कानभिसिध्यति यावत्तेजसो गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति । यस्तेजो ब्रह्मे-त्युपास्तेऽस्ति भगवस्तेजसो भूय इति तेजसो वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान्ब्रवीत्विति ॥ २ ॥

वह जो कि तेजकी 'यह ब्रह्म है' ऐसी उपासना करता है वह तेजस्वी होकर तेजःसम्पन्न, प्रकाशमान और तमोहीन लोकोंको प्राप्त करता है । जहाँतक तेजकी गति है वहाँतक उसकी स्वेच्छागति हो जाती है, जो कि तेजकी 'यह ब्रह्म है' ऐसी उपासना करता है । [नारद—] 'भगवन् ! क्या तेजसे भी बढ़कर कुछ है ?' [सनत्कुमार—] 'तेजसे बढ़कर भी है ही ।' [नारद—] 'भगवान् मुझे उसीका उपदेश करें' ॥ २ ॥

तस्य तेजस उपासनफलं तेजस्वी वै भवति । तेजस्वत एव च लोकान्भास्वतः प्रकाशवतोऽपहततमस्कान्वाद्याध्यात्मिका-ज्ञानाद्यपनीततमस्कानभिसि-ध्यति । ऋज्वर्थमन्यत् ॥ २ ॥

उस तेजकी उपासनाका फल— वह निश्चय तेजस्वी हो जाता है तथा जो तेजःसम्पन्न ही लोक हैं उन भास्वान्—प्रकाशवान् और अपहततमस्क—बाह्य — [रात्रि आदि] और आध्यात्मिक—अज्ञानादि ऐसे अन्धकारोंसे रहित लोकोंको प्राप्त कर लेता है । शेष सबका अर्थ सरल है ॥ २ ॥

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि सप्तमाध्याये
एकादशखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥ ११ ॥

—:~:—

द्वादश खण्ड

—*o*—

तेजसे आकाशकी प्रचानता

आकाशो वाव तेजसो भूयानाकाशे वै सूर्याचन्द्र-
मसावुभौ विद्युन्नक्षत्राण्यग्निराकाशेनाह्वयत्याकाशेन
शृणोत्याकाशेन प्रतिशृणोत्याकाशे रमत आकाशे न
रमत आकाशे जायत आकाशमभिजायत आकाशमुपा-
स्स्वेति ॥ १ ॥

आकाश ही तेजसे बढ़कर है। आकाशमें ही सूर्य, चन्द्र ये दोनों
तथा विद्युत्, नक्षत्र और अग्नि स्थित हैं। आकाशके द्वारा ही एक-
दूसरेको पुकारते हैं, आकाशसे ही सुनते हैं, आकाशसे ही प्रतिश्रवण
करते हैं, आकाशमें ही रमण करते हैं, आकाशमें ही रमण नहीं करते,
आकाशमें ही [सब पदार्थ] उत्पन्न होते हैं और आकाशकी ओर ही
[सब जीव एवं अङ्कुरादि] बढ़ते हैं। तुम आकाशकी उपासना करो ॥१॥

आकाशो वाव तेजसो भूयान् ।
वायुसहितस्य तेजसः कार-
णत्वाद्वचोम्नो वायुमागृह्येति
तेजसा सहोक्तो वायुरिति पृथ-
गिह नोक्तस्तेजसः । कारणं हि
लोके कार्याद्भिष्यो दृष्टम् । यथा
घटादिभ्यो मृत्तथाकाशो वायु-

आकाश ही तेजसे बढ़कर है,
क्योंकि आकाश वायुसहित तेजका
कारण है 'वायुमागृह्य' ऐसा कह-
कर वायुका तेजके साथ वर्णन किया
जा चुका है, इसलिये यहाँ तेजसे
अलग उसका पृथक् उल्लेख नहीं
किया गया। लोकमें कार्यकी अपेक्षा
कारण ही उत्कृष्ट देखा गया है,
जिस प्रकार कि घटादिकी अपेक्षा
मृत्तिका। इसी प्रकार आकाश वायु-

सहितस्य तेजसः कारणमिति
ततो भूयान् । कथम् ? आकाशे
वै सूर्याचन्द्रमसाबुधौ तेजोरूपौ
विद्युन्मन्त्राण्यग्निश्च तेजोरूपा-
ण्याकाशेऽन्तः । यच्च यस्यान्त-
र्बतिं तदल्पं भूय इतरत् ।

किञ्चाकाशेनाह्वयति चान्य-
मन्य आहूतश्चेतर आकाशेन
शृणोत्यन्योक्तं च शब्दमन्यः
प्रतिशृणोत्याकाशे रमते क्रीडत्य-
न्योन्यं सर्वस्तथा न रमते
चाकाशे बध्वादिवियोग
आकाशे जायते न मूर्ते नावष्टब्धे ।
तथाकाशमभिलक्ष्याङ्कुरादि
जायते न प्रतिलोमम् । अत
आकाशमुपास्व ॥ १ ॥

सहित तेजका कारण है, इसलिये
उससे बड़ा है । किस प्रकार बड़ा
है—आकाशमें ही तेजःस्वरूप सूर्य
और चन्द्रमा—ये दोनों हैं तथा
आकाशके भीतर ही तेजोमय विद्युत्,
नक्षत्र और अग्नि हैं । जो जिसके
भीतर होता है वह छोटा होता है
और दूसरा उससे बड़ा होता है ।

इसके सिवा आकाशसे ही एक
व्यक्ति दूसरेको पुकारता है; किसीके
द्वारा पुकारे जानेपर आकाशसे
ही दूसरा पुरुष श्रवण करता है
तथा दूसरेके कहे हुए शब्दको
आकाशके द्वारा ही अन्य पुरुष
श्रवण करता है । सब लोग आकाशमें
ही एक दूसरेके साथ रमण—
क्रीडा करते हैं और स्त्री^१ आदिका
वियोग हो जानेपर आकाशमें ही
(खेदका अनुभव करते हुए) रमण नहीं
करते । आकाशमें ही जीव उत्पन्न
होता है, मूर्त पदार्थमें या अवर्द्ध
स्थानमें नहीं तथा आकाशको लक्ष्य
करके ही अङ्कुरादि उत्पन्न होते हैं,
विपरीत दशामें नहीं । इसलिये तुम
आकाशकी उपासना करो ॥ १ ॥

१. 'स्त्री आदि' शब्दसे यहाँ सम्पूर्ण भोग्य वस्तुएँ उपलक्षित हैं । तात्पर्य
यह है कि भोग्य पदार्थके प्राप्त होनेपर जो आनन्द होता है उसका भोग
आकाशमें ही होता है और उसका वियोग होनेपर जो खेद होता है उसकी
अनुभूति भी आकाशमें ही होती है ।

स य आकाशं ब्रह्मेत्युपास्त आकाशवतो वै स
 लोकान्प्रकाशवतोऽसम्बाधानुरुगायवतोऽभिसिध्यति
 यावदाकाशस्य गतं तत्रास्य यथाकाशचरो भवति य
 आकाशं ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगव आकाशाद्भूय
 इत्याकाशाद्वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान्ब्रवी-
 त्विति ॥ २ ॥

वह जो कि आकाशकी 'यह ब्रह्म है' ऐसी उपासना करता है
 वह आकाशवान्, प्रकाशवान्, पीडारहित और विस्तारवाले लोकोंको
 प्राप्त करता है । जहाँतक आकाशकी गति है वहाँतक उसकी स्वेच्छागति
 हो जाती है, जो कि आकाशकी 'यह ब्रह्म है' ऐसी उपासना करता
 है । [नारद—] 'भगवन् ! क्या आकाशसे बढ़कर भी कुछ है ?'
 [सनत्कुमार—] 'आकाशसे बढ़कर भी है ही ।' [नारद—] 'भगवान्
 मुझे उसीका उपदेश करें' ॥ २ ॥

फलं शृण्व आकाशवतो वै वि-
 स्तारयुक्तान् स विद्वाँल्लोकान्
 प्रकाशवतः प्रकाशाकाशयोर्नित्य-
 सम्बन्धात्प्रकाशवतश्च लोकान्
 सम्बाधान् सम्बाधनं सम्बाधः
 सम्बाधोऽन्योन्यपीडा तद्रहिता-
 नसम्बाधानुरुगायवतो विस्तीर्ण-
 गतीन्विस्तीर्णप्रचाराँल्लोकानभि-
 सिध्यति । यावदाकाशस्ये-
 त्याद्युक्तार्थम् ॥ २ ॥

[इसका] फल सुनो—वह
 विद्वान् आकाशवान् यानी विस्तार-
 युक्त लोकोंको तथा 'प्रकाशवान्'—
 क्योंकि प्रकाश और आकाशका
 नित्य सम्बन्ध है अतः प्रकाशयुक्त
 लोकोंको, 'असम्बाध'—सम्बाधनका
 नाम सम्बाध और सम्बाध परस्पर-
 की पीड़ाको कहते हैं, उससे रहित
 असम्बाध और 'उरुगायवान्'—
 विस्तीर्ण गतिवाले अर्थात् विस्तृत
 प्रचारवाले लोकोंको प्राप्त होता है ।
 'यावदाकाशस्य' आदि वाक्यका अर्थ
 पहले कहे हुएके समान है ॥ २ ॥

—❀:—

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि सप्तमाध्याये द्वादशखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥ १२ ॥

—❀:❀:—

त्रयोदश खण्ड

—:०:—

आकाशकी अपेक्षा स्मरणका महत्त्व

स्मरो वावाकाशाद्भूयस्तस्माद्यद्यपि बहव
आसीरन्न स्मरन्तो नैव ते कश्चन शृणुयुर्न सन्वीरन्न
विजानीरन्यदा वाव ते स्मरेयुरथ शृणुयुरथ सन्वीरन्नथ
विजानीरन्स्मरेण वै पुत्रान्विजानाति स्मरेण पशून्स्मर-
मुपास्वेति ॥ १ ॥

स्मर (स्मरण) ही आकाशसे बढ़कर है । इसीसे यद्यपि बहुत-से लोग [एक स्थानपर] बैठे हों तो भी स्मरण न करनेपर वे न कुछ सुन सकते हैं, न मनन कर सकते हैं और न जान ही सकते हैं । जिस समय वे स्मरण करते हैं उसी समय सुन सकते हैं, उसी समय मनन कर सकते हैं और उसी समय जान सकते हैं । स्मरण करनेसे ही पुरुष पुत्रोंको पहचानता है और स्मरणसे ही पशुओंको । तुम स्मरकी उपासना करो ॥ १ ॥

<p>स्मरो वावाकाशाद्भूयः । स्मरणं स्मरोऽन्तःकरणधर्मः । स आका- शाद्भूयानिति द्रष्टव्यं लिङ्गव्य- त्ययेन । स्मर्तुः स्मरणे हि सत्या- काशादि सर्वमर्थवत्, स्मरणवतो</p>	<p>स्मर ही आकाशसे बढ़कर है । स्मरणका नाम 'स्मर' है, यह अन्तः- करणका धर्म है । वह आकाशकी अपेक्षा 'भूयान्' (बढ़कर) है— ऐसा लिङ्गपरिवर्तन करके समझना चाहिये । स्मरण करनेवालेकी स्मृति होनेपर ही आकाशादि सब सार्थक</p>
--	--

* मूल श्रुतिमें 'भूयः' यह नपुंसकलिङ्ग है । किंतु 'स्मर' शब्द पुल्लिङ्ग है, अतः उसका विशेषण होनेके कारण 'भूयः' के स्थानमें 'भूयान्' ऐसा पुल्लिङ्ग पाठ कर लेना चाहिये ।

भोग्यत्वात् । असति तु स्मरणे
सदप्यसदेव, सत्त्वकार्याभावात् ।
नापि सत्त्वं स्मृत्यभावे शक्यमा-
काशादीनामवगन्तुमित्यतः स्मर-
णस्याकाशाद्भूयस्त्वम् ।

दृश्यते हि लोके स्मरणस्य
भूयस्त्वं यस्मात्, तस्माद्यद्यपि सगु-
दिता बहव एकस्मिन्नासीन्नुप-
विशेयुः, ते तत्रासीना अन्यो-
न्यभासितमपि न स्मरन्तश्चेत्स्युः,
नैव ते कश्चन शब्दं शृणुयुः, तथा
न मन्वीरन्, मन्तव्यं चेत्स्मरे-
युस्तदा मन्वीरन्, स्मृत्यभावान्न
मन्वीरन्; तथा न विजानीरन् ।
यदा वाव ते स्मरेयुर्मन्तव्यं
विज्ञातव्यं श्रोतव्यं च, अथ
शृणुयुरथ मन्वीरन् न च विजा-
नीरन् । तथा स्मरेण वै—मम
पुत्रा एते—इति पुत्रान्वि-
जानाति, स्मरेण पशून् । अतो

होते हैं, क्योंकि वे स्मृतिमान् के ही
भोग्य हैं । स्मृतिके न होनेपर तो
विद्यमान वस्तु भी अविद्यमान ही
है, क्योंकि उसकी सत्ताके कार्यका
अभाव है । स्मृतिका अभाव होनेपर
आकाशादिकी सत्ताका ज्ञान भी नहीं
हो सकता । इसीसे स्मरणकी
आकाशसे उत्कृष्टता है ।

क्योंकि लोकमें स्मृतिकी उत्कृष्टता
देखी जाती है, इसलिये यद्यपि
बहुत-से लोग एक स्थानपर बैठे हों
वे एक-दूसरेसे भाषण करते हुए
भी, यदि स्मृतियुक्त नहीं होते तो
कोई शब्द श्रवण नहीं कर सकते ।
इसी प्रकार मनन भी नहीं कर
सकते । यदि वे मन्तव्य विषयका
स्मरण करते तो मनन कर सकते
थे, अतः स्मृतिका अभाव होनेके
कारण मनन भी नहीं कर सकते
और न जान ही सकते हैं । जिस
समय वे मन्तव्य, विज्ञातव्य अथवा
श्रोतव्य विषयका स्मरण करते हैं
तभी उसे सुन सकते, मनन कर
सकते और जान सकते हैं । इसी
प्रकार स्मरण करनेसे ही 'ये मेरे
पुत्र हैं' इस प्रकार पुत्रोंको जानते
हैं और स्मरणसे ही पशुओंको ।

भूयस्त्वात्स्मरमुपास्वेति ॥१॥ | अतः उत्कृष्ट होनेके कारण तुम
स्मरणकी उपासना करो ॥१॥

—**—

स यः स्मरं ब्रह्मेत्युपास्ते यावत्स्मरस्य गतं तत्रास्य
यथाकामचारो भवति यः स्मरं ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति
भगवः स्मराद्भूय इति स्मराद्वाव भूयोऽस्तीति तन्मे
भगवान्ब्रवीत्विति ॥ २ ॥

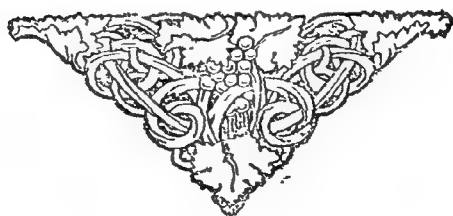
वह जो कि स्मरकी 'यह ब्रह्म है' इस प्रकार उपासना करता है,
उसकी जहाँतक स्मरकी गति है वहाँतक स्वेच्छागति हो जाती है, जो
कि स्मरकी 'यह ब्रह्म है' इस प्रकार उपासना करता है । [नारद—]
'भगवन् ! क्या स्मरसे भी श्रेष्ठ कुछ है ?' [सनत्कुमार—] 'स्मरसे भी
श्रेष्ठ है ही ।' [नारद—] 'भगवान् मेरे प्रति उसका वर्णन करें' ॥२॥

उक्तार्थमन्यत् ॥२॥

| शेष सबका अर्थ पूर्वोक्तके समान
है ॥२॥

—:~:—

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि सप्तमाध्याये
त्रयोदशखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥ १३ ॥



चतुर्दश खण्ड

—❀:❀—

स्मरणसे आशाकी महत्ता

आशा वाव स्मराद्भूयस्याशेद्धो वै स्मरो मन्त्रानधीते
कर्माणि कुरुते पुत्राश्च पशूश्चेच्छत इमं च
लोकममुं चेच्छत आशामुपास्वेति ॥ १ ॥

आशा ही स्मरणकी अपेक्षा उत्कृष्ट है। आशासे दीप्त हुआ स्मरण ही मन्त्रोंका पाठ करता है, कर्म करता है, पुत्र और पशुओंकी इच्छा करता है तथा इस लोक और परलोककी कामना करता है। तुम आशाकी उपासना करो ॥ १ ॥

आशा वाव स्मराद्भूयसी ।
आशाप्राप्तवस्त्वाकाङ्क्षा, आशा
तृष्णा काम इति यामाहुः पर्यायैः;
सा च स्मराद्भूयसी ।

आशा ही स्मरणसे बढ़कर है।
आशा—ग्रप्राप्त वस्तुकी इच्छाका
नाम आशा है, जिसका तृष्णा और
काम इन पर्याय शब्दोंसे भी निरूपण
किया जाता है। वह स्मरकी अपेक्षा
बढ़कर है।

कथम् ? आशया ह्यन्तःकरण-
स्थयास्मरति स्मर्तव्यम् । आशा-
विषयरूपं स्मरन्नसौ स्मरो भव-
त्यत आशेद्ध, आशयाभिवर्धितः
स्मरभूतः स्मरन्नृगादीन्मन्त्रान-

सो किस प्रकार ?—अन्तः-
करणमें स्थित हुई आशासे ही मनुष्य
स्मरणीय विषयका स्मरण करता है।
आशाके विषयके रूपका स्मरण
करनेसे यह स्मृतिको प्राप्त होता
है। अतः आशासे दीप्त—आशासे
वृद्धिको प्राप्त हुआ स्मृतिभूत वह
स्मरण करता हुआ ऋगादि मन्त्रोंका

धीतेऽधीत्य च तदर्थं ब्राह्मणेभ्यो
विधींश्च श्रुत्वा कर्माणि कुरुते
तत्फलाशयैव पुत्रांश्च पशूंश्च
कर्मफलभूतानिच्छतेऽभिवाञ्छ-
त्याशयैव तत्साधनान्यनुतिष्ठति ।
इमं च लोकमाशेद्ध एव स्मरं-
ल्लोकसंग्रहहेतुमिरिच्छते । अमुं च
लोकमाशेद्धः स्मरंस्तत्साधनानु-
ष्ठानेनेच्छतेऽत आशारशनावबद्धं
स्मराकाशादि नामपर्यन्तं जग-
च्चक्रीभूतं प्रतिप्राणि । अत
आशायाः स्मरादपि भूयस्त्व-
मित्यत आशामुपास्व ॥ १ ॥

अध्ययन करता है तथा उनका
अध्ययन कर और ब्राह्मणोंके मुखसे
उनका अर्थ एवं विधि श्रवण कर
उनके फलकी आशासे ही कर्म करता
है तथा कर्मके फलभूत पुत्र और
पशुओंकी इच्छा-कामना करता है
एवं आशासे ही उनके साधनोंका
अनुष्ठान करता है । आशासे समिद्ध
हुआ ही वह लोकसंग्रहरूप हेतुओंसे
इस लोकका स्मरण करता हुआ
इसकी इच्छा करता है तथा आशासे
समिद्ध हुआ ही वह परलोककी,
उसके साधनोंका अनुष्ठान करते हुए
इच्छा करता है । इस प्रकार
आशारूप रस्सीसे बंधा हुआ यह स्मर
एवं आकाशसे लेकर नामपर्यन्त जगत्
प्रत्येक प्राणीमें चक्रकी भाँति घूम रहा
है । इसलिये आशा स्मरकी अपेक्षा भी
उत्कृष्ट है; अतः तुम आशाकी
उपासना करो ॥ १ ॥

—**—

स य आशां ब्रह्मेत्युपास्त आशयास्य सर्वे कामाः
समृध्यन्त्यमोघा हास्याशिषो भवन्ति यावदाशाया गतं
तत्रास्य यथाकामचारो भवति य आशां ब्रह्मेत्यु-
पास्तेऽस्ति भगव आशाया भूय इत्याशाया वाव
भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान्ब्रवीत्विति ॥ २ ॥

वह जो कि आशाकी 'यह ब्रह्म है' इस प्रकार उपासना करता है उसकी सब कामनाएँ आशासे समृद्ध होती हैं। उसकी प्रार्थनाएँ सफल होती हैं। जहाँतक आशाकी गति है वहाँतक उसकी स्वेच्छागति हो जाती है, जो कि आशाकी 'यह ब्रह्म है' इस प्रकार उपासना करता है। [नारद—] 'भगवन् ! क्या आशासे बढ़कर भी कुछ है ?' [सनत्कुमार—] 'आशासे बढ़कर भी है ही।' [नारद—] 'भगवान् मुझे वह बतलावें' ॥ २ ॥

यस्त्वाशां ब्रह्मेत्युपास्ते शृणु
तस्य फलम् । आशया सदोपा-
सितयास्योपासकस्य सर्वे कामाः
समृध्यन्ति समृद्धिं गच्छन्ति ।
अमोघा हास्याशिषः प्रार्थनाः
सर्वा भवन्ति यत्प्रार्थितं सर्वं
तदवश्यं भवतीत्यर्थः । यावदा-
शया गतमित्यादि पूर्ववत् ॥ २ ॥

जो पुरुष आशाकी 'यह ब्रह्म है' इस प्रकार उपासना करता है उसका फल श्रवण करो। सर्वदा उपासना की हुई आशासे उसके उपासककी सब कामनाएँ समृद्ध अर्थात् उन्नतिको प्राप्त हो जाती हैं और उसकी सब आशा—प्रार्थनाएँ सफल होती हैं। तात्पर्य यह है कि जो कुछ उसका प्रार्थित होता है वह अवश्य सिद्ध होता है। 'यावदाशया गतम्' इत्यादि वाक्यका अर्थ पूर्ववत् है ॥ २ ॥

—: * :—

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि सप्तमाध्याये
चतुर्दशखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥ १४ ॥



पञ्चदश खण्ड

—:०:—

आशासे प्राणका प्राचान्य

नामोपक्रममाशान्तं कार्य-
कारणत्वेन निमित्तनैमित्तिकत्वेन
चोत्तरोत्तरभूयस्तयावस्थितं स्मृ-
तिनिमित्तसद्भावमाशाशरणा-
पाशैर्विपाशितं सर्वं सर्वतो विस-
मिव तन्तुभिर्यस्मिन्प्राणे समर्पि-
तम्, येन च सर्वतो व्यापिनान्त-
र्बहिर्गतेन सूत्रे मणिगणा इव
सूत्रेण ग्रथितं विधृतं च स
एषः—

नामसे लेकर आशापर्यन्त जो
कार्यकारण एवं निमित्त-नैमित्तिक
रूपसे उत्तरोत्तर बढ़कर स्थित है
तथा जिसका सद्भाव स्मृतिके निमित्त-
रूपसे सिद्ध होता है उस आशारूप
जालसे तन्तुसे कमलनालके समान
सब ओरसे जकड़ा हुआ यह सम्पूर्ण
जगत् जिस प्राणमें समर्पित है तथा
बाहर-भीतर व्याप्त हुए जिस सर्वगत
सूत्र (प्राण) के द्वारा सूत्रमें मणियों
(मनकों) के समान यह सब गूँथा
हुआ और विधृत है। वह यह—

प्राणो वा आशाया भूयान्यथा वा अरा नामौ
समर्पिता एवमस्मिन्प्राणे सर्वं समर्पितम् । प्राणः प्राणेन
याति प्राणः प्राणं ददाति प्राणाय ददाति । प्राणो ह
पिता प्राणो माता प्राणो भ्राता प्राणः स्वस्ता प्राण
आचार्यः प्राणो ब्राह्मणः ॥ १ ॥

प्राण ही आशासे बढ़कर है। जिस प्रकार रथचक्रकी नाभिमें
अरे समर्पित रहते हैं उसी प्रकार इस प्राणमें सारा जगत् समर्पित
है। प्राण प्राण (अपनी शक्ति) के द्वारा गमन करता है; प्राण प्राणको
देता है और प्राणके लिये ही देता है। प्राण ही पिता है; प्राण

माता है, प्राण भाई है, प्राण वहिन है, प्राण आचार्य है और प्राण ही ब्राह्मण है ॥ १ ॥

प्राणी वा आशाया भूयान् ।
 कथमस्य भूयस्त्वम् ? इत्याह दृष्टा-
 न्तेन समर्थयंस्तद्भूयस्त्वम्—यथा
 वै लोके रथचक्रस्यारा रथनाभौ
 समर्पिताः सम्प्रोताः सम्प्रवेशिता
 इत्येतत्; एवमस्मिँल्लिङ्गसङ्घात-
 रूपे प्राणे प्रज्ञात्मनि दैहिके मुख्ये-
 यस्मिन् परा देवता नामरूप-
 व्याकरणायादर्शादौ प्रतिबिम्ब-
 वज्जीवेनात्मनानुप्रविष्टा । यश्च
 महाराजस्येव सर्वाधिकारीश्वरस्य ।
 “कस्मिन्वहमुत्क्रान्त उत्क्रान्तो
 भविष्यामि कस्मिन्वा प्रतिष्ठिते
 प्रतिष्ठास्यामीति स प्राणमसृजत”
 (प्र० उ० ६ । ३) इति श्रुतेः ।
 यस्तु च्छायेवानुगत ईश्वरम्,
 “तद्यथा रथस्यारेषु नेमिरर्पितो

प्राण ही आशासे बढ़कर है ।
 इसकी उत्कृष्टता किस प्रकार है ?
 ऐसी जिज्ञासा होनेपर
 दृष्टान्तद्वारा उसकी उत्कृष्टताका
 समर्थन करते हुए [सनत्कुमारजी—]
 कहते हैं—लोकमें जिस प्रकार
 रथके पहियेके अरे रथकी नाभिमें
 समर्पित—सम्प्रोत अर्थात् सम्यक्
 प्रकारसे प्रवेशित रहते हैं उसी
 प्रकार लिङ्ग संघातरूप^१ इस प्राण
 यानी प्रज्ञात्मामें^२ अर्थात् दैहिक मुख्य
 प्राणमें, जिसमें कि परादेवताने
 नामरूपकी अभिव्यक्ति करनेके लिये
 दर्पणादिमें प्रतिबिम्बके समान जीव-
 रूपसे प्रवेश किया है, जो महाराजके
 सर्वाधिकारीके समान ईश्वरका
 सर्वाधिकारी है, जैसा कि “किसके
 उत्क्रमण करनेपर मैं उत्क्रमण
 करूँगा तथा किसके स्थित होनेपर
 स्थित होऊँगा—ऐसा ईक्षण करके
 उसने प्राणकी रचना की” इस
 श्रुतिसे प्रमाणित होता है तथा जो
 छायाके समान ईश्वरका अनुगामी

१. व्यष्टिलिङ्गदेहोंका समुदायरूप समष्टिसूत्रात्मा ।

२. उगधि प्राण और उगधिमान् आत्माकी एकता मानकर यह विशेषण दिया गया है ।

नाभावरा अर्पिता एवमेवैता

भूतमात्राः प्रज्ञामात्रास्वर्पिताः

प्रज्ञामात्राः प्राणोऽर्पिताः स एष

प्राण एव प्रज्ञात्मा" (कौ० उ०

३ । ८) इति कौपीतकिनाम् ।

अत एवमस्मिन्प्राणे सर्वं यथोक्तं

समर्पितम् ।

अतः स एष प्राणोऽपरतन्त्रः

प्राणेन स्वशक्त्यैव याति नान्यकृतं

गमनादिक्रियास्वस्य सामर्थ्य-

मित्यर्थः । सर्वं क्रियाकारकफल-

भेदजातं प्राण एव न प्राणाद्बहि-

र्भूतमस्तीति प्रकरणार्थः । प्राणः

प्राणं ददाति । यद्ददाति तत्स्वात्म-

भूतमेव । यस्मै ददाति तदपि

प्राणायैव । अतः पित्राद्याख्योऽपि

प्राण एव ॥ १ ॥

है, जैसा कि कौपीतकी ब्राह्मणो-

पनिषद्की श्रुति है कि "जिस प्रकार

रथके अरोंमें नेमि अर्पित है और

रथकी नाभिमें अरे अर्पित हैं इसी

प्रकार यह भूतमात्रा प्रज्ञामात्रामें

अर्पित हैं और प्रज्ञामात्रा प्राणमें

अर्पित है । वह यह प्राण ही

प्रज्ञात्मा है ।" इसीसे इस प्राणमें

ही उपयुक्त सब समर्पित हैं ।

अतः वह यह अपरतन्त्र प्राण

प्राणसे अर्थात् अपनी शक्तिसे ही

गमन करता है । तात्पर्य यह है

कि गमनादि क्रियाओंमें जो इसका

सामर्थ्य है वह किसी अन्यके कारण

नहीं है । सम्पूर्ण क्रिया, कारक

और फलरूप भेदसमुदाय प्राण ही

है, प्राणसे बाहर इनमें कोई नहीं

है—ऐसा इस प्रकरणका तात्पर्य

है । प्राण प्राण (शक्ति) प्रदान

करता है; वह जो कुछ देता है

उसका स्वात्मभूत ही है, जिसे देता

है वह दान भी प्राणके लिये ही

होता है । अतः पितृ आदि

नामवाला भी प्राण ही है ॥ १ ॥

कथं पित्रादिशब्दानां प्रसि-
द्धार्थोत्सर्गेण प्राणविषयत्वमिति
उच्यते । सति प्राणे पित्रादिषु
पित्रादिशब्दप्रयोगात्तदुत्क्रान्तौ
च प्रयोगाभावात् । कथं
तत् ? इत्याह—

‘पितृ’ आदि शब्दोंके प्रसिद्ध
अर्थका त्याग करके उनका प्राण-
विषयक होना कैसे सम्भव है ?
ऐसा प्रश्न होनेपर कहा जाता है—
क्योंकि प्राण रहनेपर ही पिता
आदिके लिये ‘पितृ’ आदि शब्दका
प्रयोग किया जाता है, उसके
उत्क्रमण करनेपर इस प्रकारका
प्रयोग भी नहीं होता । किस
प्रकार है ? यह बतलाते हैं—

स यदि पितरं वा मातरं वा भ्रातरं वा स्वसारं
वाचार्यं वा ब्राह्मणं वा किञ्चिद्भृशमिव प्रत्याह
धिक्त्वास्त्वित्येवैनमाहुः पितृहा वै त्वमसि मातृहा वै
त्वमसि भ्रातृहा वै त्वमसि स्वसृहा वै त्वमस्याचार्यहा
वै त्वमसि ब्राह्मणहा वै त्वमंसीति ॥ २ ॥

यदि कोई पुरुष अपने पिता, माता, भ्राता, भगिनी, आचार्य अथवा
ब्राह्मणके लिये कोई अनुचित बात कहता है तो [‘उसके समीपवर्ती लोग’]
उससे कहते हैं—‘तुझे धिक्कार है, तू निश्चय ही पिताका हनन करनेवाला
है, तू तो माताका वध करनेवाला है, तू तो भाईको मारनेवाला है, तू तो
बहिनकी हत्या करनेवाला है, तू तो आचार्यका घात करनेवाला है, तू
निश्चय ही ब्रह्मघाती ह’ ॥ २ ॥

स यः कश्चित्पित्रादीनामन्य-
तमं यदि तं भृशमिव तदन-
ुरूपमिव किञ्चिद्वचनं त्वङ्कारा-

जो कोई कि पिता आदिमेंसे
किसीके प्रति यदि कोई ‘भृशमिव’—
उनके अननुरूप कोई त्वंकारादि
(अरे-तू आदि) से युक्त वचन बोलता

दियुक्तं प्रत्याह तदैव पार्श्वस्था | है तो उसके समीपवर्ती विचारशील
 आहुविवेकिनो धिक्त्वास्तु | लोग उससे 'धिक्त्वास्तु'—तुझे
 धिगस्तु त्वामित्येवम् । पितृहा | निश्चय ही पितृहा—पिताका हनन
 वै त्वं पितुर्हन्तेत्यादि ॥ २ ॥ करनेवाला है' इत्यादि ॥ २ ॥

— ❀ —

अथ यद्यप्येनानुत्क्रान्तप्राणाञ्छूलेन समासं व्यति-
 षन्दहेन्नेवैनं ब्रूयुः पितृहासीति न मातृहासीति न
 भ्रातृहासीति न स्वसृहासीति नाचार्यहासीति न
 ब्राह्मणहासीति ॥ ३ ॥

किन्तु जिनके प्राण उत्क्रमण कर गये हैं उन पिता आदिको यदि वह शूलसे एकत्रित और छिन्न-भिन्न करके जला दे तो भी उससे 'तू पितृहा है' 'तू मातृहा है' 'तू भ्रातृहा है' 'तू वहिनकी हत्या करनेवाला है' 'तू आचार्यका घान करनेवाला है' अथवा 'तू ब्रह्मघाती है' ऐसा कुछ नहीं कहते ॥ ३ ॥

अथैनानेवोत्क्रान्तप्राणांस्त्य-
 क्तदेहानथ यद्यपि शूलेन समासं
 समस्य व्यतिषन्दहेद्व्यत्यस्य
 सन्दहेदेवमप्यतिक्रूरं कर्म समास-
 व्यासादिप्रकारेण दहनलक्षणं
 तदेहसम्बद्धमेव कुर्वाणं नैवैनं ब्रूयुः
 पितृहेत्यादि । तस्मादन्वयव्यतिरे-
 काभ्यामवगम्यत एतत्पित्राद्या-
 ख्योऽपि प्राण एवेति ॥ ३ ॥

किन्तु प्राण निकल जानेपर—
 देहका त्याग कर देनेपर इन्हींको
 यदि वह शूलसे समास—एकत्रित
 करके व्यतिषन्दहन करे अर्थात्
 छिन्न-भिन्न करके जलावे; उनके
 देहमे सम्बद्ध समास व्यासादि
 क्रमसे दहन करनाहूय ऐसा अत्यन्त
 क्रूर कर्म करनेपर भी उससे 'तू
 पितृहा है' इत्यादि नहीं कहते ।
 अतः अन्वय-व्यतिरेकसे यह ज्ञात
 होता है कि यह पिता आदि नाम-
 वाला भी प्राण ही है ॥ ३ ॥

तस्मात्—

अतः—

प्राणो ह्येवैतानि सर्वाणि भवति स वा एष एवं
पश्यन्नेवं मन्वान एवं विजानन्नतिवादी भवति तं चेद्-
ब्रूयुरतिवाद्यसीत्यतिवाद्यस्मीति ब्रूयान्नापहु वीत ॥ ४ ॥

प्राण ही ये सब [पिता आदि] हैं । वह जो इस प्रकार देखने-
वाला, इस प्रकार चिन्तन करनेवाला और इस प्रकार जाननेवाला है
अतिवादी होता है । उससे यदि कोई कहे कि 'तू अतिवादी है' तो उसे
यही कहना चाहिये कि 'हाँ, अतिवादी हूँ', उसे छिपाना नहीं चाहिये ॥४॥

प्राणो ह्येवैतानि पित्रादीनि
सर्वाणि भवति चलानि स्थिराणि
च । स वा एष प्राणविदेवं यथोक्त-
प्रकारेण पश्यन्फलतोऽनुभवन्नेवं
मन्वान उपपत्तिभिश्चिन्तयन्नेवं
विजानन्नुपपत्तिभिः संयोज्यैव-
मेवेति निश्चयं कुर्वन्नित्यर्थः ।
मननविज्ञानाभ्यां हि सम्भूतः
शास्त्रार्थो निश्चितो दृष्टो भवेत् ।
अत एव पश्यन्नतिवादी भवति
नामाद्याशान्तमतीत्य वदनशीलो
भवतीत्यर्थः ।

प्राण ही ये सब चर और अचर
पिता आदि हैं । वह यह प्राणवेत्ता
इस प्रकार उपर्युक्त रीतिसे देखता
हुआ अर्थात् फलतः अनुभव करता
हुआ^१, इस प्रकार मनन करता
हुआ अर्थात् युक्तियोंद्वारा चिन्तन
करता हुआ और इस प्रकार जानता
हुआ यानी उपपत्तियोंसे संयुक्त
करके 'यह ऐसा ही है' इस प्रकार
निश्चय करता हुआ, क्योंकि मनन
और विज्ञानके द्वारा निष्पन्न हुआ
शास्त्रका अर्थ निश्चित देखा जाता
है; अतः इस प्रकार देखता हुआ
वह अतिवादी होता है; तात्पर्य यह
है कि उसका नामसे लेकर आशा-
पर्यन्त सम्पूर्ण तत्त्वोंका अतिक्रमण
करके बोलनेका स्वभाव होता है ।

तं चेद्वैश्वस्युस्तं यद्येवमतिवादिनं
सर्वदा सर्वैः शब्दैर्नामाद्याशान्त-
मतीत्य वर्तमानं प्राणमेव वदन्त्येवं
पश्यन्तमतिवदनशीलमतिवादिनं
ब्रह्मादिस्तम्कपर्यन्तस्य हि जगतः
प्राण आत्माहमिति त्रुवाणं यदि
नृयुरतिवाद्यसीति । वादमतिवा-
द्यस्मीति त्रूयान्नापह्नुवीत ।
कस्माच्छ्रयसावपह्नुवीत यत्प्राणं
सर्वेश्वरमयमहमस्मीत्यात्मत्वेनो-
पगतः ॥ ४ ॥

उत्तरे यदि कहें, अर्थात् इस प्रकार
अतिवदन करनेवाले यानी जो ऐसा
देखता है कि सब लोग सर्वदा सन्मूर्ण
शब्दोंद्वारा नानते लेकर आद्यापर्यन्त
तत्त्वोंका अतिकल्प करके स्थित हुए
प्रापका हो वर्णन करते हैं उस अति-
वदनशील अतिवादीसे, जो 'मैं ब्रह्मासे
लेकर सान्दपर्यन्त सन्मूर्ण जगत्का
प्राप यानी आत्मा हूँ' ऐसा कहने-
वाला है, यदि कहें कि 'तू अतिवादी
है' तो उसे यही कहना चाहिये
कि 'हाँ, मैं अतिवादी हूँ' उसे छिगाना
नहीं चाहिये । जो सर्वेश्वर प्रापको
'यह मैं हूँ' इस प्रकार आत्मभावसे
प्राप्त हो गया है वह किस प्रकार
उस (अतिवादित्व) को छिगावेगा ?
[अर्थात् उसके लिये अपने
अतिवादित्वको छिगानेका कोई
प्रयोजन नहीं है] ॥ ४ ॥

—:ॐ:—

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि सतनाम्नाये
पञ्चदशखण्डभाष्यं सन्मूर्णम् ॥ १५ ॥



षोडश खण्ड

—❀—

सत्य ही जानने योग्य है

स एष नारदः सर्वातिशयं
प्राणं स्वमात्मानं सर्वात्मानं श्रुत्वा
नातः परमस्तीत्युपरराम । न
पूर्ववत्किमस्ति भगवः प्राणाद्भूय
इति पप्रच्छ यतः । तमेवं विकारा-
नृतब्रह्मविज्ञानेन परितुष्टमकृतार्थं
परमार्थसत्यातिवादिनामात्मानं
मन्यमानं योग्यं शिष्यं मिथ्या-
ग्रहविशेषाद्विप्रच्यावयन्नाह भगवा-
न्सनत्कुमारः । एष तु वा अतिव-
दति यमहं वक्ष्यामि न प्राणवि-
दतिवादी परमार्थतः । नासाद्यपेक्षं
तु तस्यातिवादित्वम् । यस्तु
भूमाख्यं सर्वातिक्रान्तं तत्त्वं
परमार्थसत्यं वेद सोऽतिवादीत्यत
आह—

वे नारदजी सबसे उत्कृष्ट अपने
आत्मा प्राणको ही सर्वात्मा सुनकर
यह समझकर कि इससे परे और
कुछ नहीं है, शान्त हो गये, क्योंकि
पूर्ववत् उन्होंने ऐसा ध्वन नहीं
किया कि 'भगवन् ! प्राणसे बढ़कर
क्या है ?' इस प्रकार विकाररूप
मिथ्या ब्रह्मके ज्ञानसे संतुष्ट हुए,
अकृतार्थ तथा अपनेको परमार्थ
सत्यातिवादी माननेवाले उस योग्य
शिष्यको उस मिथ्याग्रहविशेषसे
च्युत करते हुए, भगवान् सनत्कुमारने
कहा—'मैं जिसका आगे वर्णन
करूँगा वही अतिवदन करता है,
परमार्थतः प्राणवेत्ता अतिवादी नहीं
है । उसका अतिवादित्व तो नामादि-
की अपेक्षासे ही है । किंतु अतिवादी
तो वही है जो भूमासंज्ञक सर्वातीत
परमार्थसत्य तत्त्वको जानता है ।'
इसी आशयसे वे कहते हैं—

एष तु वा अतिवदति यः सत्येनातिवदति सोऽहं
भगवः सत्येनातिवदानीति सत्यं त्वेव विजिज्ञासितव्य-
मिति सत्यं भगवो विजिज्ञास इति ॥ १ ॥

[सनत्कुमार—] जो सत्य (परमार्थ सत्य आत्माके विज्ञान) के कारण अतिवदन करता है वही निश्चय अतिवदन करता है । [नारद—] भगवन् ! मैं तो परमार्थ सत्य विज्ञानके कारण ही अतिवदन करता हूँ । [सनत्कुमार—] सत्यकी ही तो विशेषरूपसे जिज्ञासा करनी चाहिये । [नारद—] भगवन् ! मैं विशेषरूपसे सत्यकी जिज्ञासा करता हूँ ॥ १ ॥

एष तु वा अतिवदति यः
सत्येन परमार्थसत्यविज्ञानवत्-
यातिवदति सोऽहं त्वां प्रपन्नो
भगवन्सत्येनातिवदानि । तथा
मां नियुक्तु भगवान् यथाहं
सत्येनातिवदानीत्यभिप्रायः ।
यद्येवं सत्येनातिवदितुमिच्छसि
सत्यमेव तु तावद्विजिज्ञासितव्य-
मित्युक्त आह नारदः । तथास्तु
तर्हि सत्यं भगवो विजिज्ञासे
विशेषेण ज्ञातुमिच्छेयं त्वत्तोऽह-
मिति ॥ १ ॥

[सनत्कुमार—] किंतु अति-
वदन तो वही करता है जो परमार्थ-
सत्यविज्ञानके कारण अतिवदन
करता है । [नारद—] भगवन् !
आपका शरणागत हुआ मैं तो
सत्यके ही कारण अतिवदन करता
हूँ । तात्पर्य यह है कि भगवान् मुझे
इस प्रकार उपदेश करे जिससे कि
मैं सत्य ज्ञानके कारण अतिवदन
करूँ । 'यदि इस प्रकार तुम सत्यके
द्वारा अतिवदन करना चाहते हो
तो सत्यकी ही जिज्ञासा करनी
चाहिये'—ऐसा कहे जानेपर नारदजी
बोले—'ठीक है, अच्छा तो
भगवन् ! मैं सत्यको विजिज्ञासा—
आपके द्वारा विशेषरूपसे सत्यको
जाननेकी इच्छा करता हूँ' ॥ १ ॥

—०००—

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि सप्तमाध्याये
षोडशखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥ १६ ॥



सप्तदश खण्ड

—:०:—

विज्ञान ही जानने योग्य है

यदा वै विजानात्यथ सत्यं वदति नाविजानन्सत्यं
वदति विजानन्नेव सत्यं वदति विज्ञानं त्वेव विजिज्ञा-
सितव्यमिति विज्ञानं भगवो विजिज्ञास इति ॥ १ ॥

जिस समय पुरुष सत्यको विशेषरूपसे जानता है तभी वह सत्य बोलता है, बिना जाने सत्य नहीं बोलता; अपितु विशेषरूपसे जानने-वाला ही सत्यका कथन करता है। अतः विज्ञानकी ही विशेषरूपसे जिज्ञासा करनी चाहिये। [नारद—] 'भगवन् ! मैं विज्ञानको विशेष-रूपसे जानना चाहता हूँ' ॥ १ ॥

यदा वै सत्यं परमार्थतो
विजानाति । इदं परमार्थतः
सत्यमिति । ततोऽनृतं विकारजातं
वाचारम्भणं हित्वा सर्वविकारा-
वस्थं सदेवैकं सत्यमिति तदेवाथ
वदति यद्वदति ।

ननु विकारोऽपि सत्यमेव ।
“नामरूपे सत्यं ताभ्यामयं प्राण-
श्छन्नः” (वृ० उ० १।६।३) ।
“प्राणा वै सत्यं तेषामेव सत्यम्”
(वृ० उ० २।१।२०)
इति श्रुत्यन्तरात् ।

जिस समय पुरुष सत्यको परमार्थतः जानता है, अर्थात् 'यह परमार्थतः सत्य है' ऐसा जानता है उस समय वह वाणीपर अवलम्बित मिथ्या विकारजातको त्यागकर सम्पूर्ण विकारमें स्थित एक सत् ही सत्य है—ऐसा समझकर फिर जो कुछ बोलता है उसीको बोलता है।

शङ्का—किंतु विकार भी तो सत्य ही है, क्योंकि “नाम और रूप सत्य हैं, उनसे यह प्राण आच्छादित है”, “[वागादि] प्राण ही सत्य है, यह [मुख्य प्राण] उनका भी सत्य है”, इस अन्य श्रुतिसे भी [यही सिद्ध होता है] ।

सत्यम्, उक्तं सत्यत्वं श्रुत्यन्तरे

विकारस्य परमार्थ- विकारस्य न तु

सत्यत्वनिरासः परमार्थपेक्षमुक्तम् ।

किं तर्हि ? इन्द्रियविषया विषयत्वा-

पेक्षं सच्च त्यच्चेति सत्यमित्युक्तम् ।

तद्द्वारेण च परमार्थसत्यस्योपल-

ब्धिर्विवक्षितेति । प्राणा वै सत्यं

तेषामेष सत्यमिति चोक्तम् ।

इहापि तदिष्टमेव, इह तु

प्राणविषयात्परमार्थसत्यविज्ञाना-

भिमानाद्बुत्थाप्य नारदं यत्सदेव

सत्यं परमार्थतो भूमाख्यं तद्विज्ञा-

पयिष्यामीत्येष विशेषतो विवक्षि-

तोऽर्थः । नाविजानन्सत्यं वदति ।

यस्त्वविजानन्वदति सोऽग्न्यादि-

शब्देनाग्न्यादीन्परमार्थसद्रूपान्म-

न्यमानो वदति । न तु ते रूपत्रय-

व्यतिरेकेण परमार्थतः सन्ति

तथा तान्यपि रूपाणि सदपेक्षया

समाधान- ठीक है, श्रुत्यन्तरमें

विवारका सत्यत्व अदृश्य बतलाया

गया है, परंतु वह परमार्थकी

अपेक्षासे नहीं बतलाया गया । तो

फिर क्या बात है ?— इन्द्रियोंके

विषय होने और न होनेकी अपेक्षासे

सत् और त्यत् हैं, इस प्रकार वहाँ

सत्यका उल्लेख किया गया है ।

तथा उसके द्वारा वहाँ परमार्थ सत्य-

की उपलब्धि ही विवक्षित है ।

इसीसे वहाँ यह कहा गया है कि

‘[वागादि] प्राण ही सत्य है, यह

[मुख्य प्राण] उनका भी सत्य है ।’

यहाँ भी वह इष्ट ही है । परंतु

यहाँ विशेषरूपसे सनत्कुमारजीको

यही अर्थ बतलाना अभीष्ट है कि

नारदजीको प्राणविषयक परमार्थ

सत्य विज्ञानके अभिमानसे निवृत्त

कर जो भूमासंज्ञक सत् ही परमार्थ

सत्य है, उसे विशेषरूपसे समझाऊँगा ।

उसे विशेषरूपसे जाने बिना कोई

सत्य नहीं बोलता । जो कोई उसे

बिना जाने बोलता है वह ‘अग्नि’ आदि

शब्दसे अग्नि आदिको ही परमार्थ

सद्रूप समझकर बोलता है । किंतु

परमार्थतः वे रूपत्रय (रक्त, शुक्ल

और कृष्णरूप) से अतिरिक्त हैं

नहीं । तथा वे रूप भी सत्की अपेक्षा

नैव सन्तीत्यतो नाविजानन्सत्यं

वदति। विजानन्नेव सत्यं वदति।

न च तत्सत्यविज्ञानमविजि-

ज्ञासितमप्रार्थितं ज्ञायत इत्याह—

विज्ञानंत्वेव विजिज्ञासितव्यमिति।

यद्येवं विज्ञानं भगवो विजिज्ञास-

इति । एवं सत्यादीनां चोत्तरो-

त्तराणां करोत्यन्तानां पूर्वपूर्व-

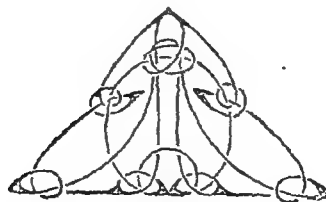
हेतुत्वं व्याख्येयम् ॥ १ ॥

तो हैं ही नहीं । अतः परमार्थको बिना जाने कोई सत्य नहीं बोल सकता । सत्यका विशेष ज्ञान होने-पर ही पुरुष सत्य बोल सकता है ।

किन्तु वह सत्यविज्ञान बिना जिज्ञासा किये—बिना उसकी प्रार्थना किये नहीं जाना जाता; इसीसे कहते हैं कि 'विज्ञानकी ही विशेषरूपसे जिज्ञासा करनी चाहिये ।' [नारद—] 'यदि ऐसी बात है, तो भगवन् ! मैं विज्ञानको विशेषरूपसे जाननेकी इच्छा करता हूँ ।' इसी प्रकार सत्यसे लेकर [आगे बाईसवें खण्डके] 'करोति' पर्यन्त उत्तरोत्तर पदार्थोंके पूर्व-पूर्व पदार्थ कारण हैं—ऐसी व्याख्या करनी चाहिये ॥ १ ॥

—:०:—

तिच्छान्दोग्योपनिषदि सप्तमाध्याये
सप्तदशखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥ १७ ॥



* 'विज्ञान' शब्द अष्टम खण्डके प्रथम मन्त्रमें भी आया है । परंतु वहाँ उसका तात्पर्य केवल शास्त्रज्ञान है और यहाँ विशेष ज्ञान अर्थात् वास्तविक ज्ञान है ।

अष्टादश खण्ड

—:~:—

मति ही जानने योग्य है

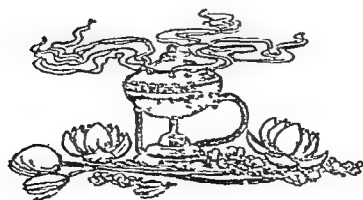
यदा वै मनुतेऽथ विजानाति नामत्वा विजानाति
मत्त्वैव विजानाति मतिस्त्वेव विजिज्ञासितव्येति । मतिं
भगवो विजिज्ञासु इति ॥ १ ॥

[सनत्कुमार—] 'जिस समय मनुष्य मनन करता है तभी वह विशेषरूपसे जानता है; बिना मनन किये कोई नहीं जानता, अपितु मनन करनेपर ही जानता है । अतः मतिकी ही विशेषरूपसे जिज्ञासा करनी चाहिये ।' [नारद—] 'भगवन् ! मैं मतिके विज्ञानकी इच्छा करता हूँ' ॥ १ ॥

यदा वै मनुत इति । मतिर्मननं | जिस समय मनन करता है
इत्यादि । 'मति' अर्थात् मनन—
तर्को मन्तव्यविषय आदरः ॥ १ ॥ | तर्क—मन्तव्य विषयके प्रति आदर ।

—:~:—

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि सप्तमाध्यायेऽष्टादश-
खण्डभाष्यं संपूर्णम् ॥ १८ ॥



एकोनविंश खण्ड

—:~:—

श्रद्धा ही जानने योग्य है

यदा वै श्रद्धात्यथ मनुते नाश्रद्धधन्मनुते श्रद्ध-
देव मनुते श्रद्धा त्वेव विजिज्ञासितव्येति । श्रद्धां
भगवो विजिज्ञास इति ॥ १ ॥

[सनत्कुमार—] 'जिस समय मनुष्य श्रद्धा करता है तभी वह
मनन करता है; विना श्रद्धा किये कोई मनन नहीं करता । अपितु श्रद्धा
करनेवाला ही मनन करता है । अतः श्रद्धाकी ही विशेषरूपसे जिज्ञासा
करनी चाहिये ।' [नारद—] 'भगवन् ! मैं श्रद्धाके विज्ञानकी इच्छा
करता हूँ' ॥१॥

आस्तिक्यबुद्धिः श्रद्धा ॥ १ ॥ | आस्तिक्य बुद्धिका नाम श्रद्धा
है ॥ १ ॥

—:~:—

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि सप्तमाध्याये एकोन-
विंशखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥ १९ ॥



विंश खण्ड

—**—

निष्ठा ही जानने योग्य है

यदा वै निस्तिष्ठत्यथ श्रद्धधाति नानिस्तिष्ठञ्छ्रद्ध-
धाति निस्तिष्ठन्नेव श्रद्धधाति निष्ठा त्वेव विजिज्ञासित-
व्येति । निष्ठां भगवो विजिज्ञास इति ॥ १ ॥

[सनत्कुमार—] 'जिस समय पुरुषकी निष्ठा होती है तभी वह श्रद्धा करता है; बिना निष्ठाके कोई श्रद्धा नहीं करता, अपितु निष्ठा करनेवाला ही श्रद्धा करता है । अतः निष्ठाको ही विशेषरूपसे जाननेकी इच्छा करनी चाहिये ।' [नारद—] 'भगवन् ! मैं निष्ठाको विशेषरूपसे जानना चाहता हूँ' ॥ १ ॥

निष्ठा गुरुश्रूषादिस्तत्परत्वं	निष्ठा गुरुश्रूषा आदिको कहते
ब्रह्मविज्ञानाय ॥ १ ॥	हैं । उसमें ब्रह्मविज्ञानके लिये तत्पर
	रहना ॥ १ ॥

—**—

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि सप्तमाध्याये
विंशखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥ २० ॥



एकविंश खण्ड

—**—

कृति ही जानने योग्य है

यदा वै करोत्यथ निस्तिष्ठति नाकृत्वा निस्तिष्ठति
कृत्वैव निस्तिष्ठति कृतिस्त्वेव विजिज्ञासितव्येति । कृतिं
भगवो विजिज्ञास इति ॥ १ ॥

[सनत्कुमार—] 'जिस समय मनुष्य करता है उस समय वह निष्ठा भी करने लगता है; बिना किये किसीकी निष्ठा नहीं होती, पुरुष करनेपर ही निष्ठावान् होता है । अतः कृतिकी ही विशेषरूपसे जिज्ञासा करनी चाहिये ।' [नारद—] 'भगवन् ! मैं कृतिकी विशेष-रूपसे जिज्ञासा करता हूँ ॥ १ ॥

<p>यदा वै करोति । कृतिरिन्द्रि- यसंयमश्चित्तैकाग्रताकरणं च । सत्यां हि तस्यां निष्ठादीनि यथोक्तानि भवन्ति विज्ञानावसा- नानि ॥ १ ॥</p>	<p>जिस समय मनुष्य करता है । 'कृति' इन्द्रियसंयम और चित्तकी एकाग्रता करनेको कहते हैं । उसके होनेपर ही उपर्युक्त [विपरीत क्रमसे] निष्ठासे लेकर विज्ञानपर्यन्त समस्त साधन होते हैं ॥ १ ॥</p>
---	---

—:०:—

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि सप्तमाध्याये
एकविंशखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥ २१ ॥

—**—

द्वाविंश खण्ड

—:ॐ:

सुख ही जानने योग्य है

यदा वै सुखं लभतेऽथ करोति नासुखं लब्ध्वा
करोति सुखमेव लब्ध्वा करोति सुखं त्वेव विजिज्ञासि-
तव्यमिति । सुखं भगवो विजिज्ञास इति ॥ १ ॥

[सनत्कुमार—] 'जब मनुष्यको सुख प्राप्त होता है तभी वह करता है; बिना सुख मिले कोई नहीं करता, अपितु सुख पाकर (पानेकी आशा रखकर) ही करता है; अतः सुखकी ही विशेषरूपसे जिज्ञासा करनी चाहिये।' [नारद—] 'भगवन् ! मैं सुखकी विशेषरूपसे जिज्ञासा करता हूँ' ॥ १ ॥

सापि कृतिर्यदा सुखं लभते
सुखं निरतिशयं वक्ष्यमाणं
लब्धव्यं मयेति मन्यते तदा भव-
तीत्यर्थः । यथा दृष्टफलसुखा
कृतिस्तथेहापि नासुखं लब्ध्वा
करोति । भविष्यदपि फलं
लब्ध्वेत्युच्यते तदुद्दिश्य प्रवृत्त्यु-
पपत्तेः ।

वह कृति भी, जिस समय
सुख मिलता है अर्थात् जिस समय
ऐसा मानता है कि मुझे आगे
बतलाया जानेवाला निरतिशय
सुख प्राप्त करना चाहिये, तभी
होती है । जिस प्रकार लौकिक
कृति दृष्टफलजनित सुखके लिये
होती है उसी प्रकार इस प्रसंगमें
भी बिना सुख मिले कोई नहीं
करता । यद्यपि वह फल भविष्य-
त्कालिक होता है तो भी 'लब्ध्वा'
(पाकर) ऐसा [पूर्वकालिक
क्रियारूपसे] कहा जाता है,
क्योंकि उसीके उद्देश्यसे प्रवृत्ति
होनी सम्भव है ।

अथेदानीं कृत्यादिषूत्तरोत्तरेषु
 सत्सु सत्यं स्वयमेव प्रतिभासत
 इति न तद्विज्ञानाय पृथग्यत्नः
 कार्य इति प्राप्तं तत इदमुच्यते—
 सुखं त्वेव विजिज्ञासितव्यमि-
 त्यादि । सुखं भगवो विजिज्ञास
 इत्यभिमुखीभूतायाह ॥ १ ॥

अब यह प्राप्त होता है कि—
 कृतिसे लेकर उत्तरोत्तर साधनोंके
 होनेपर सत्य स्वयं ही अनुभव
 हो जायगा, उसके विज्ञानके लिये
 पृथक् प्रयत्न नहीं करना चाहिये—
 इसीसे यह कहा गया है कि
 'सुखकी ही विशेषरूपसे जिज्ञासा
 करनी चाहिये' इत्यादि । फिर
 'भगवन् ! मैं सुखकी विशेषरूपसे
 जिज्ञासा करता हूँ' इस प्रकार
 [सुखविज्ञानके प्रति] अभिमुख
 हुए नारदजीसे सनत्कुमारजी
 कहते हैं ॥ १ ॥

—❀❀—

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि सप्तमाध्याये
 द्वाविंशखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥ २२ ॥



त्रयोविंश खण्ड

—*o*—

भूमा ही जानने योग्य है

यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति भूमैव
सुखं भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्य इति । भूमानं भगवो
विजिज्ञास इति ॥ १ ॥

[सनत्कुमार—] 'निश्चय जो भूमा है वही सुख है, अल्पमें सुख नहीं है । सुख भूमा ही है । भूमाकी ही विशेषरूपसे जिज्ञासा करनी चाहिये ।' [नारद—] 'भगवन् ! मैं भूमाकी विशेषरूपसे जिज्ञासा करता हूँ ॥ १ ॥

यो वै भूमा महन्निरतिशयं
बह्विति पर्यायास्तत्सुखम् । ततो-
र्वाक्सातिशयत्वादल्पम् । अतस्त-
स्मिन्नल्पे सुखं नास्ति । अल्पस्या-
धिकतृष्णाहेतुत्वात् । तृष्णा च
दुःखबीजम् । न हि दुःखबीजं
सुखं दृष्टं ज्वरादि लोके । तस्मा-
द्युक्तं नाल्पे सुखमस्तीति । अतो
भूमैव सुखम् । तृष्णादिदुःख-
बीजत्वासम्भवाद्भूम्नः ॥ १ ॥

निश्चय जो भूमा है—महान्,
निरतिशय और बहु—ये इसके
पर्याय हैं—वही सुख है । उससे
नीचेके पदार्थ सातिशय (न्युना-
धिक) होनेके कारण अल्प हैं ।
अतः उस अल्पमें सुख नहीं है;
क्योंकि अल्प तो अधिक तृष्णा-
का हेतु है और तृष्णा दुःखका
बीज है । तथा लोकमें दुःखके
बीजभूत ज्वरादि सुखरूप नहीं
देखे गये । अतः 'अल्पमें सुख
नहीं है' यह कथन ठीक ही है ।
इसलिये भूमा ही सुखरूप है;
क्योंकि भूमामें दुःखके बीजभूत
तृष्णादिका होना असम्भव है ॥१॥

—❧—

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि सप्तमाध्याये
त्रयोविंशखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥ २३ ॥

—❧—

चतुर्विंश खण्ड

—❀❀—

भूमाके स्वरूपका प्रतिपादन

किंलक्षणोऽसौ भूमेत्याह—

यह भूमा किन लक्षणोंवाला है,
सो बतलाते हैं—

यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजा-
नाति स भूमाथ यत्रान्यत्पश्यत्यन्यच्छृणोत्यन्यद्विजा-
नाति तदल्पं यो वै भूमा तदमृतमथ यदल्पं तन्म-
र्त्यम् । स भगवः कस्मिन्प्रतिष्ठित इति । स्वे महिम्नि
यदि वा न महिम्नीति ॥ १ ॥

[सनत्कुमार—] 'जहाँ कुछ और नहीं देखता, कुछ और नहीं
सुनता तथा कुछ और नहीं जानता वह भूमा है । किंतु जहाँ कुछ
और देखता है, कुछ और सुनता है एवं कुछ और जानता है वह
अल्प है । जो भूमा है वही अमृत है और जो अल्प है वह मर्त्य है ।'
[नारद—] 'भगवन् ! वह (भूमा) किसमें प्रतिष्ठित है ?'
[सनत्कुमार—] 'अपनी महिमामें, अथवा अपनी महिमामें भी नहीं
है' ॥ १ ॥

यत्र यस्मिन्भूमि तत्त्वे नान्य-
द्रष्टव्यमन्येन करणेन द्रष्टान्यो
विभक्तो दृश्यात्पश्यति तथा
नान्यच्छृणोति । नामरूपयोरेवा-
न्तर्भावाद्विषयभेदस्य, तद्ग्राहक-

जहाँ—जिस भूमातत्त्वमें दृश्यसे
भिन्न कोई अन्य द्रष्टा किसी अन्य
द्रष्टव्य विषयको अन्य इन्द्रियके
द्वारा नहीं देखता और न कुछ
सुनता ही है । विषयभेदका
अन्तर्भाव नाम और रूपमें ही हो
जाता है; अतः उनका ग्रहण

योरेवेह दर्शनश्रवणयोर्ग्रहणम्,
 अन्येषां चोपलक्षणार्थत्वेन। मननं
 त्वत्रोक्तं द्रष्टव्यं नान्यन्मनुत
 इति, प्रायशो मननपूर्वकत्वाद्वि-
 ज्ञानस्य। तथा नान्यद्विजानाति;
 एवंलक्षणो यः भूमा।

किमत्र प्रसिद्धान्यदर्शनाभावो
 भून्त्युच्यते नान्यत्पश्यतीत्या-
 दिना ? अथान्यन्न पश्यत्यात्मानं
 पश्यतीत्येतत् ?

किं चातः ?

यद्यन्यदर्शनाद्यभावमात्रमि-
 त्युच्यते तदा द्वैतसंव्यवहारवि-
 लक्षणो भूमेत्युक्तं भवति। अथा-
 न्यदर्शनविशेषप्रतिषेधेनात्मानं
 पश्यतीत्युच्यते तदैकस्मिन्नेव

करनेवाली दर्शन और श्रवण इन
 दो इन्द्रियोंका ही यहाँ अन्य
 इन्द्रियोंके उपलक्षणार्थ ग्रहण किया
 गया है। किन्तु मननका यहाँ
 'नान्यन्मनुते' ऐसा कहकर अलग
 उल्लेख किया गया है—ऐसा
 जानना चाहिये, क्योंकि विज्ञान
 प्रायः मननपूर्वक हुआ करता है;
 तथा जहाँ कुछ और जानता भी
 नहीं—जो ऐसे लक्षणोंवाला है
 वह भूमा है।

गुरु—यहाँ [यह विचारना है
 कि] 'नान्यत्पश्यति' इत्यादि
 वाक्यसे भूमामें लोकप्रसिद्ध अन्य
 दर्शनका अभाव बतलाया गया है
 अथवा अन्यको नहीं देखता,
 इसलिये अपनेको ही देखता है—
 यह बतलाया गया है ?

शिष्य—इससे क्या [हानि-
 लाभ] है ?

गुरु—यदि इस वाक्यद्वारा
 अन्य पदार्थके दर्शनादिका अभाव
 ही बतलाया गया हो तब तो यह
 बात कही जाती है कि भूमा
 द्वैतव्यवहारसे विलक्षण है और
 यदि अन्यदर्शनविशेषका प्रतिषेध
 करके यह कहा गया हो कि
 वह अपनेको देखता है तो एकमें

क्रियाकारकफलभेदोऽभ्युपगतो भवेत् ।

यद्येवं को दोषः स्यात् ?

नन्वयमेव दोषः संसारनिवृत्तिः । क्रियाकारकफलभेदो हि संसार इति । आत्मैकत्व एव क्रियाकारकफलभेदः संसारविलक्षण इति चेत् ? न; आत्मनो निर्विशेषैकत्वाभ्युपगमे दर्शनादिक्रियाकारकफलभेदाभ्युपगमस्य शब्दमात्रत्वात् ।

अन्यदर्शनाद्यभावात्किपक्षेऽपि यत्रेत्यन्यन्न पश्यतीति च विशेषणे अनर्थके स्यातामिति चेत् ? दृश्यते हि लोके यत्र शून्ये गृहेऽन्यन्न पश्यतीत्युक्ते स्तम्भादीनात्मानं च न पश्यतीति न गम्यते । एवमिहापीति चेत् ?

ही क्रिया, कारक और फलरूप भेद मानना हो जाता है ।

शिष्य—यदि ऐसा ही हो तो उसमें दोष क्या होगा ?

गुरु—उसके संसारकी निवृत्ति न होना—बस यही दोष है, क्योंकि क्रिया, कारक और फलरूप भेद ही संसार है । यदि कहो कि आत्माका एकत्व होनेपर भी उसमें जो क्रिया, कारक और फलरूप भेद है वह संसारसे विलक्षण है तो ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि आत्माका निर्विशेष एकत्व स्वीकार करनेपर जो उसमें दर्शनादि क्रिया, कारक और फलरूप भेद स्वीकार करना है वह तो शब्दमात्र है ।

शिष्य—किंतु अन्य दर्शनादिका अभाव प्रतिपादन करनेके पक्षमें भी 'यत्र' और 'अन्यन्न पश्यति' ये दो विशेषण निरर्थक होंगे । लोकमें यह देखा ही जाता है कि जहां सूने घरमें 'किसी औरको नहीं देखता' ऐसा कहा जाता है वहां यह नहीं समझा जाता कि उस घरके स्तम्भादि और अपनेको भी नहीं देखता । यदि ऐसा ही यहां भी हो तो ?

न; तत्त्वमसीत्येकत्वोपदेशा-
दधिकरणाधिकर्तव्यभेदानुपपत्तेः।
तथा सदेकमेवाद्वितीयं सत्यमिति
षष्ठे निर्धारितत्वात् । “अदृश्ये-
ऽनात्म्ये” (तै० उ० २।७।१)
“न संद्वशे तिष्ठति रूपमस्य”
(क० उ० ६।६) “विज्ञाता-
रमरे केन विजानीयात्” (बृ०
उ० २।४।१४) इत्यादि-
श्रुतिभ्यः स्वात्मनि दर्शनाद्यनु-
पपत्तिः ।

यत्रेति विशेषणमनर्थकं प्राप्त-
मिति चेत् ?

न, अविद्याकृतभेदापेक्षत्वात् ।

यथा सत्यैकत्वाद्वितीयत्वबुद्धि-
प्रकृतामपेक्ष्य सदेकमेवाद्वितीय-
मिति संख्याद्यनर्हमप्युच्यते, एवं
भूमन्येकस्मिन्नेव यत्रेति विशेषणम् ।
अविद्यावस्थायामन्यदर्शनानुवा-
देन च भूमनस्तदभावत्वलक्षणस्य
विवक्षितत्वान्नान्यत्पश्यतीति
विशेषणम् । तस्मात्संसारव्यवहारो
अस्ति नास्तीति समुदायार्थः ।

गुरु—ऐसा नहीं हो सकता,
क्योंकि ‘तू वह है’ इस प्रकार
एकत्वका उपदेश होनेके कारण
आधार-आधेयरूप भेदका होना
सम्भव नहीं है । इसी प्रकार छठे
अध्यायमें भी यह निश्चय किया जा
चुका है कि ‘एकमात्र अद्वितीय सत्
ही सत्य है’ । तथा “देखनेमें न आने-
वाले शरीररहित ... आत्मा में”
“इसका रूप दृष्टिमें नहीं आता”
“अरे ! विज्ञाताको किसके द्वारा
जाने” इत्यादि श्रुतियोंसे भी स्वात्मा में
दर्शनादिका होना सम्भव नहीं है ।

शिष्य—किंतु इस प्रकार ‘यत्र’
यह विशेषण व्यर्थ सिद्ध होता है ?

गुरु—नहीं, क्योंकि यह
अविद्याकृत भेदकी अपेक्षासे है ।
जिस प्रकार प्रासङ्गिक सत्य एकत्व
और अद्वितीयत्वबुद्धिकी अपेक्षासे—
संख्या आदिके योग्य न होनेपर
भी—‘सत् एक और अद्वितीय है’
ऐसा कहा जाता है उसी प्रकार
एक ही भूमामें ‘यत्र’ यह विशेषण
है । तथा अविद्यावस्थामें अन्य
दर्शनका अनुवाद होनेके कारण
भूमाको उसके अभावत्वरूप लक्षण-
वाला बतलाना इष्ट होनेसे
‘नान्यत्पश्यति’ ऐसा विशेषण दिया
गया है । अतः सारांश यह है कि
भूमामें संसारव्यवहार नहीं है ।

अथ यत्राविद्याविषयेऽन्यो-
 ऽन्येनान्यत्पश्यतीति तदल्प-
 सविद्याकालभावीत्यर्थः । यथा
 स्वप्नदृश्यं वस्तु प्राक् प्रबोधात्त-
 त्कालभावीति तद्वत् । तत एव
 तन्मर्त्यं विनाशि स्वप्नवस्तुवदेव
 तद्विपरीतो भूमा यस्तदमृतम् ।
 तच्छब्दोऽमृतत्वपरः ।

स तर्ह्येवंलक्षणो भूमा हे भगवन्
 कस्मिन् प्रतिष्ठित इत्युक्तवन्तं
 नारदं प्रत्याह सनत्कुमारः—स्वे
 महिम्नीति; स्व आत्मीये महिम्नि
 माहात्म्ये विभूतौ प्रतिष्ठितो भूमा ।
 यदि प्रतिष्ठामिच्छसि क्वचिद्यदि
 वा परमार्थमैव पृच्छसि न महि-
 म्न्यपि प्रतिष्ठित इति ब्रूमः ।

किंतु जहाँ अविद्याके राज्यमें
 अन्य अन्यको अन्यके द्वारा देखता
 है वह अल्प है, तात्पर्य यह है कि
 वह केवल अविद्याके समय ही
 रहनेवाला है । जिस प्रकार स्वप्नमें
 दिखलायी देनेवाली वस्तु जागनेसे
 पूर्व स्वप्नकालमें ही रहनेवाली होती
 है उसी प्रकार [उसे जानना
 चाहिये] । इसीसे वह स्वप्नके
 पदार्थके समान ही मर्त्य—विनाशी
 है । उसके विपरीत जो भूमा है
 वह अमृत है । 'तत्' शब्द
 अमृतत्वपरक है [इसीसे नपुंसक-
 लिङ्गका प्रयोग किया गया] ।

'तो, हे भगवन् ! वह ऐसे
 लक्षणवाला भूमा किसमें प्रतिष्ठित
 है ?' इस प्रकार पूछते हुए
 नारदजीसे सनत्कुमारजीने कहा—
 'अपनी महिमा में ।' तो वह भूमा
 'स्वे'—अपनी 'महिम्नि'—महिमा
 अर्थात् विभूतिमें प्रतिष्ठित है ।
 और यदि कहीं उसकी प्रतिष्ठा
 जानना चाहते हो—अथवा यदि
 परमार्थतः ही पूछते हो तो
 हमारा यह कथन है कि वह
 अपनी महिमा में भी प्रतिष्ठित नहीं

अप्रतिष्ठितोऽनाश्रितो भूमा कचि-
दपीत्यर्थः ॥ १ ॥

है। तात्पर्य यह है कि 'भूमा
अप्रतिष्ठित है अर्थात् कहीं भी
आश्रित नहीं है' ॥ १ ॥

—:०:—

यदि स्वमहिम्नि प्रतिष्ठितो
भूमा कथं तर्ह्यप्रतिष्ठ उच्यते, शृणु—

'यदि भूमा अपनी महिमा में
प्रतिष्ठित है तो उसे अप्रतिष्ठित क्यों
कहा जाता है?' सुनो—

गोअश्वमिह महिमेत्याचक्षते हस्तिहिरण्यं दास-
भार्यं क्षेत्राण्यायतनानीति नाहमेवं ब्रवीमि ब्रवीमीति
होवाचान्यो ह्यन्यस्मिन्प्रतिष्ठित इति ॥ २ ॥

'इस लोकमें 'गौ, अश्व आदिको महिमा कहते हैं तथा हाथी,
सुवर्ण, दास, भार्या, क्षेत्र और घर—इनका नाम भी महिमा है। किन्तु
मेरा ऐसा कथन नहीं है, क्योंकि अन्य पदार्थ अन्यमें प्रतिष्ठित होता है।
मैं तो यह कहता हूँ'—ऐसा सनत्कुमारजीने कहा ॥ २ ॥

गोअश्वादीह महिमेत्याचक्षते।
गावश्चाश्वाश्च गोअश्वं द्वन्द्वैकव-
द्भावः। सर्वत्र गवाश्चादि महिमेति
प्रसिद्धम्। तदाश्रितस्तत्प्रतिष्ठ-
श्चैत्रो भवति यथा नाहमेवं

'इस लोकमें गो-अश्वादिको
महिमा कहते हैं। गो और अश्वको
'गोअश्व' कहते हैं। इन दोनों
शब्दोंका द्वन्द्व समासमें एकवद्भाव
हुआ है। सर्वत्र गौ और अश्व
आदि ही महिमा हैं इस प्रकार
प्रसिद्ध है। जिस प्रकार चैत्र
[नामका कोई पुरुष] उनके

* यहाँ यह प्रश्न होता है कि 'गावश्च अश्वाश्च' ऐसा विग्रह करके पूर्ल्लिङ्ग
एवं बहुवचनान्त शब्दोंका द्वन्द्वसमास हुआ है, ऐसी दशा में 'गोअश्वम्' यह एक-
वचनान्त नपुंसकलिङ्ग प्रयोग कैसे हुआ? इसीका उत्तर देते हुए कहते हैं कि
एकवद्भाव हुआ है। 'द्वन्द्वश्च प्राणितूर्यसेनाङ्गानाम्' इस पाणिनिसूत्रसे यहाँ
एकवद्भाव किया गया है, इससे एकवचनान्त हो गया है तथा जहाँ एकवद्भाव होता
है वहाँ 'स नपुंसकम्' इस सूत्रके अनुसार नपुंसकता भी हो जाती है।

स्वतोऽन्यं महिमानमाश्रितो भूमा

चैत्रवदिति ब्रवीत्यत्र हेतुत्वेनान्यो

ह्यन्यस्मिन्प्रतिष्ठित इति व्यवहितेन

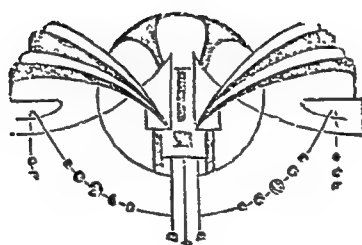
सम्बन्धः । किं त्वेवं ब्रवीसीति

होवाच स एवेत्यादि ॥ २ ॥

आश्रित और उनमें प्रतिष्ठित होता है उसी प्रकार चैत्रके समान ही भूमा भी अपनेसे भिन्न महिमामें आश्रित है—ऐसा मैं नहीं कहता । यहाँ 'क्योंकि अन्य पदार्थ अन्यमें प्रतिष्ठित होता है' इस व्यवधानयुक्त वाक्यसे इसका हेतुरूपसे सम्बन्ध है । किंतु मैं तो यह कहता हूँ, ऐसा कहकर सनत्कुमारजीने 'स एव अघस्तात्' इत्यादि कहा ॥ २ ॥

—:०:—

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि सप्तमाध्याये
चतुर्विंशखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥ २४ ॥



पञ्चविंश खण्ड

—*—

सर्वत्र भूमा ही है

कस्मात्पुनः कचिन्न प्रतिष्ठितः ? | तो फिर ऐसा क्यों कहा जाता
| है वह कहीं प्रतिष्ठित नहीं है ?
इत्युच्यते—यस्मात्— | सो बतलाते हैं; क्योंकि—

स एवाधस्तात्स उपरिष्ठात्स पश्चात्स पुरस्तात्स
दक्षिणतः स उत्तरतः स एवेदः सर्वमित्यथातोऽहङ्कारा-
देश एवाहमेवाधस्तादहमुपरिष्ठादहं पश्चादहं पुरस्ता-
दहं दक्षिणतोऽहमुत्तरतोऽहमेवेदः सर्वमिति ॥ १ ॥

वही नीचे है, वही ऊपर है, वही पीछे है, वही आगे है, वही
दायीं ओर है, वही बायीं ओर है और वही यह सब है । अब उसीमें
अहंकारादेश किया जाता है—मैं ही नीचे हूँ, मैं ही ऊपर हूँ, मैं ही
पीछे हूँ, मैं ही आगे हूँ, मैं ही दायीं ओर हूँ, मैं ही बायीं ओर हूँ और
मैं ही यह सब हूँ ॥ १ ॥

स एव भूमाधस्तान्न तद्व-
व्यतिरेकेणान्यद्विद्यते यस्मिन्प्रति-
ष्ठितः स्यात् तथोपरिष्ठादित्यादि
समानम् । सति भूम्नोऽन्यस्मि-
न्भूमा हि प्रतिष्ठितः स्यान्न तु
तदस्ति । स एव तु सर्वम् ।
अतस्तस्मादसौ न कचित्प्र-
तिष्ठितः ।

क्योंकि वह भूमा ही नीचे है,
उससे भिन्न कोई और ऐसी वस्तु
नहीं है जिसपर वह प्रतिष्ठित हो ।
इसी प्रकार 'उपरिष्ठात्' इत्यादिका
अर्थ भी समझना चाहिये । भूमासे
भिन्न कोई और पदार्थ हो तो भूमा
उसपर प्रतिष्ठित हो; किंतु ऐसा
है नहीं । सब कुछ वही है । अतः
इसीसे वह कहीं अन्यत्र प्रतिष्ठित
नहीं है ।

यत्र नान्यत्पश्यतीत्यधिकर-
णाधिकर्तव्यतानिर्देशात्स एवा-
धस्तादिति च परोक्षनिर्देशाद्द्रष्टु-
र्जीवादन्यां भूमा स्यादित्याशङ्का
कस्यचिन्मा भूदित्यथातोऽनन्त-
रमहङ्कारादेशाऽहङ्कारेणादिश्यत
इत्यहङ्कारादेशः । द्रष्टुरनन्यत्व-
दर्शनार्थं भूमैव निर्दिश्यतेऽहङ्का-
रेणाहमेवाधस्तादित्यादिना ॥१॥

‘जहाँ कुछ और नहीं देखता,
इस वाक्यसे आधार-आधेयताका
निर्देश होनेसे तथा ‘वही नीचे है’
इत्यादि वाक्यसे परोक्ष निर्देश
होनेसे किसीको ऐसी शङ्का न हो
जाय कि भूमा द्रष्टा जीवसे भिन्न
है इसलिये अब—इसके पश्चात्
अहंकारादेश किया जाता है ।
अहंकाररूपसे आदेश (उपदेश)
किया जाता है इसलिये इसे
अहंकारादेश कहा है । द्रष्टासे
अभिन्नत्व दिखलानेके लिये भूमाका
ही ‘मैं ही नीचे हूँ’ इत्यादि
वाक्यद्वारा अहंकाररूपसे निर्देश
किया जाता है ॥ १ ॥



अहङ्कारेण देहादिसङ्घातो-
ऽप्यादिश्यतेऽविवेकिभिरित्यतस्त-
दाशङ्का मा भूदिति—

अविवेकी लोग अहंकारसे
देहादि संघातका भी आदेश करते
हैं; अतः ‘ऐसी आशङ्का न हो
इसलिये—

अथात आत्मादेश एव आत्मैवाधस्तादात्मोपरिष्ठा-
दात्मा पश्चादात्मा पुरस्तादात्मा दक्षिणात आत्मोत्तरत
आत्मैवेदः सर्वमिति । स वा एष एवं पश्यन्नेवं मन्वान एवं
विजानन्नात्मरतिरात्मक्रीड आत्ममिथुन आत्मानन्दः स
स्वराड्भवति तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति अथ

येऽन्यथातो विदुरन्यराजानस्ते क्षय्यलोका भवन्ति
तेषां सर्वेषु लोकेष्वकामचारो भवति ॥ २ ॥

अब आत्मरूपसे ही भूमाका आदेश किया जाता है । आत्मा ही नीचे है, आत्मा ही ऊपर है, आत्मा ही पीछे है, आत्मा ही आगे है, आत्मा ही दायीं ओर है, आत्मा ही बायीं ओर है और आत्मा ही यह सब है । वह यह इस प्रकार देखनेवाला, इस प्रकार मनन करनेवाला तथा विशेषरूपसे इस प्रकार जाननेवाला आत्मरति, आत्मक्रीड, आत्म-मिथुन और आत्मानन्द होता है; वह स्वराट् है; सम्पूर्ण लोकोंमें उसकी यथेच्छ गति होती है । किंतु जो इससे विपरीत जानते हैं वे अन्यराट् (जिनका राजा अपनेसे भिन्न कोई और है, ऐसे) और क्षय्यलोक (क्षयशील लोकोंको प्राप्त होनेवाले) होते हैं । उनकी सम्पूर्ण लोकोंमें स्वेच्छागति नहीं होती ॥ २ ॥

अथानन्तरमात्मादेश आत्म-
नैव केवलेन सत्स्वरूपेण शुद्धे-
नादिश्यते । आत्मैव सर्वतः
सर्वमित्येवमेकमजं सर्वतो
व्योमवत्पूर्णमन्यशून्यं पश्यन्स वा
एष विद्वान्मननविज्ञानाभ्यामा-
त्मरतिरात्मन्येव रती रमणं यस्य
सोऽयमात्मरतिः । तथात्मक्रीडः ।
देहमात्रसाधना रतिर्वाह्यसाधना
क्रीडा । लोके स्त्रीभिः सखिभिश्च

अब आगे आत्मादेश है अर्थात् केवल सत्स्वरूप शुद्ध आत्माके द्वारा ही आदेश किया जाता है । सब ओर सब कुछ आत्मा ही है । इस प्रकार आकाशके समान सर्वत्र पूर्ण एक अज और अनन्य आत्माको देखनेवाला वह यह विद्वान् मनन और विज्ञानके कारण आत्मरति—आत्मामें ही जिसकी रति अर्थात् रमण है ऐसा आत्मरति और आत्मक्रीड होता है । रतिका साधन केवल देह है और क्रीडा बाह्य साधनवाली होती है, क्योंकि लोकमें 'स्त्रियों और मित्रोंके साथ क्रीडा

क्रीडतीति दर्शनात् । न तथा

विदुषः । किं तर्ह्यात्मविज्ञाननि-

मित्तमेवोभयं भवतीत्यर्थः ।

मिथुनं द्वन्द्वजनितं सुखं

तदपि द्वन्द्वनिरपेक्षं यस्य विदुषः ।

तथात्मानन्दः शब्दादिनिमित्त

आनन्दोऽविदुषां न तथास्य

विदुषः किं तर्ह्यात्मनिमित्तमेव सर्व

सर्वदा सर्वप्रकारेण च । देह-

जीवितभोगादिनिमित्तबाह्यवस्तु-

निरपेक्ष इत्यर्थः ।

स एवंलक्षणो विद्वान्जीवन्नेव

स्वाराज्येऽभिषिक्तः पतितेऽपि

देहे स्वराडेव भवति । यत एवं

भवति तत एव तस्य सर्वेषु

लोकेषु कामचारो भवति ।

प्राणादिषु पूर्वभूमिषु तत्रास्थेति

करता है' ऐसा प्रयोग देखा जाता है; किंतु विद्वान्की क्रीडा ऐसी नहीं होती । तो कैसी होती है ? उसकी तो ये [रति और क्रीडा] दोनों ही आत्मविज्ञानके ही कारण होती हैं ।

मिथुन यह दोसे होनेवाला सुख है, वह भी जिस विद्वान्का दोकी अपेक्षासे रहित है [उसे आत्म-मिथुन कहते हैं]; तथा आत्मानन्द—अविद्वान्का आनन्द शब्दादि विषय-जनित होता है, विद्वान्का आनन्द वैसा नहीं होता । तो कैसा होता है ?—वह सारा-का-सारा सर्वदा सब प्रकार आत्माके ही कारण होता है । तात्पर्य यह है कि वह देह, जीवन और भोगादिकी निमित्तभूत बाह्य वस्तुओंकी अपेक्षासे रहित होता है ।

इस प्रकारके लक्षणोंवाला वह विद्वान् जीवित रहता हुआ ही स्वाराज्यपर अभिषिक्त हो जाता है तथा देहपात होनेपर भी स्वराट् ही होता है । क्योंकि ऐसा है इसीसे उसकी सम्पूर्ण लोकोंमें यथेच्छगति होती है । प्राणादि पूर्व भूमिकाओंमें इस उपासककी उनसे परिच्छिन्न ही

तावन्मात्रपरिच्छिन्नकामचारत्व-
मुक्तमन्यराजत्वं चार्थप्राप्तं
सातिशयत्वाद्यथाप्राप्तस्वाराज्य-
कामचारत्वानुवादेन तत्तन्निवृत्ति-
रिहोच्यते स स्वराडित्यादिना ।

अथ पुनर्येऽन्यथात उक्तद-
र्शनादन्यथा वैपरीत्येन यथोक्त-
मेव वा सम्यक् न विदुस्तेऽन्य-
राजानो भवन्ति । अन्यः परो
राजा स्वामी येषां तेऽन्यराजा-
नस्ते किञ्च क्षय्यलोकाः क्षय्यो
लोको येषां ते क्षय्यलोकाः ।
भेददर्शनस्याल्पविषयत्वात् ।
अल्पं च तन्मर्त्यमित्यवोचाम ।
तस्माद्ये द्वैतदर्शिनस्ते क्षय्यलोकाः
स्वदर्शनानुरूपेणैव भवन्त्यत
एव तेषां सर्वेषु लोकेष्वकाम-
चारो भवति ॥ २ ॥

स्वेच्छागति बतलायी गयी थी ।
अतः सातिशय होनेके कारण वहाँ
उसका अन्यराजत्व स्वतः सिद्ध है ।
अब यथाप्राप्त स्वाराज्य और काम-
चारत्वका अनुवाद करते हुए यहाँ
'स स्वराड् भवति' इत्यादि वाक्यसे
उसकी निवृत्तिका निरूपण किया
जाता है ।

किंतु जो इससे अन्यथा—
उपयुक्त दृष्टिसे अन्य प्रकार अर्थात्
इसके विपरीत जानते हैं अथवा
इसीको सम्यक् प्रकारसे नहीं जानते
वे अन्यराट् होते हैं । अन्य अर्थात्
पर है राजा—स्वामी जिनका उन्हें
'अन्यराट्' कहते हैं । इसके सिवा
वे क्षय्यलोक—जिनका लोक क्षय्य
है ऐसे वे क्षय्यलोक होते हैं, क्योंकि
भेददृष्टि अल्पविषयक है । और जो
अल्प है वह मर्त्य है—ऐसा हम
पहले कह चुके हैं । अतः जो
द्वैतदर्शी हैं वे अपनी दृष्टिके
अनुरूप ही क्षय्यलोक होते हैं । अतः
उनकी सम्पूर्ण लोकोंमें स्वेच्छागति
नहीं होती ॥ २ ॥

—**—

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि सप्तमाध्याये
पञ्चविंशखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥ २५ ॥

षट्विंश खण्ड

—०—

इस प्रकार जाननेवालेके लिये फलका उपदेश

तस्य ह वा एतस्यैवं पश्यत एवं मन्वानस्यैवं
विजानत आत्मतः प्राण आत्मत आशात्मतः स्मर
आत्मत आकाश आत्मतस्तेज आत्मत आप आत्मत
आविर्भावतिरोभावावात्मतोऽन्नमात्मतो बलमात्मतो
विज्ञानमात्मतो ध्यानमात्मतश्चित्तमात्मतः संकल्प
आत्मतो मन आत्मतो वागात्मतो नामात्मतो मन्त्रा
आत्मतः कर्माण्यात्मत एवेदः सर्वमिति ॥ १ ॥

उस इस प्रकार देखनेवाले, इस प्रकार मनन करनेवाले और इस प्रकार जाननेवाले इस विद्वान्के लिये आत्मासे प्राण, आत्मासे आशा, आत्मासे स्मृति, आत्मासे आकाश, आत्मासे तेज, आत्मासे जल, आत्मासे आविर्भाव और तिरोभाव, आत्मासे अन्न, आत्मासे बल, आत्मासे विज्ञान, आत्मासे ध्यान, आत्मासे चित्त; आत्मासे संकल्प, आत्मासे मन, आत्मासे वाक्, आत्मासे नाम, आत्मासे मन्त्र, आत्मासे कर्म और आत्मासे ही यह सब हो जाता है ॥ १ ॥

तस्य ह वा एतस्येत्यादि
स्वाराज्यं प्राप्तस्य प्रकृतस्य विदुष
इत्यर्थः । प्राक्सदात्मविज्ञाना-
त्स्वात्मनोऽन्यस्मात्सतः प्राणादे-

‘तस्य ह वा एतस्य’ इत्यादिका
यह तात्पर्य है कि स्वाराज्यको प्राप्त
हुए इस प्रकृत विद्वान्के लिये सत्का
आत्मस्वरूपसे ज्ञान होनेके पूर्व
प्राणसे लेकर नामपर्यन्त पदार्थोंके
उत्पत्ति और प्रलय स्वात्मासे भिन्न

नान्मान्तस्योत्पत्तिप्रलयावभूताम् ।
सदात्मविज्ञाने तु सतीदानीं
स्वात्मत एव संवृत्तौ तथा
सर्वोऽप्यन्यां व्यवहार आत्मत
एव विदुषः ॥ १ ॥

सत्से होते थे । किन्तु अब सत्का
आत्मत्व ज्ञात होनेपर वे अपने
आत्मासे हा हो गये । इसी प्रकार
विद्वान्का और भी सब व्यवहार
आत्मासे हो होने लगता है ॥ १ ॥

—ॐ—

किञ्च —

| तथा —

तदेष श्लोको न पश्यो मृत्युं पश्यति न रोगं
नोत दुःखताः सर्वं ह पश्यः पश्यति सर्वमाप्नोति
सर्वश इति । स एकधा भवति त्रिधा भवति पञ्चधा
सप्तधा नवधा चैव पुनश्चैकादशः स्मृतः शतं च दश
चैकश्च सहस्राणि च विंशतिराहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः
सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां
विप्रमोक्षस्तस्मै मृदितकषायाय तमसस्सारं दर्शयति
भगवान्सनत्कुमारस्तत्स्कन्द इत्याचक्षते तत्स्कन्द
इत्याचक्षते ॥ २ ॥

इस विषयमें यह मन्त्र है—विद्वान् न तो मृत्युको देखता है, न
रोगको और न दुःखत्वको ही । वह विद्वान् सबको [आत्मरूप ही]
देखता है; अतः सबको प्राप्त हो जाता है । वह एक होता है; फिर
वही तीन, पाँच, सात और नौ रूप हो जाता है । फिर वही ग्यारह
कहा गया है तथा वही सौ, दश, एक सहस्र और बीस भी होता है ।
आहारशुद्धि (विषयोपलब्धिरूप विज्ञानकी शुद्धि) होनेपर अन्तः-
करणकी शुद्धि होती है; अन्तःकरणकी शुद्धि होनेपर निश्चल स्मृति
होती है तथा स्मृतिकी प्राप्ति होनेपर सम्पूर्ण ग्रन्थियोंकी निवृत्ति हो
जाती है । [इस प्रकार] जिनकी वासनाएँ क्षीण हो गयी थीं उन
(नारदजी) को भगवान् सनत्कुमारने अज्ञानान्धकारका पार दिखलाया ।

उन (सनत्कुमारजी) को 'स्कन्द' ऐसा कहते हैं, 'स्कन्द' ऐसा कहते हैं ॥ २ ॥

तदेतस्मिन्नर्थ एष श्लोको
मन्त्रोऽपि भवति — न पश्यः
पश्यतीति । पश्यो यथोक्तदर्शी
विद्वानित्यर्थः, मृत्युं मरणं रोगं
ज्वरादि दुःखतां दुःखभावं
चापि न पश्यति । सर्वं ह सर्व-
मेव स पश्यः पश्यत्यात्मानमेव
सर्वम् । ततः सर्वमाप्नोति
सर्वशः सर्वप्रकारैरिति ।

किञ्च स विद्वान्प्राक्सृष्टिप्रभे-
दादेकधैव च संस्त्रिधादिभेदैरन-
न्तभेदप्रकारो भवति सृष्टिकाले ।
पुनः संहारकाले मूलमेव स्वं
पारमार्थिकमेकधाभावं प्रतिपद्यते
स्वतन्त्र एवेति विद्याफलेन प्ररो-
चयन्स्तौति ।

अथेदानीं यथोक्ताया विद्यायाः
सम्यगवभासकारणां मुखावभास-
कारणस्येवादृशस्य विशुद्धिकारणां

इस विषयमें यह श्लोक—मन्त्र
भी है । पश्य नहीं देखता । पश्य
अर्थात् उपयुक्त प्रकारसे देखनेवाला
विद्वान् मृत्यु—मरण, ज्वरादि रोग
और दुःखत्व यानी दुःखभावको
नहीं देखता । वह पश्य—विद्वान्
सभीको देखता है अर्थात् सबको
आत्मरूप ही देखता है । इसीसे
वह सबको सब प्रकार प्राप्त
होता है ।

तथा वह विद्वान् सृष्टिभेदके पूर्व
एकरूप होता हुआ ही सृष्टिकालमें
त्रिधा आदि अनन्तभेद प्रकारोंवाला
हो जाता है । और फिर 'संहार-
कालमें अपने मूल पारमार्थिक
एकधाभावको ही प्राप्त हो जाता है,
क्योंकि वह स्वतन्त्र ही है—इस
प्रकार विद्याके फलद्वारा रुचि
उत्पन्न करते हुए सनत्कुमारजी
उसकी स्तुति करते हैं ।

इसके पश्चात् अब मुखाव-
भासकी हेतुभूत दर्पणकी विशुद्धि
करनेके समान उपयुक्त विद्याके
सम्यक् प्रकारसे प्रतिफलित होनेके
हेतुभूत साधनका उपदेश किया

साधनमुपदिश्यते । आहारशुद्धौ ।
 आहियत इत्याहारः शब्दादि-
 विषयविज्ञानं भोक्तुर्भोगायाहियते
 तस्य विषयोपलब्धिलक्षणस्य
 विज्ञानस्य शुद्धिराहारशुद्धी राग-
 द्वेषमोहदोषैरसंसृष्टं विषयविज्ञा-
 नमित्यर्थः ।

जाता है—‘आहारशुद्धौ’ इत्यादि ।
 जिनका आहरण किया जाय उन्हें
 ‘आहार’ कहते हैं; भोक्ताके भोगके
 लिये शब्दादि विषयविज्ञानका
 आहरण किया जाता है; उस
 विषयोपलब्धिरूप विज्ञानकी शुद्धि
 ही ‘आहारशुद्धि’ है, अर्थात् राग-
 द्वेष, मोह आदि दोषोंसे असंसृष्ट
 विषयविज्ञान ।

तस्यामाहारशुद्धौ सत्यां तद्व-
 तोऽन्तःकरणस्य सत्त्वस्य शुद्धिर्नै-
 र्मल्यं भवति, सत्त्वशुद्धौ च सत्यां
 यथावगते भूमात्मनि ध्रुवावि-
 च्छिन्ना स्मृतिरविस्मरणं भवति ।
 तस्यां च लब्धायां स्मृतिलम्भे
 सति सर्वेषामविद्याकृतानर्थपाश-
 रूपाणामनेकजन्मान्तरानुभवमा-
 वनाकठिनीकृतानां हृदयाश्रयाणां
 ग्रन्थीनां विप्रमोक्षो विशेषेण
 प्रमोक्षणं विनाशो भवतीति ।
 यत एतदुत्तरोत्तरं यथोक्तमाहार-
 शुद्धिमूलं तस्मात्सा कार्येत्यर्थः ।

उस आहारशुद्धिके होनेपर
 उससे युक्त अन्तःकरण यानी
 सत्त्वकी शुद्धि—निर्मलता होती है;
 और अन्तःकरणकी शुद्धि होनेपर
 उपर्युक्त प्रकारसे जाने गये भूमा-
 त्मामें ध्रुव—अविच्छिन्न स्मृति यानी
 अविस्मरण हो जाता है तथा उसकी
 प्राप्ति होनेपर—स्मृति लब्ध होनेपर
 अनेक जन्मोंमें अनुभव की हुई
 भावनाओंसे कठिन की हुई अविद्या-
 कृत अनर्थपाशरूप हृदयस्थित
 ग्रन्थियोंका विप्रमोक्ष—विशेषरूपसे
 प्रमोक्षण—विनाश हो जाता है ।
 इस प्रकार क्योंकि यह ऊपर कहा
 हुआ सब कुछ उत्तरोत्तर आहारशुद्धि-
 मूलक है, इसलिये वह अवश्य करनी
 चाहिये—ऐसा इसका तात्पर्य है ।

सर्वं शास्त्रार्थमशेषत उक्त्वा-
 ख्यायिकामुपसंहरति श्रुतिः—तस्मै
 मृदितकषायाय चार्त्तादिरिव
 कषायो रागद्वेषादिदोषः सत्त्वस्य
 रञ्जनारूपत्वात्स ज्ञानवैराग्या-
 भ्यासरूपक्षारेण क्षालितो
 मृदितो विनाशितो यस्य नारद-
 स्य तस्मै योग्याय मृदितकषायाय
 तमसोऽविद्यालक्षणात्पारं परमार्थ-
 तत्त्वं दर्शयति दर्शितवानित्यर्थः ।
 कोऽसौ ? भगवान्—“उत्पत्तिं
 प्रलयं चैव भूतानामागतिं गतिम् ।
 वेत्ति विद्यामविद्यां च स वाच्यो
 भगवानिति” (विष्णुपु० ६ ।
 ५ । ७८) एवं धर्मा सनत्कु-
 मारः । तमेव सनत्कुमारं देवं
 स्कन्द इत्याचक्षते कथयन्ति
 तद्विदः । द्विर्वचनमध्यायपरि-
 समाप्त्यर्थम् ॥ २ ॥

शास्त्रके सम्पूर्ण अभिप्रायको
 सम्यक् प्रकारसे कहकर श्रुति
 आख्यायिकाका उपसंहार करती
 है—उस मृदितकषायको वृक्षादि-
 से सम्बन्ध रखनेवाले कषायके
 समान रागद्वेषादि दोष अन्तः-
 करणके रञ्जक होनेके कारण
 कषाय हैं । ज्ञान, वैराग्य और
 अभ्यासरूप क्षारसे जिन नारदजीके
 उस कषायका क्षालन-मर्दन अर्थात्
 विनाश कर दिया गया है उन
 मृदितकषाय योग्य शिष्य नारदजीको
 अविद्यारूप तमसे पार परमार्थ-
 तत्त्वको दिखलाया । वह दिखाने-
 वाला कौन था ? भगवान्—“जो
 भूतोंकी उत्पत्ति, प्रलय, आय-व्यय
 तथा विद्या-अविद्याको जानता है
 उसे ‘भगवान्’ कहना चाहिये”
 ऐसे धर्मोवाले सनत्कुमारजी । उन
 सनत्कुमारदेवको ही विद्वान् लोग
 ‘स्कन्द’ ऐसा कहते हैं । ‘तं स्कन्द
 इत्याचक्षते’ इसकी द्विवक्ति अध्याय-
 की समाप्ति सूचित करनेके लिये
 है ॥ २ ॥

इति छान्दोग्योपनिषद् सप्तमाध्याये
 षड्विंशखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥ २६ ॥

—:—

इति श्रीगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यस्य परमहंसपरिव्राजकाचार्यस्य
 श्रीशङ्करभगवतः कृतौ छान्दोग्योपनिषद्विवरणो
 सप्तमोऽध्यायः समाप्तः ॥ ७ ॥

—ॐ—

अष्टम अध्याय

—:१०१:—

प्रथम खण्ड

—:ॐ:—

दहर-पुण्डरीकमें ब्रह्मकी उपासना

यद्यपि दिग्देशकालादिभेद-
अष्टमप्रपाठका- शून्यं ब्रह्म सत्,
रम्यप्रयोजनम् एकमेवाद्वितीय-
मात्मैवेदं सर्वमिति षष्ठसप्तमयो-
रधिगतं तथापीह मन्दबुद्धीनां
दिग्देशादिभेदवद्वस्त्वित्येवं
भाविता बुद्धिर्न शक्यते सहसा
परमार्थविषया कर्तुमित्यन-
धिगम्य च ब्रह्म न पुरुषार्थ-
सिद्धिरिति तदधिगमाय हृदय-
पुण्डरीकदेश उपदेष्टव्यः ।

यद्यपि सत्सम्बन्धप्रत्ययैक-
विषयं निर्गुणं चात्मतत्त्वं तथापि
मन्दबुद्धीनां गुणवत्त्वस्येष्टत्वा-

यद्यपि छठे और सातवें अध्यायमें
दिशा, देश और कालादि भेदसे
रहित ब्रह्म 'सत् एकमात्र अद्वितीय
है' 'आत्मा ही यह सब है'— ऐसा
जाना गया है, तथापि 'यहाँ दिशा
और देश आदि भेदयुक्त वस्तु है
ही'— इस प्रकारकी भावनासे युक्त
मन्दबुद्धि पुरुषोंकी बुद्धि सहसा
परमार्थसम्बन्धिनी नहीं की जा
सकती और ब्रह्मको जाने बिना
पुरुषार्थकी सिद्धि नहीं हो सकती,
अतः उसका अनुभव होनेके लिये
हृदयकमलरूप देशका उपदेश करना
आवश्यक है ।

यद्यपि आत्मतत्त्व सत्, एकमात्र
सम्बन्ध ज्ञानका विषय और निर्गुण
है, तो भी मन्दबुद्धि पुरुषोंको
उसकी सगुणता ही इष्ट है, इसलिये
उसके सत्यसंकल्पादि गुणोंसे युक्त

तस्यकामादिगुणवत्त्वं च वक्त-
व्यम् । तथा यद्यपि ब्रह्मविदां
स्त्र्यादिविषयेभ्यः स्वयमेवोपरमो
भवति तथाप्यनेकजन्मविषय-
सेवाभ्यासजनिता विषयविषया
तृष्णा न सहसा निवर्तयितुं
शक्यत इति ब्रह्मचर्यादिसाधन-
विशेषो विधातव्यः । तथा यद्य-
प्यात्मैकत्वविदां गन्तुगमनग-
न्तव्याभावादविद्यादिशेषस्थिति-
निमित्तक्षये गगन इव विद्युदुद्भूत
इव वायुर्दग्धेन्धन इवाग्निः स्वात्म-
न्येव निवृत्तिस्तथापि गन्तु-
गमनादिवासितबुद्धीनां हृदयदेश-
गुणविशिष्टब्रह्मोपासकानां मूर्ध-
न्यया नाह्या गतिर्वक्तव्येत्यष्टमः
प्रपाठक आरभ्यते ।

दिग्देशगुणगतिफलभेदशून्यं
हि परमार्थसद्व्यं ब्रह्म मन्द-

होनेका प्रतिपादन करना आवश्यक
है । इसी प्रकार यद्यपि ब्रह्मोपासकों-
को स्त्री आदि विषयोंसे स्वयं ही
उपरति होती है तो भी अनेक
जन्मोंके विषयसेवनके अभ्याससे
उत्पन्न हुई विषयसम्बन्धिनी तृष्णा
सहसा निवृत्त नहीं की जा सकती,
इसलिये ब्रह्मचर्यादि साधनविशेषका
विधान करना भी आवश्यक
है, इसी तरह यद्यपि आत्माका
एकत्व जाननेवालोंकी दृष्टिमें गमन
करनेवाले, गमनक्रिया और गन्तव्य
देशका अभाव हो जानेके कारण
शरीरकी स्थितिकी निमित्तभूत
अविद्या आदिका क्षय हो जानेपर
उनकी विद्युत्, ढड़े हुए वायु और
जिसका ईंधन जल गया है उस
अग्निके आकाशमें लीन हो जानेके
समान अपने आत्मामें ही निवृत्ति
हो जाती है तो भी जिनकी बुद्धि
गन्ता और गमनादिकी वासनासे
युक्त है अपने हृदयदेशस्थित गुण-
विशिष्ट ब्रह्मकी उपासना करनेवाले
उन पुरुषोंकी शरीरगत नाडीसे हेने-
वाली गतिका प्रतिपादन करना
आवश्यक है, इसीलिये अष्टम
प्रपाठकका आरम्भ किया जाता है ।

दिशा, देश, गुण, गति और
फलभेदसे शून्य जो परमार्थ सत्-

बुद्धीनामसदिव प्रतिभाति ।
सन्मार्गस्थास्तावद्भवन्तु; ततः
शनैः परमार्थसदपि ग्राहयिष्या-
मीति मन्यते श्रुतिः ।

अद्वितीय ब्रह्म है, वह मन्त्रबुद्धि
पुरुषोंको अस्तत्के समान प्रतीत
होता है; ये सन्मार्गमें स्थित हों,
तब धीरे धीरे मैं इन्हें परमार्थ
सत्को भी ग्रहण करा दूँगी—ऐसा
श्रुति मानती है ।

हरिः ॐ अथ यदिदमस्मिन्ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं
वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशस्तस्मिन्यदन्तस्तदन्वेष्टव्यं
तद्वाव विजिज्ञासितव्यमिति ॥ १ ॥

अब इस ब्रह्मपुरके भीतर जो यह सूक्ष्म कमलाकार स्थान है इसमें
जो सूक्ष्म आकाश है उसके भीतर जो वस्तु है उसका अन्वेषण करना
चाहिये और उसीकी जिज्ञासा करनी चाहिये ॥ १ ॥

अथानन्तरं यदिदं वक्ष्यमाणं
दहरमल्पं पुण्डरीकं पुण्डरीक-
सदृशं वेश्मेव वेश्म द्वायपालादि-
मन्वान्; अस्मिन्ब्रह्मपुरे ब्रह्मणः
परस्य पुरं राज्ञोऽनेकप्रकृतिमग्रथा
पुरं तथेदमनेकेन्द्रियमनोबुद्धि-
भिः स्वाम्यर्थकारिभिर्युक्तमिति
ब्रह्मपुरम् । पुरे च वेश्म राज्ञो
यथा तथा तस्मिन् ब्रह्मपुरे शरीरे
दहरं वेश्म ब्रह्मण उपलब्ध्यधि-

अथ—इसके पश्चात् [यह कहा
जाता है कि] यह जो आगे
कहा जानेवाला दहर अर्थात् छोटा-
सा कमल सदृश गृह है—द्वाय-
पालादिसे युक्त होनेके कारण जो
गृहके समान गृह है वह इस
ब्रह्मपुरमें—ब्रह्म यानी परमात्माके
पुरमें, जैसा कि राजाका अनेकों
प्रजाओंसे युक्त पुर होता है उसी
प्रकार यह (शरीर) भी [आत्मा-
रूप] अपने स्वामीका अर्थ सिद्ध
करनेवाली अनेकों इन्द्रियों तथा मन
और बुद्धिसे युक्त पुर है, अतः यह
ब्रह्मपुर है । जिस प्रकार पुरमें
राजाका भवन होता है उसी प्रकार
उस ब्रह्मपुररूप शरीरमें एक सूक्ष्म
गृह अर्थात् ब्रह्मकी उपलब्धिका
अधिष्ठान है, जिस प्रकार कि शाल-

ष्ठानमित्यर्थः, यथा विष्णोः
शालग्रामः ।

अस्मिन् हि स्वविकारशुद्धे
देहे नामरूपव्याकरणाय प्रविष्टं
सदाख्यं ब्रह्म जीवेनात्मनेत्यु-
क्तम् । तस्मादस्मिन्हृदयपुण्ड-
रीके वेश्मन्युपसंहृतकरणैर्गह्ववि-
षयविरक्तैर्विशेषतो ब्रह्मचर्यसत्य-
साधनाभ्यां युक्तैर्वक्ष्यमाणगुण-
वद्ध्यायमानैर्ब्रह्मोपलभ्यत इति
प्रकरणार्थः ।

दहरोऽल्पतरोऽस्मिन्दहरे
वेश्मनि वेश्मनोऽल्पत्वाच्चदन्त-
वर्तिनोऽल्पतरुवं वेश्मनोऽन्तरा-
काश आकाशाख्यं ब्रह्म ।
आकाशो वै नामेति हि वक्ष्यति ।
आकाश इवाशरीरत्वात्सूक्ष्मत्व-
सर्वगतत्वसामान्याच्च । तस्मिन्ना-

ग्रामशिला विष्णुकी उपलब्धिकी अधि-
ष्ठान होती है—ऐसा इसका तात्पर्य है ।

इस अपने विकारभूत कार्य—
देहमें सत्संज्ञक ब्रह्म नामरूपकी
अभिव्यक्ति करनेके लिये जीवात्म-
भावसे अनुप्रविष्ट है—यह कहा
जा चुका है । इसीसे जिन्होंने इस
हृदयकमलरूप भवनमें अपने इन्द्रिय-
वर्गका उपसंहार कर दिया है उन
बाह्य विषयोंसे विरक्त, विशेषतः
ब्रह्मचर्य एवं सत्यरूप साधनोंसे
सम्पन्न तथा आगे वतलाये जानेवाले
गुणोंसे युक्त पुरुषोंद्वारा चिन्तन
किये जानेपर ब्रह्मकी उपलब्धि
होती है—ऐसा इस प्रकरणका
तात्पर्य है ।

इस सूक्ष्म गृहमें दहर—
अत्यन्त सूक्ष्म अन्तराकाश यानी
आकाशसंज्ञक ब्रह्म है । गृह सूक्ष्म
होनेके कारण उसके अन्तर्वर्ती
आकाशका सूक्ष्मतरत्व सिद्ध होता
है । 'आकाश ही नाम-रूपका
निर्वाह करनेवाला है' ऐसा श्रुति
कहेगी भी । आकाशके समान
अशरीर होनेके कारण तथा सूक्ष्मत्व
और सर्वगतत्वमें उससे समानता
होनेके कारण [उसे आकाश कहा

काशाख्ये यदन्तर्मध्ये तदन्वेष्ट-
व्यम् । तद्वाव तदेव च विशेषेण
जिज्ञासितव्यं शुर्वाश्रयश्रवणाद्यु-
पायैरन्विष्य च साक्षात्करणीय-
मित्यर्थः ॥ १ ॥

गया है] । उस आकाशसंज्ञक
तत्त्वके भीतर जो वस्तु है, उसका
अन्वेषण करना चाहिये, तथा उसी-
की विशेषरूपसे जिज्ञासा करनी
चाहिये, अर्थात् गुरुके आश्रय तथा
श्रवणादि उपायोंसे अन्वेषण करके
उसका साक्षात्कार करना चाहिये-
ऐसा इसका तात्पर्य है ॥ १ ॥

—ॐ—

तं चेद्ब्रूयुर्यदिदमस्मिन्नब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म
दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः किं तदत्र विद्यते यदन्वेष्टव्यं
यद्वाव विजिज्ञासितव्यमिति स ब्रूयात् ॥ २ ॥

उस (गुरु) से यदि [शिष्यगण] कहें कि इस ब्रह्मपुरमें जो
सूक्ष्म कमलाकार गृह है उसमें जो अन्तराकाश है उसके भीतर क्या
वस्तु है जिसका अन्वेषण करना चाहिये अथवा जिसकी जिज्ञासा करनी
चाहिये ?—तो [इस प्रकार पूछनेवाले शिष्योंके प्रति] वह आचार्य
यों कहे ॥ २ ॥

तं चेद्देवमुक्तवन्तमाचार्यं यदि
ब्रूयुरन्तेवासिनश्चोदयेयुः कथम् ?
यदिदमस्मिन्नब्रह्मपुरे परिच्छिन्ने-
ऽन्तर्दहरं पुण्डरीकं वेश्म ततो-
ऽप्यन्तरल्पतर एवाकाशः ।
पुण्डरीक एव वेश्मनि तावत्किं

इस प्रकार कहनेवाले उस
आचार्यसे यदि शिष्यगण कहें
अर्थात् शङ्का करें, किस प्रकार
शङ्का करें ?—इस परिच्छिन्न ब्रह्म-
पुरमें जो यह अन्तर्वर्ती कमलाकार
सूक्ष्म गृह है उसके भीतर तो उससे
भी सूक्ष्मतर आकाश है । प्रथम तो
उस कमलाकार गृहमें ही क्या वस्तु
रह सकती है ? फिर उससे भी

स्यात् । किं ततोऽल्पतरे खे
यद्भवेदित्याहुः । दहरोऽस्मिन्नन्त-
राकाशः किं तदत्र विद्यते न
किञ्चन विद्यत इत्यभिप्रायः ।

यदि नाम वदरमात्रं किमपि
विद्यते किं तस्यान्वेषणेन विजि-
ज्ञासनेन वा फलं विजिज्ञासितुः
स्यात् ? अतो यत्तत्रान्वेष्टव्यं
विजिज्ञासितव्यं वा न तेन
प्रयोजनमित्युक्तवतः स आचार्यो
ब्रूयादिति श्रुतेर्वचनम् ॥ २ ॥

अल्पतर आकाशमें जो हो ऐसी क्या
वस्तु हो सकती है ?—इस प्रकार
यदि वे पूछें । अभिप्राय यह है कि
इस हृदयपुण्डरीकके भीतर जो
आकाश है वह सूक्ष्म है, उसमें
क्या वस्तु हो सकती है ? अर्थात्
कुछ भी नहीं हो सकती ।

यदि बेरके समान कोई वस्तु हो
भी तो उसकी खोज अथवा जिज्ञासा
करनेसे जिज्ञासुको फल भी क्या
होगा ? अतः वहाँ जो खोज करने
योग्य अथवा जिज्ञासा करने योग्य
वस्तु है उससे हमें कोई प्रयोजन
नहीं है तो इस प्रकार कहनेवाले
शिष्योंसे आचार्यको इस प्रकार
कहना चाहिये—यह श्रुतिका वाक्य
है ॥ २ ॥



शृणुत, तत्र यद्ब्रूथ पुण्ड-
रीकान्तःखस्याल्पत्वात्तत्स्थमल्प-
तरं स्यादिति, तदसत् । न हि
खं पुण्डरीकवेशमगतं पुण्डरीका-
दल्पतरं मत्वावोचं दहरोऽस्मि-
न्नन्तराकाश इति । किन्तहि ?
पुण्डरीकमल्पं तदनुविधायि

सुनो, इस विषयमें तुम जो
कहते हो कि हृदयपुण्डरीकान्तर्गत
आकाश सूक्ष्म होनेके कारण उसका
अन्तर्वर्ती ब्रह्म और भी सूक्ष्म होगा,
वह ठीक नहीं । मैंने हृदयपुण्ड-
रीकान्तर्गत आकाशको हृदयकमलसे
सूक्ष्मतर मानकर यह नहीं कहा
कि इसका अन्तर्वर्ती आकाश सूक्ष्म
है । तो क्या बात है ?—हृदय-
कमल सूक्ष्म है उसका अनुवर्तन

तत्स्थमन्तःकरणं पुण्डरीकाकाश-
परिच्छिन्नं तस्मिन्विशुद्धे संहत-
करणानां योगिनां स्वच्छ इवो-
दके प्रतिबिम्बरूपमादर्श इव च
शुद्धे स्वच्छं विज्ञानज्योतिः-
स्वरूपावभासं तावन्मात्रं ब्रह्मो-
पलभ्यत इति दहरोऽस्मिन्नन्तरा-
काशं इत्यवोचामान्तःकरणोपा-
धिनिमित्तम्; स्वतस्तु—

करनेवाला उसका अन्तर्वर्ती अन्तः-
करण उस पुण्डरीकाकाशसे परि-
च्छिन्न है । जिन्होंने अपनी इन्द्रि-
योंका उपसंहार कर लिया है उन
योगियोंको उस विशुद्ध अन्तःकरणमें
जलमें प्रतिबिम्बके समान तथा
स्वच्छ दर्पणमें रूपके समान विशुद्ध
विज्ञानज्योतिःस्वरूपसे प्रतीत होने-
वाला ब्रह्म उसीके बराबर उपलब्ध
होता है । इसीसे अन्तःकरणरूप
उपाधिके कारण हमने यह कहा
था कि इसका अन्तर्वर्ती आकाश
अन्तःकरणरूप उपाधिके कारण
सूक्ष्म है; स्वयं तो —

यावान्वा अयमाकाशस्तावानेषोऽन्तर्हृदय आकाश-
उभे अस्मिन्वावापृथिवी अन्तरेव समाहिते उभावग्निश्च
वायुश्च सूर्याचन्द्रमसावुभौ विद्युन्नक्षत्राणि यच्चास्येहा-
स्ति यच्च नास्ति सर्वं तदस्मिन्समाहितमिति ॥ ३ ॥

जितना यह [भौतिक] आकाश है उतना ही हृदयान्तर्गत
आकाश है । ब्रूलोक और पृथिवी—ये दोनों लोक सम्यक् प्रकारसे इसके
भीतर ही स्थित हैं । इसी प्रकार अग्नि और वायु—ये दोनों, सूर्य और
चन्द्रमा—ये दोनों तथा विद्युत् और नक्षत्र एवं इस आत्माका जो कुछ
इस लोकमें है और जो नहीं है वह सब सम्यक् प्रकारसे इसीमें स्थित
है ॥ ३ ॥

यावान्नै प्रसिद्धः परिमाणतो-
 स्यमाकाशो भौतिकस्तावानेषो-
 ऽन्तर्हृदय आकाशो यस्मिन्नन्वेष्टव्यं
 विजिज्ञासितव्यं चावोचाम ।
 नाप्याकाशतुल्यपरिमाणत्वमभि-
 प्रेत्य तावानित्युच्यते । किं तर्हि ?
 ब्रह्मणोऽनुरूपस्य दृष्टान्तान्तर-
 स्याभावात् । कथं पुनर्नाका-
 शसममेव ब्रह्मेत्यवगम्यते ।
 “येनाष्टतं खं च दिवं महीं
 च” (महानारा० उ० १।३)
 “तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः
 सम्भूतः ।” (तै० उ० २।१।१)
 “एतस्मिन्नु खल्वक्षरे गार्ग्या-
 काशः ।” (वृ० उ० ३।८।११)
 इत्यादिश्रुतिभ्यः ।

किञ्चोमे अस्मिन्वावापृथिवी
 ब्रह्माकाशे बुद्ध्युपाधिविशिष्टे
 अन्तरेव समाहिते सम्यगाहिते
 स्थिते । यथा वा अरा नाभावित्युक्तं
 हि । तथोभावमिथ वायुश्चेत्यादि

परिमाणमें जितना यह भौतिक
 आकाश प्रसिद्ध है उतना ही
 यह हृदयान्तर्गत आकाश है,
 जिसके विषयमें कि हमने ‘अन्वेषण
 करना चाहिये तथा जिज्ञासा करनी
 चाहिये’ ऐसा कहा था । [यही
 नहीं] ब्रह्मको आकाशके समान
 परिमाणवाला मानकर भी ऐसा नहीं
 कहा जाता । तो फिर क्या बात
 है ?—ब्रह्मके अनुरूप कोई अन्य
 दृष्टान्त न होनेके कारण ऐसा
 कहा जाता है । [प्रश्न] किन्तु
 ब्रह्म आकाशके समान ही नहीं है—
 यह कैसे जाना जाता है ? [उत्तर]
 “जिसने आकाश, द्युलोक और
 पृथ्वीको आवृत किया हुआ है”
 “उस इस आत्मासे आकाश उत्पन्न
 हुआ” “हे गार्गि ! इस अक्षरमें ही
 आकाश स्थित है” इत्यादि श्रुतियोंसे
 यह बात सिद्ध होती है ।

यही नहीं, इस बुद्ध्युपाधि-
 विशिष्ट ब्रह्माकाशके भीतर ही
 द्युलोक और पृथिवी समाहित—
 सम्यक् प्रकारसे स्थित हैं; जिस
 प्रकारकी नाभिमें अरे—ऐसा
 पहले कह ही चुके हैं । इसी प्रकार
 अग्नि और वायु— ये दोनों भी

समानम् । यच्चास्यात्मन आत्मी-
यत्वेन देहवतोऽस्ति विद्यत इह
लोके, तथा यच्चात्मीयत्वेन न
विद्यते; नष्टं भविष्यच्च नास्तीत्यु-
च्यते । न त्वत्यन्तमेवासत्,
तस्य हृद्याकाशे समाधानानुपपत्तेः
॥ ३ ॥

स्थित हैं—इत्यादि शेष वाक्यका
तात्पर्य भी इसीके समान है । इस
देहवान् आत्माका आत्मीयरूपसे जो
कुछ पदार्थ इस लोकमें है और जो
कुछ 'आत्मीयरूपसे [इस समय]
नहीं है, नष्ट हो गया है अथवा
भविष्यमें नहीं होगा'—ऐसा कहा
जाता है [वह सब सम्यक् प्रकार-
से इसीमें स्थित है] । यहाँ अत्यन्त
असत् वस्तुसे अभिप्राय नहीं है,
क्योंकि उसकी तो हृद्याकाशमें
स्थिति होनी ही सम्भव नहीं है ॥ ३ ॥

—:०:—

तं चेद्ब्रूयुरस्मिंश्चेदिदं ब्रह्मपुरे सर्वं समाहितं
सर्वाणि च भूतानि सर्वे च कामा यदैतज्जरा वाप्नोति
प्रध्वंसते वा किं ततोऽतिशिष्यत इति ॥ ४ ॥

उस आचार्यसे यदि शिष्यगण कहें कि यदि इस ब्रह्मपुरमें यह सब
समाहित है तथा सम्पूर्ण भूत और समस्त कामनाएँ भी सम्यक् प्रकारसे
स्थित हैं तो जिस समय यह वृद्धावस्थाको प्राप्त होता अथवा नष्ट हो
जाता है उस समय क्या शेष रह जाता है ? ॥ ४ ॥

तं चेदेवमुक्तवन्तं ब्रूयुः पुनर-
न्तेवासिनोऽस्मिन्चेद्यथोक्ते चेद्यदि
किन्तु यदि इस प्रकार कहने-
वाले उस आचार्यसे शिष्यगण कहें
कि यदि इस ब्रह्मपुरमें अर्थात् ब्रह्म-
पुरोपलक्षित अन्तराकाशमें यह सब
सम्यक् प्रकारसे स्थित है तथा

इत्यर्थः । इदं सर्वं समाहितं
सर्वाणि च भूतानि सर्वे च
कामाः ।

कथमाचार्येणानुक्ताः कामा
अन्तेवासिभिरुच्यन्ते ?

नैष दोषः; यच्चास्येहास्ति
यच्च नास्तीत्युक्ता एव ह्याचार्येण
कामाः । अपि च सर्वशब्देन
चोक्ता एव कामाः । यदा
यस्मिन्काल एतच्छरीरं ब्रह्मपुरा-
ख्यं जरावलीपलितादिलक्षणा
वयोहानिर्वाप्नोति शस्त्रादिना वा
वृक्कणं प्रध्वंसते विस्रंसते विनश्यति

किं ततोऽप्यदतिशिष्यते ।

घटाश्रितक्षीस्दधिस्नेहादिवद्-
घटनाशे देहनाशेऽपि देहाश्रय-
मुत्तरोत्तरं पूर्वपूर्वनाशान्नश्यती-

सम्पूर्ण भूत और समस्त कामनाएँ
भी स्थित हैं [तो जिस समय यह
वृद्ध होता या नष्ट हो जाता है उस
समय क्या क्या रहता है ?]

शङ्का—आचार्यने जिनका निरू-
पण नहीं किया उन कामनाओंको
शिष्यगण क्यों [ब्रह्मपुरमें स्थित]
बतलाते हैं ?

समाधान—यह दोष नहीं है;
'इस लोकमें जो कुछ इसका है और
जो कुछ नहीं है' इस प्रकार
आचार्यने कामनाओंके विषयमें कहा
ही है । इसके सिवा 'सर्व' शब्दसे
भी कामनाओंका कथन हो ही
जाता है । जब—जिस समय इस
ब्रह्मपुरसंज्ञक शरीरको भुर्रियाँ पड़
जाने और केशोंके पक जाने आदि
रूपसे वृद्धावस्था अपनाती है अथवा
उसकी आयुका क्षय प्राप्त होता है
अथवा वह राखादिसे काटा जाकर
ध्वंस—विस्रंसन यानी नाशको प्राप्त
हो जाता है तो उससे भिन्न और
क्या शेष रहता है ?

अभिप्राय यह है कि घटका
नाश होनेपर घटस्थित दुग्ध, दही
और घृतादिके नाशके समान देहका
नाश होनेपर भी देहके आश्रित

त्यमिप्रायः । एवं प्राप्ते नाशे किं
ततोऽन्यद्यथोक्तादतिशिष्यतेऽव-
तिष्ठते न किञ्चनावतिष्ठत
इत्यमिप्रायः ॥ ४ ॥

उत्तरोत्तर कार्य पूर्व-पूर्व कारणका
नाश होनेके कारण नष्ट हो जाते
हैं । इस प्रकार नाश होनेपर
उपर्युक्त नाशसे भिन्न और क्या रह
जाता है ? अर्थात् कुछ भी नहीं
रहता—ऐसा इसका तात्पर्य है ॥ ४ ॥

—ॐ०ॐ—

एवमन्तेवासिभिश्चोदितः—

शिष्योंद्वारा इस प्रकार प्रश्न
किये जानेपर—

स ब्रूयान्नास्य जरयैतज्जीर्यति न वधेनास्य हन्यत
एतत्सत्यं ब्रह्मपुरमस्मिन्कामाः समाहिता एष आत्मा-
पहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः
सत्यकामः सत्यसंकल्पो यथा ह्येवेह प्रजा अन्वावि-
शन्ति यथानुशासनं यं यमन्तमभिकामा भवन्ति यं
जनपदं यं क्षेत्रभागं तं तमेवोपजीवन्ति ॥ ५ ॥

उसे कहना चाहिए 'इस (देह) की जरावस्थासे यह
(आकाशाख्य ब्रह्म) जीर्ण नहीं होता । इसके वधसे उसका नाश
नहीं होता । यह ब्रह्मपुर सत्य है; इसमें [सम्पूर्ण] कामनाएँ सम्यक्
प्रकारसे स्थित हैं; यह आत्मा है, धर्माधर्मसे शून्य है तथा जराहीन,
मृत्युहीन, शोकरहित, भोजनेच्छारहित, पिपासाशून्य, सत्यकाम और
सत्यसंकल्प है; जिस प्रकार इस लोकमें प्रजा राजाकी आज्ञाका अनुवर्तन
करती है तो वह जिस-जिस सन्निहित वस्तुकी कामना करती है तथा
जिस-जिस देश या भूभागकी इच्छा करती है उसी-उसीके आश्रित
जीवन धारण करती है' ॥ ५ ॥

स आचार्यो ब्रूयात्तन्मतिमप-

नयन् । कथम् ? अस्य देहस्य

जस्यैतद्यथोक्तमन्तराकाशाख्यं

ब्रह्म यस्मिन् सर्वं समाहितं न

जीर्यति देहवन्न विक्रियत

इत्यर्थः । न चास्य वधेन शस्त्रा-

दिघातेनैतद्धन्यते यथाकाशम्;

किमु ततोऽपि सूक्ष्मतरसशब्दम-

स्पर्शं ब्रह्म देहेन्द्रियादिदोषैर्न

स्पृश्यत इत्यर्थः ।

कथं देहेन्द्रियादिदोषैर्न स्पृ-

श्यत इत्येतस्मिन्नवसरे वक्तव्यं

प्राप्तं तत्प्रकृतव्यासङ्गो मा

भूदिति नोच्यते । इन्द्रविरोच-

नाख्यायिकायामुपरिष्ठाद्वक्ष्यामो

युक्तिः ।

एतत्सत्यमवितथं ब्रह्मपुरं

ब्रह्मैव ब्रह्म- ब्रह्मैव पुरं ब्रह्मपुरं

पुरम् शरीराख्यं तु ब्रह्म-

उस आचार्यको उनकी [गून्ध-

विपयिणी] बुद्धिहीन निवृत्ति करते

हुए इस प्रकार कहना चाहिये ।

किस प्रकार कहना चाहिये ?—

इस देहकी जरावस्थासे यह

उपयुक्त अन्तराकाशसंज्ञक ब्रह्म,

जिसमें कि सब कुछ स्थित है

जीर्ण नहीं होता, अर्थात् देहके

समान उसका विकार नहीं होता,

और न इसके वध अर्थात्

शस्त्रादिके प्रहारसे यह नष्ट ही

होता है, जैसे कि [शस्त्रादिके

आघातसे] आकाशका नाश नहीं

होता; फिर उससे भी सूक्ष्मतर

अशब्द एवं अस्पर्श ब्रह्मका देह

एवं इन्द्रियादिके दोषसे स्पर्श नहीं

होता—इस विषयमें तो कहना ही

क्या है ? यह इसका तात्पर्य है ।

देह एवं इन्द्रियादिके दोषोंसे

ब्रह्मका स्पर्श क्यों नहीं होता ?

इस बातका उल्लेख करना इस

अवसरपर आवश्यक है; परंतु

प्रसङ्गका विच्छेद न हो, इसलिये

यहाँ नहीं कहा जाता । आगे इन्द्र-

विरोचनकी आख्यायिकामें इसका

युक्तिपूर्वक वर्णन करेंगे ।

यह ब्रह्मपुर सत्य—अवितथ है ।

ब्रह्म ही पुर [अर्थात् ब्रह्मरूप पुरका

नाम] ब्रह्मपुर है । किंतु यह

पुरं ब्रह्मोपलक्षणार्थत्वात् । तच्च-
 नृतमेव, “वाचारम्भणं विकारो
 नामधेयम्” (छा० उ० ६ ।
 १ । ४) इति श्रुतेः । तद्वि-
 कारेऽनृतोऽपि देहशुद्धे ब्रह्मोपल-
 भ्यत इति ब्रह्मपुरमित्युक्तं व्याव-
 हारिकम् । सत्यं तु ब्रह्मपुर-
 मेतदेव ब्रह्म; सर्वव्यवहारास्पद-
 त्वात् । अतोऽस्मिन्पुण्डरीकोप-
 लक्षिते ब्रह्मपुरे सर्वे कामा ये
 बहिर्भवद्भिः प्रार्थ्यन्ते तेऽस्मिन्नेव
 स्वात्मनि समाहिताः । अतस्त-
 त्प्राप्त्युपायमेवानुतिष्ठत बाह्य-
 विषयतृष्णां त्यजतेत्यभिप्रायः ।

एष आत्मा भवतां स्वरूपम् ।

आत्मनो शृणुत तस्य लक्ष-
 णम् । अपहृतपाप्मा,
 अपहृतः पाप्मा धर्माधर्मा-
 ख्यो यस्य सोऽयमपहृतपाप्मा ।
 तथा विजरो विगतजरो विमृ-
 त्युश्च ।

शरीरसंज्ञक ब्रह्मपुरब्रह्मके उपलक्षण-
 के लिये होनेके कारण [ब्रह्मपुर
 कहा जाता] है । और वह तो
 मिथ्या ही है, क्योंकि “वाणीके
 आश्रित विकार नाममात्र है” ऐसी
 श्रुति है । ब्रह्मका विकार और
 मिथ्या होनेपर भी इस देहरूप
 अङ्कुर — कार्यमें ब्रह्मही उपलब्धि
 होती है, इसलिये इसे व्यावहारिक
 ब्रह्मपुर कहा गया है । वास्तविक
 ब्रह्मपुर तो यह ब्रह्म ही है, क्योंकि
 यह सम्पूर्ण व्यवहारका आश्रय है ।
 अतः इस हृदयपुण्डरीकोपलक्षित
 ब्रह्मपुरमें सम्पूर्ण कामनाएँ, जिन्हें
 कि आप बाहर पाना चाहते हैं ।
 वे सद-की-सब इस अपने आत्मामें
 ही स्थित हैं । इसलिये आपको
 उसकी प्राप्तिके उपायका ही
 अनुष्ठान करना चाहिये और बाह्य
 विषयोंकी तृष्णाका परित्याग कर
 देना चाहिये—ऐसा इसका
 तात्पर्य है ।

यह आत्मा आपका स्वरूप है ।
 आप उसका लक्षण सुनिये ।
 अपहृतपाप्मा—जिसका धर्माधर्म-
 संज्ञक पाप अपहृत—नष्ट हो गया
 है वह यह ब्रह्म अपहृतपाप्मा है ।
 इसी प्रकार विजर—जिसकी जरा-
 वस्था बीत गयी है और मृत्युहीन है ।

तदुक्तं पूर्वमेव न वधेनास्य
हन्यत इति किमर्थं पुनरुच्यते ?

यद्यपि देहसम्बन्धिभ्यां जरा-
मृत्युभ्यां न सम्बध्यते । अन्य-
थापि सम्बन्धस्ताभ्यां स्यादि-
त्याशङ्कानिवृत्त्यर्थम् ।

विशोको विगतशोकः ।
शोको नामेष्टादिवियोगनिमित्तो
मानसः सन्तापः । विजिघत्सो
विगताशनेच्छः । अपिपासो-
स्पानेच्छः ।

नन्वपहतपाप्मत्वेन जरादयः
शोकान्ताः प्रतिषिद्धा एव
भवन्ति । कारणप्रतिषेधात् ।
धर्माधर्मकार्या हि त इति ।
जरादिप्रतिषेधेन वा धर्माधर्मयोः
कार्याभावे विद्यमानयोरप्यसत्स-
मत्वमिति पृथक्प्रतिषेधोऽनर्थकः
स्यात् ।

शङ्का—‘इस (शरीर) के नाशसे
उसका नाश नहीं होता’—यह
वात तो पहले ही कही जा चुकी है,
फिर इसे पुनः क्यों कहा जाता है ?

समाधान—यद्यपि देह-सम्बन्धी
जरा-मृत्युसे उसका सम्बन्ध नहीं
होता तो भी अन्य प्रकारसे तो
उनके साथ उसका सम्बन्ध हो ही
सकता है—इस आशङ्काकी
निवृत्तिके लिये ऐसा किया गया है ।

वह—विशोक—शोकरहित—
इष्टादिका वियोग होनेके कारण
जो मानसिक संताप होता है उसे
शोक कहते हैं, विजिघत्स—
भोजनेच्छासे रहित और अपिपास-
पीनेकी इच्छासे रहित है ।

शङ्का—किंतु अपहतपाप्मत्वके
द्वारा तो जरासे लेकर शोकपर्यन्त
सभी विशेषण प्रतिषिद्ध हो जाते हैं,
क्योंकि उनके कारणका प्रतिषेध हो
जाता है, कारण वे सब धर्माधर्मके
ही कार्य हैं; अथवा जरादिके
प्रतिषेधसे धर्माधर्मका कोई कार्य न
रहनेके कारण, विद्यमान रहते हुए
भी, उनका असत्समत्व सिद्ध होता
है । इसलिये इन दोनोंका पृथक्
प्रतिषेध निरर्थक ही है ।

सत्यमेवं तथापि धर्मकार्या-
जरादि-प्रतिषेध- नन्दव्यतिरेकेण
सार्थक्यम् स्वाभाविकानन्दा
यथेश्वरे "विज्ञानमानन्दं ब्रह्म"
(बृ० उ० ३ । ६ । २८) इति
श्रुतेः । तथा धर्मकार्यजरादिव्य-
तिरेकेणापि जरादिदुःखस्वरूपं
स्वाभाविकं स्यादित्याशङ्क्यते ।
अतो युक्तस्तन्निवृत्तये जरादीनां
धर्माधर्माभ्यां पृथक्प्रतिषेधः ।
जरादिग्रहणं सर्वदुःखोपलक्षणा-
र्थम् । पापनिमित्तानां तु
दुःखानामानन्त्यात्प्रत्येकं च
तत्प्रतिषेधस्याशक्यत्वात्सर्वदुःख-
प्रतिषेधार्थं युक्तमेवापहतपाप्मत्व-
वचनम् ।

सत्या अविताः कामा यस्य
सौख्यं सत्यकामः । विता हि
संसारिणां कामाः । ईश्वरस्य
तद्विपरीताः । तथा कामहेतवः
संकल्पा अपि सत्या यस्य स
सत्यसंकल्पः । संकल्पाः कामाश्च
शुद्धसत्त्वोपाधिनिमित्ता ईश्वरस्य

समाधान—ठीक है, ऐसा ही
होता है; किंतु जिस प्रकार ईश्वरमें
धर्मके कार्यभूत आनन्दसे भिन्न
“ब्रह्म विज्ञानस्वरूप और आनन्द-
मय है” इस श्रुतिके अनुसार स्वाभा-
विक आनन्द है इसी प्रकार अधर्मके
कार्यरूप जरादिसे भिन्न स्वाभाविक
जरादि दुःखका होना भी सम्भव
है—ऐसी आशङ्का हो सकती है ।
इसलिये उसकी निवृत्तिके लिये
धर्माधर्मसे जरादिका पृथक् प्रतिषेध
करना उचित ही है । जरादिका
ग्रहण सम्पूर्ण दुःखोंके उपलक्षणके
लिये है । पापनिमित्तक दुःखोंकी
अनन्तता होनेके कारण और उनमेंसे
प्रत्येकका प्रतिषेध करना असम्भव
होनेसे सम्पूर्ण दुःखोंका प्रतिषेध
करनेके लिये उसके अपहतपाप्मत्वका
प्रतिपादन करना उचित ही है ।

जिसकी कामनाएँ सत्य—
अभिध्या हैं उसे सत्यकाम कहते
हैं । असत्य तो संसारियोंकी ही
कामनाएँ हुआ करती हैं, ईश्वरकी
कामनाएँ तो उससे विपरीत होती
हैं । इसी प्रकार जिसके कामके
हेतुभूत संकल्प भी सत्य हैं वह
ईश्वर सत्यसंकल्प है । ईश्वरके

चित्रगुवत् । न स्वतो नेति

नेतीत्युक्तत्वात् । यथोक्तलक्षण

एवात्मा विज्ञेयो गुरुभ्यः शास्त्र-

तश्चात्मसंवेद्यतया च स्वाराज्य-

कामैः ।

न चेद्विज्ञायते को दोषः

आत्मतत्त्वा- स्यादिति, शृणु-

ज्ञाने दोषः तात्र दोषं दृष्टा-

न्तेन । यथा ह्येवेह लोके प्रजा

अन्वाविशन्त्यनुवर्तन्ते यथानु-

शासनं यथेह प्रजा अन्यं स्वामिनं

मन्यमानाः स्वस्य स्वामिनो यथा

यथानुशासनं तथा तथान्वावि-

शन्ति । किम् ? यं यमन्तं

प्रत्यन्तं जनपदं क्षेत्रभागं

चाभिकामा अर्थिन्यो भवन्त्या-

त्मबुद्धयनुरूपं तं तमेव च

प्रत्यन्तादिमुपजीवन्तीति । एष

दृष्टान्तोऽस्वातन्त्र्यदोषं प्रति

पुण्यफलोपभोगे ॥ ५ ॥

संकल्प और कामना चित्रगुके

समान* उसकी शुद्धसत्त्वरूप

उपाधिके कारण हैं, स्वतः नहीं;

क्योंकि 'नेति नेति' ऐसा कहकर

उनका प्रतिषेध किया गया है ।

स्वाराज्यकी इच्छावाले पुरुषोंको

गुरु और शास्त्रद्वारा उपयुक्त

लक्षणोंवाले आत्माको ही स्वसंवेद्य-

रूपसे जानना चाहिये ।

यदि कहो कि उसे न जानें

तो भी क्या दोष है तो इसमें जो

दोष है वह दृष्टान्तपूर्वक सुनो ।

इस लोकमें जिस प्रकार प्रजा

[राजाके] अनुशासनके अनुसार

रहती है—इस लोकमें जिस प्रकार

अपनेसे भिन्न कोई अन्य स्वामी

माननेवालो प्रजा जैसी अपने

स्वामीकी आज्ञा होती है उसी

प्रकार अनुवर्तन करती है; किसका

अनुवर्तन करती है ?—वह अपनी

बुद्धिके अनुसार जिस-जिस प्रत्यन्त

(वस्तुकी संनिधि), देश अथवा

क्षेत्रभागकी कामना करती है उसी-

उसी प्रत्यन्तादिकी उपजीविनी होती

है । यह दृष्टान्त पुण्यफलोपभोगमें

अस्वातन्त्र्यदोषके प्रति है ॥ ५ ॥

—: + :—

* जिस प्रकार जिसके यहाँ चित्र-वर्णवाली गोएँ हैं उसको चित्रगु कहते हैं, उसी प्रकार ।

पुण्यकर्मफलोंका अनित्यत्व

अथान्यो दृष्टान्तस्तत्तदयं
प्रति तद्यथेहेत्यादिः ।

अब उस (कर्मफल) के क्षयके
लिये 'तद्यथेत्यादि' श्रुतिसे दूसरा
दृष्टान्त दिया जाता है—

तद्यथेह कर्मजितो लोकः क्षीयत एवमेवामुत्र
पुण्यजितो लोकः क्षीयते तद्य इहात्मानमननुविध्य ब्रज-
न्त्येताः५श्च सत्यान्कामाः५स्तेषाः५ सर्वेषु लोकेष्वकाम-
चारो भवत्यथ य इहात्मानमननुविध्य ब्रजन्त्येताः५श्च सत्यान्
कामाः५स्तेषाः५सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति ॥ ६ ॥

जिस प्रकार यहाँ कर्मसे प्राप्त किया हुआ लोक क्षीण हो जाता है
उसी प्रकार परलोकमें पुण्योपाजित लोक क्षीण हो जाता है । जो लोग
इस लोकमें आत्माको और इन सत्य कामनाओंको बिना जाने ही परलोक-
गामी होते हैं उनकी सम्पूर्ण लोकोंमें यथेच्छगति नहीं होती और जो इस
लोकमें आत्माको तथा सत्य कामनाओंको जानकर [परलोकमें] जाते हैं
उनकी समस्त लोकोंमें यथेच्छगति होती है ॥ ६ ॥

तत्तत्र यथेह लोके तासामेव
स्वाम्यनुशासनानुवर्तिनीनां प्रजा-
नां सेवादिजितो लोकः पराधी-
नोपभोगः क्षीयतेऽन्तवान्भवति ।
अथेदानीं दार्ष्टान्तिकमुपसंहरति
एवमेवामुत्राग्निहोत्रादिपुण्यजितो
लोकः पराधीनोपभोगः क्षीयत
एवेति ! उक्तो दोष

सो जिस प्रकार इस लोकमें अपने
स्वामीके अनुशासनका अनुवर्तन
करनेवाली उन प्रजाओंका सेवादि-
कर्मसे प्राप्त किया हुआ यह लोक,
जिसका उपभोग पराधीन है, क्षीण—
अन्तवान् हो जाता है—अब श्रुति
दार्ष्टान्तिका उपसंहार करती है—
उसी प्रकार परलोकमें अग्निहोत्रादि
पुण्यकर्मसे प्राप्त किया हुआ लोक
भी, जिसका उपभोग पराधीन है,
क्षीण ही हो जाता है । उक्त दोष

एषामिति विषयं दर्शयति तद्य

इत्यादिना ।

तत्तत्रेहास्मिँल्लोके ज्ञानकर्म-
णारधिकृता योग्याः सन्त
आत्मानं यथोक्तलक्षणं शास्त्रा-
चार्योपदिष्टमनुविद्य यथोपदेश-
मनु स्वसंवेद्यतामकृत्वा व्रजन्ति
देहादस्मात्प्रयन्ति । य एतांश्च
यथोक्तान्सत्यान्सत्यसंकल्पकार्या
श्च स्वात्मस्थान् कामाननुविद्य-
व्रजन्ति तेषां सर्वेषु लोकेष्वका-
मचारोऽस्वतन्त्रता भवति । यथा
राजानुशासनानुवर्तिनीनां प्रजा-
नामित्यर्थः ।

अथ येऽन्य इह लोक
आत्मानं शास्त्राचार्योपदेशमनु-
विद्य स्वात्मसंवेद्यतामापाद्य
व्रजन्ति यथोक्तांश्च सत्यान्कामा-
स्तेषां सर्वेषु लोकेषु कामचारो
भवति राज्ञ इव सावभौमस्येह
लोके ॥ ६ ॥

इन (अनात्मवेत्ताओं) को ही प्राप्त होता है—इस प्रकार श्रुति 'तद्ये' इत्यादि वाक्यसे दोषका विषय दिखलाती है ।

सो इस लोकमें ज्ञान और कर्मके अधिकारी अर्थात् योग्यता-सम्पन्न होकर जो लोग शास्त्र और आचार्यद्वारा उपदेश किये हुए उपयुक्त लक्षणवाले आत्माको उनके उपदेशके अनुसार बिना जाने—स्वात्मसंवेद्यताको बिना प्राप्त किये इस देहसे चले जाते हैं और जो इन उपयुक्त सत्य—सत्यसंकल्पकी कार्यभूत अपने अन्तःकरणमें स्थित सत्य कामनाओंको बिना जाने चले जाते हैं उनकी सम्पूर्ण लोकोंमें अकामगति—अस्वतन्त्रता होती है । जिस प्रकार कि राजाकी आज्ञाका अनुवर्तन करनेवाली प्रजाओंकी परतन्त्रता रहती है ।

और जो दूसरे लोग इस लोकमें शास्त्र और आचार्यके उपदेशके अनुसार आत्माको जानकर—स्वात्मसंवेद्यताको प्राप्त करके और उपयुक्त सत्य कामनाओंको जानकर परलोकमें जाते हैं उनकी इस लोकमें सार्वभौम राजाके समान सम्पूर्ण लोकोंमें यथेच्छगति होती है ॥ ६ ॥

—:०:—

इतिच्छान्दोग्योपनिषदष्टमाध्याये
प्रथमखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥ १ ॥

—❀:❀—

द्वितीय खण्ड

—:०:—

बहर-ब्रह्मकी उपासनाका फल

कथं सर्वेषु लोकेषु कामचारो
भवतीत्युच्यते । य आत्मानं
यथोक्तलक्षणं हृदि साक्षात्कृत-
वान्वक्ष्यमाणब्रह्मचर्यादिसाधन-
सम्पन्नः संस्तत्स्थांश्च सत्यान्
कामान्—

उत्तकी सम्पूर्ण लोकोंमें किस
प्रकार यथेच्छगति हो जाती है, यह
बतलाते हैं—जिसने आगे बतलाये
जानेवाले ब्रह्मचर्यादि साधनोंसे
सम्पन्न हो अपने हृदयमें [अर्थात्
ध्यानके द्वारा] उपर्युक्त लक्षणों-
वाले आत्माका साक्षात्कार किया है
तथा उसमें रहनेवाले सत्य कामोंको
प्राप्त किया है—

स यदि पितृलोककामो भवति संकल्पादेवास्य
पितरः समुत्तिष्ठन्ति तेन पितृलोकेन सम्पन्नो मही-
यते ॥ १ ॥

वह यदि पितृलोककी कामनावाला होता है तो उसके संकल्पसे
ही पितृगण वहाँ उपस्थित होते हैं [अर्थात् उसके आत्मसम्बन्धी हो
जाते हैं,] उस पितृलोकसे सम्पन्न होकर वह महिमान्वित होता है ॥१॥

स त्यक्तदेहो यदि पितृलोक-
कामः पितरो जनयितारस्त एव
सुखहेतुत्वेन भोग्यत्वान्नोका
उच्यन्ते तेषु कामो यस्य तैः
पितृभिः सम्बन्धेच्छा यस्य
भवति तस्य संकल्पमात्रादेव

वह यदि देह छोड़नेपर पितृ-
लोककी कामनावाला होता है—
पितर उत्पत्तिकर्त्ताओंको कहते हैं,
सुखसे हेतुरूपसे भोग्य होनेके
कारण वे ही लोक कहे जाते हैं,
उनके प्रति जिसकी कामना होती
है अर्थात् उन पितृगणके साथ
सम्बन्ध करनेकी जिनकी इच्छा

पितरः समुत्तिष्ठन्त्यात्मसम्बन्धि-
तामापद्यन्ते । विशुद्धसत्त्वतया
सत्यसंकल्पत्वादीश्वरस्येव तेन
पितृलोकेन भोगेन सम्पन्नः सम्प-
त्तिरिष्टप्राप्तिस्तया समृद्धो मही-
यते पूज्यते वर्धते वा महिमान-
मनुभवति ॥ १ ॥

होती है उसके संकल्पमात्रसे ही
पितृगण समुत्थित हो जाते हैं
अर्थात् आत्म-सम्बन्धित्वको प्राप्त
हो जाते हैं । शुद्धचित्त होनेसे ईश्वरके
समान सत्यसंकल्प होनेके कारण
वह उस पितृलोकके भोगसे सम्पन्न
हो-सम्पत्ति इष्टप्राप्तिका नाम है-
उससे समृद्ध हो वह महनीय पूजित
होता अथवा वृद्धिको प्राप्त होता है
यानी महिमाका अनुभव करता
है ॥ १ ॥

—:❁:—

अथ यदि मातृलोककामो भवति संकल्पादेवास्य
मातरः समुत्तिष्ठन्ति तेन मातृलोकेन सम्पन्नो मही-
यते ॥ २ ॥

और यदि वह मातृलोककी कामनावाला होता है तो उसके
संकल्पसे ही माताएँ वहाँ उपस्थित हो जाती हैं । उस मातृलोकसे
सम्पन्न हो वह महिमाको प्राप्त होता है ॥ २ ॥

अथ यदि भ्रातृलोककामो भवति संकल्पादेवा-
स्य भ्रातरः समुत्तिष्ठन्ति तेन भ्रातृलोकेन सम्पन्नो
महीयते ॥ ३ ॥

और यदि वह भ्रातृलोककी कामनावाला होता है तो उसके
संकल्पसे ही भ्रातृगण वहाँ उपस्थित हो जाते हैं । उस भ्रातृलोकसे
सम्पन्न हो वह महिमाको प्राप्त होता है ॥ ३ ॥

अथ यदि स्वस्त्रलोककामो भवति संकल्पादेवा-
स्य स्वसारः समुत्तिष्ठन्ति तेन स्वस्त्रलोकेन सम्पन्नो
महीयते ॥ ४ ॥

और यदि वह भगिनीलोककी कामनावाला होता है तो उसके संकल्पसे ही वहनें वहाँ उपस्थित हो जाती हैं । उस भगिनीलोकसे सम्पन्न हो वह महिमाको प्राप्त होता है ॥ ४ ॥

अथ यदि सखिलोककामो भवति संकल्पादेवास्य सखायः समुत्तिष्ठन्ति तेन सखिलोकेन सम्पन्नो महीयते ॥ ५ ॥

और यदि वह सखाओंके लोककी कामनावाला होता है तो उसके संकल्पसे ही सखालोग वहाँ उपस्थित हो जाते हैं । उस सखाओंके लोकसे सम्पन्न हो वह महिमाको प्राप्त होता है ॥ ५ ॥

अथ यदि गन्धमाल्यलोककामो भवति संकल्पादेवास्य गन्धमाल्ये समुत्तिष्ठतस्तेन गन्धमाल्यलोकेन सम्पन्नो महीयते ॥ ६ ॥

और यदि वह गन्धमाल्यलोककी कामनावाला होता है तो उसके संकल्पसे ही गन्धमाल्यादि वहाँ उपस्थित हो जाते हैं । उस गन्धमाल्यलोकसे सम्पन्न हो वह महिमाको प्राप्त होता है ॥ ६ ॥

अथ ययन्नपानलोककामो भवति संकल्पादेवास्यान्नपाने समुत्तिष्ठतस्तेनान्नपानलोकेन सम्पन्नो महीयते ॥ ७ ॥

और यदि वह अन्नपानसम्बन्धी लोककी कामनावाला होता है तो उसके संकल्पसे ही अन्नपान उसके पास उपस्थित हो जाते हैं । उस अन्नपानलोकसे सम्पन्न हो वह महिमाको प्राप्त होता है ॥ ७ ॥

अथ यदि गीतवादित्रलोककामो भवति संकल्पादेवास्य गीतवादित्रे समुत्तिष्ठतस्तेन गीतवादित्रलोकेन सम्पन्नो महीयते ॥ ८ ॥

और यदि वह गीतवाद्यसम्बन्धी लोककी कामनावाला होता है तो उसके संकल्पसे ही गीत-वाद्य वहाँ प्राप्त हो जाते हैं। उस गीतवाद्य-लोकसे सम्पन्न हो वह महिमाको प्राप्त होता है ॥ ८ ॥

अथ यदि स्त्रीलोककामो भवति संकल्पादेवास्य स्त्रियः समुत्तिष्ठन्ति तेन स्त्रीलोकेन सम्पन्नो महीयते ॥९॥

और यदि वह स्त्रीलोककी कामनावाला होता है तो उसके संकल्प-मात्रसे ही स्त्रियाँ उसके पास उपस्थित हो जाती हैं। उस स्त्रीलोकसे सम्पन्न हो वह महिमान्वित होता है ॥ ९ ॥

**समानमन्यत् । मातरां जनयि-
ज्योऽस्तीताः सुखहेतुभूताः साम-
र्थ्यात् । न हि दुःखहेतुभूतासु
ग्रामसूकरादिजन्मनिमित्तासु
मातृषु विशुद्धसत्त्वस्य योगिन
इच्छा तत्सम्बन्धो वा युक्तः
॥ २-६ ॥**

शेष सब इसीके समान है ।
मातृगण अर्थात् अतीत जन्म देने-
वाली माताएँ जो योग्यताके अनुसार
सुखकी हेतुभूता हैं, क्योंकि दुःखकी
हेतुभूत ग्रामसूकरादि जन्मोंकी
कारणस्वरूपा माताओंके प्रति विशुद्ध
चित्त योगीकी इच्छा अथवा उनसे
सम्बन्ध होना सम्भव नहीं है ॥२-६॥

—:०:—

यं यमन्तमभिकामो भवति यं कामं कामयते सोऽस्य संकल्पादेव समुत्तिष्ठति तेन सम्पन्नो महीयते ॥१०॥

वह जिस-जिस प्रदेशकी कामना करनेवाला होता है और जिस-जिस भोगकी इच्छा करता है वह सब उसके संकल्पसे ही उसको प्राप्त हो जाता है। उससे सम्पन्न होकर वह महिमाको प्राप्त होता है ॥१०॥

यं यमन्तं प्रदेशमभिकामो
भवति । यं च कामं कामयते
यथोक्तव्यतिरेकेणापि सोऽस्यान्तः
प्राप्तुमिष्टः कामश्च संकल्पादेव
समुत्तिष्ठत्यस्य । तेनेच्छाविधात-
तयाभिप्रेतार्थप्राप्त्या च सम्पन्ना
महीयत इत्युक्तार्थम् ॥ १० ॥

वह जिस-जिस अन्त यानी
प्रदेशकी कामना करनेवाला होता
है और उपयुक्त भोगोंसे भिन्न जिस
भोगकी इच्छा करता है वह इसका
पानेके लिये अभिमत प्रदेश और भोग
इसे संकल्पमात्रसे प्राप्त हो जाता है ।
उससे अर्थात् इच्छाके अविधात और
अभिमत पदार्थकी प्राप्तिसे सम्पन्न हो
वह महिमाको प्राप्त होता है—इस
प्रकार यह अर्थ पहले कहा ही जा
चुका है ॥ १० ॥

तिच्छान्दोग्योपनिषद्यष्टमाध्याये द्वितीयखण्ड-
भाष्यं सम्पूर्णम् ॥ २ ॥



तृतीय खण्ड

—❀:❀—

असत्यसे आवृत सत्य ही उपासना और नामाक्षरोपासना

यथोक्तात्मध्यानसाधनानुष्ठानं
प्रति साधकानामुत्साहजनार्थं
मनुक्रीशन्त्याह—कष्टमिदं खलु
वर्तते यत्स्वात्मस्थाः शक्यप्राप्या
अपि —

उपर्युक्त आत्मध्यानरूप साधनके
अनुष्ठानके प्रति साधकोंमें उत्साह
पैदा करनेके लिये दया करनेवाली
श्रुति कहती है—यह बड़े ही कष्टकी
वात है कि अपने आत्मामें ही स्थित
और प्राप्त होने योग्य भी—

त इमे सत्याः कामा अनृतापिधानास्तेषां सत्या-
नां सतामनृतमपिधानं यो यो ह्यस्येतः प्रैति न तमिह
दर्शनाय लभते ॥ १ ॥

वे ये सत्यकाम अनृताच्छादनयुक्त हैं। सत्य होनेपर भी अनृत
(मिथ्या) उनका अपिधान (आच्छादन करनेवाला) है, क्योंकि इस प्राणीका
जो जो [सम्बन्धी] यहाँसे मरकर जाता है वह-वह उसे फिर देखनेके लिये
नहीं मिलता ॥ १ ॥

त इमे सत्याः कामा अनृता-
पिधानास्तेषामात्मस्थानां स्वाश्र-
याणामेव सतामनृतं बाह्यविषयेषु
स्वयन्नभोजनाच्छादनादिषु तृष्णा
तन्निमित्तं च स्वेच्छाप्रचारत्वं
मिथ्याज्ञाननिमित्तत्वादनृतमित्यु-

वे ये सत्यकाम अनृतापिधान
(मिथ्यारूप आच्छादनवाले) हैं।
अपने ही आश्रित रहनेवाली उन
आत्मस्थित कामनाओंका अनृत
[अपिधान है]—स्ती, अन्न, भोजन
और वस्त्रादि बाह्य विषयोंमें जो तृष्णा
है उसके कारण होनेवाला स्वेच्छाचार
मिथ्याज्ञानजनित होनेके कारण
'अनृत' कहा जाता है; उनके

च्यते । तन्निमित्तं सत्थानां
कामानामप्राप्तिरित्यपिधानमिवा-
पिधानम् ।

कथमनृतापिधाननिमित्तं तेषा-
मल्लभः ? इत्युच्यते; यो यो हि
यस्मादस्य जन्तोः पुत्रो भ्राता
वैष्ट इतोऽस्मात्प्रोक्ताः त्रैति म्रियते
तमिष्टं पुत्रं भ्रातरं वा स्वहृदया-
काशे विद्यमानमपीह पुनर्दर्शना-
येच्छन्नपि न लभते ॥ १ ॥

कारण सत्यकामनाओंकी प्राप्ति
नहीं होती इसलिये वह अपिधानके
समान अपिधान है [वास्तविक
अपिधान नहीं है] ।

मिथ्या अपिधानके कारण उनकी
प्राप्ति किस प्रकार नहीं होती, सो
बतलाया जाता है; क्योंकि इस
जीवका जो-जो पुत्र, भाई अथवा
इष्ट इस लोकसे मरकर जाता है,
अपने हृदयाकाशमें विद्यमान रहनेपर
भी उस इष्ट, पुत्र अथवा भाईको
वह इच्छा करनेपर भी इस लोकमें
फिर देखनेको नहीं पाता ॥ १ ॥

—**—

अथ ये चास्येह जीवा ये च प्रेता यच्चान्यदिच्छन्त
लभते सर्वं तदत्र गत्वा विन्दतेऽत्र ह्यस्यैते सत्याः कामा
अनृतापिधानास्तद्यथापि हिरण्यनिधिं निहितमक्षेत्रज्ञा
उपर्युपरि सञ्चरन्तो न विन्देयुरेवमेवेमाः सर्वाः प्रजा
अहरहर्गच्छन्त्य एतं ब्रह्मलोकं न विन्दन्त्यनृतेन हि
प्रत्यूढाः ॥ २ ॥

तथा उस लोकमें अपने दिन जीवित अथवा जिन मृतक [पुत्रादि]
को और जिन अन्य पदार्थोंको यह इच्छा करते हुए भी प्राप्त नहीं करता
उन सबको यह इस (हृदयाकाशस्थित ब्रह्म) में जाकर प्राप्त कर लेता
है; क्योंकि यहाँ इसके ये सत्यकाम अनृतसे ढके हुए रहते हैं । इस
विषयमें यह दृष्टान्त है—जिस प्रकार पृथिवीमें गड़े हुए सुवर्णके खजानेको

उस स्थानसे अनभिज्ञ पुरुष ऊपर-ऊपर विचरते हुए भी नहीं जानते इसी प्रकार यह सारी प्रजा नित्यप्रति ब्रह्मलोकको जाती हुई उसे नहीं पाती, क्योंकि यह अनृतके द्वारा हर ली गयी है ॥ २ ॥

अथ पुनर्ये चास्य विदुषा
जन्तोर्जीवा जीवन्तीह पुत्रा
भ्रात्रादयो वा ये च प्रेता मृता
इष्टाः सस्त्रन्धिनो यच्चान्यदिह
लोके वस्त्रान्नपानादि रत्नादि वा
वस्विच्छन्न लभते तत्सर्वमत्र
हृदयाकाशाख्ये ब्रह्मणि गत्वा
यथोक्तेन विधिना विन्दते लभते ।
अत्रास्मिन्हादाकाशे हि यस्माद-
स्यैते यथोक्ताः सत्याः कामा
वर्तन्तेऽनृतापिधानाः ।

कथमिव तदन्यायमित्यु-

च्यते । तत्तत्र यथा हिरण्यनिधिं

हिरण्यमेव पुनर्ग्रहणाय निधातु-

भिनिधीयत इति निधिस्तं हिरण्य-

निधिं निहितं भूमेरधस्तान्निधि-

क्षेत्रज्ञा निधिशास्त्रैर्निधिक्षेत्र-

तथा इत्त विद्वान् प्राणीको जो
जीव—इस लोकमें जीवित पुत्र या
भ्राता आदि, अथवा जो प्रेत—
मरे हुए इष्टसम्बन्धी तथा इस लोकमें
जो वस्त्र एवं अन्न-पानादि और
रत्नादि पदार्थ इच्छा करनेपर भी
नहीं मिलते उन सबको यह इस
हृदयाकाशरूप ब्रह्ममें पहुँचकर
उपयुक्त विधिसे प्राप्त कर लेता है,
क्योंकि यहाँ उसके इस हृदयाकाशमें
ये उपयुक्त सत्य काम मिथ्यासे
आच्छादित हुए वर्तमान रहते हैं ।

[अपने आत्मभूत ब्रह्ममें विद्यमान
रहनेपर भी कामनाएँ यहाँ उपलब्ध
नहीं होतीं] यह असङ्गत बात
कैसे हो सकती है? यह बतलाया
जाता है । इस विषयमें यह दृष्टान्त
है—जिस प्रकार हिरण्यनिधि—
हिरण्य (सुवर्ण) ही, घरोहर
रखनेवाले पुरुषोंद्वारा पुनः ग्रहण
करनेके लिये घरोहररूपसे निहित
किया (रख दिया) जाता है,
इसलिये निधि है । भूमिके नीचे

मजानन्तस्ते निधेरुपर्युपरि सञ्च-
रन्तोऽपि निधिं न विन्देयुः
शक्यवेदनमपि; एवमेवेमा
अविद्यावत्यः सर्वा इमाः प्रजा
यथोक्तं हृदयाकाशस्थं ब्रह्मलोकं
ब्रह्मैव लोको ब्रह्मलोकस्तमहरहः
प्रत्यहं गच्छन्त्योऽपि सुप्तकाले
न विन्दन्ति न लभन्ते एषोऽहं
ब्रह्मलोकभावमापन्नोऽस्म्यद्येति ।
अनृतेन हि यथोक्तेन हि
यस्मात्प्रत्यूढा हताः स्वरूपाद-
विद्यादिदोषैर्वहिरपकृष्टा इत्यर्थः ।
अतः कष्टमिदं वर्तते जन्तूनां
यत्स्वायत्तमपि ब्रह्म न लभ्यत
इत्यभिप्रायः ॥ २ ॥

निहित—निक्षिप्त (रखी हुई)
उत्त सुवर्णनिधिको जिस प्रकार
उत्त स्थानसे अनभिज्ञ—निधि-
शालद्वारा निधिक्षेत्रको न जानने-
वाले पुरुष निधिके ऊपर सञ्चार
करते हुए भी, जिसका ज्ञान प्राप्त
होना सम्भव भी है उस निधिको
भी नहीं जानते उसी प्रकार यह
सम्पूर्ण अविद्यावती प्रजा उपयुक्त
हृदयाकाशसंज्ञक लोकको—ब्रह्म
यही लोक है उस ब्रह्मलोकको सुप्ति
कालमें प्रतिदिन जानेपर भी 'यह मैं
इस समय ब्रह्मलोकभावको प्राप्त हो
गया हूँ' इस प्रकार नहीं उपलब्ध
करतीं, क्योंकि वह उपयुक्त अमृतसे
प्रत्यूढ—हूत है अर्थात् अविद्यादि
दोषोंद्वारा—अपने स्वरूपसे बाहर
खींच ली गयी है । अतः यह बड़े
कष्टकी बात है कि स्वायत्त होनेपर
भी जीवोंको ब्रह्मकी प्राप्ति नहीं
होती—ऐसा इसका तात्पर्य है ॥२॥

—❧—

स वा एष आत्मा हृदि तस्यैतदेव निरुक्तं हृद्य-
मिति तस्माद्धृदयमहरहर्वा एवंविस्वर्गं लोकमेति ॥३॥

वह यह आत्मा हृदयमें है । 'हृदि त्रयम्' (यह हृदयमें है) यही
इसका निरुक्त (व्युत्पत्ति) है । इसीसे यह 'हृदय' है । इस प्रकार
जाननेवाला पुरुष प्रतिदिन स्वर्गलोकको जाता है ॥ ३ ॥

स वै यः 'आत्मापहतपाप्मा' इति प्रकृतो वैशब्देन तं स्मारयति, एष विवक्षित आत्मा हृदि हृदय-पुण्डरीक आकाशशब्देनाभिहितः । तस्यैतस्य हृदयस्यैतदेव निरुक्तं निर्वचनं नान्यत् । हृदयमात्मा वर्तत इति यस्मात्तस्माद्धृदयम् । हृदयनामनिर्वचनप्रसिद्ध्यापि स्वहृदय आत्मेत्यवगन्तव्यमित्यभिप्रायः । अहरहर्वै प्रत्यहमेवंविद्धृदयमात्मेति जानन्न स्वर्गं लोकं हार्दं ब्रह्मैति प्रतिपद्यते ।

नन्वनेवंविदपि सुषुप्तकाले हार्दं ब्रह्म प्रतिपद्यत एव सुषुप्तकाले सता सोम्य तदा सम्पन्न इत्युक्तत्वात् ।

वाढमेवं तथाप्यस्ति विशेषः । यथा जानन्नजानंश्च सर्वो जन्तुः

वह जो आत्मा है, 'आत्मापहतपाप्मा' इस प्रकार जिसका प्रकरण है उस आत्माका ही श्रुति 'वै' शब्दसे स्मरणक राती है । यह विवक्षित आत्मा हृदय-पुण्डरीकमें 'आकाश' शब्दसे कहा गया है । उस इस हृदयका यही निरुक्त-निर्वचन (व्युत्पत्ति) है, अन्य नहीं । क्योंकि यह आत्मा हृदयमें विद्यमान है इसलिये यह हृदय है । इस प्रकार 'हृदय' इस नामके निर्वचनकी प्रसिद्धिसे भी 'आत्मा अपने हृदयमें है' ऐसा जानना चाहिये—ऐसा इसका अभिप्राय है । अहरहः—प्रतिदिन इस प्रकार जाननेवाला अर्थात् 'यह आत्म हृदयमें है' इस प्रकार जाननेवाला पुरुष स्वर्गलोक—हृदयस्थ ब्रह्मको प्राप्त होता है ।

शङ्का—किंतु इस प्रकार न जाननेवाला भी सुषुप्तकालमें ब्रह्मको प्राप्त होता ही है, क्योंकि सुषुप्तकालमें 'हे सोम्य ! उस समय यह सत्से सम्पन्न हो जाता है' ऐसा कहा गया है ।

समाधान—ठीक है, ऐसा ही है । तो भी कुछ विशेषता है । जिस प्रकार विद्वान् और अविद्वान्

सद्ब्रह्मैव तथापि तत्त्वमसीति
 प्रतिबोधितो विद्वान्सदेव नान्यो-
 ऽस्मीति जानन्सदेव भवति ।
 एवमेव विद्वानविद्वांश्च सुषुप्ते
 यद्यपि सत्सम्पद्यते तथाप्येवंवि-
 देव स्वर्गं लोकमेतीत्युच्यते ।
 देहपातेऽपि विद्याफलस्यावश्यं-
 भावित्वादित्येष विशेषः ॥ ३ ॥

सभी जीव सद्ब्रह्म ही है, तथापि
 'तू वह है' इस प्रकार बोधित किया
 हुआ विद्वान् 'मैं सत् ही हूँ, और
 कुछ नहीं' इस प्रकार जानता हुआ
 सत् ही हो जाता है । इसी प्रकार
 यद्यपि सुषुप्तमें विद्वान् और अविद्वान्
 दोनों ही सत्को प्राप्त होते हैं, तो
 भी केवल इस प्रकार जाननेवाला
 ही स्वर्गलोकको प्राप्त होता है—ऐसा
 कहा जाता है, क्योंकि देहपात
 होनेपर भी विद्याका फल अवश्य-
 म्भावी है । यही इसकी विशेषता
 है ॥ ३ ॥

—**—

अथ य एष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं
 ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यत एष आत्मेति
 होवाचैतदमृतमभयमेतद्ब्रह्मेति तस्य ह वा एतस्य
 ब्रह्मणो नाम सत्यमिति ॥ ४ ॥

यह जो सम्प्रसाद है वह इस शरीरसे उत्थान कर परम ज्योतिको
 प्राप्त हो अपने स्वरूपसे युक्त हो जाता है । यह आत्मा है, यही अमृत एवं
 अभय है और यही ब्रह्म है—ऐसा आचार्यने कहा । उस इस ब्रह्मका 'सत्य'
 यह नाम है ॥ ४ ॥

सुषुप्तकाले स्वेनात्मना सता
 सम्पन्नः सन्सम्यक् प्रसीदतीति
 जाग्रत्स्वप्नयोर्विषयेन्द्रियसंयोग-

सुषुप्तकालमें अपने आत्मा
 सत्से सम्पन्न हुआ पुरुष सम्यक्
 रूपसे प्रसन्न होता है, अतः वह
 जाग्रत् तथा स्वप्नके विषय और
 इन्द्रियोंके संयोगसे प्राप्त हुई

जातं कालुष्यं जहातीति सम्प्र-
सादशब्दो यद्यपि सर्वजन्तूनां
साधारणस्तथाप्येवंविद्वत्स्वर्गं लोक-
मेतीति प्रकृतत्वादेव सम्प्रसाद
इति संनिहितवद्यत्तविशेषात् ।

सोऽथेदं शरीरं हित्वास्माच्छु-
रीरात्समुत्थाय शरीरात्मभावनां
परित्यज्येत्यर्थः । न त्वासनादिव
समुत्थायेतीह युक्तम्; स्वेन
रूपेणेति विशेषणात् । न ह्यन्यत्
उत्थाय स्वरूपं सम्पत्तव्यम् ।
स्वरूपमेव हि तन्न भवति प्रति-
पत्तव्यं चेत्स्यात् । परं परमात्म-
लक्षणं विज्ञप्तिस्वभावं ज्योति-

कालिमाको त्याग देता है; इसलिये
यद्यपि 'सम्प्रसाद' शब्द 'सम्पूर्ण'
जीवोंके लिये साधारण है, तो भी
इस प्रकार जाननेवाला स्वर्गलोकको
प्राप्त होता है' ऐसा [विद्वत्सम्बन्धी]
प्रकरण होनेके कारण 'एष सम्प्रसादः'
यह प्रयोग इस विद्वान्के लिये ही
आया है; क्योंकि यहाँ संनिहितके
समान विशेष यत्न किया गया है ।*

इस प्रकारका विवेक होनेके
पश्चात् वह विद्वान् इस शरीरको
त्यागकर इस शरीरसे उत्थान कर
अर्थात् देहात्मबुद्धिको त्यागकर—
यहाँ 'आसनसे उठनेके समान
शरीरसे उठकर' ऐसा अर्थ करना
उचित नहीं है, क्योंकि 'स्वेन रूपेण'
(अपने स्वरूपसे) ऐसा विशेषण
दिया गया है और अपने स्वरूपकी
प्राप्ति किसी अन्य स्थानसे उत्थान
करके की नहीं जाती, क्योंकि यदि
वह प्राप्तव्य हो तो स्वरूप ही नहीं
हो सकता—पर अर्थात् परमात्म-
लक्षण विज्ञप्तिस्वरूप ज्योतिको प्राप्त

* 'एष सम्प्रसादः' में जो 'एषः' शब्दका प्रयोग किया हुआ है वही यत्नविशेष
है । जो वस्तु समीप होती है उसीके लिये 'एषः' (यह) का प्रयोग किया जाता
है, अतः 'सम्प्रसाद' शब्दसे यद्यपि सामान्यतः सभी जीवोंका ग्रहण हो सकता है
तथापि 'एषः' रूप विशेष यत्न होनेके कारण तीसरे मन्त्रमें कहे हुए 'प्रकरण-प्राप्त'
विद्वान्के लिये ही प्रयुक्त हुआ है, क्योंकि वही समीप है ।

रूपसम्पद्य स्वास्थ्यमुपगम्येत्ये-
तत् । स्वेनात्मीयेन रूपेणाभि-
निष्पद्यते । प्रागेतस्याः स्वरूपसम्प-
त्तेरविद्यया देहमेवापरं रूपमा-
त्मत्वेनोपगत इति तदपेक्षयेद-
मुच्यते स्वेन रूपेणेति ।

अशरीरता ह्यात्मनः स्वरूपम् ।
यत्स्वं परं ज्योतिःस्वरूपमापद्यते
सम्प्रसाद एष आत्मेति होवाच ।
स ब्रूयादिति यः श्रुत्या नियुक्तो-
ऽन्तेवासिभ्यः । किञ्चैतदमृतम-
विनाशि भूमा “यो वै भूमा
तदमृतम्” (छा० उ० ७।२४ ।
१) इत्युक्तम् । अत एवाभयं
भूम्नो द्वितीयाभावादत एत-
द्ब्रह्मेति ।

तस्य ह वा एतस्य ब्रह्मणो
नामाभिधानम् । किं तत् ? सत्य-
मिति । सत्यं ह्यवितथं ब्रह्म ।
तत्सत्यं स आत्मेति ह्युक्तम् ।

हो अर्थात् आत्मस्थितिमें पहुँचकर
स्वकीय अर्थात् अपने रूपसे सम्पन्न
हो जाता है । इस स्वरूपप्राप्तिसे पूर्व
वह अपररूप देहको ही अविद्याके
कारण आत्मभावसे समझता था ।
उसीकी अपेक्षासे ‘स्वेन रूपेण’
(अपने स्वरूपसे) ऐसा कहा
गया है ।

अशरीरता ही आत्माका स्वरूप
है । जिस अपने परज्योतिःस्वरूपको
सम्प्रसाद प्राप्त होता है वही
आत्मा है—ऐसा आचार्यने कहा ।
तात्पर्य यह है कि श्रुतिने जिसे
नियुक्त किया है उस आचार्यको
शिष्योंके प्रति ऐसा कहना चाहिये ।
तथा यही अमृत—अविनाशी भूमा
है, क्योंकि “जो भूमा है वही अमृत
है” ऐसा कहा जा चुका है । इसीसे
यह अभय है, क्योंकि भूमासे भिन्न
दूसरी वस्तुका अभाव है; इसलिये
यह ब्रह्म है ।

उस इस ब्रह्मका यह नाम—
अभिधान है । वह क्या है ?—
सत्य । सत्य ही अवितथ (असद्वि-
लक्षण) ब्रह्म है, क्योंकि ‘वह
सत्य है, वह आत्मा है’ ऐसा पहले
(छा० ६।८।७ में) कहा जा

अथ किमर्थमिदं नाम पुनरुच्यते? चुका है। किंतु यह नाम किस-
लिये कहा गया है? [इसपर कहते
हैं—] उसकी उपासना-विधिकी
तदुपासनविधिस्तुत्यर्थम् ॥ ४ ॥ स्तुतिके लिये ॥ ४ ॥



तानि ह वा एतानि त्रीण्यक्षराणि सतीयमिति
तथत्सत्तदमृतमथ यत्ति तन्मर्त्यमथ यद्यं तेनोभे यच्छति
यदनेनोभे यच्छति तस्माद्यमहरहर्वा एवंविस्वर्ग
लोकमेति ॥ ५ ॥

वे ये 'सकार', 'तकार' और 'यम्' तीन अक्षर हैं। उनमें जो
'सकार' है वह अमृत है, जो 'तकार' है वह मर्त्य है और जो 'यम्' है
उससे वह दोनोंका नियमन करता है; क्योंकि इससे वह उन दोनोंका
नियमन करता है इसलिये 'यम्' इस प्रकार जाननेवाला प्रतिदिन ही
स्वर्गलोकको जाता है ॥ ५ ॥

तानि ह वा एतानि ब्रह्मणो
नामाक्षराणि त्रीण्येतानि सतीय-
मिति सकारस्तकारो यमिति च।
ईकारस्तकार उच्चारणार्थोऽनु-
बन्धः; ह्रस्वेनैवाक्षरेण पुनः प्रति-
निर्देशात्। तेषां तत्तत्र यत्सत्स-
कारस्तदमृतं सद्ब्रह्म; अमृतवाच-
कत्वादमृत एव सकारस्तकारान्तो
निर्दिष्टः। अथ यत्ति 'तका-

वे ये ब्रह्मके तीन नामाक्षर हैं
'स', 'तो' और 'यम' अर्थात् सकार,
तकार और यम् हैं। तकारमें जो
ईकार है वह उच्चारणमात्रके लिये
अनुबन्ध है, क्योंकि पीछे ह्रस्व
[इकार] से ही उसका निर्देश
किया गया है। उनमेंसे वहाँ जो
सत् यानी सकार है वह अमृत है—
सद् ब्रह्म है। अमृतका वाचक होनेके
कारण अमृतरूप सकारका ही
तकारान्त निर्देश किया गया है।
तथा जो 'ति' यानी तकार है

रस्तन्मर्त्यम् । अथ यद्यमर्त्तरं
तेनाक्षरेणामृतमर्त्याख्ये पूर्वे उभे
अक्षरे यच्छ्रुति यमयति नियम-
यति वशीकरोत्यात्मनेत्यर्थः ।

यद्यस्मादनेन यमित्येतेनोभे
यच्छ्रुति तस्माद्यम् । संयते इव
द्येतेन यमा लक्ष्येते ब्रह्मनामा-
क्षरस्यापीदममृतत्वादिधर्मवत्त्वं
महाभाग्यं किमुत नामवत् इत्यु-
पास्यत्वाय स्तूयते ब्रह्मनामनिर्व-
चनेनैव । नामवतो वेत्तैवंवित् ।
अहरहर्वा एवंवित्स्वर्ग लोकमेती-
त्युक्तार्थम् ॥ ५ ॥

वह मर्त्य है और जो 'यम्' अक्षर
है उस अक्षरसे अमृत और मर्त्य-
संज्ञक पहले दोनों अक्षरोंका
प्रयोग करनेवाला उनका नियमन
करता है अर्थात् उसके नियमन
स्वभावसे उन्हें वशीभूत करता है ।

क्योंकि इस अक्षरके द्वारा इन
दोनोंको नियमन करता है इसलिये
यह 'यम्' है । इस 'यम्' अक्षरके
द्वारा वे पूर्वोक्त दोनों अक्षर संयत-से
दिखायी देते हैं । ब्रह्मके नामके
अक्षरोंका भी यह अमृतत्वादि
धर्मवान् होना परम सौभाग्य है,
फिर नामीके विषयमें तो कहना ही
क्या है ? इस प्रकार उसके
उपास्यत्वके लिये ब्रह्मके नामका
निर्वचन करके ही उसकी स्तुति की
जाती है । उस नामीको जानने-
वाला 'एवंवित्' कहलाता है । वह
एवंवित् (इस प्रकार जाननेवाला)
नित्यप्रति स्वर्गलोकका जाता है—ऐसा
अर्थ पहले कहा ही जा चुका है ॥ ५ ॥

—:ॐ:—

इतिच्छान्दोग्योपनिषद्यष्टमाध्याये तृतीयखण्ड-
भाष्यं सम्पूर्णम् ॥ ३ ॥

—:~:—

चतुर्थ खण्ड

—:०:—

सेतुरूप आत्माकी उपासना

अथ य आत्मा स सेतुर्विधृतिरेषां लोकानामसम्भे-
दाय नैतत्सेतुमहोरात्रे तरतो न जरा न मृत्युर्न शोको
न सुकृतं न दुष्कृतं स पाप्मानोऽतो निवर्तन्तेऽपहत-
पाप्मा ह्येष ब्रह्मलोकः ॥ १ ॥

जो आत्मा है वह इन लोकोंके असम्भेद (पारस्परिक असंघर्ष) के
लिये इन्हें विशेषरूपसे धारण करनेवाला सेतु है। इस सेतुका
दिन-रात अतिक्रमण नहीं करते। इसे न जरा, न मृत्यु, न शोक और
न सुकृत या दुष्कृत ही प्राप्त हो सकते हैं। सम्पूर्ण पाप इससे निवृत्त
हो जाते हैं, क्योंकि यह ब्रह्मलोक पापशून्य है ॥ १ ॥

अथ य आत्मेति । उक्तलक्षणो
यः सम्प्रसादस्तस्य स्वरूपं वक्ष्य-
माणैरुक्तैरनुक्तैश्च गुणैः पुनः
स्तूयते ब्रह्मचर्यसाधनसम्बन्धा-
र्थम् । य एष यथोक्तलक्षण आत्मा
स सेतुरिव सेतुः । विधृतिर्विधरणः ।
अनेन हि सर्वं जगद्वर्णाश्रमादि-
क्रियाकारकफलादिभेदनियमैः

उपयुक्त लक्षणवाला जो सम्प्रसाद
है उसके स्वरूपकी आगे कहे जाने-
वाले, पहले कहे हुए तथा बिना
कहे हुए गुणोंसे ब्रह्मचर्यरूप
साधनसे सम्बन्ध करानेके लिये पुनः
स्तुति की जाती है। यह जो उपयुक्त
लक्षणोंवाला आत्मा है वह सेतुके
समान सेतु है; विधृति—विशेषतः
धारण करनेवाला है। कर्ता (जीव)
के अनुरूप विधान करनेवाले इस
आत्माके द्वारा ही सारा जगत्
वर्णाश्रमादि क्रिया, कारक और

कर्तुर्नुरूपं विदधता विधृतम् ।

अध्रियमाणं हीश्वरेणेदं विश्वं

विनश्येद्यतस्तस्मात्स सेतुर्विधृतिः ।

किमर्थं स सेतुरित्याह—एषां

भूरादीनां लोकानां कर्तृकर्म-

फलाश्रयाणामसंभेदायाविदारणा-

याविनाशायेत्येतत् । किंविशिष्ट-

आसौ सेतुरित्याह । नैतं सेतुमा-

त्मानमहोरात्रे सर्वस्य जनिमतः

परिच्छेदके सती नैतं तरतः ।

यथान्ये संसारिणः कालेनाहो-

रात्रादिलक्षणेन परिच्छेद्या न

तथायं कालपरिच्छेद्य इत्यभि-

प्रायः । “यस्मादवर्तिसंवत्सरो-

ऽहोभिः परिवर्तते” (बृ० उ० ४ ।

४ । १६) इति श्रुत्यन्तरात् ।

अत एवैनं न जरा तरति न

प्राप्नोति तथा । न मृत्युर्न शोको

फलादि भेदके नियमोद्धारार्थं धारण किया गया है; क्योंकि ईश्वरद्वारा धारण न किये जानेपर यह विश्व नष्ट हो जाता, इसलिये वह इसे धारण करनेवाला सेतु है ।

वह सेतु क्यों है ? इसपर श्रुति कहती है कि कर्ता और कर्मफलके आश्रयभूत इन भूलोक आदि लोकोंके असम्भेद—अविदारण अर्थात् अविनाश (रक्षा) के लिये यह सेतु है । यह सेतु किस विशेषणवाला है ? इसपर श्रुति कहती है—इस आत्मारूप सेतुको दिन और रात सम्पूर्ण उत्पत्तिशील पदार्थोंके परिच्छेदक होनेपर भी अतिक्रमण नहीं करते । जिस प्रकार अन्य संसारी पदार्थ अहो-रात्रादिरूप कालसे परिच्छेद्य हैं उस प्रकार यह कालपरिच्छेद्य नहीं है—ऐसा इसका अभिप्राय है; जैसा कि “जिस (परमात्मा) से नीचे संवत्सर दिनोंके रूपमें परिवर्तित होता रहता है” इस अन्य श्रुतिसे सिद्ध होता है ।

इसीसे इसे जरा नहीं तरती; अर्थात् प्राप्त नहीं होती । इसी प्रकार न मृत्यु, न शोक, न सुकृत-दुष्कृत

न सुकृतं न दुष्कृतं सुकृतदुष्कृते
धर्माधर्मौ । प्राप्तिरत्र तरणशब्दे-
नाभिप्रेता नातिक्रमणम् । कारणं
ह्यात्मा । न शक्यं हि कारणाति-
क्रमणं कर्तुं कार्येण । अहोरात्रादि
च सर्वं सतः कार्यम् । अन्येन
ह्यन्यस्य प्राप्तिरतिक्रमणं वा
क्रियेत । न तु तेनैव तस्य । न
हि घटेन मृत्प्राप्यतेऽतिक्रम्यते
वा ।

यद्यपि पूर्वं य आत्मापहत-
पाप्मेत्यादिना पाप्मादिप्रतिषेध
उक्त एव तथापीहायं विशेषो न
तरतीति प्राप्तिविषयत्वं प्रतिषि-
ध्यते । तत्राविशेषेण जराद्यभाव-
मात्रमुक्तम् । अहोरात्राद्या उक्ता
अनुक्ताश्चान्ये सर्वे पाप्मान
उच्यन्तेऽतोऽस्मादात्मनः सेतोनि-
वर्तन्तेऽप्राप्यैवेत्यर्थः । अपहत-
पाप्मा ह्येष ब्रह्मैव लोको ब्रह्मलोक
उक्तः ॥ १ ॥

और न धर्माधर्म ही प्राप्त होते हैं ।
यहाँ 'तरण' शब्दसे प्राप्ति अभिप्रेत
है, अतिक्रमण नहीं; क्योंकि आत्मा
कारण है और कार्यके द्वारा कारण-
का अतिक्रमण नहीं किया जा
सकता । दिन और रात्रि आदि ये
सब सतके ही कार्य हैं; और
अन्यके द्वारा अन्यकी ही प्राप्ति
अथवा अतिक्रमण किया जाता है,
अपने द्वारा अपनी ही प्राप्ति या
अतिक्रमण नहीं किया जाता—
घटके द्वारा मृत्तिका प्राप्त या अति-
क्रान्त नहीं की जा सकती ।

यद्यपि पहले 'य आत्मापहतपाप्मा'
इत्यादि वाक्यसे पाप आदिका
प्रतिषेध कर दिया गया है तथापि
यहाँ यह विशेषता है कि 'न
तरति' इस वाक्यसे आत्माके प्राप्ति-
विषयत्वका प्रतिषेध किया जाता
है । उसमें सामान्यरूपसे जरादिका
अभावमात्र बतलाया गया है ।
पूर्वोक्त दिन और रात्रि आदि तथा
अन्य अनुक्त पदार्थ सभी पाप कहे
जाते हैं । अतः वे इस आत्मारूप
सेतुसे इसे प्राप्त किये बिना ही
निवृत्त हो जाते हैं, क्योंकि यह
ब्रह्मलोक—जिसमें ब्रह्म ही लोक
है—अपहतपाप्मा कहा गया है ॥ १ ॥

यस्माच्च पाप्मकार्यमान्ध्यादि-
शरीरवतः स्यान्न त्वशरीरस्य-

क्योंकि पापके कार्य अन्धत्वादि
शरीरवान्को ही होते हैं, अशरीर-
को नहीं—

तस्माद्वा एतः सेतुं तीर्त्वाऽन्धः सन्नानन्धो भवति
विद्धः सन्नविद्धो भवत्युपतापी सन्ननुपतापी भवति
तस्माद्वा एतः सेतुं तीर्त्वापि नक्तमहरेवाभिनिष्पद्यते
सकृद्विभातो ह्येवैष ब्रह्मलोकः ॥ २ ॥

इसलिये इस सेतुको तरकर पुरुष अन्धा होनेपर भी अन्धा नहीं
होता, विद्ध होनेपर भी अविद्ध होता है, उपतापी होनेपर भी अनुपतापी
होता है, इसीसे इस सेतुको तरकर अन्धकाररूप रात्रि भी दिन ही हो
जाती है, क्योंकि यह ब्रह्मलोक सर्वदा प्रकाशस्वरूप है ॥ २ ॥

तस्माद्वा एतमात्मानं सेतुं
तीर्त्वा प्राप्यानन्धो भवति
देहवच्चे पूर्वमन्योऽपि सन् ।
तथा विद्धः सन्देहवच्चे स देह-
वियोगे सेतुं प्राप्याविद्धो भवति ।
तथोपतापीरोगाद्युपतापवान्सन्न-
नुपतापी भवति । किञ्च यस्माद-
होरात्रे न स्तः सेतौ तस्माद्वा एतं
सेतुं तीर्त्वा प्राप्य नक्तमपि
तमोरूपं रात्रिरपि सर्वमहरेवा-

इसीसे सेतुरूप स आत्माको
तरकर—प्राप्त होकर देहवान् होनेके
समय पहले अन्धा होनेपर भी-
अनन्ध हो जाता है । इसी प्रकार
देहवान् होनेके समय विद्ध होनेपर
भी देहका वियोग होनेपर इस सेतु-
को प्राप्त होकर अविद्ध हो जाता
है तथा [देहवान् होनेके ही
समय] उपतापी—रोगादि उपताप
वाला होनेपर भी अनुपतापी हो
जाता है । इसके सिवा क्योंकि
इस [आत्मारूप] सेतुमें दिन-
रातका अभाव है इसलिये इस
सेतुको तरकर—प्राप्त होकर नक्त—
तमोरूपा रात्रि भी सम्पूर्ण दिन ही

भिनिष्पद्यते । विज्ञप्त्यात्मज्यो-
तिःस्वरूपमहरिवाहः सदैकरूपं
विदुषः सम्पद्यत इत्यर्थः । सकृ-
द्विभातः सदा विभातः सदैकरूपः
स्वेन रूपेणैष ब्रह्मलोकः ॥ २ ॥

हो जाती है । तात्पर्य यह है कि
विद्वान्के लिये वह दिनके समान
विज्ञानात्मज्योतिःस्वरूप दिन अर्थात्
सर्वदा एक रूप ही हो जाता है,
क्योंकि यह ब्रह्मलोक अपने
स्वाभाविकरूपसे सकृद्विभात—सदा
भासमान अर्थात् सदा एक रूप
है ॥ २ ॥

—❀:❀—

तथ एवैतं ब्रह्मलोकं ब्रह्मचर्येणानुविन्दन्ति तेषामे-
वैष ब्रह्मलोकस्तेषां सर्वेषु लोकेषु कामचारो
भवति ॥ ३ ॥

वहाँ ऐसा होनेके कारण जो इस ब्रह्मलोकको ब्रह्मचर्यके द्वारा [शास्त्र
एवं आचार्यके उपदेशके अनुसार] जानते हैं उन्हींको यह ब्रह्मलोक प्राप्त
होता है तथा उनकी सम्पूर्ण लोकोंमें यथेच्छगति हो जाती है ॥ ३ ॥

तत्तत्रैवं यथोक्तं ब्रह्मलोकं ब्रह्मच-
र्येण स्त्रीविषयतृष्णात्यागेन शास्त्रा-
चार्योपदेशमनुविन्दन्ति स्वात्म-
संवेद्यतामापादयन्ति ये तेषामेव
ब्रह्मचर्यसाधनवतां ब्रह्मविदामेष
ब्रह्मलोकः । नान्येषां स्त्रीविषय-
सम्पर्कजाततृष्णानां ब्रह्मविदाम-

वहाँ ऐसा होनेके कारण जो
इस पूर्वोक्त ब्रह्मलोकको ब्रह्मचर्य—
स्त्रीविषयक तृष्णाके त्यागद्वारा
शास्त्र एवं आचार्यके उपदेशके
अनन्तर जानते हैं अर्थात् स्वात्मसं-
वेद्यताको प्राप्त कराते हैं उन
ब्रह्मचर्यरूप साधनसम्पन्न ब्रह्मो-
पासकोंको ही यह ब्रह्मलोक प्राप्त
होता है । अन्य स्त्रीविषयक सम्पर्क-
जनित तृष्णावालोंको ब्रह्मोपासक
होनेपर भी इसकी प्राप्ति नहीं

पीत्यर्थः । तेषां सर्वेषु लोकेषु

कामचारो भवतीत्युक्तार्थम् ।

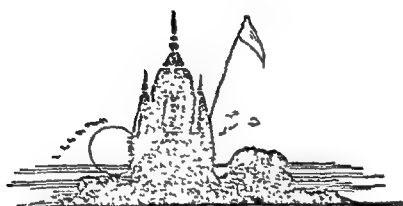
तस्मात्परमेतत्साधनं ब्रह्मचर्यं

ब्रह्मविदासित्यभिप्रायः ॥ ३ ॥

होती—ऐसा इसका तात्पर्य है । उनकी सम्पूर्ण लोकोंमें स्वेच्छागति हो जाती है—इस प्रकार इसका अर्थ पहले कहा जा चुका है । अतः अभिप्राय यह है कि यह ब्रह्मचर्य ब्रह्मोपासकोंका परम साधन है ॥ ३ ॥

—❀❀—

इतिच्छान्दोग्योपनिषदष्टमाध्याये चतुर्थ-
खण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥ ४ ॥



पञ्चम खण्ड

—:ॐ:—

यज्ञादिमें ब्रह्मचर्यदृष्टि

य आत्मा सेतुत्वादिगुणैः
स्तुतस्तत्प्राप्तये ज्ञानसहकारि-
साधनान्तरं ब्रह्मचर्याख्यं विधा-
तव्यमित्याह । यज्ञादिभिश्च
तत्स्तौति कर्तव्यार्थम्—

जिस आत्माकी सेतुत्वादि
गुणोंसे स्तुति की गयी है उसकी
प्राप्तिके लिये ज्ञानसे इतर ज्ञानके
सहकारी साधन ब्रह्मचर्यका विधान
करना आवश्यक है; इसीसे श्रुति
कहती है; तथा उसकी कर्तव्यताके
लिये यज्ञादिरूपसे उसकी स्तुति
करती है—

अथ यद्यज्ञं इत्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तद्ब्रह्मचर्येण
ह्येव यो ज्ञाता तं विन्दतेऽथ यदिष्टमित्याचक्षते ब्रह्म-
चर्यमेव तद्ब्रह्मचर्येण ह्येवेष्टात्मानमनुविन्दते ॥ १ ॥

अब, [लोकमें] जिसे 'यज्ञ' (परमपुरुषार्थका साधन) कहते
हैं वह ब्रह्मचर्य ही है, क्योंकि जो ज्ञाता है वह ब्रह्मचर्यके द्वारा ही उस
(ब्रह्मलोक) को प्राप्त होता है । और जिसे 'इष्ट' ऐसा कहते हैं वह भी
ब्रह्मचर्य ही है, क्योंकि ब्रह्मचर्यके द्वारा पूजन करके ही पुरुष आत्माको
प्राप्त होता है ॥ १ ॥

अथ यद्यज्ञं इत्याचक्षते लोके
परमपुरुषार्थसाधनं कथयन्ति
शिष्टास्तद्ब्रह्मचर्यमेव । यज्ञस्यापि

अब, जिसे 'यज्ञ' ऐसा कहा
जाता है अर्थात् लोकमें जिसे शिष्ट
पुरुष परम पुरुषार्थका साधन
बतलाते हैं वह ब्रह्मचर्य ही है ।

यत्फलं तद्ब्रह्मचर्यवाँल्लभतेऽतो
 यज्ञोऽपि ब्रह्मचर्यमेवेति प्रतिपत्त-
 व्यम् । कथं ब्रह्मचर्यं यज्ञ इत्याह ।
 ब्रह्मचर्येणैव हि यस्माद्यो ज्ञाता
 स तं ब्रह्मलोकं यज्ञस्यापि पारम्प-
 र्येण फलभूतं विन्दते लभते
 ततो यज्ञोऽपि ब्रह्मचर्यमेवेति ।
 यो ज्ञातेत्यक्षरानुवृत्तेर्यज्ञो ब्रह्म-
 चर्यमेव ।

अथ यदिष्टमित्याचक्षते ब्रह्म-
 चर्यमेव तत् । कथम्; ब्रह्मचर्ये-
 णैव साधनेन तमीश्वरमिष्ट्वा
 पूजयित्वाथवैषणामात्मविषयां
 कृत्वा तमात्मानमनुविन्दते ।
 एषणादिष्टमपि ब्रह्मचर्यमेव ॥ १ ॥

यज्ञका भी जो फल है उसे
 ब्रह्मचर्यवान् पुरुष प्राप्त करता है,
 इसलिये यज्ञको भी ब्रह्मचर्य ही
 समझना चाहिये । ब्रह्मचर्य यज्ञ
 किस प्रकार है ?—इसपर श्रुति
 कहती है—क्योंकि जो ज्ञानवान्
 है वह उस ब्रह्मलोकको, जो कि
 परम्परासे यज्ञका भी फलस्वरूप है,
 ब्रह्मचर्यसे ही प्राप्त करता है; अतः
 यह भी ब्रह्मचर्य ही है । 'यो ज्ञाता'
 इन अक्षरोंकी अनुवृत्ति होनेके कारण
 ब्रह्मचर्यको ही यज्ञ कहा गया है ।

तथा जिसे 'इष्ट' ऐसा कहा
 जाता है वह भी ब्रह्मचर्य ही है ।
 किस प्रकार ?—पुरुष उस ईश्वरको
 ब्रह्मचर्यरूप साधनसे ही यजन
 कर—पूजकर अथवा आत्मविषयक
 एषणा कर उस आत्माको शास्त्र एवं
 आचार्यके उपदेशानुसार साक्षात्
 जानता है । उस एषणाके कारण
 इष्ट भी ब्रह्मचर्य ही है ॥ १ ॥

—:०:—

अथ यत्सत्त्रायणमित्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तद्ब्रह्म-
 चर्येण ह्येव सत आत्मनस्त्राणं विन्दतेऽथ यन्मौन-
 मित्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तद्ब्रह्मचर्येण ह्येवात्मानमनु-
 विष्य मनुते ॥ २ ॥

तथा जिसे 'सत्त्रायण' ऐसा कहा जाता है वह भी ब्रह्मचर्य ही है, क्योंकि ब्रह्मचर्यके द्वारा ही सत्—परमात्मासे अपना त्राण प्राप्त करता है । इसके सिवा जिसे 'मौन' ऐसा कहा जाता है वह भी ब्रह्मचर्य ही है, क्योंकि ब्रह्मचर्यके द्वारा ही आत्माको जानकर पुरुष मनन करता है ॥२॥

अथ यत्सत्त्रायणमित्याचक्षते । तथा जिसे 'सत्त्रायण' ऐसा कहा जाता है वह भी ब्रह्मचर्य ही है, क्योंकि पूर्वोक्त (यज्ञ और इष्ट) के समान ब्रह्मचर्यरूप साधनसे ही पुरुष सत्—परमात्मासे अपनी रक्षा कराता है । अतः सत्त्रायण नामवाला भी ब्रह्मचर्य ही है । और जिसे 'मौन' ऐसा कहा जाता है वह भी ब्रह्मचर्य ही है, क्योंकि ब्रह्मचर्यरूप साधनसे युक्त हुआ ही साधक शास्त्र और आचार्यसे आत्माको जानकर फिर मनन अर्थात् ध्यान करता है । अतः 'मौन' नामवाला भी ब्रह्मचर्य ही है ॥ २ ॥

ब्रह्मचर्यमेव तत्; तथा सतः परस्मादात्मन आत्मनस्त्राणं रक्ष्णं ब्रह्मचर्यसाधनेन विन्दते । अतः सत्त्रायणशब्दमपि ब्रह्मचर्यमेव तत् । अथ यन्मौनमित्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तत्, ब्रह्मचर्येणैव साधनेन युक्तः सत्त्वात्मानं शास्त्राचार्याभ्यामनुविद्य पश्चान्समुते ध्यायति । अतो मौनशब्दमपि ब्रह्मचर्यमेव ॥ २ ॥

—:०:—

अथ यदनाशकायनमित्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तदेष ह्यात्मा न नश्यति यं ब्रह्मचर्येणानुविन्दतेऽथ यदरण्यायनमित्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तत्तदरश्च ह वै पयश्चार्णवौ ब्रह्मलोके तृतीयस्यामितो दिवि तदैरंसदीयः सरस्तदश्वत्थः सोमसवनस्तदपराजिता पूर्वर्द्धाणः प्रभु-विमितः हिरण्मयम् ॥ ३ ॥

तथा जिसे अनाशकायन (नष्ट न होना) कहा जाता है वह भी ब्रह्मचर्य ही है, क्योंकि जिसे [साधक] ब्रह्मचर्यके द्वारा प्राप्त होता है वह यह आत्मा नष्ट नहीं होता । और जिसे अरण्यायन ऐसा कहा जाता है वह भी ब्रह्मचर्य ही है; क्योंकि इस ब्रह्मलोकमें 'अर' और 'ण्य' ये दो समुद्र हैं, यहाँसे तीसरे घुलोकमें ऐरंमदीय सरोवर है, सोमसवन नामका अश्वत्थ है, वहाँ ब्रह्माकी अपराजिता पुरी है और प्रभुका विशेषरूपसे निर्माण किया हुआ सुवर्णमय मण्डप है ॥ ३ ॥

अथ यदनाशकायनमित्याच-
क्षते ब्रह्मचर्यमेव तत् । यमात्मानं
ब्रह्मचर्येणानुविन्दते स एष
ह्यात्मा ब्रह्मचर्यसाधनवतो न
नश्यति तस्मादनाशकायनमपि
ब्रह्मच 'मेव ।

अथ यदरण्यायनमित्याचक्षते
ब्रह्मचर्यमेव तत् । अरण्यशब्द-
योर्णवयोर्ब्रह्मचर्यवतोऽयनादर-
ण्यायनं ब्रह्मच 'म् । यो ज्ञाना-
द्यज्ञ एषादिष्टं सत्स्त्राणात्सत्त्रा-
यणं मननान्मौनमनशनादनाश-
कायनमरणयोगर्मनादरण्याय-

तथा जिसे 'अनाशकायन' ऐसा
कहते हैं वह भी ब्रह्मचर्य ही है ।
जिस आत्माको ब्रह्मचर्यके द्वारा प्राप्त
करता है, ब्रह्मचर्यरूप साधनवाले
पुरुषका वह आत्मा नष्ट नहीं होता;
अतः अनाशकायन भी ब्रह्मचर्य
ही है ।

और जिसे 'अरण्यायन'
(वनवास) ऐसा कहते हैं वह भी
ब्रह्मचर्य ही है । ब्रह्मचर्यवान् पुरुष
'अर' और 'ण्य' नामवाले दो
समुद्रोंके प्रति गमन करता है,
इसलिये ब्रह्मचर्य अरण्यायन है ।
जो ब्रह्मचर्य ज्ञानरूप होनेके कारण
यज्ञ है, एषणाके कारण इष्ट है,
सत् (ब्रह्मा) से रक्षा करानेके कारण
सत्त्रायण है, मनन करनेके कारण
मौन है, नष्ट न होनेके कारण अनाश-
कायन है और अर एवं ण्य इन

नमित्यादिभिर्महद्भिः पुरुषार्थ-
साधनैः स्तुतत्वाद्ब्रह्मचर्यं परमं
ज्ञानस्य सहकारिकारणं साधन-
मित्यतो ब्रह्मविदा यत्नतो रक्ष-
णीयमित्यर्थः ।

तत्तत्र हि ब्रह्मलोकेऽरश्च ह वै
प्रसिद्धो एयश्चार्णवौ समुद्रौ समु-
द्रोपमे वा सरसी तृतीयस्यां
सुवमन्तरिक्षं चापेक्ष्य तृतीया
द्यौस्तस्यां तृतीयस्यामितोऽस्माल्लो-
कादारभ्य गण्यमानायां दिवि ।
तत्तत्रैव चैरमिरान्नं तन्मय ऐरो
मण्डस्तेन पूर्णमैरं मदीयं तदुप-
योगिनां मदकरं हर्षोत्पादकं
सरः । तत्रैव चाश्वत्थो वृक्षः
सोमसवनो नामतः सोमाऽमृतं
तन्निस्त्रवोऽमृतस्रव इति वा ।
तत्रैव च ब्रह्मलोके ब्रह्मचर्यसा-
धनरहितैर्ब्रह्मचर्यसाधनवद्भ्यो-
ऽन्यैर्न जीयत इत्यपराजिता नाम
पूः पुरी ब्रह्मणो हिरण्यगर्भस्य ।

अर्णवोंको गमन करनेके कारण
अरण्यायन है—इस प्रकारके
पुरुषार्थके महान् साधनोंद्वारा स्तुति
किया जानेके कारण ब्रह्मचर्य
ज्ञानका परम सहकारी कारण है ।
अतः तात्पर्य यह है कि ब्रह्मवेत्ताको
इसकी यत्नपूर्वक रक्षा करनी चाहिये ।

वहाँ उस ब्रह्मलोकमें तीसरे
अर्थात् इस लोकसे आरम्भ करनेपर
भूलोक और अन्तरिक्षकी अपेक्षा
तीसरे द्युलोकमें प्रसिद्ध 'अर' और
'ण्य' ये दो समुद्र अथवा समुद्रके
समान दो सरोवर हैं । तथा वहींपर
ऐर— इरा अन्नको कहते हैं तन्मय
ऐर अर्थात् मण्ड उससे भरा हुआ
'मदीय'—अपना उपयोग करने-
वालोंको मद उत्पन्न करनेवाला
अर्थात् हर्षोत्पादक सरोवर है ।
वहीं सोमसवन नामवाला अश्वत्थ
वृक्ष है, अथवा सोम अमृतको
कहते हैं उसका निस्त्रवण करनेवाला
अमृतस्रावी वृक्ष है । वहाँ उस
ब्रह्मलोकमें ही ब्रह्मचर्यरूप साधनसे
रहित अर्थात् ब्रह्मचर्यसाधनवानोंसे
भिन्न पुरुषोंद्वारा जो नहीं जीती जा
सकती ऐसी ब्रह्मा यानी हिरण्य-
गर्भकी अपराजिता नामवाली पुरी

ब्रह्मणा च प्रभुणा विशेषेण मतं
निर्मितं तच्च हिरण्यमयं सौवर्णं
प्रभुविमितं मण्डपमिति वाक्य-
शेषः ॥ ३ ॥

है तथा ब्रह्मारूप प्रभुके द्वारा
विशेषरूपसे मित—निर्मित (रची
हुई) प्रभुविमित सुवर्णमय 'मण्डप है'
ऐसा वाक्यशेष समझना चाहिये ॥ ३ ॥

—:ॐ:—

तद्य एवैतावरं च ण्यं चार्णवौ ब्रह्मलोके ब्रह्मचर्ये-
णानुविन्दन्ति तेषामेवैष ब्रह्मलोकस्तेषां सर्वेषु लोकेषु
कामचारो भवति ॥ ४ ॥

उस ब्रह्मलोकमें जो लोग ब्रह्मचर्यके द्वारा इन 'अर' और 'ण्य'
दोनों समुद्रोंको प्राप्त करते हैं उन्हींको इस ब्रह्मलोककी प्राप्ति होती है ।
उनकी सम्पूर्ण लोकोंमें यथेच्छ गति हो जाती है ॥ ४ ॥

तत्तत्र ब्रह्मलोक एतावर्णवौ
यावरण्याख्याबुक्तौ ब्रह्मचर्येण
साधनेनानुविन्दन्ति ये तेषामे-
वैष यो व्याख्यातो ब्रह्मलोकस्तेषां
च ब्रह्मचर्यसाधनवतां ब्रह्मविदां
सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति
नान्येषामब्रह्मचर्यपराणां बाह्य-
विषयासक्तबुद्धीनां कदाचिद-
पीत्यर्थः ।

उस ब्रह्मलोकमें जो ये 'अर'
और 'ण्य' नामवाले दो समुद्र कहे
गये हैं इन्हें जो ब्रह्मचर्यरूप साधनके
द्वारा प्राप्त करते हैं उन्हींको उस
ब्रह्मलोककी प्राप्ति होती है, जिसकी
व्याख्या पहले की जा चुकी है ।
तथा उन ब्रह्मचर्यसाधनसम्पन्न
ब्रह्मवेत्ताओंकी सम्पूर्ण लोकोंमें
यथेच्छ गति हो जाती है; ब्रह्मचर्यमें
तत्पर न रहनेवाले अन्य बाह्य
विषयासक्तबुद्धि पुरुषोंकी स्वेच्छा-
गति कभी नहीं होती ।

नन्वत्र त्वमिन्द्रस्त्वं यमस्त्वं
वरुण इत्यादिभिर्मथ कश्चित्

किंतु यहाँ कुछ लोगोंका मत
है कि जिस प्रकार 'तुम इन्द्र हो,

स्तूयते सहार्ह एवमिष्टादिभिः

शब्दैर्न स्यादिविषयतृष्णानिवृ-

त्तिमात्रं स्तुत्यर्हं किं तर्हि ज्ञानस्य

साक्षात्साधनत्वात्तदेवेष्टादिभिः

स्तूयत इति केचित् । न ।

स्यादिबाह्यविषयतृष्णापहतचि-

त्तानां प्रत्यगात्मविवेकविज्ञाना-

नुपपत्तेः । “पराञ्चि खानि व्यतृ-

णत्स्वयम्भूस्तस्मात्पराङ् पश्यति

नान्तरात्मन्” (क० उ० २ ।

१ । १) इत्यादिश्रुतिस्मृति-

शतेभ्यः । ज्ञानसहकारिकारणं

अथादिविषयतृष्णानिवृत्तिसाधनं

विधातव्यमेवेति युक्तैव तत्स्तुतिः ।

ननु च यज्ञादिभिः स्तुतं

ब्रह्मचर्यमिति यज्ञादीनां पुरुषार्थ-

तुम यम हो, तुम वरुण हो’ इत्यादि

वाक्योंसे किसी परम पूजनीय

पुरुषकी स्तुति की जाती है

उसी प्रकार इष्टादि शब्दोंसे केवल

स्त्री आदि विषयसम्बन्धिनी तृष्णाकी

निवृत्ति ही स्तुति योग्य नहीं है,

तो फिर क्या है ? [इसपर वे कहते

हैं—] ज्ञान मोक्षका साधन है,

अतः इष्टादि शब्दोंसे उसीकी स्तुति

की जाती है । परंतु यह मत ठीक

नहीं है, क्योंकि स्त्री आदि बाह्य

विषयोंकी तृष्णाद्वारा जिनका चित्त

हर लिया गया है उन्हें प्रत्यगात्म-

विषयक विवेकज्ञान होना सम्भव

नहीं है । यह बात “स्वयम्भू

ब्रह्माने इन्द्रियोंको बहिर्मुख करके

हिंसित कर दिया है; इसलिये जीव

बाह्य विषयोंको देखता है,

अन्तरात्माको नहीं देखता” इत्यादि

सैकड़ों श्रुति-स्मृतियोंसे सिद्ध होती

है । अतः ज्ञानके सहकारी कारण

स्त्री आदि विषयसम्बन्धी तृष्णाकी

निवृत्तिरूप साधनका विधान करना

ही चाहिये—इसलिये उसकी स्तुति

करना भी उचित ही है ।

शिष्य—किंतु ब्रह्मचर्यकी

यज्ञादिरूपसे स्तुति की गयी है;

इससे यज्ञादिका पुरुषार्थसाधनत्व

साधनत्वं गम्यते ।

सत्यं गम्यते, न त्विह
ब्रह्मलोकं प्रति यज्ञादीनां साध-
नत्वमभिप्रेत्य यज्ञादिभिर्ब्रह्मचर्यं
स्तूयते । किं तर्हि ? तेषां प्रसिद्धं
पुरुषार्थसाधनत्वमपेक्ष्य । यथे-
न्द्रादिभी राजा न तु यत्रेन्द्रा-
दीनां व्यापारस्तत्रैव राज्ञ इति
तद्वत् ।

य इमेऽर्णवादयो ब्राह्मलौकिकाः

ब्रह्मलोकादि- संकल्पजाश्च पित्रा-
भोगानां स्वरूप- दयो भोगास्ते
विचारः किं पार्थिवा

आप्याश्च यथेह लोके दृश्यन्ते

तद्वद्वर्णवृक्षभूःस्वर्णमण्डपान्याहो

स्विन्मानसप्रत्ययमात्राणीति ।

छा० उ० ५४—

प्रतीत होता है ।

गुरु—ठीक है, ऐसा प्रतीत
होता है । किंतु यहाँ, ब्रह्मलोकके
प्रति यज्ञादिका साधनत्व है—
ऐसे अभिप्रायसे यज्ञादिके द्वारा
ब्रह्मचर्यकी स्तुति नहीं की जाती ।
तो फिर क्या बात है ?—उनके
प्रसिद्ध पुरुषार्थसाधनत्वकी अपेक्षासे
ही स्तुति की जाती है, जिस
प्रकार कि इन्द्रादिरूपसे राजाकी ।
इससे यह अभिप्राय नहीं होता कि
जहाँ इन्द्रादिका व्यापार है वहीं
राजाका भी है [अर्थात् जो काम
इन्द्रादि देवगण करते हैं वही राजा
भी करता है] । उसी प्रकार यहाँ
समझना चाहिये ।

[भला सोचो तो] ये जो

ब्रह्मलोकसम्बन्धी समुद्रादि और
संकल्पजनित पितृलोकादिके भोग
हैं वे—जैसे कि इस लोकमें समुद्र,
वृक्ष, पुरी और सुवर्णमय मण्डप
देखे जाते हैं उन्हींके समान पृथ्वी
और जलके विकार हैं, अथवा केवल
मानसिक प्रतीतिमात्र हैं ?

किञ्चातो यदि पार्थिवा
आप्याश्च स्थूलाः स्युः ?

हृद्याकाशे समाधानानुपपत्तिः ।
पुराणे च मनोमयानि ब्रह्मलोके
शरीरादीनीति वाक्यं विरुध्येत ।
“अशोकमहिमम्” (वृ० उ०
५।१०।१) इत्याद्याश्च श्रुतयः ।

ननु समुद्राः सरितः सरांसि
वाप्यः कूपा यज्ञा वेदा मन्त्राद-
यश्च मूर्तिमन्तो ब्रह्माणमुपतिष्ठन्त
इति मानसत्वे विरुध्येत पुराण-
स्मृतिः ।

न; मूर्तिमन्त्वे प्रसिद्धरूपाणा-
मेव तत्र गमनानुपपत्तेः । तस्मा-
त्प्रसिद्धमूर्तिव्यतिरेकेण सागरा-
दीनां मूर्त्यन्तरं सागरादिभिरु-
पात्तं ब्रह्मलोकगन्तुं कल्पनीयम् ।

शिष्य—यदि वे पृथ्वी और
जलके विकारभूत स्थूल पदार्थ ही
हों तो इसमें क्या आपत्ति है ?

गुरु—उनका हृद्याकाशमें
स्थित होना सम्भव नहीं है तथा
पुराणमें यह कहा गया है कि
ब्रह्मलोकमें जो शरीरादि हैं वे
मनोमय हैं—इस वाक्यसे विरोध
आयेगा तथा “शोकरहित है, शीत-
स्पर्शरहित है” इत्यादि श्रुतियोंसे
भी विरोध होगा ।

शिष्य—किंतु उन्हें मानसिक
माननेपर भी ‘समुद्र, नदियाँ,
सरोवर, वापी, कूप, यज्ञ, वेद और
मन्त्रादि मूर्तिमान् होकर ब्रह्माके
समीप उपस्थित रहते हैं’ ऐसे
अर्थवाली पुराणस्मृतिसे विरोध
आयेगा ।

गुरु—यह बात नहीं है,
क्योंकि मूर्तिमान् होनेपर तो उन
समुद्रादिके प्रसिद्ध रूपोंका वहाँ
गमन होना सम्भव नहीं है ।
इसलिये समुद्रादिके प्रसिद्ध रूपसे
भिन्न सागरादिद्वारा ग्रहण किया
हुआ कोई अन्य रूप ब्रह्मलोकमें
गमन करनेवाला है—ऐसी कल्पना

तुल्यायां च कल्पनायां यथा-
प्रसिद्धा एव मानस्य आकारवत्यः
पुंस्त्र्याद्या मूर्तयो युक्ताः कल्प-
यितुं मानसदेहानुरूप्यसम्बन्धो-
पपत्तेः दृष्टा हि मानस्य एवा-
कारवत्यः पुंस्त्र्याद्या मूर्तयः
स्वप्ने ।

ननु ता अनृता एव, “त इमे
सत्याः कामाः” (छा० उ० ८ ।
३ । १) इति श्रुतिस्तथा सति
विरुध्येत ।

न; मानसप्रत्ययस्य सत्त्वोपपत्तेः ।

मानसा हि प्रत्ययाः स्त्रीपुरुषा-
द्याकाराः स्वप्ने दृश्यन्ते ।

ननु जाग्रद्वासनारूपाः स्वप्न-
दृश्या न तु तत्र स्त्र्यादयः स्वप्ने
विद्यन्ते ।

अत्यल्पमिदमुच्यते । जाग्र-
द्विषया अपि मानसप्रत्ययाभि-

करनी चाहिये । तथा [मनुष्यादि-
के विषयमें भी] वैसी ही कल्पना
होनेके कारण जैसी प्रसिद्ध हैं वैसे
ही आकारवाली मानसिक पुरुष स्त्री
आदि मूर्तियोंकी कल्पना करनी
चाहिये, क्योंकि मानसदेहके साथ
तदनुरूप ही उनका सम्बन्ध होना
सम्भव है । स्वप्नमें पुरुष एवं स्त्री
आदिकी मूर्तियां मानसिक आकार-
वाली ही देखी भी गयी हैं ।

शिष्य—किंतु वे तो मिथ्या
ही हैं; ऐसा होनेपर “वे ये सत्य
काम हैं” इस श्रुतिसे विरोध
आयेगा ।

गुरु—नहीं [इस श्रुतिसे कोई
विरोध नहीं आ सकता], क्योंकि
मानसिक अनुभवका सत्य होना
सम्भव है; क्योंकि स्वप्नमें मानसिक
प्रतीतियां ही स्त्री-पुरुषादि आकार-
वाली दिखलायी देती हैं ।

शिष्य—किंतु स्वप्नमें दिखलायी
देनेवाले पदार्थ तो जागृतिवी
वासनारूप ही हैं; वहाँ स्वप्नावस्थामें
वास्तवमें तो स्त्री आदि हैं ही नहीं ।

गुरु—यह तुम बहुत कम बता
रहे हो । जाग्रत्कालके विषय भी

निर्वृत्ता एव सदीक्षाभि-
निर्वृत्ततेजोऽन्नमयत्वाज्जाग्रद्वि-
षयाणाम् । संकल्पमूला हि
लोका इति चोक्तम् “सम-
कल्पतां द्यावापृथिवी” (छा०
उ० ७ । ४ । १) इत्यत्र ।
सर्वश्रुतिषु च प्रत्यगात्मन
उत्पत्तिः प्रलयश्च तत्रैव स्थितिश्च
“यथा वा अरा नाभौ” (छा०
उ० ७ । १५ । १) इत्यादि-
नोच्यते । तस्मान्मानसानां वा-
ह्यानां च विषयाणामितरेतरकां-
र्यकारणत्वमिष्यत एव बीजाङ्कु-
रवत् । यद्यपि बाह्या एव मानसा
मानसा एव च बाह्या नानृतत्वं
तेषां कदाचिदपि स्वात्मनि
भवति ।

नन् स्वप्ने दृष्टाः प्रतिबुद्धस्या-
नृता भवन्ति विषयाः ।

सत्यमेवम्; जाग्रद्वोधापेक्षं
तु तदनृतत्वं न स्वतः । तथा

तो सर्वथा मानसिक प्रतीतियोंसे हो
निष्पन्न हुए हैं; क्योंकि जाग्रत्-
कालीन विषय सत्के ईक्षणसे
निष्पन्न तेज, अप् और अन्नमय
ही हैं । “समकल्पतां द्यावा-
पृथिवी” (पृथ्वी और द्युलोककी
कल्पना की) इत्यादि स्थानपर
यही कहा गया है कि सम्पूर्ण लोक
संकल्पमूलक हैं । तथा सम्पूर्ण
श्रुतियोंमें “जिस प्रकार नाभिमें अरे
समर्पित हैं” इत्यादि दृष्टान्तसे उन
सबकी उत्पत्ति प्रत्यगात्मासे ही
बतलायी गयी है तथा उसीमें उनके
लय और स्थिति भी बतलाये गये हैं ।
अतः बीज और अङ्कुरके समान
मानसिक और बाह्य विषयोंका एक
दूसरेके प्रति कार्य-कारणभाव माना
ही जाता है । यद्यपि बाह्य पदार्थ
ही मानसिक है और मानसिक
पदार्थ ही बाह्य हैं तो भी स्वात्मामें
उनका मिथ्यात्व कभी नहीं होता ।

शिष्य—किंतु स्वप्नमें देखे हुए
विषय तो जाग्रत् पुरुषके लिये
मिथ्या हो जाते हैं ।

गुरु—यह ठीक है, किंतु
उनका मिथ्यात्व जाग्रत्-ज्ञानकी
अपेक्षासे है, स्वतः नहीं है ।

स्वप्नबोधोपापेक्षं च जाग्रदृष्टविष-
यानृतत्वं न स्वतः । विशेषाकार-
मात्रं तु सर्वेषां मिथ्याप्रत्यय-
निमित्तमिति वाचास्मभणं विकारो
नामधेयमनृतं त्रीणि रूपाणीत्येव
सत्यम् । तान्यप्याकारविशेषतो-
ऽनृतं स्वतः सन्मात्ररूपतया
सत्यम् । प्राक्सदात्मप्रतिबोधात्
स्वविषयेऽपि सर्वं सत्यमेव स्वप्न-
दृश्या इवेति न कश्चिद्विरोधः ।
तस्मान्मानसा एव ब्राह्मलौकिका
अरण्यादयः संकल्पजाश्च पित्रा-
दयः कामाः ।

बाह्यविषयभोगवदशुद्धिरहि-
तत्वाच्छुद्धसत्त्वसंकल्पजन्या इति
निरतिशयसुखाः सत्याश्चेश्वराणां
भवन्तीत्यर्थः । सत्सत्यात्म-
प्रतिबोधेऽपि रज्ज्वामिव कल्पि-
ताः सर्पादयः सदात्मस्वरूपता-
मेव प्रतिपद्यन्त इति सदात्मना
सत्या एव भवन्ति ॥ ४ ॥

इसी प्रकार स्वप्नज्ञानकी अपेक्षा
जाग्रत्कालमें देखे हुए विषयोंका
मिथ्यात्व है, स्वतः नहीं । सम्पूर्ण
पदार्थोंका जो विशेष आकारमात्र है
वही मिथ्याज्ञानका कारण है, क्योंकि
वाणीपर अवलम्बित विकार नाम-
मात्र और मिथ्या है, बस तीन रूप
ही सत्य हैं । वे तीन रूप भी
आकारविशेष होनेसे स्वतः तो मिथ्या
ही हैं, किंतु सन्मात्ररूप होनेसे
सत्य हैं । सदात्माका साक्षात्कार
होनेसे पूर्व तो स्वप्नदृश्य पदार्थोंके
समान अपने क्षेत्रमें भी वे सब सत्य
ही हैं, इसलिये किसी प्रकारका
विरोध सम्भव नहीं है । अतः
ब्रह्मलोकसम्बन्धी अरण्यादि और
संकल्पजनित पित्रादि काम
मानसिक ही हैं ।

बाह्य विषयभोगोंके समान
अशुद्धिरहित होनेके कारण वे
शुद्धान्तःकरणके संकल्पसे होनेवाले
हैं; इसलिये ईश्वरके संकल्प
आत्यन्तिक सुखमय और सत्य होते
हैं—ऐसा इसका तात्पर्य है ।
सब ही वास्तविक आत्मा है—
ऐसा बोध होनेपर भी वे रज्जुमें
कल्पित सर्पादिके समान सदात्म-
रूपताको ही प्राप्त हो जाते हैं ।
इसलिये सत्त्वरूपसे वे सत्य ही
रहते हैं ॥ ४ ॥

इतिच्छान्दोग्योपनिषदष्टमाध्याये पञ्चमखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥ ५ ॥

षष्ठ खण्ड

— ❀ ❀ —

हृदयनाडी और सूर्यरश्मिरूप मार्गकी उपासना

यस्तु हृदयपुण्डरीकगतं यथो-
क्तगुणविशिष्टं ब्रह्म ब्रह्मचर्या-
दिसाधनसम्पन्नस्त्यक्तबाह्यविष-
यानृतवृष्णः सन्नुपास्ते तस्येयं
मूर्धन्यया नाड्या गतिर्वक्तव्येति
नाडीखण्ड आरभ्यते—

जो पुरुष ब्रह्मचर्यादि साधनोंसे
सम्पन्न और बाह्य विषयोंकी मिथ्या
तृष्णासे निवृत्त होकर अपने
हृदयकमलमें विराजमान उपयुक्त
गुणविशिष्ट ब्रह्मकी उपासना करता
है उसकी यह मूर्धन्य नाडीके द्वारा
गति बतलानी है; इसीलिये इस
नाडीखण्डका आरम्भ किया
जाता है—

अथ या एता हृदयस्य नाड्यस्ताः पिङ्गलस्याणि-
अस्तिष्ठन्ति शुक्लस्य नीलस्य पीतस्य लोहितस्येत्यसौ
वा आदित्यः पिङ्गल एष शुक्ल एष नील एष पीत
एष लोहितः ॥ १ ॥

अब, ये जो हृदयकी नाडियाँ हैं वे पिङ्गलवर्ण सूक्ष्म रसकी हैं ।
वे शुक्ल, नील, पीत और लोहित रसकी हैं: क्योंकि यह आदित्य पिङ्गल
वर्ण है, यह शुक्ल है, यह नील है, यह पीत है और यह लोहितवर्ण
है ॥ १ ॥

अथ या एता वक्ष्यमाणा
हृदयस्य पुण्डरीकाकारस्य ब्रह्मो-

अब, आगे कहे जानेवाले
ब्रह्मोपासनाके आश्रयभूत इस
पुण्डरीकाकार हृदयकी जो उससे

पासनस्थानस्य सम्बन्धिन्यो
नाड्यो हृदयमांसपिण्डात्सर्वतो
विनिःसृता आदित्यमण्डलादिव
रश्मयस्ताश्चैताः पिङ्गलस्य वर्ण-
विशेषविशिष्टस्याग्निः सूक्ष्म-
रसस्य रसेन पूर्णास्तिदाकारा एव
तिष्ठन्ति वर्तन्त इत्यर्थः ।

तथा शुक्लस्य नीलस्य पीतस्य
लोहितस्य च रसस्य पूर्णा इति
सर्वत्राध्याहार्यम् । सौरेण तेजसा
पित्ताख्येन पाकाभिनिर्वृत्तेन
कफेनाल्पेन सम्पर्कात्पिङ्गलं भवति
सौरं तेजः पित्ताख्यम् । तदेव च
वातभूयस्त्वानीलं भवति । तदेव
च कफभूयस्त्वाच्छुक्लम् । कफेन
समतायां पीतम् । शोणितवाहु-
ल्येन लोहितम् । वैद्यकाद्वा
वर्णविशेषा अन्वेष्टव्याः, कथं
भवन्तीति ?

श्रुतिस्त्वाहादित्यसम्बन्धादेव
तत्तेजसो नाडीष्वनुगतस्यैते

सम्बद्ध नाडियाँ आदित्यमण्डलसे
किरणोंके समान उस हृदयरूप
मांसपिण्डसे सब ओर निकाली हुई
हैं, वे पिङ्गलनामक एक वर्णविशेष-
से युक्त अग्निमा अर्थात् सूक्ष्म
रसकी हैं; तात्पर्य यह है कि वे
उस रससे पूर्ण होकर तदाकार ही
रहती हैं ।

इसी प्रकार वे शुक्ल, नील, पीत
और लोहित रससे पूर्ण हैं—इस
प्रकार पूर्ण पदका सर्वत्र अध्याहार
करना चाहिये । पित्तसंज्ञक सौर
तेजसे परिपक्व हुए थोड़े-से कफसे
सम्पर्क होनेपर पित्तनामक सौर
तेज पिङ्गल वर्ण हो जाता है ।
वही वातकी अधिकता होनेपर नीला
हो जाता है और कफकी अधिकता
होनेपर वही शुक्ल हो जाता है ।
कफसे [वातकी] समता होनेपर
वह पीला हो जाता है और रक्तकी
अधिकता होनेपर लोहित । अथवा
वैद्यक शास्त्रसे इन वर्णविशेषोंका—
ये किस प्रकार होते हैं, ऐसा—
अन्वेषण करना चाहिये ।

किंतु श्रुतिका तो यही कथन
है कि आदित्यके सम्बन्धसे ही,
नाडियोंमें अनुस्यूत हुए उस तेजके

वर्णविशेषा इति । कथम् ? असौ
वा आदित्यः पिङ्गलो वर्णत एष
आदित्यः शुक्लोऽप्येष नील एष पीत
एष लोहित आदित्य एव ॥ १ ॥

ये वर्णविशेष हो जाते हैं । यह
किस प्रकार ? [इसपर कहते हैं—]
यह आदित्य वर्णतः पिङ्गल है, यह
आदित्य शुक्ल भी है तथा यही
नीलवर्ण है, यही पीला है और
यही लोहित भी है ॥ १ ॥

—**—

तस्याध्यात्मं नाडीभिः कथं
सम्बन्ध इत्यत्र दृष्टान्तमाह—

शरीरके भीतर नाडियोंके साथ
उसका सम्बन्ध किस प्रकार होता
है—इस विषयमें श्रुति दृष्टान्त
देती है—

तथथा महापथ आतत उभौ ग्रामौ गच्छतीमं
चामुं चैवमेवैता आदित्यस्य रश्मय उभौ लोकौ गच्छ-
न्तीमं चामुं चामुष्मादादित्यात्प्रतायन्ते ता आसु
नाडीषु सृता आभ्यो नाडीभ्यः प्रतायन्ते तेऽमुष्मिन्ना-
दित्ये सृताः ॥ २ ॥

इस विषयमें यह दृष्टान्त है कि जिस प्रकार कोई विस्तीर्ण महापथ
इस (समीपवर्ती) और उस (दूरवर्ती) दोनों गाँवोंको जाता है उसी
प्रकार ये सूर्यकी किरणें इस पुरुषमें और उस आदित्यमण्डलमें दोनों
लोकोंमें प्रविष्ट हैं । वे निरन्तर इस आदित्यसे ही निकली हैं और इन
नाडियोंमें व्याप्त हैं तथा जो इन नाडियोंसे निकलती हैं वे इस आदित्यमें
व्याप्त हैं ॥ २ ॥

तत्तत्र यथा लोके महान्वि-
स्तीर्णः पन्था महापथ आततो

इस विषयमें यों समझना चाहिये
कि जिस प्रकार लोकमें कोई महान्

व्याप्त उभौ ग्रामौ गच्छतीमं च
संनिहितममुं च विप्रकृष्टं दूरम्,
एवं यथा दृष्टान्तो महापथ उभौ
ग्रामौ प्रविष्टः, एवमेवैता आदि-
त्यस्य रश्मय उभौ लोकावमुं
चादित्यमण्डलमिमं च पुरुषं
गच्छन्त्युभयत्र प्रविष्टाः; यथा
महापथः ।

कथम् ? अमुष्मादादित्यम-
ण्डलात्प्रतायन्ते संतता भवन्ति,
ता अभ्यात्ममासु पिङ्गलादिव-
र्णासु यथोक्तासु नाडीषु सृप्ता
गताः प्रविष्टा इत्यर्थः । आभ्यो
नाडीभ्यः प्रतायन्ते प्रवृत्ताः
संतानभूताः सत्यस्तेऽमुष्मिन्
रश्मीनामुभयलिङ्गत्वात् इत्यु-
च्यन्ते ॥ २ ॥

यानी विस्तीर्णं मार्गं अर्थात् महापथ
आतत—व्याप्त हुआ इस समीपवर्ती
और उस दूरस्थ दोनों ग्रामोंको
जाता है इसी प्रकार, जैसा कि यह
दृष्टान्त है कि महापथ दोनों ग्रामोंमें
प्रवेश करता है, ये सूर्यकी किरणें
दोनों लोकोंमें—उस आदित्य-
मण्डलमें और इस पुरुषमें जाती हैं
अर्थात् महापथके समान दोनों
जगह प्रवेश किये हुए हैं ।

किस प्रकार प्रवेश किये हुए
हैं ?—वे इस आदित्यमण्डलसे
फैलती हैं और शरीरमें उन उपयुक्त
पिङ्गलादि वर्णोंवाली नाडियोंमें सृप्त-
गत अर्थात् प्रविष्ट होती हैं तथा इन
नाडियोंसे व्याप्त होती अर्थात् प्रवृत्त
होकर फैलती हुई इस आदित्य-
मण्डलमें प्रवेश करती हैं । 'रश्मि'
शब्द [लोलिङ्ग और पुंलिङ्ग] दोनों
लिङ्गोंवाला होनेके कारण उनके
लिये [पहले 'ताः' सर्वनामका
प्रयोग होनेपर भी पीछे] 'ते' ऐसा
कहा गया है ॥ २ ॥

—❀❀—

तद्यत्रैतत्सुप्तः समस्तः सम्प्रसन्नः स्वप्नं न विजा-
नात्यासु तदा नाडीषु सृप्तो भवति तं न कश्चन पाप्मा
स्पृशति तेजसा हि तदा सम्पन्नो भवति ॥ ३ ॥

ऐसी अवस्थामें जिस समय यह सोया हुआ—भली प्रकार लीन हुआ पुरुष सम्यक् प्रकारसे प्रसन्न होकर स्वप्न नहीं देखता उस समय यह इन नाडियोंमें चला जाता है, तब इसे कोई पाप स्पर्श नहीं करता और यह तेजसे व्याप्त हो जाता है ॥ ३ ॥

तत्तत्रैवं सति यत्र यस्मिन्
काल एतत्स्वप्नमयं जीवः सुप्तो
भवति । स्वापस्य द्विप्रकारत्वाद्धि-
शेषणं समस्त इति; उपसंहृत-
सर्वकरणवृत्तिरित्येतत् । अतो
वाह्यविषयसम्पर्कजनितकालुष्या-
भावात्सम्यक् प्रसन्नः सम्प्रसन्नो
भवति । अत एव स्वप्नं विषया-
काराभासं मानसं स्वप्नप्रत्ययं
न विजानाति नानुभवतीत्यर्थः ।
यदैवं सुप्तो भवत्यासु सौरतेजः-
पूर्णासु यथोक्तासु नाडीषु तदा

‘तत्’—उस अवस्थामें ऐसा होने-
पर जहाँ—जिस समय यह जीव इस
स्वप्नावस्था अर्थात् निद्राको प्राप्त
होकर सो जाता है । निद्रा^१ दो
प्रकारकी है इसलिये यहाँ ‘समस्त’
ऐसा विशेषण दिया गया है । तात्पर्य
यह है कि जिस समय वह, जिसकी
सम्पूर्ण इन्द्रियवृत्तियोंका उपसंहार
हो गया है, ऐसा हो जाता है;
इसलिये वाह्य विषयोंके सम्पर्कसे प्राप्त
हुई मलिनताका अभाव हो जानेके
कारण यह सम्यक् प्रकारसे प्रसन्न-
सम्प्रसन्न होता है; तात्पर्य यह है
कि इसीलिये यह स्वप्न—विषया-
कारसे भासित होनेवाले मानसिक
स्वप्नप्रत्ययको नहीं जानता, अर्थात्
उसका अनुभव नहीं करता । जिस
समय इस प्रकार सो जाता है उस
समय सूर्यके तेजसे पूर्ण हुई इन
पूर्वोक्त नाडियोंमें सूप्त अर्थात् प्रविष्ट
होता है, तात्पर्य यह है कि वह

१. निद्राकी दो वृत्तियाँ हैं—दर्शनवृत्ति यानी स्वप्न और अदर्शनवृत्ति—
गाढ सुषुप्ति । यहाँ दर्शनवृत्तिकी व्यावृत्तिके लिये ‘समस्त’ ऐसा विशेषण दिया
गया है ।

सृप्तः प्रविष्टो नाडीभिर्द्वारभूता-
भिर्हृद्याकाशं गतो भवतीत्यर्थः ।
न ह्यन्यत्र सत्सम्पत्तेः स्वप्नादर्श-
नमस्तीति सामर्थ्यान्नाडीष्विति
सप्तमी तृतीयया परिणम्यते ।

तं सता सम्पन्नं न कश्चन न
कश्चिदपि धर्माधर्मरूपः पाप्मा
स्पृशतीति स्वरूपावस्थितत्वात्-
दात्मनः । देहेन्द्रियविशिष्टं हि
सुखदुःखकार्यप्रदानेन पाप्मा
स्पृशतीति न तु सत्सम्पन्नं स्वरू-
पावस्थं कश्चिदपि पाप्मा स्पृष्टु-
मुत्सहते; अविषयत्वात् । अन्यो
ह्यन्यस्य विषयो भवति न त्वन्यत्वं
केनचित्कुतश्चिदपि सत्सम्प-
न्नस्य । स्वरूपप्रच्यवनं त्वात्मनो
जाग्रत्स्वप्नावस्थां प्रति गमनं
बाह्यविषयप्रतिबोधोऽविद्याकाम-

इन द्वारभूत नाडियोंसे हृदयाकाशमें
पुँच जाता है । सत्सम्पत्ति (सत्-
को प्राप्त हो जाने) के सिवा और
कहीं स्वप्नका अदर्शन नहीं होता—
इस सामर्थ्यसे 'नाडीषु' इस पदमें
जो सप्तमी विभक्ति है उसे
['नाडीभिः' इस प्रकार] तृतीयाके
रूपमें बदल ली जाती है ।

सत्को प्राप्त हुए उस प्राणीको
कोई भी धर्माधर्मरूप पाप स्पर्श
नहीं करता, क्योंकि उस अवस्थामें
आत्मा अपने स्वरूपमें स्थित हो
जाता है । जो जीव देह और
इन्द्रियोंसे विशिष्ट है उसीको सुख-
दुःखरूप अपने कार्य प्रदान करके
पाप स्पर्श कर सकता है । सत्को
प्राप्त हुए स्वरूपावस्थित आत्माको
स्पर्श करनेका कोई भी पाप साहस
नहीं कर सकता, क्योंकि वह उसका
विषय नहीं है । अन्य ही अन्यका
विषय हुआ करता है और सत्को
प्राप्त हुए जीवका किसीसे भी किसी
भी कारणसे अन्यत्व है नहीं ।
आत्माका जाग्रत् या स्वप्नावस्थाको
प्राप्त होना तथा बाह्य विषयोंको
अनुभव करना ही स्वरूपसे
च्युत होना है, क्योंकि अविद्या-
रूप काम और कर्मका बीज

कर्मबीजस्य ब्रह्मविद्याहुताशादा-
हनिमित्तमित्यबोचाम षष्ठ एव
तदिहापि प्रत्येतव्यम् ।

यदैवं सुप्तः सौरेण तेजसा हि
नाड्यन्तर्गतेन सर्वतः सम्पन्नो
व्याप्तो भवति । अतो विशेषेण
चक्षुरादिनाडीद्वारैर्बाह्यविषयभो-
गायाप्रसृतानि करणान्यस्य तदा
भवन्ति । तस्मादयं करणानां
निरोधात्स्वात्मन्येवावस्थितः स्व-
प्नं न विजानातीति युक्तम् ॥३॥

ब्रह्मविद्यारूप अग्निसे दग्ध न होनेके
कारण ही रहता है—ऐसा हम
छठे अध्यायमें ही कह चुके हैं,
उसीपर यहाँ भी विश्वास करना
चाहिये !

जिस समय यह जीव इस प्रकार
सो जाता है उस समय सब ओरसे
नाडीके अन्तर्गत सौर तेजसे सम्पन्न-
व्याप्त हो जाता है इसलिये तब
इसकी इन्द्रियाँ बाह्य विषयोंके भोगके
लिए चक्षु आदि नाडियोंके द्वारा
विशेषरूपसे अप्रसृत अर्थात् निरुद्ध
हो जाती हैं । इसीसे इन्द्रियोंका
निरोध हो जानेके कारण अपने
स्वरूपमें ही स्थित हुआ यह जीव
स्वप्न नहीं देखता ॥ ३ ॥

—:०:—

तत्रैवं सति —

| ऐसा होनेपर—

अथ यत्रैतदबलिमानं नीतो भवति तमभित
आसीना आहुर्जानासि मां जानासि मामिति स यावद-
स्माच्छरीरादनुत्क्रान्तो भवति तावज्जानाति ॥ ४ ॥

अब, जिस समय यह जीव शरीरकी दुर्बलताको प्राप्त होता है
उस समय उसके चारों ओर बैठे हुए [बन्धुजन] कहते हैं—‘क्या
तुम मुझे जानते हो ? क्या तुम मुझे जानते हो ? वह जबतक इस
शरीरसे उत्क्रमण नहीं करता तबतक उन्हें जानता है ॥ ४ ॥

अथ यत्र यस्मिन् कालेऽबलि-
मानमवलभावं देहस्य रोगादिनि-
मित्तं जरादिनिमित्तं वा कृशी-
भावमेतन्नयनं नीतः प्रापितो
देवदत्तो भवति सुमूर्षुर्यदा
भवतीत्यर्थः, तमभितः सर्वतो
वेष्टयित्वासीना ज्ञातय आहुर्जा-
नासि मां तव पुत्रं जानासि मां
पितरं चेत्यादि । स सुमूर्षुर्याव-
दस्माच्छरीरादनुत्क्रान्तोऽनिर्गतो
भवति तावत्पुत्रादीज्जानाति ॥४॥

अब, जिस समय यह देवदत्त
[नामक पुरुषविशेष] अबलिमा-
रोगादिके कारण अथवा जरादिके
कारण देहकी दुर्बलता—कृशताको
प्राप्त करा दिया जाता है अर्थात्
जिस समय यह मरणासन्न होता है,
उस समय उसके चारों ओर बैठे
हुए बन्धुजन कहते हैं—‘क्या तुम
मुझ अपने पुत्रको जानते हो ? क्या
तुम मुझ अपने पिताको पहचानते
हो ?’ इत्यादि । वह सुमूर्षु जीव
जबतक इस शरीरसे अनुत्क्रान्त
रहता है अर्थात् बहिर्गत नहीं होता
तबतक उन पुत्रादिको पहचानता
है ॥ ४ ॥

—०*०—

अथ यत्रैतदस्माच्छरीरादुत्क्रान्त्यर्थैतैरेव रश्मिभि-
रूर्ध्वमाक्रमते स ओमिति वा होद्वा मीयते स यावत्त्रि-
प्येन्मनस्तावदादित्यं गच्छत्येतद्वै खलु लोकद्वारं विदुषां
प्रपदनं निरोधोऽविदुषाम् ॥ ५ ॥

फिर जिस समय यह इस शरीरसे उत्क्रमण करता है उस समय
इन किरणोंसे ही ऊपरकी ओर चढ़ता है । वह ‘ॐ’ ऐसा [कहकर
आत्माका ध्यान करता हुआ] ऊर्ध्वलोक अथवा अधोलोकको जाता है ।
वह जितनी देरमें मन जाता है उतनी ही देरमें आदित्यलोकमें पहुँच
जाता है । यह [आदित्य] निश्चय ही लोकद्वार है । यह विद्वानोंके लिये
ब्रह्मलोकप्राप्तिका द्वार है और अविद्वानोंका निरोधस्थान है ॥ ५ ॥

अथ यत्र यदैतत्क्रियाविशेष-
णमित्यस्माच्छरीरादुत्क्रामति ।
अथ तदैतैरेव यथोक्ताभी रश्मि-
भिर्ऋध्वमाक्रमते यथाकर्मजितं
लोकं प्रत्यविद्वान् । इतरस्तु
विद्वान्यथोक्तसाधनसम्पन्नः स
ओमित्योङ्कारेणात्मानं ध्यायन्य-
थापूर्वं वा हैव । उद्धोर्ध्वं वा
विद्वान्चेदितरस्तिर्यङ्चेत्यभिप्रायः ।
मीयते प्रमीयते गच्छतीत्यर्थः ।

स विद्वानुत्क्रमिष्यन्यावत्क्षि-
प्येन्मनो यावता कालेन मनसः
क्षेपः स्यात्तावता कालेनादित्यं
गच्छति प्राप्नोति त्रिप्रं गच्छ-
तीत्यर्थो न तु तावतैव कालेनेति
विवक्षितम् ।

किमर्थमादित्यं गच्छतीत्यु-
च्यते । एतद्वै खलु प्रसिद्धं ब्रह्म-
लोकस्य द्वारं य आदित्यस्तेन द्वार-

फिर जिस समय—‘एतत्’ यह
शब्द क्रियाविशेषण है—यह इस
शरीरसे उत्क्रमण करता है तब वह
अज्ञानी अपने कर्मोंके अनुसार
उपार्जित लोकोंके प्रति इन उपर्युक्त
किरणोंके द्वारा ही ऊपर चढ़ता है।
तथा दूसरा जो उपर्युक्त साधनोंसे
सम्पन्न ज्ञानी (निर्गुणोपासक) है
वह ओंकारके द्वारा पूर्ववत् आत्माका
ध्यान करता हुआ—तात्पर्य यह
है कि यदि वह विद्वान् होता है
तो ऊर्ध्वलोकोंको और अविद्वान्
होता है तो अधोलोकोंको ‘मीयते’
अर्थात् जाता है ।

वह उत्क्रमण करनेवाला विद्वान्
जितनी देरमें मन जाता है अर्थात्
जितने समयमें मनको कहीं ले जाया
जाता है, उतने ही समयमें आदित्य-
लोकमें जाता—पहुँचता है ।
तात्पर्य यह है कि वह शीघ्र चलता
है, इससे यह बतलाना अभीष्ट नहीं
है कि उतने ही समयमें पहुँचता
है ।

वह आदित्यलोकमें क्यों जाता
है? यह बतलाया जाता है—यह
जो आदित्य है वह निश्चय ही
ब्रह्मलोकका प्रसिद्ध द्वार है; उस

भूतेन ब्रह्मलोकं गच्छति विद्वान् ।
 अतो विदुषां प्रपदनं प्रपद्यते
 ब्रह्मलोकमनेन द्वारेणेति प्रपद-
 नम् । निरोधनं निरोधोऽस्मादा-
 दित्यादविदुषां भवतीति निरोधः ।
 सौरेण तेजसा देह एव निरुद्धाः
 सन्तो मूर्धन्यया नाड्या नोत्क्र-
 मन्त एवेत्यर्थः । विष्वङ्ङन्या
 इति श्लोकात् ॥ ५ ॥

द्वारभूत आदित्यके द्वारा विद्वान्
 ब्रह्मलोकको जाता है । अतः इस
 द्वारसे विद्वान् ब्रह्मलोकको प्राप्त होते
 हैं इसलिये यह विद्वानोंका प्रपदन
 है । निरोधनका नाम निरोध है;
 इस आदित्यसे अविद्वानोंका निरोध
 होता है, इसलिये यह निरोध है ।
 तात्पर्य यह है कि अविद्वान् लोग
 सौर तेजके द्वारा देहमें ही निरुद्ध
 होकर मूर्धन्यनाडीसे उत्क्रमण नहीं
 करते, जैसा कि 'विष्वङ्ङन्या'
 इत्यादि आगेके मन्त्रसे सिद्ध होता
 है ॥ ५ ॥

—:०:—

तदेष श्लोकः । शतं चैका च हृदयस्य नाड्य-
 स्तासां मूर्धानमभिनिःसृतैका । तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति
 विष्वङ्ङन्या उत्क्रमणो भवन्त्युत्क्रमणो भवन्ति ॥ ६ ॥

इस विषयमें यह मन्त्र है—हृदयकी एक सौ एक नाडियाँ हैं ।
 उनमेंसे एक मस्तककी ओर निकल गयी है । उसके द्वारा ऊपरकी ओर
 जानेवाला जीव अमरत्वको प्राप्त होता है; शेष इधर-उधर जानेवाली
 नाडियाँ केवल उत्क्रमणका कारण होती हैं, उत्क्रमणका कारण होती हैं
 [उनसे अमरत्वकी प्राप्ति नहीं होती] ॥ ६ ॥

तदेतस्मिन्यथोक्तेऽर्थ एष
 श्लोको मन्त्रो भवति । शतं चैका
 चैकोत्तरशतं नाड्यो हृदयस्य
 मांसपिण्डभूतस्य सम्बन्धिन्यः

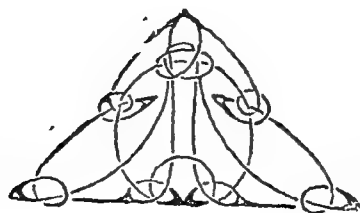
उस इस उपयुक्त अर्थमें यह
 श्लोक यानी मन्त्र है—मांसके
 पिण्डभूत हृदयसे सम्बन्ध रखनेवाली
 सौ और एक अर्थात् एक ऊपर सौ
 प्रधान नाडियाँ हैं, ['प्रधानतः'

प्रधानतो भवन्ति, आनन्त्याद्दे-
हनाडीनाम् । तासां मेका मूर्धान-
मभिनिःसृता विनिर्गता तयोर्ध्व-
मायन्गच्छन्मृतत्वममृतभावमेति
विष्वङ्नानागतयस्तिर्यग्विसर्पिण्य
ऊर्ध्वगाश्चान्या नाड्यो भवन्ति
संसारगसनद्वारभूता न त्वमृत-
त्वाय किं तर्ह्युत्क्रमण एवोत्क्रा-
न्त्यर्थमेव भवन्तीत्यर्थः ।
द्विरभ्यासः प्रकरणसमाप्त्यर्थः । ६ ।

इसलिये कहा कि] देहकी नाडियोंका कोई अन्त नहीं है । उनमेंसे एक मूर्धाकी ओर निकल गयी है । उसके द्वारा ऊपरकी ओर जानेवाला जीव अमृतत्व—अमृतभावको प्राप्त होता है । तथा अन्य नाडियाँ विष्वक्—नाना गतिवाली अर्थात् इधर-उधर जानेवाली और ऊर्ध्व-गामिनी हैं । वे संसारप्राप्तिकी द्वारभूत हैं, अमृतत्वकी हेतुभूत नहीं हैं । तो फिर कैसी हैं ?—वे उत्क्रमण अर्थात् प्राणप्रयाणके लिये ही होती हैं—ऐसा इसका तात्पर्य है । ‘उत्क्रमणे भवन्ति’ इस पदकी द्विसक्ति प्रकरणकी समाप्ति सूचित करनेके लिये है ॥ ६ ॥

—:०:—

इतिच्छान्दोग्योपनिषच्छ्रमाध्याये
षष्ठखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥ ६ ॥



सप्तम खण्ड

—:०:—

आत्मतत्त्वका अनुसंधान करनेके लिये इन्द्र और
विरोचनका प्रजापतिके पास जाना

अथ य एष सम्प्रसादोऽस्मा-
च्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरु-
पसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यत-
एष आत्मेति होवाचैतदमृतमभ-
यमेतद्ब्रह्मेत्युक्तम् । तत्र कोऽसौ
सम्प्रसादः ? कथं वा तस्याधि-
गमः ? यथा सोऽस्माच्छरीरात्स-
मुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन
रूपेणाभिनिष्पद्यते, येन स्वरूपेणा-
भिनिष्पद्यते स किलक्षण आत्मा ?
सम्प्रसादस्य च देहसम्बन्धीनि
रूपाणि ततो यदन्यत्कथं स्वरूप-
मित्येतेऽर्था वक्तव्या इत्युत्तरो
ग्रन्थ आरभ्यते । आख्यायिका

‘अथ यह जो सम्प्रसाद है, जो
इस शरीरसे सम्यक् रूपसे उत्थान
कर परम ज्योतिको प्राप्त होकर
अपने स्वरूपसे निष्पन्न होता है यह
आत्मा है—ऐसा [आचार्यने]
कहा । यह अमृत है, यह अभय है,
यह ब्रह्म है’ ऐसा [पहले दहर
विद्याके प्रसङ्गमें] कहा जा चुका
है । सो इस प्रसङ्गमें यह सम्प्रसाद
कौन है और उसकी प्राप्ति कैसे
होती है ? यह जिस प्रकार इस
शरीरसे उत्थानकर परम ज्योतिको
प्राप्त हो अपने स्वरूपसे निष्पन्न
होता है और जिस रूपसे निष्पन्न
होता है वह आत्मा कैसे लक्षणवाला
है ? सम्प्रसादके जो [सविशेष]
रूप हैं वे तो देहसम्बन्धी हैं, उनसे
भिन्न जो उसका [निर्विशेष]
रूप है वह कैसा है ?—ये सब
बातें बतलानी हैं, इसीलिये आगेका
ग्रन्थ आरम्भ किया जाता है ।
यहाँ जो आख्यायिका है वह तो
विद्याके ग्रहण और दान करनेकी

तु विद्याग्रहणसम्प्रदानविधिप्रद-

शनार्था विद्यास्तुत्यर्था च ।

राजसेवितं पानीयमितिबत् ।

विधि प्रदर्शित करने एवं विद्याकी स्तुतिके लिये है, जिस प्रकार

[जलकी प्रशंसा करनेके लिये]

‘यह जल राजाद्वारा सेवित है’

ऐसा कहा जाता है ।

य आत्मापहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पः सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः स सर्वांश्च लोकानान्नोति सर्वांश्च कामान्यस्तमात्मानमनुविध्य विजानातीति ह प्रजापतिरुवाच ॥ १ ॥

जो आत्मा [धर्माधर्मादिरूप] पापशून्य, जरारहित, मृत्युहीन, विशोक, क्षुधारहित, पिपासारहित, सत्यकाम और सत्यसंकल्प है उसे खोजना चाहिये और उसे विशेषरूपसे जाननेकी इच्छा करनी चाहिये । जो उस आत्माको शास्त्र और गुरुके उपदेशानुसार खोजकर जान लेता है वह सम्पूर्ण लोक और समस्त कामनाओंको प्राप्त कर लेता है—ऐसा प्रजापतिने कहा ॥ १ ॥

य आत्मापहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पः, यस्योपासनायोपलब्ध्यर्थं हृदय-पुण्डरीकमभिहितम्, यस्मिन्कामाः समाहिताः सत्यान्नृतापिधानाः, यदुपासनसहभावि ब्रह्मचर्यं

जो आत्मा पापरहित, जराहीन, मृत्युहीन, शोकरहित, क्षुधारहित, तृषाहीन, सत्यकाम और सत्यसंकल्प है, जिसकी उपासना अर्थात् उपलब्धिके लिये हृदयपुण्डरीक स्थान बतलाया गया है, जिसमें मिथ्यासे अपिहित (ढँके हुए) सत्यकाम सम्यक् प्रकारसे स्थित हैं, जिसकी उपासनाके साथ-साथ रहनेवाला

साधनमुक्तम्, उपासनफलभूत-
कामप्रतिपत्तये च मूर्धन्यया
नाड्या गतिरभिहिता सोऽन्वेष्टव्यः
शास्त्राचार्योपदेशैर्ज्ञातव्यः स
विशेषेण ज्ञातुमेष्टव्यो विजि-
ज्ञासितव्यः स्वसंवेद्यतामापाद-
यितव्यः ।

किं तस्यान्वेषणाद्विजिज्ञासनाच्च
स्यात् ? इत्युच्यते—स सर्वांश्च
लोकानाप्नोति सर्वांश्च कामान्य-
स्तमात्मानं यथोक्तेन प्रकारेण
शास्त्राचार्योपदेशेनान्विष्य विजा-
नाति स्वसंवेद्यतामापादयति
तस्यैतत्सर्वलोककामावाप्तिः सर्वा-
त्मता फलं भवतीति ह किल
प्रजापतिरुवाच ।

अन्वेष्टव्यो विजिज्ञासितव्य
इति चैव नियमविधिरेव नापूर्व-
विधिः । एवमन्वेष्टव्यो विजिज्ञा-
सितव्य इत्यर्थः । दृष्टार्थत्वादन्वे-

ब्रह्मचर्यरूप साधन बतलाया गया
है और उपासनाके फलभूत कामकी
प्राप्तिके लिये मूर्धन्य नाडीसे गति
बतलायी गयी है उसका अन्वेषण
करना चाहिये—शास्त्र और
आचार्यके उपदेशोंसे उसका ज्ञान
प्राप्त करना चाहिये; वह विजिज्ञा-
सितव्य—विशेषरूपसे जाननेके
लिये इष्ट है अर्थात् 'स्वसंवेद्यताको
प्राप्त करानेयोग्य है ।

उसके अन्वेषण और विशेष-
रूपसे जाननेकी इच्छासे क्या
होता है, यह बतलाया जाता है—
जो उपर्युक्त प्रकारसे उस आत्माको
शास्त्र और आचार्यके उपदेशानुसार
अन्वेषणकर विशेषरूपसे जान लेता
है अर्थात् स्वसंवेद्यताको प्राप्त कर
लेता है उसे इन समस्त लोकोंके
भोगोंकी प्राप्ति और सर्वात्मतारूप
फलकी प्राप्ति होती है—ऐसा
प्रजापतिने कहा ।

'अन्वेषण करना चाहिये, विशेष-
रूपसे जानना चाहिये' यह नियम-
विधि ही है, अपूर्व विधि नहीं है ।
इसका तात्पर्य यह है कि उसे इस
प्रकार अन्वेषण करना चाहिये,
इस प्रकार जानना चाहिये, क्योंकि

षणविजिज्ञासनयोः । दृष्टार्थत्वं
च दर्शयिष्यति नाहमत्र भोग्यं
पश्यामीत्यनेनासकृत् । पररूपेण
च देहादिधर्मैरवगम्यमानस्या-
त्मनः स्वरूपाधिगमे विपरीताधि-
गमनिवृत्तिर्दृष्टं फलमिति नियमा-
र्थतैवास्य विधेर्युक्ता न त्वग्निहो-
त्रादीनामिवापूर्वविधित्वमिह
सम्भवति ॥ १ ॥

अन्वेषण और विजिज्ञासा ये दोनों
ही दृष्टार्थ हैं [इनका फल प्रत्यक्ष
सिद्ध है, परलोकादिकी भाँति
अदृष्ट नहीं है] । इनकी दृष्टार्थता
'मैं इसमें भोग्य नहीं देखता' इस
[इन्द्रके] वाक्यसे श्रुति बारंबार
दिखलायेगी । देहादि धर्मोंसे अतीत
रूपसे ज्ञात होनेवाले आत्माके
स्वरूपका ज्ञान होनेमें विपरीत
ज्ञानकी निवृत्ति—यह दृष्ट फल है;
अतः इस विधिका नियमार्थक
होना ही उचित है; अग्निहोत्रादिके
समान इसका अपूर्वविधि होना
सम्भव नहीं है ॥ १ ॥

—:❀:❀:—

तद्धोभये देवासुरा अनुबुबुधिरे ते होचुर्हन्त
तमात्मानमन्विच्छामो यमात्मानमन्विष्य सर्वाँश्च
लोकानान्नोति सर्वाँश्च कामानितीन्द्रो हैव देवाना-
मभिप्रवव्राज विरोचनोऽसुराणां तौ हासंविदानावेव
समिप्ताणी प्रजापतिसकाशमाजग्मतुः ॥ २ ॥

प्रजापतिके इस वाक्यको देवता और असुर दोनोंहीने परम्परासे
जान लिया । वे कहने लगे—'हम उस आत्माको जानना चाहते हैं
जिसे जाननेपर जीव सम्पूर्ण लोकों और समस्त भोगोंको प्राप्त कर लेता
है'—ऐसा निश्चय कर देवताओंका राजा इन्द्र और असुरोंका राजा
विरोचन—ये दोनों परस्पर ईर्ष्या करते हुए हाथोंमें समिधाएँ लेकर
प्रजापतिके पास आये ॥ २ ॥

तद्धोभय इत्याद्याख्यायिका-
प्रयोजनमुक्तम् । तद्ध किल प्रजा-
पतेर्वचनमुभये देवासुरा देवाश्चा-
सुराश्च देवासुरा अनु परम्परागतं
स्वकर्णगोचरापन्नमनुबुधिरनु-
बुद्धवन्तः ।

ते चैतत्प्रजापतिवचो बुद्ध्वा
किमकुर्वन्नित्युच्यते—ते होचुरु-
क्तवन्तोऽन्योऽन्यं देवाः स्वपरिष-
द्यसुराश्च हन्त यद्यनुमतिर्भवतां
प्रजापतिनोक्तं तमात्मानमन्वि-
च्छामोऽन्वेषणं कुर्मो यमात्मान-
मन्विष्य सर्वांश्च लोकानामोति
सर्वांश्च कामानित्युक्त्वेन्द्रो हैव
राजैव स्वयं देवानामितरान्दे-
वांश्च भोगपरिच्छदं च सर्व
स्थापयित्वा शरीरमात्रेणैव प्रजा-
पतिं प्रत्यभिप्रवव्राज प्रगतवांस्तथा
विरोचनोऽसुराणाम् ।

विनयेन गुरवोऽभिगन्तव्या
इत्येतद्दर्शयति, त्रैलोक्यराज्याच्च
गुरुतरा विद्येति । यतो देवासुर-

‘तद्धोभये’ इत्यादि आख्यायिका-
का प्रयोजन पहले बतला दिया
गया । परम्परासे आये हुए—अपने
कर्णोंके विषय हुए उस प्रजा
पतिके वचनको देवता और असुर
इन दोनोंने जान लिया ।

प्रजापतिके इस वचनको जान-
कर उन्होंने क्या किया—यह
बतलाया जाता है—उन देवता
और असुरोंने अपनी-अपनी सभामें
आपसमें कहा, ‘यदि आपलोगोंकी
अनुमति हो तो प्रजापतिके बतलाये
हुए उस आत्माका अन्वेषण करें, जिस
आत्माका अन्वेषण कर लेनेपर मनुष्य
सम्पूर्ण लोक और समस्त भोगोंको
प्राप्त कर लेता है । ऐसा कहकर
स्वयं देवताओंका राजा इन्द्र ही
अपनी सम्पूर्ण भोगसामग्री देवताओं-
को सौंपकर शरीरमात्रसे ही प्रजा-
पतिके पास गया । इसी प्रकार
असुरोंका राजा विरोचन भी गया ।

गुरुजनोंके प्रति विनयपूर्वक जाना
चाहिये—यह बात श्रुति दिखलाती
है; तथा यह भी [प्रदर्शित करती
है] कि विद्या त्रिलोकीके राज्यसे

राजौ महर्हभोगाहौ सन्तौ तथा
गुरुमभ्युपगतवन्तौ । तौ ह किला-
संविदानावेवान्योऽन्यं संविदम-
कुर्वाणौ विद्याफलं प्रत्यन्योन्य-
मीर्ष्यां दर्शयन्तौ समित्पाणी
समिद्धारहस्तौ प्रजापतिसकाश-
भाजगमतुरागतवन्तौ ॥ २ ॥

भी बढ़कर है, क्योंकि देवराज और
असुरराज ये दोनों बहुमूल्य भोगके
पात्र होनेपर भी इस प्रकार गुरुके
समीप गये । वे दोनों परस्पर
असंविदान—संविद (सद्भाव) न
करते हुए अर्थात् विद्याके फलके
लिये एक दूसरेके प्रति ईर्ष्या
प्रदर्शित करते हुए समित्पाणि—
हाथोंमें समिधाओंके भार लिये
प्रजापतिके समीप आये ॥ २ ॥

—❀❀—

तौ ह द्वात्रिंशत् वर्षाणि ब्रह्मचर्यमूषतुस्तौ ह
प्रजापतिरुवाच किमिच्छन्ताववास्तमिति तौ होचतुर्य
आत्मापहतपाप्मा विजरो विसृज्युर्विशोको विजिघत्सो-
ऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पः सोऽन्वेष्टव्यः स
विजिज्ञासितव्यः स सर्वांश्च लोकानामोति सर्वांश्च
कामान् यस्तस्मात्मानमनुविद्य विजानातीति भगवतो
वचो वेदयन्ते तमिच्छन्ताववास्तमिति ॥ ३ ॥

उन्होंने वत्तीस वर्षतक ब्रह्मचर्यवास किया । तब उनसे प्रजापतिने
कहा—‘तुम यहाँ किस इच्छासे रहे हो ?’ उन्होंने कहा—‘जो आत्मा
पापरहित, जरारहित, मृत्युहीन, शोकरहित, क्षुधाहीन, तृषाहीन, सत्य-
काम और सत्यसंकल्प है उसका अन्वेषण करना चाहिये और उसे विशेष-
रूपसे जाननेकी इच्छा करनी चाहिये । जो उस आत्माका अन्वेषण कर
उसे विशेषरूपसे जान लेता है वह सम्पूर्ण लोक और समस्त भोगोंको
प्राप्त कर लेता है—इस श्रीमान्के वाक्यको शिष्टजन बतलाते हैं ।
उसीको जाननेकी इच्छा करते हुए हम यहाँ रहे हैं’ ॥ ३ ॥

तौ ह गत्वा द्वात्रिंशत् वर्षाणि
 शुश्रूषापरौ भूत्वा ब्रह्मचर्यमू-
 षतुरुषितवन्तौ । अभिप्रायज्ञः
 प्रजापतिस्तावुवाच किमिच्छन्तौ
 किं प्रयोजनमभिप्रेत्येच्छन्ताववा-
 स्तमुषितवन्तौ युवामितीत्युक्तौ
 तौ होचतुः—य आत्मेत्यादि
 भगवतो वचा वेदयन्ते शिष्टा
 अतस्तमात्मानं ज्ञातुमिच्छन्ताव-
 वास्तमिति । यद्यपि प्राक् प्रजापतेः
 समीपागमनादन्योन्यमीर्ष्यायु-
 क्तावभूतां तथापि विद्याप्राप्ति-
 प्रयोजनगौरवात्त्यक्तरागद्वेषमोहे-
 र्प्यादिदोषावेव भूत्वोषतुर्ब्रह्मचर्यं
 प्रजापतौ । तेनेदं प्रख्यापितमा-
 त्मविद्यागौरवम् ॥ ३ ॥

वहाँ जाकर उन्होंने बत्तीस वर्षतक
 सेवामें तत्पर रहते हुए ब्रह्मचर्यवास
 किया । तब उनके अभिप्रायको
 जाननेवाले प्रजापतिने उनसे कहा—
 'तुमने किस प्रयोजनके अभिप्रायसे
 अर्थात् क्या चाहते हुए यहाँ
 निवास किया है ?' इस प्रकार कहे
 जानेपर वे बोले—'शिष्टजन श्रीमान्-
 का 'य आत्मा' इत्यादि वाक्य
 बतलाते हैं, अतः उस आत्माको
 जाननेके लिये हमने निवास किया
 है ।' यद्यपि प्रजापतिके पास
 आनेसे पूर्व वे एक दूसरेके प्रति
 ईर्ष्यायुक्त थे, तथापि विद्याप्राप्तिके
 प्रयोजनके गौरवसे उन्होंने प्रजा-
 पतिके यहाँ रागद्वेष, मोह एवं
 ईर्ष्यादि दोषोंको त्यागकर ही
 ब्रह्मचर्यवास किया । इससे इस
 आत्मविद्याके गौरवकी सूचना
 मिलती है ॥ ३ ॥

—*—

तौ ह प्रजापतिरुवाच य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यत
 एष आत्मेति होवाचैतदमृतमभयमेतद्ब्रह्मेत्यथ योऽयं
 भगवोऽप्सु परिख्यायते यश्चायमादर्शं कतम एष इत्येष
 उ एवैषु सर्वेष्वन्तेषु परिख्यायत इति होवाच ॥ ४ ॥

उनसे प्रजापतिने कहा—‘यह जो पुरुष नेत्रोंमें दिखायी देता है यह आत्मा है, यह अमृत है, यह अभय है, यह ब्रह्म है ।’ [तब उन्होंने पूछा—] ‘भगवन् ! यह जो जलमें सब ओर प्रतीत होता है और जो दर्पणमें दिखायी देता है उनमें आत्मा कौन-सा है ?’ इसपर प्रजापतिने कहा—‘मैंने जिस नेत्रान्तर्गत पुरुषका वर्णन किया है वही इन सबमें सब ओर प्रतीत होता है’ ॥ ४ ॥

तावेवं तपस्विनौ शुद्धकल्मषौ
योग्यानुपलक्ष्य प्रजापतिरुवाच
ह । य एषोऽक्षिणि पुरुषो निवृ-
त्तचक्षुर्मिन्दितकषायैर्दृश्यते
योगिभिर्द्रष्टा । एष आत्मापहतपा-
प्मादिगुणो यमबोचं पुराहं
यद्विज्ञानात्सर्वलोककामावाप्तिरेत-
दमृतं भूमाख्यम् । अत एवाभ-
यमत एव ब्रह्म वृद्धतममिति ।

अथैतत्प्रजापतिनोक्तमक्षिणि
पुरुषो दृश्यत इति वचः श्रुत्वा
छायारूपं पुरुषं जगृहतुः ।

उन्हें इस प्रकार तपस्वी, विशुद्ध-
कल्मष (जिनके दोष निवृत्त हो
गये हैं) और योग्य जानकर
प्रजापतिने कहा—‘जिनकी इन्द्रियाँ
विषयोंसे निवृत्त हो गयी हैं और
जिनके राग-द्वेषादि दोषोंका नाश
हो गया है उन योगियोंको जो
नेत्रके भीतर यहाँ द्रष्टा पुरुष
दिखायी देता है, यह अपहत-
पाप्मादिगुणोंवाला आत्मा है, जिसके
विषयमें पहले मैंने कहा था और
जिसका ज्ञान होनेपर सम्पूर्ण लोक
और कामनाओंकी प्राप्ति हो जाती
है । यह भूमासंज्ञक अमृत है,
इसलिये अभय है और इसीसे ब्रह्म
यानी वृद्धतम है ।’

तब प्रजापतिके कहे हुए
‘नेत्रोंके भीतर जो पुरुष दिखायी
देता है’ इस वाक्यसे उन्होंने
छायारूप पुरुषको ग्रहण किया

गृहीत्वा च दृढीकरणाय प्रजापतिं
पृष्ठवन्तौ । अथ योऽयं हे भग-
वोऽप्सु परिख्यायते परिसमन्ता-
ज्ज्ञायते यश्चायमादर्श आत्मनः
प्रतिबिम्बाकारः परिख्यायते
खड्गादौ च कतम एष एषां
भवद्भिरुक्तः किं वैक एव
सर्वेष्विति ।

एवं पृष्ठः प्रजापतिरुवाच—

एष उ एव यश्चक्षुषि द्रष्टा
मयोक्त इति । एतन्मनसि
कृत्वैषु सवेष्बन्तेषु मध्येषु परि-
ख्यायत इति होवाच ।

ननु कथं युक्तं शिष्ययोर्विप-
रीतग्रहणमनुज्ञातुं प्रजापतेर्विग-
तदोषस्याचार्यस्य सतः ?

सत्यमेवं नानुज्ञातम् ।

और उसे ग्रहणकर अपने विचारको
पुष्ट करनेके लिये प्रजापतिसे पूछा,
'हे भगवन् ! यह जो पुरुष जलमें
परिख्यात—'परि'—सब ओर
'ख्यात'—प्रतीत होता है और जो
यह दर्पणमें अपने प्रतिबिम्बरूपसे
दिखायी देता है तथा जो खड्गादि
[स्वच्छ पदार्थों] में दीखता है इन
सबमें आपका बतलाया हुआ
आत्मा कौन है ? अथवा इन सबमें
एक ही आत्मा है ?'

इस प्रकार पूछे जानेपर प्रजा-
पतिने कहा—'मैंने जो नेत्रान्तर्गत
द्रष्टा बतलाया है वही आत्मा है' ❀
इस बातको मनमें रखकर ही उसने
कहा कि 'वह इन सभीके भीतर
दिखायी देता है ।'

शङ्का—किंतु निर्दोष आचार्य
होकर भी प्रजापतिका अपने
शिष्योंके विपरीत ग्रहणका
अनुमोदन करना कैसे उचित हो
सकता है ?

समाधान—यह ठीक है,
परंतु प्रजापतिने उसका अनुमोदन
नहीं किया ।

* इस उक्तिसे प्रजापतिने यह सूचित कर दिया है कि तुम मेरा अभिप्राय
नहीं समझे, मैंने द्रष्टाको आत्मा बतलाया है और तुम दृश्यको आत्मा समझ
वैठे हो ।

कथम्—

आत्मन्यध्यारोपितपाण्डित्य-
प्रजापतिविषय- सहस्रवोद्घृत्वौही-
काक्षेपवारणम् न्द्रावरोचनौ तथैव
च प्रथितौ लोकैः । तौ यदि
प्रजापतिना मृदौ युवां विपरीत-
ग्राहिणावित्युक्तौ स्यातां ततस्त
योश्चित्ते दुःखं स्यात्तज्जनिताच्च
चित्तावसादात्पुनः प्रश्नश्रवण-
ग्रहणावधारणं प्रत्युत्साहविधातः
स्यादतो रक्षणीयौ शिष्याविति
मन्यते प्रजापतिः । गृहीतां ताव-
त्तदुदशरावद्वष्टान्तेनापनेष्यामी-
ति च ।

ननु न युक्तमेष उ एवेत्य-
नृतं वक्तुम् ।

न चानृतमुक्तम् ।

कथम् ?

आत्मनोक्तोऽक्षिपुरुषो मनसि

शङ्का—सो किस प्रकार ?

समाधान—इन्द्र और विरोचन
इन दोनोंने अपनेमें पाण्डित्य, महत्त्व
और ज्ञातृत्वका आरोप किया
था और ये लोकमें प्रतिष्ठित भी थे ।
यदि उनसे प्रजापति यह कहते कि
'तुम मूढ हो और उलटा समझने-
वाले हो, तो उनके चित्तमें दुःख
हो जाता और उससे होनेवाले
चित्तके पराभवसे फिर प्रश्न करने,
सुनने, ग्रहण करने और समझनेके
लिये उत्साहका ह्रास हो जाता ।
अतः प्रजापति यही मानते हैं कि
शिष्योंकी रक्षा करनी चाहिये ।
अभी ये विपरीत ग्रहण करते हैं
तो भले ही करें, मैं जलके शकोरे
आदिके दृष्टान्तसे उसे निवृत्त
कर दूंगा ।

शङ्का—किंतु 'यही वह आत्मा
है' ऐसा कहकर मिथ्याभाषण
करना तो उचित नहीं है ।

समाधा —प्रजापतिने मिथ्या-
भाषण तो नहीं किया ।

शङ्का—किस प्रकार नहीं

किया ?

समाधान—शिष्यके ग्रहण

सन्निहिततरः शिष्यगृहीताच्छा-
 यात्मनः । “सर्वेषां चाभ्यन्तरः”
 इति श्रुतेः । तमेवावोचदेष उ
 एवेत्यतो नानृतमुक्तं प्रजापतिना
 तथा च तयोर्विपरीतग्रहणनिवृ-
 त्त्यर्थं ह्याह ॥ ४ ॥

किये हुए छायात्मासे प्रजापतिका
 स्वयं बतलाया हुआ नेत्रान्तर्गत
 पुरुष उनके मनमें बहुत समीपवर्ती
 है; क्योंकि “आत्मा सबके भीतर
 है” ऐसी श्रुति है । ‘यही वह
 आत्मा है’ इस वाक्यसे प्रजापतिने
 उसीका निर्देश किया है, इसलिये
 उन्होंने मिथ्याभाषण नहीं किया ।
 तथा उन्होंने उनके विपरीत
 ग्रहणकी निवृत्तिके लिये इस प्रकार
 कहा ॥ ४ ॥

—:ॐ:—

इतिच्छान्दोग्योपनिषद्यष्टमाध्याये सप्तमखण्ड-
 भाष्यं सम्पूर्णम् ॥ ७ ॥



अष्टम खण्ड

— ** —

इन्द्र तथा विरोचनका जलके शकोरेमें अपना प्रतिबिम्ब देखना

उदशराव आत्मानमवेक्ष्य यदात्मनो न विजानी-
थस्तन्मे प्रब्रूतमिति तौ होदशरावेऽवेक्षाश्चक्राते तौ ह
प्रजापतिरुवाच किं पश्यथ इति तौ होचतुः सर्वमेवे-
दमावां भगव आत्मानं पश्याव आ लोमभ्य आ
नखेभ्यः प्रतिरूपमिति ॥ १ ॥

‘जलपूर्ण शकोरेमें अपनेको देखकर तुम आत्माके विषयमें जो न जान सको वह मुझे बतलाओ’ ऐसा [प्रजापतिने कहा] । उन्होंने जलके शकोरेमें देखा । उनसे प्रजापतिने कहा—‘तुम क्या देखते हो !’ उन्होंने कहा, ‘भगवन् ! हम अपने इस समस्त आत्माको लोम और नखपर्यन्त ज्यों-का-त्यों देखते हैं’ ॥ १ ॥

उदशराव उदकपूर्ण शरावा-
दावात्मानमवेक्ष्यानन्तरं यत्त-
त्रात्मानं पश्यन्तौ न विजानी-
थस्तन्मे सम प्रब्रूतमाचक्षीयाथा-
मित्युक्तौ तौ ह तथैवोदशरावे-
ऽवेक्षाश्चक्राते अवेक्षणं चक्रतुस्तथा
कृतवन्तौ । तौ ह प्रजापतिरुवाच
किं पश्यथ इति ?

[प्रजापतिने कहा—] ‘उदशराव
अर्थात् जलसे भरे हुए शकोरे
आदिमें अपनेको देखकर फिर
अपने आत्माको देखनेपर जो कुछ
तुम न समझ सको वह तुम
मुझसे कहना ।’ इस प्रकार
कहे जानेपर उन्होंने उसी प्रकार
जलके शकोरेमें ईक्षण-अवलोकन
किया अर्थात् [जैसा प्रजापतिने
कहा था] वैसा ही किया । तब
उनसे प्रजापतिने कहा—‘तुमने
क्या देखा ?’

ननु तन्मे प्रब्रूतमित्युक्ता-
भ्यामुदशरावेज्वेक्षणं कृत्वा
प्रजापतये न निवेदितमिदमावा-
भ्यां न विदितमित्यनिवेदिते
चाज्ञानहेतौ ह प्रजापतिरुवाच
किं पश्यथ इति ? तत्र कोऽभि-
प्राय इति ।

उच्यते नैव तयोरिदमावा-
योरविदितमित्याशङ्काभूच्छाया-
त्मन्यात्मप्रत्ययो निश्चित एवा-
सीद् । येन वक्ष्यति—‘तौ ह
शान्तहृदयौ प्रवव्रजतुः’ इति । न
ह्यनिश्चितेऽभिप्रेतार्थे प्रशान्तहृद-
यत्वमुपपद्यते । तेन नोचतु-
रिदमावाभ्यामविदितमिति ।
विपरीतग्राहिणौ च शिष्यावनु-
पेक्षणीयाविति स्वयमेव पप्रच्छ
किं पश्यथ इति ? विपरीतनिश्चया-

शङ्का—किंतु ‘वह मुझसे
कहना’ इस प्रकार कहे हुए उन
दोनोंने तो जलपूर्ण शकोरेमें
देखकर प्रजापतिसे ऐसा कोई
निवेदन नहीं किया कि ‘यह बात
हम नहीं समझ सके ।’ इस प्रकार
अज्ञानका कारण न बतलानेपर भी
प्रजापतिने जो कहा कि ‘तुमने
क्या देखा ?’ सो इसका क्या
अभिप्राय है ?

समाधान—इसका उत्तर दिया
जाता है—उन्होंने इस प्रकारकी
कोई शङ्का नहीं हुई कि अमुक
बात हमको ज्ञात नहीं है ।
छायात्मामें उनकी आत्मप्रतीति
निश्चित ही थी । इसीसे आगे
चलकर श्रुति यह कहती है कि वे
शान्तचित्तसे चले गये । तथा
प्रभोष्ट वस्तुका निश्चय हुए बिना
प्रशान्तचित्तता सम्भव नहीं है;
इसीसे उन्होंने यह नहीं कहा कि
यह बात हमें विदित नहीं है ।
किंतु विपरीत ग्रहण करनेवाले
शिष्योंकी भी उपेक्षा नहीं करनी
चाहिये; इसीसे उन्होंने स्वयं ही
पूछ लिया कि तुम क्या देखते हो;
तथा उनके विपरीत निश्चयका

पनयाय च वक्ष्यति साध्वलङ्कृत-
तावित्येवमादि ।

तौ होचतुः—सर्वमेवेदमावां
भगव आत्मानं पश्याव आ
लोमभ्य आ नखेभ्यः प्रतिरूप-
मिति, यथैवावां हे भगवो लोम-
नखादिसन्तौ स्वः, एवमेवेदं
लोमनखादिसहितमावयोः प्रति-
रूपमुदशरावे पश्याव इति ॥ १ ॥

निराकरण करनेके लिये [पीछे]
'साध्वलङ्कृतौ' इत्यादि वाक्य
भी कहा ।

उन्होंने कहा—'हे भगवन् !
हम दोनों अपने आत्माको लोम
और नखपर्यन्त ज्यों-का-त्यों देखते
हैं । हे भगवन् ! हमारे स्वरूप जैसे
लोम एवं नखादियुक्त हैं उसी
प्रकार हम जलके शकोरेमें अपने
प्रतिबिम्बको भी लोम और
नखादियुक्त देखते हैं' ॥ १ ॥

—❀:❀—

तौ ह प्रजापतिरुवाच साध्वलङ्कृतौ सुवसनौ
परिष्कृतौ भूत्वोदशरावेऽवेक्षेथामिति तौ ह साध्व-
लङ्कृतौ सुवसनौ परिष्कृतौ भूत्वोदशरावेऽवेक्षाश्चक्राते
तौ ह प्रजापतिरुवाच किं पश्यथ इति ॥ २ ॥

उन दोनोंसे प्रजापतिने कहा—'तुम अच्छी तरह अलंकृत होकर,
सुन्दर वस्त्र पहनकर और परिष्कृत होकर जलके शकोरेमें देखो ।'
तब उन्होंने अच्छी तरह अलंकृत हो, सुन्दर वस्त्र धारणकर और परिष्कृत
होकर जलके शकोरेमें देखा । उनसे प्रजापतिने पूछा, 'तुम क्या
देखते हो ?' ॥ २ ॥

तौ ह पुनः प्रजापतिरुवाच—
छायात्मनिश्चयापनयाय साध्व-
लङ्कृतौ यथा स्वगृहे सुवसनौ महा-

उन दोनोंसे प्रजापतिने
छायात्मामें आत्मत्वके निश्चयकी
निवृत्तिके लिये फिर कहा—
'तुम दोनों जिस प्रकार अपने घरमें



इन्द्र और विरोचनको उपदेश

[पृष्ठ ८७८]

हृवत्प्रपांरधानौ परिष्कृतौ छिन्न-

लोमनखौ च भृत्वोदशरावे

पुनरीक्षेधामिति । इह च नादि-

देश यदज्ञातं तन्मे प्रव्रतमिति ।

कथं पुनरनेन साध्वलङ्कारादि

कृत्वोदशरावेऽवेक्षणोऽन तयोऽच्छा-

यात्मग्रहोऽपनीतः स्यात् ।

साध्वलङ्कारसुवसनादीनामा-
गन्तुकानां छायाकरत्वमुदशरावे
यथा शरीरसम्बद्धानामेवं शरीर-
स्यापिच्छायाकरत्वं पूर्वं बभूवेति
गम्यते । शरीरैकदेशानां च
लोमनखादीनां नित्यत्वेनाभि-
प्रेतानामखण्डितानां छायाकरत्वं
पूर्वमासीत् । छिन्नेषु च तेषु नैव
लोमनखादिच्छाया दृश्यतेऽतो
लोमनखादिवच्छरीरस्याप्यागमा-
पायित्वं सिद्धमित्युदशरावादौ

रहते हो उसी भाँति अच्छी तरह
अलंकृत होकर 'सुवसन'-महामूल्य
वस्त्र धारणकर तथा परिष्कृत यानी
लोम और नख काटकर जलके
शकोरेमें फिर देखो ।' यहाँ
प्रजापतिने ऐसा आदेश नहीं किया
कि उक्त समय तुम जो न जान
सको वह मुझे बतलाना । [क्योंकि
वे यही चाहते थे कि] इस प्रकार
सुन्दर अलंकारादि धारण कर
जलके शकोरेमें देखनेसे किसी-न-
किसी तरह उनकी छायात्मबुद्धि
निवृत्त हो जाय ।

जिस प्रकार देहसे सम्बद्ध सुन्दर
अलंकार और बहुमूल्य वस्त्रादि
आगन्तुक पदार्थ जलके शकोरेमें अपनी
छाया प्रकट करते हैं उसी प्रकार पहले
शरीर भी छायाकारक था—ऐसा
इससे ज्ञात होता है । शरीरके एकदेश-
रूप तथा नित्यरूपसे माने गये अ-
खण्डित लोम और नखादि भी पहले
छायाजनक थे । किंतु अब उन्हें
काट लिये जानेपर उन लोम एवं
नखादिकी छाया दिखायी नहीं देती ।
इससे लोम और नखादिके समान
शरीर भी आगमापायी (उत्पन्न और
नष्ट होनेवाला) सिद्ध होता है ।

दृश्यमानस्य तन्निमित्तस्य च
देहस्यानात्मत्वं सिद्धम्, उदश-
रावादौ छायाकरत्वाद्देहसम्बद्धा-
लङ्कारादिवत् ।

न केवलमेतावदेतेन यावत्कि-
ञ्चिदात्मीयत्वाभिमतं सुखदुःख-
रागद्वेषमोहादि च कादाचित्क-
त्वान्नखलोमादिवदनात्मेति प्रत्ये-
तव्यम् । एवमशेषमिथ्याग्रहापन-
यनिमित्ते साध्वलङ्कारादिदृष्टान्ते
प्रजापतिनोक्ते श्रुत्वा तथा कृत-
वतोरपिच्छायात्मविपरीतग्रहो
नापजगाम यस्मात्तस्मात्स्व-
दोषेणैव केनचित्प्रतिबद्धविवेक-
विज्ञानाविन्द्रविरोचनावभूतामिति
गम्यते । तौ पूर्ववदेव दृढनिश्चयौ
पप्रच्छ किं पश्यथ इति ॥ २ ॥

इस प्रकार जलके शकोरे आदिमें
दीखनेवाले उनके निमित्तभूत
देहका भी अनात्मत्व सिद्ध होता है,
क्योंकि देहसम्बन्धी अलंकारादिके
समान उसका भी जलके शकोरे
आदिमें छायाकरत्व है ।

इससे केवल इतनी ही बात सिद्ध
होती हो सो नहीं, बल्कि सुख, दुःख,
राग, द्वेष और मोहादि जितना कुछ
भी आत्मीयरूपसे माना जाता है
वह भी नख एवं लोमादिके समान
कभी-कभी होनेवाला होनेके कारण
अनात्मा ही है—ऐसा जानना
चाहिये । इस प्रकार सम्पूर्ण
मिथ्या ग्रहणकी निवृत्तिका हेतुभूत
प्रजापतिका कहा हुआ साधु
अलंकारादिका दृष्टान्त सुनकर वैसा
ही करनेपर भी, क्योंकि उनका
छायात्मसम्बन्धी विपरीत ज्ञान
निवृत्त नहीं हुआ इसलिये यह
विदित होता है कि उन इन्द्र और
विरोचनका विवेकविज्ञान उनके
किसी अपने दोषसे ही प्रतिबद्ध
हो गया था । तब प्रजापतिने
पहलेहीके समान दृढ़ निश्चयवाले
उन दोनोंसे पूछा, 'तुम क्या देखते
हो ?' ॥ २ ॥

तौ होचतुर्यथैवेदमावां भगवः साध्वलङ्कृतौ सुवसनौ
परिष्कृतौ स्व एवमेवेमौ भगवः साध्वलङ्कृतौ सुवसनौ
परिष्कृतावित्येष आत्मेति होवाचैतदमृतमभयमेतद्ब्र-
ह्मेति तौ ह शान्तहृदयौ प्रवव्रजतुः ॥ ३ ॥

उन दोनोंने कहा—‘भगवन् ! जिस प्रकार हम दोनों उत्तम प्रकारसे अलंकृत, सुन्दर वस्त्र धारण किये और परिष्कृत हैं उसी प्रकार हे भगवन् ! ये दोनों भी उत्तम प्रकारसे अलंकृत, सुन्दर वस्त्रधारी और परिष्कृत हैं ।’ तब प्रजापतिने कहा—‘यह आत्मा है, यह अमृत और अभय है और यही ब्रह्म है ।’ तब वे दोनों शान्तचित्तसे चले गये ॥ ३ ॥

तौ तथैव प्रतिपन्नौ यथैवेद-
मिति पूर्ववद्यथा साध्वलङ्कारा-
दिविशिष्टावावां स्व एवमेवेमौ
छायात्मानाविति सुतरां विपरीत-
निश्चयौ बभूवतुः । यस्यात्मनो
लक्षणं य आत्मापहतपाप्मेत्युक्त्वा
पुनस्तद्विशेषमन्विष्यमाणयोर्य
एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यत इति
सान्नादात्मनि निदिष्टे तद्विपरीत-
ग्रहापनयायोदशरावसाध्वलङ्कार-
दृष्टान्तेऽप्यभिहित आत्मस्वरूप-
बोधाद्विपरीतग्रहो नापगतः ।

उन्होंने उसी प्रकार समझा ।
‘यथैवेदम्’ अर्थात् पूर्ववत् जिस
प्रकार हम साधु-अलंकारादिविशिष्ट
हैं उसी प्रकार ये छायात्मा भी हैं ।
इस प्रकार वे सर्वथा विपरीत
निश्चयवाले हो गये । जिस आत्माका
लक्षण ‘य आत्मापहतपाप्मा’
इस प्रकार कहकर फिर उसकी
विशेषताकी जिज्ञासावालोंके प्रति
‘यह जो नेत्रान्तर्गत पुरुष दिखायी
देता है, इस प्रकार आत्माका
साक्षात् निर्देश करनेपर तथा
उसके विपरीत ज्ञानकी निवृत्तिके
लिये उदशराव और साधु-अलंकारादि
दृष्टान्त देनेपर भी उन दोनोंका
आत्मस्वरूपज्ञानसे विपरीत ग्रह
निवृत्त नहीं हुआ; अतः ऐसा

अतः स्वदोषेण केनचित्प्रतिबद्ध-
विवेकविज्ञानसामर्थ्याविति यत्त्वा
यथाभिप्रेतमेवात्मानं मनसि
निधायैष आत्मेति होवाचैत-
दमृतमभयमेतद्ब्रह्मेति प्रजापतिः
पूर्ववत् । न तु तदभिप्रेत-
मात्मानम् ।

य आत्मेत्याद्यात्मलक्षणश्रव-
णेनाक्षिपुरुषश्रत्या चोदशरावा-
द्युपपत्त्या च संस्कृतौ तावत् ।
मद्वचनं सर्वं पुनः पुनः स्मरतोः
प्रतिबन्धक्षयाच्च स्वयमेवात्मवि-
षये विवेको भविष्यतीति मन्वा-
नः पुनर्ब्रह्मचर्यादेशे च तयोश्चि-
त्तदुःखोत्पत्तिं परिजिहीर्षन्कृता-
र्थबुद्धितया गच्छन्तावप्युपेक्षि-
तवान्प्रजापतिः । तौ हेन्द्रविरो-
चनौ शान्तहृदयौ तुष्टहृदयौ
कृतार्थबुद्धी इत्यर्थः । न तु शम
एव शमश्चेत्तयोर्जातो विपरीत-
ग्रहो विगतोऽभविष्यत्प्रवव्रज-
तुर्गतवन्तौ ॥ ३ ॥

मानकर कि इन दोनोंकी विवेक-
विज्ञानसामर्थ्य अपने किसी दोषके
कारण प्रतिबद्ध हो गयी है
प्रजापतिने उनके माने हुए
आत्माका नहीं बल्कि अपने मनमें
यथाभिमत आत्माका ही निश्चय कर
पहलेहीकी तरह कहा—‘यह
आत्मा है, यह अमृत और अभय है
तथा यही ब्रह्म है ।’

‘य आत्मापहतपाप्मा’ इत्यादि
आत्माका लक्षण सुननेसे, अक्षि-
पुरुषसम्बन्धिनी श्रुतिसे और उद-
शरावादिकी युक्तिसे तो ये संस्कारयुक्त
हो ही गये हैं; अब मेरी सारी
वातको बारंवार स्मरण करते हुए
प्रतिबन्धका क्षय होनेपर इन्हें स्वयं
ही आत्माके सम्बन्धमें विवेक हो
जायगा—ऐसा मानकर और पुनः
ब्रह्मचर्यका आदेश देनेपर उन्हें
जो दुःख होगा उसे बचानेके लिये
प्रजापतिने कृतार्थबुद्धि होकर जाते
हुए उन दोनोंकी उपेक्षा कर दी ।
वे इन्द्र और विरोचन शान्तचित्त-
संतुष्टहृदय अर्थात् कृतार्थबुद्धि
होकर चले गये । किंतु यह शम
नहीं था, क्योंकि यदि उन्हें
वास्तविक शम ही होता तो उ
विपरीतग्रहण निवृत्त हो जाता ॥ ३ ॥

एवं तयोर्गतयोरिन्द्रविरोच-
नयो राज्ञोर्भोगासक्तयोर्यथोक्त-
विस्मरणं स्यादित्याशङ्क्याप्रत्यक्षं
प्रत्यक्षवचनेन च चित्तदुःखं
परिनिर्हीर्षुः—

इस प्रकार गये हुए उन
भोगासक्त राजा इन्द्र और विरोचन-
को पहले कहे हुए [आत्मलक्षण]
का विस्मरण हो जायगा—ऐसी
आशङ्कासे प्रत्यक्ष वचनद्वारा
अप्रत्यक्षरूपसे उनके हार्दिक
दुःखकी निवृत्ति चाहनेवाले—

तौ हान्वीक्ष्य प्रजापतिरुवाचानुपलभ्यात्मानमनु-
विध्य व्रजतो यतर एतदुपनिषदो भविष्यन्ति देवा वासुरा
वा ते पराभविष्यन्तीति स ह शान्तहृदय एव विरोचनो-
ऽसुराञ्जगाम तेभ्यो हैतामुपनिषदं प्रोवाचात्मैवेह महय्य
आत्मा परिचर्य आत्मानमेवेह महय्यज्ञात्मानं परिचर-
न्नुभौ लोकाववाप्नोतीशं चाक्षुं चेति ॥ ४ ॥

प्रजापतिने उन्हें [दूर गया] देखकर कहा—‘ये दोनों आत्माको
उपलब्ध किये बिना—उसका साक्षात्कार किये बिना जा रहे हैं;
देवता हों या असुर जो कोई ऐसे निश्चयवाले होंगे उन्हींका पराभव
होगा।’ वह जो विरोचन था शान्तचित्तसे असुरोंके पास पहुँचा और
उनको यह आत्मविद्या सुनायी—‘इस लोकमें आत्मा (देह) ही
पूजनीय है और आत्मा ही सेवनोय है। आत्माकी ही पूजा और
परिचर्या करनेवाला पुरुष इहलोक और परलोक दोनों लोकोंको प्राप्त
कर लेता है’ ॥ ४ ॥

तौ दूरं गच्छन्तावन्वोक्ष्य य प्रजापतिने उन्हें दूर गया
देखकर, यह मानते हुए कि
आत्मापहतपाप्मेत्यादिवचनवदे- ‘य आत्मापहतपाप्मा’ इत्यादि

तदप्यनयोः श्रवणगोचरत्वमेष्य-
तीति सत्वोवाच प्रजापतिः ।

अनुपलभ्य यथोक्तलक्षणमात्मा-
नमननुविद्य स्वात्मप्रत्यक्षं चाकृ-
त्वा विपरीतनिश्चयौ च भूत्वेन्द्र-
विरोचनावेतौ व्रजतौ गच्छेया-
ताम् । अतो यतरे देवा वासुरा
वा किं विशेषितेनैतदुपनिषद्
आभ्यां या गृहीतात्मविद्या सेय-
मुपनिषदेषां देवानामसुराणां वा
त एतदुपनिषद् एवंविज्ञाना एत-
न्निश्चया भविष्यन्तीत्यर्थः । ते
किं पराभविष्यन्ति श्रेयोमार्गा-
त्पराभूता बहिर्भूता विनष्टा
भविष्यन्तीत्यर्थः ।

स्वगृहं गच्छतोः सुरासुररा-
जयोर्योऽसुरराजः स ह शान्त-
हृदय एव सन्विरोचनोऽसुराञ्ज-
गाम । गत्वा च तेभ्योऽसुरेभ्यः
शरीरात्मबुद्धिर्योऽपनिषत्तामेतामु-
पनिषदं प्रोवाचोक्तवान् । देह-
मात्रमेवात्मा पित्रोक्त इति ।

वाक्यके समान यह वचन भी
उनके कानोंमें पड़ जायगा; कहा—
'ये इन्द्र और विरोचन उपयुक्त
लक्षणवाले आत्माको बिना जाने—
उसे अपने प्रत्यक्ष किये बिना
विपरीत निश्चयवाले होकर जा रहे
हैं । इसलिये विशेषरूपसे क्या कहा
जाय, जो भी देवता या असुर
इस उपनिषद्वाले होंगे—इनके
द्वारा जो आत्मविद्या ग्रहण की
गयी है वही जिन देवता या
असुरोंकी उपनिषद् होगी वे ऐसे
उपनिषद्—ऐसे विज्ञान अर्थात्
ऐसे निश्चयवाले जो भी होंगे ।
उनका क्या होगा ? उनका पराभव
होगा । तात्पर्य यह है कि वे
श्रेयोमार्गसे पराभूत—बहिर्भूत
अर्थात् विनष्ट हो जायेंगे ।'

अपने घरको जानेवाले देवराज
और असुरराजोंमें जो असुरराज था
वह विरोचन शान्तचित्तसे ही
असुरोंके पास पहुँचा । तथा वहाँ
पहुँचकर उन असुरोंके प्रति जो
देहात्मबुद्धिरूप उपनिषद् थी वही
उपनिषद् सुना दी । अर्थात् यह
कह दिया कि प्रजापतिने देहको
ही आत्मा बतलाया है । इसलिये

तस्मादात्मैव देह इह लोके
महयः पूजनीयस्तथा परिचर्यः
परिचरणीयस्तथात्मानमेवेह लोके
देहं महयन् परिचरंश्चोभ
लोकाववाप्नोतीमं चामुं च । इह-
लोकपरलोकयोरेव सर्वे लोकाः
कामाश्चान्तर्भवन्तीति राज्ञोऽभि-
प्रायः ॥ ४ ॥

इस लोकमें देहरूप आत्मा ही
महय्य—पूजनीय तथा परिचर्य—
सेवनीय है और इस लोकमें देहरूप
आत्माकी ही पूजा-सेवा करनेसे
इस और उस दोनों लोकोंको प्राप्त
कर लेता है । इस लोक और
परलोकमें ही सम्पूर्ण लोक और
भोग अन्तर्भूत होते हैं—ऐसा
राजा विरोचनका अभिप्राय है ॥ ४ ॥

—**—

तस्मादप्यग्रे हाददानमश्रद्धाधानमयजमानमाहुरासुरो
वतेत्यसुराणां ह्योषोपनिषत्प्रेतस्य शरीरं भिक्षया वसने-
नालङ्कारेणेति सः स्कुर्वन्त्येतेन ह्यमुं लोकं जेष्यन्तो
मन्यन्ते ॥ ५ ॥

इसीसे इस लोकमें जो दान न देनेवाला, श्रद्धा न करनेवाला और
यजन न करनेवाला पुरुष होता है उसे शिष्टजन 'अरे ! यह तो आसुर
(आसुरीस्वभाववाला) ही है' ऐसा कहते हैं । यह उपनिषद् असुरोंकी
ही है । वे ही मृतक पुरुषके शरीरको [गन्ध-पुष्प-अन्नादि] भिक्षा, वस्त्र
और अलंकारसे सुसज्जित करते हैं और इसके द्वारा हम परलोक प्राप्त
करेंगे—ऐसा मानते हैं ॥ ५ ॥

तस्मात्तत्सम्प्रदायोऽद्याप्यनुव-
र्तत इतीह लोकेऽददानं दानम-
कुर्वाणमविभागशीलमश्रद्धाधानं
सत्कार्येषु श्रद्धारहितं यथाश-

इसीसे उन (असुरों) का
सम्प्रदाय इस समय भी विद्यमान
है । अतः इस लोकमें अददान—
दान न करनेवाले अर्थात् जिसका
स्वभाव अपने धनका विभाग
करनेका नहीं है, अश्रद्धाधान—

क्त्ययजमानमयजनस्वभावमाहु-

रासुरः स्वहवयं यत० एवंस्वभावो

व्रतेति खिद्यमाना आहुः शिष्टाः ।

असुराणां हि यस्मादश्रद्धानता-

दिलक्षणौषोपनिषद् ।

तयोपनिषदा संस्कृताः सन्तः

प्रेतस्य शरीरं कुणपं मित्तया

गन्धमाल्यान्नादिलक्षणा वस-

नेन वस्त्रादिनाच्छादनादिप्रका-

रेणालङ्कारेण ध्वजपताकादिक-

रणेनेत्येवं संस्कुर्वन्त्येतेन कुणप-

संस्कारेणामुं प्रेत्य प्रतिपत्तव्यं

लोकं जेय्यन्तो मन्यन्ते ॥ ५ ॥

सत्कार्योर्भिं श्रद्धा न रखनेवाले और
अयजमान—जिसका स्वभाव
यथाशक्ति यजन करनेका नहीं है
उस पुरुषको शिष्टजन 'क्योंकि
यह ऐसे स्वभाववाला है इसलिये
निश्चय यह आसुर ही है' ऐसा
खेद करते हुए कहते हैं; क्योंकि
यह अश्रद्धानता आदि लक्षणोंवाली
उपनिषद् असुरोंकी ही है ।

उस उपनिषद्से संस्कारयुक्त
होकर वे मृतक पुरुषके शरीर अर्थात्
शवको गन्ध, पुष्प एवं भन्नादिरूप
भिक्षा, वसन—वस्त्रादिद्वारा
आच्छादनादि करनेकी विधिसे और
ध्वजा-पताकादि लगानारूप
अलंकारसे संस्कृत करते हैं और
ऐसा मानते हैं कि इस शवके
संस्कारसे हम-सरकर अपने प्राप्त
होनेयोग्य लोकको प्राप्त कर लेंगे । ५।

इतिच्छान्दोग्योपनिषदष्टमाध्यायेऽष्टमखण्ड-

भाष्यं सम्पूर्णम् ॥ ८ ॥



नवम खण्ड

—०—

इन्द्रका पुनः प्रजापतिके पास आना

अथ हेन्द्रोऽप्राप्यैव देवानेतद्भयं ददर्श यथैव
खल्वयमस्मिञ्छरीरे साध्वलङ्कृते साध्वलङ्कृतो
भवति सुवसने सुवसनः परिष्कृते परिष्कृत एवमवा-
यमस्मिन्नन्धेऽन्धो भवति स्नामे स्नामः परिवृक्णे परि-
वृक्णाऽस्यैव शरीरस्य नाशमन्वेष नश्यति ॥ १ ॥

किंतु इन्द्रको देवताओंके पास बिना पहुँचे ही यह भय दिखायी दिया । जिस प्रकार इस शरीरके अच्छी प्रकार अलंकृत होनेपर यह (छायात्मा) अच्छी तरह अलंकृत होता है, सुन्दर वस्त्रधारी होनेपर सुन्दर वस्त्रधारी होता है और परिष्कृत होनेपर परिष्कृत होता है उसी प्रकार इसके अंधे होनेपर अंधा हो जाता है, स्नाम होनेपर स्नाम हो जाता है और खण्डित होनेपर खण्डित हो जाता है तथा इस शरीरका नाश होनेपर यह भी नष्ट हो जाता है ॥ १ ॥

अथ ह किलेन्द्रोऽप्राप्यैव
देवान् दैव्याक्रौर्यादिसम्पदा
युक्तत्वाद्गुरोर्वा न पुनः पुनः
स्मरन्नेव गच्छन्नेतद्वक्ष्यमाणं
भयं स्वात्मग्रहणनिमित्तं ददर्श
दृष्टवान् । उदशरावदृष्टान्तेन

किंतु इन्द्रने देवताओंके पास बिना पहुँचे ही, क्योंकि वे अक्रूरता आदि दैवीसम्पत्तिसे युक्त थे इसलिये गुरुवाक्योंको बारंबार स्मरण करते हुए जाते-जाते अपने किये हुए आत्मस्वरूपके ग्रहणके कारण यह भय देखा । जलपात्रके दृष्टान्तसे प्रजापतिने जिसके लिये [अर्थात् देहका अनात्मत्व प्रदर्शित

प्रजापतिना यदर्थो न्यायः
उक्तस्तदेकदेशो सध्वतः
प्रत्यभाद्बुद्धौ, येन छायात्मग्रहणे
दोषं ददर्श ।

कथम् ? यथैव खल्वयमस्मि-
ञ्छुरीरे साध्वलंकृते छायात्मापि
साध्वलंकृतो भवति सुवसने
च सुवसनः परिष्कृते परिष्कृतो
यथानखलोमादिदेहावयवापगमे
छायात्मापि परिष्कृतो भवति
नखलोमादिरहितो भवति; एवमे-
वायं छायात्माप्यस्मिञ्छुरीरे
नखलोमादिभिर्देहावयवत्वस्य
तुल्यत्वादन्ये चक्षुषोपगमेऽन्धो
भवति स्नामे स्नामः । स्नामः
किलैकनेत्रस्तस्यान्धत्वेन गत-
त्वात् । चक्षुर्नासिका वा यस्य सदा
स्रवति स स्नामः । परिवृक्णश्छिन्न-

करनेके लिये जो व्यभिचारित्वरूप]
न्याय प्रदर्शित किया था उसका
एकदेश इन्द्रकी बुद्धिमें स्फुरित
हुआ, जिससे कि उन्हें छायाको
आत्मरूपसे ग्रहण करनेमें दोष
दीखने लगा ।

कैसा दोष दिखायी दिया ?—
जिस प्रकार निश्चय ही इस शरीरके
अच्छी तरह अलंकृत होनेपर यह
छायात्मा अच्छी तरह अलंकृत हो
जाता है, सुन्दर वस्त्रधारी होनेपर
सुन्दर वस्त्रधारी होता है और
परिष्कृत होनेपर परिष्कृत होता है
अर्थात् नखलोमादि शरीरके
अवयवोंकी निवृत्ति होनेपर छायात्मा
भी परिष्कृत—नखलोमादिरहित
हो जाता है; उसी प्रकार यह
छायात्मा भी—इस शरीरमें नख-
लोमादिसे चक्षु आदिकी देहावयवत्वमें
समानता होनेके कारण [शरीरके]
अंधे होनेपर अंधा हो जाता है,
स्नाम होनेपर स्नाम हो जाता है ।
स्नामका प्रसिद्ध अर्थ एक नेत्रवाला
है, किंतु वह अन्धत्वसे ही गतार्थ हो
जाता है इसलिये जिसके चक्षु या
नासिका सदा स्रवित होते रहते हैं
उसे 'स्नाम' समझना चाहिये ।
परिवृक्ण—जिसके हाथ या पैर

हस्तश्लिङ्गपादो वा ।	सामे	कट गये हों । शरीरके साम या
परिवृक्णे वा देहे छायात्मापि		परिवृक्ण होनेपर छायात्मा भी वैसा
तथा भवति । तथास्य देहस्य		ही हो जाता है; तथा इस देहका
नाशमन्वेष नश्यति ॥ १ ॥		नाश होनेपर यह भी नष्ट हो
		जाता है ॥ १ ॥

—:—

अतः—

| अतः—

नाहमत्र भोग्यं पश्यामीति स समित्पाणिः पुनरे-
 याय त५ह प्रजापतिरुवाच मधवन्यच्छान्तहृदयः प्रात्रा-
 जीः सार्धं विरोचनेन किमिच्छन् पुनरागम इति स
 होवाच यथैव खल्वयं भगवोऽस्मिञ्छरीरे साध्वलङ्कृते
 साध्वलङ्कृतो भवति सुवसने सुवसनः परिष्कृते
 परिष्कृत एवमेवायमस्मिन्नन्धेऽन्धो भवति सामे सामः
 परिवृक्णे परिवृक्णोऽस्यैव शरीरस्य नाशमन्वेष नश्यति
 नाहमत्र भोग्यं पश्यामीति ॥ २ ॥

‘इस [छायात्मदर्शन] में मैं कोई भोग्य नहीं देखता ।’ इसलिये वे समित्पाणि होकर फिर प्रजापतिके पास आये । उनसे प्रजापतिने कहा—
 ‘इन्द्र ! तुम तो विरोचनके साथ शान्तचित्त होकर गये थे, अब किस इच्छासे पुनः आये हो ?’ उन्होंने कहा—‘भगवन् ! जिस प्रकार यह (छायात्मा) इस शरीरके अच्छी तरह अलंकृत होनेपर अच्छी तरह अलंकृत होता है, सुन्दर वस्त्रधारी होनेपर सुन्दर वस्त्रधारी होता है और परिष्कृत होनेपर परिष्कृत हो जाता है उसी प्रकार इसके अंधे होनेपर अंधा, साम होनेपर साम और खण्डित होनेपर खण्डित भी हो जाता है तथा इस शरीरका नाश होनेपर यह नष्ट भी हो जाता है, मुझे इसमें कोई फल दिखायी नहीं देता’ ॥ २ ॥

नाहमत्रास्मिच्छायात्मदर्शने
 देहात्मदर्शने वा भोग्यं फलं
 पश्यामीति । एवं दोषं देहच्छाया-
 त्मदर्शनेऽध्यवस्य स समित्पाणि-
 ब्रह्मचर्यं वस्तुं पुनरेयाय तं ह
 प्रजापतिरुवाच—मधवन्यच्छा-
 न्तहृदयः प्रात्राजीः प्रगतवानसि
 विरोचनेन सार्धं किमिच्छन् पु-
 नरागम इति । विजानन्नपि पुनः
 पप्रच्छेन्द्राभिप्रायाभिव्यक्तये ।
 यद्वेत्य तेन मोपसीदेति यद्वत्तथा
 च स्वाभिप्रायं प्रकटमकरोद्यथैव
 खल्वयमित्यादि, एवमेवेति
 चान्वमोदत प्रजापतिः ।

ननु तुल्येऽक्षिपुरुषश्रवणे
 देहच्छायामिन्द्रोऽग्रहीदात्मेति
 देहमेव तु विरोचनस्तत्किन्नि-
 मित्तम् ।

इस छायात्मदर्शन या देहात्म-
 दर्शनमें मैं कोई भोग्य फल नहीं
 देखता । इस प्रकार देहात्मदर्शन
 या छायात्मदर्शनमें दोष निश्चय-
 कर वे समित्पाणि हो पुनः ब्रह्मचर्य-
 वास करनेके लिये लौट आये ।
 उनसे प्रजापतिने कहा—‘हे इन्द्र !
 तुम तो विरोचनके साथ शान्तचित्त-
 से चले गये थे, अब क्या इच्छा
 करते हुए तुम पुनः आये हो ?’
 उन्होंने अच्छी तरह जानते हुए
 भी इन्द्रके अभिप्रायकी अभिव्यक्तिके
 लिये [इस प्रकार] पुनः प्रश्न
 किया । [सप्तमाध्यायमें सनत्कुमार-
 जीके] ‘तुम जो कुछ जानते हो
 उसे बतलाते हुए मेरे प्रति उपसन्न
 होओ’ ऐसा पूछनेपर जिस प्रकार
 नारदजीने अपना अभिप्राय प्रकट
 किया था उसी प्रकार इन्द्रने ‘यथैव
 खल्वयम्’ इत्यादि वाक्यसे अपना
 अभिप्राय प्रकट किया और प्रजापति-
 ने ‘एवमेव’ ऐसा कहकर उसका
 अनुमोदन किया ।

शङ्का—किंतु अक्षिपुरुषका
 समानरूपसे श्रवण करनेपर भी
 इन्द्रने देहकी छायाको आत्मरूपसे
 ग्रहण किया और विरोचनने स्वयं
 देहको ही—सो ऐसा किस कारणसे
 हुआ ?

तत्र मन्यन्ते—यथेन्द्रस्योदश-
 रावादिप्रजापतिवचनं स्मरतो
 देवानप्राप्तस्यैवाचार्याक्तबुद्ध्या
 छायात्मग्रहणं तत्र दोषदर्शनं
 चाभूत् । न तथा विरोचनस्य,
 किं तर्हि ? देह एवात्मदर्शनं नापि
 तत्र दोषदर्शनं बभूव तद्वदेव ।
 विद्याग्रहणसामर्थ्यप्रतिबन्धदो-
 षाल्पत्वबहुत्वापेक्षामिन्द्रविरोच-
 नयोश्छायात्मदेहयोर्ग्रहणम् ।
 इन्द्रोऽल्पदोषत्वादृश्यत इति
 श्रुत्यर्थमेव श्रद्धानतया जग्राहे-
 तरश्छायानिमित्तं देहं हित्वा
 श्रुत्यर्थं लक्षणया जग्राह प्रजाप-
 तिनोक्तोऽयमिति दोषभूय-
 स्त्वात् । यथा किल नीलानील-

समाधान—इस विषयमें शिष्टजन
 ऐसा मानते हैं—जिस प्रकार
 इन्द्रको प्रजापतिका जलपात्रादि-
 सम्बन्धी वाक्य स्मरण करते-करते
 देवताके पास पहुँचे बिना ही
 आचार्यकी बतलायी हुई दृष्टिसे
 छायात्माका ग्रहण और उसमें दोष-
 दर्शन भी हुआ, तथा विरोचनको
 वैसा नहीं हुआ; तो क्या हुआ ?
 —उसकी देहमें ही आत्मदृष्टि हुई
 और उसमें कोई दोषदर्शन भी नहीं
 हुआ—उसी प्रकार विद्याग्रहण-
 की सामर्थ्यका प्रतिबन्ध करने-
 वाले दोषकी न्यूनाधिकताकी अपेक्षा-
 से इन्द्र और विरोचनका छायात्म
 और देहात्मसम्बन्धी ग्रहण है ।
 इन्द्रने अल्पदोषयुक्त होनेके कारण
 श्रद्धा करते हुए 'दृश्यते' इस श्रुति-
 के अर्थको ही ग्रहण किया और
 दूसरे (विरोचन) ने दोषकी
 अधिकताके कारण श्रुत्यर्थको छोड़-
 कर लक्षणासे 'प्रजापतिने देहके
 विषयमें ही कहा है' इस प्रकार देह-
 को ही ग्रहण किया । जिस प्रकार
 दर्पणमें दीखनेवाले नील और
 अनीलवर्ण वस्तुमें जो नीला है वह

योरादर्शं दृश्यमानयोर्वाससोर्य-
न्नीलं तन्महार्हमितिच्छाया-
मित्तं वास एवोच्यते नच्छाया
तद्वदिति विरोचनाभिप्रायः ।

स्वचित्तगुणदोषवशादेव हि
शब्दार्थावधारणं तुल्येऽपि श्रवणे
ख्यापितं दाम्यत दत्त दयध्व-
मिति दकारमात्रश्रवणाच्छ्रुत्य-
न्तरे । निमित्तान्यपि तदनुगु-
णान्येव सहकारीणि भवन्ति । २ ।

बहुमूल्य है'—इस कथनसे छाया-
का निमित्तभूत वस्त्र ही कहा जाता
है, छाया नहीं कही जाती उसी
प्रकार [प्रजापतिके] इस कथनसे
देह ही विवक्षित है—ऐसा
विरोचनका अभिप्राय था । एक
अन्य श्रुतिमें (बृह० अ० ५ में)
केवल दकारके श्रवणसे तुल्य श्रवण
होनेपर भी अपने चित्तके गुण-दोष-
के कारण ही 'दमन करो, दान
करो, दया करो' ऐसा विभिन्न
शब्दार्थ-ज्ञान देखा गया है ।
अपने-अपने गुणोंके अनुसार ही
युक्तिरूप निमित्त भी सहकारी हो
जाते हैं ॥ २ ॥

—: * :—

एवमेवैष मघवन्निति होवाचैतं त्वेव ते भूयोऽनु-
व्याख्यास्यामि वसापराणि द्वात्रिंशत् वर्षाणीति स
हापराणि द्वात्रिंशत् वर्षाण्युवास तस्मै होवाच ॥ ३ ॥

'हे इन्द्र ! यह बात ऐसी ही है' ऐसा प्रजापतिने कहा, 'मैं तुम्हारे
प्रति इसकी पुनः व्याख्या करूँगा । अब तुम बत्तीस वर्ष यहाँ और
रहो ।' इन्द्रने वहाँ बत्तीस वर्ष और निवास किया । तब प्रजापतिने
उससे कहा ॥ ३ ॥

एवमेवैष मघवन्सम्यक्
त्वयावगतं नच्छापात्मेत्युवाच
प्रजापतिर्यो मयोक्त आत्मा प्रकृत

'हे इन्द्र ! यह बात ऐसी ही है
तुमने ठीक समझा है, छाया आत्मा
नहीं है—ऐसा प्रजापतिने कहा,
'मैंने तुम्हारे प्रति जिस प्रकृत

एतमेवात्मानं तु ते भूयः पूर्वं
 व्याख्यातमप्यनुव्याख्यास्यामि ।
 यस्मात्सकृद्व्याख्यातं दोषरहि-
 तानामवधारणविषयं प्राप्तमपि
 नाग्रहीरतः केनचिदोषेण प्रति-
 बद्धग्रहणसामर्थ्यस्त्वमतस्तत्क्षप-
 णाय वसापराणि द्वात्रिंशत् वर्षा-
 णीत्युक्त्वा तथोषितवते क्षपित-
 दोषाय तस्मै होवाच ॥ ३ ॥

आत्माका वर्णन किया है, पहले
 व्याख्या किये हुए उस आत्माकी
 ही मैं तुम्हारे प्रति पुनः व्याख्या
 करूँगा । क्योंकि यद्यपि दोषरहित
 पुरुषोंको वह एक बार व्याख्या
 करनेपर ही ज्ञानका विषय हो जाता
 है तथापि तुम उसे ग्रहण नहीं
 कर सके । इसलिये किसी दोषसे
 तुम्हारी ग्रहणशक्ति प्रतिबद्ध है ।
 उसकी निवृत्तिके लिये तुम अगले
 बत्तीस वर्ष यहाँ और ब्रह्मचर्यवास
 करो ।' ऐसा कहकर, उसी प्रकार
 निवास करनेवाले क्षीणदोष इन्द्रसे
 प्रजापतिने कहा ॥ ३ ॥

—:—

इतिच्छान्दोग्योपनिषद्यष्टमाध्याये तवस-
 खण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥ ९ ॥



दशम खण्ड

—❀:❀—

इन्द्रके प्रति स्वप्नपुरुषका उपदेश

<p>य आत्मापहतपाप्मादिलक्षणो य एषोऽक्षिणीत्यादिना व्या- ख्यात एष सः । कोऽसौ ?</p>	<p>जो आत्मा अपहतपाप्मादि लक्षणोंवाला है जिसकी 'य एषो- ऽक्षिणि' इत्यादि वाक्यद्वारा व्याख्या की गयी है वह यह है । वह कौन है ?</p>
--	--

य एष स्वप्ने महीयमानश्चरत्येष आत्मेति होवाचै-
तदमृतमभयमेतद्ब्रह्मोति स ह शान्तहृदयः प्रवव्राज स
हाम्राप्यैव देवानेतद्भयं ददर्श तयथपीदः शरीरमन्धं
भवत्यनन्धः स भवति यदि स्नामस्नातो नैवेषोऽस्य
दोषेण दुष्यति ॥ १ ॥

‘जो यह स्वप्नमें पूजित होता हुआ विचरता है यह आत्मा है’
ऐसा प्रजापतिने कहा ‘यह अमृत है, अभय है और यही ब्रह्म है ।’ ऐसा
सुनकर वे (इन्द्र) शान्तहृदयसे चले गये । किन्तु देवताओंके पास बिना
पुँचे ही उन्हें यह भय दिखायी दिया ‘यद्यपि यह शरीर अंधा होता है
तो भी वह (स्वप्नशरीर) अनन्ध होता है और यदि यह स्नाम होता है
तो भी वह अस्नाम होता है । इस प्रकार यह इसके दोषसे दूषित नहीं
होता’ ॥ १ ॥

<p>यः स्वप्ने महीयमानः स्त्र्या- दिभिः पूज्यमानश्चरत्यनेकवि- धान् स्वप्नभोगाननुभवतीत्यर्थः ।</p>	<p>‘जो स्वप्नमें महीयमान— स्त्री आदिसे पूजित होता हुआ विचरता अर्थात् अनेक प्रकारके भोगोंको अनुभव करता है, वही आत्मा है’</p>
--	---

एष आत्मेति होवाचेत्यादि
समानम् । स हैवमुक्त इन्द्रः शा-
न्तहृदयः प्रववाज । स हाप्राप्यैव
देवान् पूर्ववदस्मिन्नप्यात्मनि
भयं ददर्श । कथम् ? तदिदं
शरीरं यद्यप्यन्धं भवति स्वप्ना-
त्मा योऽनन्धः स भवति । यदि
स्नाममिदं शरीरमस्नामश्च स भवति
नैवैष स्वप्नात्मास्य देहस्य दोषेण
दुष्यति ॥ १ ॥

ऐसा प्रजापतिने कहा इत्यादि शेष
अर्थ पूर्ववत् है । इस प्रकार कहे
जानेपर वे—इन्द्र शान्तहृदयसे
चले गये । किंतु उन्होंने देवताओं-
के पास बिना पहुँचे ही इस आत्मामें
भी यह भय देखा । क्या देखा ?—
'यद्यपि यह शरीर अंधा हो तो
भी जो स्वप्नशरीर है वह अनन्ध
होता है और यदि यह शरीर स्नाम
हो तो भी वह स्नाम नहीं होता ।
इस प्रकार यह स्वप्नशरीर इस शरीर-
के दोषसे दूषित नहीं होता' ॥ १ ॥



न वधेनास्य हन्यते नास्य स्नाम्येण स्नामो घ्नन्ति
त्वैवैनं विच्छादयन्तीवाप्रियवेत्तेव भवत्यपि रोदिति
नाहमत्र भोग्यं पश्यामीति ॥ २ ॥

'यह इस देहके वधसे नष्ट भी नहीं होता और न इसकी स्नामतासे
स्नाम होता है । किंतु इसे मानो कोई मारता हो, कोई ताड़ित करता हो;
यह मानो अप्रियवेत्ता हो और रुदन करता हो—ऐसा हो जाता है; अतः
इसमें (इस प्रकारके आत्मदर्शनमें) मैं कोई फल नहीं देखता' ॥ २ ॥

स समित्पाणिः पुनरेयाय त५ह प्रजापतिरुवाच
मघवन्यच्छान्तहृदयः प्राब्राजीः किमिच्छन्पुनरागम इति
स होवाच तथ्यपीदं भगवः शरीरमन्धं भवत्यनन्धः स
भवति यदि स्नाममस्नामो नैवैषोऽस्य दोषेण दुष्यति ॥ ३ ॥

न वधेनास्य हन्यते नास्य स्नाभ्येण स्नामो घ्नन्ति
 त्वेवैनं विच्छादयन्तीवाप्रियवेत्तेव भवत्यपि रोदितीव
 नाहमत्र भोग्यं पश्यामीत्येवमेवैष सघवन्निति होवाचैतं
 त्वेव ते भूयोऽनुव्याख्यास्यामि वसापराणि द्वात्रिंशत्
 वर्षाणीति स हापराणि द्वात्रिंशत् वर्षाण्युवास
 तस्मै होवाच ॥ ४ ॥

[अतः] वे समित्पाणि होकर फिर [प्रजापतिके पास] आये । उनसे प्रजापतिने कहा—‘इन्द्र ! तुम तो शान्तचित्त होकर गये थे अब किस इच्छासे पुनः आये हो ?’ उन्होंने कहा—‘भगवन् ! यद्यपि यह शरीर अंधा होता है तो भी वह (स्वप्नशरीर) अनन्ध रहता है, और यह स्नाम होता है तो भी वह अस्नाम रहता है; इस प्रकार वह इसके दोषसे दूषित नहीं होता ॥ ३ ॥ न इसके वधसे उसका वध होता है और न इसकी स्नामतासे वह स्नाम होता है; किंतु उसे मानो कोई मारते हों, कोई ताड़ित करते हों और [उसके कारण] मानो वह अप्रियवेत्ता हो और रुदन करता हो—[ऐसा अनुभव होनेके कारण] इसमें मैं कोई फल नहीं देखता ।’ तब प्रजापतिने कहा—‘इन्द्र ! यह बात ऐसी ही है, मैं तुम्हारे इस (आत्मतत्त्व) की पुनः व्याख्या करूँगा, तुम बत्तीस वर्ष और ब्रह्मचर्यवास करो ।’ इन्द्रने वहाँ बत्तीस वर्ष और निवास किया; तब उनसे प्रजापतिने कहा—॥ ४ ॥

नाप्यस्य वधेन स हन्यते
 छायात्मवन्न चास्य स्नाभ्येण
 स्नामः स्वप्नात्मा भवति । यद-
 ध्यायादावागममात्रेणोपन्यस्तं
 नास्य जरयैतज्जीर्यतीत्यादि,

न तो छायात्माके समान इस देहके नाशसे उस (स्वप्नशरीर) का नाश ही होता है और न इसकी स्नामतासे वह स्नाम होता है । इस अध्यायके आरम्भमें जो केवल शास्त्र-प्रमाणसे कहा गया है कि ‘इसकी जरावस्थासे वह जीर्ण नहीं होता’

तदिह न्यायेनोपपादयितुमुपन्य-
स्तम् ।

न तावदयं छायात्मवद्देह-
दोषयुक्तः, किन्तु भ्रन्ति त्वेवैनम् ।
एवशब्द इवार्थे । भ्रन्तीवैनं
केचनेति द्रष्टव्यम्, न तु
भ्रन्त्येवेति, उत्तरेषु सर्वेण्विव-
शब्ददर्शनात् ।

नास्य वधेन हन्यत इति
विशेषणाद्भ्रन्ति त्वेवेति चेत् ?
नैवम्, प्रजापतिं प्रमाणीकुर्वतो-
ऽमृतवादित्वापादनानुपपत्तेः ।
'एतदमृतम्' इत्येतत्प्रजापतिवचनं
कथं मृषा कुर्यादिन्द्रस्तं प्रमाणी-
कुर्वन् ।

इत्यादि, उसीका न्यायतः उपपादन
करनेके लिये यहाँ उल्लेख किया
गया है ।

[इस प्रकार] यह छायात्माके
समान देहके दोषोंसे तो युक्त नहीं
है; किन्तु इसे मानो कोई मारते
हैं । ['भ्रन्ति त्वेव' इस पदमें]
'एव' शब्द 'इव' अर्थमें है; अतः
इसका 'मानो इसे कोई मारते हैं' यही
भाव समझना चाहिये, 'मारते ही
हैं' ऐसा नहीं समझना चाहिये,
क्योंकि उत्तरवर्ती सब वाक्योंमें 'इव'
शब्द ही देखा जाता है ।

यदि कहो कि 'यह इस (स्थूल
शरीर) का नाश होनेसे नष्ट नहीं
होता' ऐसा विशेषण होनेके कारण
'इसे कोई मारते ही हैं' यही अर्थ
समझना चाहिये तो ऐसा कहना
ठीक नहीं, क्योंकि प्रजापतिको
प्रामाणिक माननेवाले व्यक्तिके
लिये उनपर मिथ्यावादित्वका
आरोप करना सम्भव नहीं है ।
भला, प्रजापतिको प्रामाणिक मानने-
वाला इन्द्र उनके 'यह अमृत है'
इस वचनको मिथ्या कैसे कर
सकता है ।

ननुच्छायापुरुषे प्रजापति-
नोक्ते 'अस्य शरीरस्य नाशमन्वेष्ट
नश्यति' इति दोषमभ्यदधात्,
तथेहापि स्यात् ।

नैवम्; कस्मात् ? 'य एषो-
ऽक्षिणि पुरुषो दृश्यते' इति न-
च्छायात्मा प्रजापतिनोक्त इति
मन्यते मघवान् । कथम् ? अप-
हतपाप्मादिलक्षणे पृष्ठे यदि-
च्छायात्मा प्रजापतिनोक्त इति
मन्यते तदा कथं प्रजापतिं प्रमा-
णीकृत्य पुनः श्रवणाय समित्पा-
णिर्गच्छेत् ? जगाम च ।
तस्मान्नच्छायात्मा प्रजापतिनोक्त
इति मन्यते । तथा च
व्याख्यातम्—द्रष्टाक्षिणि दृश्यत
इति ।

तथा विच्छादयन्तीव विद्रा-
वयन्तीव, तथा च पुत्रादिमरण-

शङ्का—किंतु प्रजापतिके बतलाये
हुए छायापुरुषमें तो [इन्द्रने]
'शरीरका नाश होनेके पश्चात् यह
भी नष्ट हो जाता है' ऐसा दोष
दिखलाया था; उसी प्रकार यहाँ भी
हो सकता है ।

समाधान—यह बात नहीं है;
कैसे नहीं है ? क्योंकि 'यह जो
नेत्रमें पुरुष दिखायी देता है' इस
वाक्यसे प्रजापतिने छायात्माका
निरूपण नहीं किया—ऐसा इन्द्र
मानते हैं । किस प्रकार ?—
यदि वे ऐसा मानते कि अपहत-
पाप्मादिलक्षणवाले आत्माके विषयमें
पूछे जानेपर प्रजापतिने छायात्मा
बतलाया है तो प्रजापतिको
प्रामाणिक मानकर भी वे श्रवण
करनेके लिये पुनः समित्पाणि होकर
उनके पास क्यों जाते ? और गये
थे ही । इसलिये वे यही मानते थे
कि 'प्रजापतिने छायात्माका वर्णन नहीं
किया । तथा हमने भी 'जो द्रष्टा
नेत्रमें दिखायी देता है' ऐसी ही
व्याख्या की है ।

तथा मानो इसे कोई विच्छादित—
विद्रावित (ताडित) करते हों
और इसी प्रकार पुत्रादि-मरणके

निमित्तमप्रियवेत्तेव भवति ।

अपि च स्वयमपि रोदित्वा ।

नन्वप्रियं वेत्त्येव कथं वेत्तेवेति

उच्यते ?

न; अमृताभयत्ववचनानुप-

पत्तेः । “ध्यायतीव” (वृ० उ० ४।

३ । ७) इति च श्रुत्यन्तरात् ।

ननु प्रत्यक्षविरोध इति चेत् ?

न; शरीरात्मत्वप्रत्यक्षव-

द्भ्रान्तिसम्भवात् ।

तिष्ठतु तावदप्रियवेत्तेव न

वेति; नाहमत्र भोग्यं पश्यामि ।

स्वमात्मज्ञानेऽपीष्टं फलं नोपलभ

इत्यभिप्रायः ।

एवमेवैष तवाभिप्रायेणेति

कारण मानो वह अप्रिय अनुभव करनेवाला होता है तथा वह स्वयं भी मानो रोता है ।

शङ्का—किंतु वह तो अप्रिय जानता ही है, फिर उसे ‘मानो अप्रिय जाननेवाला हो’ ऐसा क्यों कहा जाता है ?

समाधान—ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि इससे उसका अमृतत्व और अभयत्वप्रतिपादन अनुपपन्न होगा तथा “मानो ध्यान करता है” ऐसी एक दूसरी श्रुति भी है ।

शङ्का—किंतु ऐसा माननेसे तो प्रत्यक्ष अनुभवसे विरोध आता है ।

समाधान—नहीं, क्योंकि शरीर ही आत्मा है इस प्रत्यक्ष अनुभवके समान यह (अप्रियवेदनादि) भी भ्रान्तिजनित है ।

वह मानो अप्रियवेत्ता हो अथवा न हो, यह बात अलग रहे, मुझे इसमें कोई भोग्य (फल) दिखायी नहीं देता । तात्पर्य यह है कि स्वप्नशरीरको आत्मा माननेमें भी मुझे इच्छित फल प्राप्त नहीं होता ।

[प्रजापतिने कहा—] ‘आत्माका अमृत और अभय गुणवान् होना

वाक्यशेषः । आत्मनोऽमृताभय-

गुणवत्त्वस्याभिप्रेतत्वात् ।

द्विरुक्तमपि न्यायतो मया
यथावन्नावधारयति; तस्मात्पूर्व-

वदस्याद्यापि प्रतिबन्धकारणम-

स्तीति मन्वानस्तत्क्षपणाय वसा-

पराणि द्वात्रिंशतं वर्षाणि ब्रह्म-

चर्यमित्यादिदेश प्रजापतिः । तथो-

षितवते क्षपितकल्मषायाह

॥ २-४ ॥

अभीष्ट है, अतः तुम्हारे अभिप्रायके अनुसार यह बात ऐसी ही है ।* यहाँ 'एवमेवैष' इसके आगे 'तवाभिप्रायेण' यह वाक्यशेष है ।

फिर ऐसा समझकर कि 'मेरे दो बार युक्तिपूर्वक बतलानेपर भी यह ठीक-ठीक नहीं समझता, इसलिये पहलेकी भाँति अब भी इसमें प्रतिबन्धका कारण विद्यमान है'—प्रजापतिने उसकी निवृत्तिके लिये इन्द्रको 'बत्तीस वर्ष और ब्रह्मचर्यवास करो'—ऐसी आज्ञा दी । इस प्रकार ब्रह्मचर्यवास करके क्षीणदोष हुए इन्द्रसे प्रजापतिने कहा ॥ २-४ ॥



इतिच्छान्दोग्योपनिषद्दृष्टसाध्याये दशम-

खण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥ १० ॥



एकादश खण्ड

—❀—

सुषुप्त पुरुषका उपदेश

पूर्ववदे 'त्वेव त इत्याद्युक्त्वा— | पूर्ववत् 'मैं तेरे प्रति इसकी
[पुनः व्याख्या करूँगा]' ऐसा
कहकर—

तद्यत्रैतत् सुप्तः समस्तः सम्प्रसन्नः स्वप्नं न
विजानात्येष आत्मेति होवाचैतदमृतमभयमेतद्ब्रह्मेति
स ह शान्तहृदयः प्रवव्राज स हाप्राप्यैव देवानेतद्भयं
ददर्श नाह खल्वयमेव ५ सम्प्रत्यात्मानं जानात्ययमहम-
स्मीति नो एवेमानि भूतानि विनाशमेवापीतो भवति
नाहमत्र भोग्यं पश्यामीति ॥ १ ॥

'जिस अवस्थामें यह सोया हुआ दर्शनवृत्तिसे रहित और सम्यक्-
रूपसे आनन्दित हो स्वप्नका अनुभव नहीं करता वह आत्मा है'— ऐसा
प्रजापतिने कहा 'यह अमृत है, यह अभय है और यही ब्रह्म है।' यह
सुनकर इन्द्र शान्तचित्तसे चले गये; किंतु देवताओंके पास पहुँचे बिना
ही उन्हें यह भय दिखायी दिया—'उस अवस्थामें तो इसे निश्चय ही
यह भी ज्ञान नहीं होता कि 'यह मैं हूँ' और न यह इन अन्य भूतोंको
ही जानता है; उस समय तो यह मानो विनाशको प्राप्त हो जाता है।
इसमें मुझे इष्टफल दिखायी नहीं देता' ॥ १ ॥

तद्यत्रैतत्सुप्त इत्यादि व्या- | 'तद्यत्रैतत् सुप्तः' इत्यादि वाक्यकी
व्याख्या पहले हो चुकी है। 'जो
ख्यातं वाक्यम् । अक्षिणि यो | नेत्रस्थ द्रष्टा स्वप्नमें पूजित होता

द्रष्टा स्वप्ने च महीयमानश्चरति
स एष सुप्तः समस्तः सम्प्रसन्नः
स्वप्नं न विजानात्येष आत्मेति
होवाचैतदमृतमभयमेतद्ब्रह्मेति
स्वाभिप्रेतमेव ।

मघवांस्तत्रापि दोषं ददर्श ।
कथम् ? नाह नैव सुषुप्तस्थोऽप्या-
त्मा खल्वयं सम्प्रति सम्यग्-
दानीं चात्मानं जानाति नैवं
जानाति । कथम् ? अयमहम-
स्मीति नो एवेमानि भूतानि
चेति, यथा जाग्रति स्वप्ने वा ।
अतो विनाशमेव विनाशमिवेति
पूर्ववद्द्रष्टव्यम् । अपीतोऽपिगतो
भवति विनष्ट इव भवतीत्य-
भिप्रायः ।

ज्ञाने हि सति ज्ञातुः सद्भा-
वोऽवगम्यते नासति ज्ञाने । न
च सुषुप्तस्य ज्ञानं दृश्यतेऽतो
विनष्ट इवेत्यभिप्रायः । न तु

दुआ विचरता है, वह जब सो
जानेपर दर्शनवृत्तिसे रहित और
अत्यन्त आनन्दित होकर स्वप्न नहीं
देखता तो वही आत्मा है यह अमृत
और अभय है और यही ब्रह्म है'
इस प्रकार प्रजापतिने अपने
अभिप्रायके अनुसार ही आत्माका
स्वरूप बतलाया ।

किंतु इन्द्रने उसमें भी दोष देखा ।
सो किस प्रकार ?—‘यह सुषुप्तस्थ
आत्मा भी इस अवस्थामें निश्चय ही
अपनेको इस प्रकार नहीं जानता ।’
किस प्रकार नहीं जानता ?—कि
‘मैं यह हूँ’ और न यह अन्य
भूतोंको ही जानता है; जैसा कि
यह जाग्रत् और स्वप्न अवस्थाओंमें
जानता था । अतः यह मानो
विनाशको अपीत—प्राप्त हो जाता
है; तात्पर्य यह है कि विनष्ट-सा
हो जाता है । यहाँ पूर्ववत्
‘विनाशमेव’ के स्थानमें ‘विनाशमिव’
ऐसा समझना चाहिये ।

ज्ञान होनेपर ही ज्ञाताकी सत्ता
जानी जाती है, ज्ञानके अभावमें नहीं
जानी जाती; और सुषुप्त पुरुषको
ज्ञान होना देखा नहीं जाता । अतः
तात्पर्य यह है कि उस समय यह
नष्ट-सा हो जाता है । अमृत और

विनाशमेवात्मनो मन्यतेऽमृता- | अभयवचनका प्रामाण्य चाहने-
 वाले इन्द्रदेव उस अवस्थामें आत्मा-
 का साक्षात् विनाश ही नहीं
 भयवचनस्य प्रामाण्यमिच्छन् । १ । मानते ॥ १ ॥

—:ॐ:—

स समित्पाणिः पुनरेयाय त५ह प्रजापतिरुवाच
 सधवन्यच्छान्तहृदयः प्रात्राजीः किमिच्छन्पुनरागम इति
 स होवाच नाह खल्वयं भगव एव५सम्प्रत्यात्मानं
 जानात्ययमहमस्मीति नो एवेमानि भूतानि विनाशमेवा-
 पीतो भवति नाहमत्र भोग्यं पश्यामीति ॥ २ ।

वे समित्पाणि होकर पुनः प्रजापतिके पास आये । उनसे प्रजापतिने कहा—‘इन्द्र ! तुम तो शान्तचित्तसे गये थे, अब किस इच्छासे तुम्हारा पुनः आगमन हुआ है ।’ इन्द्रने कहा—‘भगवन् ! इस अवस्थामें त निश्चय ही इसे यह भी ज्ञान नहीं होता कि ‘यह मैं हूँ’ और न यह इन अन्य भूतोंको ही जानता है, यह विनाशको प्राप्त-सा हो जाता है । इसमें मुझे इष्टफल दिखायी नहीं देता’ ॥ २ ॥

—:०:—

पूर्ववत्—

| पहलेहीके समान—

एवमेवैष सधवन्निति होवाचैतं त्वेव ते भूयोऽ-
 नुव्याख्यास्यामि नो एवान्यत्रैतस्माद्वसापराणि पञ्च
 वर्षाणीति स हापराणि पञ्च वर्षाण्युवास तान्येकशत५
 सम्पेदुरेतत्तद्यदाहुरेकशत५ह वै वर्षाणि सधवान्प्रजापतौ
 ब्रह्मचर्यमुवास तस्मै होवाच ॥ ३ ॥

‘हे इन्द्र ! यह बात ऐसी ही है’— ऐसा प्रजापतिने कहा ‘मैं तुम्हारे प्रति इसकी पुनः व्याख्या करूँगा । आत्मा इससे भिन्न नहीं है । अभी पाँच वर्ष और ब्रह्मचर्यवास करो ।’ उन्होंने पाँच वर्ष और वहीं निवास किया । ये सब मिलाकर एक सौ एक वर्ष हो गये । इसीसे ऐसा कहते हैं कि इन्द्रने प्रजापतिके यहाँ एक सौ एक वर्ष ब्रह्मचर्यवास किया । तब उनसे प्रजापतिने कहा ॥ ३ ॥

एवमेवेत्युक्त्वा यो मयोक्त-
स्त्रिभिः पर्यायैस्तमेवैतं नो एवा-
न्यत्रैतस्मादात्मनोजन्यं कश्चन
किं तर्ह्येतमेव व्याख्यास्यामि ।
स्वलपस्तु दोषस्तवावशिष्टस्तत्क्षप-
णाय वसापराण्यन्यानि पञ्च वर्षा-
णीत्युक्तः स तथा चकार । तस्मै
मृदितकषायादिदोषाय स्थान-
त्रयदोषसम्बन्धरहितमात्मनः
स्वरूपमपहतपाप्मत्वादिलक्षणं
मघवते तस्मै होवाच ।

‘यह बात ऐसी ही है’ ऐसा कहकर ‘मैंने तीन पर्यायोंमें जिसका वर्णन किया था उसी इस आत्माकी—इस आत्मासे भिन्न किसी अन्य आत्माकी नहीं, तो किसकी ? इसी आत्माकी मैं व्याख्या करूँगा । अभी तुम्हारा थोड़ा-सा दोष शेष है । उसकी निवृत्तिके लिये अन्य पाँच वर्ष और रहो’ ऐसा कहे जानेपर इन्द्रने वैसा ही किया । इस प्रकार जिनके कषायादि दोष नष्ट हो गये हैं उन इन्द्रदेवके प्रति प्रजापतिने जाग्रदादि तीनों स्थानोंके दोषोंके सम्बन्धसे रहित आत्माका अपहतपाप्मत्वादि लक्षण-वाला स्वरूप निरूपण किया ।

तान्येकशतं वर्षाणि सम्पेदुः
सम्पन्नानि बभूवुः । यदाहुर्लोके

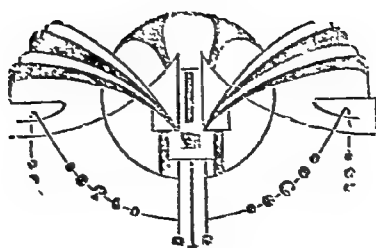
वे सब एक और सौ वर्ष हो गये ।
इसीसे लोकमें शिष्टजन ऐसा कहते

शिष्टा एकशतं ह वै वर्षाणि
 मघवान् प्रजापतौ ब्रह्मचर्यमुवा-
 सेति । तदेतद्द्वात्रिंशतमित्या-
 दिना दशितमित्याख्यायिका-
 तोऽपसृत्य श्रुत्योच्यते । एवं
 किलैतदिन्द्रत्वादपि गुरुतरमि-
 न्द्रेणापि महता यत्नेनैकोत्तरव-
 र्षशतकृतायासेन प्राप्तमात्मज्ञान-
 मतो नातः परं पुरुषार्थान्तरम-
 स्तीत्यात्मज्ञानं स्तौति ॥ ३ ॥

हैं कि इन्द्रने प्रजापतिके यहाँ
 एक सौ एक वर्ष ब्रह्मचर्यवास
 किया । यह बात 'द्वात्रिंशतम्'
 इत्यादि वाक्योंसे कही गयी है,
 अतः श्रुतिने आख्यायिकासे कुछ
 हटकर इसे स्वयं भी कह दिया
 है । इस प्रकार जो इन्द्रत्वसे भी
 गुरुतर है ऐसे इस आत्मज्ञानको
 इन्द्रने भी एक सौ एक वर्षतक
 किये हुए परिश्रमसे बड़े यत्नपूर्वक
 प्राप्त किया था, अतः इससे बढ़कर
 और कोई पुरुषार्थ नहीं है—इस
 प्रकार श्रुति आत्मज्ञानकी स्तुति
 करती है ॥ ३ ॥

—:०:—

इतिच्छान्दोग्योपनिषद्यष्टमाध्याये एकादशखण्ड-
 भाष्यं सम्पूर्णम् ॥ ११ ॥



द्वादश खण्ड

—*!o!*—

मर्त्यशरीर आदिका उपदेश

मघवन्मर्त्यं वा इदं शरीरमात्तं मृत्युना तदस्या-
मृतस्याशरीरस्यात्मनोऽधिष्ठानमात्तो वै सशरीरः प्रिया-
प्रियाभ्यां न ह वै सशरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोरपहति-
रस्त्यशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः ॥ १ ॥

हे इन्द्र ! यह शरीर मरणशील ही है; यह मृत्युसे ग्रस्त है। यह इस अमृत, अशरीरी आत्माका अधिष्ठान है। सशरीर आत्मा निश्चय ही प्रिय और अप्रियसे ग्रस्त है; सशरीर रहते हुए इसके प्रियाप्रियका नाश नहीं हो सकता और अशरीर होनेपर इसे प्रिय और अप्रिय स्पर्श नहीं कर सकते ॥ १ ॥

मघवन्मर्त्यं वै मरणधर्मीदं
शरीरम् । यन्मन्यसेऽक्षयाधारा-
दिलक्षणः सम्प्रसादलक्षण आत्मा
मयोक्तो विनाशमेवापीतो भव-
तीति । शृणु तत्र कारणम् ।
यदिदं शरीरं वै यत्पश्यसि तदेत-
न्मर्त्यं विनाश । तच्चात्तं मृत्युना
ग्रस्तं सततमेव । कदाचिदेव
अग्रित इति मर्त्यमित्युक्ते न तथा

हे इन्द्र ! यह शरीर निश्चय ही मर्त्य—मरणधर्मी है। तुम जो ऐसा समझते हो कि मेरा बतलाया हुआ नेत्रादिका आधारभूत सम्प्रसाद-रूप आत्मा विनाशको ही प्राप्त हो जाता है, सो उसक । कारण सुनो । तुम जो यह शरीर देखते हो वह यह शरीर मर्त्य—नाशवान् है—यह मृत्युसे आत्त अर्थात् सर्वदा ही ग्रस्त है। कभी-कभी ही मरता है, इसलिये यह मर्त्य है—ऐसा कहनेपर इतना भय नहीं

संत्रासो भवति यथा ग्रस्तमेव
सदा व्याप्तमेव मृत्युनेत्युक्त इति
वैराग्यार्थ विशेष इत्युच्यत आत्तं
मृत्युनेति । कथं नाम देहाभि-
मानतो विरक्तः सन्निवर्तत इति ।
शरीरमप्यत्र सहेन्द्रियमनोभिरु-
च्यते ।

होता जितना कि 'मृत्युसे ग्रस्त
अर्थात् सर्वदा व्याप्त ही है' ऐसा
कहनेपर होता है । अतः वैराग्यके
लिये विशेषरूपसे कहनेके लिये यह
कहा गया है कि यह मृत्युसे व्याप्त
है; जिससे कि किसी-न-किसी
तरह यह देहाभिमानसे विरक्त
होकर निवृत्तिपरायण हो जाय ।
यहाँ शरीर भी इन्द्रिय और मनके
सहित कहा गया है ।

तच्छरीरमस्य सम्प्रसादस्य
त्रिस्थानतया गम्यमानस्यामृतस्य
मरणादिदेहेन्द्रियमनोधर्मवर्जित-
स्येत्येतत् । अमृतस्येत्यनेनैवाश-
रीरत्वे सिद्धे पुनरशरीरस्येति
वचनं वाय्वादिवत्सावयवत्वमू-
र्तिमत्त्वे मा भूतामिति । आत्मनो
भोगाधिष्ठानम् । आत्मनो वा सत
ईक्षितुस्तेजोऽवन्नादिक्रमेणात्प-
न्नमधिष्ठानम् । जीवरूपेण प्रविश्य

वह शरीर जाग्रदादि तीन
स्थानोंके सम्बन्धसे विदित होनेवाले
इस अमृत—देह, इन्द्रिय और
मनके मरणादि-धर्मोंसे रहित
सम्प्रसादका [अधिष्ठान है] ।
आत्माका अशरीरत्व तो 'अमृतस्य'
इस पदसे हो सिद्ध होता है; किन्तु
फिर भी 'अशरीरस्य' ऐसा जो
कहा गया है वह इसलिये है कि
वायु आदिके समान आत्माके
सावयवत्व और अमूर्तिमत्त्वका
प्रसंग न हो जाय । उस आत्माका
यह भोगाधिष्ठान है । अथवा
आत्मासे—ईक्षण करनेवाले सत्-
से तेज, अप् और अन्नादि
क्रमसे उत्पन्न हुआ 'अधि-
ष्ठान' (उस अपने उत्पादक-
की उपलब्धिका अधिकरण) है;

सदेवाधितिष्ठत्यस्मिन्निति बाधि-
ष्ठानम् ।

यस्येदमीदृशं नित्यमेव
मृत्युग्रस्तं धर्माधर्मजनितत्वात्प्रि-
याप्रियवदधिष्ठानं तदधिष्ठितस्त-
द्धान् सशरीरो भवति । अशरीर-
स्वभावस्यात्मनस्तदेवाहं शरीरं
शरीरमेव चाहमित्यविवेकात्म-
भावः सशरीरत्वमत एव
सशरीरः सन्नात्तो ग्रस्तः प्रियाप्रि-
याभ्यां प्रसिद्धमेतद् ।

तस्य च न ह वै सशरीरस्य
सतः प्रियाप्रिययोर्बाह्यविषयसं-
योगवियोगनिमित्तयोर्बाह्यविषय-
संयोगवियोगौ ममेति मन्य-
मानस्यापहतिर्विनाश उच्छेदः
संततिरूपयोर्नास्तीति । तं पुनर्दे-
हाभिमानादशरीरस्वरूपविज्ञानेन
निवर्तिताविवेकज्ञानमशरीरं सन्तं
प्रियाप्रिये न स्पृशतः । स्पृशः

या [यों समझो कि] इसमें जीव-
रूपसे प्रवेश करके सत् ही अधिष्ठित
है, इसलिये यह अधिष्ठान है ।

जिसका यह इस प्रकारका
अधिष्ठान सदा ही मृत्युग्रस्त और
धर्माधर्मजनित होनेके कारण
प्रियाप्रियवान् है उसमें अधिष्ठित
हुआ उससे युक्त यह आत्मा
'सशरीर' है । अशरीरस्वभाव जो
आत्मा है उसका 'वह मैं ही शरीर
हूँ और शरीर ही मैं है' ऐसा
अविवेकात्मभाव ही सशरीरत्व है ।
इसीसे सशरीर रहते हुए यह प्रिय
और अप्रियसे आत्मा—ग्रस्त रहता
है—यह बात प्रसिद्ध है ।

बाह्य विषयोंके संयोग और
वियोग मेरे हैं—ऐसा माननेवाले
उस सशरीर पुरुषके बाह्य विषयोंके
संयोग-वियोगसे होनेवाले प्रवाहरूप
प्रिय और अप्रियकी अपहति नहीं
होती अर्थात् उनका विनाश यानी
उच्छेद नहीं होता । देहाभिमानसे
उठकर अशरीरस्वरूप विज्ञानके द्वारा
जिसका विवेकज्ञान निवृत्त हो
गया है ऐसे उस अशरीरभूत
आत्माको प्रिय और अप्रिय स्पर्श
नहीं करते । 'स्पृश' इस धातुसे
प्रिय और अप्रिय प्रत्येकका सम्बन्ध

प्रत्येकं सम्बन्धयत इति प्रियं
न स्पृशत्यप्रियं न स्पृशतीति
वाक्यद्वयं भवति । न म्लेच्छा-
शुच्यधार्मिकैः सह सम्भाषेतेति
यद्वत् । धर्माधर्मकार्ये हि ते,
अशरीरता तु स्वरूपमिति तत्र
धर्माधर्मयोरसम्भवात्तत्कार्यभावो
दूरत एवेत्यतो न प्रियाप्रिये
स्पृशतः ।

ननु यदि प्रियमप्यशरीरं न
प्रियस्पर्शप्रति- स्पृशतीति यन्मध-
वेवे हृषणम् वताक्तं सुषुप्तस्थो
विनाशमेवापीतो भवतीति तदेवे-
हाप्यापन्नम् ।

नैव दोषः; धर्माधर्मकार्ययोः
उक्तदोषपरि- शरीरसम्बन्धिनोः
हारः प्रियाप्रियायाः प्रति-
षेधस्य विवक्षितत्वात् । अशरीरं

है; इसलिये 'प्रिय स्पर्श नहीं करता,
अप्रिय स्पर्श नहीं करता' ये दो
वाक्य होते हैं, जिस प्रकार कि
'म्लेच्छ, अपवित्र और अधार्मिक
पुरुषोंसे सम्भाषण न करे' इस
वाक्यमें 'सम्भाषण' क्रियाका
म्लेच्छादि प्रत्येक पदसे सम्बन्ध है ।
वे (प्रिय और अप्रिय) धर्माधर्मके
ही कार्य हैं, किंतु अशरीरता
तो आत्माका स्वरूप है । अतः
उसमें धर्माधर्मका अभाव होनेके
कारण उनके कार्य (प्रियाप्रिय)
भी दूर ही रहेंगे; इसीसे उसे
प्रिय और अप्रिय स्पर्श नहीं
करते ।

शङ्का—किंतु यदि अशरीर
आत्माको प्रिय भी स्पर्श नहीं करता
तो इन्द्रने जो कहा था कि
'सुषुप्तिमें स्थित हुआ पुरुष विनाशको
ही प्राप्त हो जाता है' वही बात
यहां भी प्राप्त हो जाती है ।

समाधान—यह दोष नहीं हो
सकता, क्योंकि यहां धर्माधर्मके
कार्यभूत शरीरसम्बन्धी प्रियाप्रियका
प्रतिषेध निरूपण करना इष्ट है ।
अर्थात् अशरीरको प्रियाप्रिय स्पर्श

न प्रियाप्रिये स्पृशत इति । आगमापायिनोहिं स्पर्शशब्दो
दृष्टो यथा शीतस्पर्श उष्णस्पर्श
इति । न त्वग्नेरुष्णप्रकाशयोः
स्वभावभूतयोरग्निना स्पर्श इति
भवति । तथाग्नेः सवितुर्वो-
ष्णप्रकाशवत्स्वरूपभूतस्यानन्दस्य
प्रियस्यापि नेह प्रतिषेधः “विज्ञान-
मानन्दं ब्रह्म” (वृ० उ० ३।६।
२८) “आनन्दो ब्रह्म” (तै०
उ० ३।६।१) इत्यादिश्रु-
तिभ्यः । इहापि भूमैव सुखमि-
त्युक्तत्वात् ।

ननु भूम्नः प्रियस्यैकत्वेऽसं-
इन्द्राभिमतात्म-वेद्यत्वात् स्वरूपेणैव
स्वरूपदर्शनम् वा नित्यसंवेद्य-
त्वान्निर्विशेषतेति नेन्द्रस्य तदिष्टम् ।
‘नाह खल्वयं सम्प्रत्यात्मानं
जानात्ययमहमस्मीति नो एवे-
मानि भूतानि विनाशमेवापीतो
भवति । नाहमत्र भोग्यं पश्यामि’

नहीं करते । ‘स्पर्श’ शब्दका
प्रयोग आगमापायी विषयोंके लिये
ही देखा गया है; जैसे—शीतस्पर्श-
उष्णस्पर्श इत्यादि । अग्निके
स्वभावभूत उष्ण और प्रकाशका
अग्निसे स्पर्श होता है—ऐसा
प्रयोग नहीं होता । इसी प्रकार
अग्नि या सूर्यके उष्ण एवं प्रकाशके
समान आत्माके स्वरूपभूत आनन्द-
प्रियका भी यहाँ प्रतिषेध नहीं है,
क्योंकि ‘ब्रह्म विज्ञान एवं आनन्द-
स्वरूप है’ ‘आनन्द ही ब्रह्म है’
इत्यादि श्रुतियोंसे यही सिद्ध होता
है और यहाँ भी ‘भूमा ही सुख है’
ऐसा ही कहा गया है ।

शङ्का — किंतु भूमा और प्रिय-
की एकता होनेके कारण वह प्रिय
भूमाका वेद्य नहीं हो सकता अथवा
उसका स्वरूप होनेसे नित्यसंवेद्य
होनेके कारण उसमें निर्विशेषता
रहेगी; इसलिये वह (निर्विशेषता)
इन्द्रको इष्ट नहीं है; क्योंकि उसने
ऐसा कहा है कि ‘इस अवस्थामें
तो ‘यह मैं हूँ’ इस प्रकार अपनेको
भी नहीं जानता और न इन अन्य
भूतोंको ही जानता है । इस समय
यह विनाशको ही प्राप्त हो जाता

इत्युक्तत्वात् । तद्धीन्द्रस्येष्टं यद्भू-
तानि चात्मानं च जानाति न
चाप्रियं किञ्चिद्वेत्ति स सर्वाश्च
लोकानाप्यनोति सर्वाश्च कामान्येन
ज्ञानेन ।

सत्यमेतदिष्टमिन्द्रस्येमानि

तत्र प्रजापते- भूतानि मत्तोऽन्या-
रविवक्षा नि लोकाः कामाश्च

सर्वं मत्तोऽन्येऽहमेषां स्वामीति;

न त्वेतदिन्द्रस्य हितम् । हितं

चेन्द्रस्य प्रजापतिना वक्तव्यम् ।

व्योमवदशरीरात्मतया सर्वभूत-

लोककामात्मत्वोपगमेन या

प्राप्तिस्तद्धितमिन्द्राय वक्तव्य-

मिति प्रजापतिनाभिप्रेतम् । न

तु राज्ञो राज्याप्तिवदन्यत्वेन ।

तत्रैवं सति कं केन विजानीया-

दात्मैकत्वे 'इमानि भूतान्ययमह-

मस्मि' इति ।

है । मैं इसमें कोई फल नहीं
देखता ।' इन्द्रको तो वही ज्ञान
इष्ट है जिस ज्ञानसे कि आत्मा
सम्पूर्ण भूतोंको और अपनेको भी
जानता है, किसी भी अप्रियका
अनुभव नहीं करता तथा सम्पूर्ण
लोकोंको और समस्त भोगोंको प्राप्त
कर लेता है ।

समाधान—ठीक है, यह
इन्द्रको इष्ट तो अवश्य है कि ये
भूत मेरेसे भिन्न हैं तथा ये सम्पूर्ण
लोक और भोग भी मेरेसे भिन्न हैं
और मैं इनका स्वामी हूँ; किंतु
यह इन्द्रके लिये हितकर नहीं है ।
और प्रजापतिको तो इन्द्रका हित
बतलाना चाहिये । आकाशके
समान अशरीररूपसे जो सम्पूर्ण
भूतलोक और कामके आत्मभाव-
को प्राप्त होकर उन्हें प्राप्त करना
है उस हितकर विषयका इन्द्रके
प्रति उपदेश करना चाहिये—
ऐसा प्रजापतिको अभिमत है ।
राजाकी राज्यप्राप्तिके समान
अन्यभावसे लोकादिकी प्राप्ति प्रजा-
पतिको अभिमत नहीं है । तब
ऐसी अवस्थामें आत्माका एकत्व
होनेपर कौन किसके द्वारा यह
बात जान सकता है कि 'वे भूत हैं
और यह मैं हूँ ।'

नन्वस्मिन्पक्षे 'स्त्रीभिर्वा यानै-
र्वा' 'स यदि पितृलोककामः'
'स एकधा भवति' इत्याद्यैश्वर्य-
श्रुतयोऽनुपपन्नाः ।

न; सर्वात्मनः सर्वफलसम्बन्धो-
पपत्तेरविरोधात् । मृद इव
सर्वघटकरककुण्डाद्याग्निः ।

ननु सर्वात्मत्वे दुःखसम्बन्धो-
ऽपि स्यादिति चेत् ?

न, दुःखस्याप्यात्मत्वोपग-
मादविरोधः । आत्मन्यविद्या-
कल्पनानिमित्तानि दुःखानि
रज्ज्वामिव सर्पादिकल्पनानिमि-
त्तानि । सा चाविद्याशरीरात्मैक-
त्वस्वरूपदर्शनेन दुःखनिमित्तो-
च्छिन्नेति दुःखसम्बन्धाशङ्का न
सम्भवति ।

शङ्का—किंतु ऐसा पक्ष होनेपर
'स्त्रियोंसे अथवा यानोंसे [क्रीडा
करता है]' 'वह यदि पितृलोककी
कामना करता है' 'वह एक रूप होता
है' इत्यादि [पूर्वोक्त] ऐश्वर्यसूचक
श्रुतियाँ अनुपपन्न हो जायँगी ।

समाधान—यह बात नहीं है,
क्योंकि सर्वात्मा विद्वान्का किसीसे
विरोध न होनेके कारण सम्पूर्ण
फलोंसे सम्बन्ध हो सकता है;
जिस प्रकार मृत्तिकाकी घट,
कमण्डलु और कूँडा आदि सम्पूर्ण
विकारोंमें प्राप्ति होती है ।

शङ्का—किंतु सर्वात्मता होनेपर
तो उसे दुःखका भी सम्बन्ध
होगा ही ?

समाधान—नहीं, क्योंकि
दुःखके भी आत्मत्वको प्राप्त हो
जानेके कारण उससे भी उसका
कोई विरोध नहीं है । आत्मामें
अविद्याके कारण होनेवाली कल्पना-
के निमित्तसे होनेवाले दुःख रज्जुमें
सर्पादि कल्पनाके कारण होनेवाले
कम्पादिके समान हैं । दुःखकी
निमित्तभूता वह अविद्या आत्माके
अशरीरत्व और एकत्वदर्शनसे
उच्छिन्न हो गयी है; इसलिये अब
उसे दुःखके सम्बन्धकी आशङ्का
होना सम्भव नहीं है ।

शुद्धसत्त्वसंकल्पनिमित्तानां तु

कामानामीश्वरदेहसम्बन्धः सर्वभू

तेषु मानसानाम् । पर एव सर्व-

सत्त्वोपाधिद्वारेण भोक्तेति सर्वा-

विद्याकृतसंव्यवहाराणां पर

एवात्मास्पदं नान्योऽस्तीति

वेदान्तसिद्धान्तः ।

‘य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यते’

अत्रैकदेशि- इतिच्छायापुरुष एव

मतम् प्रजापतिनोक्तः ।

स्वप्नसुषुप्तयोश्चान्य एव,

न परोऽपहतपाप्मत्वादिलक्षणः,

विरोधादिति केचिन्मन्यन्ते ।

छायाद्यात्मनां चोपदेशे प्रयोजन-

माचक्षते—आदावेवोच्यमाने

[यहाँ शङ्का होती है कि जब विद्यासे अविद्या दग्ध हो जाती है तो उसके द्वारा ईश्वरमें आरोपित किया हुआ सगुणविद्याका फलभूत पूर्वोक्त ऐश्वर्य भी तो दग्ध ही हो जाता है, फिर विद्याकी स्तुतिके लिये उनका उपदेश कैसे सिद्ध हो सकता है ? उत्तर—] शुद्ध सत्त्वजन्य संकल्पके कारण प्राप्त होनेवाले मनोवाञ्छित भोगरूप ऐश्वर्योंका सम्पूर्ण भूतोंमें [केवल मनके द्वारा मायावस्थामें] ईश्वरसे सम्बन्ध सिद्ध होता है । समस्त सत्त्वमय उपाधिके द्वारा परमात्मा ही उन ऐश्वर्योंका भोक्ता है, इसलिये सम्पूर्ण अविद्याजन्य व्यवहारोंका अधिष्ठान परमात्मा ही है, कोई दूसरा नहीं है—ऐसा वेदान्त-शास्त्रका सिद्धान्त है ।

यहाँ कोई-कोई ऐसा मानते हैं कि ‘य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यते’ इत्यादि वाक्यसे प्रजापतिने छायापुरुषका ही वर्णन किया है, तथा स्वप्न और सुषुप्तावस्थामें भी अन्य पुरुषका ही उल्लेख किया है, अपहतपाप्मत्वादिरूप परमात्माका निरूपण नहीं किया, क्योंकि इन दोनोंके लक्षणोंमें परस्पर विरोध है । छायाद्यात्मनोपदेश करनेमें वे यह प्रयोजन बतलाते हैं कि परात्मा अत्यन्त दुर्बिज्ञेय है,

किल दुर्विज्ञेयत्वात्परस्यात्म-
नोऽत्यन्तबाह्यविषयासक्तचेतसो-
ऽत्यन्तसूक्ष्मवस्तुश्रवणे व्यामोहो
मा भूदिति ।

यथा किल द्वितीयायां सूक्ष्मं
चन्द्रं दिदर्शयिषुर्वृत्तं कञ्चित्प्रत्य-
क्षमादौ दर्शयति पश्यामुषे चन्द्र
इति । ततोऽन्यं ततोऽप्यन्यं गिरि-
मूर्धानं च चन्द्रसमीपस्थमेष चन्द्र
इति । ततोऽसौ चन्द्रं पश्यति ।
एवमेतद् 'य एषोऽक्षिणि' इत्याद्युक्तं
प्रजापतिना त्रिभिः पर्यायैर्न पर
इति । चतुर्थे तु पर्याये देहान्म-
त्यात्समुत्थायाशरीरतामापन्नो
ज्योतिःस्वरूपं यस्मिन्नुत्तमपुरुषे
स्यादिभिर्जज्ञत्क्रीडन्नरममाणो

अतः जिनका चित्त बाह्य विषयोंमें
अत्यन्त आसक्त है ऐसे उन लोगोंको
आरम्भमें ही उसका उपदेश कर
देनेपर उस अत्यन्त सूक्ष्म वस्तुका
श्रवण करनेसे कहीं व्यामोह न
हो जाय ।

[इसी बातको दृष्टान्तसे स्पष्ट
करते हैं—] जिस प्रकार द्वितीयाके
दिन सूक्ष्म चन्द्रमाको दिखलानेकी
इच्छावाला कोई पुरुष पहले
सामनेवाले वृक्षको 'देख यह
चन्द्रमा है' ऐसा कहकर दिखाता
है । फिर किसी अन्य वृक्षको
और उसके पश्चात् चन्द्रमाके
समीपवर्ती किसी पर्वतशिखरको
'यह चन्द्रमा है' ऐसा कहकर
दिखलाता है । तदनन्तर वह
चन्द्रमाको देख लेता है । इसी
प्रकार प्रजापतिने 'य एषोऽक्षिणि'
इत्यादि तीन पर्यायोंसे जिसका
वर्णन किया है वह पर आत्मा
नहीं है; किंतु चौथे पर्यायमें
इस मरणशील देहसे उत्थान कर
जिस उत्तम पुरुषमें वह ज्योतिः-
स्वरूप अशरीरताको प्राप्त होकर
स्त्री आदिके साथ वर्तमान रहता
हुआ भक्षण, क्रीडा और रमण

भवति स उत्तमः पुरुषः पर उक्त
इति चाहुः ।

करता रहता है वही उत्तम पुरुष
परात्मा कहा गया है—ऐसा भी
उनका कथन है ।

सत्यं रमणीया तावदियं
पूर्वोक्तमतनिर- व्याख्या श्रोतुम् ।
सनपूर्वकं सिद्धा- न त्वर्थोऽस्य ग्रन्थ-
न्तिमतम् स्यैवं सम्भवति ।

सिद्धान्ती—ठीक है, यह
व्याख्या सुननेमें तो बड़ी सुहावनी
है, किंतु इस ग्रन्थका अर्थ ऐसा
नहीं हो सकता । कैसे नहीं
हो सकता ?—यदि प्रजापतिने
'अक्षिणि पुरुषो दृश्यते' ऐसा
कहकर छायात्माका ही उपदेश
किया होता तो 'अक्षिणि पुरुषो
दृश्यते' ऐसा उल्लेख करके, दोनों
शिष्योंद्वारा छायात्माका ही ग्रहण
किये जानेपर फिर उनका वह
विपरीत ग्रहण मानकर उसकी
निवृत्तिके लिये उद्देशरावका उपक्रम,
'क्या देखते हो' ऐसा प्रश्न और
सुन्दर अलंकारधारणका उपदेश
यह सब व्यर्थ हो सिद्ध होगा ।
इसके सिवा यदि उन्होंने स्वयं ही
उसका उपदेश किया था तो
उन्हें उसी प्रकार किये हुए
ग्रहणकी निवृत्तिका भी कारण
बतलाना चाहिये था । इसी प्रकार
स्वप्नात्मा और सुषुप्तात्माका ग्रहण
करनेपर उनकी निवृत्तिका कारण

कथम् ? 'अक्षिणि पुरुषो दृश्यते'
इत्युपन्यस्य शिष्याभ्यां छायात्मनि
गृहीते तयोस्तद्विपरीतग्रहणं मत्वा
तदपनयायोदशरावोपन्यासः
किं पश्यथ इति च प्रश्नः साध्व-
लङ्कारोपदेशश्चानर्थकः स्यात्,
यदिच्छायात्मैव प्रजापतिना-
क्षिणि दृश्यत इत्युपदिष्टः । किञ्च
यदि स्वयमुपदिष्ट इति ग्रहणस्या-
प्यपनयनकारणं वक्तव्यं स्यात् ।
स्वप्नसुषुप्तात्मग्रहणयोरपि तदप-

नयकारणं च स्वयं ब्रूयात् । न
चोक्तं तेन मन्यामहे नाक्षिणि-
च्छायात्मा प्रजापतिनोपदिष्टः ।

किं चान्यदक्षिणि द्रष्टा
चैद्दृश्यत इत्युपदिष्टः स्यात्तत्तद् इदं
युक्तम् । एतं त्वेव त इत्युक्त्वा
स्वप्नेऽपि द्रष्टुरेवोपदेशः । स्वप्ने
न द्रष्टोपदिष्ट इति चेन्न; अपि
रोदितीवाप्रियवेत्तेवेत्युपदेशात् ।
न च द्रष्टुरन्य; कश्चित्स्वप्ने
महीयमानश्चरति । “अत्रायं पुरुषः
स्वयंज्योतिः” (वृ० उ० ४ ।
३ । ६) इति न्यायतः श्रुत्य-
न्तरे सिद्धत्वात् ।

यद्यपि स्वप्ने सधीर्भवति
तथापि न धीः स्वप्नभोगोपल-
ब्धिं प्रति करणत्वं भजते । किं

भी उन्हें स्वयं बतलाना चाहिये था ।
किंतु यह उन्होंने बतलाया नहीं
है । इसलिये हम ऐसा मानते
हैं कि प्रजापतिने नेत्रान्तर्गत
छायात्माका उपदेश नहीं किया ।

इसके सिवा दूसरी बात यह भी
है कि यदि ‘दृश्यते’ इस क्रिया-
पदसे नेत्रान्तर्गत द्रष्टाका ही उपदेश
किया गया हो तभी यह कथन
युक्त हो सकता है; ‘एतं त्वेव ते’
ऐसा कहकर स्वप्नमें भी द्रष्टाका ही
उपदेश किया गया है । यदि कहो
कि स्वप्नमें द्रष्टाका उपदेश नहीं
किया गया तो यह कथन ठीक
नहीं; क्योंकि ‘रुदन-सा करता
है, अप्रियवेत्ता-सा है’ ऐसा कहा
गया है । द्रष्टाके सिवा और
कोई भी स्वप्नमें पूजित होता
हुआ-सा नहीं विचरता; क्योंकि
“इस अवस्थामें यह पुरुष स्वयंप्रकाश
होता है” ऐसा एक अन्य (बृह-
दारण्यक) श्रुतिमें युक्तिपूर्वक सिद्ध
किया गया है ।

यद्यपि स्वप्नमें आत्मा ‘सधीः’—
अन्तःकरणसहित रहता है तो भी
वह अन्तःकरण स्वप्नभोगोंकी
उपलब्धिके प्रति करणत्वको प्राप्त
नहीं होता । तो फिर क्या रहता

तर्हि ? पटचित्रवज्राग्रदासनाश्रया
दृश्यैव धीर्भवतीति न द्रष्टुः स्व-
यंज्योतिष्वबाधः स्यात् ।

किञ्चान्यत्, जाग्रत्स्वप्नयो-
भूतानि चात्मानं च जानाती-
मानि भूतान्ययमहमस्मीति प्राप्तौ
सत्यां प्रतिषेधो युक्तः स्यान्नाह
स्वल्पवयमित्यादि । तथा चेतनस्यै-
वाविद्यानिमित्तयोः सशरीरत्वे
सति प्रियाप्रिययोरपहतिर्नास्ती-
त्युक्त्वा तस्यैवाशरीरस्य सतो
विद्यायां सत्यां सशरीरत्वे प्राप्तयोः
प्रतिषेधो युक्तोऽशरीरं वाव
सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशत इति ।
एकश्चात्मा स्वप्नबुद्धान्तयोर्महा-
मत्स्यवदसङ्गः सञ्चरतीति श्रुत्य-
न्तरे सिद्धम् ।

है ?—वह पटचित्रके समान
जाग्रत्-वासनाओंका आश्रयभूत
दृश्य ही रहता है—इसलिये उस
अवस्थामें द्रष्टाके स्वयंप्रकाशत्वका
बाध नहीं हो सकता ।

इसके सिवा दूसरा हेतुयह भी है
कि जाग्रत् और स्वप्न अवस्थाओंमें
यह भूतोंको और अपनेको 'ये
भूत हैं और यह मैं हूँ' इस प्रकार
जानता है—यह बात प्राप्त होनेपर
ही [सुषुप्तिमें] यह अपनेको और
भूतोंको नहीं जानता' ऐसा
प्रतिषेध उचित हो सकता है ।
तथा चेतनके ही सशरीरत्वकी
प्राप्ति होनेपर अविद्यानिमित्तक
प्रियाप्रियका नाश नहीं होता
ऐसा कहकर विद्या प्राप्त होनेपर
अशरीर हुए उसीके सशरीरावस्थामें
प्राप्त हुए प्रियाप्रियका 'अशरीर
होनेपर इसे प्रियाप्रिय स्पर्श नहीं
करते' इस प्रकार प्रतिषेध करना
उचित होगा । स्वप्न और जाग्रत्में
एक ही आत्मा महामत्स्यके समान
असंगरूपसे विचरता है—ऐसा
एक अन्य (बृहदारण्यक) श्रुतिसे
सिद्ध है ।

यच्चोक्तं सम्प्रसादः शरीरा-
 त्समुत्थाय यस्मिन्स्त्र्यादिभी
 रसमाणो भवति सोऽन्यः सम्प्र-
 सादादधिकरणनिर्दिष्ट उत्तमः
 पुरुष इति, तदप्यसत्; चतुर्थे-
 ऽपि पर्याये 'एतं त्वेव ते' इति
 वचनात्। यदि ततोऽन्याऽभिप्रेतः
 स्यात्पूर्ववत् 'एतं त्वेव ते' इति न
 ब्रूयान्मृषा प्रजापतिः।

किञ्चान्यत्तेजाञ्जन्मादीनां स्रष्टुः
 सतः स्वविकारदेहशुद्धे प्रवेशं
 दर्शयित्वा प्रविष्टाय पुनस्तत्त्व-
 मसीत्युपदेशो मृषा प्रसज्येत।
 तस्मिंस्त्वं स्त्र्यादिभी रन्ता
 भविष्यसीति युक्त उपदेशोऽभवि-
 ष्यद्यदि सम्प्रसादादन्य उत्तमः
 पुरुषो भवेत्। तथा भूमन्यहमेवे-

और ऐसा जो कहा कि
 सम्प्रसाद (सुषुप्तावस्थापन्न जीव)
 इस शरीरसे सम्यक् प्रकारसे
 उत्थान कर जिसमें स्त्री आदिके
 साथ रमण करता रहता है वह
 अधिकरणरूपसे निर्दिष्ट उत्तम पुरुष
 उससे भिन्न है—सो भी ठीक
 नहीं; क्योंकि चौथे पर्यायमें 'एतं
 त्वेव ते' ऐसा [पूर्वोक्तका परामर्श
 करनेवाला] निर्देश किया गया
 है। यदि प्रजापतिको उससे भिन्न
 कोई और पुरुष अभिमत होता तो
 वे पहलेहीके समान 'एवं त्वेव ते'
 ऐसा मिथ्या वचन न कहते।

इसके सिवा दूसरा कारण
 यह भी है कि [यदि उत्तम
 पुरुषको पूर्वोक्त पुरुषोंसे भिन्न
 मानेंगे तो] तेज, अप् और
 अन्नादिकी रचना करनेवाले सत्का
 अपने विकारभूत देहमें प्रवेश
 दिखलाकर इस प्रकार प्रविष्ट हुए
 उसको जो 'तू वह है' ऐसा
 उपदेश किया गया है वह मिथ्या
 सिद्ध होगा। यदि उत्तम पुरुष
 सम्प्रसादसे भिन्न होता तो 'उसमें
 तू स्त्री आदिके साथ रमण
 करनेवाला होगा' ऐसा उपदेश

त्यादिश्यात्मैवेदं सर्वमिति नोप-
समहरिष्यद्यदि भूमा जीवाद-
न्योऽभविष्यत् । “नान्योऽतो-
ऽस्ति द्रष्टा” (वृ० उ० ३ । ७।
२३) इत्यादिश्रुत्यन्तराच्च ।
सर्वश्रुतिषु च परस्मिन्नात्मशब्द-
प्रयोगो नाभविष्यत्प्रत्यगात्मा
चेत्सर्वजन्तूनां पर आत्मा न
भवेत् । तस्मादेक एवात्मा प्रक-
रणी सिद्धः ।

न चात्मनः संसारित्वम्;
अविद्याध्यस्तत्वादात्मनि संसा-
रस्य । न हि रज्जुशुक्तिक्लागगना-
दिषु सर्परजतमलादीनि मिथ्या-
ज्ञानाध्यस्तानि तेषां भवन्तीति ।
एतेन सशरीरस्य प्रियाप्रिययोर-
पहतिर्नास्तीति व्याख्यातम् ।
यच्च स्थितमप्रियवेत्तेवेति नाप्रिय-
वेत्तेवेति सिद्धम् । एवं च सति

उचित होता और यदि भूमा जीवसे
भिन्न होता तो भूमामें ‘यह मैं
ही हूँ’ ऐसा आदेश करके ‘यह
सब आत्मा ही है’ ऐसा उपसंहार
न किया जाता । “इससे भिन्न
कोई और द्रष्टा नहीं है” इस
श्रुत्यन्तरसे भी यही सिद्ध होता
है । यदि सम्पूर्ण जीवोंका
प्रत्यगात्मा ही पर आत्मा न होता
तो समस्त श्रुतियोंमें परमात्माके
लिये ‘आत्मा’ शब्दका प्रयोग न
किया जाता । अतः एक ही
आत्मा इस प्रकरणका विषय
सिद्ध होता है ।

इसके सिवा, आत्माको संसारित्व
है भी नहीं; क्योंकि आत्मामें
संसार अविद्याके कारण अध्यस्त
है । रज्जु, शुक्ति और आकाशादिमें
मिथ्याज्ञानके कारण अध्यस्त हुए
सर्प, रजत और मलादि वस्तुतः
उनके नहीं हो जाते । इससे
‘सशरीरके प्रियाप्रियका नाश नहीं
होता’ इस वाक्यकी व्याख्या हो
जाती है । [इस प्रकार] पहले
जो कहा गया था कि स्वप्नद्रष्टा
अप्रियवेत्ता-सा होता है । साक्षात्
अप्रियवेत्ता ही नहीं होता—सो
सिद्ध हो गया । और यह सिद्ध

सर्वपर्यायेष्वेतद्मृतमभयमेतद्-
ब्रह्मेति प्रजापतेर्वचनम् । यदि वा
प्रजापतिच्छद्मरूपायाः श्रुतेर्वचनं
सत्यमेव भवेत् । न च तत्कुतर्क-
बुद्ध्या मृषा कर्तुं युक्तम् । ततो
गुरुतस्स्यग्रमाणान्तरस्यानुपपत्तेः ।

ननु प्रत्यक्षं दुःखाद्यप्रियवेत्तृ-
त्वमव्यभिचार्यनुभूयत इति चेन्न;
जरादिरहितो जीर्णोऽहं जातोऽह-
मायुष्मान् गौरः कृष्णो मृत
इत्यादिप्रत्यक्षानुभववत्तदुपपत्तेः ।
सर्वमप्येतत्सत्यमिति चेदस्त्येवैत-
देवं दुरवगमं येन देवराजोऽप्यु-
दशरावादिदर्शिताविनाशयुक्ति-
रपि मुमोहैवात्र विनाशमेवापीतो
भवतीति ।

होनेपर समस्त पर्यायोंमें 'यह अमृत
और अभय है तथा यही ब्रह्म है'
ऐसा प्रजापतिका वचन अथवा
प्रजापतिच्छद्मरूपा श्रुतिका वचन
भी सत्य ही सिद्ध होता है ।
उसे कुतर्कबुद्धिसे मिथ्या प्रमाणित
करना उचित नहीं है, क्योंकि
उस (श्रुतिवाक्य) से उत्कृष्टतर
प्रमाण मिलना असम्भव है ।

यदि कहो कि दुःखादि
अप्रियवेत्तृत्व तो निश्चित है और
प्रत्यक्ष अनुभव होता है—तो ऐसा
कहना ठीक नहीं; क्योंकि 'मैं
जरादिसे रहित हूँ, जराग्रस्त हूँ,
उत्पन्न हुआ हूँ, आयुष्मान् हूँ,
गौर हूँ, श्याम हूँ, मरा हुआ हूँ'
इत्यादि प्रत्यक्ष अनुभवोंके समान
वह (अप्रियवेत्तृत्व) भी सम्भव
हो सकता है । यदि कहो कि
यह सब तो सत्य ही है तो
वस्तुतः यह बात ऐसी ही दुर्गम
है, इसीसे आत्माके अविनाशके
सम्बन्धमें उदकपात्रादि युक्ति
दिखलानेपर भी देवराजको यह
मोह ही रहा कि इस अवस्थामें
तो यह विनाशको ही प्राप्त हो
जाता है ।

तथा विरोचनो महाप्राज्ञः
 प्राजापत्योऽपि देहमात्रात्मदर्शनो
 बभूव । तथेन्द्रस्यात्मविनाशमय-
 सागर एव वैनाशिका न्यमज्जन् ।
 तथा सांख्या द्रष्टारं देहादिव्य-
 तिरिक्तमवगम्यापि त्यक्तागमप्र-
 माणत्वान्मृत्युविषय एवान्यत्व-
 दर्शने तस्थुः । तथान्ये काणा-
 दादिदर्शनाः कषायरक्तमिव
 क्षारादिभिर्वस्त्रं नवमिरोत्सगुणै-
 र्युक्तमात्मद्रव्यं वशोधयितुं
 प्रवृत्ताः । तथान्ये कर्मिणो बाह्य-
 विषयापहतचेतसो वेदप्रमाणा
 अपि परमार्थसत्यमात्मैकत्वं
 विनाशमिवेन्द्रबन्मन्यमाना घटी-
 यन्त्रवदारोहावरोहप्रकारैरनिशं
 बभ्रमन्ति किमन्ये क्षुद्रजन्तवो
 विवेकहीनाः स्वभावत एव
 बहिर्विषयापहतचेतसः ।

तथा परम बुद्धिमान् और
 प्रजापतिका पुत्र होनेपर भी
 विरोचन केवल देहमात्रमें आत्मबुद्धि
 करनेवाला हुआ । इसी प्रकार
 वैनाशिक लोग इन्द्रके आत्म-
 विनाशरूप भयके समुद्रमें डूब
 गये । तथा सांख्यवादो द्रष्टा
 (आत्मा) दो देहादिसे भिन्न
 जानकर भी शास्त्रप्रमाणको छोड़
 देनेके कारण मृत्युके विषयभूत
 भेददर्शनमें ही पड़े रह गये ।
 एवं अन्य काणादादि मतावलम्बी
 कषायसे रंगे हुए वस्त्रको क्षारादिसे
 शुद्ध करनेके समान आत्माके नौ
 गुणोंसे युक्त आत्मद्रव्यको शुद्ध
 करनेमें लग गये । तथा दूसरे
 कर्मकाण्डी लोग बाह्य विषयोंमें
 आसक्तचित्त होनेके कारण
 वेदको प्रमाण माननेवाले होनेपर
 भी इन्द्रके समान परमार्थसत्य
 आत्मैकत्वको अपना विनाश-सा
 समझकर घटीयन्त्रके समान ऊपर-
 नीचे जाते-आते रात-दिन भटकते
 रहते हैं । फिर जो स्वभावसे ही
 बाह्य विषयोंमें आसक्तचित्त हैं उन
 अन्य विवेकहीन क्षुद्र जीवोंकी तो
 बात ही क्या है ?

तस्मादिदं त्यक्तसर्वबाह्यैष-
 शौरनन्यशरणैः परमहंसपरिव्राज-
 कैरत्याश्र मांभवेदान्तविज्ञानपरै-
 रेव वेदनीयं पूज्यतमैः प्राजापत्यं
 चेमं सम्प्रदायमनुसरद्विरुपनिबद्धं
 प्रकरणचतुष्टयेन। तथानुशासत्य-
 द्यापि त एव नान्य इति ॥ १ ॥

अतः जिन्होंने सम्पूर्ण बाह्य
 एषणाओंका त्याग कर दिया है,
 जिनकी कोई और गति नहीं है और
 जो प्रजापतिके सम्प्रदायका अनुसरण
 करनेवाले हैं उन वेदान्तविज्ञान-
 परायण अत्याश्रमी पूज्यतम परमहंस
 परिव्राजकोंके द्वारा ही यह चार
 प्रकरणोंमें उपनिबद्ध (प्रतिपादित)
 आत्मतत्त्व ज्ञातव्य है; तथा आज
 भी वे ही उसका उपदेश करते हैं,
 और कोई नहीं ॥ १ ॥

—:०:—

तत्राशरीरस्य सम्प्रसादस्या-
 विद्यया शरीरेणाविशेषतां सश-
 रीरतामेव सम्प्राप्तस्य शरीरात्स-
 मुत्थाय स्वेन रूपेण यथाभिनि-
 ष्पत्तिस्तथा वक्तव्येति दृष्टान्त
 उच्यते—

ऐसी अवस्थामें, जिस प्रकार
 अविद्यावश शरीरके साथ अविशेषता
 अर्थात् सशरीरताको ही प्राप्त
 हुए अशरीर सम्प्रसादकी शरीरसे
 उत्थान कर अपने स्वरूपकी प्राप्ति
 होती है वह वतलानी चाहिये—
 इसीसे यह दृष्टान्त कहा जाता है—

अशरीरो वायुरभ्रं विद्युत् स्तनयित्पुरशरीराण्ये-
 तानि तद्यथैतान्यमुष्मादाकाशात्समुत्थाय परं ज्योति-
 रुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यन्ते ॥ २ ॥

वायु अशरीर है; अभ्र, विद्युत् और मेघध्वनि ये सब अशरीर
 हैं। जिस प्रकार ये सब उस आकाशसे समुत्थान कर सूर्यकी परम
 ज्योतिको प्राप्त हो अपने स्वरूपमें परिणत हो जाते हैं ॥ २ ॥

अशरीरो वायुरविद्यमानं शिरः-
पाण्यादिमच्छरीरमस्येत्यशरीरः ।
किं चाभ्रं विद्युत्स्तनयित्पुरित्ये-
तानि चाशरीराणि । तत्तत्रैवं
सति वर्षादिप्रयोजनावसाने तथा
अमुष्मादिति भूमिष्ठा श्रुतिद्युलो-
कसम्बन्धिनमाकाशदेशं व्यपदि-
शति । एतानि यथोक्तान्याकाश-
समानरूपतामापन्नानि स्वेन
वाय्वादिरूपेणागृह्यमाणान्याका-
शाख्यतां गतानि ।

यथा सम्प्रसादोऽविद्यावस्थायां
शरीरात्मभावमेवापन्नस्तानि च
तथाभूतान्यमुष्माद्द्युलोकसम्ब-
न्धिन आकाशदेशात्समुत्तिष्ठन्ति
वर्षणादिप्रयोजनाभिनिवृत्तये ।
कथम् ? शिशिरापाये सावित्रं परं
ज्योतिः प्रकृष्टं ग्रीष्मकमुपसम्पद्य
सावित्रमभितापं प्राप्येत्यर्थः ।
आदित्याभितापेन पृथग्भावमा-

वायु अशरीर है; इसके शिर
एवं हाथ-पाँववाला शरीर नहीं
है इसलिये यह अशरीर है ।
तथा बादल, बिजली और
मेघध्वनि—ये भी अशरीर हैं ।
ऐसा होनेपर भी, जिस प्रकार
वर्षादि प्रयोजनकी पूर्ति होनेपर
ये उस [आकाशसे समुत्थान कर]
इस प्रकार भूमिमें स्थित श्रुति
द्युलोकसम्बन्धी आकाशका परोक्ष-
रूपसे निर्देश करती है । ये पूर्वोक्त
वायु आदि आकाशकी समान-
रूपताको प्राप्त हो अपने वायु
आदि रूपसे गृहीत न होते हुए
आकाशसंज्ञाको प्राप्त हो जाते हैं ।

जिस प्रकार सम्प्रसाद अविद्या-
वस्थामें देहात्मभावको ही प्राप्त
रहता है उसी प्रकार तद्रूपताको
प्राप्त हुए वे सब वर्षा आदि
प्रयोजनकी पूर्तिके लिये इस
द्युलोकसम्बन्धी आकाशदेशसे
समुत्थान करते हैं । किस
प्रकार समुत्थान करते हैं ?—
शिशिरका अन्त होनेपर सूर्यके
परम तेज ग्रीष्मकालीन प्रकृष्ट तेज-
को उपसम्पन्न हो अर्थात् सविताके
अभितापको प्राप्त हो उस आदित्यके

पादिताः सन्तः स्वेन स्वेन रूपेण
 पुरोवातादिवायुरूपेण स्तिमितभावं
 हित्वाभ्रमपि भूमिपर्वतहस्त्यादि-
 रूपेण विद्युदपि स्वेन ज्योतिर्ल-
 तादिचपलरूपेण स्तनयित्पुरपि
 स्वेन गर्जिताशनिरूपेणेत्येवं
 प्रावृडागमे स्वेन स्वेन रूपेणाभि-
 निष्पद्यन्ते ॥ २ ॥

अभितापसे विभिन्नभावको प्राप्त
 होकर अपने-अपने स्वरूपसे सम्पन्न
 हो जाते हैं । उनमें वायु पूर्ववायु
 आदि अपने रूपोंसे, बादल आर्द्रभाव-
 को त्यागकर भूमि, पर्वत एवं हाथी
 आदिके सदृश आकारोंसे, विद्युत्
 ज्योतिर्लता आदि अपने चपल
 रूपसे और मेघध्वनि गर्जन तथा
 वज्रपात आदि अपने रूपसे स्थित
 हो जाते हैं । इस प्रकार वर्षाकाल
 आनेपर ये सभी अपने-अपने रूपसे
 निष्पन्न हो जाते हैं ॥ २ ॥

—*—

यथायं दृष्टान्तः—

| जैसा कि यह दृष्टान्त है—

एवमेवैष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं
 ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते स उत्तमपुरुषः
 स तत्र पर्येति जहत्क्राडन्रममाणः स्त्रीभिर्वा यानैर्वा
 ज्ञातिभिर्वा नोपजनः स्मरन्निदः शरीरः स यथा प्रयोग्य
 आचरणे युक्त एवमेवायमस्मिञ्छरीरे प्राणो युक्तः ॥ ३ ॥

उसी प्रकार यह सम्प्रसाद इस शरीरसे समुत्थान कर परम ज्योति-
 को प्राप्त हो अपने स्वरूपमें स्थित हो जाता है । वह उत्तम पुरुष है ।
 उस अवस्थामें वह हँसता, क्रीड़ा करता और स्त्री, यान अथवा ज्ञातिजनके
 साथ रमण करता अपने साथ उत्पन्न हुए इस शरीरको स्मरण न करता
 हुआ सब ओर विचरता है । जिस प्रकार घोड़ा या बैल गाड़ीमें जुता रहता
 है उसी प्रकार यह प्राण इस शरीरमें जुता हुआ है ॥ ३ ॥

वाय्वादीनामाकाशादिसाम्य-
 गमनवदविद्यया संसाराव-
 स्थायां शरीरसाम्यमापन्नोज्झम-
 मुष्य पुत्रो जातो जीर्णो मरिष्ये-
 इत्येवं प्रकारं प्रजापतिनेव मधवान्
 यथोक्तेन क्रमेण नासि त्वं देहे-
 न्द्रियादिधर्मा तत्त्वमसीति प्रति-
 बोधितः सन्त एष सम्प्रसादो
 जीवोऽस्माच्छरीरादाकाशादिव
 वाय्वादयः समुत्थाय देहादिवि-
 लक्षणमात्मनो रूपमवगम्य
 देहात्मभावनां हित्वेत्येतत् । स्वेन
 रूपेण सदात्मनैवाभिनिष्पद्यत
 इति व्याख्यातं पुरस्तात् ।

स येन स्वेन रूपेण सम्प्रसा-
 दोऽभिनिष्पद्यते—प्राक्प्रतिबोधा-
 त्तद्भ्रान्तिनिमित्तात्सर्पो भवति
 यथा रज्जुः पश्चात्कृतप्रकाशा
 रज्ज्वात्मना स्वेन रूपेणाभिनि-

[उसी प्रकार—] वायु आदि-
 के आकाशादिकी समताको प्राप्त
 होनेके समान अविद्यावश सांसारिक
 अवस्थामें शरीरकी समताको प्राप्त
 हुआ, अर्थात् 'मैं इसका पुत्र हूँ,
 मैं उत्पन्न हुआ हूँ, जराग्रस्त हूँ,
 मरूँगा' इस प्रकार समझनेवाले
 इन्द्रको जिस प्रकार प्रजापतिने
 समझाया था उसी क्रमसे 'तू
 देह और इन्द्रियोंके धर्मवाला नहीं
 है, बल्कि वह सत् ही तू है' इस
 प्रकार समझाया हुआ वह यह
 सम्प्रसाद—जीव आकाशसे वायु
 आदिके समान इस शरीरसे
 समुत्थान कर देहादिसे विलक्षण
 आत्मस्वरूपको जानकर
 अर्थात् देहात्मभावनाको त्यागकर
 अपने स्वाभाविक सत्स्वरूप-
 से ही स्थित हो जाता है—इस
 प्रकार पहले इसकी व्याख्या की जा
 चुकी है ।

वह सम्प्रसाद अपने जिस
 स्वाभाविक रूपसे स्थित होता
 है—जिस प्रकार विवेक होनेसे पूर्व
 भ्रान्तिके कारण रज्जु सर्प हो जाती
 है और फिर प्रकाश होनेपर वह
 अपने स्वाभाविक रज्जुरूपसे स्थित

ष्यते । एवं च स उत्तमपुरुषः
 उत्तमश्चासौ पुरुषश्चेत्युत्तमपुरुषः
 स एवोत्तमपुरुषोऽक्षिस्वप्नपुरुषौ
 व्यक्ताव्यक्तश्च सुषुप्तः समस्तः
 सम्प्रसन्नोऽशरीरश्च स्वेन रूपेणेति ।
 एषामेष स्वेन रूपेणावस्थितः
 क्षराक्षरौ व्याकृताव्याकृतावपे-
 क्ष्योत्तमपुरुषः कृतनिर्वचनो ह्ययं
 गीतासु ।

स सम्प्रसादः स्वेन रूपेण तत्र
 स्वात्मनि स्वस्थतया सर्वात्मभूतः
 पर्येति क्वचिदिन्द्राद्यात्मना जज्ञ-
 ष्सन् भक्षयन् वा भक्ष्यानुचाव-
 चानीप्सितान् क्वचिन्मनोमात्रैः
 संकल्पादेव समुत्थितैर्ब्राह्मलौकि-
 कैर्वा क्रीडन् रूपादिभी रममाणश्च
 मनसैव, नोपजनम्, स्त्रीपंसयोर-

हो जाती है उसी प्रकार वह उत्तम
 पुरुष—जो उत्तम हो और पुरुष
 हो उसे उत्तम पुरुष कहते हैं ।
 अक्षिपुरुष और स्वप्नपुरुष ये दोनों
 व्यक्त हैं, किंतु सुषुप्तपुरुष अपने
 स्वाभाविक रूपमें स्थित होकर
 सम्यक् प्रकारसे लीन, सम्प्रसन्न,
 अव्यक्त तथा अशरीर है । इनमें
 व्यक्त और अव्यक्त जो क्षर और
 अक्षर पुरुष हैं उनकी अपेक्षा यह
 अपने स्वाभाविक रूपमें स्थित हुआ
 पुरुष उत्तम है । इसका निरूपण
 गीतामें किया है ।

वह सम्प्रसाद अपने स्वाभाविक
 रूपसे—स्वयं स्वात्मा में स्थित हुआ
 आत्मनिष्ठ होनेके कारण सबका
 अन्तरात्मभूत होकर सब ओर संचार
 करता है । कभी इन्द्रादि रूपसे
 'जक्षत्'—हँसता अथवा मनोवाञ्छित
 वढ़िया-घटिया भोजन-सामग्रियोंको
 भक्षण करता हुआ, कभी मनोमात्र
 अर्थात् केवल संकल्पसे ही उत्पन्न हुए
 अथवा ब्रह्मलोक-सम्बन्धी भोगोंके साथ
 क्रीडा करता और स्त्री आदिके साथ
 मनके ही द्वारा रमण करता हुआ उप-
 जनको—जो स्त्री-पुरुषोंके पारस्परिक
 सहगमनसे उत्पन्न होता है अथवा

न्योन्योपगमेन जायत इत्युपज-
नमात्मभावेन वात्मसामीप्येन
जायत इत्युपजनमिदं शरीरं तन्न
स्मरन् । तत्स्मरणे हि दुःखमेव
स्यात्; दुःखात्मकत्वात्तस्य ।

नन्वनुभूतं चेन्न स्मरेदसर्वज्ञ-
त्वं मुक्तस्य ।

नैष दोषः; येन मिथ्याज्ञा-
नादिना जनितं तच्च मिथ्याज्ञा-
नादि विद्ययोच्छेदितमतस्तन्ना-
नुभूतमेवेति न तदस्मरणे सर्वज्ञ-
त्वहानिः । न ह्युन्मत्तेन ग्रहगृ-
हीतेन वा यदनुभूतं तदुन्मादा-
द्यपगमेऽपि स्मर्तव्यं स्यात्तथेहापि
संसारिभिरविद्यादोषवद्भिर्यदनु-
भूयते तत्सर्वात्मानमशरीरं न

आत्मरूपसे या अपनी समीपतासे
उत्पन्न होता है ऐसे इस शरीरका
नाम 'उपजन' है—इसे स्मरण न
करता हुआ [सब ओर संचार
करता है], क्योंकि उसका स्मरण
करनेसे तो दुःख ही होगा, कारण
वह दुःखात्मक है ।

शङ्का—यदि वह अनुभूत शरीर-
का स्मरण नहीं करता तब तो
मुक्त पुरुषकी असर्वज्ञता सिद्ध
होती है ।

समाधान—यहाँ यह दोष नहीं
है । जिस मिथ्याज्ञानादिके द्वारा
उस शरीरकी उत्पत्ति हुई थी वह
मिथ्याज्ञानादि ज्ञानसे उच्छिन्न हो
गये; इसलिये अब उस शरीरका
अनुभव नहीं होता, अतः उसका
स्मरण न करनेमें सर्वज्ञताकी हानि
नहीं हो सकती । जो वस्तु उन्मत्त
या ग्रहग्रस्त पुरुषको अनुभव होती
थी उसे उन्मादादिकी निवृत्ति
होनेपर भी स्मरण करना चाहिये—
ऐसी बात नहीं है । इसी प्रकार
इस प्रसङ्गमें भी जो शरीर अविद्या-
रूप दोषवाले संसारियोंद्वारा अनुभव
किया जाता है वह अशरीरी
सर्वात्माको स्पर्श नहीं करता, क्योंकि

स्पृशति; अविद्यानिमित्ताभा-
वात् ।

ये तूच्छिन्नदोषैर्मृदितकषायै-
र्मानसाः सत्याः कामा अनृतापि-
धाना अनुभूयन्ते विद्याभिव्यङ्-
ग्यत्वात्, त एव मुक्तेन सर्वात्मभू-
तेन सम्बध्यन्त इत्यात्मज्ञानस्तु-
तये निर्दिश्यन्तेऽतः साध्वेतद्वि-
शिनष्टि—‘य एते ब्रह्मलोके’ इति ।

यत्र कचन भवन्तोऽपि ब्रह्मण्येव
हि ते लोके भवन्तीति सर्वात्म-
त्वाद्ब्रह्मण उच्यन्ते ।

ननु कथमेकः सन्नान्यत्पश्यति
नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति
स भूमा कामाश्च ब्राह्मलौकिकान्
पश्यन् रमत इति च विरुद्धम् ।
यथैको यस्मिन्नेव क्षणे

उसमें उसके अविद्यारूप निमित्तका
अभाव है ।

किंतु जिनके दोष नष्ट हो गये
हैं और राग-द्वेषादि कषाय क्षीण
हो गये हैं उन पुरुषोंद्वारा, मिथ्या
विषयाभिनिवेशरूप अनृतके कारण
अज्ञानियोंके अनुभवमें न आनेवाले
जिन मानस सत्य भोगोंका अनुभव
किया जाता है वे विद्याद्वारा
अभिव्यक्त होनेवाले होनेके कारण
इस प्रकार उपर्युक्त सर्वात्मभूत
विद्वान्से सम्बन्धित हैं; इसीसे
आत्मज्ञानकी स्तुतिके लिये उनका
निर्देश किया जाता है । अतः ‘य
एते ब्रह्मलोके’ ऐसा जो निर्देश
किया गया है वह ठीक ही है,
क्योंकि ब्रह्म सर्वात्मक है, अतः वे
कहीं भी रहें तथापि ब्रह्मलोकमें
ही हैं—इस प्रकार कहे जाते हैं ।

शङ्का—किंतु ‘वह एक होता
हुआ न तो अन्य कुछ देखता है,
न अन्य कुछ सुनता है और न अन्य
कुछ जानता है’ ‘वह भूमा है’ और
‘वह ब्रह्मलोकसम्बन्धी भोगोंको देखता
हुआ रमण करता है’ ये दोनों
कथन तो परस्परविरुद्ध हैं, जिस
प्रकार यह कहा जाय कि एक पुरुष

पश्यति स तस्मिन्नेव क्षणे न
पश्यति ।

नैष दोषः; श्रुत्यन्तरे परिहृत-
त्वात् । द्रष्टुर्दृष्टेरविपरिलोपात्प-
श्यन्नेव भवति; द्रष्टुरन्यत्वेन
कामानामभावाच्च पश्यति चेति ।
यद्यपि सुषुप्ते तदुक्तं मुक्तस्यापि
सर्वैकत्वात्समानो द्वितीयाभावः ।
'केन कं पश्येत्' इति चोक्तमेव ।

अशरीरस्वरूपोऽपहतपाप्मादि-
लक्षणः सन् कथमेव पुरुषो-
ऽक्षिणि दृश्यत इत्युक्तः प्रजाप-
तिना ? तत्र यथासावक्षिणि
साक्षाद्दृश्यते तद्वक्तव्यमितीद-
मारभ्यते । तत्र को हेतुरक्षिणि
दर्शन इत्याह—

जिस क्षणमें देखता है उसी क्षणमें
नहीं भी देखता ।

समाधान—यह कोई दोष नहीं
है, क्योंकि एक अन्य श्रुतिमें इसका
निराकरण कर दिया गया है ।
द्रष्टाकी दृष्टिका विपरिलोप न
होनेके कारण वह देखता ही रहता
है और द्रष्टासे भिन्न भोगोंका अभाव
होनेके कारण वह नहीं भी देखता ।
यद्यपि सुषुप्तिमें वह (द्वैताभाव)
बतलाया गया है तथापि मुक्तके
लिये भी सब कुछ एकरूप होनेके
कारण समानरूपसे द्वैताभाव है ।
इस विषयमें 'किसके द्वारा क्या
देखे' ऐसा कहा ही गया है ।

यह पुरुष अशरीररूप और
अपहतपाप्मादि लक्षणोंवाला होने-
पर भी नेत्रमें दिखलायी देता है—
ऐसा प्रजापतिने क्यों कहा ? ऐसी
वाङ्मना होनेपर जिस प्रकार यह
नेत्रमें साक्षात् दिखलायी देता है
वह बतलाना चाहिये—इसीसे यह
(आगेका वक्तव्य) आरम्भ किया
जाता है । नेत्रके भीतर उसके
दिखलायी देनेके क्या कारण है, सो
श्रुति बतलाती है—

स दृष्टान्तो यथा प्रयोग्यः
 प्रयोग्यपरो वा सशब्दः । प्रयु-
 ज्यत इति प्रयोग्योऽथो बलीवर्दो
 वा । यथा लोक आचरत्यनेने-
 त्याचरणो रथोऽनो वा तस्मिन्ना-
 चरणे युक्तस्तदाकर्षणाय । एव-
 मस्मिञ्छुरीरे रथस्थानीये प्राणः
 पञ्चवृत्तिरिन्द्रियमनोबुद्धिसंयुक्तः
 प्रज्ञात्मा विज्ञानक्रियाशक्तिद्वय-
 समूर्च्छितात्मा युक्तः स्वकर्मफलो-
 पभोगनिमित्तं नियुक्तः । 'कस्मि-
 न्न्वहमुत्क्रान्त उत्क्रान्तो भवि-
 ष्यामि कस्मिन्वा प्रतिष्ठिते प्रति-
 ष्ठास्यामि' इतीश्वरेण राज्ञेव सर्वा-
 धिकारी दर्शनश्रवणचेष्टाव्यापा-
 रेऽधिकृतः । तस्यैव तु मात्रैक-
 देशश्चक्षुरिन्द्रियं रूपोपलब्धि-
 द्वारभूतम् ॥ ३ ॥

वह दृष्टान्त यों है, जिस प्रकार
 प्रयोग्य अथवा 'स यथा प्रयोग्यः'
 इस पदसमूहमें 'सः' शब्द प्रयोग्य-
 परक है । जो प्रयुक्त होता है वह
 अश्व या वृषभ प्रयोग्य कहलाता है ।
 वह जिस प्रकार लोकमें—जिसके
 द्वारा सब ओर जाते हैं वह रथ
 या गाड़ी आचरण कहलाता है उस
 आचरणमें उसे खींचनेके लिये [अश्व
 या वृषभ] जुता रहता है, इसी
 प्रकार इस रथस्थानीय शरीरमें पाँच
 वृत्तियोंवाला प्राण, इन्द्रिय, मन और
 बुद्धिसे संयुक्त हुआ प्रज्ञात्मा विज्ञान-
 शक्ति और क्रियाशक्ति इन दो
 शक्तियोंसे संयुक्त है, अर्थात् अपने
 कर्मफलके उपभोगके लिये नियुक्त
 है । 'किसके उत्क्रमण करनेपर मैं
 उत्क्रमण करूँगा और किसके स्थित
 होनेपर मैं स्थित रहूँगा' इस श्रुतिके
 अनुसार, राजा जिस प्रकार सर्वा-
 धिकारीको नियुक्त करता है उसी
 प्रकार ईश्वरने दर्शन, श्रवण और
 चेष्टा आदि व्यापारमें प्राणको
 अधिकारी बनाया है । रूपकी
 उपलब्धिका द्वारभूत चक्षु इन्द्रिय
 उसीकी मात्रा अर्थात् एक देश है ॥ ३ ॥

अथ यत्रैतदाकाशमनुविषण्णं चक्षुः स चाक्षुषः
पुरुषो दर्शनाय चक्षुरथ यो वेदेदं जिघ्राणीति स आत्मा
गन्धाय घ्राणमथ यो वेदेदमभिव्याहराणीति स आत्मा-
भिव्याहाराय वागथ यो वेदेदं शृण्वानीति स आत्मा
श्रवणाय श्रोत्रम् ॥ ४ ॥

जिसमें यह चक्षुद्वारा उपलक्षित आकाश अनुगत है वह चाक्षुष
पुरुष है; उसके रूपग्रहणके लिये नेत्रेन्द्रिय है। जो ऐसा अनुभव करता
है कि मैं इसे सूँघूँ वह आत्मा है; उसके गन्धग्रहणके लिये नासिका
है और जो ऐसा समझता है कि मैं यह शब्द बोलूँ वही आत्मा है;
उसके शब्दोच्चारणके लिये वागिन्द्रिय है तथा जो ऐसा जानता है
कि मैं यह श्रवण करूँ, वह भी आत्मा है, श्रवण करनेके लिये
श्रोत्रेन्द्रिय है ॥ ४ ॥

अथ यत्र कृष्णतारोपलक्षित-
माकाशं देहच्छिद्रमनुविषण्णम-
नुषक्तमनुगतं तत्र स प्रकृतो-
ऽशरीर आत्मा चाक्षुषश्चक्षुषि भव
इति चाक्षुषस्तस्य दर्शनाय रूपो-
पलब्धये चक्षुः करणम्; यस्य तदे-
हादिभिः संहतत्वात्परस्य द्रष्टुरर्थे,
सोऽत्र चक्षुषि दर्शनेन लिङ्गेन
दृश्यते परोऽशरीरोऽसंहतः ।

जहाँ (जिस जाग्रदवस्थामें)
यह कृष्णतारोपलक्षित आकाश
देहान्तर्वर्ती छिद्रमें अनुविषण्ण—
अनुषक्त अर्थात् अनुगत है उस
अवस्थामें यह प्रकृत अशरीर आत्मा
चाक्षुष—चक्षुमें रहनेवाला है
इसलिये चाक्षुष है। उसके देखने—
रूपोपलब्धि करनेके लिये चक्षु
करण है। देहादिसे संहत होनेके
कारण जिसपर द्रष्टाके लिये
चक्षु यह करण है वह पर अशरीर
आत्मा इस नेत्रके अन्तर्गत दर्शनरूप
लिङ्गसे उससे असंहत देखा जाता

‘अक्षिणि दृश्यते’ इति प्रजापति-
 नोक्तं सर्वेन्द्रियद्वारोपलक्षणार्थम्;
 सर्वविषयोपलब्धा हि स एवेति ।
 स्फुटोपलब्धिहेतुत्वात् ‘अक्षिणि’
 इति विशेषवचनं सर्वश्रुतिषु
 “अहमदर्शमिति तत्सत्यं भवति”
 इति च श्रुतेः ।

अथापि योऽस्मिन्देहे वेद
 कथम् ? इदं सुगन्धि दुर्गन्धि वा
 जिघ्राणीत्यस्य गन्धं विजानी-
 यामिति स आत्मा तस्य गन्धाय
 गन्धविज्ञानाय घ्राणम् । अथ यो
 वेदेदं वचनमभिव्याहराणीति
 वदिष्यामीति स आत्माभिव्या-
 हरणक्रियासिद्धये करणं वागि-
 न्द्रियम् । अथ यो वेदेदं शृणवा-
 नीति स आत्मा श्रवणाय
 श्रोत्रम् ॥ ४ ॥

है । ‘नेत्रके अन्तर्गत दिखलायी
 देता है’ यह बात प्रजापतिने
 सम्पूर्ण इन्द्रियरूप द्वारोंके उपलक्षण-
 के लिये कही है । तात्पर्य यह है
 कि सम्पूर्ण विषयोंको उपलब्ध करने-
 वाला वही है । चक्षु इन्द्रिय स्फुट
 उपलब्धिका कारण है, इसलिये
 समस्त श्रुतियोंमें ‘अक्षिणि’ यह
 विशेष वचन है । “मैंने देखा है,
 इसलिये यह सत्य है” इस श्रुतिसे
 भी यही सिद्ध होता है ।

तथा इस शरीरमें जो यह जानता
 है—किस प्रकार जानता है ?—मैं
 यह सुगन्धि या दुर्गन्धि सूँघूँ अर्थात्
 इसकी गन्ध जानूँ—ऐसा जो
 जानता है वह आत्मा है । उसके
 गन्ध अर्थात् गन्धज्ञानके लिये घ्राण
 है । और जो ऐसा जानता है कि
 मैं यह वचन उच्चारण करूँ
 अर्थात् बोलूँ वह आत्मा है;
 उसकी शब्दोच्चारणक्रियाकी सिद्धि-
 के लिये वाक् इन्द्रिय करण है ।
 तथा जो यह जानता है कि मैं
 यह श्रवण करूँ वह आत्मा है;
 उसके शब्दश्रवणके लिये श्रोत्रेन्द्रिय
 है ॥ ४ ॥

अथ यो वेदेदं मन्वानोति स आत्मा मनोऽस्य
दैवं चक्षुः स वा एष एतेन दैवेन चक्षुषा मनसैतान्कामा-
न्पश्यन् रमते ॥ ५ ॥

और जो यह जानता है कि मैं मनन करूँ वह आत्मा है । मन
उसका दिव्य नेत्र है; वह यह आत्मा इस दिव्य चक्षुके द्वारा भोगोंको
देखता हुआ रमण करता है ॥ ५ ॥

अथ यो वेदेदं मन्वानोति
मननव्यापारमिन्द्रियासंस्पृष्टं
केवलं मन्वानोति वेद स आत्मा
मननाय मनः । 'यो वेद स
आत्मा' इत्येवं सर्वत्र प्रयोगा-
द्वेदनमस्य स्वरूपमित्यवगम्यते ।
यथा 'यः पुरस्तात्प्रकाशयति स
आदित्यो यो दक्षिणतो यः
पश्चाद्य उत्तरतो य ऊर्ध्वं प्रकाश-
यति स आदित्यः' इत्युक्ते प्रकाश-
स्वरूपः स इति गम्यते ।

दर्शनादिक्रियानिर्वृत्त्यर्थानि

तु चक्षुरादिकरणानि । इदं
चास्यात्मनः सामर्थ्यादवगम्यते ।

और जो यह जानता है कि
मैं इसका मनन करूँ अर्थात्
बाह्य इन्द्रियोंसे असंस्पृष्ट केवल
मनन व्यापार करूँ वह आत्मा
है; उसके मनन करनेके लिये मन
करण है । 'जो जानता है वह
आत्मा है' इस प्रकार ही सर्वत्र
प्रयोग होनेके कारण यह विदित
होता है कि ज्ञान ही इसका स्वरूप
है; जिस प्रकार कि 'जो पूर्वसे
प्रकाश करता है वह सूर्य है तथा जो
दक्षिणसे, जो पश्चिमसे, जो उत्तरसे
और जो ऊपरकी ओर प्रकाश करता
है वह सूर्य है' ऐसा कहे जानेपर
यह ज्ञात होता है कि सूर्य प्रकाश-
स्वरूप है ।

नेत्रादि जो इन्द्रियाँ हैं वे
दर्शनादि क्रियाकी निष्पत्तिके लिये
हैं—यह बात इस आत्माकी
सामर्थ्यसे विदित होती है । आत्मा-

आत्मनः सत्तामात्र एव ज्ञानकर्तृत्वं न तु व्यापृततया । यथा सवितुः सत्तामात्रमेव प्रकाशनकर्तृत्वं न तु व्यापृततयेति, तद्वत् ।

मनोऽस्यात्मनो दैवमप्राकृतमितरेन्द्रियैरसाधारणं चक्षुरुचष्टे पश्यत्यनेनेति चक्षुः । वर्तमानकालविषयाणि चेन्द्रियाण्यतोऽङ्गवानि तानि । मनस्तु त्रिकालविषयोपलब्धिकरणं मृदितदोषं च सूक्ष्मव्यवहितादिसर्वोपलब्धिकरणं चेति दैवं चक्षुरुच्यते । स वै मुक्तः स्वरूपापन्नोऽविद्याकृतदेहेन्द्रियमनोवियुक्तः सर्वात्मभावमापन्नः सन्नेपः व्योमवद्विशुद्धः सर्वेश्वरो मनोऽपाधिः सन्नेनेनैवेश्वरेण मनसैतान्कामान्सवितुः प्रकाशवन्नित्यप्रततेन दर्शनेन पश्यन् रमते ॥ ५ ॥

का जो ज्ञानकर्तृत्व है वह केवल सत्तामात्रमें है, उसकी व्याप्तताके कारण नहीं है । जिस प्रकार सूर्यका प्रकाशन-कर्तृत्व उसकी सत्तामात्रमें ही है किसी व्यापारप्रवणताके कारण नहीं है, इसी प्रकार इसे सनस्कृता चाहिये ।

नन इत् आत्माका दैव—अप्राकृत अर्थात् अन्य इन्द्रियोंसे असाधारण चक्षु है; 'चष्टे अनेन'—जिससे देखता है उसे चक्षु कहते हैं । इन्द्रियाँ वर्तमानकालविषयक हैं, इसलिये वे अदैव हैं; किंतु मन तीनों कालोंके विषयोंकी उपलब्धिका करण, क्षीणदोष और नूक्ष्म एवं व्यवहित सभी पदार्थोंकी उपलब्धिका साधन है, इसलिये वह दैव चक्षु कहा जाता है । तथा वह आत्मा स्वरूपस्थित होनेपर मुक्त तथा अविद्याकृत देह, इन्द्रिय और मनसे वियुक्त है, सर्वात्मभावको प्राप्त होनेपर वह आकाशके समान विशुद्ध और सर्वेश्वर है तथा मनरूप उपाधिवाला होनेपर वही इस इन्द्रियोंके स्वामी मनसे ही सूर्यके प्रकाशके समान अपनी नित्य प्रसृत दृष्टिसे इन भोगोंको देखता हुआ रमण करता है ॥ ५ ॥

कान्कामानिति विशिनष्टि ।

किन भोगोंको देखता है ?
इसपर श्रुति उनका विशेषण
बतलाती है ।

य एते ब्रह्मलोके तं वा एतं देवा आत्मानमुपासते
तस्मात्तेषां सर्वे च लोका आत्ताः सर्वे च कामाः स
सर्वाश्च लोकानामोति सर्वाश्च कामान्यस्तमात्मानम-
नुविद्य विजानातीति ह प्रजापतिरुवाच प्रजापतिरुवाच
॥ ६ ॥

जो ये भोग इस ब्रह्मलोकमें हैं उन्हें देखता हुआ रमण करता है ।
उस आत्माकी देवगण उपासना करते हैं । इसीसे उन्हें सम्पूर्ण लोक
और समस्त भोग प्राप्त हैं । जो उस आत्माको शास्त्र और आचार्यके
उपदेशानुसार जानकर साक्षात् रूपसे अनुभव करता है वह सम्पूर्ण
लोक और समस्त भोगोंको प्राप्त कर लेता है । ऐसा प्रजापतिने कहा,
प्रजापतिने कहा ॥ ६ ॥

य एते ब्रह्मणि लोके हिरण्य-
निधिवद्वाह्यविषयासङ्गानृतनेनापि-
हिताः संकल्पमात्रलभ्यास्तानि-
त्यर्थः । यस्मादेष इन्द्राय प्रजाप-
तिनोक्त आत्मा तस्मात्ततः
श्रुत्वा तमात्मानमद्यत्वेऽपि देवा
उपासते । तदुपासनाच्च तेषां
सर्वे च लोका आत्ताः प्राप्ताः
सर्वे च कामाः । यदर्थं हीन्द्र

जो ये भोग सुवर्णकी निधिके
समान ब्रह्मलोकमें बाह्य विषयोंकी
आसक्तिरूप अनृतसे आच्छादित हैं
अर्थात् केवल संकल्पमात्रसे प्राप्त
होनेयोग्य हैं, उन्हें वह देखता है ।
क्योंकि इस आत्माका प्रजापतिने
इन्द्रको उपदेश किया है इसलिये
उनसे श्रवण कर आज भी देवगण
उसकी उपासना करते हैं । उसकी
उपासनासे उन्हें सारे लोक और
समस्त भोग प्राप्त हैं । तात्पर्य यह

एकशतं वर्षाणि प्रजापतौ ब्रह्म-
चर्यमुवास तत्फलं प्राप्तं
देवैरित्यभिप्रायः ।

तद्युक्तं देवानां महाभाग्य-
त्वान्न त्विदानीं मनुष्याणा-
मल्पजीवितत्वान्मन्दतरप्रज्ञत्वाच्च
सम्भवतीति प्राप्त इदमुच्यते—स
सर्वांश्च लोकानाप्नोति सर्वांश्च
कामानिदानींतनोऽपि; कोऽसौ ?
इन्द्रादिवद्यस्तमात्मानमनुविद्य
विजानातीति ह सामान्येन किल
प्रजापतिरुवाच । अतः सर्वेषा-
मात्मज्ञानं तत्फलप्राप्तिश्च तुल्यैव
भवतीत्यर्थः । द्विर्वचनं प्रकरण-
समाप्त्यर्थम् ॥ ६ ॥

है कि जिसके लिये इन्द्रने प्रजा-
पतिके यहाँ एक सौ एक वर्ष ब्रह्मचर्य-
वास किया था वह फल देवताओं-
को प्राप्त हो गया ।

देवता महान् भाग्यशाली हैं,
अतः उनके लिये वह (सम्पूर्ण लोक
और समस्त भोगोंकी प्राप्ति होनी)
उचित ही है, किंतु इस समय
मनुष्योंको तो उनका मिलना
सम्भव नहीं है; क्योंकि वे अल्पजीवी
और मन्दतर बुद्धिवाले हैं—ऐसी
शङ्का प्राप्त होनेपर यह कहा
जाता है—वह वर्तमानकालीन
साधक भी सम्पूर्ण लोक और समस्त
भोगोंको प्राप्त कर लेता है । वह
कौन ? जो इन्द्रादिके समान
उस आत्माको जानकर साक्षात्
अनुभव कर लेता है—इस प्रकार
सामान्यरूपसे (सभीके लिये)
प्रजापतिने कहा । अतः आत्मज्ञान
और उसके फलकी प्राप्ति सभीके
लिये समान है—ऐसा इसका
तात्पर्य है । ‘प्रजापतिरुवाच’ इसकी
द्विरुक्ति प्रकरणकी समाप्तिके लिये
है ॥ ६ ॥

—**—

इति छान्दोग्योपनिषदष्टमाध्याये द्वादश-
खण्डभाष्यं सन्मूर्णम् ॥ १२ ॥

—०४०—

त्रयोदश खण्ड

— ❀ . ❀ —

‘श्यामाच्छबलम्’ इस मन्त्रका उपदेश

श्यामाच्छबलं प्रपद्ये शबलाच्छयामं प्रपद्ये ऽश्व
इव रोमाणि विधूय पापं चन्द्र इव राहोर्मुखात्प्रमुच्य
धृत्वा शरीरमकृतं कृतात्मा ब्रह्मलोकमभिसम्भवामी-
त्यभिसम्भवामीति ॥ १ ॥

मैं श्याम (हृदयस्थ) ब्रह्मसे शबल ब्रह्मलोक प्राप्त होऊँ और शबल-
से श्यामको प्राप्त होऊँ । अश्व जिस प्रकार रोएँ भाड़कर निर्मल हो
जाता है उसी प्रकार मैं पापोंको भाड़कर तथा राहुके मुखसे निकले हुए
चन्द्रमाके समान शरीरको त्यागकर कृतकृत्य हो अकृत (नित्य)
ब्रह्मलोकको प्राप्त होता हूँ, ब्रह्मलोकको प्राप्त होता हूँ ॥ १ ॥

श्यामाच्छबलं प्रपद्ये इत्यादि-
मन्त्रास्नायः पावनो जपार्थश्च
ध्यानार्थो वा । श्यामो गम्भीरो
वर्णः श्याम इव श्यामो हार्द
ब्रह्मात्यन्तदुरवगाह्यत्वात्तद्भार्द
ब्रह्म ज्ञात्वा ध्यानेन तस्माच्छ्या-
माच्छबलं शबल इव शबलोऽर-
ण्याद्यनेककाममिश्रत्वाद्ब्रह्मलो-

‘श्यामाच्छबलं प्रपद्ये’ इत्यादि
मन्त्र पवित्र करनेवाला है और
यह जप अथवा ध्यानके लिये है ।
श्याम यह गम्भीर वर्ण है । हृदयस्थ
ब्रह्म अत्यन्त दुर्गम होनेके कारण
श्याम वर्णके समान श्याम है, उस
हृदयस्थ ब्रह्मको जानकर ध्यानके
द्वारा उस श्याम ब्रह्मसे शबल
ब्रह्मको—जो शबलके समान शबल
है, क्योंकि ब्रह्मलोक अरण्यादि
अनेक कामनाओंसे युक्त है इसलिये

कस्य शावत्यम्, तं ब्रह्मलोकं शबलं
प्रपद्ये मनसा शरीरपाताद्बोर्ध्वं
गच्छेयम् । यस्मादहं शबलाद्ब्रह्म-
लोकान्नामरूपव्याकरणाय श्यामं
प्रपद्ये हार्दभावं प्रपन्नोऽस्मीत्यभि-
प्रायः । अतस्तमेव प्रकृतिस्वरूप-
मात्मानं शबलं प्रपद्ये इत्यर्थः ।

कथं शबलं ब्रह्मलोकं प्रपद्ये?

इत्युच्यते—अश्व इव स्वानि
लोमानि विधूय कम्पनेन श्रमं
पांस्वादि च रोमतोऽपनीय यथा
निर्मलो भवत्येवं हार्दब्रह्मज्ञानेन
विधूय पापं धर्माधर्मखण्डं चन्द्र
इव च राहुग्रस्तस्तस्माद्राहोर्मुखा-
त्प्रमुच्य भास्वरो भवति यथा—एवं
धृत्वा प्रहाय शरीरं सर्वानर्थश्रि-
यमिहैव ध्यानेन कृतात्मा कृतकृ-
त्यः सन्नकृतं नित्यं ब्रह्मलोकम-
भिसम्भवामीति । द्विर्वचनं
मन्त्रसमाप्त्यर्थम् ॥ १ ॥

उसकी शबलता है, उस शबल
ब्रह्मलोकको मनसे—शरीरपातके
पश्चात् प्राप्त होऊँ—जाऊँ, क्योंकि
मैं नाम-रूपकी अभिव्यक्तिके लिये
शबल ब्रह्मलोकसे श्याम—हार्द-
भावको प्राप्त हुआ हूँ, ऐसा इसका
अभिप्राय है । अतः तात्पर्य यह है
कि मैं उस अपने प्रकृतिस्वरूप
शबल आत्माको प्राप्त होऊँ ।

मैं शबल ब्रह्मलोकको कैसे प्राप्त
हो सकता हूँ ? सो बतलाया जाता
है—जिस प्रकार अश्व अपने रोएँ
हिलाकर अर्थात् रोम-कम्पनके
द्वारा श्रम और धूलि आदि दूर
करके जैसे निर्मल हो जाता है
उसी प्रकार हार्दब्रह्मके ज्ञानसे
धर्माधर्मरूप पापको झाड़कर तथा
राहुग्रस्त चन्द्रमाके समान जिस
प्रकार कि वह राहुके मुखसे निकल-
कर प्रकाशमान हो जाता है उसी
प्रकार सम्पूर्ण अनर्थोंके आश्रयभूत
शरीरको त्यागकर इस लोकमें ही
ध्यानद्वारा कृतात्मा—कृतकृत्य हो
अकृत—नित्य ब्रह्मलोकको प्राप्त
होता हूँ । 'ब्रह्मलोकमभिसम्भवामि'
इसकी द्विरुक्ति मन्त्रकी समाप्तिके
लिये है ॥ १ ॥

—ॐ—

इति छान्दोग्योपनिषद् प्रथमाध्याये त्रयोदशखण्ड-
भाष्यं सम्पूर्णम् ॥ १३ ॥

—ॐ—

चतुर्दश खण्ड

—❀—

कारणरूपसे आकाशसंज्ञक ब्रह्मका उपदेश

आकाशो वा इत्यादि ब्रह्मणो	‘आकाशो वै’ इत्यादि श्रुति
लक्षणनिर्देशार्थम् आध्यानाय ।	उत्तम प्रकारसे ध्यान करनेके निमित्त ब्रह्मका लक्षण निर्देश करनेके लिये है ।

आकाशो वै नाम नामरूपयोर्निर्वहिता ते यदन्तरा
तद्ब्रह्म तदमृतं स आत्मा प्रजापतेः सभां वेश्म
प्रपद्ये यशोऽहं भवामि ब्राह्मणानां यशो राज्ञां यशो
विशां यशोऽहमनुप्रापत्सि स हाहं यशसां यशः श्येत-
मदत्कमदत्कं श्येतं लिन्दु माभिगां लिन्दु
माभिगाम् ॥ १ ॥

आकाश नामसे प्रसिद्ध आत्मा नाम और रूपका निर्वाह करने-
वाला है । वे (नाम और रूप) जिसके अन्तर्गत हैं वह ब्रह्म है, वह
अमृत है, वही आत्मा है । मैं प्रजापतिके सभागृहको प्राप्त होता हूँ; मैं
यशःसंज्ञक आत्मा हूँ; मैं ब्राह्मणोंके यश, क्षत्रियोंके यश और वैश्योंके
यश (यशःस्वरूप आत्मा) को प्राप्त होना चाहता हूँ; वह मैं यशोंका
यश हूँ; मैं बिना दाँतोंके भक्षण करनेवाले रोहित वर्ण पिच्छिल स्त्री-
चिह्नको प्राप्त न होऊँ, प्राप्त न होऊँ ॥ १ ॥

आकाशो वै नाम श्रुतिषु	‘आकाश’ इस नामसे श्रुतियोंमें
प्रसिद्ध आत्मा; आकाश इवा-	आत्मा प्रसिद्ध है, क्योंकि वह
शरीरत्वात्सूक्ष्मत्वाच्च । स	आकाशके समान अशरीर और सूक्ष्म है । वह आकाश (आकाश-

चाकाशो नामरूपयोः स्वात्मस्थ
 योर्जगद्बीजभूतयोः सलिलस्येव
 फेनस्थानीययोर्निर्वहिता निर्वोढा
 व्याकर्ता । ते नामरूपे यदन्तरा
 यस्य ब्रह्मणोऽन्तरा मध्ये वर्तते
 तयोर्वा नामरूपयोस्तन्तरा मध्ये
 यन्नामरूपाभ्यामस्पृष्टं यदित्ये-
 तत्तद्ब्रह्म नामरूपविलक्षणं
 नामरूपाभ्यामस्पृष्टं तथापि तयो-
 र्निर्वोद्धेवंलक्षणं ब्रह्मेत्यर्थः । इद-
 मेव मैत्रेयीब्राह्मणेनोक्तं चिन्मा-
 त्रानुगमात्सर्वत्र चित्स्वरूपतैवेति
 गम्यत एकवाक्यता ।

संज्ञक आत्मा) जलके फेनस्थानीय
 अपनेमें स्थित नाम और रूपका
 निर्वहिता—निर्वाह करनेवाला
 अर्थात् उन्हें व्यक्त करनेवाला है ।
 वे नाम और रूप जिसके अन्तर्गत
 हैं अर्थात् जिस ब्रह्मके अन्तरा—
 मध्यमें वर्तमान हैं, अथवा जो उन
 नाम और रूपके अन्तरा—मध्यमें
 है और उन नाम और रूपसे
 असंस्पृष्ट है; तात्पर्य यह है कि वह
 ब्रह्म नाम-रूपसे विलक्षण और
 नाम-रूपसे असंस्पृष्ट है, तो भी
 उनका निर्वाह करनेवाला है;
 अर्थात् ब्रह्म ऐसे लक्षणोंवाला है ।
 यही बात [बृहदारण्यकान्तर्गत]
 मैत्रेयीब्राह्मणमें कही गयी है कि
 सर्वत्र चिन्मात्रकी अनुगति होनेके
 कारण सबकी चिद्रूपता है—इस
 प्रकार इन वाक्योंकी एकवाक्यता
 ज्ञात होती है ।

कथं तदवगम्यते ? इत्याह—स
 आत्मा । आत्मा हि नाम सर्व-
 जन्तूनां प्रत्यक्चेतनः स्वसंवेद्यः
 प्रसिद्धस्तेनैव स्वरूपेणोन्नीया-
 शरीरो व्योमवत्सर्वगत आत्मा

यह बात कैसे ज्ञात होती
 है ? ऐसा प्रश्न होनेपर श्रुति
 कहती है—‘स आत्मा’—आत्मा
 सम्पूर्ण जीवोंका प्रत्यक्चेतन और
 स्वसंवेद्य प्रसिद्ध है; उसी रूपसे
 उन्नयन (ऊहा) करके वह अशरीर
 और आकाशके समान सर्वगत आत्मा

ब्रह्मेत्यवगन्तव्यम् । तच्चात्मा
ब्रह्मामृतममरणधर्मा ।

अत ऊर्ध्वं मन्त्रः । प्रजापति-
श्रतुर्मुखस्तस्य सभां वेश्म प्रभु-
विमितं वेश्म प्रपद्ये गच्छेयम् ।
किञ्च यशोऽहं यशो नामात्माहं
भवामि ब्राह्मणानाम् । ब्राह्मणा
एव हि विशेषतस्तमुपासते तत-
स्तेषां यशोभवामि । तथा राज्ञां
विशां च । तेऽप्यधिकृता एवेति
तेषामप्यात्मा भवामि । तद्यशो-
ऽहमनुप्रापत्स्यनुप्राप्तुमिच्छामि ।
स हाहं यशसामात्मनां देहेन्द्रि-
यमनोबुद्धिलक्षणात्मात्मा ।

किमर्थमहमेवं प्रपद्ये ? इत्यु-
च्यते—श्येतं वर्णतः पक्वदरसमं
रोहितम् । तथादत्तं दन्तरहित-
मप्यदत्तं भक्षयितुं स्त्रीव्यञ्जनं
तत्सेविनां तेजोबलवीर्यविज्ञान-

ही ब्रह्म है—ऐसा जानना चाहिये ।
वह आत्मरूप ब्रह्म अमृत—अमरण-
धर्मा है ।

इसके आगे मन्त्र है—प्रजापति,
चतुर्मुख ब्रह्माका नाम है, उनकी
सभा अर्थात् प्रभुविमितनामक गृहको
मैं प्राप्त होऊँ—जाऊँ । मैं ब्राह्मणोंका
यश—यशसंज्ञक आत्मा होऊँ
क्योंकि ब्राह्मण ही विशेषरूपसे उसकी
उपासना करते हैं; अतः मैं उनका
यश होऊँ । इसी प्रकार मैं क्षत्रिय
और वैश्योंका भी यश होऊँ । वे
भी अधिकारी ही हैं, अतः मैं उनका
भी आत्मा होऊँ । मैं उनका यश
प्राप्त करना चाहता हूँ । वह मैं
यशःस्वरूप आत्माओंका अर्थात्
देह, इन्द्रिय, मन और बुद्धिरूप
आत्माओंका आत्मा हूँ ।

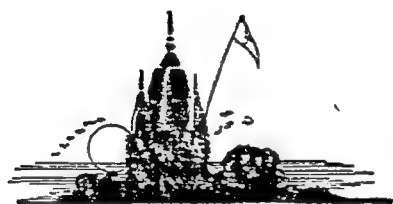
मैं इस प्रकार आत्माको क्यों
प्राप्त होता हूँ ? सो बतलाया जाता
है—श्येत—जो रङ्गमें पके हुए
देरके समान लाल है, तथा
'अदत्त'—दन्तरहित होनेपर भी
'अदत्त' भक्षण करनेवाले स्त्रीचित्त-
को; क्योंकि वह अपना सेवन
करनेवालेके तेज, बल, वीर्य, विज्ञान

धर्माणामपहन्तु विनाशयित्रित्ये-
तत् । यदेवंलक्षणं श्येतं लिन्दु
पिच्छलं तन्माभिगां माभिग-
च्छेयम् । द्विर्वचनमत्यन्तानर्थहे-
तुत्वप्रदर्शनार्थम् ॥ १ ॥

और धर्मका हनन अर्थात् विनाश
करनेवाला है । जो ऐसे लक्षणों-
वाला श्येत लिन्दु—पिच्छल स्त्री-
चित्त है उसे प्राप्त न होऊँ उसमें
गमन न करूँ । 'माभिगाम्
माभिगाम्' यह द्विरुक्ति उसका
अत्यन्त अनर्थहेतुत्व प्रदर्शित
करनेके लिये है ॥ १ ॥

—❀:❀—

इतिच्छान्दोग्योपनिषद्यष्टमाध्याये चतुर्दश-
खण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥ १४ ॥



पञ्चदश खण्ड

— * : ० : * —

आत्मज्ञानकी परम्परा, नियम और फलका वर्णन

तद्धेतद्ब्रह्मा प्रजापतय उवाच प्रजापतिर्मनवे मनुः
प्रजाभ्य आचार्यकुलाद्वेदमधीत्य यथाविधानं गुरोः कर्मा-
तिशेषेणाभिसमावृत्य कुटुम्बे शुचौ देशे स्वाध्यायमधी-
यानो धार्मिकान्विदधदात्मनि सर्वेन्द्रियाणि सम्प्रतिष्ठा-
प्याहिः सन्सर्वभूतान्यन्यत्र तीर्थेभ्यः स खल्वेवं
वर्तय न्यावदायुषं ब्रह्मलोकमभिसम्पद्यते न च पुनरावर्तते
न च पुनरावर्तते ॥ १ ॥

उस इस आत्मज्ञानका ब्रह्माने प्रजापतिके प्रति वर्णन किया,
प्रजापतिने मनुसे कहा, मनुने प्रजावर्गको सुनाया। नियमानुसार गुरुके
कर्तव्यकर्मोंको समाप्त करता हुआ वेदका अध्ययन कर आचार्यकुलसे
समावर्तनकर कुटुम्बमें स्थित हो पवित्र स्थानमें स्वाध्याय करता हुआ
[पुत्र एवं शिष्यादिको] धार्मिक कर सम्पूर्ण इन्द्रियोंको अपने अन्तः-
करणमें स्थापित कर शास्त्रकी आज्ञासे अन्यत्र प्राणियोंकी हिंसा न करता
हुआ वह निश्चय ही आयुकी समाप्तिपर्यन्त इस प्रकार वर्तता हुआ
[अन्तमें] ब्रह्मलोकको प्राप्त होता है; और फिर नहीं लौटता, फिर
नहीं लौटता ॥ १ ॥

तद्धेतदात्मज्ञानं सौपकरणम् । [शमादि] उपकरणोंके सहित उस
'ओमित्येतदक्षरम्' इत्याद्यैः सहो- इस आत्मज्ञानका 'ओमित्येतदक्षरम्'
इत्यादि उपासनाओंके सहित उसका

पासनैस्तद्वाचकेन ग्रन्थेनाष्टाध्या-
यीलक्षणेन सह ब्रह्मा हिरण्यगर्भः
परमेश्वरो वा तद्द्वारेण प्रजापतये
कश्यपायोवाच, असावपि मनवे
स्वपुत्राय, मनुः प्रजाभ्यः, इत्येवं
श्रुत्यर्थसम्प्रदायपरम्परयागतमु-
पनिषद्विज्ञानमद्यापि विद्वत्स्ववग-
म्यते ।

यथेह षष्ठाद्यध्यायत्रये प्रका-
शितात्मविद्या सफलावगम्यते
तथा कर्मणां न कश्चनार्थ इति
प्राप्ते तद्ज्ञानार्थक्यप्राप्तिपरिजिहीर्ष-
येदं कर्मणो विद्वद्भिरनुष्ठीयमा-
नस्य विशिष्टफलवत्त्वेनार्थवत्त्वमु-
च्यते—

आचार्यकुलाद्वेदसधीत्य सहा-
र्थतोऽध्ययनं कृत्वा यथावि-
धानं यथास्मृत्युक्तैर्नियमैर्युक्तः
सन्नित्यर्थः । सर्वस्यापि विधेः
स्मृत्युक्तस्योत्तुर्वाणकं प्रति कर्त-

वर्णन करनेवाले इस आठ अध्याय-
वाले ग्रन्थके साथ ब्रह्मा—हिरण्यगर्भ
अथवा परमेश्वरने प्रजापति—
कश्यपके प्रति वर्णन किया था ।
उन्होंने अपने पुत्र मनुसे कहा और
मनुने प्रजावर्गको सुनाया । इस
प्रकार श्रुत्यर्थसम्प्रदायपरम्परासे
आया हुआ वह विज्ञान आज भी
विद्वानोंमें देखा जाता है ।

जिस प्रकार छठे आदि इन
तीन अध्यायोंमें वर्णन की हुई
आत्मविद्या सफल समझी जाती है
उस प्रकार कर्मोंका कोई प्रयोजन
नहीं है—यह बात प्राप्त होनेपर
कर्मोंकी व्यर्थता प्राप्त होती है;
अतः उसकी निवृत्तिकी इच्छासे
विद्वानोंद्वारा अनुष्ठित होनेवाले
कर्मोंके विशिष्टफलयुक्त होनेसे
उनकी सार्थकताका निरूपण किया
जाता है—

आचार्यकुलसे वेदाध्ययन कर
अर्थात् यथाविधान—जैसे कि
स्मृतियोंने नियम बतलाये हैं उनसे
युक्त हो अर्थके सहित वेदका
स्वाध्याय कर—व्योंकि उपकुर्वाण
ब्रह्मचारीके लिये स्मृत्युक्त सम्पूर्ण
विधि कर्तव्य है, अतः उसमें

व्यत्वे गुरुशुश्रूषायाः प्राधान्यप्र-
दर्शनार्थमाह—गुरोः कर्म यत्क-
र्तव्यं तत्कृत्वा कर्मशून्यो योऽति-
शिष्टः कालस्तेन कालेन वेदम-
धीत्येत्यर्थः । एवं हि नियमव-
ताधीतो वेदः कर्मज्ञानफलप्रा-
प्तये भवति नान्यथेत्यभिप्रायः ।

अभिसमावृत्य धर्मजिज्ञासां
समापयित्वा गुरुकुलान्निवृत्त्य-
न्यायतो दारानाहृत्य कुटुम्बे
स्थित्वा गार्हस्थ्ये विहिते कर्मणि
तिष्ठन्नित्यर्थः । तत्रापि गार्हस्थ्य-
विहितानां कर्मणां स्वाध्यायस्य
प्राधान्यप्रदर्शनार्थमुच्यते—शुचौ
विविक्तेऽमेव्यादिरहिते देशे यथा-
वदासीनः स्वाध्यायमधीयानो
नैत्यक्रमधिकं च यथाशक्ति
ऋगाद्यभ्यासं च कुर्वन्धार्मिकान्पु-
त्रांश्शिष्यांश्च धर्मयुक्तान्विदध-
द्धार्मिकत्वेन तन्नियमयन्नात्मनि

गुरुशुश्रूषाकी प्रधानता प्रदर्शित
करनेके लिये श्रुति कहती है—
गुरुका जो करनेयोग्य कर्म हो उसे
करके जो कर्मशून्य समय शेष रहे
उस समयमें वेदका अध्ययन कर—
ऐसा इसका तात्पर्य है । अतः
अभिप्राय यह है कि इस प्रकार
नियमवान् विद्यार्थीका अध्ययन
किया हुआ वेद ही कर्म और
ज्ञानकी फलप्राप्तिका हेतु होता है
और किसी प्रकार नहीं ।

‘अभिसमावृत्य’ अर्थात् धर्म-
जिज्ञासाको समाप्त कर गुरुकुलसे
निवृत्त हो नियमपूर्वक खीपरिग्रह कर
कुटुम्बमें स्थित हो अर्थात् गृहस्था-
श्रममें विहित कर्ममें तत्पर हो; वहाँ
भी गृहस्थाश्रमके लिये विहित
कर्मोंमें स्वाध्यायकी प्रधानता प्रदर्शित
करनेके लिये ऐसा कहा जाता है—
शुचि—विविक्त अर्थात् अपवित्र
पदार्थोंसे रहित स्थानमें यथावत्
बैठकर स्वाध्याय करता हुआ अर्थात्
प्रतिदिनका नियमित पाठ और यथा-
शक्ति उससे अधिक भी ऋगादिका
अभ्यास करता हुआ पुत्र एवं शिष्यों-
को धार्मिक—धर्मवान् बनाता हुआ
अर्थात् धार्मिकत्वद्वारा उनका नियमन
करता हुआ ‘आत्मनि’—अपने

स्वहृदये हार्दे ब्रह्मणि सर्वेन्द्रियाणि
सम्प्रतिष्ठाप्योपसंहृत्येन्द्रियग्रह-
णात्कर्माणि च संन्यस्याहिं-
सन् हिंसां परपीडामकुर्वन् सर्व-
भूतानि स्थावरजङ्गमानि भूतान्य-
पीडयन्नित्यर्थः ।

भिक्षानिमित्तमटनादिनापि

परपीडा स्यादित्यत आह—

अन्यत्र तीर्थेभ्यः । तीर्थं नाम

शास्त्रानुज्ञाविषयस्ततोऽन्यत्रेत्यर्थः ।

सर्वाश्रमिणां चैतत्समानम् ।

तीर्थेभ्योऽन्यत्राहिंसैवेत्यन्ये वर्ण-

यन्ति । कुटुम्ब एवैतत्सर्वं कुर्व-

न्स खल्वधिकृतो यावदायुषं

यावज्जीवमेवं यथोक्तेन प्रकारेणैव

वर्तयन् ब्रह्मलोकमभिसम्पद्यते

देहान्ते । न च पुनरावर्तते शरीर-

हृदयमें यानी हृदयस्थ ब्रह्ममें सम्पूर्ण
इन्द्रियोंको स्थापित—उपसंहृत
कर और इन्द्रियनिग्रहद्वारा
कर्मोंका संन्यास कर 'अहिंसन्'—
हिंसा अर्थात् परपीडा न करता
हुंआ यानी स्थावर-जंगम समस्त
प्राणियोंको पीडित न करता हुआ ।

भिक्षाके लिये किये हुए
भ्रमणादिसे भी परपीडा (हिंसा)
हो सकती है, इसलिये श्रुति
कहती है—'अन्यत्र तीर्थेभ्यः' । जो
शास्त्राज्ञाका विषय है उसे 'तीर्थ'
कहते हैं, अतः तात्पर्य यह है कि
उसके सिवा अन्यत्र हिंसा न करता
हुआ । यह नियम सभी आश्रमोंके
लिये समान है । कुछ अन्य
विद्वान् लोग तो ऐसा कहते हैं कि
तीर्थोंके सिवा और सब जगह
अहिंसाका ही विधान है ।
अपने कुटुम्बमें ही यह सब
करता हुआ वह अधिकारी पुरुष
आयुपर्यन्त अर्थात् यावज्जीवन
उपयुक्त प्रकारसे ही वर्तता हुआ
देहान्त होनेपर ब्रह्मलोकको प्राप्त
होता है, और फिर शरीर ग्रहण
करनेके लिये नहीं लौटता; क्योंकि

ग्रहणाय; पुनरावृत्तेः प्राप्तायाः
प्रतिषेधात् । अचिरादिना मार्गेण
कार्यब्रह्मलोकमभिसम्पद्य यावद्ब्र-
ह्मलोकस्थितिस्तावच्चत्रैव तिष्ठति
प्राक्ततो नावर्तत इत्यर्थः ।
द्विरभ्यास उपनिषद्विद्यापरिस-
माप्त्यर्थः ॥ १ ॥

पुनरावृत्तिकी प्राप्तििका प्रतिषेध किया
गया है । तात्पर्य यह है कि अचिरादि
मार्गसे कार्यब्रह्मके लोकको प्राप्त हो
जबतक ब्रह्मलोककी स्थिति रहती है
तबतक वह वहीं रहता है, उसका
नाश होनेसे पूर्व वह वहाँसे नहीं
लौटता ।* 'न च पुनरावर्तते, न च
पुनरावर्तते' यह द्विरुक्ति उपनिषद्-
विद्याकी समाप्ति सूचित करनेके
लिये है ॥ १ ॥

—❀:❀—

इतिच्छान्दोग्योपनिषदष्टमाध्याये पञ्चदशखण्ड-
भाष्यं सम्पूर्णम् ॥ १५ ॥

—**—

इति श्रीगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यस्य परमहंसपरिव्राजकाचार्यस्य
श्रीशङ्करभगवतः कृतौ छान्दोग्योपनिषद्भाष्येऽष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

॥ छान्दोग्योपनिषद्भाष्यं समाप्तम् ॥

॥ ॐ तत्सत् ॥



* यहाँ यह शङ्का होती है कि क्या ब्रह्मलोकके नाश होनेके बाद वह लौटता है ? तो इसका उत्तर है नहीं, वह ब्रह्ममें विलीन हो जाता है, क्योंकि ब्रह्मलोकके नाश होनेके बाद तो कोई लोक ही नहीं रह जाता है ।

श्रीहरिः
मन्त्राणां वर्णानुक्रमणिका



मन्त्रप्रतीकानि	अ०	खं०	मं०	पृष्ठ
अग्निहिङ्कारो वायुः २	२०	१	२०२
अग्निष्टे पादं वक्तेति ४	६	१	३८६
अजा हिङ्कारोऽवयः २	१८	१	१९९
अतो यान्यन्यानि १	३	५	६६
अत्र यजमानः परस्तादायुषः २	२४	६	२३७
” ” २	२४	१०	२३६
अत्यन्तं पश्यति प्रियम् ५	१२	२	५४७
” ” ५	१४	२	५५२
” ” ५	१५	२	५५३
” ” ५	१६	२	५५५
” ” ५	१७	२	५५७
अथ खलु य उद्गीथः १	५	१	८३
” ” १	५	५	८७
अथ खलु व्यानमेवोद्गीथम् १	३	३	६७
अथ खलुद्गीथाक्षराणि १	३	६	७०
अथ खल्वमुमादित्यम् २	६	१	१७३
अथ खन्वात्मसंमितमति० २	१०	१	१८१
अथ खल्वानीः १	३	८	७३
अथ खल्वेतयर्चा पञ्चः ५	२	७	४६८
अथ जुहोति नमः २	२४	१४	२४०
अथ जुहोति नमो वायवे २	२४	९	२३८
अथ जुहोति नमोऽग्नये २	२४	५	२३६
अथ तत् ऊर्ध्वः ३	११	१	२७२
अथ प्रतियुष्याङ्गलौ ५	२	६	४३७
अथ य आत्मा स चेतुः ८	४	१	८३६
अथ य इमे ग्रामे ५	१०	३	५०९

मन्त्रप्रतीकानि	अ०	खं०	गं०	पृ०
अथ य एतदेवम् ५	२४	२	५७०
अथ य एतदेवं विद्वान् १	७	७	१०३
अथ य एष सम्प्रसादः ८	३	४	८३१
अथ य एषोऽन्तरिक्षिणि १	७	५	१००
अथ यच्चतुर्थममृतम् ३	६	१	२६८
अथ यत्तदजायत ३	१९	३	३४८
अथ यत्तपो दानम् ३	१७	४	६३१
अथ यत्तृतीयममृतम् ३	८	१	२६४
अथ यत्पञ्चममृतम् ३	१०	१	२७०
अथ यत्प्रथमास्तमिते २	६	८	१७९
अथ यत्प्रथमोदिते २	९	३	१७५
अथ यन्नैतत्पुरुषः ६	८	५	६५४
अथ यन्नैतदवलिमानम् ८	६	४	८६०
अथ यन्नैतदस्माच्छरीराद् ८	६	५	८६१
अथ यन्नैतदाकाशम् ८	१२	४	८३१
अथ यन्नोपाकृते ४	१६	४	४३२
अथ यत्सङ्गववेलायाम् २	९	४	१७६
अथ यत्सम्प्रति मध्यन्दिने २	९	५	१७७
अथ यत्सत्त्वायणमित्याचक्षते ८	५	२	८४३
अथ यदतः परो दिवः ३	१३	७	२६८
अथ यदनाशकायनमित्याचक्षते ८	५	३	८४४
अथ यदवोचं भुवः ३	१५	६	३२१
अथ यदवोचं भूः ३	१५	५	३२०
अथ यदवोचं स्वः ३	१५	७	३२१
अथ यदश्नाति ३	१७	२	३३०
अथ यदास्य वाङ्मनसि ६	१५	२	६९५
अथ यदि गन्धमाल्यलोककामः ८	२	६	८२३
अथ यदि गीतवादित्रलोककामः ८	२	८	८२३
अथ यदि तत्प्राकर्ता ६	१६	२	७००
अथ यदिदमस्मिन्ब्रह्मपुरे ८	१	१	८०५
अथ यदि भ्रातृलोककामः ८	२	३	८२२
अथ यदि महर्षिगमिषेद् ५	२	४	४६४

मन्त्रप्रतीकानि	अ०	खं०	मं०	पृ०
अथ यदि मातृलोककामः	...	८	२	८२२
अथ यदि यजुष्टो रिष्येत्	...	४	१७	४३६
अथ यदि सखिलोककामः	...	८	२	८२३
अथ यदि सामतो रिष्येत्	...	४	१७	४३७
अथ यदि स्त्रीलोककामः	...	८	२	८२४
अथ यदि स्वसृलोककामः	...	८	२	८२२
अथ यदु चैवास्मिञ्छव्यम्	...	४	१५	४२३
अथ यदूर्ध्वं मध्यन्दिनात्	...	२	९	१७८
अथ यदूर्ध्वमपराह्णात्	...	२	९	१७९
अथ यदेतदक्षराः शुक्लम्	...	१	७	९९
अथ यदेतदादित्यस्य	...	१	६	९२
अथ यदेवैतदादित्यस्य	...	१	६	९३
अथ यद्वितीयममृतम्	...	३	७	२६२
अथ यद्वसति	...	३	१७	३३१
अथ यद्यज्ञ इत्याचक्षते	...	८	५	८४२
अथ यद्यज्ञपानलोककामः	...	८	२	८२३
अथ यद्यप्येनानुत्क्रान्तं	...	७	१५	७७१
अथ यद्येनमूष्मसूपालभेत	...	२	२२	२१२
अथ या एता हृदयस्य	...	८	६	८५४
अथ यां चतुर्थीम्	...	५	२२	५६७
अथ यां तृतीयाम्	...	५	२१	५६६
अथ यां द्वितीयाम्	...	५	२०	५६५
अथ यां पञ्चमीम्	...	५	२३	५६८
अथ यानि चतुश्चत्वारिंशत्	...	३	१६	३२६
अथ यान्यष्टाचत्वारिंशत्	...	३	१६	३२७
अथ ये चास्येह	...	८	३	८२७
अथ येऽस्य दक्षिणा रश्मयः	...	३	२	२४९
अथ येऽस्य प्रत्यञ्चः	...	३	३	२५१
अथ येऽस्योदञ्चः	...	३	४	२५२
अथ येऽस्योर्ध्वा रश्मयः	...	३	५	२५५
अथ यो वेदेदं मन्वानीति	...	८	१२	८३३
अथ योऽस्य दक्षिणः	...	३	१३	२८१

मन्त्रप्रतीकानि	अ०	ख०	ग०	पृ०	
अथ योऽस्य प्रत्यङ् सुषिः	...	३	१३	३	२९३
अथ योऽस्योदङ् सुषिः	...	३	१३	४	२९४
अथ योऽस्योर्ध्वः सुषिः	...	३	१३	५	२९५
अथ सप्तविधस्य वाचि	...	२	=	१	१७०
अथ ह ह्रसा निशायाम्	...	४	१	२	३५४
अथ ह चक्षुर्दुगीथम्	...	१	२	४	५२
अथ ह प्राण उच्चिक्रमिषन्	...	५	१	१२	४५१
अथ ह प्राणा अहश्चेत्यसि	...	५	१	६	४४६
अथ ह मन उद्गीथम्	...	१	२	६	३३
अथ ह य एतानेवम्	...	५	१०	१०	५३५
अथ ह य एवायं मुख्यः	...	१	२	७	५४
अथ ह वाचमुद्गीथम्	...	१	२	३	५२
अथ ह शौनकं च	...	४	३	५	३७२
अथ ह श्रोत्रमुद्गीथम्	...	१	२	५	५३
अथ हास्यः समूदिरे	...	४	१०	४	४०३
अथ हेन्द्रोऽप्राप्यैव	...	=	६	१	८८७
अथ हैनं गार्हपत्यः	...	४	११	१	४०६
अथ हैनं प्रतिहर्तोपससाद	...	१	११	=	१३६
अथ हैनं प्रस्तोतोपससाद	...	१	११	४	१३३
अथ हैनं यजमान उवाच	...	१	११	१	१३१
अथ हैनं वागुवाच	...	५	१	१३	४५२
अथ हैनं श्रोत्रमुवाच	...	५	१	१४	४५२
अथ हैनमन्वाहार्यपचनः	...	४	१२	१	४१२
अथ हैनमाहवनीयः	...	४	१३	१	४१४
अथ हैनमुद्गातोपससाद	...	१	११	६	१३५
अथ हैनमृषभोऽमुवाच	...	४	५	१	३८६
अथ होवाच जनशार्कराक्ष्य	...	५	१५	१	५५३
अथ होवाच बुडिलमाश्वतराश्विम्	...	५	१६	१	५५५
अथ होवाच सत्ययज्ञम्	...	५	१३	१	५४९
अथ होवाचेन्द्र्यमनम्	...	५	१४	१	५५१
अथ होवार्चादालकम्	...	५	१७	१	५५७
अथात आत्मादेश एव	...	७	२५	२	७६४

सन्त्रप्रतीकानि	अ०	खं०	मं०	पृ०	
अयातः शौच उद्गोथः	...	१	१२	१	१३८
अयाविदैः तं य एवासौ	...	१	३	१	६४
अथाध्यात्मं प्राणो वाव	...	४	३	३	३७१
अथाध्यात्मं य एवायम्	...	१	५	३	८५
अथाध्यात्मं वागेवक्प्राणः	...	१	७	१	९८
अथानु किमनुशिष्टः	...	५	३	४	४७५
अथानेनैव ये चैतस्मात्	...	१	७	८	१०४
अथावृत्तेषु द्यौर्हिङ्कारः	...	२	२	२	१५७
अथैतयोः पयोर्न कतरेण	...	५	१०	८	५३१
अथोताप्याहुः	...	२	१	३	१५२
अवीहि भगव इति	...	७	१	१	७१२
अनिरुक्तत्रयोदशः	...	१	१३	३	१४७
अन्तरिक्षमेवर्गायुः	...	१	६	२	९१
अन्तरिक्षोदरः कोशः	...	३	१५	१	३१७
अन्नं वाव वलाद्भूयः	...	७	१	१	७४२
अन्नमयं हि सोम्य	...	६	५	४	६२६
” ”	...	६	६	५	६३१
अन्नमशितं त्रेधा विधीयते	...	६	५	१	६२३
अन्नमिति होवाच	...	१	११	९	१३६
अन्यतरामेव वर्तनीम्	...	४	१६	३	४३०
अपां का गतिरित्यसौ	...	१	८	५	१११
अपां सोम्य पीयमानानाम्	...	६	६	३	६३०
अपाने वृष्यति वाक्वृष्यति	...	५	२१	२	५६६
अभिमन्यति स हिङ्कारः	...	२	१२	१	१८९
अन्नं भूत्वा मेघो भवति	...	५	१०	६	५२१
अन्नाणि संप्लवन्ते	...	२	१५	१	१९४
अमृतत्वं देवेभ्यः	...	२	२२	२	२१०
अयं वाव लोकः	...	१	१३	१	१४४
अयं वाव स योज्यमन्तः	...	३	१२	८	२८५
अयं वाव स योज्यमन्तर्हृदये	...	३	१२	९	२८५
अरिष्टं कोशम्	...	३	१५	३	३२०
अशनापिपासे ने सोम्य	...	६	८	३	६४८

मन्त्रप्रतीकानि	अ०	खं०	मं०	पृ०	
अशरीरो वायुरभ्रं विद्युत्	...	८	१२	२	६२२
असौ वा आदित्यः	...	३	१	१	२४३
असौ वाव लोकः	...	५	४	१	४८३
अस्य यदेकां शाखाम्	...	६	११	२	६७२
अस्य लोकस्य का गतिः	...	१	६	१	११७
अस्य सोम्य महतो वृक्षस्य	...	६	११	१	६७१
आकाशो वाव तैजसः	...	७	१२	१	७५८
आकाशो वै नाम	...	८	१४	१	६३६
आगाता ह वै कामानाम्	...	१	२	१४	६३
आत्मानमन्तत उपसृत्य	...	१	३	१२	७६
आदित्यस्य रेतसः	...	३	१७	७	३३५
आदित्य इति होवाच	...	१	११	७	१३५
आदित्य ऊकारः	...	१	१३	२	१४५
आदित्यमय वैश्वदेवम्	...	२	२४	१३	२४०
आदित्यो ब्रह्मेत्यादेशः	...	३	१६	१	३४४
आदिरिति द्व्यक्षरम्	...	२	१०	२	१८३
आपः पीतास्त्रेधा विधीयन्ते	...	६	५	२	६२४
आपयिता ह वै कामानाम्	...	१	१	७	४०
आपो वावान्नाद्भूयस्यः	...	७	१०	१	७५२
आप्नोति हादित्यस्य	...	२	१०	६	१८६
आशा वाव स्मराद्भूयसी	...	७	१४	१	७६४
इति तु पञ्चम्यामाहुतावापः	...	५	६	१	४६६
इदं वाव तज्ज्येष्ठाय	...	३	११	५	२७६
इदमिति ह प्रतिजज्ञे	...	४	१४	३	४१८
इमाः सोम्य नद्यः	...	६	१०	१	६६८
इयमेवर्गन्धिः	...	१	६	१	८६
उदशराव आत्मानमवेक्ष्य	...	८	८	१	८७६
उदाने तृप्यति त्वक्तृप्यति	...	५	२३	२	५६८
उद्गीय इति त्र्यक्षरम्	...	२	१०	३	१८३
उद्गृह्णाति तन्निघनम्	...	२	३	२	१६०
उद्गालको हारणिः	...	६	८	१	६४१
उद्यन्तिद्वार उदितः	...	२	१४	१	१६२

मन्त्रप्रतीकानि	अ०	खं०	मं०	पृ०
उपकोसलो ह वै ४	१०	१	४००
उपमन्त्रयते स हिङ्गारः २	१३	१	१९१
ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि ७	१	२	७१३
ऋतुषु पञ्चविधम् २	५	१	१६३
एकविंशत्यादित्यम् २	१०	५	१८५
एतं संयद्राम इत्याचक्षते ४	१५	२	४२२
एतद्ध स्म वै तद्विद्वांसः ६	४	५	६१९
एतद्ध स्म वै तद्विद्वानाह ३	१६	७	३२८
एतमु एवाहमभ्यगासिषम् १	५	२	८४
” ” १	५	४	८६
एतमृग्वेदमभ्यतपस्वस्तस्याभि० ३	१	३	२४४
एतेषां मे देहीति १	१०	३	१२४
एवं यथास्मानमाखणमृत्वा १	२	८	५६
एवं सोम्य ते षोडशानाम् ६	७	६	६३७
एवमेव खलु सोम्य ६	६	२	६२९
” ” ६	११	३	६७४
एवमेव खलु सोम्येमाः ६	१०	२	६६८
एवमेव प्रतिहर्तारमुवाच १	१०	११	१३०
एवमेवैष मघवन्निति ८	९	३	८८२
” ” ८	११	३	९०३
एवमेवैष सम्प्रसादः ८	१२	३	९२४
एवमेवोद्गातारमुवाच १	१०	१०	१३०
एवमेषां लोकानामासाम् ४	१७	८	४३८
एष उ एव भामनीरेष हि ४	१५	४	४२३
एष उ एव वामनीरेष हि ४	१५	३	४२२
एष तु वा अतिवदति ७	१६	१	७७४
एष म आत्मान्तर्हृदये ३	१४	३	३११
एष वै यजमानस्य २	२४	१५	२४०
एष ह वा उदक्प्रवणः ४	१७	९	४३९
एष ह वै यज्ञो योऽयम् ४	१६	१	४२८
एषां भूतानां पृथिवी रसः १	१	२	३३
ओ ३ मदा ३ मो ३ पिवा० १	१२	५	१४२

मन्त्रप्रतीकानि	अ०	खं०	मं०	पृ०
ओमित्येतदक्षरमुद्गीयमुपासीत १	४	१	१७७
” ” १	१	१	३१
औपमन्यव कं त्वम् ५	१२	१	५४५
कं ते काममागायानीत्येषः १	७	९	१ ४
कतमा कतमवर्कतमत् १	१	४	३५
कल्पन्ते हास्मा ऋतवः २	५	२	१६४
कल्पन्ते हास्मै २	२	३	१५८
का साम्नो गतिरिति १	८	४	१०९
कुतस्तु खलु ६	२	२	५८८
क्व तर्हि यजमानस्य २	२४	२	२३४
गायत्री वा इदं सर्वम् ३	१२	१	२७९
गोअश्वमिह महिमेत्याचक्षते ७	२४	२	७६१
चक्षुरेव ब्रह्मणश्चतुर्यः ३	१८	५	३४२
चक्षुरेवर्गात्मा १	७	२	९८
चक्षुर्होच्चक्राम ५	१	९	४४९
चित्तं वाव सङ्कल्पाद्भूयः ७	५	१	७३४
जानश्रुतिर्हं पोत्रायणः ४	१	१	३५२
त चेदेतस्मिन्वयसि ३	१६	२	३२५
” ” ३	१६	४	३२६
” ” ३	१६	६	३२७
तं चेद्ब्रूयुरस्मिंश्चेदिदम् ८	१	४	८११
तं चेद्ब्रूयुर्यदिदमस्मिन् ८	१	२	८०७
तं जायोवाच तप्तः ४	१०	२	४०१
तं जायोवाच हन्त १	१०	७	१२७
तं मद्गुरुपनिपत्याभ्युवाद ४	८	२	३९४
तं ह त उपनिपत्याभ्युवाद ४	७	२	३९२
तं ह चिरं वसेत्याज्ञा० ५	३	७	४७९
तं ह प्रवाहणः १	८	८	११५
तं ह शिलकः १	८	६	११२
तं हङ्गिरा उद्गीयम् १	२	१०	५९
तं हाम्युवाद ऐक्वेदम् ४	२	४	३६६
तं हेतमतियन्या १	९	३	११९

मन्त्रप्रतीकानि	अ०	खं०	गं०	पृ०
त॒होवाच कि॒मोत्रः	...	४	४	३८२
त॒होवाच नैतद॒ब्राह्मणः	...	४	५	३८४
त॒होवाच यं वै	...	६	१२	६७७
त॒होवाच यथा सोम्य	...	६	७	६६६
त॒होवाच यथा सोम्य	...	६	७	६३५
त इमे सत्याः कामाः	...	८	३	८१६
त इह व्याघ्रो वा सि॒हो वा	...	६	८	६६५
त एतदेव रूपमभि०	...	३	६	२५९
” ”	...	३	७	२६२
” ”	...	३	८	२६४
” ”	...	३	८	२६८
” ”	...	३	१०	२७०
तन्नोद्गात॒नास्तावे	...	१	१०	१२८
तथामुष्मि॒ल्लोके	...	१	८	१२०
तथेति ह॒ समुपवि॒शुः	...	१	८	१०८
तदु॒त्ताप्याहुः साम्नैनमुपा०	...	२	१	१५१
तदु ह॒ जानश्रुतिः	...	४	१	३५८
” ”	...	४	२	३६३
तदु ह॒ शौनकः कापेयः	...	४	३	३७४
तदेतच्चतुष्पाद्ब्र॒ह्म	...	३	१८	३३९
तदेतन्मिथुनमोमिति	...	१	१	३९
तदेष श्लोकः	...	८	६	८६३
तदेष श्लोको न पश्यः	...	७	२६	७८८
तदेष श्लोको यदा	...	५	२	४७०
तदेष श्लोको याचि	...	२	२१	२०६
तदैक्षत बहु स्याम्	...	६	२	५९५
तद्धैतत्सत्यकामः	...	५	२	४६३
तद्धैतद्धोर आङ्गिरसः	...	३	१७	३३३
तद्धैतद्ब्रह्मा प्रजापतये	...	३	११	२७५
” ”	...	८	१५	८४३
तद्धोभये देवाचुराः	...	८	७	८६८
तद्य इत्थं विदुः	...	५	१०	५००

मन्त्रप्रतीकानि	अ०	खं०	गं०	पृ०
तद्य इह रमणीयचरणाः ५	१०	७	५२६
तद्य एवैतं ब्रह्मलोकम् ८	४	३	८४०
तद्य एवैतावरं च ८	५	४	८४७
तद्यत्प्रथमममृतम् ३	६	१	२५७
तद्यत्रैतत्सुप्तः ८	६	३	८५७
" " ८	११	१	६०१
तद्यया महापथ आततः ८	६	२	८५६
तद्यया लवणेन ४	१७	७	४३८
तद्ययेषीकातूलमग्नी ५	२४	३	५७०
तद्ययेह कर्मजितो लोकः ८	१	६	८१६
तद्यद्युक्तो रिष्येद्भूः ४	१७	४	४३५
तद्यद्भक्त प्रथममागच्छेत् ५	१९	१	५६३
तद्यद्रजतं सेयं पृथिवी ३	१६	२	३४७
तथा एतदनुज्ञाक्षरं यद्वि १	२	८	४१
तद्व्यक्षरस्तदादित्यम् ३	१	४	२४७
" " ३	२	३	२५०
" " ३	३	३	२५१
" " ३	४	३	२५२
" " ३	५	३	२५४
तमग्निरभ्युवाद सत्यकाम ४	६	२	३८६
तमु ह परः प्रत्युवाच ४	१	३	३५६
तमु ह परः प्रत्युवाचाह ४	२	३	३६४
तयोरन्यतरां मनसा ४	१६	२	४३०
तस्मा आदित्याश्च २	२४	१६	२४१
तस्मा उ ह ददुस्ते ४	३	८	३७६
तस्मादप्यद्ये ह्याददान० ८	८	५	८८५
तस्मादाहुः सोष्यति ३	२७	५	३३२
तस्मादु हेवंविद्यद्यपि ५	२४	४	५७१
तस्माद्वा एव सेतुम् ८	४	२	८३६
तस्मिन्निमानि सर्वाणि २	६	२	१७४
तस्मिन्तस्मिन्नग्नी ५	४	२	४८४
" " ५	५	२	४८८

सन्धप्रतीकानि	अ०	ख०	मं०	पृ०
तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ ५	६	२	४९०
” ” ५	७	२	४९१
” ” ५	८	२	४९४
तस्मिन्यावत्संपातम् ५	१०	५	५१४
तस्मै श्वा श्वेतः १	१२	२	१४०
तस्य क्व मूलं स्याद् ६	८	४	६५१
” ” ६	८	६	६५६
तस्य प्राची दिग्गुहूर्नामि ३	१५	२	३१८
तस्य यथा कप्यासम् १	६	७	६४
तस्य यथाभिनहनम् ६	१४	२	६८६
तस्य ये प्राञ्चो रश्मयः ३	१	२	२४४
तस्यक्त्वं साम च गोक्षणी १	६	८	६६
तस्य ह वा एतस्य ३	१३	१	२८६
तस्य ह वा एतस्यात्मनः ५	१८	२	५६१
तस्य ह वा एतस्यैवम् ७	२६	१	७९८
तस्या ह मुखमुपोद्गच्छन् ४	२	५	३६६
तस्यैषा दृष्टिर्यत्रैतत् ३	१३	८	३००
त्रयो विद्या हिङ्गारस्त्रयः २	२१	१	२०४
त्रयो धर्मस्कन्धा यज्ञः २	२३	१	२१४
त्रयो होद्गीथे १	८	१	१०६
ता आप ऐक्षन्त ६	२	४	५६६
तानि वा एतानि यजूंष्येतम् ३	२	२	२४६
तानि वा एतावि सामानि ३	३	२	२५१
तानि ह वा एतानि ७	४	२	७२६
” ” ७	५	२	७३५
” ” ८	३	५	८३४
तानु तत्र मृत्युर्यथा १	४	३	७६
तान्यव्यतपत्तेभ्यः २	२३	३	२३१
तान्होवाच प्रातर्वः ५	११	७	५४३
तान्होवाचाश्वपतिर्वै ५	११	४	५४०
तान्होवाचोहैव १	१२	३	१४०
तान्होवाचैते वै खलु ५	१८	१	५५९

मन्त्रप्रतीकानि	अ०	खं०	मं०	पृ०
तावानस्य महिमा ३	१२	६	२८४
तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकाम् ६	३	३	६१०
तेजसः सोम्याश्च्यमानस्य ६	३	४	६११
तेजो वावाङ्मयो भूयः ६	६	४	६३०
तेजोऽशितं त्रेधा विधीयते ७	११	१	७५५
तेभ्यो ह प्राप्तेभ्यः ६	५	३	६२५
तेन तूह वकः ५	११	५	५४०
तेन तूह बृहस्पतिः १	२	१३	६२
तेन तूह वृहस्पतिः १	२	११	६१
तेन तूहायास्य १	२	१२	६१
तेनेयं त्रयो विद्या १	१	६	४२
तेनोभी कुरुतो यश्चैतत् १	१	१०	४४
ते यथा तत्र न विवेकम् ६	८	२	६६४
ते वा एते गुह्याः ३	५	२	५५४
ते वा एतेऽप्यर्वाङ्गिरसः ३	४	२	२५२
ते वा एते पञ्च ३	१३	६	२६६
ते वा एते रसानां रसाः ३	५	४	२५५
तेषां खल्वेषां भूतानाम् ६	३	१	६०४
ते ह प्राणाः प्रजापतिम् ५	१	७	४४७
ते ह नासिक्यम् १	२	२	५०
ते ह यथैवेह १	१२	४	१४१
ते ह सम्पादयाश्चक्रुर्दालकः ५	११	२	५३८
ते होचुरूपकोसलैषा ४	१४	१	४१६
ते होचुर्येन हैवार्येन ५	११	६	५४२
तो वा एतो द्वौ ४	३	४	३७२
तो ह द्वात्रिंशत् वर्षाणि ८	७	३	८७०
तो ह प्रजापतिरुवाच ८	७	४	८७१
तो हान्वीक्ष्य प्रजापतिः ८	८	२	८७८
तो होचतुर्यथैवेद० ८	८	३	८८१
दध्नः सोम्य मध्यमानस्य ६	६	१	६२९
दुग्धेऽस्मै वाग्दोहम् १	१३	४	१४७
” ” २	८	३	१७२

मन्त्रप्रतीकानि	अ०	खं०	मं	पृ०
देवा वै मृत्योर्विमृतः १	४	२	७८
देवासुरा ह वै यत्र १	२	१	४७
द्यौरेवर्गादित्यः १	६	३	६१
द्यौरेवोदन्तरिक्षं गीः १	३	७	७२
ध्यानं वाव चित्ताद्भूयः ७	६	१	७३८
नक्षत्राण्येववचन्द्रमाः १	६	४	६१
न वधेनास्य हन्यते ८	१०	२	८६५
“ “ ८	१०	४	८६६
न वै तत्र न निम्नोच ३	११	२	२७३
न वै नूनं भगवन्तस्ते ६	१	७	५८०
न वै वाचो न चक्षूषि ५	१	१५	४५३
न स्विदेतेऽप्युच्छिष्टा इति १	१०	४	१२४
न ह वा अस्मा उदेति ३	११	३	२७४
न हाप्सु प्रत्यप्सुमान् २	४	२	१६२
नान्यस्मै कस्मैचन ३	११	६	२७६
नाम वा ऋग्वेदो यजुर्वेदः ७	१	४	७१८
नाहमत्र भोग्यं पश्यामीति ८	९	२	८८६
निघनमिति व्यक्षरम् २	१०	४	१८४
नैवैतेन सुरभि च १	२	६	५८
न्यग्रोधफलमत आहरेतीदम् ६	१२	१	६७६
पञ्च मा राजन्यबन्धुः ५	३	५	४७६
परोवरीयो हास्य भवति २	७	२	१६८
पर्जन्यो वाव गौतमाग्निः ५	५	१	४८७
पशुषु पञ्चविधम् २	६	१	१६५
पुरा तृतीयसवनस्योपा० २	२४	११	२३६
पुरा प्रातरनुवाकस्योपा० २	२४	३	२३५
पुरा माघ्यन्दिनस्य २	२४	७	२३८
पुरुषो सोम्योत ६	१६	१	६६८
पुरुषो सोम्योतोपतापिनम् ६	१५	१	६९४
पुरुषो वाव गौतमाग्निः ५	७	१	४६१
पुरुषो वाव यज्ञस्तस्य ३	१६	१	३२३
पृथिवी वाव गौतमाग्निः ५	६	१	४८९

मन्त्रप्रतीकानि	अ०	खं०	मं०	पृ०
पृथिवी हिङ्कारोऽन्तरिक्षम् २	१७	१	१६८
प्रजापतिलोकानभ्यतपत् २	२३	२	२३०
“ ” ४	१७	१	४३४
प्रवृत्तोऽश्वतरीरथः ५	१३	२	५५०
प्रस्तोतर्या देवता १	१०	९	१२८
प्राचीनशाल श्रौषमन्यवः ५	११	१	५३६
प्राण इति होवाच १	११	५	१३३
प्राण एव ब्रह्मणश्चतुर्थः ३	१८	४	३४२
प्राणे वृष्यति चक्षुस्तृष्यति ५	१६	२	५६४
प्राणेषु पञ्चविधं परोवरीयः २	७	१	१६७
प्राणो वा आशायाः ७	१५	१	७६७
प्राणो ह्येवैतानि सर्वाणि ७	१५	४	७७२
प्राप हाचार्यकुलम् ४	६	१	३६७
वलं वाव विज्ञानाद्भूयः ७	८	१	७४५
ब्रह्मणः सोम्य ते पादम् ४	६	३	३९०
“ ” ४	७	३	३९२
“ ” ४	८	३	३६५
ब्रह्मणश्च ते पादं ब्रवाणीति ४	५	२	३८७
ब्रह्मवादिनो वदन्ति २	२४	१	२३३
ब्रह्मविदिव वै सोम्य ४	६	२	३६७
भगव इति ह प्रतिशुश्राव ४	१४	२	४१७
भगवाँस्त्वेव मे १	११	३	१३२
भवन्ति हास्य पशवः २	६	२	१६६
मघवन्मर्त्यं वा इदम् ८	१२	१	६०६
मदचीहतेषु कुरुष्व्वाटिक्या १	१०	१	१२२
मद्गुप्ते पादं वक्तेति ४	८	१	३६४
मनो ब्रह्मेत्युपासीत ३	१८	१	३३८
मनोमयः प्राणशरीरः ३	१४	२	३०६
मनो वाव वाचो भूयः ७	३	१	७२४
मनो हिङ्कारो वाक् २	११	१	१८७
मनो होच्चक्राम ५	१	११	४५०
मानवो ब्रह्मैवैक ऋत्विक् ४	१७	१०	४४०

मन्त्रप्रतीकानि	अ०	खं०	मं०	पृ०
मासेभ्यः पितृलोकम् ५	१०	४	५११
मासेभ्यः संवत्सरम् ५	१०	२	५००
यं यमन्तमभिकामः ८	२	१०	८२४
य आत्मापहतपाप्मा ८	७	१	८६६
य एते ब्रह्मलोके ८	१२	६	८३५
य एष स्वप्ने महीयमानः ८	१०	१	८६४
य एषोऽक्षिरिण पुरुषः ४	१५	१	४२०
यच्चन्द्रमसो रोहित् रूपम् ६	४	३	६१५
यत्र नान्यत्पश्यति ७	२४	१	७८६
यथा कृतायविजितायाधरेयाः ४	१	४	३५७
” ” ४	१	६	३५९
यथा विलीनमेवाङ्ग ६	१३	२	६८१
यथा सोम्य पुरुषम् ६	१४	१	६८५
यथा सोम्य मधु मधुकृतः ६	९	१	६६३
यथा सोम्यैकेन ६	१	४	५७७
यथा सोम्यैकेन नख० ६	१	६	५७६
यथा सोम्यैकेन लोह० ६	१	५	५७६
यथेह क्षुषिता बाला मातरम् ५	२४	५	५७२
यदग्ने रोहित् रूपम् ६	४	१	६१३
यदादित्यस्य रोहितम् ६	४	२	६१५
यदाप उच्छृण्वन्ति ४	३	२	३७०
यदा वा ऋचमाप्नोति १	४	४	८०
तदा वै करोत्यथ ७	२१	१	७८२
यदा वै निस्तिष्ठत्यथ ७	२०	१	७८१
यदा वै मनुतेऽथ ७	१८	१	७७६
यदा वै विजानात्यथ ७	१७	१	७७६
यदा वै श्रद्धात्यथ ७	१९	१	७८०
यदा वै सुखं लभतेऽथ ७	२२	१	७८३
यदुदिति स उद्गीथः २	८	२	१७१
यदु रोहितमिवाभूदिति ६	४	६	६२१
यद्विज्ञातमिवाभूत् ६	४	७	६२१
यद्विद्युतो रोहित् रूपम् ६	४	४	६१६

मन्त्रप्रतीकानि	अ०	खं०	मं०	पृ०
यद्वै तत्पुरुषे शरीरमिदम् ३	१२	४	२८२
यद्वै तद्ब्रह्मेतोदम् ३	१२	७	२८५
यस्तद्वेद स वेद	... २	२१	४	२०६
यस्यामृचि तामृचम्	... १	३	६	७४
यां दिशमभिष्टोष्यन्	... १	३	११	७५
या वाक्सवर्तस्मात् १	३	४	६६
यावान्वा अयमाकाशः	... ८	१	३	८०६
या वै सा गायत्रीयम्	... ३	१२	२	२८०
या वै सा पृथिवीयम्	... ३	१२	३	२८१
येनच्छन्दसा	... १	३	१०	७५
येनाश्रुत् श्रुतम्	... ६	१	३	५७६
यो वै भूमा तत्सुखम्	... ७	२३	१	७८५
योषा वाव गौतमानिः	... ५	८	१	४९३
यो ह वा आयतनम् ५	१	५	४४५
यो ह वै ज्येष्ठं च श्रेष्ठं च	... ५	१	१	४४३
यो ह वै प्रतिष्ठां वेद	... ५	१	३	४४४
यो ह वै वसिष्ठं वेद	... ५	१	२	४४४
यो ह वै सम्पदं वेद	... ५	१	४	४४५
रैक्वेमानि षट्शतानि	... ४	२	२	३६३
लवणमेतदुदकेऽवधायाथ	... ६	१३	१	६८०
लो ३ कद्वारमपावा३र्गू	... २	२४	४	२३६
” ”	... २	२४	८	२३८
” ”	... २	२४	१२	२४०
लोकेषु पञ्चविधं सामोषासीत	... २	२	१	१५४
लोम हिङ्गारस्त्वक्प्रस्तावः	... २	१६	१	२००
वसन्तो हिङ्गारः	... २	१६	१	१९६
वसिष्ठाय स्वाहेत्यग्नावाज्यस्य	... ५	२	५	४६६
वागेव ब्रह्मणश्चतुर्थः	... ३	१८	३	३४०
वागेवक् प्राणः	... १	१	५	३७
वाग्वाव नाम्नो भूयसी ७	२	१	७२१
वायुर्वाव संवर्गो यदा	... ४	३	१	३६९
विजाने वाव ध्यानाद्भूयः	... ७	७	१	७४२

सन्त्रप्रतीकानि	अ०	खं०	गं०	पृ०
विनर्दि साम्नो वृणी २	२२	१	२०८
चृष्टौ पञ्चविधम् २	३	१	१५९
चेत्य यथासौ लोको न ५	३	३	४७४
चेत्य यदितोऽधि प्रजाः ५	३	२	४७३
च्याने तृप्यति श्रोत्रं तृप्यति ५	२०	२	५६५
श्यामाच्छ्वलं प्रपद्ये ८	१३	१	६३७
श्रुतं ह्येव मे भगवद्दृशेभ्यः ४	६	३	३६८
श्रोत्रं होचक्राम ५	१	१०	४४६
श्रोत्रमेव ब्रह्मणश्चतुर्यः ३	१८	६	३४२
श्रोत्रमेवङ्मनः १	७	३	६६
श्वेतकेतुर्हस्तेयः ५	३	१	४७२
" " ६	१	१	५७४
षोडशकलः सोम्य ६	७	१	६३३
संकल्पो वाव मनसः ७	४	१	७२७
स एतां त्रयीं विद्याम् ४	१७	३	४३५
स एतास्तिलो देवताः ४	१७	२	४३५
स एवावस्तात्स उपरि० ७	२५	१	७९३
स एष परोवरीयानुद्गीयः १	६	२	११८
स एष ये चैतस्मात् १	७	६	१०३
स एष रसानां रसतमः १	१	३	३४
स जातो यावदायुषम् ५	९	२	४६८
सत्यकामो ह जावालः ४	४	१	३८०
सदेव सोम्येदमग्ने ६	२	१	५८२
स ब्रूयात्रास्य जरयैतत् ८	१	५	८१३
समस्तस्य खलु २	१	१	१४९
समान उ एवायं चासौ १	३	२	६६
समाने तृप्यति मनस्तृप्यति ५	२२	२	५६७
स य आकाशं ब्रह्मेत्युपास्ते ७	१२	२	७६०
स य आशां ब्रह्मेत्युपास्ते ७	१४	२	७६५
स य इदमविद्वानग्निहोत्रम् ५	२४	१	५६९
स य एतदेवं विद्वानक्षरम् १	४	५	८१
स य एतदेवं विद्वान् २	१	४	१५२

मन्त्रप्रतीकानि	अ०	खं०	मं०	पृ०	
स य एतदेवममृतं वेद	...	३	६	३	२५९
" "	...	३	७	३	२६२
" "	...	३	८	३	२६४
" "	...	३	९	३	२६८
" "	...	३	१०	३	२७०
स य एतमेवं विद्वान्श्रुतुष्कलम्	...	४	५	३	३८८
" "	...	४	६	४	३९१
" "	...	४	७	४	३९३
" "	...	४	८	४	३९५
स य एतमेवं विद्वानादित्यम्	...	३	१९	४	३५०
स य एतमेवं विद्वानुपास्ते	...	४	११	२	४१०
" "	...	४	१२	२	४१२
" "	...	४	१३	२	४१४
स य एवमेतत्साम	...	२	२१	२	२०५
स य एवमेतद्वृहदादित्ये	...	२	१४	२	१९३
स य एवमेतद्यज्ञायज्ञीयमङ्गेषु	...	२	१९	२	२००
स य एवमेतद्रथन्तरमग्नी	...	२	१२	२	१९०
स य एवमेतद्गायत्रम्	...	२	११	२	१८८
स य एवमेतद्वाजसं देवतासु	...	२	२०	२	२०२
स य एवमेतद्दामदेव्यम्	...	२	१३	२	१९१
स य एवमेतद्वैराजमृतुषु	...	२	१६	२	१९६
स य एवमेतद्वैरूपम्	...	२	१५	२	१९५
स य एवमेताः शक्वयो लोकेषु	...	२	१७	२	१९८
स य एवमेता रेवत्यः	...	२	१८	२	१९९
स य एपोऽग्निमैतदात्म्यम्	...	६	८	७	६६१
" "	...	६	९	४	६६६
" "	...	६	१०	३	६६९
" "	...	६	१२	३	६७१
" "	...	६	१३	३	६८४
" "	...	६	१४	३	६९३
" "	...	६	१५	३	६९६
स यः संकल्पं ब्रह्मैवमुपास्ते	...	७	४	३	७३२

मन्त्रप्रतीकानि	अ०	ख०	मं०	पृ०	
स यः स्मरं ब्रह्मेत्युपास्ते	...	७	१३	२	७६३
स यथा तत्र	...	६	१६	३	७०१
स यथा शकुनिः सूत्रेण	...	६	८	२	६४६
स ययोभयपाद्व्रजत्रयः	...	४	१६	५	४३२
स यद्वोचं प्राणम्	...	३	१५	४	३२०
स यदशिशिषति	...	३	१७	१	३३०
स यदि पितरं वा मातरम्	...	७	१५	२	७७०
स यदि पितृलोककामः	...	८	२	१	८२१
स यश्चित्तं ब्रह्मेत्युपास्ते	...	७	५	३	७३६
स यस्तेजो ब्रह्मेत्युपास्ते	...	७	११	२	७५७
स यावदादित्य उत्तरतः	...	३	१०	४	२७१
स यावदादित्यः	...	३	६	४	२६०
स यावदादित्यः पश्चात्	...	३	९	४	२६६
स यावदादित्यः पुरस्तात्	...	३	७	४	२६३
स यावदादित्यो दक्षिणतः	...	३	८	४	२६४
स यो ध्यानं ब्रह्मेत्युपास्ते	...	७	६	२	७४१
स यो नाम ब्रह्मेत्युपास्ते	...	७	१	५	७१९
स योऽन्नं ब्रह्मेत्युपास्ते	...	७	८	२	७५१
स योऽपो ब्रह्मेत्युपास्ते	...	७	१०	२	७५३
स यो बलं ब्रह्मेत्युपास्ते	...	७	८	२	७४७
स यो मनो ब्रह्मेत्युपास्ते	...	७	३	२	७२६
स यो वार्षं ब्रह्मेत्युपास्ते	...	७	२	२	७२३
स यो विज्ञानं ब्रह्मेत्युपास्ते	...	७	७	२	७४३
सर्वं खल्विदं ब्रह्म	...	३	१४	१	३०३
सर्वकर्मा सर्वकामः	...	३	१४	४	३१२
सर्वास्त्वप्सु पञ्चविधम्	...	२	४	१	१६१
सर्वे स्वरा इन्द्रस्यात्मानः	...	२	२२	३	२१०
सर्वे स्वरा घोषवन्तः	...	२	२२	५	२१२
स वा एष आत्मा हृदि	...	८	३	३	८२६
स समित्पाणिः पुनरेयाय	...	८	१०	३	८९५
” ”	...	८	११	२	९०३

मन्त्रप्रतीकानि	अ०	खं०	मं०	पृ०	
स ह क्षत्तान्विष्य	...	४	१	७	३६१
स ह खादित्वातिशेषान्	...	१	१०	५	१२६
स ह गौतमो राज्ञः	...	५	३	६	४७७
स ह द्वादशवर्ष उपेत्य	...	६	१	२	५७५
स ह पञ्चदशाहानि	...	६	७	०	६३४
स ह प्रातः संजिहानः	...	१	१०	६	१२६
स ह व्याघिनानशितुम्	...	४	१०	३	४०२
स ह शिलकः	...	१	८	३	१०९
स ह सम्पादयाश्चकार	...	५	११	३	५३६
स ह हारिद्रुमतं गौतमम्	...	४	४	३	३५२
स हाशाय हैनमुपसत्ताद	...	६	७	४	६३६
स हेम्यं कुल्माषान्खादन्तम्	...	१	१०	२	१२३
स होवाच कि मेऽन्नम्	...	५	२	१	४५८
स होवाच कि मे वासः	...	५	२	२	४६०
स ह,वाच भगवन्तं वा	...	१	११	२	१३१
स होवाच महात्मनः	...	४	३	६	३७३
स होवाच विजानाम्यहम्	...	४	१०	५	४०४
सा ह वागुच्चक्राम	...	५	१	८	४४८
सा हैनमुवाच नाहम्	...	४	४	२	३८१
सेयं देवतैस्तत	...	६	३	२	६०६
सैपा चतुष्पदा षड्विधा	...	३	१२	५	२८३
सोऽवस्ताच्छकटस्य	...	४	१	८	३६१
सोऽहं भगवो मन्त्रविदेवास्मि	...	७	१	३	७१४
स्तेनो हिरण्यस्य सुराम्	...	५	१०	९	५३४
स्मरो वावाकाशाद्भूयः	...	७	०३	१	७६१
हं सस्ते पादं ववर्तेति	...	४	६	४	३६२
हन्ताहमेतद्भगवतो वेदानीति	...	१	८	७	११४